हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सत्रह भागों में)

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०१४ वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण, ३००० प्रतियाँ, संवत् २०१४ वि०
मूल्य १८)

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक

डा० राजबली पांडेय

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०१४ वि०

प्रथम भाग के लेखक

प्रथम खंड	:	डा० राजबली पांडेय
द्वितीय खंड	:	डा० भोलाशंकर व्यास
तृतीय खंड	:	पं० बलदेव उपाध्याय
चतुर्थ खंड	:	डा० भगवतशरण उपाध्याय
पंचम खंड	:	डा० भगवतशरण उपाध्याय

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचिंतित योजना बनाई है। यह इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की साहित्यिक भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसके अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसलिये इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों मे बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों मे अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप मे देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले ५० वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाय और प्राप्त सामग्री के आधार पर उसका निर्माण किया जाय।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास मे लोक साहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, वीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस

और भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अधिकतर अप्रकाशित ही है। लोककथा और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वाञ्छनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेकों पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लये भी यह जानकारी उपयोगी होगी।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रकट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ।

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
३ दिसंबर, १९५७

राजेन्द्र प्रसाद

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना

गत पचास वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की क्रमशः प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है और उसके ऊपर कई ग्रंथ भी लिखे गए हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपना हिंदी साहित्य का इतिहास सं० १९८६ वि० में लिखा था। उसके पश्चात् हिंदी के विषयगत, खंड और संपूर्ण इतिहास निकलते ही गए और आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के हिंदी साहित्य (सन् १९५२ ई०) तक इतिहासों की संख्या पर्याप्त बड़ी हो गई। सं० २००४ वि० में भारतीय स्वातंत्र्य तथा सं० २००६ वि० में भारतीय संविधान में हिंदी के राज्यभाषा होने की घोषणा होने के बाद हिंदी भाषा और साहित्य के संबंध में जिज्ञासा बहुत जाग्रत हो उठी। देश में उसका विस्तारक्षेत्र इतना बड़ा, उसकी पृष्ठभूमि इतनी लंबी और विविधता इतनी अधिक है कि समय समय पर यदि उनका आकलन, संपादन तथा मूल्यांकन न हो तो उसके समवेत और संयत विकास की दिशा निर्धारित करना कठिन हो जाय। अतः इस बात का अनुभव हो रहा था कि हिंदी साहित्य का एक विस्तृत इतिहास प्रस्तुत किया जाय। नागरीप्रचारिणी सभा ने आश्विन्, सं० २०१० वि० में हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना निर्धारित और स्वीकृत की। इस योजना के अंतर्गत हिंदी साहित्य का व्यापक तथा सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय तथा इतिहास में उसकी पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन तथा विवेचन इसमें समाविष्ट है। इस योजना का संघटन, सामान्य सिद्धांत तथा कार्यपद्धति संक्षेप में निम्नांकित है :

प्राक्कथन—देशरत्न राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद

भाग	विषय और काल	संपादक
प्रथम भाग	हिंदी साहित्य की पीठिका	डा० राजबली पांडेय
द्वितीय भाग	हिंदी भाषा का विकास	डा० धीरेंद्र वर्मा
तृतीय भाग	हिंदी साहित्य का उदय और विकास १४०० वि० तक;	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
चतुर्थ भाग	भक्तिकाल (निर्गुण भक्ति) १४००-१७०० वि०	पं० परशुराम चतुर्वेदी
पंचम भाग	भक्तिकाल (सगुण भक्ति) १४००-१७०० वि०	पं० चंद्रबली पांडेय

षष्ठ भाग	शृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७००-१९०० वि०	डा० नगेंद्र
सप्तम भाग	शृंगारकाल (रीतिमुक्त) १७००-१९०० वि०	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
अष्टम भाग	हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल) १९००-५० वि०	श्री विनयमोहन शर्मा
नवम भाग	हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदीकाल) १९५०-७५ वि०	डा० रामकुमार वर्मा
दशम भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (काव्य) १९७५-९५ वि०	पं० नंददुलारे वाजपेयी
एकादश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (नाटक) १९७५-९५ वि०	श्री जगदीशचंद्र माथुर
द्वादश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १९७५-९५ वि०	डा० श्रीकृष्णलाल
त्रयोदश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (समालोचना, निबंध) १९७५-९५ वि०	श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
चतुर्दश भाग	हिंदी साहित्य का अद्यतनकाल १९९५-२०१० वि०	डा० रामअवध द्विवेदी
पंचदश भाग	हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान	डा० विश्वनाथप्रसाद
षोडश भाग	हिंदी का लोकसाहित्य	म० पं० राहुल सांकृत्यायन
सप्तदश भाग	हिंदी का उन्नयन	डा० संपूर्णानंद

१. हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है।

२. व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

३. साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अंतर्भाव, तिरोभाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

४. संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके। ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन। साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से

संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ इसे स्पष्ट किया जायगा। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा, जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध होंगे।

५. हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय होगा। इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी :

१—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।
२—दार्शनिक।
३—सांस्कृतिक।
४—समाजशास्त्रीय।
५—मानववादी, आदि।

६. विभिन्न राजनीतिक मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण अवश्य होगा।

७. साहित्य के विभिन्न कालों में विविध रूप में परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा।

८. विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा। सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा।

९. उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। संपादकमंडल को इतिहास की व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करना होगा।

पद्धति

१. प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनके जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निदर्शन किया जायगा।

२. तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संमतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

३—प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

४—लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा—संकलन, वर्गीकरण, समीकरण, संतुलन, आगमन आदि।

५—भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

६—प्रत्येक खंड के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची आवश्यक होगी।

यह योजना विशाल है। इसके संपन्न होने के लिये बहुसंख्यक विद्वानों के सहयोग, द्रव्य तथा समय की अपेक्षा है। बहुत ही संतोष और प्रसन्नता का विषय है कि देश के सभी सुधियों तथा हिंदीप्रेमियों ने इस योजना का स्वागत किया है। संपादकों के अतिरिक्त विद्वानों की एक बहुत बड़ी संख्या ने सहर्ष अपना सहयोग प्रदान किया है। हिंदी साहित्य के अन्य अनुभवी मर्मज्ञों से भी समय समय पर बहुमूल्य परामर्श प्राप्त होते रहते हैं। भारत की केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों से उदार आर्थिक सहायताएँ प्राप्त हुई हैं और होती जा रही हैं। नागरीप्रचारिणी सभा इन सभी विद्वानों, सरकारो तथा अन्य शुभचिंतकों के प्रति कृतज्ञ है। आशा की जाती है कि हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास निकट भविष्य में पूर्ण रूप से प्रकाशित होगा।

इस योजना के लिये विशेष गौरव की बात है कि इसको स्वतंत्र भारतीय गणराष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेंद्रप्रसाद का आशीर्वाद प्राप्त है। हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास का प्राक्कथन लिखकर उन्होंने इस योजना को महान् बल और प्रेरणा दी है। सभा इसके लिये उनकी अत्यंत अनुगृहीत है।

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना का परिचय पहले दिया जा चुका है। जहाँ तक इसके प्रथम भाग का संबंध है यह संपूर्ण इतिहास की पीठिका है। स्वयं पीठिका होने के कारण इसकी लंबी भूमिका आवश्यक नहीं। यहाँ पर केवल कुछ सामान्य बातों का उल्लेख किया जा रहा है।

किसी भी साहित्य के उद्भव और विकास के लिये दो तत्व आवश्यक हैं, एक तो उसका उद्गम स्थल, वातावरण तथा स्वगत अथवा सजातीय परिवर्तन की प्रवृत्ति एवं क्षमता और दूसरा बाहरी संपर्क तथा प्रभाव। पहला तत्व उद्भव के पूर्व से वर्तमान रहता है और वहीं से जीवन का रस उसे निरंतर मिलता है। यदि किसी देश के साहित्य की उपमा वृक्ष से दी जाय तो यह कहा जा सकता है कि वह देशविशेष की मिट्टी से उत्पन्न होता है और उसको प्रारंभिक पोषण वहीं से मिलता है। वृक्ष बड़ा होता है तो वह ऊपर के वातावरण से भी अपना पोषण प्राप्त करता है और क्रमशः उस देश के वायुमंडल में देशदेशांतर से आकर बहनेवाली हवाओं से भी अपने लिये उपयुक्त भोजन लेता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि मूल की जडता या किसी रोग विशेष के कारण उस वृक्ष की जड़ें अपने उद्गम स्थल से रस लेने में असमर्थ हो जाती हैं। उस समय वृक्ष वातावरण और वायुमंडल में बहनेवाले भोजन पर जीता है। परंतु महान् वृक्ष बहुत दिनों तक इस प्रकार जी नहीं सकता। वह भीतर से निर्जीव होने लगता है। बाहरी प्रभाव और प्रवृत्तियाँ उस वृक्ष की शाखाओं और डालों पर पहले कलम की तरह बैठती हैं, फिर उनके अंकुर अपनी जड़ें वृक्ष के भीतर घुसाने लगते हैं। मूल वृक्ष और परभृत् प्रभावों में जीवन के लिये संघर्ष होता है। भविष्य में बच जानेवाला वृक्ष सभी बाह्य प्रभावों को आत्मसात् कर अपना अस्तित्व बनाए रखता है। खो जानेवाला वृक्ष मरकर बाहरी प्रभावों के लिये केवल खाद बन जाता है। अंतिम परिणाम दोनों के बलाबल और जिस वन अथवा उपवन में वह वृक्ष होता है उसके माली की जागरूकता और रुचि पर अवलंबित रहता है।

उपर्युक्त उपमा हिंदी साहित्य के उद्गम और विकास पर पूरी लागू होती है। हिंदी साहित्य ने अब तक अपने उद्गम स्थल से जीवन का रस लिया है और साथ ही साथ पार्श्ववर्ती और बाह्य प्रभावों का भी स्वागत कर उन्हें आत्मसात् किया है; जहाँ आवश्यकता हुई है वहाँ उनका विरोध और तिरस्कार भी। प्रस्तुत भाग में हिंदी साहित्य के उद्गम स्थल का विशेष रूप से परिचय तथा आकलन है, बाह्य

प्रभाव का सामान्य रूप से। बाह्य प्रभावों का विशेष रूप से वर्णन आगे आनेवाले भागों में यथास्थान मिलेगा।

इस भाग के प्रथम खंड में हिंदी साहित्य के उदय के पूर्व के हिंदी क्षेत्र की भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति का वर्णन है। किसी भूगोलशास्त्री अथवा शुद्ध वैज्ञानिक के लिये भौगोलिक स्थिति प्रकृति मात्र है, किंतु साहित्यिक के लिये वह उसके अनुभव का क्षेत्र है, जिसके ऊपर उसकी प्रतिक्रिया होती है और जिसको वह अर्थ और मूल्य प्रदान करता है। उदाहरण के लिये, किसी आदिम मृगया पर जीनेवाले व्यक्ति के लिये जंगल केवल भोजन के निमित्त जानवरों को प्राप्त करने का स्थान ही नहीं, अपितु वनदेवता और वनदेवियों का क्रीडास्थल भी है जहाँ उनकी आशाएँ, भय, आशंकाएँ, कल्पनाएँ आदि उद्बुद्ध और अभिव्यक्त होती हैं। इसी प्रकार बालक के लिये तो उसका भौगोलिक वातावरण बिलकुल प्राकृतिक नहीं है। यह तो उसके लिये संपत्ति, विहारभूमि और सखावृंद सभी एक साथ है। सभ्य और प्रौढ़ मानव भी भौगोलिक स्थिति को केवल भौतिक नहीं समझता। यद्यपि उसका प्रकृति के प्रति आदिम रहस्यभाव कम हो जाता है, फिर भी वह प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने में लगा रहता है और उसके इस कार्य में विचार, चिंतन, भावना, तथा कल्पना के विचरण के लिये प्रचुर क्षेत्र मिलता है। प्रकृति उसके लिये सामाजिक जीवन का प्रतीक बन जाती है। मानव जीवन की स्मृतियाँ, परंपराएँ और मूल्य उसके साथ जुट जाते हैं।

परंतु मनुष्य कभी भी अपने प्राकृतिक और भौगोलिक वातावरण तक सीमित नहीं रहता। वह उसमें सामाजिक संस्थाओं का विकास करता है और सामाजिक परंपराओं का स्थापन। सामाजिक जीवन और शिक्षण के द्वारा ये परंपराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आगे चलती और मानव जीवन को प्रभावित करती हैं। साहित्य इसी सामाजिक परंपरा की उपज है। वह पिछली परंपरा से जन्म ग्रहण करता, उससे पोषण लेता और आगे बढ़ता है। मनुष्य इस परंपरा पर लंबी सीमा तक अवलंबित रहता है, जो विकास के लिये आवश्यक है। प्रथम खंड के प्रथम अध्याय में भौगोलिक आधार, द्वितीय में मध्ययुग की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ, तृतीय में राजनीतिक स्थिति, चतुर्थ में राजनीतिक विचार और संस्थाओं, पंचम तथा षष्ठ में सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन है। प्रारंभिक हिंदी साहित्य पर इनका गंभीर प्रभाव है और अब तक ये हिंदी साहित्य को अनुप्राणित और प्रभावित करती जा रही हैं।

पीठिका का द्वितीय खंड साहित्यिक आधार और परंपरा है। इससे हिंदी साहित्य का सीधा संबंध है। इसके अंतर्गत प्रथम अध्याय में संस्कृत साहित्य के मुख्य अंगों तथा तत्वों का परिचय है, जिन्होंने हिंदी साहित्य को सहज भाव से

रूप, विषय, रस, अभिप्राय, रीति आदि प्रदान किया है। हिंदी के ऊपर प्रभाव की दृष्टि से राजनीतिक तथा सामाजिक परंपरा की अपेक्षा संस्कृत की साहित्यिक परंपरा बहुत बड़ी है—वैदिक काल से लेकर मध्ययुग तक—क्योंकि राजनीतिक तथा सामाजिक मूल्यों से साहित्यिक मूल्य अधिक दूरव्यापी और स्थायी होते हैं। इसमें मुख्य रूप से वैदिक वाङ्मय का साहित्यिक मूल्यांकन तथा संस्कृत साहित्य की कलात्मक मान्यताओं का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में प्राकृत और मिश्र संस्कृत का परिचय है। जिस प्रकार संस्कृत की देनें हिंदी के लिये महत्वपूर्ण हैं उसी प्रकार प्राकृत और मिश्र संस्कृत की भी। प्राकृत वास्तव में मूलतः जनभाषा होने के कारण हिंदी के अधिक निकट है। उसमें प्रबंध काव्य, मुक्तक काव्य, कथासाहित्य, नाटक, रस, रीति तथा छंदशास्त्र की जो परंपराएँ बनीं उनसे हिंदी परिपुष्ट हुई। तृतीय अध्याय में अपभ्रंश भाषा और साहित्य का संक्षिप्त वर्णन है। अपभ्रंश का भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से निकटतम संबंध है। इससे विषय, अभिप्राय, काव्यपरिवेष, अभिव्यंजना और छंदःसंपत्ति सभी हिंदी को दाय रूप में मिली हैं। अपभ्रंश की इसी परंपरा में प्रारंभिक हिंदी का जन्म और विकास हुआ।

इस भाग के तृतीय खंड का विषय धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा है। यह कहना अनावश्यक है कि किसी भी देश के साहित्य और उसकी धार्मिक एवं दार्शनिक परंपरा में घनिष्ठ संबंध होता है। भारत में तो यह संबंध और भी घनिष्ठ है। अपभ्रंश में धार्मिक विषयों का प्राधान्य है। वैसे तो हिंदी का प्रारंभ राजनीतिक परिस्थितियों के कारण वीरकाव्य से होता है, परंतु बहुत ही शीघ्र भारतीय धर्म और दर्शन साहित्य से अपना निकट संबंध स्थापित कर लेते हैं। हिंदी साहित्य की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी परंपराएँ तथा स्मार्त धर्म पर आधारित काव्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। साहित्य के समान ही, संभवतः उससे बढ़कर, धर्म और दर्शन की परंपराएँ और मूल्य दूरव्यापी और स्थायी होते हैं। धर्म और दर्शन की अटूट परंपरा वेद और उपनिषद् तक पहुँचती है। इस खंड के प्रथम अध्याय में वैदिक धर्म और नीति का विवेचन तथा औपनिषदिक तत्वज्ञान का परिचय है। द्वितीय अध्याय में जैन धर्म के तत्वज्ञान, ज्ञानमीमांसा तथा नीति का संक्षिप्त विवरण है। इसी प्रकार तृतीय अध्याय में बौद्धधर्म और दर्शन का निदर्शन, इसकी वज्रयानी साधना और अवधूती मार्ग का स्वतंत्र रूप से वर्णन है, क्योंकि यह साहित्य हिंदी के सिद्ध साहित्य के निकट पहुँच जाता है। चतुर्थ अध्याय में भारत के सामान्य पाँच दर्शनों का निरूपण है। पंचम अध्याय में पौराणिक तथा षष्ठ में तांत्रिक धर्म के शिष्ट अंगों का वर्णन है। सप्तम अध्याय में वेदांत का अपेक्षाकृत विस्तृत परिचय दिया गया है, क्योंकि भारतीय दर्शन के चरम उत्कर्ष का यह प्रतिनिधित्व करता है और सबसे अधिक हिंदी साहित्य को प्रभावित किया है। सभी वैष्णव एवं शैव आचार्यों ने वेदांत के किसी न किसी संप्रदाय—

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत—का अवलंबन कर अपने साहित्य का प्रचार किया।

पीठिका के चतुर्थ खंड का संबंध कला से है। कला मूर्त रूपों में प्रायः उन्हीं विषयों और भावों का निरूपण और अभिव्यक्ति करती है जिनका निरूपण और अभिव्यक्ति साहित्य शब्दचित्रों के सहारे करता है, अतः दोनों का बहुत निकट का संबंध है। इस खंड के प्रथम अध्याय में स्थापत्य की विविध शैलियों—नागर, द्राविड, वेसर तथा मिश्र—का वर्णन है और साथ ही उसके प्रकारों का भी उल्लेख है, जिनमें मंदिर, स्तूप, स्थापत्य, चैत्य, विहार, स्तंभ, आवास, ग्राम, नगर, दुर्ग, राजप्रासाद, सार्वजनिक आवास, वापी, तडाग, दीर्घिका, कूप, आदि हैं। धार्मिक आधार पर भी स्थापत्य के विविध रूपों का वर्गीकरण हुआ है। द्वितीय अध्याय में मूर्तिकला के उदय और व्यापकता तथा उसकी शैलियों और प्रकारों का परिचय दिया गया है। प्राङ्मौर्य युग से लेकर आधुनिक युग तक इस कला की अजस्र धारा भारत में बहती रही है। मौर्य, गांधार, माथुर एवं गुप्तकालीन मूर्तिकला अपने कलात्मक सौंदर्य और विशेषताओं के लिये प्रसिद्ध है। परंतु मध्ययुग में इसका असीमित विस्तार हुआ। बहुसंख्यक धार्मिक संप्रदायों ने अपने अपने देवमंडल को देव, देवियों, पार्षदों, आयुधों और अलंकरणों से भर दिया। इससे कला का प्राण दब सा रहा था, किंतु तक्षक की छेनी को अपना कौशल दिखाने का अपार अवसर मिला। मूर्तिकला की यह प्रवृत्ति मध्यकालीन साहित्य के समानांतर जा रही थी। तृतीय अध्याय में चित्रकला का परिचय है। इसकी परंपरा प्राचीन होने पर भी इसके नमूने बहुत परवर्ती हैं और सभी काल के नहीं मिलते। आधार की दृष्टि से यह मध्यम व्यायोग है और शीघ्र नश्वर। स्थापत्य तथा मूर्तिकला तो प्रस्तर का सहारा लेकर चिरस्थायी होती हैं और साहित्य तथा संगीत अमर शब्दों और ध्वनियों के माध्यम से युग युग तक प्रवाहित होते रहते हैं। परंतु चित्रकला के आधार, पट अथवा पत्र (कपड़ा अथवा कागज), अल्पप्राण होने के कारण बहुत काल तक नहीं बने रह सकते। चित्रकला भी जहाँ प्रस्तर और धातु का सहारा लेती है वहाँ दीर्घायु होती है, जैसे अजंता, एलोरा और बाघ की गुहाओं के भित्तिचित्र। भारतीय चित्रों में जीवन के बहुल और विविध अंगों का चित्रण हुआ है। कहीं कहीं तो साहित्यिक परंपरा के प्रदर्शन के लिये चित्रों का उपयोग किया गया है। किंतु चित्रों की परंपरा स्थापित हो जाने पर साहित्य स्वयं उनसे समृद्ध हुआ है। चतुर्थ अध्याय में संगीत के क्रमिक विकास का संक्षिप्त वर्णन है। साहित्य और संगीत का संबंध बहुत ही घनिष्ठ है। संगीत आदिम काल से मनुष्य की भावाभिव्यक्ति का सहज माध्यम रहा है। साहित्य के गेय अंश का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ता आया है। हिंदी का संत साहित्य तो संगीत का आकर है। कला के विवरण में साहित्य की

दृष्टि से रंगमंच का विशिष्ट स्थान है। रंगमंच का बहुत संक्षिप्त वर्णन पंचम अध्याय में है। संस्कृत साहित्य के दृश्य काव्य प्रायः अभिनेय थे जिनका प्रदर्शन रंगमंच पर होता था। मुसलिम आक्रमणों से अभिनय कला तथा रंगमंच को बहुत धक्का लगा। परंतु रंगमंच मरा नहीं। संस्कृत नाटकों के भाषांतर तथा मौलिक नाटकों में से बहुत से अभिनीत होते रहे। इस अध्याय में रूपक और अभिनय के संबंध, रूपक के भेद, हिंदी नाटक और रंगमंच, अभिनय शास्त्र और साहित्य एवं कला आदि प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है।

इस भाग का अंतिम पंचम खंड बाह्य संपर्क तथा प्रभाव है। भारत प्राचीन काल से ही सभ्य और संस्कृत तथा एशिया के दक्षिण के महान् देशों में मध्यवर्ती होने के कारण संसार की अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियों के संपर्क, संघर्ष और समन्वय में प्रमुख भाग लेता आया है। पौराणिक परंपरा के अनुसार भारत से कई मानव धाराएँ मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया तक पहुँचीं जिससे विविध भाषाओं और साहित्यों का संगम अत्यंत प्राचीन काल में प्रारंभ हो गया। इसके पश्चात् इन देशों से मानव जातियाँ लगातार भारत में आती रहीं और अपने साथ अपनी भाषाएँ और साहित्यिक परंपराएँ भी लाती रहीं। न्यूनाधिक मात्रा में बलाबल के अनुसार आदान प्रदान चलता रहा। यह लंबा इतिहास पाँच अध्यायों में संक्षिप्त रूप से वर्णित है। प्रथम में यवन-पह्लवों से पूर्व पश्चिमी एशिया तथा भारत के संबंध तथा भारत के ऊपर सुमेरी, बाबुली, तथा ईरानी प्रभाव का आकलन है। द्वितीय में यवन-पह्लव प्रभाव का सीमानिर्धारण, तृतीय में शक-कुषण प्रभाव का और चतुर्थ में हूण-किरात प्रभाव का विवेचन किया गया है। अबतक की आनेवाली जातियाँ इस देश को अंशतः प्रभावित करते हुए भी यहाँ के जीवन में पूर्णतः विलीन हो गईं। पंचम अध्याय में अरब, तुर्क, मुगल तथा युरोपीय प्रभाव का विश्लेषण है। अरब, तुर्क और मुगल अपने राजनीतिक प्रसार में, किंतु इसलाम से अनुप्राणित होकर, यहाँ आए थे। उनको अपने धर्म, संस्कृति तथा भाषा का आग्रह था। वे भारतीय जीवन में संपूर्ण खो जाने को तैयार नहीं थे। बहुत दिनों तक उनका जीवनक्रम स्वतंत्र और यहाँ के जीवन के सामानांतर चलता रहा। परंतु संपर्क और सांनिध्य का तर्क तो अपना कार्य करता रहता है। स्थिति के वशीभूत होकर दोनों को एक दूसरे के निकट आकर आदान प्रदान करना पड़ा। जीवन के अन्य क्षेत्रों के साथ हिंदी भाषा और साहित्य ने इन जातियों से बहुत कुछ ग्रहण किया। युरोपीय शुद्ध आक्रमणकारी और शोषक थे। वे भारत में बसने नहीं आए थे। अतः भारत में अत्यंत वर्जनशीलता के साथ रहे, उनके आदान प्रादान का प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने अपनी राजनीतिक सत्ता की तरह देश पर अपनी भाषा और संस्कृति का आरोप करने का प्रयत्न किया। परंतु केवल आरोप के द्वारा अँगरेजी भाषा और युरोपीय संस्कृति का प्रभाव भारत पर उतना

नहीं पड़ता। ऐतिहासिक कारणों से आधुनिक युग में युरोप का प्राधान्य एक संसारव्यापी घटना है। उसका आतंक और प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है। भाषा और साहित्य भी इनसे सुरक्षित नहीं है। इसका वर्णन अध्याय के अंत में हुआ है। आतंक और प्रभाव शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है। यह आतंक झंझावात की तरह परंपरागत भारतीय विचारों, विश्वासों और भावनाओं को हिला रहा है, किंतु जीवन का अभिन्न अंग नहीं हो पाया है। यह कहना अभी कठिन है कि उसका कितना अंश आत्मसात् होगा और कितना अगृहीत। अभी यह संघर्ष और द्वंद्व की अवस्था में है।

प्रत्येक साहित्यिक पीढ़ी को दो प्रकार की तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। एक तो अपनी पीठिका से परंपरागत सामाजिक रिक्थ को प्राप्त करने की क्षमता और दूसरे वातावरण और बाहरी स्रोतों से अभ्यागत प्रभावों में से उपयुक्त का चयन कर उसको आत्मसात् करने तथा विरोधी और अनुपयुक्त तत्वों को त्यागने की शक्ति। सामाजिक रिक्थ को प्राप्त करने की क्षमता किसी देश की शिक्षाप्रणाली से सुलभ होती है। यदि शिक्षाप्रणाली देश की राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल है तो उससे सामाजिक रिक्थ प्राप्त हो सकता है, यदि नहीं तो नई पीढ़ी अपने जीवन के मूल स्रोतों से अलग होने लगती है। इसीलिये शिक्षा में माध्यम का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। उसके द्वारा ही सहज रूप से कोई पीढ़ी अपनी परंपरा तक पहुँच पाती है। आज हिंदी साहित्य के ऊपर वर्तमान तथा सामान्य शिक्षाप्रणाली और चिंतन का, जो युरोपीय परंपरा पर अवलंबित है, असाधारण आतंक और प्रभाव है। जब देश दासता में जकड़ा हुआ था तो ये आरोप के रूप में थे; स्वतंत्रता प्राप्त होने पर आवेश और प्रवाह के कारण अब स्वेच्छा से अनुकरण के रूप में। परंपरागत विचारों और बाह्य प्रभावों के बीच कहीं तो गहरा अंतराल और कहीं घोर संघर्ष है। वास्तव में सहज प्रगति और विकास के लिये परंपरा का ज्ञान और उसपर अवलंबन आवश्यक है। इस अवलंबन के साथ किसी भी उपयुक्त बाहरी प्रभाव को आत्मसात् किया जा सकता है। जहाँ यह संभव नहीं होता वहाँ नई पीढ़ी अपने आधार से छिन्न भिन्न होकर हवा में उड़ने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि या तो वह थपेड़े खाकर नष्टभ्रष्ट हो जाती है और नहीं तो परावलंबन के कारण अपने ही देश में विदेशी चोगा पहनकर बाह्य संस्कृति का अंग बन जाती है। आज हिंदी साहित्य के सामने महान् प्रश्न है: किधर ? इस प्रश्न का समाधान ज्ञान और अनुभव के सहारे ही प्रस्तुत किया जा सकता है। उसको अपनी पीठिका और सामाजिक रिक्थ का परिज्ञान अनिवार्य रूप से होना चाहिए। इसलिये नहीं कि वह पीठिका की ओर मुँह कर वहीं खड़ा रहे, परंतु इसलिये कि पीठिका की संपत्ति और संबल लेकर आगे चल सके और परंपरा में नई कड़ियाँ और नई मंजिलों का नवनिर्माण कर सके।

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास का यह पीठिका भाग हिंदी साहित्य के समस्त इतिहास की पृष्ठिभूमि है, जहाँ से उसके मूल अथवा उद्गम को जीवनरस और पोषण मिलता है। पार्श्ववर्ती और समानांतर प्रभावों का भी यथास्थान विवेचन किया गया है, किंतु गौण रूप से। इसकी रचना हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना के अनुसार सहकारिता के आधार पर की गई है। इसके प्रणयन में चार लेखकों का सहयोग है। परस्पर एकरूपता तथा सामंजस्य का यथासंभव ध्यान रखते हुए भी इस प्रकार के प्रयास में पुनरावृत्ति और यत्किंचित् वैषम्य रह ही जाता है। संपादक लेखकों के ऊपर अपना मत या आग्रह आरोपित नहीं करता। वह केवल यही देखता है कि विविध सहयोगी लेखकों की रचनाएँ शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल हैं या नहीं और विविध खंड प्रस्तुत योजना के यथासंभव अंगीभूत हो पाए हैं या नहीं। इसके अनंतर अपने मतों और प्रस्तावनाओं के लिये व्यक्तिगत लेखक ही उत्तरदायी होता है। अपने विषय के सिद्धहस्त लेखकों के प्रामाणिक विचार पाठक के सामने आ सकें, यही उद्देश्य ऐसी योजना के सामने रहता है। पुनरावृत्ति से यदि विवेच्य विषय का अधिक स्पष्टीकरण होता है तो वह क्षम्य और सह्य है। ऐसी परिस्थिति में अग्रिम भागों में पूर्वावृत्ति का उल्लेख करना आवश्यक होगा।

अंत में संपादक का यह सुखद और पवित्र कर्तव्य है कि वह उन सभी व्यक्तियों के प्रति आभार प्रदर्शित करे जिनकी प्रेरणा, सहयोग और परामर्श से इस भाग का प्रणयन संभव हो सका। सर्वप्रथम दिवंगत डा० अमरनाथ झा (भूनपूर्व सभापति, नागरीप्रचारिणी सभा) का श्रद्धापूर्वक स्मरण हो आता है जिनकी प्रेरणा इस इतिहास की पूर्ण योजना के साथ थी। दुःख है कि इस समय वे संसार में नहीं हैं, किंतु इस भाग के प्रकाशन तथा संपूर्ण योजना की पूर्ति से उनके आत्मा को संतोष होगा। इस योजना के संपादकमंडल से भी समय समय पर परामर्श मिलता रहा, जिनके लिये हम उसके आभारी हैं। इस भाग के लेखक, संपादक के अतिरिक्त, डा० भोलाशंकर व्यास, प्रो० बलदेव उपाध्याय और डा० भगवतशरण उपाध्याय के सामयिक और हार्दिक सहयोग के बिना यह कार्य नहीं संपन्न होता। मैं उनके प्रति पर्याप्त कृतज्ञता नहीं प्रकट कर सकता। संपूर्ण योजना को और प्रस्तुत इस भाग को व्यवस्था–संपादक श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' की कार्यकुशलता से बराबर सहायता मिलती रही। वे भी हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं। श्री शंभुनाथ वाजपेयी, सहायक मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, से प्रूफ संशोधन और सभा की वर्तनी के पालन में पूर्ण साहाय्य प्राप्त हुआ। उनका मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ। प्रेस कापी तैयार करने में श्री मंगलनाथ सिंह तथा श्री अजयमित्र शास्त्री ने मेरी सहायता की जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। श्री रघुनाथ गोविंद चासकर ने सहायक ग्रंथसूची तथा अनुक्रमणिका बड़ी लगन और तत्परता से तैयार की।

नागरी मुद्रण के संजोजक श्री प्रो० मोतीसिंह तथा व्यवस्थापक श्री महताबराय जी ने बड़े परिश्रम और सावधानी से इस ग्रंथ की यथाशीघ्र छपाई कराई। इन सभी सज्जनों के प्रति आभार प्रकट करना हमारा कर्तव्य है। सावधानी के होते हुए भी मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ ग्रंथ में रह गई हैं। कुछ सभा की वर्तनी के कारण शब्दों के अपने रूप हैं। इसके लिये उदार पाठकगण कृपया क्षमा करेंगे।

हिंदी जगत् में अपने ढंग का यह प्रथम प्रयास है। इसके लिये परंपरा, शास्त्र और विपुल साधन अपेक्षित था, जो हमें सहज उपलब्ध नहीं। अपनी सीमाओं को सबसे अधिक हम जानते हैं। इस प्रयत्न में कई त्रुटियाँ और भूलें रह गई हैं। इस विश्वास से प्रस्तुत मार्ग पर चरण रखा गया है कि साहित्य-सेवियों की साधना से यह उत्तरोत्तर प्रशस्त होगा और हिंदी के भावी उत्थान के लिये केवल संकेत का कार्य करेगा।

राजबली पांडेय

काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी
विजया दशमी, सं० २०१४ वि०

संकेतसारिणी

अ० को०	अमरकोष
अ० पु०	अग्निपुराण
अ० वे०	अथर्ववेद
अ० शा०	अर्थशास्त्र
अ० स्मृ०	अत्रिस्मृति
आ० ध० सू०	आपस्तंब धर्मसूत्र
आ० स० इं० रि०	आर्कियालाजिकल सर्वे आव् इंडिया रिपोर्ट
इं० ऐं०	इंडियन ऐंटिक्वेरी
उ० त०	उद्वाहतत्व
उ० मे०	उत्तरमेघ
उ० रा०	उत्तररामचरित
उ० व्य० प्र०	उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण
ऋ० वे०	ऋग्वेद
ए० इं०	एपिग्राफिया इंडिका
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
ओ० डे० बं० ले०	ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव् बंगाली लैंग्वेज
कं० ग्रा० मि० इं० आ०	कंपरेटिव ग्रामर आव् मिडिल इंडो-आर्यन
का० इ० इ०	कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्
का० नी० सा०	कामंदकीय नीतिसार
का० प्र०	काव्यप्रकाश
का० मी०	काव्यमीमांसा
कु० सं०	कुमारसंभव
कू० पु०	कूर्मपुराण
कृ० क०	कृत्यकल्पतरु
ग० पु०	गरुड पुराण
गु० अ०	गुप्त अभिलेख (गुप्त इंस्क्रिप्शंस)
गौ० ध० सू०	गौतम धर्मसूत्र

ग्रा० प्रा० ख्वा०	ग्रामातीक दर प्राकृत ख्वाखेन
छां० उ०	छांदोग्य उपनिषद्
ज० ए० सो० बं०	जर्नल आव् दि एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल
ज० बि० उ० रि० सो०	जर्नल आव् बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
जै० सा० इ०	जैन साहित्य का इतिहास
ता० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
द० स्मृ०	दक्षस्मृति
न० च०	नलचंपू
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
ना० सं०	नाथ संप्रदाय
ना० स्मृ०	नारदस्मृति
नि० सि०	निर्णयसिंधु
नी० वा०	नीतिवाक्यामृत
नै० च०	नैषधीय चरित
प० पु०	पद्म पुराण
प० स्मृ०	पराशर स्मृति
पा० गृ० सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
पा० सा० इ०	पालि साहित्य का इतिहास
पू० मे०	पूर्वमेघ
प्रा० प्र०	प्राकृतप्रकाश
प्रा० भा०	प्राकृतभाषा
प्रा० भा० इ०	प्राचीन भारत का इतिहास
ब० एं०	बरीड एंपायर्स
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० सं०	बृहत् संहिता
बृ० स्मृ०	बृहस्पति स्मृति
बौ० द० मी०	बौद्ध दर्शन मीमांसा
बौ० ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
भा० आ० हिं०	भारतीय आर्यभाषा और हिंदी

भा० द०	भारतीय दर्शन
भा० पु०	भागवत पुराण
भा० सा० शा०	भारतीय साहित्यशास्त्र
म० प० सु०	महापरिनिब्बानसुत्तंत
म० मु०	मत्स्यपुराण
म० भा०	महाभारत
,, अनुशासन	,, अनुशासन पर्व
,, आदि०	,, आदि पर्व
,, भीष्म	,, भीष्म पर्व
,, वन०	,, वन पर्व
,, विराट०	,, विराट् पर्व
,, शांति०	,, शांति पर्व
म० व०	महावग्ग
मा० पु०	मार्कंडेय पुराण
मुं० उ०	मुंडक उपनिषद्
मे० दू०	मेघदूत
य० वे०	यजुर्वेद
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
र० वं०	रघुवंश
रा० च० मा०	रामचरितमानस
रा० भा० सा०	राजस्थानी भाषा और साहित्य
व० ध० सू०	वसिष्ठधर्मसूत्र
व० पु०	वराह पुराण
व० स्मृ०	वसिष्ठस्मृति
वा० पु०	वामन पुराण
वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
वि० ध० सू०	विष्णुधर्मसूत्र
वि० पु०	विष्णु पुराण
वी० मि०	वीरमित्रोदय
वी० मि० सं०	वीरमित्रोदय संस्कार कांड
वै० ग्रा०	वैदिक ग्रामर
वै० सा०	वैदिक साहित्य
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शि० व०	शिशुपालवध

शु० नि०	शुक्रनीतिसार
शौ० ऋ० प्रा०	शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य
श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सा० वि०	सरस्वती विलास
सं० ड्रा०	संस्कृत ड्रामा
सं० प्र०	संस्कारप्रकाश
सा० द०	साहित्यदर्पण
स्मृ० च०	स्मृतिचंद्रिका
स्मृ० र०	स्मृतिरत्नाकर
ह० च०	हर्षचरित
हि० इ० इ० आ०	हिस्ट्री आव् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट
हि० इं० लि०	ए हिस्ट्री आव् इंडियन लिटरेचर
हि० ग्रा० अ०	हिस्टारिकल ग्रामर आव् अपभ्रंश
हि० ग्रा० इ० प्रा०	हिस्टारिकल ग्रामर आव् इंस्क्रिप्शनल प्राकृत्स
हि० फा० आ० इ० सी०	हिस्ट्री आव् फाइन आर्ट्स इन इंडिया ऐंड सीलोन
हि० सं० पो०	हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स
हि० स० लि०	हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर
हि० सा०	हिंदी साहित्य
हि० सा० आ०	हिंदी साहित्य का आदिकाल
हिं० सा० इ०	हिंदी साहित्य का इतिहास
हिं० सा० भू०	हिंदी साहित्य की भूमिका

विषय सूची

द्वितीय खंड

साहित्यिक आधार तथा परंपरा

ले० डा० भोलाशंकर व्यास

तृतीय खंड

धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा

लें० पं० बलदेव उपाध्याय

चतुर्थ खंड

कला

ले० डा० भगवतशरण उपाध्याय

पंचम खंड

बाह्य संपर्क तथा प्रभाव

ले० डा० भगवतशरण उपाध्याय

प्रथम खंड

भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति

लेखक

डा० राजबली पांडेय

प्रथम अध्याय

भौगोलिक आधार

१. हिंदी क्षेत्र का विस्तार

हिंदी का क्षेत्र उसके ऐतिहासिक विकास के साथ बढ़ता रहा है। मूलतः हिदी दिल्ली और उसके आसपास—प्राचीन कुरु-पांचाल जनपदों—की भाषा थी जिसको भारत के मुसलिम आक्रमणकारियों ने यह नाम दिया। पहले ईरान या फारस के लोग सिंधुनद की घाटी को ही 'हिंद' कहते थे। पीछे भारत के अन्य भाग भी क्रमशः उनके द्वारा इस नाम से बोधित होने लगे। जब भारत में मुसलिम सत्ता स्थापित हुई तो दिल्ली हिंद की राजधानी बनी और वहाँ की भाषा प्रमुख रूप से हिंदी कही जाने लगी।

वैदिक युग में कुरु-पांचाल के भरतों की संतति, भाषा और संस्कृति 'भारती' नाम से सारे देश के लिये प्रतिमान थीं और उनका प्रसार और प्रचार संपूर्ण देश में हुआ। यही कारण है कि 'भारती' सरस्वती का पर्याय हो गई और सारा देश 'भारत' कहा जाने लगा[1]। मनु ने तो यहाँ तक कहा कि 'इस प्रदेश में उत्पन्न ब्राह्मण के पास से पृथ्वी के संपूर्ण मानवों को अपना अपना आचार सीखना चाहिए।'[2] मनु के इस ब्रह्मर्षिदेश में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल तथा शूरसेन प्रदेश संमिलित थे। यहाँ की भाषा भारतीय इतिहास में बराबर परिष्कृत और अभिजात

[1] 'भारत' नाम की कई व्युत्पत्तियाँ प्राचीन साहित्य में पाई जाती हैं। म० पु० ११४.५ के अनुसार 'प्रजा का भरण करने से मनु ही भरत कहलाते थे; अतः निरुक्त-वचनों से उनके द्वारा शासित देश भारत कहलाया।' ऐत० ब्रा० ८.२३, श० ब्रा० १३.५.४.११ तथा म० भा० आदि० ६९.४६ के अनुसार दौष्यंति भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। भा० पु० ५.४.९ में यह कथन है कि ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र महायोगी तथा श्रेष्ठ गुणवाले भरत के कारण यह देश भारत कहलाया। ऋ० वे० ३.३३.११, ऐ० ब्रा० ८.२३, महाभारत तथा पुराणों में भरत के वंशजों के विजय, विस्तार, पराक्रम तथा यश के विस्तृत वर्णन पाए जाते हैं। प्रायः 'जन' के नाम पर ही देशों के नाम रखे जाते थे; अतः भरत या भारत 'जन' से भारत की व्युत्पत्ति अधिक संभव जान पड़ती है।

[2] एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ मनु० २.२०

[3] मनु० २.१९

मानी जाती थी। मगध के उत्कर्ष से भी इस भूभाग का भाषासंबंधी महत्व घटा नहीं। अशोक के लेखों की पालि अथवा प्रारंभिक बौद्ध पालि पर इसी देश की भाषा की शब्दावली तथा रचनापद्धति का प्रभाव है। इस ब्रह्मर्षि देश में भाषा और संस्कृति की दृष्टि से पड़ोस के अन्य प्रदेश भी मिलने लगे। पश्चिम में ब्रह्मावर्त (सरस्वती तथा दृषद्वती के बीच) तथा पूर्व में पूरे अंतर्वेद (गंगा-यमुना के बीच) के मिल जाने से 'मध्यदेश' का बनना प्रारंभ हो गया। क्रमशः हिमालय तथा विंध्य के बीच पश्चिम में विनशन (सरस्वती के अंतर्धान होने का स्थान) से लेकर पूर्व में प्रयाग तक के भूभाग मध्यदेश के भीतर आ गए[1] और इनमें भाषा की एकरूपता आती गई। बुद्धकाल में मध्यदेश की सीमा और बढ़ गई। महावग्ग के अनुसार मज्झिमदेस (=मध्यदेश) की पूर्वी सीमा महासाल के आगे कजंगल (राजमहल=बिहार की पूर्वी सीमा), पूर्वोत्तर सीमा सलावती नदी, दक्षिणी सीमा सेतकण्णिक, पश्चिमी सीमा थून (स्थूण=स्थाणेश्वर) तथा उत्तरी सीमा उसीरध्वज पर्वत थी[2]। इस प्रकार मध्यदेश में पश्चिमोत्तर में उत्तरापथ (पश्चिमी पंजाब, काश्मीर तथा सीमात), पश्चिम में अपरांत (सौराष्ट्र) तथा पूर्व में सुदूर प्राची (बंगाल तथा आसाम) को छोड़कर-समस्त उत्तर भारत अथवा आर्यावर्त आ गया। फलतः कुरु-पाचाली भाषा के विकास और प्रसार का क्षेत्र और अधिक विस्तृत हो गया। कुरु-पांचाल के भारतीय संस्कृति के प्रतिमान होने तथा उत्तर भारत के मैदान में यातायात तथा परस्पर संपर्क सरल होने के कारण एक बड़े भूभाग पर एक सर्वमान्य भाषा का विकास संभव हुआ।

उत्तर भारत में जब पालि के साहित्यिक प्रयोग के बाद बौद्ध साहित्य में संस्कृत का पुनरावर्तन हुआ तो बौद्धों की मिश्र अथवा गाथा संस्कृत में मध्यदेशीय हिंदी के अनेक मूल तत्व प्रस्तुत हुए। यह मिश्र अथवा गाथा संस्कृत न केवल संपूर्ण उत्तर भारत में बौद्धों द्वारा प्रयुक्त होने लगी, अपितु समस्त पश्चिमोत्तर भारत और उससे निकलकर मध्य एशिया तक पहुँची। महायान बौद्ध संप्रदाय के

[1] हिमवद्विंध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥ मनु० २.२१

मेधातिथि ने इसपर भाष्य करते हुए लिखा है कि 'यह प्रदेश न अति उत्कृष्ट (ऊँचा) और न अति निकृष्ट (नीचा) है इसलिये यह 'मध्यदेश' कहलाता है, न कि पृथ्वी के मध्य में होने के कारण'। यह व्याख्या मध्यकालीन है। बहुत प्राचीन काल में आर्यावर्त और इलावर्त (मध्य हिमालय) के बीच में मध्यदेश पड़ता था। नाम पड़ने का संभवतः यही कारण था।

[2] म० व० ५.१२.१३

संपर्क और प्रभाव से दक्षिणापथ भी अछूता न था। आंध्र, कर्णाटक आदि में महायान के कतिपय केंद्र थे। अतः इस भाषा ने एक बहुजनसुलभ विस्तृत लोक-भाषा के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया।

पूर्व मध्ययुग में उत्तर भारत के अधिकांश राजकीय तथा साहित्यिक कार्य संस्कृत भाषा के ही द्वारा होते थे; नाटकों तथा काव्यों की प्राकृत भी लोकभाषा न होकर रूढ़ साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थी। फिर भी मध्यदेशीय लोकभाषा कई माध्यमों से देश के बड़े भूभाग पर फैल रही थी। इस पूरे युग में कान्यकुब्ज अथवा महोदय प्रायः समस्त उत्तर भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का केंद्र था। यहाँ के निवासियों के साथ उनकी भाषा भी दूर दूर के प्रदेशों में पहुँची और दूसरे प्रदेश के लोग यहाँ आकर यहाँ की भाषा से प्रभावित होने लगे। तोमरों और चौहानों के समय उत्तर भारत का दूसरा राजनीतिक केंद्र इंद्रस्थान (इंद्रप्रस्थ=दिल्ली) था जिसकी भाषा राजस्थान तथा पश्चिमोत्तर भारत तक पहुँचती थी। अन्य सांस्कृतिक केंद्र प्रयाग, अयोध्या, काशी, हरिद्वार तथा मथुरा-वृंदावन थे। इनके संत और कवियों की रचनाएँ सुदूर प्रदेशों तक जाती थीं। इन तीर्थस्थानों में भारत के सभी भागों से तीर्थयात्री आते थे। उनमें शिक्षित यात्री और भक्त कुछ साहित्यिक रचनाएँ अपने साथ ले जाते थे। देश में संस्कृत के अध्ययन का काशी सबसे बड़ा केंद्र था और इस दृष्टि से मध्यदेशीय भाषा के प्रसार का एक बहुत बड़ा माध्यम भी।

मुसलमानों के आक्रमण तथा उत्तर भारत में उनके राज्यस्थापन के कारण दो प्रकार से हिंदी का प्रचार हुआ। उत्तर भारत के बहुत से राजवंश और उनके परिजन राजस्थान, मध्यभारत, विंध्यप्रदेश तथा मध्यप्रदेश के मरु, जंगल तथा पार्वत्य प्रदेशों में जा बसे और अपने साथ अपनी भाषा भी लेते गए। इसके पश्चात् जब दिल्ली और मध्यदेश से मुसलिम आक्रमणकारियों और विजेताओं का चतुर्दिक् प्रसार हुआ तो उनके विचार-विनिमय और व्यवहार के लिये दिल्ली की भाषा उनके साथ गई। उनके द्वारा हिंदी और उसकी उपभाषा उर्दू का संपूर्ण उत्तर भारत और दक्षिण के बहुत से शासनकेंद्रों में प्रसार हुआ। आधुनिक काल में युरोपीय व्यापारियों एवं शासकों तथा उत्तर भारत के व्यापारियों—मारवाड़ी, पंजाबी, सिंधी तथा गुजराती—से भी हिंदी का संपूर्ण भारत में प्रचार हुआ।

आज जहाँ साहित्य, शिक्षा, शासन तथा सामान्य व्यवहार के लिये हिंदी भाषा का प्रयोग होता है उसमें पूर्व से प्रारंभ कर बिहार, उत्तरप्रदेश, विंध्यप्रदेश, मध्यप्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, पंजाब, हिमालय की तराई तथा हिमांचल प्रदेश संमिलित हैं। इसकी पूर्वी सीमा राजमहल की पहाड़ियों तक, दक्षिणी सीमा छत्तीसगढ़ (विंध्य के पार महानदी के उद्गम) तक, पश्चिम में सतलज और रावी तक

पंजाब में तथा बीकानेर और जोधपुर तक राजस्थान में है। यह हिंदी का प्रमुख क्षेत्र है। हिंदी की ही उपभाषा उर्दू, जिसमें फारसी और अरबी शब्दों का बाहुल्य है, काश्मीर तथा पश्चिमी पाकिस्तान में प्रायः पठित समाज में सर्वत्र बोली जाती है। हिंदी क्षेत्र के बाहर बंबई, कलकत्ता आदि जैसे बड़े नगरों में हिंदी का भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से पर्याप्त प्रचार है। सं० २००७ वि० में पारित भारतीय संविधान के अनुसार हिंदी भारत की राज्यभाषा घोषित हुई। भारतीय जीवन के विविध क्षेत्रों में उत्तरोत्तर उसका प्रसार होता जा रहा है। किंतु भाषा की दृष्टि से उसके प्रमुख क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों का ही यहाँ उल्लेख किया जायगा।

२. प्राकृतिक विभाजन[१]

हिंदी के मुख्य क्षेत्र को मोटे तौर पर निम्नलिखित प्राकृतिक भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) हिमालय का पार्वत्य प्रदेश
(२) उत्तर भारत का मैदान
(३) राजस्थान का मरुप्रदेश
(४) मालव प्रदेश
(५) विंध्यमेखला

(१) हिमालय का पार्वत्य प्रदेश—भारत की उत्तरी सीमा पर हिमालय पश्चिम से पूर्व की ओर लगभग सोलह सौ मील की लंबाई में विस्तृत है। वर्षपर्वतों में हिमालय का नाम सबसे पहले आता है[२]। कालिदास के कुमारसंभव में पृथ्वी के मानदंड के रूप में हिमालय का वर्णन किया गया है : 'उत्तर दिशा में देवताओं का आत्मरूप हिमालय नामक नगाधिराज पूर्व तथा अपर समुद्रों का मानों अवगाहन करके पृथ्वी के मानदंड के समान स्थित है'[३]। हिंदी क्षेत्र के उत्तर में इसका ठीक मध्य भाग पड़ता है। सनातन हिम से आच्छादित हिमालय की अधिकांश चोटियाँ या शिखर भी इसी मध्य भाग में पड़ते हैं। पश्चिम से प्रारंभ कर नंदादेवी,

[१] पुराणों के भुवनकोश नामक अध्यायों में भारत के प्राचीन भौतिक तथा राजनीतिक भूगोल का पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसके लिये देखिए कू० पु०, अ० ४७; ग० पु०; अ० पु०, ४६; म० पु०; मा० पु०, ५७; ब०पु०, ८५; वा० पु०, ११; वि०पु०; अंश २, अ० ३।

[२] हिमवान् हेमकूटश्च निषधो मेरुरेव च।
चैत्रः कर्णी च शृंगी च सप्तैते वर्षपर्वताः ॥ म० पु०, अ० ११४

[३] अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ कु० सं० १.१

धौलागिरि, गौरीशंकर (एवरेस्ट), कंचनजंघा आदि इनमें प्रसिद्ध हैं। हिमालय के इस भाग में कई श्रृंखलाएँ, उपत्यकाएँ तथा दूनें हैं। इनमें दक्षिण की ओर सिवालिक (सपादलक्ष) की श्रृंखला विशेष उल्लेखनीय है। हिमालय की यह दृढ़ श्रृंखला नदियों की दूनों से कहीं कहीं कटी हुई है, परंतु फिर भी प्रायः अभेद्य और दुर्गम है।

हिमालय की गणना वर्षपर्वतों में इसलिये की गई थी कि वह भारतवर्ष को एशिया के अन्य देशों से अलग करता है। वास्तव में भारत की उत्तरी, पश्चिमोत्तरी तथा पूर्वोत्तरी सीमा या मर्यादा हिमालय और उसकी श्रृंखलाओं से निर्मित है। इस प्रायः अभेद्य सीमा के कारण भारत पर उत्तर से कोई महत्वपूर्ण जातीय अथवा सैनिक आक्रमण नहीं हुआ और वह संसार के अन्य देशों से अपेक्षाकृत अधिक एकांत में रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यहाँ एक विशेष प्रकार की सभ्यता और जीवन का निर्माण हुआ जो बहुत दिनों तक अपने व्यक्तित्व को बाहरी प्रभावों और आक्रमणों से सुरक्षित रख सका। परंतु जहाँ हिमालय भारत को अन्य देशों से पृथक् रखने की चेष्टा करता है वहाँ अपने पश्चिमोत्तर द्वारों (दर्रों) के रास्ते भारत को पश्चिमी तथा मध्य एशिया से और पूर्वोत्तर रास्तों द्वारा चीन, हिंदचीन एवं हिंदएशिया (इंडोनेशिया) से मिलाता भी रहा है। अतः भारत बाहरी संपर्कों से वंचित नहीं रहा, यद्यपि उसने अपने व्यक्तित्व को दृढ़ता से बचा रखा। हिंदी क्षेत्र में अधिकतर पश्चिमोत्तर से मानव परिवारों और भाषाओं का आगमन समय समय पर होता रहा। उत्तर से मंगोल तत्व भी स्वल्प मात्रा में हिंदी क्षेत्र तक पहुँचता था।

हिंदी क्षेत्र के जलवायु तथा ऋतुपरिवर्तन में भी हिमालय का बहुत बड़ा भाग है। यदि हिमालय की ऊँची श्रृंखलाएँ भारत के उत्तर में न होतीं तो पश्चिम सागर (अरब सागर) तथा भारत महासागर से उठनेवाली मानसून हवाएँ उनसे टकराकर पानी नहीं बरसा सकती थीं और वर्षा के अभाव में सारा उत्तर भारत शुष्क, तथा अर्द्ध मरुभूमि होता। इसके अतिरिक्त उत्तर ध्रुव की ठंढी हवाएँ तिब्बत को पारकर भारत में पहुँचतीं और सारे उत्तर भारत में कठोर जाड़ा पड़ता। इस परिस्थिति में हिंदी क्षेत्र का जलवायु आज के जलवायु से बहुत भिन्न होता और यहाँ की वनस्पति, जीवधारी, उपज, रहन सहन, सभ्यता और संस्कृति भी अन्य प्रकार की होती।

हिमालय से निकलनेवाली अनेक नदियाँ हैं जो उत्तर भारत के मैदान से बहती हुई पश्चिम सागर (अरब सागर) अथवा बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। वास्तव में इन्हीं नदियों द्वारा लाई मिट्टी से उत्तर भारत का मैदान बना है और वे इसको बराबर सिंचित करती और उपजाऊ बनाती रहती हैं। यदि यह कहा

जाय कि प्रायः संपूर्ण उत्तर भारत हिमालय की देन है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

हिमालय ने भारतीय मानस और साहित्य को भी बराबर प्रभावित किया है। जहाँ उत्तुंग शृंगोंवाला गगनचुंबी हिमालय सृष्टि की विशालता और विश्व की उच्चता का द्योतक है वहाँ मनुष्य के अहंकार और दर्प को खंडित भी करता है। उसके सामने खड़ा हुआ मानव अपने शरीर की भौतिक स्वल्पता का अनुभव करता है। उसकी ऊँची और दुर्गम गुहाएँ रहस्य और कल्पना के केंद्र रही हैं। हिमालय देवताओं का निवासस्थल है। वहीं यक्ष, गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, गुह्यक आदि अर्द्धदेवयोनियाँ बसती हैं। शिव की ध्यानभूमि मानसरोवर और क्रीड़ाभूमि काम्यकवन हिमालय में ही स्थित हैं। आर्यों का उत्तरी आवर्त 'इलावर्त' हिमालय को ही घेरकर स्थित था। पांडवों का स्वर्गारोहण, दिलीप का गोचारण, कुमारसंभव में कार्तिकेय का जन्म, किरातार्जुनीय में शिव तथा अर्जुन का द्वंद्व आदि अनेक साहित्यिक घटनाओं और कथानकों का स्रोत हिमालय रहा है। मैदानों के कोलाहल और आंदोलन से क्लांत एवं श्रांत मानव विश्राम और शांति के लिये बराबर हिमालय की ओर देखता आया है। ऋषिमुनियों और योगियों के चिंतन और अनुभूति के लिये उर्वर भूमि हिमालय में ही सुलभ थी। इस प्रकार भारतीय जीवन पर भौतिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से हिमालय की गहरी छाप है।

(२) **उत्तर भारत का मैदान**—हिंदी क्षेत्र में सिंधु घाटी का पूर्वी भाग तथा गंगा और उसकी सहायक नदियों की घाटियों के प्रदेश संमिलित हैं। इसमें प्राचीन काल के ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश तथा आर्यावर्त का अधिकांश आ जाता है[1]। जनपदों की दृष्टि से इसमें कैकेय, मद्र, वाहीक, वाटधान, त्रिगर्त, अंबष्ठ, कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य, पटच्चर, चेदि, वत्स, कोसल, काशी, वज्जि, विदेह, मगध और अंग का समावेश है।[2] त्रिगर्त अथवा काँगड़े की तरफ *हिमालय की निचली*

[1] ब्रह्मावर्त—पूर्वी पंजाब में दृषद्वती और सरस्वती के बीच का प्रदेश (म० स्मृ० २. १७), ब्रह्मर्षिदेश—इसमें कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल तथा शूरसेन संमिलित थे (म० स्मृ० २. १६), मध्यदेश—हिमालय और विंध्य के बीच पश्चिम में विनशन से पूर्व में प्रयाग तक (म० स्मृ० २.२१) पश्चिम में स्थूण (थानेसर) से पूर्व में कजंगल (राजमहल) तक (म० ब०), आर्यावर्त—हिमालय और विंध्य के बीच पूर्व से पश्चिम समुद्र तक (म० स्मृ० २. २२)।

[2] कैकेय (झेलम के किनारे), कुरु (गंगा-यमुना का उत्तरी दोआब और पू० पंजाब), मद्र (चिनाब और रावी के बीच), पंचाल (बरेली से कानपुर तक गंगा का तटवर्ती प्रदेश), वत्स (कौशांबी के चौगिर्द), कोसल (लखनऊ, फैजाबाद, गोरखपुर मंडल),

शृंखला पंजाब की तरफ बढ़ आई है, किंतु पश्चिम से चलने पर पूर्वी पंजाब में कोई प्राकृतिक बाधा नहीं उपस्थित होती। इससे आगे बढ़ने पर दिल्ली (प्राचीन इंद्रप्रस्थ) के पास उत्तर से हिमालय की भुजा सिवालिक तथा दक्षिण से अरावली (प्राचीन पारियात्र) की भुजा मिलकर जलविभाजक बनाती हैं और पश्चिम से आनेवाले शत्रु अथवा सेना को रोकने के लिये देहरी (=द्वार) का काम करती हैं। प्रायः इसके पश्चिमोत्तर पानीपत (प्राचीन कुरुक्षेत्र) के मैदान में भारत के बड़े बड़े निर्णायक युद्ध लड़े गए। दिल्ली के पूर्व फिर विंध्याचल (मिर्जापुर) तक कोई पर्वत या पहाड़ी बीच में नहीं मिलती। विंध्याचल की पहाड़ियाँ नदियों और सेनाओं के पूर्वाभिमुख प्रवाह को यहाँ रोकती हैं। गंगा यहाँ पहुँचकर उत्तरगामिनी होने के लिये विवश होती है। आधुनिक रेलवे मार्ग को भी यही करना पड़ता है। प्राचीन और मध्यकालीन विजेता भी चुनार पहुँचकर उत्तर को मुड़ जाते थे। आरा (शाहाबाद) और छपरा से मैदान का रास्ता फिर पूर्वाभिमुख हो जाता है तथा राजमहल की पहाड़ियों तक सीधा जाता है और द्वारबंग (दरभंगा) पहुँचकर पूर्व-दक्षिण की ओर मुड़ता है।

नदियों द्वारा हिमालय से लाई हुई मिट्टी से उत्तर भारत का मैदान निर्मित हुआ और उन्हीं के द्वारा सींचा जाता है। ये नदियाँ यातायात का साधन भी प्रदान करती हैं। इस उर्वर और सस्य-श्यामला भूमि में मनुष्यजीवन के साधन सरलता से सुलभ होते रहे हैं। अतः अत्यंत प्राचीन काल से यहाँ उपनिवेशों, जनपदों और राज्यों की स्थापना होती रही है। यहाँ बड़े बड़े नगरों और नागरिक जीवन का विकास हुआ। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की सहज पूर्ति कर अपने पर्याप्त अवकाश में यहाँ के लोग विद्या, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, शास्त्र, विज्ञान आदि की सृष्टि करते रहे। प्राकृतिक बाधा के अभाव और यातायात सरल होने के कारण एक बड़े भूभाग में लोगों का संपर्क और परस्पर संबंध होता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक बड़े पैमाने पर यहाँ भाषाओं का विकास हुआ जो अन्य प्रदेशों में प्राकृतिक विभाजन के कारण संभव नहीं था। विस्तृत भाषा के विकास के कारण चिंतन और समवेदनाएँ भी संतुलित और व्यापक हुईं। आर्यावर्त और भारतवर्ष की कल्पना का उदय भी यहीं हुआ। संपूर्ण देश की एकता और समष्टि की भावना यहीं विकसित हुई। भारतीयता और राष्ट्रीयता का केंद्र यहीं था और विदेशी

वाहीक (रावी और सतलज के बीच), शूरसेन (मथुरा के चौगिर्द), काशी (वाराणसी), वाटधान (सतलज के दक्षिणपूर्व), मत्स्य (अलवर-जयपुर), वज्जि (पश्चिमोत्तर बिहार), त्रिगर्त (काँगड़ा), पटच्चर (शूरसेन के दक्षिण-पश्चिम), विदेह (पूर्वोत्तर बिहार), कंबड (काँगड़े के दक्षिण-पूर्व), चेदि (बुंदेलखंड-बघेलखंड), मगध (दक्षिण बिहार) और अंग (मध्यपूर्व बिहार)।

आक्रमण और प्रभाव के प्रति प्रतिक्रिया का भी। आर्यावर्त की व्याख्या करते हुए मनु के भाष्यकार मेधातिथि ने कहा है : 'आर्य लोग वहाँ वर्तमान रहते हैं; पुनः पुनः समृद्धि को प्राप्त होते हैं। म्लेच्छ (विदेशी) लोग वहाँ आक्रमण करके भी देर तक ठहर नहीं पाते हैं[१]।'

(३) राजस्थान का मरुप्रदेश—राजस्थान किसी समय प्राचीन काल में समुद्र था, जिसमें पंजाब की कई नदियाँ गिरती थीं। प्रसिद्ध सरस्वती नदी इनमें से एक थी। आज मरु के पास जहाँ इसके लुप्त होने का स्थान है उसका नाम विनशन (नष्ट होना) है। उथला होते होते उसने वर्तमान मरुरूप को प्राप्त किया। इस मरुभूमि ने भारतीय इतिहास और भाषा को दो प्रकार से प्रभावित किया है। पश्चिमोत्तर जानेवाली या पश्चिमोत्तर से आनेवाली जातियों का यह पथ-निर्धारण करता है। एक तो उनको सीधे पूर्व-पश्चिम दिशा में जाना पड़ता है, दूसरे पश्चिम में सिंधुनद का किनारा पकड़कर दक्षिण की ओर या पूर्व में मध्यभारत के रास्ते विदर्भ और गुजरात की ओर जाना पड़ता है। भाषाओं का प्रवाह भी प्रायः इन्हीं मार्गों से हुआ है। यह प्रदेश सिंध, पंजाब, उत्तरप्रदेश और मध्यभारत को स्पर्श करता है, अतः इन सभी से प्रभावित हुआ है और सभी को प्रभावित किया है।

इस मरु, पर्वतीय तथा जागल प्रदेश ने समय समय पर बाहरी आक्रमणों से भारतीय राजवंशों, भाषा, साहित्य तथा धर्म की रक्षा की है और उसको प्रोत्साहन भी दिया है। यूनानी, बाख्त्री, पह्लव, शक, ऋषिक-तुषार (कुषाण), हूण, अरब, अफगान, तुर्क आदि बर्बर आक्रमणकारियों से त्रस्त होकर उत्तर भारत के कतिपय राजवंश, उनके स्वजन, परिजन तथा अनुयायी इस प्रदेश की दुर्गम तथा बीहड़ भूमि में आ बसे और अपने व्यक्तित्व को बचा रखा। प्रथम पाँच आक्रमणों के समय पंजाब की गणजातियाँ पूर्वोत्तर राजस्थान में जा बसीं। परवर्ती आक्रमणों के समय भी यही प्रक्रिया दुहराई गई। इस प्रकार राजस्थान संकटकाल में उत्तर भारत की शरणभूमि बन गया। यहाँ आकर शरणागत राजवंशों और जातियों ने पुनः पुनः अपना पुनरुत्थान किया और अपना पौरुष दिखलाया। सूर्यमंडल और अग्निकुंड से प्रादुर्भूत राजवंशों की कहानी इन्हीं जातियों के पुनरुत्थान का इतिहास है। मरुभूमि को आधार बनाकर इन्होंने विदेशियों का अप्रतिम प्रतिरोध और सामना किया। इनके शौर्य और आत्मबलिदान के ऊपर आधारित काव्यों से ही हिंदी साहित्य के आदिकाल का निर्माण हुआ।

(४) मालव प्रदेश—राजस्थान के चारो ओर उर्वर भूमि का एक वृत्त है। उसका दक्षिण-पूर्व भाग मालव है। इसमें जंगल, पर्वत तथा उपजाऊ पठार

[१] आर्या वर्तन्ते तत्र पुनः पुनरुद्भवन्ति। आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छा स्थातारो भवन्ति। म० स्मृ० २, २२ पर भाष्य।

सभी संमिलित हैं। पारियात्र अथवा अरावली यहाँ का मुख्य पर्वत तथा शिप्रा प्रमुख नदी है। यह सस्य-श्यामला उर्वर भूमिवाला सुरम्य प्रदेश है जिसमें प्राचीन काल में ही आकर अवंति आदि जनपद बस गए थे। यहाँ की संपन्नता के बारे में उक्ति है 'देश मालवा गहर गंभीर। घर घर रोटी पग पग नीर।' पंजाब की प्रसिद्ध गणजाति 'मालव' के यहाँ बस जाने से इसका नाम मालव पड़ा। उत्तर से एक मार्ग मालवा गुजरात होते हुए दक्षिणापथ को जाता है। अतः उत्तर और दक्षिण के बीच में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी इसका संधिस्थानीय महत्व है। गुजराती, राजस्थानी, ब्रजभाषा सभी का पुट मालवी में है जो अपने इन तत्वों को आत्मसात् कर हिंदी को समृद्ध बनाती है।

(५) **विंध्य मेखला**—जिस प्रकार वर्षपर्वत हिमालय भारत को एशिया के अन्य वर्षों (देशों) से अलग करता है वैसे ही विंध्य (भारत के कुलपर्वतों में से एक[१]) दक्षिणापथ को उत्तर से अलग करता है। भारत के बीचोबीच अथवा कटिप्रदेश में होने के कारण इसे विंध्यमेखला कहते हैं। इसकी श्रृंखला पश्चिम में खंभात की खाड़ी से पूर्व में उड़ीसा तक चली जाती है। इसका पश्चिमी भाग पारियात्र, उत्तरी विंध्य और दक्षिणी ऋक्ष कहलाता है। इसके पूर्वी भाग में अमरकंटक, महाकांतार और छोटा नागपुर की पहाड़ियाँ संमिलित हैं। अमरकंटक से भारत की चार प्रसिद्ध नदियाँ निकलती और विभिन्न दिशाओं में बहती हैं। उत्तर में सोन नद निकलता है जो बघेलखंड और बिहार का चक्कर लगाकर पटना के पहले गंगा में मिलता है। पूर्व में महानदी इससे निकलकर बंगाल के आखात में गिरती है। पश्चिम में नर्मदा और ताप्ती पश्चिमाभिमुख होकर पश्चिम सागर (अरब सागर) में अपना जल छोड़ती हैं। कंटकाकीर्ण जंगलों तथा दुर्गम पर्वतों के कारण विंध्य को बीच से पार करना कठिन है, परंतु इसके पश्चिमी और पूर्वी छोरों से होकर दक्षिण जाने के कतिपय मार्ग हैं जो प्राचीन काल से चालू रहे हैं और उत्तर तथा दक्षिण के बीच में माध्यम का काम करते हैं। अतः विंध्य का भारतीय इतिहास, जीवन तथा साहित्य में महत्व का स्थान रहा है। विंध्य की ऊँचाई और दुर्गमता की कई कहानियाँ प्राचीन संस्कृत साहित्य में पाई जाती हैं। परंतु मानव पुरुषार्थ प्राकृतिक कठिनाइयों का बराबर अतिक्रमण करता आया है। सर्वप्रथम अगस्त्य ने विंध्य को पार किया, फिर भृगु आदि ऋषियों ने। इसके पश्चात् उत्तर-दक्षिण के आदान-प्रदान की परंपरा सी बन गई। संस्कृत भाषा तथा साहित्य, पालि तथा प्राकृतिक भाषा एवं साहित्य, पूर्व मध्ययुग का हिंदी संत

[१] महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥ म० भा०, भीष्म० ६. ११

साहित्य तथा उत्तर मध्ययुग की हिंदी भाषा और साहित्य बराबर विंध्य को पारकर दक्षिण की ओर जाते रहे हैं और इसी प्रकार दक्षिण के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव उत्तर में पहुँचते रहे हैं।

३. पर्वत और नदियाँ

प्राकृतिक विभाजन के संबंध में पर्वतों का उल्लेख हो चुका है। हिंदी के विस्तृत क्षेत्र में नदियों का एक जाल सा बिछा हुआ है जो यहाँ के जीवन के तानेबाने में ओतप्रोत हैं। नदियों की गणना का प्रथम उल्लेख ऋग्वेद के नदी-स्तुति-सूक्त[1] में पाया जाता है, जिसमें गंगा से प्रारंभ कर उससे पश्चिम की नदियों की स्तुति है। इस सूक्त का ऋषि सिंधुक्षित् है। पुराणों के अनुसार यह पंचाल का राजकुमार था जिसकी वाहिनी इन नदियों को पारकर सिंधुतट के पश्चिमोत्तर तक पहुँची थी। कुरु-पंचाल के साहित्य और संस्कृति का प्रसार भी पश्चिमोत्तर में इसी दिशा और गति से हुआ था। नदियों का उल्लेख इस प्रकार है: 'हे गंगे, यमुने, सरस्वति और शुतुद्रि (सतलज) परुष्णी (रावी) के साथ मेरे स्तोम (स्तोत्र) को सुनो। हे मरुद्वृधे (मरुवर्द्धन) और आर्जिकीये[2]! आशिक्नी (चिनाब), वितस्ता (झेलम) और सुषोमा (सोहन) के साथ मेरी स्तुति सुनो।' इसमें दृषद्वती (घग्घर) और विपाशा (व्यास) नामक पंजाब की दो पूर्वीय नदियों की गणना नहीं है। संभवतः सैनिक अथवा धार्मिक दृष्टि से उनका महत्व कम था।

गंगा न केवल हिंदी क्षेत्र की अपितु सारे भारत की सर्वश्रेष्ठ और प्रसिद्ध नदी है। गंगा भारतीय साहित्य में सुरसरि अथवा देवनदी है। देवतात्मा हिमालय की गंगोत्री झील से इसका प्रस्रवण प्रारंभ होता है। अलकनंदा, मंदाकिनी आदि कई धाराओं और नामों से बहती हुई यह हरिद्वार के पास मैदान में उतरती है। कानपुर के ऊपर ही पूर्व से रामगंगा और पश्चिम से कालिंदी गंगा में आकर मिलती है। मैदान में गंगावतरण ने बहुत सी पौराणिक कथाओं और काव्यों को जन्म दिया है।[3] उत्तर के पार्वत्य प्रदेश से लेकर पूर्व में (राजमहल

[1] इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ऋ० वे० १०.७५.५

[2] इसकी पहचान कठिन है। पश्चिमी पंजाब की कोई नदी है।

[3] पुराणों और रामायण में भगीरथ द्वारा गंगावतरण प्रसिद्ध कथा है। ऐसा लगता है कि किसी समय गंगा हिमालय की उपत्यकाओं और सरोवरों में भटकती थी अथवा गंगा और यमुना दोनों अत्यंत प्राचीन काल में राजस्थान समुद्र में गिरती थीं, जिन्हें मोड़कर भगीरथ ने दक्षिण-पूर्वाभिमुख किया।

की पहाड़ियों तक गंगा का प्रवाह हिंदी क्षेत्र का मेरुदंड है। प्राचीन तथा आधुनिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन के प्रसिद्ध केंद्र हरिद्वार, हस्तिनापुर, कानपुर, प्रयाग (इलाहाबाद), काशी (वाराणसी), पटना (पाटलिपुत्र) आदि गंगा के तट पर ही स्थित हैं।

भौगोलिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से गंगा के पश्चात् यमुना का स्थान है। वह भी हिमालय की गर्भशृंखला में स्थित यमनोत्री से निकलकर पहले दक्षिणाभिमुख और फिर पूर्वाभिमुख बहकर प्रयाग में गंगा से मिल जाती है। भारत की प्राचीन संस्कृति इसके सहारे भी प्रवाहित हुई थी और इसके किनारे इंद्रप्रस्थ (दिल्ली), मथुरा, आगरा, कोशाम्बी (कोसम) आदि प्रसिद्ध नगर स्थित थे। गंगा-यमुना के बीच का देश ही ब्रह्मर्षिदेश था जहाँ वैदिक सभ्यता और संस्कृति परिपक्व होकर अन्यत्र प्रसारित हुई थी।

सिवालिक की जलविभाजक रेखा के पश्चिम सरस्वती (लुप्त), दृषद्वती (घग्घर, प्रायः लुप्त), सतलज, व्यास, रावी, चिनाव, झेलम और सिंधु आदि नदियाँ हिमालय से निकलकर पश्चिमोत्तर को बहती हैं। पहले सरस्वती राजस्थान के समुद्र में गिरती थी, किंतु अब विनशन के पास लुप्त हो जाती है। व्यास सतलज में मिलती है और शेष नदियाँ सिंधु में। कुरु-पंचाल का पश्चिमोत्तर प्रसारक्षेत्र इन्हीं नदियों के प्रदेश में था और यहाँ पर त्रिगर्त, मद्र, केकय, शिवि, सौवीर, सिंधु आदि जनपद स्थापित थे। वैदिक साहित्य में इन नदियों का इनके पूर्वनामों के साथ प्रायः उल्लेख मिलता है।

पंजाब से दक्षिण चलने पर राजस्थान आ जाता है। इसके पश्चिमोत्तर में नदियों का प्रायः अभाव है। झील अथवा कृत्रिम सागर ही यहाँ के मुख्य जलाशय हैं। अजमेर का अर्णोसागर प्रसिद्ध ऐतिहासिक जलाशय है। साँभर झील से केवल एक लूनी नदी निकलकर दक्षिण-पश्चिम राजस्थान में होती हुई रनकच्छ में गिरती है। मालवा के पठार से कई नदियाँ निकलकर दक्षिणपूर्व राजस्थान होती हुई यमुना में मिल जाती हैं। इनमें चंबल (चर्मण्वती), छोटी सिंधु (काली सिंधु), बेतवा (वेत्रवती) तथा केन (शुक्तिमती) का उल्लेख किया जा सकता है। चंबल की पश्चिमी सहायक नदी बनास (वर्णास) है जो अरावली से निकलकर चंबल में मिलती है। उज्जयिनी से होकर बहनेवाली साहित्यिक शिप्रा नदी मालवा के ही पठार से निकलकर चंबल में गिरती है। विंध्यप्रदेश की नदियों में केवल शोणनद ही प्रसिद्ध है जो प्राचीन साहित्य में शोणभद्र तथा हिरण्यबाहु भी कहलाता था। यह अपनी विशाल जलराशि तथा शोणित बालुका-कणों को बिखेरता हुआ पटना के पश्चिम गंगा में मिल जाता है।

पंचाल के समवर्ती गंगाप्रवाह के पूर्व राजमहल की पहाड़ियों तक नदियों का एक जाल सा है। गोमती बरेली के ऊपर हिमालय की तराई से निकलकर लखनऊ

तथा जौनपुर होती हुई बनारस के आगे गंगा से मिल जाती है। गोमती के पूर्व सरयू नदी है। वेद में सरयू का नाम 'सरभू' मिलता है[१]। यह मानसरोवर के दक्षिण से निकलती है। हिमालय में कई धाराएँ इसमें आकर मिलती हैं। सरयू बड़ी विशाल तथा वेगवती नदी है। इसके किनारे पर लोकविश्रुत अयोध्या नगरी स्थित है जहाँ मानव अथवा इक्ष्वाकुवंश की स्थापना हुई थी। इसके किनारे दूसरा प्रसिद्ध नगर छपरा है। यहीं पर सरयू गंगा से मिलती है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने अपने काव्यों में सरयू को अमर किया है।

गोमती और सरयू के बीच में टौंस (तमसा) नदी है जो गाजीपुर और बलिया के बीच में गंगा से जा मिलती है। वाल्मीकि आश्रम की तमसा (मुरला के साथ) यही है जहाँ सीता का दूसरा वनवास और लव-कुश का जन्म हुआ था[२]। आजकल तमसा के किनारे आजमगढ़ नगर और मऊ नामक प्रसिद्ध कस्बा है। सरयू के पूर्व में राप्ती नामक नदी है जिसका प्राचीन नाम अचिरवती अथवा अजिरवती था। यह बुटवल के पास की पहाड़ियों से निकलती है और वेग से बहती हुई देवरिया जिले में बरहज के पास सरयू से मिल जाती है। प्राचीन श्रावस्ती नगरी (सहेत-महेत, गोंडा-बहराइच की सीमा पर) इसी के किनारे थी जो ब्राह्मण और बौद्ध दोनों साहित्यों में प्रसिद्ध थी। दूसरा प्रसिद्ध नगर इसके किनारे गोरखपुर है। बुद्धकाल में कोलिय-गण की राजधानी रामग्राम इसी स्थान पर था जिसे परवर्ती काल में राप्ती बहा ले गई। राप्ती की सहायक नदी रोहिणी बस्ती-गोरखपुर की ऊपरी तराई से निकलकर गोरखपुर के पास राप्ती से मिल जाती है। इसके पूर्व चलकर देवरिया में छोटी गंडक (प्राचीन हिरण्यवती) है। यह भी नेपाल की तराई से निकलती है और दक्षिण-पूर्व को बहती हुई सरयू में मिल जाती है। प्राचीन काल में मल्लों की राजधानी कुशीनगर इसी के किनारे था। (आजकल उसके छोड़न रामभार ताल के किनारे हैं।) और पूर्व चलने पर उत्तर विहार में बड़ी गंडक (सदानीरा=आधुनिक नारायणी), कोसी (कौशिकी) आदि प्रसिद्ध नदियाँ हैं जो हिमालय से प्रस्रवित होकर उत्तरी विहार को आप्लावित करती हुई गंगा में मिलती हैं। ये नदियाँ जाल की तरह फैली हुई हैं। इनकी लाई हुई मिट्टी से प्रतिवर्ष इनके द्वारा सिंचित मैदान उपजाऊ बनता है। जीवन के साधन सरलता से उपलब्ध होने के कारण इन्हीं नदियों के प्रदेश में प्राचीन काल में कोसल, वैशाली, विदेह आदि राज्यों तथा उनके भग्न होने पर मल्ल तथा वज्जिसंघ के गणों की स्थापना हुई थी[३]।

[१] ऋ० वे०, ५.५३. ९; १०. ६४. ६

[२] भवभूतिकृत उत्तररामचरित में इनका वर्णन पढ़िए।

[३] भारत के प्राचीन भूगोल के लिये देखिए : (१) पुराणों के भुवनकोश नामक अध्याय; (२) बृ० सं० (वराहमिहिर, १४. ७); (३) कनिंगहम : एंश्यंट ज्याग्रफी आव् इंडिया

४. जलवायु

हिंदी का क्षेत्र उत्तर भारत के शीतोष्ण कटिबंध में है। इसमें गर्मी, वर्षा और जाड़ा, तीन मौसमों और छः ऋतुओं—वसंत, ग्रीष्म, पावस, शरत्, हेमंत और शिशिर—का चक्र चलता रहता है। पूर्वी विहार से लेकर पश्चिमी राजस्थान तक प्रायः संपूर्ण हिंदी क्षेत्र उत्तर से दक्षिण तक समान अक्षांशों में है किंतु मानसून की दिशा, पर्वतों की ऊँचाई तथा मरु की समीपता के कारण विभिन्न स्थानों के तापमान और वर्षापात में अंतर है। मरु के कारण राजस्थान का तापमान दिन में अधिक और रात में कम हो जाता है। उत्तरोत्तर पूर्व की ओर उत्तरप्रदेश, बुंदेलखंड, बघेलखंड और विहार पहुँचने पर वर्षा अधिक होने के कारण जलवायु आर्द्र और मध्यम हो जाता है। हिमालय के अंचलों में वर्षा और अधिक होती है एवं ऊँचाई के कारण शीत भी अधिक बढ़ जाता है। विंध्याचल की शृंखलाओं में भी वर्षा पर्याप्त होती है किंतु अक्षांश और ऊँचाई कम होने के कारण शीत कम है। इन विभिन्न परिवर्तनों के कारण इस क्षेत्र का मनुष्य ऋतुओं का तीव्र और स्पष्ट अनुभव करता है और उनके प्रति प्रतिक्रिया भी। प्राचीन काल में कालिदास के ऋतुसंहार जैसे ग्रंथ और मध्य तथा आधुनिक युग के अनेक 'बारहमासे' जैसे काव्य इसी क्षेत्र में प्रणीत हो सकते हैं। संस्कृत और हिंदी साहित्यों में विभिन्न ऋतुएँ, संयोग और विप्रलंभ दोनों प्रकार के शृंगारों में, उद्दीपन का कार्य करती हैं। वसंत और शरत् जहाँ प्रकृति के सौकुमार्य तथा लालित्य के द्योतक हैं वहाँ ग्रीष्म तथा हेमंत उसकी कठोरता के। वर्षागम भीषण निदाघ को जहाँ शीतल करता है वहाँ शिशिर वसंत के आने की सूचना देता है। जलवायु की सभी परिस्थितियों का उपयोग साहित्यकारों ने किया है।

५. वनस्पति[1]

विविध प्रकार की भूमि और जलवायु के कारण विविध प्रकार की वनस्पति-संपत्ति हिंदी क्षेत्र में पाई जाती है। हिमालय के निचले जंगलों में पर्वतीय भूमि और प्रचुर वर्षा, पंजाब में उपजाऊ भूमि और स्वल्प वर्षा, राजस्थान में मरु तथा

(भारत का प्राचीन भूगोल); (४) नंदलाल दे: ज्याग्रैफिकल डिक्शनरी आव् एंश्यंट ऐंड मेडिवल इंडिया (प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत का भौगलिक कोश); (५) जयचंद्र विद्यालंकार : भारतभूमि और उसके निवासी।

[1] विस्तृत विवरण के लिये देखिए : (१) जे० डी० हूकर : ए स्केच आव् द फ्लोरा आव् ब्रिटिश इंडिया, १९०४; (२) सी० सी० काल्डर : ऐन आउटलाइन वेजिटेशन आव इंडिया (सिलवर जुबिली सेशन, इंडियन सायंस कांग्रेस, १९३७); (३) ए० दासगुप्त : एकोनामिक ऐंड कमर्शल ज्यॉग्रफी आव् इंडिया, १९४१।

अर्द्धमरुभूमि और अत्यल्प वर्षा, मालव और पश्चिमोत्तर मध्यप्रदेश में करैली उपजाऊ भूमि और पर्याप्त वर्षा, विंध्यमेखला के दक्षिणपूर्व भाग में पर्वतीय भूमि और प्रचुर वर्षा, उत्तरप्रदेश और बिहार में बहुत ही उपजाऊ भूमि और पर्याप्त वर्षा पाई जाती है। इन्हीं के अनुरूप अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। सुविधा के लिये इनका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

(१) **वन अथवा जंगल**—उत्तर भारत के मैदान में वन का क्षेत्रफल आजकल अपेक्षाकृत कम है। परंतु प्राचीन तथा मध्ययुग में वनों का आधिक्य था। कृषि का क्षेत्रफल उत्तरोत्तर बढ़ने से वन कम होते जा रहे हैं। फिर भी वनों के बहुत से अवशेष और उनके प्राचीन नामों के अनेक अवशेष अभी तक पाए जाते हैं। हिमालय और विंध्य में तो अभी तक प्रचुर जंगल है। मैदानों में भी अभी तक नामावशेष मिलते हैं, विशेषकर पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार में। गोरखपुर के उत्तरी भाग में डोमाखंड और कुसुम्ही के शालवन अभी जंगल के रूप में वर्तमान हैं। देवरिया (देवारण्य), चंपारन (चंपारण्य), सारन (सारारण्य), आरा (आरण्य) आदि नामों में प्राचीन अरण्यों के संकेत मिलते हैं। वनों के अतिरिक्त उपवन, उद्यान, वाटिका आदि कृत्रिम रीति से लगाए जाते थे और आजकल भी लगाए जाते हैं। वनों के निम्नांकित प्रकार मिलते हैं :

(अ) शाश्वत हरित्—यह वन प्रायः समुद्रतट पर होता है, जहाँ प्रति वर्ष वर्षापात ८० इंच से अधिक है। हिमालय और विंध्य के कुछ भागों में सनातन जंगल पाया जाता है। इनमें विविध प्रकार के सागौन, बाँस, जामुन, नीम, इमली, कई प्रकार के ताड़ आदि पाए जाते हैं। ये वृक्ष काफी आर्थिक महत्व के होते हैं।

(आ) पतझड़ वन—ऐसे वन जिनके वृक्षों के पत्ते विशेष ऋतु में झड़ा करते हैं, पतझड़ वन कहलाते हैं। इनको मानसून जंगल भी कहते हैं। हिमालय और विंध्य दोनों के कतिपय भागों में इस प्रकार का वन पाया जाता है। इसके वृक्ष विशाल होते हैं, जिनमें सागौन, शाल, पदौक, अंजन, रक्तचंदन तथा श्वेतचंदन आदि मुख्य हैं। इनमें ताड़ और बाँस भी होते हैं। भारतीय साहित्य में शालवन के बहुत से उल्लेख पाए जाते हैं। भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण कुशीनगर के शालवन-उपवत्तन में ही हुआ था[१]।

(इ) शुष्कवन—राजस्थान, पंजाब तथा दक्षिण-पश्चिम उत्तरप्रदेश के कम वर्षावाले प्रदेश में होते हैं। इनके वृक्षों के तने और पत्तियाँ मोटी और मांसल होती हैं। इनमें झाड़, काँटे और बहुत छोटे और कभी कभी पत्रहीन वृक्ष पाए जाते हैं। इस जाति के साहित्यिक वृक्षों में बबूल और करील अधिक प्रसिद्ध हैं जो ब्रज

[१] महापरिनिब्बानसुत्तंत।

मंडल में मिलते हैं। बबूल और करील के प्रति बहुत से उपालंभ हिंदी साहित्य में पाए जाते हैं : 'कहीं-कहीं तो कर्ता (ईश्वर) की भी चौकड़ी (तेज चाल) भूल गई। उन्होंने काबुल में तो मेवा और ब्रज में बबूल उत्पन्न किया[1]।' वसंत ऋतु में भी करील में पत्ते नहीं आते। इसकी शिकायत कवियों को बहुत थी। परंतु रसखान जैसे भक्त कवि ने करील के वन के ऊपर न जाने कितने 'कलधौत के धाम' निछावर कर दिए, आदि।

(ई) **पर्वतीय वन**—हिमालय में ३००० फुट से अधिक ऊँचाई और विंध्य में ५००० फुट से अधिक ऊँचाई पर पर्वतीय वन पाए जाते हैं। ये प्रायः शाश्वत हरित होते हैं। हिमालय के वनों में ओक, देवदारु, चीड़, फर, अखरोट, बादाम, ऐश, बर्च, भूर्जपत्र, पाइरस, पोपलार आदि प्रसिद्ध हैं। हिमालय के पूर्वी तथा पश्चिमी वनों में भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्ष होते हैं जो ४००० उपजातियों और १४७–१६० परिवारों में बाँटे जा सकते हैं। इन वृक्षों में देवदारु ने भारतीय कवियों का ध्यान अधिक आकृष्ट किया है। कालिदास ने रघुवंश में देवदारु का महत्व इस प्रकार वर्णन किया है : 'आगे इस देवदारु वृक्ष को देखो। वृषभध्वज शंकर के द्वारा यह पुत्रवत् पाला गया है। स्कंद की माता पार्वती के स्वर्णकुंभ के समान स्तनों से निकले हुए दूध का यह रस जाननेवाला है। एक बार खुजली से व्याकुल जंगली हाथी की रगड़ से इसकी छाल कट गई थी। हिमालय की तनया पार्वती को इसपर उतना ही शोक हुआ जितना असुरों के अस्त्रों से घायल सेनानी कार्तिकेय को देखकर'[2]। इसी प्रकार कुमारसंभव में भूर्जपत्रों के ऊपर देवांगनाओं द्वारा प्रणयपत्र लिखने का वर्णन पाया जाता है : 'हाथियों की सूँड़ पर के बिंदुओं के समान बिंदुओं से शोणित वर्ण तथा धातुओं के रस से बनी मसि से अंकिताक्षर भूर्जपत्र विद्याधरों की सुंदरियों के प्रणयपत्र के लेखन के उपयोग में आते थे।'[3] प्रियाल और नमेरु आदि संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध वृक्ष इन्हीं पर्वतीय वनों में पाए जाते हैं।

(२) **तराई, मैदान तथा विंध्य पठार के वृक्ष**—इस भाग में भारत के कतिपय विशाल वृक्ष पाए जाते हैं जो अपनी उपयोगिता और पवित्रता के लिये

[1] कहीं कहीं कर्तार की गई चौकड़ी भूल। काबुल में मेवा करी ब्रज में करी बबूल।

[2] अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिस्सृतानां स्कंदस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥
कंडूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः॥ र० वं० २३६–३७

[3] न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रियोपयोगम्॥ कु० सं० १.७

प्रसिद्ध रहे हैं। इनमें अश्वत्थ अथवा पीपल सबसे पहले आता है। भारतीय धर्म में यह विश्ववृक्ष माना जाता है और इसके पत्ते पत्ते में देवताओं का निवास है, ऐसा लोगों का विश्वास है। इसका एक नाम वासुदेव भी है। इसके चिकने और चंचल पत्तों की उपमा मन से दी जाती है। इस कारण पीपल का एक पर्याय चलदल भी है। इसकी विशाल छाया के नीचे मानव और पशु सभी विश्राम पाते हैं। दूसरा विशाल वृक्ष वट या बरगद है। आकार, उपयोगिता और पवित्रता में यह पीपल के समान है। इसकी बरोहें अनेकों की संख्या में भूमि तक पहुँचकर स्तंभ जैसी बन जाती हैं। शत अथवा सहस्रस्तंभ मंडपों और सभाभवनों की कल्पना वटवृक्ष से ही संभवतः उत्पन्न हुई थी। तीसरा विशाल वृक्ष प्लक्ष अथवा पाकड़ है जो गुण में प्रथम दो के समान है। इन वृक्षों को चैत्यवृक्ष भी कहा जाता है, क्योंकि स्वयं इनकी और इनके नीचे अन्य देवताओं की पूजा होती है। दूसरे विशाल वृक्ष उदुंबर (गूलर), शाल्मली (सेमल) आदि पाए जाते हैं। आख्यायिकाओं में इन वृक्षों का बहुत ही उपयोग हुआ है।

(३) **प्रसिद्ध फलवृक्ष**—फलवृक्षों में आम्र (आम) सर्वप्रथम है। इसको साहित्य में चूत और सहकार भी कहा गया है जो इसके भिन्न प्रकार हैं। आम के पल्लव और मंजरी का प्रचुर उपयोग साहित्य में हुआ है। इसकी मंजरी वसंतसेना की दूती मानी गई है और प्रणयी के लिये संकेतवाहिनी। मैदान का शायद ही ऐसा कोई गाँव हो जहाँ अमराइयाँ न हों। मधूक (महुआ), जंबू (जामुन), आमलक (आँवला), पनस (कटहल), टिंटिडी (इमली) आदि के वृक्ष भी बहुतायत से पाए जाते हैं।

(४) **शोभावृक्ष**—शोभावृक्षों में कुछ का उल्लेख किया जा सकता है। नक्तमाल नर्मदा के किनारे होता है। शमी मैदान में भी पाया जाता है। ऐसा विश्वास है कि इसके गर्भ में अग्नि का निवास है। अतः इसे यज्ञीय वृक्ष भी मानते हैं। अशोक वृक्ष के कई प्रकार हैं जिनमें रक्ताशोक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। साहित्यिक ग्रंथों में इस प्रकार के विश्वास का उल्लेख है कि इसे उत्फुल्ल होने के लिये एक विशेष प्रकार का दोहद चाहिए : किसी कामिनी के पदाघात अथवा आलिंगन से ही अशोक में फूल आते हैं। असन, अर्जुन, शल्लकी, तिलक, कदंब, मौलश्री, अक्ष, अगुरु, कुरबक, इंगुदि आदि की गणना भी बड़े शोभावृक्षों में की जाती है। छोटे शोभावृक्षों में कर्णिकार, कोविदार, कुटज, कुमुम्ह, किंशुक, कदली, बंधूक, पारिजात, मंदार, बकुल, पलाश, सिंधुवार का उल्लेख किया जा सकता है। राजस्थान, विंध्यप्रदेश और बिहार में जहाँ खारी भूमि मिलती है, वहाँ कहीं कहीं ताल, पूग (सुपारी), पुन्नाग, खर्जूर (खजूर) आदि भी पाए जाते हैं।

(५) **पुष्पपादप और लता**—पाटल, केतकी (केवड़ा), अर्क, कुंकुम, चंपक (चंपा), जपापुष्प (अड़हुल), कामिनी, शेफालिका,

नेवारी, कुंद, यूथिका, मल्लिका, नवमल्लिका, वनज्योत्स्ना आदि पुष्पपादपों में प्रमुख हैं। लताओं में मालती, माधवी, श्यामा, अतिमुक्त, लवली, लवंगलता, तांबूलवल्ली, द्राक्षा, आदि उद्यानों की बराबर शोभा बढ़ाती रही हैं। जलपुष्पों की संख्या भी काफी बड़ी है। वनस्पतिशास्त्रियों ने १६० उपजातियों का पता लगाया है। इनमें सबसे प्रसिद्ध कुमुदिनी और कमल हैं, जिनके अनेक प्रकार पाए जाते हैं। कुमुदिनी रात्रि में और कमल दिन में खिलता है। कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा और अन्योक्ति में इन पुष्पों का अत्यधिक उपयोग किया है। निचुल, वेतस् अथवा वानीर नदियों के किनारे होता है। तमसा, गंभीरा तथा मालिनी आदि नदियों के किनारे निचुल के उत्पन्न होने का उल्लेख साहित्य में पाया जाता है।

(६) तृण—घास मात्र तृणवर्ग के अंतर्गत आते हैं। शष्प नवांकुरित घास को, शाद्वल घास के मैदान को तथा स्तंब घास के अटाव को कहा जाता है। दूर्वा (दूब), काश, नागरमोथा, कुश अथवा दर्भ, उशीर, शैलेय आदि प्रसिद्ध घास हैं। इनमें दूब और कुश का धर्म और साहित्य में बहुत उपयोग हुआ है। विज्ञान की दृष्टि से कीचक, वंश अथवा बाँस भी तृणवर्ग के भीतर आता है, यद्यपि यह वास्तविकता में वृक्ष बन जाता है, जिसके कारण इसको तृणध्वज भी कहा गया है।

(७) कृषि-वनस्पति—हिंदी क्षेत्र के बहुत बड़े भाग में कृषि होती है और उसमें अनेक प्रकार के अन्न और रेशो के पौधे उत्पन्न होते हैं। अन्नों में धान विशेषकर विहार, उत्तरप्रदेश, हिमालय की तराई और विंध्य के पूर्वी भागों में उत्पन्न होता है। व्रीहि अथवा धान वैदिक काल से लेकर अब तक लोकप्रिय अन्न रहा है। कृषिप्रधान राज्यों में तो नाम भी धान के ऊपर रखे जाते थे—बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन [शुद्ध उदन (=भात) वाला] था। धान के सहस्रों प्रकार हैं। गेहूँ मुख्य करके पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा मालवा में होता है। जौ भी प्रायः उन्हीं क्षेत्रों में होता है जहाँ गेहूँ, किंतु अपेक्षाकृत इसे अधिक शीत की आवश्यकता होती है। ज्वार और बाजरा के मुख्य क्षेत्र राजस्थान, दक्षिण-पश्चिम उत्तरप्रदेश तथा विंध्य के प्रदेश हैं। मक्का प्रायः संपूर्ण हिंदी क्षेत्र में होता है। दलहनों में अरहर, चना, मटर, मसूर, उर्द आदि राजस्थान को छोड़कर प्रायः समस्त हिंदी क्षेत्र में होते हैं। तेलहनों में अनेक प्रकार के तेलहन इस क्षेत्र में पैदा किए जाते हैं। इनकी उपयोगिता केवल खाद्यान्नों की दृष्टि से नहीं अपितु बहुत प्रकार के उद्योगों के लिये भी है, जैसे तेल, सुगंध, वार्निश, पेंट, चिकनाहट, साबुन, रोशन-बत्ती आदि। मुख्य तेलहन सरसों (सर्षप), अलसी (अतसी), रेंड (एरंड), तिल, मूँगफली आदि हैं।

शर्करा उत्पन्न करनेवाली वनस्पति में इक्षु अथवा ईख प्रधान है, जिसके अनेक प्रकार हैं। कवियों को ब्रह्मा से इस बात की बराबर शिकायत रही है कि

उन्होंने ईख में फल क्यों नहीं लगाया। कंदों में शकरकंद, गाजर आदि मुख्य हैं किंतु व्यापारिक दृष्टि से इनसे पर्याप्त शक्कर नहीं निकलती।

रेशेवाली वनस्पतियों में कपास, अलसी, पाट, सन आदि मुख्य हैं। कपास के लिये भारत सदा से प्रसिद्ध रहा है। कपास के अधिकतम महीन सूत यहीं तैयार होते रहे हैं। अलसी के रेशे से क्षौमवस्त्र तैयार होता था और आजकल छालटी तैयार होती है। पाट, सन आदि से बोरे, रस्सियाँ, गलीचे आदि तैयार किए जाते हैं।

आरोपित वनस्पतियों में से हिंदी क्षेत्र में पहले नील (इंडिगो) होता था। नए ढंग के रासायनिक रंग बनने के कारण इसकी खेती समाप्त हो गई। अफीम (अहिफेन) मालवा और उत्तरप्रदेश में पहले बहुत होता था। अँगरेज लोग चीन देश को इसका काफी निर्यात करते थे जो पीछे बंद हो गया। इसका उपयोग मुख्यतः औषधों में होता है, कुछ लोग लत पड़ जाने से खाते भी हैं जिनकी संख्या कम हो रही है। गाँजा और भंग नामक मादक वनस्पति भी इस क्षेत्र में होती है। इनका भी औषधीय उपयोग है, किंतु कुछ लोग लत से इनका सेवन करते हैं।

६. जीवजंतु[1]

जलवायु की भिन्नता और भौतिक परिस्थिति की विविधता के कारण हिंदी-क्षेत्र में जीवजंतु की संपत्ति विपुल है और अनेक प्रकार के जीवजंतु यहाँ पाए जाते हैं। सभी जीवों का विस्तृत वर्णन करना संभव नहीं है; संक्षेप से उनका परिचय दिया जाता है। मोटे तौर पर उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) मेरुदंडीय और (२) अमेरुदंडीय।

(१) **मेरुदंडीय**—इसके भी कई प्रकार हैं जिनमें स्तन्यपायी अथवा पिंडज; पक्षी अथवा अंडज; सरीसृप (रेंगनेवाले, सर्पादि), उछलनेवाले (मेढक आदि), तैरनेवाले (मछली आदि) की गणना है।

(अ) **स्तन्यपायी**—इस वर्ग में मनुष्य का स्थान सर्वप्रथम है। मनुष्य के संबंध में मानवजातियों और परिवारों के प्रसंग में आगे कहा जायगा। दूसरा स्थान बंदरों का है। इनके दो प्रकार प्रमुख हैं—(१) लंगूर अथवा हनुमान और (२) लालमुख बंदर। पहला प्रकार प्रायः जंगलों और दूसरा बस्ती या उसके आसपास पाया जाता

[1] विस्तृत विवरण के लिये देखिए—(१) एच० एस० राव : ऐन आउटलाइन आव् दि फाना आव् इंडिया, कलकत्ता, १९३७; (२) इंपीरियल गजेटियर आव् इंडिया, जिल्द १, १९०९; (३) एफ० फिन्लर : पापुलर हैंडबुक आव् इंडियन बर्ड्स, लंदन, १९३५।

है। बंदर का संस्कृत नाम वानर, कपि अथवा शाखामृग है। रामायण के कथानक से वानर जाति का घनिष्ठ संबंध है; परंतु यहाँ 'वानर' मानव जातिविशेष का लांछन था।

वन्य और हिंस्र स्तन्यपायियों में सिंह और व्याघ्र अपने विविध प्रकारों के साथ प्रथम उल्लेखनीय हैं। सिंह के अन्य नाम अथवा पर्याय मृगेंद्र, मृगराज, वनराज आदि हैं। सिंह मुख्यतः काठियावाड़ का निवासी है जो हिंदी क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम छोर से संलग्न है। हिंदी साहित्य में सिंह शौर्य, आधिपत्य और उदारता का प्रतीक है। व्याघ्र पर्वतों और जंगलों में प्रायः सर्वत्र मिलता है, यद्यपि सुंदरवन का व्याघ्र सर्वप्रसिद्ध है। चीता, तेंदुआ आदि छोटी जाति के व्याघ्र हिमालय, विंध्य तथा मैदानी जंगलों में भी मिलते हैं। दूसरी श्रेणी के हिंस्र पशुओं में वृक (भेड़िया), शृगाल (गीदड़), लोमड़ी, विडाल (बिल्ली), नकुल (नेवला) कुत्ते, भालू आदि हैं। वृक हिंसा और कठोरता, शृगाल कायरता और धूर्तता, लोमड़ी चालाकी और द्वेषी भाव, बिल्ली वक्रता, नकुल सौभाग्य और कुत्ता स्वामिभक्ति का द्योतक है।

अहिंस्र वन्य पशुओं में हाथी सबसे विशाल और आदरणीय पशु है जो पालतू अवस्था में भी रहता है। यह अपनी बुद्धिमानी और गंभीर चाल के लिये प्रसिद्ध है। बौद्ध साहित्य में यह बुद्ध का और ब्राह्मण साहित्य में गणेश का प्रतीक है। अन्य वन्य पशु महिष और सांड, सुरभिगाय, नीलगाय, अनेक प्रकार के मृग—बारहसिंहा, कृष्णसार, कस्तूरीमृग आदि—हैं। इनमें महिष तमोगुण का, सांड (वृषभ) पुंसत्व का, सुरभिगाय आकांक्षापूर्ति की प्रतीक है। कृष्णसार यज्ञीय पशु और कस्तूरीमृग भ्रांत मानव का उपमान है।

पालतू पशुओं में गाय, बैल, भैंस, भैंसे, बकरी और भेड़ मनुष्य के लिये दूध, भोजन, कृषि और वहन के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। गाय भारत की सबसे महत्वपूर्ण और पवित्र पशु है। वह ऋजुता और स्नेह की मूर्ति है। बकरी (अजा) यज्ञीय पशु और मेष (भेंड़) अग्नि का वाहन है। दूसरे पालतू जानवर अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर), गर्दभ (गधा) आदि हैं। घोड़े और हाथी का भारत के सैनिक और राजनीतिक इतिहास में महत्व का स्थान रहा है। घोड़ा (वाजी और तुरंग के रूप में) पुंसत्व और तीव्र गति का प्रतीक है। अश्वतर (खच्चर) भी अपनी दृढ़ता और भारवहन के लिये प्रसिद्ध है। श्वेत अश्वतर पवित्र धार्मिक लांछन अथवा गोत्र के रूप में प्रयुक्त होता था, ऐसा श्वेताश्वतरोपनिषद् से अनुमान किया जा सकता है। गर्दभ तो मूर्खता और दरिद्रता की मूर्ति है और अपनी उष्णता के कारण शीतला का वाहन माना गया है।

(आ) **सर्रीसृप**—स्थल और जल दोनों में पाए जाते हैं। स्थल पर रेंगनेवालों में सर्प (साँप), कच्छप अथवा कश्यप (कछुआ), गिरगिट, छिपकली आदि मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। संसार में सर्पों की जितनी जातियाँ हैं वे प्रायः सब भारत में पाई जाती हैं, किंतु उनमें विषैले सर्पों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। घने और आर्द्र जंगलों में सबसे बड़ा सर्प अजगर पाया जाता है जो अपने शिकार को काटता नहीं अपितु निगल जाता है। अजा अथवा बकरी जैसे जानवरों को सीधे निगल जानेवाला गर (गला) रखने के कारण ही इसका नाम अजगर पड़ा। विषैले सर्पों में गेहुअन और करइत प्रसिद्ध हैं। धामन बहुत बड़ा सर्प होता है, किंतु वह बहुत भीरु और निरीह है। सुंदर नाग-नागिनियों के कई प्रकार झाड़ों और वृक्षों पर पाए जाते हैं। नाग अथवा सर्प आदिकाल से भय और पूजा का पात्र रहा है। वह शक्ति, गति, मृत्यु और क्रूरता का प्रतीक है। नाग कुछ जातियों का धार्मिक लांछन था, जिसके नाम से वे पुकारी जाती थीं। कछुआ इंद्रियसंयम और स्थितिप्रज्ञता का द्योतक है।

जलीय सरीसृपों में मकर (घड़ियाल), नक्र (नाक), सूँस आदि प्रसिद्ध हैं। मकर विशालकाय और भयानक जीव है। यह अपनी कामुकता और उत्पादन शक्ति के लिये प्रसिद्ध है। यह गंगा का वाहन तथा कामदेव की ध्वजा का लाछन है। नदियों, झीलों, तालों और विविध प्रकार के जलाशयों में अनेक प्रकार की मछलियाँ हिंदी क्षेत्र में पाई जाती हैं। इनके रोहित (लाल मछली), शफरी (छोटी मछली) आदि कई भेद हैं। मछली सौभाग्य और उत्पादन का सूचक है। शफरी (मछली) के नेत्र चंचलता के द्योतक हैं। मछलियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के मेढक (मंडूक), केकड़े (कर्क) और घोंघे तथा जोंक भी जलीय सरीसृपों में संमिलित हैं।

(इ) **तिर्यक् अथवा पक्षी**—वनस्पति और स्तन्यपायी तथा सरीसृप जीवधारियों के समान ही अनेक प्रकार के पक्षी हिंदी क्षेत्र में पाए जाते हैं। उनकी विविधता ने कवियों, शिकारियों और वैज्ञानिकों का ध्यान सदा अपनी ओर आकृष्ट किया है। विभिन्न ऋतुओं में कुछ पक्षी अपने स्थान बदल देते हैं, अतः उनके स्थानगत वर्गीकरण में कठिनाई होती है, किंतु भारत में ऐसे पक्षी कम हैं। थोड़े से पक्षी जाड़ों में हिमालय से मैदान में उतर आते हैं। बहुत परिचित पक्षियों में काक (कौआ), घरेलू मैना (किलहटी) और गौरैया हैं। कौआ अपने काले रंग, कर्कश स्वर और नटखट ढंग के लिये प्रसिद्ध है। किसी अंश तक वह भंगी का काम भी करता है। वैसे तो वह पितरों का पिंडभक्षी भी है। मानव शिर के सँवारे हुए बालों (काकपक्ष) का वह उपमान भी है। साहित्यिक पक्षियों में से अनेक उल्लेखनीय हैं। इनमें मयूर (मोर) सबसे पहले आता है। यह अपने इंद्रधनुष के समान सुंदर पक्षों और अपनी सुरीली केका (बोली) के लिये प्रसिद्ध है।

वर्षागम में यह सुंदर नृत्य करता है। व्रजमंडल और राजस्थान में विशेष रूप से यह पाया जाता है। दूसरा पक्षी चातक है। यह कोयल का ही एक प्रकार है। ऐसा विश्वास है कि यह केवल स्वाति नक्षत्र के बादल का ही जल पीता है। चकोर तीतर की जाति का एक पक्षी है। यह वर्षा के बाद हरी झुरमुटों में युग्म में पाया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह चंद्रमा की किरणों का रसपान करके जीता है। दूसरे पक्षी शुक (सुआ), सारिका (एक प्रकार की मैना), पारावत, कपोत (कबूतर), हारीत आदि हैं। कोकिल वसंत का गायक है, किंतु भ्रम से वर्षा में भी गा उठता है। कोकिला कौए के घोसले में अंडा देती है, अतः कोकिल परभृत कहलाता है। हंस अथवा राजहंस मानसरोवर का पक्षी है जो जाड़े में मैदान में उतरता है। यह नीर-क्षीर-विवेक का प्रतीक है। सारस, बलाका (बगुला) और बत्तख, चक्रवाक (चकवा-चकई) इससे मिलते जुलते और समान जाति के पक्षी हैं। कुररी, क्रौंच और कंक छोटे गानेवाले पक्षी हैं। उड़ने और गानेवाले पतंगों में मधुमक्खी और भ्रमर अथवा भृंग (भौंरे) का उल्लेख हो सकता है।

बलवान् और शिकारी पक्षियों में गरुड सर्वप्रथम है। यह आधा वास्तविक और आधा कल्पित पक्षी है। इसकी चोंच पर एक चौड़ा उभाड़ होता है और यह अँगरेजी हार्नबिल नामक पक्षी से मिलता जुलता है। यह पक्षिराज है। यह विष्णु का वाहन और सर्पों का शत्रु माना जाता है। यह सूर्य की गति और शक्ति का द्योतक है। गृध्र और जटायु शवभक्षी हिंस्र पक्षी हैं। चील और बाज भी शिकारी पक्षी हैं। उल्लू के बिना पक्षियों का वर्णन पूरा नहीं हो सकता। यह गोले शिर और अनुपातरहित बड़ी बड़ी आँखोंवाला रात्रिचारी पक्षी है। दिन में इसे दिखाई नहीं देता। रात्रि को छोटे छोटे जानवरों—गिलहरी, चूहे, छोटे छोटे पक्षी, कीड़े मकोड़े आदि को खाकर जीता है। खेती को हानि पहुँचानेवाले जीवों को प्रायः खाता है। संभवतः इसीलिये इसे लक्ष्मी का वाहन कहते हैं। भारत में यह मूर्खता का प्रतीक है; यूनान में ज्ञान और विद्या का।

(२) **अमेरुदंडीय**—इस वर्ग के जीवधारी मानवजाति के लिये उतने परिचित और उपयोगी नहीं हैं जितने मेरुदंडीय वर्ग के, किंतु इनकी संख्या और महत्ता कम नहीं है। इनमें बहुत से मनुष्य के लिये उपयोगी और बहुत से हानिकर हैं। शंख, घोंघे, सीप, जौंक, केकड़े आदि इसी वर्ग में आते हैं। मुक्ता और प्रवाल तथा कौड़ी भी इसी जाति के अंतर्गत हैं। इनमें से अधिकांश तो समुद्रतटों पर उत्पन्न होते हैं किंतु कुछ नदियों, झीलों और जलाशयों में भी पाए जाते हैं। इनमें सीप (शुक्ति) शुक्ति-रजत भ्रम के कारण वेदांत में दृष्टांत है। शेष भोजन और व्यापार आदि में काम आते हैं। केंचुआ, बीरबहूटी आदि इसी वर्ग में संमिलित हैं। इस

वर्ग में अनंत कीट-पतंगों की गणना हो सकती है, परंतु साहित्य की दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं है।

७. मानव जातियाँ[1]

आजकल जिस क्षेत्र में हिंदी बोली जाती है उसमें भौगोलिक कारणों से कई जातीय भूमियाँ हैं जिनमें मूलतः कई मानव शाखाओं के लोग रहते थे। सहस्राब्दियों के आवागमन और मिश्रण से सभी मूल जातियों में दूसरी जातियों के तत्व आ मिले हैं और कोई जाति नितांत शुद्ध रूप में नहीं मिलती। फिर भी जातीय भूमियों में प्रधानतः मूल जाति के ही लोग बसते हैं और उनकी अधिकांश जातीय विशेषताएँ वहाँ पाई जाती हैं।

(अ) मानवमिति—नृतत्वशास्त्रियों ने मानव जातियों को पहचानने के लिये मानदंड बना लिया है जिसको मानवमिति (ऐंथ्रॉपोमेट्री) कहते हैं। मानवमिति की पहली माप **रंग** है जो श्वेत से लेकर काले के बीच में बदलती रहती है। दूसरी माप **कपाल** अथवा खोपड़ी है। यदि किसी मनुष्य के कपाल की लंबाई १०० हो और उसकी चौड़ाई ७७.७ अथवा उससे कम हो तो मानवमिति के अनुसार उसे **दीर्घकपाल** (डॉलिकोसिफैलिक) कहा जायगा। यदि कपाल की चौड़ाई ८० हो तो उसे **मध्यकपाल** (मिसैटीसिफैलिक) और यदि ८० से अधिक हो तो उसे **वृत्तकपाल** अथवा ह्रस्वकपाल (ब्रेचीसिफैलिक) कहा जायगा। मानव जाति की पहचान का दूसरा साधन **नासिका** मान (नैसल इंडेक्स) है। यदि किसी मनुष्य की नाक की लंबाई १०० मान ली जाय और उसकी चौड़ाई ७० से कम हो तो वह शुकनास या सुनास (लेप्टोर्हाइन) कहलायगा। यदि चौड़ाई ७० से ८५ तक हो तो वह **मध्यनास** (मेसोर्हाइन) और ८५ से अधिक हो तो **स्थूलनास** (प्लॅटीर्हाइन) कहा जायगा। इसी प्रकार **नाक के पुल** की ऊँचाई की माप (आरबिटोनैसल इंडेक्स) भी मानवजाति के पहचानने में सहायता करती है। बहुत सी मानव जातियों में नाक का ऊपरी भाग चिपटा होता है। उन्हें **अवनाट** कहते हैं। जिनको नाक का ऊपरी भाग उठा होता है उन्हें **उन्नतनाट** अथवा **प्रणाट**

[1] विस्तृत विवरण के लिये देखिए : (१) ए० बेन्स : एथ्नोग्राफी, स्ट्रासबर्ग, १९१२; (२) कॉल्डवेल : द सेन्सस आव् इंडिया (भारत की मनुष्यगणना), १९०१, १९११, १९२१, १९३१, १९४१; (३) एच० एच० रिसली : द पीपुल आव् इंडिया (भारत के लोग), कलकत्ता एवं लंदन, १९१५; (४) रामप्रसाद चंदा : इंडो-आर्यन रेसेज (आर्यावर्ती जातियाँ), राजशाही, १९१६; (५) बी० एस० गुह : ऐन आउटलाइन आव् द रेशल एथ्नोग्राफी आव् इंडिया, कलकत्ता, १९३७; (६) जयचंद्र विद्यालंकार : भारतभूमि और उसके निवासी, खंड २।

कहते हैं। मध्यम उभाड़वालों को मध्यनाट कहा जा सकता है। मनुष्य की ऊँचाई भी जाति की एक पहचान है। ५ फीट ७ इंच से अधिक लंबाईवाला मनुष्य ऊँचा, ५ फीट ५ इंच से ५ फीट ३ इंच तक मध्यम और इससे कम हो तो नाटा कहा जाता है। मुख और हनु (ठुड्ढी) का आगे बढ़ना या न बढ़ना एक दूसरी पहचान है। जहाँ हनु माथे से आगे न बढ़ा हो उसे समहनु (आरथागनेथिक) और जहाँ बढ़ा हो उसे प्रहनु (प्रागनेथिक) कहते हैं। इसी प्रकार शिर के बालों के कोमल, कड़े, खड़े और कुंचित होने आदि से भी मानवजातियाँ पहचानी जाती हैं।

(आ) मानव परिवार—मानवमिति की जो विशेषताएँ ऊपर कही गई हैं उनके आधार पर संसार की मानव जातियाँ कई परिवारों अथवा स्कंधों में बाँटी गई हैं। पहला परिवार श्वेत और गौर जातियों का है जिन्हें आर्य (भारतीय), सामी (सेमेटिक) और हामी (हैमेटिक) कहते हैं। आर्यस्कंध गंगा की घाटी से लेकर आयरलैंड और आधुनिक युग में अमेरिका तक फैला हुआ है। सामी जाति में अरब, यहूदी और प्राचीन काल में पश्चिमी एशिया की कई जातियाँ संमिलित थीं। हामी जाति के प्रतिनिधि मिश्र के प्राचीन निवासी थे। इस परिवार की जातियों में लंबा कद, श्वेत, गौर अथवा गोधूम वर्ण या रंग, काले, भूरे, कोमल, सीधे अथवा लहरदार केश, प्रचुर दाढ़ी और मूँछ, दीर्घकपाल, शुकनास, समहनु, आयताकार सीधी आँखें तथा छोटे दाँत पाए जाते हैं। दूसरा परिवार पीतवर्ण अथवा मंगोली जातियों का है। इनमें मंगोल, चीन-किरात, तुर्क-हूण (तातारी), स्यामी-चीनी, तिब्बती-बर्मी आदि संमिलित हैं। इनमें मध्यम तथा नाटा कद, पीला वर्ण, सीधे रुक्ष केश, मुँह पर बाल कम, वृत्तकपाल, अवनाट, गहरी और तिर्छी आँखें, मध्यम दाँत मिलते हैं। तीसरा मुख्य परिवार हब्शी (निषाद, शबर, पुलिंद) अथवा निग्रोई जातियों का है जिनमें मध्यम और प्रायः नाटा कद, काला वर्ण, कड़े कुंचित केश, मध्यम दाढ़ी मूँछ, दीर्घ कपाल, स्थूल नाक, मोटे और वहिर्न्यस्त होठ और बड़े दाँत पाए जाते हैं[१]। यहाँ पर यह लिख देना आवश्यक जान पड़ता है कि उपर्युक्त वर्गीकरण सैद्धांतिक और मोटा है। स्थानीय परिस्थितियाँ अपना स्वयं महत्व रखती हैं और प्रत्येक देश का जातीय अध्ययन वहाँ की भौगोलिक स्थिति के आधार पर प्रारंभ करना चाहिए। पहले लिखा गया है, दीर्घ काल तक जातियों के मिश्रण के कारण जातीय विशेषताओं में भी मिश्रण हो गया है। फिर भी जातीय भूमियों और जातियों का निर्देश निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

[१] हेडन : रेसेज आव् मैन।

(१) आर्य परिवार—उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विंध्याचल तथा पूर्व और अपर (पश्चिम) दोनो समुद्रों के बीच का संपूर्ण उत्तर भारत आर्यावर्त है। भारतीय इतिहास और परंपरा के अनुसार आर्यावर्त की सीमा निर्धारित है[१] और कहा गया है कि 'वहाँ आर्य लोग निवास करते हैं और पुनः पुनः उनका उद्भव होता है। बार बार आक्रमण करके भी वहाँ म्लेच्छ (विदेशी) ठहरते नहीं[२]।' इसी आर्यावर्त का मध्यभाग प्राचीन मध्यदेश था जो आज का मुख्यतः हिंदी क्षेत्र है। भारत के एकमात्र ऐतिहासिक ग्रंथ पुराणों के अनुसार यही आर्यों की मूल भूमि है। यहीं से आर्य आर्यावर्त, भारतवर्ष तथा भारतेतर देशों में फैले। आर्य परिवार की जो विशेषताएँ ऊपर कही गई हैं, वे प्रायः सब यहाँ के मुख्य निवासियों में पाई जाती हैं। केवल श्वेत वर्ण नहीं पाया जाता। वास्तव में भारतीय आर्य श्वेत वर्ण के नहीं अपितु गौर (श्वेत+पीत) और गोधूम (श्वेत+रक्त) वर्ण के होते थे। कहीं कहीं तो अभिजात आर्य परिवारों में श्यामवर्ण के व्यक्तियों का भी उल्लेख मिलता है। भारतवासी श्वेतद्वीप का अस्तित्व हिमाच्छादित पर्वतों के उस पार कहीं मानते थे। वास्तव में आर्य इन्हीं भारतीय आर्यों और उनके निकट संबंधी ईरानी आर्यों को माना जाता था। तथाकथित युरोपीय आर्य आर्यों के दूर के संपर्क या शाखाभूत हो सकते हैं। किंतु उनको भारतीय आर्यों से अभिन्न समझना आवश्यक नहीं।

भारतीय आर्यों के मूल उद्गम के प्रश्न को भाषाशास्त्रियों ने अनावश्यक रूप से उलझा दिया है। पहले मध्य एशिया और पुनः युरोप से आर्यों के पूर्वाभिमुख प्रसार को सिद्ध करने के लिये उन्होंने बहुत सी कष्टकल्पनाएँ की हैं जिनका मेल भारत और पश्चिमी एशिया के इतिहास में बिल्कुल नहीं बैठता। मूलतः आर्यावर्ती भाषा के विस्तार को तीन शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है। पहली आंतर्प्रादेशिक, दूसरी मध्यवर्ती और तीसरी बाह्य प्रादेशिक। शुद्ध आर्यावर्ती भाषा प्रथम और सबसे अधिक मिश्रित तीसरी है। परंतु तीसरी में भी बहुत से तत्व सर्वतोनिष्ठ हैं। आर्यावर्ती भाषा की इस परिस्थिति की व्याख्या कैसे की जाय, यह बहुत बड़ा प्रश्न है। जो लोग मध्य एशिया या युरोप को आर्यों का उद्गम मानते हैं उनके पास इसकी कोई समुचित व्याख्या नहीं है। वे केवल यह कहकर संतोष कर लेते हैं कि बाहर से आनेवाले आर्यों ने आर्येतरों के बीच में अपनी भाषा के प्राचीन रूप को मध्यदेश में अपने शुद्ध

[१] आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
म० स्मृ०, २. २२।

[२] आर्या वर्तन्ते तत्र पुनःपुनरुद्भवंति। आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छा स्थातारो भवंति। मेधातिथि, म०स्मृ०, २, २२ पर भाष्य।

संरक्षण के लिये सुरक्षित रखा। परंतु बाहर के आर्यों में, जहाँ जातीय संरक्षण का प्रश्न उतना कठिन नहीं था, संस्कृत या मूल आर्य भाषा का रूप क्यों नहीं सुरक्षित रहा ? पार्जिटर ने अपने ग्रंथ 'एंश्येंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन' (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) में एक प्रस्थापना की है। उनके अनुसार खीष्टाब्द से लगभग ३००० वर्ष पूर्व आर्यों की एक शाखा ने मध्य हिमालय (इलावर्त) होकर मध्यदेश पर आक्रमण किया। यही शाखा पुराणों का ऐलवंश है। यही ऐलवंश पहले मध्यदेश में फैला और फिर बाह्य प्रदेशों पर छा गया और उसकी भाषा भी प्रसारित हो गई। पार्जिटर मानव अथवा सूर्यवंश को द्राविड मानते हैं। सच कहा जाय तो यह प्रस्थापना भी एक द्राविड प्राणायाम है। वास्तव में मानव और ऐल दोनों ही आर्यवंश थे और मूलतः मध्यदेशीय। पहले मानव वंश का प्रसार मध्यदेश और बाह्य प्रदेशों पर हुआ, पश्चात् ऐलवंश का। जब ऐलवंश मध्यदेश अथवा आंतर्प्रदेश में पूर्णतः प्रधान हो गया तो वही आर्यवंश का मुख्य स्कंध हो गया। मूलतः एक ही स्थान से बाह्य प्रदेशों में फैली हुई आर्यशाखाओं की भाषा सर्वतोनिष्ठ मूल तत्वों के साथ रूढ़ हो गई।

भारत का आर्यपरिवार मूल में आर्येतर मानव जातियों से प्रायः घिरा हुआ था और आज भी मुख्यतः घिरा हुआ है। इन जातियों के संपर्क तथा आवागमन से आर्य परिवार में पर्याप्त मिश्रण हो चुका है और आर्य तत्व ने आर्येतर जातियों को भी प्रभावित किया है। फिर भी मुख्य जातीय भूमियों में वहाँ की मूल जातियाँ अब भी निवास करती हैं और आर्य तत्व को स्पर्श कर उससे प्रभावित होती और किन्हीं अंशों में उसे भी प्रभावित करती हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

(२) **निषाध, शबर और पुलिंद**—निषाध वह मानव वंश है जो अपनी विशेषताओं में अफ्रीका के निग्रो मे मिलता जुलता है। इस समय शुद्ध निषाध तत्व अंदमान, निकोबार, कोचीन और त्रावणकोर के कढार और पलायन जातियों, आसाम की अंगामी नागा जाति और हिंदी क्षेत्र में पूर्वी विहार के राजमहल की पहाड़ियों की कुछ जातियों में मिलता है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि इस वंश के लोग अफ्रीका से आए क्योंकि एक समय दक्षिण भारत और अफ्रीका मिले हुए थे। परंतु ध्यान देने पर स्पष्ट लगता है कि भारतीय निषाध और अफ्रीका के निग्रो या हबशी अभिन्न नहीं है। निषाध जाति और निषाध भूमि का स्पष्ट उल्लेख संस्कृत साहित्य में पाया जाता है। मालवा और खानदेश की पश्चिमी सीमा पर नर्मदा, ताप्ती तथा माही नदियों के किनारे सतपुड़ा और आरावली की पहाड़ियों का जांगल प्रदेश ही मूलतः निषाध भूमि है। कुछ विद्वानों के विचार में यह भूमि मारवार (जोधपुर) में थी, जो समीचीन नहीं जान पड़ती। नदियों के किनारे नीचे स्थान में रहने से यह नाम पड़ा। ये जातियाँ जीविका की खोज में क्रमशः उत्तर

भारत में पहुँचीं। इनमें मुख्य मल्लाह, केवट और बिंद हैं। यहाँ पहुँचकर ये यहाँ की ही बोलियाँ बोलती हैं। नदी, नाव, मछली संबंधी शब्दों में संभवतः इनकी देन हो सकती है।

शबर और पुलिंद—ये दोनों ही एक बड़ी शाखा के उपविभाग हैं। शबर को आजकल की भाषा में मुंडा या मुंड कहते हैं। नृतत्वशास्त्री मुंड और द्रविड में जातिशास्त्र की दृष्टि से कोई भेद नहीं मानते, किंतु भाषाशास्त्रियो के मत में दोनों की भाषाएँ स्वतंत्र हैं अतः दोनों स्वतंत्र जातियाँ हैं। मुंड को आग्नेय (आस्ट्रिक) भी कहते हैं क्योंकि वे अग्निकोण (दक्षिणपूर्व) में बसते हैं। आस्ट्रेलिया नाम पड़ने का भी यही कारण है। एक समय विंध्य पर्वत से लेकर आस्ट्रेलिया तक इस जाति के लोग फैले हुए थे। इस समय आग्नेय वंश के लोग मुख्यतः भारत-चीन (इंडो-चाइना) तथा दक्षिणपूर्व भारत में बसते हैं। इनकी दो मुख्य शाखाएँ हैं—(१) मान-ख्मेर और (२) मुंड या शबर। प्रथम शाखा के लोग भारत में केवल खासी बोलनेवाले आसाम की जातियों में पाए जाते हैं। मुंड या शबर शाखा के लोग विंध्यमेखला और उसके पड़ोस में पाए जाते हैं, विशेषकर उनका स्थान छोटा-नागपुर और संथाल परगना है। इनमें संथाली, मुंडारी, हो, भूमिज, कोरवा आदि संमिलित है। ओराँव लोग एक प्रकार की द्राविड भाषा बोलते हैं, किंतु आजकल इन्हीं के पड़ोसी हैं। निषाधों की तरह इस वंश के भी बहुत से लोग उत्तर की ओर आकर आर्यशाखा से मिल गए हैं। इनकी बोलियाँ आर्यभाषाओं से घिरी होने के कारण उनसे प्रभावित होती जा रही हैं और इनमें से पढ़े लिखे लोग आर्यभाषाएँ पढ़ने लिखने लग गए हैं। परंतु इस संपर्क के कारण बहुत से मूल शबर या मुंड शब्द आर्य भाषाओ में उतर आए हैं। सारी परिस्थितियों से मालूम होता है कि यह वंश विंध्य और उसकी दक्षिण-पूर्व शृंखलाओं का मूल निवासी है। परंतु आधुनिक नृतत्वशास्त्री यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि वे भूमध्यसागर के पास से भारत में द्रविडों के पहले आए और भारत होते हुए दक्षिण-पूर्व में चले गए। प्रस्तुत लेखक के विचार में यह प्रस्थापना बहुत ही कष्टकल्पित है। भारत के पश्चिम में आग्नेयों की भाषा और उनका कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता।

(३) **द्रविड**—द्रविड वंश का एकमात्र मूलस्थान सुदूर दक्षिण, कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। भारत के बाहर द्रविड जाति या द्रविड भाषा का कहीं भी पता नहीं लगता। बलूचिस्तान में ब्राहुई नाम की एक बोली अत्यंत सीमित क्षेत्र में बोली जाती है जिसका संबंध द्रविड भाषा से जोड़ा जा सकता है, परंतु यह क्षेत्र भी पहले भारत के अंतर्गत ही था। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि व्यापार के सिलसिले में दक्षिण से समुद्रतट के सहारे द्रविड बलूचिस्तान में पहुँच गए हों और उनका छोटा सा उपनिवेश बन गया हो। जाति-

शास्त्री द्रविड को भी निग्रोई परिवार का मानते थे, परंतु इधर उनको पूर्व भूमध्यसागरीय या भूमध्यसागरीय माना जाने लगा है। भूमध्यसागरीय प्रस्थापना का कारण है द्रविडों में आर्यवंश के तत्वों का वर्तमान होना और सुदूर दक्षिण की संपूर्ण जनता को भाषा के आधार पर द्रविड मान लेना। वास्तव में भाषा का आधार द्रविड होते हुए भी द्रविड जनता में आर्य तत्व (रक्त और शब्दकोश) का काफी मिश्रण है। इस आर्य तत्व को ढूँढ़ने के लिये उत्तर भारत को छोड़कर भूमध्य सागर के पास जाना अनावश्यक है। जिस प्रकार उत्तर भारत के आर्य संपूर्ण भारत में पहुँचे वैसे ही द्रविड जाति भी विभिन्न रूपों—प्रसार, व्यापार, जीविका, तीर्थयात्रा—में भारत के अन्य भागों में पहुँची, यद्यपि उसका मुख्य स्तंभ अब भी सुदूर दक्षिण में है। दक्षिण से विंध्य पर्वत पार कर यह जाति उत्तर में हिंदी क्षेत्र तक पहुँचती थी। हिंदी के बहुत से शब्दों और रचना विधान पर द्रविड छाप है। हिंदी क्षेत्र की जनता में भी द्रविड तत्व कमकर और शिल्पी जातियों में पाया जाता है।

(४) **किरात**—हिमालय के पूर्वोत्तरी सीमांत पर और उसके पास के प्रदेशों में किरात अथवा मंगोलोई जाति के लोग पाए जाते हैं। वैसे तो इनका अधिकांश आसाम और बर्मा की सीमा पर पाया जाता है। आसाम का आधुनिक नाम ही 'अहोम' (असोम) नामक पूर्व से आनेवाली जाति के नाम पर पड़ा है। इनकी शाखा भूटान और सिक्किम में पाई जाती है। इनके छींटे संपूर्ण पर्वतीय प्रदेश, विशेषकर नेपाल, उत्तरी विहार और बंगाल में मिलते हैं। आजकल की भारतीय भाषा में इन्हें भोटिया कहते हैं। किंतु भोटियों में किरात और आर्य रक्त का पर्याप्त मिश्रण हुआ है। इन्हीं भूमियों में पहले प्राचीन किरात—गंधर्व, किंनर, किंपुरुष आदि—जातियाँ बसती थीं जिनका भारत से घनिष्ठ संबंध था। इनके पूर्व प्रायः संपूर्ण हिमालय (आर्यावर्त) का भाग था और उसका मध्य (इलावर्त) उसका एक मुख्य केंद्र था। वर्तमान किरात जातियों की स्थिति बहुत पुरानी नहीं है। मध्ययुग में कुबलाई खाँ, चंगेज खाँ तथा हलाकू खाँ आदि प्रसिद्ध मंगोल विजेताओं के नेतृत्व में उत्तर की मंगोल जातियाँ हिमालय और दक्षिण-पूर्व एशिया की तरफ बढ़ीं और आर्य तथा आग्नेय तत्वों के ऊपर आरोपित हो गई। इनमें से बहुतों ने भारतीय भाषा अपना ली किंतु उनमें अपने तत्व भी मिलाए। उच्चारण पर तो उनकी गहरी छाप पड़ी।

(५) **दरद, तूरानी तथा ईरानी जाति**—हिंदी क्षेत्र का पश्चिमोत्तर द्वार तूरानी तथा ईरानी जातियों से घिरा है। दरद तत्व उत्तरी पंजाब, काश्मीर और कपिशा (काफिरिस्तान) में पाया जाता है। दरद प्राचीन शकों या खसों के वंशज जान पड़ते हैं, किंतु इनकी पूर्वी शाखा में किरात रक्त का मिश्रण पाया जाता है। तूरानी तत्व पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश,

पश्चिमी पंजाब और सिंध प्रदेश में मिलता है। तूरानी वास्तव में प्राचीन तुरुष्क-हूण के वंशज हैं। ईरानी जाति का तत्व पश्तो और गलवा भाषा बोलनेवालों में वर्तमान है। इसकी पारसीक और मादी दो उपशाखाएँ हैं। यह तत्व आर्य तत्व के सबसे निकट है। प्राचीन काल में इन जातीय भूमियों में रहनेवाले लोगों को नाग, असुर, दैत्य, दानव आदि कहा जाता था। ये जातियाँ आर्यों से संबद्ध थीं और रक्त की दृष्टि से प्रायः समान थीं। इस प्रकार पश्चिमोत्तर और पश्चिम में मध्य एशिया और भूमध्यसागर तक आर्य जाति, भाषा और संस्कृति का संबंध और प्रसार था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिंदी क्षेत्र के बृहत् रूप आर्यावर्त की मुख्य आर्य जाति तीन दिशाओं में आर्येतर जातियों के संपर्क में आई। दक्षिण में निषाध, शबर, पुलिंद और द्राविड जातियों से जो भारत के भीतर की जातियाँ थीं, उसका मिश्रण हुआ। पूर्वोत्तर में किरात अथवा मंगोलोई जातियाँ उसके संपर्क में आईं। पश्चिमोत्तर में आर्य जाति का संपर्क पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया की प्रायः सभी जातियों से था। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी क्षेत्र में न्यूनाधिक मात्रा में इन सभी के तत्व, छींटे और प्रभाव वर्तमान हैं और इनसे हिंदी समृद्ध और अभिवर्द्धमान हुई है।

८. बोलियाँ[1]

हिंदी क्षेत्र में यद्यपि एक मुख्य मानव परिवार (आर्य जाति) की प्रधानता रही है, किंतु इसका विस्तार विशाल होने के कारण, विविध भौगोलिक परिस्थितियों में, उच्चारण तथा शब्दरचना का क्रम विभिन्न रहा है। साथ ही साथ इस क्षेत्र के सीमांतों पर आर्येतर जातियों के साथ संपर्क के कारण ध्वनियों और शब्दों का आदान प्रदान भी होता रहा है। इस परिस्थिति में विभिन्न बोलियों की उत्पत्ति स्वाभाविक है। आज की हिंदी आधुनिक युग में राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक चेतना का विकसित तथा विस्तृत रूप है, जिसने अनेक स्थानीय बोलियों का अपने में समाहार कर तथा उनको आत्मसात कर अपनी विराटता प्राप्त की है। तथापि ये बोलियाँ आज भी घरों में तथा स्थानीय व्यवहार में काम आती हैं और हिंदी के विविध रूपों को प्रकट करती हैं। अतः उनका ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक तथा मनोरंजक है। इन बोलियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :

[1] विशेष विवरण के लिये देखिए : (१) ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया (भारतवर्ष का भाषासंबंधी पर्यवेक्षण), कलकत्ता, १९०३, १९२८; (२) पांडुरंग दामोदर गुने : ऐन इंट्रोडक्शन टु कंपेरेटिव फाइलालोजी, पूना, १९५०; (३) सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी।

(१) ठेठ हिंदी—जिस हिंदी को, उसका संस्कार करके और उसमें स्थानीय बोलियों के साहित्य और संस्कृत तत्सम तथा तद्भव शब्दावली को मिलाकर हिंदी भाषा और आज राष्ट्रभाषा का रूप दिया गया है, वह स्थानविशेष की घरेलू और साधारण व्यवहार की बोली भी है। गंगा-यमुना के बीच के प्रदेश का उत्तरी भाग, इसके पूर्व में रुहेलखंड तथा इसके पश्चिम में पंजाब के अंबाला जिले तक ठेठ हिंदी बोली का क्षेत्र है। इसमें प्राचीन पंचाल का उत्तरी भाग, उत्तरी कुरुप्रदेश तथा स्रुघ्न संमिलित हैं। संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों के समय तक यहाँ की भाषा शुद्ध और प्रामाणिक मानी जाती थी। दिल्ली, मेरठ तथा उनके पार्श्ववर्ती प्रदेशों की इस बोली को मध्ययुग में मुसलिम शासकों ने अपने सामान्य व्यवहार का माध्यम बनाया और उसको उन सभी प्रदेशों में फैलाया जहाँ उनकी सेना और शासनपद्धति पहुँच सकी।

(२) ब्रजभाषा—ठेठ हिंदी बोलनेवाले प्रदेश के नीचे ब्रजभाषा का क्षेत्र है। यह प्राचीन शूरसेन जनपद है, जहाँ की शौरसेनी प्राकृत अपने समय में बहुत बड़े भूभाग पर बोली और समझी जाती थी। मध्ययुग में ब्रजभाषा अपने संत-साहित्य और धार्मिक महत्व के कारण भारत के बहुत बड़े भाग में काव्य और संस्कृति का माध्यम थी। यह साधुभाषा भी कहलाती थी, जिसे रमते साधु अपने भजन, प्रवचन और व्यवहार के द्वारा भारत के प्रायः सभी भागों में पहुँचाते थे।

(३) बाँगरू—दिल्ली के पश्चिम-दक्षिण और अंबाला के दक्षिण बाँगर और हरियाना प्रदेश हैं। यहाँ की बोली बाँगरू कहलाती है। इसके ऊपर एक तरफ पंजाबी और दूसरी तरफ राजस्थानी का प्रभाव है। यह दक्षिणपूर्व गुड़गाँव की तरफ जाकर ब्रजभाषा में बदल जाती है।

(४) कन्नौजिया—ब्रजभाषा के पूर्व कन्नौजिया का क्षेत्र है। यह प्राचीन दक्षिण पंचाल है। यह पूर्व में बैसवाड़ी (अवधी का एक रूप) से मिल जाती है।

(५) बुंदेलखंडी—ब्रजभाषा और कन्नौजिया दोनों के दक्षिण में बुंदेलखंडी का क्षेत्र है जो यमुना के दक्षिण विंध्यमेखला होती हुई दक्षिण-पश्चिम में मराठी से जा मिलती है। इसी छोर पर बुंदेलखंडी और मालवी से आक्रांत निमाड़ी बोली है।

इन उपर्युक्त पाँच बोलियों को सामूहिक रूप से पछाहीं हिंदी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में आर्यावर्ती भाषाओं के केंद्रवर्ग का यह पश्चिमी रूप है।

(६) अवधी—ठेठ हिंदी और कन्नौजिया के पूर्व अवधी बोली जाती है। इस प्रदेश में आधुनिक लखनऊ और फैजाबाद कमिश्नरी के प्रदेश संमिलित हैं। यह प्राचीन कोसल जनपद का पश्चिमी खंड है।

(७) बघेली-छत्तीसगढ़ी—बुंदेलखंडी के पूर्व में बघेली-छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। इसका बहुत ही विस्तृत क्षेत्र है। यह दक्षिण में महानदी की घाटी और

बस्तर तक पहुँचती है। इसका दक्षिणपूर्व सीमांत उत्कल (उड़िया) और दक्षिण-पश्चिम छोर मराठी से मिल जाता है। यह सारा प्रदेश प्राचीन काल में चेदि और महाकोसल (पूर्वी) कहलाता था।

(८) **भोजपुरी**—यह एक नया नाम है। आरा जिला में भोजपुर इस बोली का केंद्र है, अतः भाषाशास्त्रियों ने इसका नाम भोजपुरी रख दिया। यह सरयू नदी के उत्तर पूरी तराई तथा वर्तमान नेपाल के दक्षिणी भाग और गंगा के दोनों तरफ बोली जाती है। बिहार का संपूर्ण पश्चिमी भाग—चंपारन, सारन और आरा—भोजपुरी बोलता है। भोजपुरी की एक शाखा नागपुरिया पलामू होते हुए राँची तक पहुँचती है। भोजपुरी के क्षेत्र में प्राचीन मल्ल, वज्जि, काशी, कारुष आदि जनपद संमिलित हैं।

(९) **मैथिली**—भोजपुरी के पूर्वोत्तर में मैथिली का क्षेत्र है। यह प्रायः गंगा के उत्तर में बोली जाती है, किंतु अपने पूर्वी सीमांत में गंगा के किनारे दक्षिण भागलपुर में भी उतर आती है। इसके क्षेत्र में संपूर्ण प्राचीन विदेह अथवा मिथिला और अंग का कुछ भाग समिलित है।

(१०) **मगही** (मागधी)—मैथिली के दक्षिण और भोजपुरी के पूर्व दक्षिण बिहार में मगही बोली जाती है। छोटा नागपुर के उत्तरी भाग हजारीबाग तक भी अब उसका प्रसार हो गया है और वह क्रमशः झाड़खंड में प्रवेश करती जा रही है।

(११) **मालवी**—बुंदेलखंडी पर राजस्थानी की छाया पड़ने से इस बोली का रूप बना है। इसका क्षेत्र प्राचीन अवंति जनपद है।

(१२) **राजस्थानी**—यह संपूर्ण राजस्थान में बोली जाती है, यद्यपि दक्षिण-पूर्व में इसके ऊपर बुंदेलखंडी और मालवी तथा दक्षिण पश्चिम में गुजराती का प्रभाव है। परंतु राजस्थानी स्वयं बाँगरू और पंजाबी को काटती हुई हिमालय की शृंखलाओं में पहुँच जाती है।

(१३) **भीली और संताली**—ये बोलियाँ मूलतः आग्नेय अथवा शबर-पुलिंद परिवार की हैं, परंतु पश्चिम में ये राजस्थानी और मालवी तथा पूर्व में भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी और मागधी से प्रभावित होती जा रही हैं।

(१४) **उत्तरापथ की बोलियाँ**—पंजाबी, हिंदवी, डूँगरी, काश्मीरी और पश्तो आदि बोलियों का हिंदी से प्रायः उतना ही सबंध है जितना भोजपुरी, मैथिली और मगही का। दरद की शिना बोली का काश्मीरी से संबंध है। दरद के बीच में बुरुशास्की नामक एक अत्यंत सीमित बोली का क्षेत्र है। इन बोलियों का संबंध पैशाची प्राकृत से है। इनके मूल शब्द संस्कृत स्रोत के हैं। मध्ययुग में इनके ऊपर फारसी और अरबी शब्दावली का आरोप विदेशी आक्रमणों के कारण हुआ और ये बोलियाँ अरबी लिपि में लिखी जाने लगीं। दरदी पर तिब्बती का भी कुछ रंग

चढ़ा हुआ है। जोधपुर की पश्चिमी सीमा पर सिंधी बोली है जो व्राडच अपभ्रंश से निकली है। यह भी मूलतः संस्कृत उद्गम की है और मध्यकाल में अरबी और फारसी से आक्रांत हुई।

(१८) पर्वतीय या परबतिया—ये बोलियाँ काश्मीर और जम्मू के पूर्व में भद्रवा और चंबा से लेकर नेपाल के पूर्वी सीमांत तक बोली जाती हैं। ये मैदान की बोलियों से संबद्ध हैं और हिंदी की राजस्थानी बोली से इनका घनिष्ठ नाता है। इनके तीन उपवर्ग किए जा सकते हैं—(१) पश्चिमी जिसमें भद्रवा से जौनसार तक की बोलियाँ संमिलित हैं, (२) मध्यभागीय या केंद्रीय जो कुमायूँ और गढ़वाल में बोली जाती है, और (३) पूर्वी जो नेपाल में बोली जाती है। पश्चिमी अथवा भद्रवाही और चमिआली पर काश्मीरी का प्रभाव है। मध्यभागीय या केंद्रीय अंतर्वेद (ठेठ हिंदी) की बोलियों से संबद्ध है। पूर्वी अथवा नेपाली का अवधी, भोजपुरी और मैथिली से संबंध है। इस बोली को परबतिया, गोरखाली या खसकुरा भी कहते हैं। ठेठ नेपाल तो केवल नेपाल की राजधानी काठमांडू की दून तक सीमित था। वर्तमान नेपाल में कई जातीय भूमियाँ और बोलियाँ संमिलित हैं। वर्तमान नेपाल की सांस्कृतिक तथा भाषा संबंधी एकता गोरखा शासन की देन है।

द्वितीय अध्याय

मध्ययुग की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ

हिंदी का प्रारंभिक इतिहास जिन राजनीतिक परिस्थितियों में विकसित हुआ उनकी पीठिका पूर्व मध्ययुग के आदि (सातवीं शती वि०) तक विस्तृत है। भारत के इतिहास में सातवीं से लेकर बारहवीं शती तक जो राजनीतिक प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उन सबका प्रभाव भारतीय जीवन और हिंदी साहित्य पर पड़ा। इन्हीं प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय और विश्लेषण नीचे दिया जाता है।

१. विघटन तथा विभाजन

स्थाण्वीश्वर (थानेसर) पुष्यभूति वंश के राजा हर्षवर्धन भारत के अंतिम संपूर्ण उत्तरभारत के सम्राट् (सकलोत्तरापथेश्वर[1]) थे। पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमात से लेकर पूर्व में प्राग्ज्योतिप (आसाम) तक और दक्षिण में नर्मदातट से लेकर उत्तर में हिमालय तक उनका साम्राज्य फैला हुआ था। कई परंपराओं के अनुसार दक्षिण और सुदूर दक्षिण (समस्त दक्षिणापथ) के ऊपर भी कुछ समय तक उनका आधिपत्य रहा। इस समय तक चक्रवर्तित्व, देश की एकता और समष्टि का आदर्श तथा भाव जनता और साहित्य में वर्तमान थे। देश में वंशगत शासन होने पर भी जनता के मानस और विजेता के आदर्श में आसेतु-हिमांचल अखंड देश का विग्रह प्रतिष्ठित रहता था। परंतु इसी समय देश के विघटन और विभाजन की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगीं। हर्षवर्धन के काल में ही भारत के दो मुख्य विभाजन हो गए। नर्मदा के उत्तर पुष्यभूति और कान्यकुब्ज (कन्नौज) के वर्मन् राज्यों के विलय से बना हुआ हर्षवर्धन का साम्राज्य था। नर्मदा के दक्षिण चालुक्यवंश के द्वितीय पुलकेशिन् का आधिपत्य था जो दक्षिण में परमेश्वर[2] (दक्षिण का सम्राट्) कहलाता था। इन दो समान सशक्त साम्राज्यों के कारण उत्तर और दक्षिण में एक प्रकार का ऐसा शक्ति-संतुलन उत्पन्न हुआ कि दोनों का परस्पर विलय कठिन और शतियों तक प्रायः असंभव हो गया। पुलकेशिन् ने सौराष्ट्र,

[1] समर संसक्त-सकलोत्तरापथेश्वर-श्रीहर्षवर्धन-पराजयोपलब्धपरमेश्वरापरनामधेयः। एपि० इंडि०, जिल्द ५, लेख सं० ४०१ तथा ४०४।

[2] श्रीसत्याश्रय-पृथ्वीवल्लभ-महाराज-समरशत-संघट्ट-संसक्त-परनृपति-पराजयोपलब्ध – परमेश्वरापर-नामधेयः। हैदराबाद ताम्रपट्ट, फ्लीट, कन्नड राजवंश, पृ० ३५१।

मालवा और राजस्थान पर आक्रमण किया किंतु इधर साम्राज्य निर्माण में उसे स्थायी सफलता नहीं मिली। हर्ष ने भी दक्षिण-विजय का प्रयत्न किया; किंतु उसे भी पूरी सफलता नहीं मिली। उत्तरभारत में उसकी सर्वत्र-विजयिनी सेना नर्मदा तट पर अपने सहस्रों हाथियों को गवाँकर वापस लौट आई[1]।

हर्ष की शक्तिशालिनी भुजाओं ने सिंधु (सिंध प्रदेश) का मंथन और हिमालय की दुर्गम उपत्यकाओं का ग्रहण किया था। किंतु आश्चर्य तो यह है कि उनकी मृत्यु होते ही इतना बड़ा साम्राज्य बात की बात में बिखर गया। हर्ष का कोई पुत्र उत्तराधिकारी नहीं था। किसी निश्चित उत्तराधिकारी के अभाव में उसके मंत्री अर्जुन अथवा अरुणाश्व ने कान्यकुब्ज के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। मंत्रिमंडल और सामंतों को यह अनधिकारचेष्टा पसंद नहीं थी। क्योंकि हर्ष अपने जीवन में संभवतः बौद्ध हो गया था अथवा कम से कम महायान का प्रश्रयदाता था, उसका चीन के साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक और राजनीतिक संबंध स्थापित था। चीनी राजदूत कान्यकुब्ज में रहता था। उसकी सैनिक टुकड़ी ने अरुणाश्व को मार भगाया और कुछ समय के लिये कान्यकुब्ज के सिंहासन को अपने संरक्षण में कर लिया। परंतु यह व्यवस्था भी स्थायी नहीं हो सकी। ७०७ से ७५७ वि० के लगभग तक कान्यकुब्ज का इतिहास बिलकुल अंधकारमय है। परंतु इतना तो निश्चित है कि विघटन की प्रवृत्ति जोरों से चल रही थी। पश्चिमोत्तर में काश्मीर एक प्रबल राज्य था। सिंध अलग राज्य बन गया। पश्चिमी राजस्थान और मालवा में गुर्जर प्रतिहारों का राज्य था। शाकंभरी के चाहुमान (चौहान) अपने राज्य का विस्तार कर रहे थे। मगध में परवर्ती गुप्त, बंगाल में गौड और प्राग्ज्योतिष में वर्मन् वंश के राज्य थे। कर्णसुवर्ण, ओड्र, उत्कल आदि में भी कई स्थानीय राज्य बन गए। आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में कान्यकुब्ज एक बार पुनः जग उठा। मौखरी वंश के यशोवर्मन् ने अपनी विशाल सेना की सहायता से भारत का दिग्विजय किया। इस दिग्विजय का वर्णन वाक्पतिराज के 'गौडवहो' (गौडवध) नामक प्राकृत महाकाव्य में मिलता है। किंतु यह सैनिक सफलता उल्का के समान थी और इससे देश का राजनीतिक एकीकरण न हो सका। यशोवर्मन काश्मीर के राजा ललितादित्य से पराजित हुआ और उत्तर भारत में फिर अनवस्था फैल गई। इसके पश्चात् कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा गहडवाल वंशों ने तुर्कों के आक्रमण तक शासन किया। इन राजवंशों का पूर्व में बंगाल के पालों तथा सेनों, दक्षिण में चंदेल, चेदि तथा परमारों और पश्चिम में चौहान, तोमर, शाही और आगे

[1] युधिपतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः। ऐहोल, उत्कीर्ण लेख, एपि० इंडि०, ६, पृ० १०।

चलकर तुर्कों से बराबर संघर्ष, मैत्री, संधि और पुनः युद्ध की प्रक्रिया चलती रही।

२. निरंकुश एकतंत्र

इस काल की दूसरी राजनीतिक प्रवृत्ति निरंकुश एकतंत्र की थी। इसका मूल चौथी शती के पूर्वार्द्ध में ढूँढ़ा जा सकता है। उस समय तक देश में दो प्रकार की शासनपद्धतियाँ थीं—(१) एकतांत्रिक और (२) गणतांत्रिक। प्रथम के अनुसार राज्य की संपूर्ण और अंतिम शक्ति एक व्यक्ति—राजा—के हाथ में होती थी, यद्यपि वह व्यवहार में सहायकों और अमात्यों से सहायता लेता था। दूसरी पद्धति के अनुसार राज्य की अंतिम शक्ति और अधिकार गण अथवा समूह के हाथ में होता था; कोई एक व्यक्ति उनपर दावा नहीं कर सकता था; जन अथवा समूह अपने को राजा समझता था। दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती थीं। गणतंत्र के कारण एकतांत्रिक राज्यों की प्रजा में भी राजनीतिक चेतना और स्वातंत्र्य की भावना बनी रहती थी। इसका परिणाम यह होता था कि राजा सिद्धांततः निरंकुश होते हुए भी व्यवहार में प्रजा की अनुमति और सहयोग से राज्य का शासन करते थे। अत्यंत निरंकुश शासकों को प्रजा सहन नहीं कर सकती थी। गुप्तवंशी समुद्रगुप्त (३६२—४३२ वि०) तक मध्य-भारत और राजस्थान में गणराज्य और गणजातियाँ थीं।[१] क्षेत्रफल और जन-संख्या में छोटे होने से गणराज्य सुसंघटित साम्राज्यवादी सेनाओं का सामना करने में सफल नहीं हो सकते थे, अंतस्संघटन, संघनिर्माण और स्वतंत्रता की भावना ही उनकी शक्ति थी। पश्चिमोत्तर भारत के यवनों, शकों तथा कुषणों से लड़ते लड़ते ये गणराज्य शिथिल हो गए थे। अतः इन्होंने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली और करदान, आज्ञाकरण, प्रणाम, आगमन आदि से उसके प्रचंड शासन को परितुष्ट किया[२]। फिर भी उनका अस्तित्व बना रहा। गुप्तवंश का द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य गणारि था। वह ४३७ वि० के आसपास सिंहासन पर बैठा। उसने गणों का समूल विनाश किया। उसके समय से भारतीय इतिहास में फिर गणों का प्रादुर्भाव वर्तमान गणतंत्र के पूर्व कभी नहीं हुआ। इस घटना का भारतीय इतिहास पर दूरव्यापी परिणाम दिखाई पड़ता है।

[१] इनमें मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक तथा खरपरिक, नौ का उल्लेख प्रयाग-स्तंभ पर उत्कीर्ण समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में पाया जाता है। फ्लीट : गुप्त अभि०, सं० १।

[२] फ्लीट : गुप्त अभि०, सं० १।

इस घटना के बाद गुप्त और पुष्यभूति साम्राज्य के समय गणतांत्रिक विचारों को बिलकुल प्रश्रय नहीं मिला और जनसाधारण में राजनीतिक चेतना और स्वातंत्र्य की भावना शिथिल हो गई। एकतंत्र ने सातवीं-आठवीं शती तक धीरे धीरे राज्य की सारी शक्ति को आत्मसात् कर लिया। राजा का जनता के प्रति परंपरागत और सैद्धांतिक दायित्व भी नष्ट हो गया। प्राचीन काल की राजनीतिक परंपरा में मंत्रिमंडल का राजा के ऊपर पर्याप्त नियंत्रण रहता था और मंत्रिमंडल का अस्तित्व राज्य-संचालन के लिये आवश्यक समझा जाता था[1]। मध्ययुग आते आते मंत्रिमंडल के स्थान पर केवल व्यक्तिगत मंत्री रह गए और उनके संयुक्त दायित्व और अधिकार जाते रहे। अब वे राजा की इच्छा और संकेत पर आश्रित थे। इन सबका फल यह हुआ कि देश में निरंकुश एकतंत्र की दृढ़ स्थापना हो गई और राज्य के बनाने बिगाड़ने में प्रजा का अधिकार और रुचि क्षीण हो गई। एकतंत्र के गुणदोष दोनों थे। अनवस्थित और आकस्मिक परिस्थितियों में एकतांत्रिक शासक शीघ्रता और एकचित्तता से राज्य की रक्षा और शासन का संचालन कर सकता था। परंतु जनता की भावना पर इसका परिणाम बुरा हुआ। इससे सामूहिक राजनीतिक चेतना नष्ट हो गई और अन्यायी तथा विदेशी आक्रमणकारियों और शासकों का विरोध करने की क्षमता जाती रही।

३. सामंतवाद

सामंतवाद मध्ययुग की एक विशेष उपज थी, यद्यपि इसका अस्तित्व इसके पूर्व भी पाया जाता है। एक विजयी और साम्राज्यवादी राजा के अधीन बहुत से सामंत होते थे जिनके हाथ में स्थानीय शासन होता था और जो आवश्यकता पड़ने पर राजा की सैनिक सहायता करते थे। भारत में साम्राज्य की सामान्य कल्पना मांडलिक राज्य की थी, इसलिये सारा साम्राज्य ही स्थानीय सामंतों के बीच बँटा हुआ था। परंतु मध्ययुग में राजनीतिक विशृंखलता, अनिश्चितता और अरक्षा के कारण इस सामंती व्यवस्था को अधिक प्रोत्साहन मिला। परस्पर युद्ध और संघर्ष के कारण सेनाओं का आवागमन लगा रहता था और लूटमार हुआ करती थी। इस परिस्थिति में किसी स्थान की जनता वहाँ के ऐसे किसी सैनिक नेता को अपना शासक मान लेने को तैयार रहती थी जो उसको सुरक्षा प्रदान कर सकता था। उसकी भक्ति भी उसी स्थानीय शासक के प्रति होती थी। उसी को वह कर देती थी और उसी के नेतृत्व में आवश्यकता पड़ने पर लड़ती थी। प्राचीन

[1] सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम्॥ अर्थ० १-७

सामंतवाद और मध्ययुगीन सामंतवाद में एक विशेष अंतर था। प्राचीन काल में सामंतों के होते हुए भी बड़े साम्राज्य के अंतर्गत साम्राज्य अथवा देश के प्रति भक्ति बनी रहती थी। मध्ययुग में, देश के खंडशः विभाजित होने के कारण, बड़े पैमाने पर भक्ति का विकास न होकर केवल स्थानीय सामंत तक वह सीमित हो जाती थी। इसका प्रभाव शासनपद्धति और देश की सैनिक शक्ति पर भी पड़ा। शासन की एकरूपता, संतुलन और आंतरिक संघटन ढीला हो गया। सेना छोटे छोटे झुंडों में बँट गई। उसकी न तो एक प्रकार और संघटित रूप से शिक्षा हो पाती थी और न एक नेतृत्व में वह आवश्यकता पड़ने पर लड़ सकती थी। यदि किसी प्रादेशिक राजा ने कई सामंतों की सेनाओं को किसी विदेशी आक्रमणकारी का सामना करने के लिये इकट्ठा भी कर लिया तो भी उसको सैनिक सफलता नहीं मिलती थी। पहले तो सैनिक नेतृत्व का ही झगड़ा तय नहीं हो पाता था कि बाहरी सेना चढ़ आती थी। दूसरे यदि कोई नेता चुन भी लिया गया तो सेनाएँ कई स्थानों से आने और समान शिक्षण न पाने से भानमती का कुनबा बन जाती थीं। उनका संयुक्त स्वरूप सैनिक भीड़ का सा हो जाता था न कि सुशिक्षित और सुसंघटित सेना का। यही कारण है कि मध्ययुग की बहुसंख्यक भारतीय सेनाएँ आक्रमणकारियों की छोटी किंतु संघटित सेनाओं के सामने परास्त हो जाती थीं। इस युग के कई सैनिक संघों की विफलता का यह मुख्य कारण था। काबुल और पंजाब के शाही राजाओं राज्यपाल और अनंगपाल के सैनिक संघ इसी कारण पराजित हुए। पृथ्वीराज चौहान का विशाल सैनिक संघ इसी कारण टूट गया। जयचंद्र गहड़वाल की सामंती सेना इतनी बड़ी थी कि स्कंधावारों से रणभूमि तक उसकी पंक्ति नहीं टूटती थी, किंतु वह मुहम्मद गोरी की सैनिक प्रगति के सामने बिलकुल रुक न सकी।

सामंतवाद का सबसे अवाञ्छनीय प्रभाव जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर पड़ा। इससे क्षुद्र राजनीतिक संघर्षों और सैनिकता की प्रवृत्ति बढ़ गई। तुच्छ कारणों से सामंत और उनपर आश्रित राज्य परस्पर लड़ा करते थे। सामंतों का एकमात्र उद्देश्य होता था अपनी सत्ता को बनाए रखना। सामंती राज्य की सारी शक्ति और साधन इसी पर खर्च होते थे। प्रजाहित और जनकल्याण उनका बहुत ही गौण कार्य था। पशुबल उनकी शक्ति थी और दरबारी तड़क भड़क आतंक जमाने का साधन। इसी का अनुकरण साधारण जनता भी करती थी।

४. समष्टि ओझल : स्थानीयता और व्यक्तिवादिता

देश के राजनीतिक विघटन और सामंतवादी प्रथा के कारण साधारण जनता की दृष्टि से देश की इकाई और समष्टि ओझल हो गई। आसेतु-हिमांचल देश की मूर्ति को उसकी आँखें नहीं देख सकती थीं और न तो संपूर्ण देश के हितकल्याण की भावना ही उसके हृदय में लहराती थी। उसकी दृष्टि अब खंडदृष्टि थी। राजनीतिक

अदूरदर्शिता की प्रकिया निश्चित रूप से मध्ययुग में ही प्रारंभ हुई। सार्वदेशिकता का स्थान अब क्षुद्र स्थानीयता लेने लगी। अब भारत के बदले, प्रांतीय राज्यों और राजवंशों का महत्व बढ़ गया। गुर्जरात्रा, शाकंभरी, अवंति, चेदि, जेजाकभुक्ति, कान्यकुब्ज आदि, विभिन्न राजवंशों के अधीन, खंडित देशभक्ति के पात्र बन गए। इनके नामों पर, इनके यश और विस्तार के लिये युद्ध होने लगे और दूसरे प्रदेशों में जाने पर भी इन्हीं नामों से संबोधित होना लोग पसंद करने लगे[1]।

४. राजनीति के प्रति उदासीनता

निरंकुश एकतंत्र, सामंतवाद और देश के खंडित होने से जनता में एक घातक प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसे राजनीति के प्रति उदासीनता कह सकते हैं। इसका अर्थ है राजनीतिक महत्वाकांक्षा का अभाव और देश में होनेवाले परिवर्तनों से प्रभावित न होना। पहले राजवंशों के शासन और परिवर्तनों में अभिजनों और जानपदों का काफी हाथ रहता था। राजा उनके मत की प्रतिष्ठा करता था और उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। ज्यों ज्यों उनके हाथ से शक्ति और प्रभाव निकलते गए उनमें मानसिक शैथिल्य और उदासीनता ने घर कर लिया। अब राजवंशों के चुनाव में उनका कोई हाथ न था; इसलिये राजवंशों का परिवर्तन उनको प्रभावित भी नहीं करता था। पहले यह दृष्टिकोण भारतीय राजवंशों के पारस्परिक परिवर्तन के संबंध में था। पीछे जब भारतीय राजवंशों का ध्वंस कर विदेशी राजवंश स्थापित होने लगे तो सामान्य जनता ने उन्हें अपना शासक उसी प्रकार स्वीकार किया जिस प्रकार वह किसी भारतीय राजवंश को स्वीकार करती थी। उसको केवल सुरक्षा और जीविका से मतलब था; इसलिये ऐसा करने में कोई मानसिक धक्का उसे नहीं लगता था। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई कि मुगलों का राज्य स्थापित होते होते 'कोई नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी॥'[2] की कहावत प्रचलित हो गई। इस राजनीतिक दासता और उदासीनता की प्रवृत्ति इस सीमा तक पहुँची कि दिल्ली के मुगल शासक जनता के हृदय में ईश्वर के आसन पर आरूढ़ हो गए। जगन्नाथ जैसे उद्भट पंडित ने निस्संकोच कहा, 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा।'[3] अब राजधानियों के ऊपर कोई भी अधिकार

[1] पंच गौड—गौड, सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल तथा उत्कल और पंच द्रविड—नागर, महाराष्ट्र, कर्णाट, तैलंग तथा द्रविड आदि स्थानीय नाम मध्ययुग में ही प्रचलित हुए।

[2] तुलसीदास : रा० च० मा०, द्वितीय सोपान, (ना० प्र० सभा, काशी), कैकेयी-मंथरा-संवाद, १५'६।

[3] भामिनीविलास।

करके जनता पर शासन कर सकता था। देश की रक्षा और व्यवस्था का भार अब केवल राजवंशों के ऊपर छोड़ दिया गया था, जनता उसके लिये अपने को उत्तरदायी नहीं समझती थी और न उसमें इसके लिये क्षमता और रुचि थी।

६. राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति का ह्रास

राजनीतिक परिस्थिति का दूसरा भयानक परिणाम यह हुआ कि देश के निवासियों के हृदय से राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना लुप्त होने लगी। देश की भौगोलिक इकाई के प्रति चेतना और जागरूकता, उसको अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये तैयारी और विदेशी आक्रमणों से उसकी रक्षा करने में कटिबद्धता और आवश्यकता पड़ने पर जीवन का बलिदान करने की साधना लोगों में कम होने लगी। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के समय चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र[1] में राष्ट्र का लक्षण बतलाते समय लिखा था कि इसके निवासियों को शत्रुद्वेषी होना चाहिए अर्थात् किसी भी अवस्था में शत्रु का अस्तित्व और प्रभुत्व देश के अंदर सह्य नहीं हो सकता। चाणक्य का यह भी कथन था कि 'आर्य' (भारतीय नागरिक) कभी 'दास' (दूसरे का गुलाम) नहीं बनाया जा सकता।[2] किंतु मध्ययुग में यह भावना शिथिल पड़ने लगी। सैनिक दुर्बलता से बढ़कर यह मानसिक दुर्बलता थी। यही कारण था कि एक बार विदेशी सत्ता स्थापित होकर बहुत दिनों तक टिक सकी, जबकि प्राचीन काल में विदेशी आक्रमणकारियों को इस देश के निवासी पश्चिमोत्तर कोने में घेरकर आगे नहीं बढ़ने देते थे और थोड़े ही दिनों में उनका टिकना असंभव कर देते थे। यवन, पह्लव, शक, कुषण, हूण आदि बहुत शीघ्र इस देश से मार भगाए गए। इसके विपरीत मध्ययुग में अरब, अफगान, तुर्क और मुगल तथा आधुनिक युग में युरोपीय काफी दिनों तक इस देश पर अपना आधिपत्य जमाए रहे। यदि इस युग में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती तो ऐसा कदापि नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण युरोप के इतिहास से भी हो जाता है। युरोपवालों ने अरबों को स्पेन से आगे नहीं बढ़ने दिया और वहाँ से भी शीघ्र निकाल दिया। युरोप में तुर्कों की भी यही दशा हुई और यदि इंगलैंड और रूस में प्रतिद्वंद्विता न होती तो तुर्कों का अवशेष भी युरोप में न होता। भारतीय यह भावना खो चुके थे। इसीलिये मध्ययुग में भारत विदेशियों से आक्रांत रहा।

७. राजभक्ति

राष्ट्रीयता और देशभक्ति का स्थान धीरे धीरे राजभक्ति ने ले लिया।

[1] अर्थ० २।

[2] म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। नत्वेवार्यस्य दासभावः। अर्थ० ३. १३।

राष्ट्र और देश के प्रति आस्था और ममता के बदले में राजवंशों और राजाओं की भक्ति की जाने लगी। स्वातंत्र्यप्रेम और स्वेच्छा से कष्टसहन और बलिदान का स्थान प्रशस्ति, चाटुकारिता और दासवृत्ति ने ले लिया। अपने अस्तित्व और जीविका के लिये सामंतों को प्रसन्न रखना जीवन का उद्देश्य समझा जाने लगा। मध्ययुग की उत्कीर्ण प्रशस्तियों और जीवनचरितों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। राजा अथवा शासक भी एक प्रतीक मात्र था। उसके बदलने पर राजभक्ति भी दूसरे राजा और शासक के प्रति स्थानांतरित हो जाती थी। एक राजवंश से दूसरे राजवंश और भारतीय शासक से विदेशी शासक तक राजभक्ति का आरोप सरलता से हो जाता था। 'सेइय स्वामि सकल छल त्यागी' का सिद्धांत जनता में प्रतिष्ठित हो गया। स्वामी सजातीय, देशी अथवा विदेशी शत्रु है इसका भेद भी प्रायः जनता को उद्विग्न नहीं करता था। इस राजभक्ति की प्रवृत्ति का एक भयंकर दुष्परिणाम भी हुआ। विदेशी आक्रमणों के समय सैनिक युद्ध में राजा के लिये लड़ते थे; राष्ट्र की कल्पना वे खो चुके थे; देशभक्ति की भावना उनमें धुँधली हो चुकी थी। इसलिये जब राजा रणभूमि में मारा जाता था या किसी कारण से भाग निकलता था तो विशाल सेनाएँ अपना मानसिक बल और साहस खो बैठती थीं और हवा के झोंके से कागजी सिपाहियों की तरह बिखर जाती थीं। पृथ्वीराज के मरने पर अजमेर और दिल्ली की सेनाओं तथा जयचंद्र के निधन पर कान्यकुब्ज और वाराणसी की सेनाओं का तुरंत नैतिक पतन हुआ और ये पवित्र और समृद्ध नगर अनाथों की तरह लूटे गए और विध्वस्त हुए। यही दशा समस्त उत्तर और दक्षिण भारत में तुर्कों के आक्रमण के समय हुई। तुर्कों की इस्लामी सेना में भी राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति की भावना प्रबल नहीं थी। किंतु इसके बदले में इस्लाम के प्रति नई भक्ति और उत्साह उसमें काम कर रहा था और इसके प्रचार के लिये इस्लामी सैनिक दृढ़ता के साथ लड़ते थे।

८. व्यक्तिगत शौर्य एवं वीरता

ऊपर ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि जनता और सेना में व्यक्तिगत शौर्य एवं वीरता का अभाव था। मध्ययुग के बहुत से राजा, सेनानायक और सैनिक शिक्षित, योग्य, शूर तथा वीर थे और तुलना में विदेशी आक्रमणकारियों से किसी प्रकार कम नहीं थे। देश के कई भागों और बहुतेरे युद्धों में उन्होंने अपने रणकौशल का परिचय दिया और बाहरी आक्रमणकारियों के छक्के छुड़ा दिए। सिंध में दाहिर और उसकी रानियों का युद्ध, पंजाब में जयपाल और अनंगपाल के युद्ध, तुर्कों और अफगानों के साथ पहले के चौहान राजा और पृथ्वीराज के युद्ध तथा चंदेलों का तुर्कों के साथ युद्ध शूरता और वीरता की दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं थे। किंतु तत्कालीन

परिस्थिति में जिस सामूहिक संगठन और चेतना की आवश्यकता थी उनका भारतीय शूरों और वीरों में अभाव था। यही कारण था कि अपनी अनुपम व्यक्तिगत योग्यता के होते हुए भी वे पराजित हुए। व्यक्तिगत योग्यता की क्या सीमा है और उसका उपयोग कहाँ और कैसे करना चाहिए, ये कम महत्व के प्रश्न नहीं हैं। ऐसा लगता है कि जीवन के इन प्रश्नों पर विचार कम किया गया। यही बात व्यक्तिगत उदारता, दया और करुणा के बारे में भी कही जा सकती है। सामूहिक और राष्ट्रीय जीवन में और विशेषकर शत्रु और विदेशी आक्रमणकारियों के साथ उपर्युक्त व्यक्तिगत गुणों का किस प्रसंग और किस मात्रा में उपयोग करना चाहिए, ये भी विचारणीय प्रश्न थे। किंतु व्यक्तिगत कर्तव्य का समन्वय सामूहिक और राष्ट्रीय कर्तव्य के साथ ठीक तरह से इस युग में नहीं हुआ। इसलिये व्यक्तिगत क्षेत्र में अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भी सामूहिक क्षेत्र में इस युग का व्यक्ति असफल रहा।

९. संघर्ष तथा पुनरुत्थान का प्रयत्न

यद्यपि अपनी आंतरिक दुर्बलताओं से इस युग के अधिकाश भारतीय राज्य विदेशी आक्रमणों के सामने पराजित हुए, तथापि विदेशियो के प्रति प्रतिरोध, संघर्ष और युद्ध कभी समाप्त नहीं हुए और न तो हार कर भी पुनः उठ खड़े होने की प्रवृत्ति ही विलुप्त हुई। भारत ही ऐसा देश था जहाँ इस्लाम को सतत संघर्ष का सामना करना पड़ा और लगभग एक हजार वर्ष के आक्रमण और शासन के बाद भी भारत के विजय और धर्मपरिवर्तन में उसे आंशिक सफलता ही मिली। संसार के इतिहास में यह एक बड़ी महत्व की घटना है। स्पेन के दक्षिणी छोर से लेकर चीन की दीवार तक इस्लाम की जेहादी सेना ने पूर्ववर्ती धर्म और सामाजिक ढाँचे को पूर्णतः नष्ट कर दिया और अब उनका अवशेष केवल भूखनन से ही प्राप्त होता है। पश्चिमोत्तर अफ्रीका, मिस्र, अरब, असीरिया, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया सभी पूर्णतः इस्लाम के सामने परास्त हुए। परंतु भारत में यह घटना नहीं हुई। भारत के सभी राजवंश नष्ट नहीं हुए और राजवंशों के पराजित और नष्ट होने पर भी जनता की अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन के प्रति आस्था और आग्रह बना रहा। इनके ऊपर आक्रमण का प्रतिरोध संघर्ष और कष्टसहन के द्वारा जनता करती रही; जहाँ यह संभव नहीं हुआ वहाँ वर्जनशीलता और केवल कष्टसहन का मार्ग उसने ग्रहण किया किंतु अपने सांस्कृतिक जीवन की रक्षा की। केवल थोड़े से लोग दबाव, भय और प्रलोभन से इस्लाम में दीक्षित हुए। राजवंशों की भी प्रायः यही प्रवृत्ति रही। स्थान-परिवर्तन और नवीन राज्यस्थापन के कई उदाहरण पाए जाते हैं। सैनिक पराजय के

बाद अधीनता स्वीकार करके पुनः संघर्ष और राजनीतिक संघटन के भी कतिपय दृष्टांत मिलते हैं[1]।

इस्लाम का पहला आक्रमण भारत पर ७६६ वि० में हुआ। सिंधु के मुहाने से मुल्तान तक पहुँचने में अरब सेना को घोर संघर्ष करना पड़ा। सिंध के चाच वंश का पराजय हुआ। किंतु इसके पूर्व में प्रतिहारों की प्रबल शक्ति थी जिसने बड़ी ही जागरूकता और वेग के साथ अरबों का सामना किया और उनको सिंध तक सीमित रखा। काबुल और पंजाब के शाही वंश ने उत्तर से प्रतिरोध किया और अरब ऊपर की ओर न बढ़ सके। अरबों की शक्ति क्षीण होने पर तुर्कों ने गजनी होकर पश्चिमोत्तर के दर्रों से भारत पर आक्रमण किया। शाही वंश ने तुर्कों का प्रबल विरोध किया और आक्रमण की नई लहरों को रोकने के लिये उत्तरभारत के राज्यों का सैनिक संघ भी बनाया, परंतु जिन ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की चर्चा की जा चुकी है उनके कारण सामिक प्रतिरोध भी असफल रहा और तुर्क सत्ता यामिनी वंश के रूप में लाहौर में स्थापित हो गई। किंतु शीघ्र ही इस बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिये अजमेर में चाहमान (चौहान) और कान्यकुब्ज (कन्नौज) में गहडवाल वंश के रूप में भारतीय शक्ति का पुनरुत्थान हुआ। इन दो राजवंशों ने दक्षिण और पूर्व से तुर्कों को पंजाब में घेर रखा। चाहुमान राजा विग्रहराज दिल्ली को अधिकृत कर हिमालय तक पहुँचा और उसने तुर्कों के लिये पूर्व में अभेद्य दीवार खड़ी कर दी। आगे चलकर इन दो भारतीय शक्तियों ने परस्पर संघर्ष से अपना बल क्षीण कर लिया। गजनी में तुर्कों के ह्रास के बाद गोर के अफगानों ने भारत पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। अजमेर-दिल्ली के चाहमान राजा प्रसिद्ध पृथ्वीराज ने पहले बड़ी सफलता के साथ अफगानों को पीछे ढकेला और उनके सरदार शहाबुद्दीन गोरी को कई बार पीछे हटना पड़ा। किंतु पारस्परिक युद्ध और विलासिता के कारण १२५० वि० में भारतीय शक्ति पुनः ध्वस्त हुई। विदेशी आक्रमण का यह वेग पहले से अधिक व्यापक था और १२६३ वि० तक यह बंगाल तक फैल गया। परंतु भारतीय प्रतिरोध समाप्त नहीं हुआ। राजस्थान, मध्यभारत तथा विंध्यप्रदेश में स्वतंत्र रूप से और उत्तरप्रदेश में सामंत रूप से विदेशी सत्ता के साथ बराबर युद्ध चलता रहा और भारत पूर्णरूपेण विदेशियों के संमुख नतमस्तक नहीं हुआ।

[1] वास्तव में संपूर्ण मध्ययुग इस्लाम और भारत के संघर्ष का इतिहास है। समन्वय का आंशिक प्रयत्न अकबर (मुगल सम्राट्) के समय हुआ, किंतु औरंगजेब की कट्टरपंथी नीति ने उसको विकसित नहीं होने दिया।

तृतीय अध्याय

राजनीतिक स्थिति

पूर्व मध्ययुग में उत्तर भारत, जिसके साथ हिंदी भाषा और साहित्य का घनिष्ठ संबंध है, जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, कई राज्यों में विभक्त था जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जायगा। इनके संबंध में एक विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि इन राजवंशों में से अधिकांश को परवर्ती प्रथा के अनुसार 'राजपूत' कहा जाता है। राजपूतों का उदय भारतीय इतिहास की एक प्रमुख घटना है। इस समय के अधिकाश राजपूत अपना संबंध इसी समय उदित राजवंशों के साथ जोड़ते हैं। इनकी वीरता, बलिदान और पारस्परिक संघर्ष की कहानियो से हिंदी साहित्य का भांडार भरा हुआ है।

१. राजपूतों की उत्पत्ति

सातवीं और आठवीं शती में भारतवर्ष मे जीवन के दो मुख्य क्षेत्रों में क्रांति हुई। धार्मिक क्षेत्र में कुमारिल और शंकर ने जो आंदोलन चलाया उससे ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्म वैदिक परंपरा में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया गया और प्राचीन धार्मिक संप्रदायों के स्थान में पुनरुत्थानमूलक किंतु नवसंस्कृत हिंदू धर्म का उदय हुआ। मध्ययुगीन धार्मिक जीवन की यह एक बहुत बड़ी संक्रांति थी। राजनीतिक क्षेत्र में हूणों और अरबों के आक्रमण से भारत को बहुत बड़ा मानसिक धक्का लगा। कुमारिल और शंकर की धार्मिक प्रेरणा से राजनीतिक जीवन भी प्रभावित हुआ।[१] राजवंशों में ब्रह्म-क्षत्र की एक नई परंपरा चल पड़ी। प्राचीन भारतीय राजवंशों के अवशेषों में एक बार पुनः नया प्राण आ गया। उन्होंने राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, विंध्यप्रदेश आदि प्रांतो में अपने देश और धर्म की रक्षा के लिये शैव धर्म को अपनाया और सतत युद्ध द्वारा विदेशी सत्ता के विरोध का प्रण किया। कुषण साम्राज्य को नष्ट करने और भारतीय राष्ट्र के पुनरुत्थान का व्रत इसी प्रकार तीसरी शती में नाग-भारशिवों ने लिया था।[२]

[१] संसार के इतिहास में प्रायः राजनीतिक क्रांति और उत्थान के पूर्व बौद्धिक और सांस्कृतिक क्रांति पाई जाती है। मध्ययुग में राजपूतों का उदय कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। कुमारिल का यज्ञ द्वारा स्वर्गविजय और शंकर का मुक्तिसंदेश दोनों ने देश की महत्वाकांक्षा और स्वतंत्रता की भावना को बढ़ाया।

[२] देखिए—काशीप्रसाद जायसवाल : हिस्ट्री आफ् इंडिया, पृ० ५-६१।

प्राचीन क्षत्रियों के नवजागरण का काव्यमय वर्णन चंद के 'पृथ्वीराजरासो' में संक्षेपतः इस प्रकार मिलता है : जब पृथ्वी राक्षसों और म्लेच्छों से त्रस्त थी तब वसिष्ठ ने अर्बुद पर्वत पर अपने यज्ञकुंड से चार योद्धाओं को उत्पन्न किया—परमार, चालुक्य, परिहार और चाहुमान[1]। इन्हीं से चार राजवंशों की स्थापना हुई जो अग्निकुलीय कहलाए। यह कथा पीछे बहुत प्रचलित हुई। कई ऐतिहासिकों ने इस कथा की विचित्र व्याख्या की। टाड ने इस उत्पत्ति कथा को स्वीकार कर यह मत प्रतिपादित किया कि ये नवजाग्रत राजपूत विदेशी आक्रमणकारियों के वंशज थे जो यज्ञ द्वारा शुद्ध होकर हिंदू समाज में संमिलित हुए[2]। पीछे स्मिथ तथा बहुत से भारतीय ऐतिहासिकों ने इसे पकड़ लिया[3]। एक तो यह कथा बारहवीं शती की है और दूसरे उपर्युक्त सभी राजवंश अपने उत्कीर्ण लेखों में अपनी उत्पत्ति प्राचीन सूर्य अथवा चंद्रवंश से मानते हैं। यह संभव है कि विदेशी आक्रमणकारियों के वंशजों में से राजकुलीय या अभिजात अंश प्राचीन क्षत्रियों के साथ मिल गया हो। परंतु अधिकाश और मुख्य राजपूत राजवंश प्राचीन क्षत्रियों के वंशज थे, इसमें संदेह नहीं।

२. विविध राज्य

(१) सिंध—हिंदी के प्रमुख क्षेत्र के पश्चिमोत्तर में सबसे सुदूर और सीमांत राज्य सिंध का था। प्राचीन सिंधु-सौवीर का दक्षिण भाग इस नाम से मध्ययुग में प्रसिद्ध था। पूर्व मध्ययुग के प्रारंभ में पुष्यभूति वंश के सम्राट् हर्षवर्धन ने अपने दिग्विजय के समय सिंधु को अपने वश में किया[4], किंतु राजवंश का उच्छेद नहीं किया। हर्ष के समकालीन चीनी यात्री हुयेनसंग ने सिंध का भ्रमण किया था। उसके अनुसार यहाँ का राजा शूद्रवंश का था[5]। संभवतः बौद्ध होने के कारण सिंध के राजवंश को शूद्र कहा गया है। इस वंश की उपाधि 'राय' थी। इसकी राजधानी अलोर थी। अरबी लेखकों के अनुसार इस वंश के अंतिम राजा को उसके ब्राह्मण मंत्री चच ने मारकर राज्य पर अधिकार कर लिया[6]। चच ने बड़ी सफलता के साथ

[1] पृथ्वीराजरासो (ना० प्र० सभा, काशी)।

[2] दि ऐनल्स आव् राजस्थान।
इसके संपादक विलियम क्रुक ने अपनी भूमिका (पृ० ३१) में इस मत की पुष्टि की है।

[3] वी० ए० स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ् इंडिया, तृ० सं०, पृ० ३२२।

[4] डा० द० रा० भंडारकर : फारेन एलिमेंट्स इन इंडियन पापुलेशन, इंडि० ऐंटि०, २१।
'अथ पुरुषोत्तमेन सिंधुराज्यं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीकृता।', हर्ष०, पृ० १३१।

[5] वैटर्स २. २५२।

[6] चचनामा।

चालीस वर्ष तक राज्य किया और सिंध राज्य की सीमा कश्मीर तक विस्तृत की। चच के बाद उसका भाई चंद्र और तत्पश्चात् उसका पुत्र दाहिर सिंहासन पर बैठा। इसी के राज्यकाल ७६६ वि० में अरब विजेता मुहम्मद इब्न कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया। दाहिर ने अरब आक्रमणकारियों का दृढ़ता से सामना किया, किंतु राज्य में आंतरिक विद्वेष और जनता की अकर्मण्य और दुर्बल नीति के कारण पराजित हुआ। देबुल और बहमनाबाद (ब्राह्मणावास) को जीतते हुए मुहम्मद ने मुलतान तक के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। अरबों का उत्तर में संघर्ष काबुल और पंजाब के शाही वंश और पूर्व में प्रतिहारों से था। इन दो भारतीय राज्यों ने अरबों को सिंध में घेर रखा था, यद्यपि वे उनको खदेड़ न सके। अवंती और कान्यकुब्ज के प्रतिहारों की दक्षिण में मान्यखेत के राष्ट्रकूटों से शत्रुता थी। अतः अरबों और राष्ट्रकूटों में मैत्री का संबंध स्थापित हो गया। मध्ययुगीन राज्यों की अराष्ट्रीय और देशद्रोही नीति का यह एक ज्वलंत उदाहरण था। राजनीतिक विरोध होते हुए भी अरबों ने भारत से गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि शास्त्र सीखा। इसी समय पंचतंत्र का भी अरबी में भाषातर हुआ। भारतीय भाषाओं में भी संपर्क से अरबी के शब्द आने लगे और भारत का अरबी साहित्य से परिचय हुआ। गजनी में तुर्कों के उदय से सिंध का अरब राज्य महमूद गजनवी द्वारा ध्वस्त हुआ। महमूद की मृत्यु के बाद सिंध पर एक बार पुनः हिंदू राज्य स्थापित हुआ। सुम्रा और सन्मा वंशो ने चौदहवीं शती के मध्य तक राज्य किया और फिर सिंध मुसलमानों द्वारा विजित हुआ।

(२) काबुल और पंजाब—सिंध के ऊपर काबुल और पंजाब में शाही वंश का राज्य था। चौथी शती के समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभवाले लेख में पश्चिमोत्तर सीमांत में शाहानुशाही शकमुरुंडों का उल्लेख है[१] जो कुषणों (ऋषिक-तुषार) के अवशेष थे। संभवतः इन्हीं के वंशज शाही वंशवाले थे। अरब लेखक अलबरुनी इनको हिंदू तुर्क कहता है, जिससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। शाही पूर्णतः हिंदू हो गए थे और वर्णतः क्षत्रिय माने जाते थे। इन शाहियों ने सातवीं से नवीं शती तक अरबों का सामना किया। इस वंश का अंतिम राजा लगतूर्मान् था। इसको गद्दी से हटाकर इसके ब्राह्मण मंत्री कल्लर ने ब्राह्मण शाही वंश की स्थापना की[२]। इस वंश में अलबरुनी के अनुसार क्रमशः सामंद (सामंत), कमलू, भीम, जयपाल, आनंदपाल, त्रिलोचनपाल और भीमपाल नामक राजाओं ने राज्य किया। राजतरंगिणी में एक लल्लिय नामक राजा का भी उल्लेख है जो संभवतः कल्लर का ही रूपांतर है। इसने

[१] फ्लीट : गुप्त अभि०, सं० १।

[२] अलबरुनी का भारत (सखाउ), भा० २, पृ० १३।

कश्मीर के राजा शंकरवर्मन् के विरुद्ध गुर्जरों की सहायता की थी। शाहियों के सबसे बड़े शत्रु तुर्क थे। जब याकूब ने ८७०-७१ वि० में काबुल पर आक्रमण किया तब सामंत ने अपनी राजधानी उद्भांडपुर को बनाया। श्रीसामंतदेव के सिक्के काबुल और पंजाब में प्रचुर मात्रा में पाए गए थे। कश्मीर की प्रसिद्ध रानी दिद्दा भीम की लड़की की लड़की थी। कश्मीर के क्षेमगुप्त के समय में भीम का प्रभाव कश्मीर में स्पष्ट मालूम होता है, क्योंकि उसी के नाम से वहाँ भीमकेश्वर नामक शिवमंदिर बना।

पश्चिमोत्तर में तुर्कों की शक्ति बढ़ती जा रही थी। **जयपाल** को विवश होकर अपनी राजधानी पटियाला राज्य में भटिंडा (भटनगर) में हटानी पड़ी। जयपाल ने काबुल को वापस लेने के लिये तुर्कों पर आक्रमण किया परंतु असफल होकर सुबुक्तगीन द्वारा बंदी बना दिया गया और उसे हीन संधि करनी पड़ी[1]। भटिंडा लौटने पर उसने संधि की अवहेलना की और कर देना बंद कर दिया। इस कारण सुबुक्तगीन ने पंजाब पर आक्रमण किया। तुर्कों का प्रतिरोध करने के लिये जयपाल ने दिल्ली, अजमेर, कालंजर और कन्नौज के राज्यों को निमंत्रण देकर एक विशाल **सैनिक संघ** की स्थापना की और जलालाबाद के लमगान नामक स्थान पर सुबुक्तगीन का सामना किया[2]। संख्या अधिक होने पर भी आंतरिक संगठन तथा अनुशासन की एकसूत्रता के अभाव में संघ पराजित हुआ और जयपाल को हारना पड़ा। दूसरी बार वह १००१ ई० में सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद से पराजित हुआ। अत्यंत ग्लानि के कारण उसने जीते जी अपना राज्य अपने पुत्र **आनंदपाल** को सौंप दिया और स्वयं चिता पर जलकर मर गया। महमूद ने १०६५ वि० में पुनः भारत पर आक्रमण किया। आनंदपाल ने अपने पिता की भाँति हिंदू राज्यों का सैनिक संघ बनाया, किंतु उन्हीं कारणों से पराजित हुआ जिनसे उसका पिता हारा था। आनंदपाल के पुत्र **त्रिलोचनपाल** के समय (१०७१ वि०) में महमूद ने फिर पंजाब पर आक्रमण किया। उसने हिंदू राजाओं से सहायता माँगी, किंतु पर्याप्त सहायता नहीं मिली। वह लड़ता हुआ युद्ध में मारा गया और यही दशा उसके पुत्र और शाही वंश के अंतिम राजा **भीमपाल** की हुई। बर्बर, धर्मांध और नृशंस किंतु संघटित तुर्कों के सामने सभ्यता और विलासिता के बोझ से दबे और भीतर से विशृंखलित हिंदू पराजित हुए।

(३) **कश्मीर**—भाषा, लिपि, साहित्य, धर्म आदि सभी दृष्टियों से कश्मीर उत्तर-भारत का अभिन्न अंग है, फिर भी राजनीतिक दृष्टि से पश्चिमोत्तर कोने में पड़ता है

[1] इलियट : 'हिस्ट्री आफ् इंडिया, भा० २, पृ० २१।
[2] ब्रिग्स : फिरिश्ता, भा० १, पृ० १८।

और इतिहास के कतिपय कालों में उत्तरभारत की मुख्य राजनीतिक धारा से अलग रहा है। परंतु मध्ययुग के प्रारंभ में कश्मीर की राजनीतिक शक्ति प्रबल थी और तत्कालीन राजनीति में उसने भाग भी लिया। कल्हण की राजतरंगिणी और नीलमतपुराण में कश्मीर का जो इतिहास वर्णित है उसके अनुसार गोनंद, कर्कोटक, उत्पल, गुप्त और लोहर वंशों ने क्रमशः कश्मीर में शासन किया। कश्मीर का मध्ययुगीन इतिहास कर्कोटक (= नाग) वंश से प्रारंभ होता है। इस वंश का प्रथम राजा दुर्लभवर्धन हर्ष का समकालीन था और उसने उसको भगवान् बुद्ध का दाँत भेंट किया था। इसी की राजसभा में चीनी यात्री हुयेनसंग पहुँचा था। दुर्लभवर्धन के विजयों से कश्मीर का आधिपत्य सिंहपुर, उरशा (हजारा), पुंछ और राजपुर (राजौर) पर स्थापित हो गया।

आठवीं शती में चीन का प्रभाव बहुत बढ़ा हुआ था और कश्मीर भी इससे प्रभावित था। ७७७ वि० में कर्कोटक वंश के राजा **चंद्रापीड** का अभिषेक चीनी सम्राट् ने कराया था। इसके पश्चात् **ललितादित्य** मुक्तापीड (७८१–८१७ वि०) कश्मीर का राजा हुआ। इसके दिग्विजयों का विस्तृत वर्णन राजतरंगिणी में पाया जाता है। पंजाब होता हुआ कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मन् को इसने पराजित किया। पश्चिमोत्तर में इसकी अश्ववाहिनी ने वंक्षु नदी के तीर (पामीर) स्थित केसर के खेतों को रौंदा। कश्मीर के उत्तर दरदिस्तान और पूर्व में तिब्बत को जीतता हुआ बंगाल पहुँचा और गौडाधिपति को पराजित किया। कश्मीर से उसने चीनी प्रभाव को हटाया और उससे बराबरी का दौत्यसंबंध स्थापित किया। उसके समय में धर्म और कला को बहुत प्रश्रय मिला। हुष्कपुर और दूसरे स्थानों में उसने अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण कराया। भूतेश का शैवमंदिर, परिहास-केशव का वैष्णवमंदिर और मार्तंड का सौरमंदिर उसके धर्म और कलाप्रेम के नमूने हैं। ललितादित्य का पौत्र **विनयादित्य जयापीड** भी विजेता और पराक्रमी था। उसकी सभा में उव्वट, वामन और कुट्टनीमत के रचयिता दामोदरगुप्त आश्रय पाते थे।

नवीं शती में कश्मीर का राज्य कर्कोट वंश के हाथ से निकलकर **उत्पल** वंश के हाथ में आया। इस वंश का प्रथम राजा अवंतिवर्मा ९१२ वि० सिंहासन पर बैठा उसने अत्याचारी डामरों (जमीदारों) से प्रजा की रक्षा की और अपने सुयोग्य मंत्री सूय्य (सूर्य) की सहायता से नहरें निकालकर कृषि का विकास किया। उसकी सभा में ध्वन्यालोक के रचयिता आनंदवर्धन संमानित थे। अवंतिवर्मा का पुत्र **शंकरवर्मा** युद्धप्रिय था और उसने अपनी सारी समृद्धि लड़ाइयों में व्यय कर दी। देश पुनः दरिद्र हो गया। इसके बाद कश्मीर का इतिहास शोषण, अत्याचार और दरिद्रता का इतिहास है। इस वंश का अंतिम राजा **सूरवर्मन** था जिसको सिंहासन

से हटाकर ब्राह्मणों ने **गुप्तवंशी प्रभाकरदेव** को राजा बनाया। उसका पुत्र **यशस्कर** बड़ा योग्य था और देश की अवस्था का उसने सुधार किया। उसका पुत्र अपने मंत्री पर्वगुप्त द्वारा मार डाला गया जो स्वयं राजा बन बैठा। इस कुल में **क्षेमगुप्त** नामक राजा था जिसको **दिद्दा** नाम की रानी हुई। उसने पचास वर्षों तक बड़े ठाटबाट और कड़ाई के साथ शासन किया। परंतु उसका राज्यकाल भ्रष्टाचार और अत्याचार का युग था। अपने प्रेमपात्र तुंग नामक खस की सहायता से वह शासन करती रही। वह पुंछ के लोहर राजा सिंहराज की पुत्री और शाही राजा भीम की नतिनी थी। दिद्दा ने अपने जीते जी कश्मीर का राज्य अपने भाई **संग्रामराज लोहर** को सौंप दिया।

लोहरवंशी **संग्रामराज** १०६० वि० में सिंहासन पर बैठा। उसके समय में भी तुंग का प्रभाव बना रहा। तुर्कों के विरुद्ध शाही राजा त्रिलोचनपाल ने जो सैनिक संघ बनाया था उसमें तुंग संमिलित हुआ था। इसी वंश में ११४६ वि० में **हर्ष** नामक राजा हुआ। प्रारंभ में वह सैनिक योग्यता, सुशासन तथा धर्म और कला के प्रश्रय के लिये प्रसिद्ध था, परंतु पीछे लोभी और व्यभिचारी हो गया। देश-घाती नीति द्वारा उसने तुर्कों को शासन में स्थान देना शुरू किया। इसका परिणाम यह हुआ कि कश्मीर में क्रमशः तुर्कों का प्रभाव बढ़ने लगा और **१३६६** वि० में एक तुर्क सेनापति शम्सुद्दीन ने कश्मीर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। तुर्कशासन के प्रारंभिक काल में कश्मीर के शासन और साहित्य की भाषा संस्कृत बनी रही और लोकभाषा कश्मीरी का भी विकास नहीं रुका। परंतु धीरे धीरे यह स्थिति बदलने लगी और क्रमशः इस्लामी प्रभाव के कारण फारसी और अरबी का रंग वहाँ जमने लगा[1]।

(४) कान्यकुब्ज—

(क) यशोवर्मन : पुष्यभूति वंश के सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु (ल० ७०७ वि०) के बाद कान्यकुब्ज (कन्नौज) का साम्राज्य छिन्नभिन्न होने लगा और हर्ष के परवर्ती पचास वर्षों का इतिहास बिलकुल अंधकारमय है। आठवीं शती के अंतिम पाद में **यशोवर्मन** नामक राजा सहसा राजनीतिक आकाश में चमक उठा[2]। वर्मन नामांत से अनुमान किया जाता है कि वह **मौखरी वंश** का था। गौडवहो (गौडवध) नामक प्राकृत काव्य से मालूम होता है कि उसने मगध, वंग, श्रीकंठ (पूर्वी पंजाब) आदि को जीता था और उसकी दिग्विजयिनी

[1] राजतरंगिणी पर आधारित।
[2] वाक्पति : गौडवहो।

सेना देश के बड़े भूभाग पर घूम आई थी। नालंदा में प्राप्त उसके उत्कीर्ण लेख से उसके विजय और शासन के संबंध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है[1]। विजेता होने के साथ साथ वह विद्या और कला का आश्रयदाता भी था। उसकी राजसभा में उत्तररामचरित, महावीरचरित और मालतीमाधव नामक नाटकों के रचयिता भवभूति और गौडवहो के रचयिता वाक्पतिराज आदि कवि रहते थे। यशोवर्मन कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड का समकालीन था। कश्मीर और कान्यकुब्ज की सीमाएँ मिलती थीं। अतः दोनों में संघर्ष हुआ और यशोवर्मन पराजित हुआ। परंतु दोनों ने मिलकर काफी दिनों तक प्रसारवादी चीनी साम्राज्य से भारत की उत्तरी सीमा की रक्षा की थी। यशोवर्मन की मृत्यु लगभग ८०६ वि० में हुई। उसके नाममात्र के तीनो उत्तराधिकारियों के संबंध में कुछ भी महत्व की बात मालूम नहीं।

(ख) आयुध वंश : यशोवर्मन के कुल के बाद आयुध नामांत तीन—वज्रायुध, इंद्रायुध और चक्रायुध–राजाओं ने कान्यकुब्ज में शासन किया। इस समय उत्तरभारत की राजनीतिक शक्ति क्षीण हो गई थी। मालव के गुर्जर प्रतिहार, दक्षिण के राष्ट्रकूट और बंगाल के पाल शक्तियों ने उत्तरापथ पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये कड़ी प्रतियोगिता की। पहले राष्ट्रकूटों और फिर पालों का प्रभाव कान्यकुब्ज के ऊपर बढ़ा किंतु अंत में गुर्जर प्रतिहार राजा द्वितीय नागभट्ट ने कान्यकुब्ज पर अपना अधिकार जमा लिया[2]। परंतु इससे संघर्ष का अंत नहीं हुआ। प्रतिहार, राष्ट्रकूट और पालों का त्रिभुजात्मक युद्ध आगे भी चलता रहा। पालों ने पूर्व में प्रतिहारों को काफी फँसा रखा और राष्ट्रकूटों ने न केवल उनकी शक्ति को अपने युद्धों से कम किया परंतु उनके विरुद्ध अरबों की भी सहायता की।

(ग) प्रतिहार वंश : द्वितीय नागभट्ट ने जिस वंश की स्थापना कान्यकुब्ज में की वह गुर्जर प्रतिहार वंश था। इस वंश का उदय पहले गुर्जरत्रा (= दक्षिण-पश्चिम राजस्थान) में हुआ था, अतः यह गुर्जर प्रतिहार कहलाया। छठी शती के प्रारंभ में एक महत्वाकांक्षी ब्राह्मण हरिश्चंद्र ने प्रतिहारवंशी क्षत्रिय कन्या भद्रा से विवाह किया। उस समय की धर्मशास्त्र-व्यवस्था के अनुसार संतान मातृवर्ण की होती थी। इसलिये भद्रा के पुत्रों द्वारा प्रतिहार राजवंश की परंपरा चली[3]। इस वंश ने उत्तर मांडव्यपुर पर अधिकार जमाकर एक ओर पुष्यभूतिवंश के प्रसार को रोका और दक्षिण-पूर्व में पूरे आधुनिक गुजरात, लाट और मालव पर

[1] एपि० इंडि०, जि० २०।

[2] वही, जि० १८, पृ० २४५-५३, श्लोक २३।

[3] बाउक की जोधपुर-प्रशस्ति, एपि० इंडि०, जि० १८, लेख १२।

आधिपत्य स्थापित किया। मालव में इसी वंश का वत्सराज नामक प्रसिद्ध राजा हुआ[१]। प्रतिहारों ने पश्चिम में अरबों को सिंध के भीतर ही सीमित रखा और उनसे देश और धर्म की रक्षा करके प्रतिहार (ड्योढ़ीदार) नाम सार्थक किया। इसके बाद प्रतिहारों ने मध्यप्रदेश की राजनीति में भाग लेना शुरू किया। इसी वंश के राजा द्वितीय नागभट्ट ने आठवीं शती वि० के मध्य में आयुध वंश के अंतिम राजा चक्रायुध के समय में कान्यकुब्ज (महोदयश्री) को अपने अधिकार में कर लिया और उत्तरभारत का सम्राट् बन बैठा। उसके ग्वालियर अभिलेख से यह जान पड़ता है कि उसने काठियावाड़, पश्चिमी मालवा, कौशांबी और हिमालय प्रदेश के किरातों को जीता और सिंध में अरबों को परास्त किया[२]।

नागभट्ट का पुत्र रामभद्र हुआ। यह बहुत ही सज्जन किंतु दुर्बल था और इसके समय में प्रतिहार साम्राज्य के कई प्रदेश स्वतंत्र हो गए। इसका पुत्र मिहिर-भोज अत्यंत विजयी और प्रतापी हुआ[३]। उसने पुनः संपूर्ण मध्यदेश, मालवा, गुर्जरत्रा, सौराष्ट्र, चेदि आदि पर अधिकार किया। इसके समय में एक बार फिर प्रतिहारों का बंगाल के पालवंश (देवपाल) तथा दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश (द्वितीय कृष्ण) से पारस्परिक शक्ति की परीक्षा के लिये युद्ध हुआ। कई जय-पराजय के बाद भी भोज ने अपना साम्राज्य अक्षुण्ण रखा और बड़ी सफलता से शासन किया। ९०८ वि० में अरब यात्री सुलेमान उसके राज्य की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि उसका राज्य बहुत ही सुरक्षित और चोर डाकुओं से मुक्त था। वह उसकी समृद्धि का वर्णन करता है और लिखता है कि प्रतिहार इस्लाम के सबसे बड़े शत्रु थे[४]। भोज ९४२ वि० तक शासन करता रहा। इसके बाद उसका पुत्र प्रथम महेंद्रपाल (निर्भयराज) सिंहासन पर बैठा। वह अपने पिता के समान ही विजयी तथा प्रतापी था। गौड़ों से मगध और उत्तरी बंगाल उसने छीन लिया। सौराष्ट्र से उत्तरी बंगाल तक उसका साम्राज्य सुरक्षित था। केवल पश्चिमोत्तर में कश्मीर से संघर्ष के कारण भोज के जीते हुए ठक्किय कुल के कुछ प्रदेश निकल गए। महेंद्रपाल कवियों और साहित्यकारों का आश्रयदाता था। प्रसिद्ध कवि, नाटककार और काव्यमीमांसा के रचयिता राजशेखर उसकी राजसभा में रहते थे

[१] जैन हरिवंश, खं० १, भा० २, पृ० १९७।

[२] मिहिरभोज की ग्वालियर-प्रशस्ति, एपि० इंडि०, जि० १८, पृ० १०८, ११२, श्लोक ११।

[३] एपि० इंडि०, जि० १९, पृ० १५-१९।

[४] इलियट : हिस्ट्री आफ् इंडिया, जि० १, पृ० ५।

जिन्होंने कर्पूरमंजरी, बालरामायण, बालमहाभारत, काव्यमीमांसा आदि ग्रंथों की रचना की। यह लगभग ६६७ वि० तक शासन करता रहा।

महेंद्रपाल के पश्चात् प्रतिहारों के घरेलू संघर्ष प्रारंभ हुए। राज्याधिकार के लिये राजकुमारों में युद्ध होने लगे। जेजाकभुक्ति के चंदेल, जो अभी तक प्रतिहारों के सामंत थे, कान्यकुब्ज की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। दूर के प्रदेशों में विकेंद्रीकरण की भावना जाग्रत हो उठी। क्रमशः महीपाल, महेंद्रपाल, देवपाल, विजयपाल और राज्यपाल ने कान्यकुब्ज साम्राज्य पर शासन किया। प्रतिहारों की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती गई। अंतिम राजा **राज्यपाल** के समय में गजनी के तुर्कों ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। जब काबुल और पंजाब के शाहियों ने सुबुक्तगीन के विरुद्ध १०४८ और १०६५ वि० में सैनिक संघ बनाया तो राज्यपाल ने भी भारत की रक्षा के लिये अपनी सेना संघ में भेजी थी[1]। हिंदू दोनों बार पराजित हुए। पश्चिमोत्तर में भारत का द्वार शत्रुओं के लिये खुल गया। सबुक्तगीन के पुत्र महमूद ने १०७५ वि० में कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया। राज्यपाल ने हताश होकर उससे संधि करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इससे चंदेल राजा गंड अत्यंत क्षुब्ध हुआ और अपने पुत्र विद्याधर को राज्यपाल को दंडित करने के लिये भेजा। युद्ध में राज्यपाल मारा गया और उसका पुत्र **त्रिलोचनपाल** राजा बनाया गया। वास्तव में अब युद्ध तुर्कों और चंदेलों में था। महमूद फिर शीघ्र कान्यकुब्ज पर चढ़ आया और त्रिलोचनपाल को हटाकर यशपाल को राजा बनाया जो १०६३ वि० तक किसी प्रकार शासन करता रहा। इसके बाद प्रतिहार वंश का अंत हो गया।

(घ) गहडवाल वंश : प्रतिहार साम्राज्य के पतन से उत्तरभारत फिर कई खंडों में विभक्त हो गया। अन्हिलवाड़ में सोलंकी (चालुक्य), मालवा में परमार, जेजाकभुक्ति (बुंदेलखंड) में चंदेल, गोपाद्रि (ग्वालियर) में कच्छपघात, डाहल (त्रिपुरी) में चेदि (कलचुरि), मेदपाट (मेवाड़ = दक्षिणी राजस्थान) में गुहलोत तथा शाकंभरी (अजमेर) में चाहुमान आदि स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। कान्यकुब्ज का भाग्य १०८७ से ११३७ वि० तक दोलायमान था और इसपर अनेक आक्रमण हुए। उत्तरापथ में मात्स्यन्याय और अराजकता फैली हुई थी। चेदिराज गांगेयदेव और कर्ण तथा परमार राजा भोज के अनेक आक्रमण उत्तरभारत पर हुए। पंजाब के तुर्क शासक नियाल्तगीन ने काशी तक धावा मारा। इस परिस्थिति में वर्तमान विंध्याचल के समीपवर्ती गिरिगह्वरों में संरक्षित चंद्रवंशी ययाति कुल के एक वीर क्षत्रिय **चंद्रदेव** ने वाराणसी में गहडवाल वंश की स्थापना की। इस बीच में किसी

[1] ब्रिग्स : फिरिश्ता, जि० १, पृ० १८–४६।

राष्ट्रकूटवंशी गोपाल ने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया था। चंद्रदेव ने गोपाल को पराजित कर कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया और अपने राज्य को इंद्रप्रस्थ (दिल्ली) से भी आगे बढ़ाया[१]। अपने अभिलेख में वह सम्राट् के विरुद से अलंकृत है और काशी, साकेत (अयोध्या), कान्यकुब्ज और इंद्रस्थान (दिल्ली) का त्राता कहा गया है[२]। उसने पूर्व में पालों और पश्चिम में तुर्कों को उत्तरभारत में बढ़ने से रोका। इस समय तुर्कों से भारत का संरक्षण ही सबसे बड़ा काम था। लगभग ११५७ वि० में चंद्रदेव का पुत्र **मदनपाल** गद्दी पर बैठा। उसके समय में कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना नहीं हुई। परंतु वह विद्या और कला का प्रश्रयदाता था। उसने स्वयं वैद्यक शास्त्र पर मदननिघंटु नामक ग्रंथ लिखा।

मदनपाल का पुत्र **गोविंदचंद्र** इस वंश का सर्वप्रसिद्ध राजा हुआ। युवराजावस्था से ही इसकी प्रतिभा का परिचय मिल गया था। इसने गजनी के सुलतान मंसूर (तृतीय) के सेनापति तुगातिकिन को पंजाब में ही पराजित कर तुर्कों से उत्तरभारत की रक्षा की। वह बड़ा ही योग्य शासक और विजेता था। उसकी बौद्ध रानी कुमारदेवी के सारनाथ-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसका वैवाहिक तथा राजनीतिक संबंध अंग, बंगाल तथा आंध्र आदि दूर दक्षिण के प्रदेशों से भी था; वह तुर्कों से भारत के पवित्र तीर्थों की रक्षा करने के लिये 'शिव का विष्णु-अवतार माना जाता था[3]। उसके समय में विद्या और कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला। गोविंदचंद्र का साधिविग्रहिक (संधि और विग्रह से संबंध रखनेवाला परराष्ट्र-विभाग-मंत्री) लक्ष्मीधर था। उसने कृत्य-कल्पतरु नामक एक बृहत् ग्रंथ की रचना की। उसके एक खंड व्यवहार-कल्पतरु से तत्कालीन न्यायव्यवस्था का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है। गोविंदचंद्र का पुत्र **विजयचंद्र** १२११ वि० के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने साम्राज्य और तुर्कविरोधी नीति की रक्षा की। लाहौर के खुसरो मलिक अथवा उसके पुत्र के नेतृत्व में बढ़ती हुई तुर्क सेना को उसने पराजित कर पश्चिम में ही रोका[४]। पृथ्वीराजरासो में उसकी विजयों का कियदंश में कल्पित तथा अतिरंजित वर्णन है जिसपर विश्वास करना कठिन है। जान पड़ता है कि इसी समय गहड़वालों और चाहुमानों में परस्पर युद्ध प्रारंभ हुआ। चाहुमान राजा विग्रहराज बीसलदेव

१ गाधिपुराधिप गोपाल का सहेत-महेत-अभिलेख, इंडि० ऐंटि०, जिल्द १७, पृ० ६१–६४; वही, जि० २४, पृ० १७६।

२ इंडि० ऐंटि०, जि० १५, पृ० ७–८।

३ एपि० इंडि० जि० ९, पृ० ३१९।

४ भुवनदलन-हेला-हर्म्य-हम्मीर-नारीनयनजलदधारा-धौत-भूलोक-तापः। इंडि० ऐंटि०, जि० १५, पृ० ७, ९, श्लोक ९।

के दिल्ली अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने गहडवालों से इंद्रस्थान (दिल्ली) छीन लिया और उत्तर में हिमालय तक अपना राज्य फैलाया[1]।

विजयचंद्र का पुत्र जयचंद्र भी बड़ा योग्य और विजेता था। पृथ्वीराज-रासो में उसके विजयों और राजसूय यज्ञ का वर्णन मिलता है। इसमें अतिरंजन और कई ऐतिहासिक भूलें हैं किंतु इसको बिल्कुल निराधार नहीं कहा जा सकता। इसके पास विशाल सेना थी जिसके कारण इसकी उपाधि 'दलपंगु' थी। वह बहुत बड़ा दानी और विद्या तथा कला का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में संस्कृत के महाकवि श्रीहर्ष रहते थे जिन्होंने नैषधचरित नामक महाकाव्य तथा 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक दार्शनिक ग्रंथ की रचना की। उसके आश्रित चंदबरदाई नामक कवि द्वारा विरचित पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता अभी तक विवादग्रस्त है किंतु उसकी मूल ऐतिहासिक कथा को निर्मूल नहीं सिद्ध किया जा सकता। जयचंद्र के अश्वमेध यज्ञ और संयुक्ताहरण में कितना ऐतिहासिक सत्य है, कहा नहीं जा सकता। किंतु इतना तो अवश्य सत्य है कि गहडवालो तथा चाहुमानों में घोर संघर्ष था और पश्चिमोत्तर से आनेवाली मुसलमानों की सैनिक आँधी को भी देखकर यह कम नहीं हुआ। जयचंद्र ने शहाबुद्दीन गोरी को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया, इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है। परंतु यह सच है कि मुसलमानों के विरुद्ध उसने पृथ्वीराज की सहायता नहीं की। १२५० वि० में पृथ्वीराज चाहुमान को पराजित कर १२५१ वि० में शहाबुद्दीन गोरी ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया। यदि जयचंद्र ने पृथ्वीराज की सहायता की होती तो संभवतः यह आक्रमण नहीं होता। जयचंद्र ने चंदवा और इटावा के रणक्षेत्रों में शहाबुद्दीन का सामना वीरता से किया परंतु अंत में पराजित हो मारा गया। अफगान-तुर्क सेना ने महोदयश्री कान्यकुब्ज का घोर विध्वंस किया। शहाबुद्दीन ने जयचंद्र के पुत्र हरिश्चंद्र को कन्नौज का राजा बनाया किंतु कुछ समय के बाद कान्यकुब्ज में गहडवालों का अंत हो गया। उत्तरापथ की राजधानी तुर्कों के हाथ में चली गई—क्षत, विक्षत और विध्वस्त।

(५) **उज्जयिनी का परमार वंश :** दशवीं शती के पूर्वार्ध में जब प्रतिहारों की शक्ति शिथिल होने लगी, मालवा में परमार वंश का उदय हुआ। प्रतिहारों की तरह परमारों की गणना भी अग्निकुल में की गई है। हरसोला में प्राप्त अभिलेख के आधार पर कुछ विद्वान् परमारों को राष्ट्रकूट वंश का मानते हैं।[2] मालवा की

[1] अभिलेख : ज० ए० सो० बं०, १८८६, जि० ५५, भा० १, पृ० ४२, श्लोक २२।

[2] हरसोला (अहमदाबाद) अभिलेख, एपि० इंडि०, जि० १९, पृ० २३६-४४।

परंपरा में परमार विक्रमादित्य (मालव) के वंशज माने जाते हैं। उत्पत्ति चाहे जो हो, परमार वंश पहले प्रतिहारों का सामंत था जो अवसर पाकर स्वतंत्र हो गया। अन्य समकालीन राजवंशों की तरह वह तुरुष्कों (तुर्कों) से देश और धर्म की रक्षा करने के लिये कटिबद्ध था। सीयक हर्ष ने १००७ वि० के लगभग परमार वंश की स्थापना की। इसने ह्रासोन्मुख प्रतिहार साम्राज्य के मालवा प्रांत को अपने अधीन किया और दक्षिण में राष्ट्रकूटों से युद्ध कर उन्हें दबा रखा। उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने खोट्टिग (राष्ट्रकूट) की लक्ष्मी का अपहरण किया था।[1] उसने राजस्थान के हूणवंश को भी पराजित किया। लगभग १०२६ वि० में इसका देहांत हुआ। उसके बाद उसका पुत्र वाक्पति मुंज सिंहासन पर बैठा। वह प्रसिद्ध विजेता और विद्वान् था। उदयपुर-प्रशस्ति के अनुसार उसने लाट, कर्णाट, चोल तथा केरल पर विजय प्राप्त किया।[2] त्रिपुरी के राजा द्वितीय युवराज को हराया और कल्याणी के चालुक्य राजा तैलप को कई बार परास्त किया। अंतिम बार तैलप के साथ युद्ध में हारकर बंदी हुआ। साहित्यिक परंपरा के अनुसार कारागृह में रहते हुए तैलप की बहन से उसका प्रेमसंबंध हो गया और निकल भागने के प्रयत्न में मारा गया[3]। मुंज ने कई सुंदर भवनों और सागरों (झीलों) का निर्माण कराया। माडो में आज भी उसकी कृतियों के अवशेष हैं। उसके प्रश्रय में नवसाहसांकचरित के रचयिता पद्मगुप्त, दशरूपक के रचयिता धनंजय, दशरूपावलोक के लेखक धनिक, अभिधान-रत्नमाला तथा मृतसंजीवनी के लेखक भट्ट हलायुध रहते थे। मुंज के पश्चात् उसका भाई सिंधुल (सिंधुराज) उज्जयिनी की गद्दी पर बैठा। इसका विरुद नवसाहसांक था। इसी को लेकर पद्मगुप्त ने नवसाहसांकचरित की रचना की। इसके अनुसार सिंधुराज ने हूणों, चेदियों, चालुक्यों (लाट और कल्याणी) को परास्त किया। सिंधुराज का शासन-काल बहुत ही संक्षिप्त था।

परमार वंश का सबसे बड़ा विजेता, शक्तिशाली और यशस्वी राजा भोज हुआ। यह सिंधुराज का पुत्र था और उसकी मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठा। मेरुतुंगरचित प्रबंधचिंतामणि के अनुसार मुंज के बाद ही भोज सिंहासनारूढ़ हुआ। परंतु अभिलेखों तथा नवसाहसांकचरित का साक्ष्य इसके विरुद्ध है। उसके विजयों की लंबी कथा है। उसने गद्दी पर बैठते ही कल्याणी के चालुक्यों पर आक्रमण कर मुंज की मृत्यु का बदला लिया। उसने चालुक्य राजा पंचम विक्रमादित्य को पराजित कर मार डाला। इससे चालुक्य त्रस्त हुए किंतु दक्षिणापथ

[1] एपि० इंडि०, जि०१, पृ० २३५-२३७, श्लोक १२।

[2] वही पृ० २३६।

[3] मेरुतुंग : प्रबंधचिंतामणि।

उसके अधिकार में नहीं आया। उदयपुर प्रशस्ति में उसके विजयों का विस्तृत वर्णन है। उसमें लिखा है कि कैलास (हिमालय) और मलय के बीच की संपूर्ण भूमि उसके साम्राज्य में थी[१]। उसने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और उसकी सेना काशी, पश्चिमी बिहार होते हुए तीरभुक्ति (तिरहुत) तक पहुँची। उत्तरभारत के तुरुष्कों (= अरबों) तथा कन्नौज के अधिपति और लाहौर के तुरुष्कों को भी उसने परास्त किया। चंदेलों, कच्छपघातों, सोलंकियों, चेदियों से उसके कई सफल युद्ध हुए, यद्यपि चालुक्यों तथा सोलंकियों के हाथ एक बार वह स्वयं भी परास्त हुआ। उसके विजयों का आतंक सारे भारत पर छाया हुआ था और वह सार्वभौम कहलाता था। इसी युद्धचक्र में वह स्वयं फँस गया और मारा गया। एक बार जब वह निश्चिंत अपनी राजधानी धारा में पड़ा हुआ था उसके सहज शत्रु अन्हिलवाड़ के भीम (प्रथम) तथा त्रिपुरी के लक्ष्मीकर्ण ने एक साथ ही उसपर आक्रमण किया। भोज पराजित हुआ और मारा गया। धारा ध्वस्त और श्रीहत हुई।

भोज स्वयं प्रकांड विद्वान् और विद्या तथा कला का आश्रयदाता था। वह कविराज पदवी से विभूषित था। उसने साहित्य, अलंकार, व्याकरण, कोष, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि सभी विषयों पर ग्रंथ लिखे। इसमें सरस्वती-कंठाभरण, शृंगारतिलक, शब्दानुशासन, समरांगणसूत्रधार, व्यवहारसमुच्चय, युक्तिकल्पतरु, आयुर्वेदसर्वस्व, राममृगांक आदि प्रसिद्ध हैं। धारानगरी में भोज ने भोजशाला नामक एक विशाल महाविद्यालय की स्थापना की थी जिसकी दीवालों पर संस्कृत के ग्रंथ अंकित थे। आज इसके स्थान पर मालवा के खिल्जी सुल्तानों द्वारा निर्मित मसजिद खड़ी है। भोज के राज्यकाल में संस्कृत का बहुत प्रचार हुआ। कथाओं के अनुसार जुलाहे आदि सामान्य व्यवसाय के लोग भी संस्कृत बोल सकते थे[२]। भोज के मारे जाने पर यह कहा गया—

'अद्य धारा निराधारा निरालंबा सरस्वती।
पंडिता खंडिता सर्वे भोजराजे दिवंगते॥[३]'

भोज भवनों का बहुत बड़ा निर्माता भी था। उसने उज्जयिनी, धारा और भोजपुर को सुंदर भवनों और मंदिरों से सुशोभित किया। उसने भोजसागर नामक

१ एपि० इंडि०, जि० १, पृ० २३७-३८।

२ एक तंतुवाय ने भोज की राजसभा में कहा, 'कवयामि, वयामि, यामि' (मैं कविता करूँ, कपड़े बुनूँ या जाऊँ)।

३ 'आज भोजराज के दिवंगत होने पर धारानगरी आधारहीन, सरस्वती अवलंबरहित और सभी पंडित खंडित हैं।'

बहुत बड़ी झील, सिंचाई, मृगया, तथा जलविहार के लिये बनवाई। पंद्रहवीं शती में मांडो के सुल्तान होसंगशाह ने इसे तुड़वा दिया।

भोज के पश्चात् परमार वंश शक्तिहीन तथा श्रीहत हो गया। उसके उत्तराधिकारी जयसिंह ने कल्याणी के चालुक्य राजा प्रथम सोमेश्वर की सहायता से भीम तथा लक्ष्मीकर्ण की सेनाओं को मार भगाया। उसने ११११ वि० से १११७ वि० तक शासन किया। इसके बाद उदयादित्य[1] ने अपने वंश की राजलक्ष्मी के उद्धार का प्रयत्न किया और युद्ध में लक्ष्मीकर्ण को पराजित किया। परंतु अंदर से परमारों की शक्ति इतनी क्षीण हो चुकी थी कि वे खड़े नहीं हो सकते थे। ११४५ वि० में उदयादित्य का देहांत हो गया। इसके बाद इस वंश में कई दुर्बल शासक हुए। १३६२ वि० में अलाउद्दीन के सेनापति ने मालवा जीत लिया और परमार वंश का अंत हो गया।

(६) **त्रिपुरी का कलचुरी वंश**—इस वंश के अभिलेखों में कलचुरी राजाओं को हैहयवंशी कहा गया है। प्राचीन काल में इसी प्रदेश के आसपास नर्मदा के किनारे माहिष्मती हैहयों की राजधानी थी। इसलिये यह परंपरा ठीक जान पड़ती है। इनको चेदिकुलीय भी कहा गया है, क्योंकि इनका राज्य प्राचीन चेदिदेश पर भी था। नवीं शती के मध्य में डाहल (जबलपुर) के पास त्रिपुरी में **कोकल्ल** (प्रथम) ने इस वंश की स्थापना की। थोड़े ही समय में वह इतना प्रबल हो गया कि समकालीन राजा उसकी सहायता को आवश्यक समझने लगे। वैवाहिक संबंधों से भी उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। उसकी रानी नट्टदेवी चंदेल राजा की कन्या थी। उसकी लड़की राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (द्वितीय) को ब्याही गई थी। उत्तर में प्रतिहारों के घरेलू झगड़ों में वह हस्तक्षेप करने लगा और द्वितीय भोज को उसके भाई महीपाल के विरुद्ध सहायता दी। वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (द्वितीय) को सहायता पहुँचाई[2]। उसके सफल युद्धों और विजयों से आसपास के राज्य त्रस्त रहते थे। कोकल्ल के बाद लगभग १०७६ वि० में **गांगेयदेव** इस वंश में राजा हुआ। वह प्रसिद्ध विजेता था। महोबा के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने उत्तर में कीर (काँगड़ा) तक आक्रमण किया और प्रयाग तथा वाराणसी पर अधिकार कर लिया[3]। मुसलिम इतिहासकार अलबैहाकी के लेख से मालूम होता है कि जिस समय लाहौर के सूबेदार नियाल्तगीन ने बनारस पर आक्रमण किया उस समय वह नगर गंग (गांगेयदेव) के अधीन था। अभिलेखों से विदित है कि गांगेयदेव

[1] एपि० इंडि०, जि० २, पृ० १८०–१९५।

[2] बनारस ताम्रपट्ट, एपि० इंडि०, जि० १, पृ० २५६, २६४।

[3] महोबा-अभिलेख, वही, पृ० २१९, २२२, पंक्ति १४।

ने उत्कल (उड़ीसा) तथा कुंतल (कनड़) के राजाओं को पराजित किया और तीरभुक्ति (तिरहुत) पर अधिकार जमाया। इन विजयों के कारण उसे विक्रमादित्य की उपाधि मिली[1]। जीवन के अंतिम समय में उसे भोज परमार से पराजित होना पड़ा। उसका देहांत १०९८ वि० के आसपास हुआ।

गांगेय के बाद उसका पुत्र **कर्ण** अथवा **लक्ष्मीकर्ण** इस वंश का सर्वशक्तिमान् राजा हुआ। ११२६ वि० तक उसने सफलता के साथ शासन किया। उसने हूण राजकुमारी आवल्लदेवी के साथ विवाह किया। उत्तरभारत में हिमालय तक उसकी सेनाएँ पहुँचती थीं। काशी उसके अधिकार में बनी रही जहाँ पर उसने कर्णमेरु शिव का मंदिर बनवाया[2]। काशी में आज भी कर्णघंटा उसके प्रताप का स्मरण दिलाता है। उत्तर में काँगड़ा से लेकर बंगाल तक उसकी धाक थी। दक्षिण में चोल और पांड्य तक उसका लोहा मानते थे। गहड़वालों के हाथ में पृथ्वी के जाने के पूर्व उसके शासकों में भोज के साथ लक्ष्मीकर्ण का भी उल्लेख है[3]। जीवन के अंतिम वर्षों में कर्ण को कई हारें खानी पड़ी थीं सोलंकी भीम (प्रथम), चालुक्य सोमेश्वर तथा कीर्तिवर्मन् चंदेल ने उसे अलग अलग पराजित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने अपने पुत्र यशःकर्ण को राज्य सौंपकर संन्यास ले लिया। यद्यपि प्रारंभ में उसने चंपारण्य और दक्षिण के चालुक्यों पर सफल आक्रमण किया, किंतु इसके समय से कलचुरियों का ह्रास शुरू हो गया। आसपास के राजाओं ने क्रमशः इसे पराजित किया। उत्तरभारत में गहड़वालों के उदय से कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी सभी कलचुरियों के हाथ से निकल गए। ११७७ वि० के लगभग यशःकर्ण का पुत्र **गयाकर्ण** सिंहासन पर बैठा। इसके समय में सभी अधीन राज्य स्वतंत्र हो गए और थोड़े ही समय में कलचुरियों का प्रतापसूर्य अस्त हो गया।

(७) शाकंभरी और दिल्ली के चाहमान (चौहान)—अर्बुद (आबू) के अग्निकुंड से उत्पन्न चार क्षत्रिय राजवंशों में चाहमान वंश एक है। अग्निकुंड की व्याख्या कतिपय इतिहासकार बाहर से आई हुई जातियों की शुद्धि के रूप में करते हैं। परंतु वास्तव में अरब और तुर्क आक्रमण के पूर्व अपने देश और धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रिय राजवंशों के दृढ़ संकल्प की यह कहानी है। पृथ्वीराजविजय तथा हम्मीर महाकाव्य दोनों में

[1] वही।
[2] एपि० इंडि०, जि० २, पृ० ४-६, श्लोक १३।
[3] बसही-अभिलेख, इंडि० ऐंटि०, जि० १४, पृ० १०३, पंक्ति २।

चाहुमानों को सूर्यवंशी माना गया है। मध्ययुग में इस वंश के ऐतिहासिक पुरुष वासुदेव थे। दूसरे परवर्ती राजा गुवक (ल० १०३० वि०) प्रतिहारवंशी राजा द्वितीय नागभट्ट के समकालीन तथा सामंत थे।[1] बारहवीं शती से इस वंश का इतिहास स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसी समय अजयराज ने अजयमेरु (अजमेर) नामक नगर बसाकर उसको राजधानी बनाया। १२१० वि० के लगभग चतुर्थ विग्रहराज (बीसलदेव) सिंहासन पर बैठा। यह बड़ा विजेता और शक्तिशाली था। बिजौलिया-अभिलेख से ज्ञात होता है कि गहड़वालों से इसने दिल्ली छीनकर उत्तर में हिमालय तक अपने राज्य का विस्तार किया। तुर्कों की बढ़ती हुई शक्ति को इसने पश्चिमी पंजाब तक सीमित रखा[2]। विग्रहराज स्वयं विद्वान् तथा कवियों और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसने अजमेर में एक विशाल विद्यालय की स्थापना की जिसको तोड़कर तुर्कों ने 'ढाई दिन का झोपड़ा' नामक मसजिद बनाई। विग्रहराज द्वारा रचित हरकेलिनाटक नामक ग्रंथ का एक भाग उपर्युक्त मसजिद की दीवार में लगे हुए एक पत्थर पर अंकित मिला है। उसके राजकवि द्वारा लिखित ललितविग्रहराज नाटक का एक भाग भी इसी प्रकार उपलब्ध हुआ है। १२२१ वि० के लगभग विग्रहराज का देहांत हुआ।

इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा तृतीय पृथ्वीराज हुआ जिसका शासन-काल १२३६ से १२५० वि० तक था। पृथ्वीराज का वीरचरित 'पृथ्वीराजविजय' और 'पृथ्वीराजरासो' नामक महाकाव्य में वर्णित है। प्रथम ग्रंथ संस्कृत में है। इसका रचयिता जयानक था। इसमें अधिक अतिरंजित और असंभव वर्णन नहीं हैं। दूसरा ग्रंथ उसके राजकवि तथा मित्र चंद्र (चंद बरदाई) का लिखा हुआ है। यह अपभ्रंशमिश्रित हिंदी में है। लोकप्रिय और विकसनशील होने के कारण इसमें पीछे से काफी मिश्रण हुआ। इससे बहुत से विद्वान् इसकी ऐतिहासिकता में ही अविश्वास करते हैं। परंतु ऐसा करना 'रासो' के साथ अन्याय है। वर्णित सामग्री में से ऐतिहासिक, काव्योचित तथा कल्पित को अलग अलग किया जा सकता है। यह सच है कि इस ग्रंथ में अतिरंजन अधिक है और बड़ी सावधानी से इसके तथ्यों को ग्रहण करना चाहिए।

पृथ्वीराज के जीवन में वीर और शृंगार का प्रचुर मिश्रण था। वह बड़ा युद्धप्रिय और विजेता था। जेजाकभुक्ति (बुंदेलखंड) के चंदेलों से उसका बराबर संघर्ष चलता रहा। उसका समकालीन चंदेल राजा परमर्दि था। पृथ्वी-

[1] हर्ष-प्रस्तर-अभिलेख, एपि० इंडि०, जि० २, पृ० ११६-३०।

[2] इंडि० ऐंटि०, जि० १६, पृ० २१६; ज० ए० सो० बं०, जि० ५५, भा० १ (१८८६), पृ० ४२।

राज ने उसकी नई राजधानी महोबा पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद उसने अन्हिलवाड़ के सोलंकी राजा द्वितीय भीम को हराया। 'रासो' में पृथ्वीराज के अनेक युद्धों का वर्णन है जिनके कारणों में राज्यलोभ से अधिक नायिका-अपहरण का ही उल्लेख है। कान्यकुब्ज के गहडवालों से चाहुमानों का संघर्ष चतुर्थ विग्रहराज के समय में ही प्रारंभ हो गया था। यह बढ़ता गया। सबसे अंतिम और भयानक संघर्ष कान्यकुब्ज के राजा जयचंद्र की कन्या संयुक्ता के स्वयंवर में पृथ्वीराज द्वारा उसके अपहरण से हुआ। दोनों राज्यों के पारस्परिक संघर्ष से भारत का बहुत बड़ा सैनिक ह्रास हुआ। इसी समय शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर आक्रमण किया और सिंधु पार कर पंजाब होता हुआ दिल्ली के निकट पहुँच गया। पृथ्वीराज विलास और मृगया में व्यस्त था। आक्रमण के समाचार से उसका शौर्य जगा। १२४८ वि० में तलावड़ी के मैदान में उसने शहाबुद्दीन का सामना किया। राजपूतों में शूरता की कमी नहीं थी। उन्होंने बड़े वेग से अफगान सेना पर प्रहार किया और उनकी हरावल को तितर-बितर कर दिया। शहाबुद्दीन हारकर भागा और सिंधु के उस पार विश्राम लिया[1]। पृथ्वीराज की भूल यह थी कि उसने शहाबुद्दीन का पूरा पीछा नहीं किया और मुसलिम सत्ता को पश्चिमी पंजाब में सुरक्षित छोड़ दिया। शहाबुद्दीन अपनी धुन का पक्का था। दूनी तैयारी के साथ १२५० वि० में उसने पुनः भारत पर आक्रमण किया। इधर पृथ्वीराज विलास और युद्ध में अपनी शक्ति नष्ट कर रहा था। विदेशी शत्रु से युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर उसने उत्तरभारत के राजाओं को निमंत्रण दिया और परंपरागत सैनिक संघ बनाया[2]। राजपूतों की विशाल सेना लेकर वह फिर तलावड़ी के रणक्षेत्र में पहुँचा। राजपूतों ने पुनः अफगानों के छक्के अपने रणकौशल से छुड़ाया और ऐसा लगा कि अफगान फिर हारकर भाग जायँगे। परंतु शहाबुद्दीन की रणनीति ने उनको सँभाल लिया। राजपूत अपने संभावित विजयोन्माद में अपनी पंक्तियाँ तोड़कर अफगानों का पीछा करने लगे। शहाबुद्दीन ने अपनी व्यूहबद्ध सेना को उलटकर आक्रमण करने की आज्ञा दी। बिखरी हुई राजपूत सेना उसके सामने ठहर नहीं पाई और ध्वस्त होने लगी। संध्या होते होते रणभूमि राजपूतों की लाशों से भर गई और वे पराजित हुए। पृथ्वीराज हाथी से उतरकर घोड़े पर भागा किंतु सरस्वती नदी के किनारे पकड़ा गया और मारा गया। पृथ्वीराजरासो के अनुसार वह बंदी होकर गजनी पहुँचाया गया जहाँ शब्दभेदी बाण से शहाबुद्दीन को मारकर अपने मित्र चंद्र

[1] ब्रिग्स : फिरिश्ता, भा० १, पृ० १७२।

[2] वही, पृ० १७५; पृथ्वीराजरासो।

के द्वारा स्वेच्छा से मृत हुआ अथवा मारा गया[१]। जो भी हो, चाहमानों का पराजय हुआ और अजमेर-दिल्ली पर मुसलिम सत्ता का आधिपत्य स्थापित हो गया। शहाबुद्दीन ने कुछ दिनों के लिये पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज को अजमेर की गद्दी पर बैठाया। पृथ्वीराज के भाई हरिराज को मुसलिम आधिपत्य स्वीकार नहीं हुआ। उसने गोविंदराज को रणथंभौर भगाकर अजमेर अपने अधिकार में कर लिया। इसपर शहाबुद्दीन के सेनापति कुतुबुद्दीन ने अजमेर पर पुनः आक्रमण करके हरिराज को हराया और अजमेर को स्थायी रूप से मुसलिम सत्ता के अधीन किया। चाहमानों की हार का परिणाम यह हुआ कि उत्तरभारत में मुसलिम सत्ता को रोकने का प्रबल बाँध—अजमेर से हिमालय तक विस्तृत—टूट गया और उसको आगे बढ़ने में सरलता हो गई। पृथ्वीराज के साथ ही हिंदुओं का अंतिम साम्राज्य लुप्त हो गया।

(८) **जेजाकभुक्ति का चंदेल वंश**—इस वंश के अभिलेखों और परंपरा से यह मालूम होता है कि इसकी उत्पत्ति प्राचीन चंद्रवंश से हुई थी। प्राचीन चेदि राज्य के अंतर्गत ही जेजाकभुक्ति स्थित था, अतः चंद्रवंश से उत्पत्ति की परंपरा बहुत संभव जान पड़ती है। त्रिपुरी के चेदिवंश और वाराणसी के गहड़वालों से भी इस वंश का निकटतम संबंध था। वी० ए० स्मिथ का यह मत कि चंदेलो की उत्पत्ति गोंड और भरों से हुई थी नितांत असंगत है[२]। नवीं शती के मध्य में इस वंश की स्थापना **नन्नुक** के द्वारा बुंदेलखंड में हुई। इसकी राजधानी खर्जूरवाह (खजुराहो) थी। उसके पौत्र **जयशक्ति** (जेजा) और विजयशक्ति बड़े विजेता थे। जयशक्ति (जेजा) के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। पहले चंदेल कान्यकुब्ज के प्रतिहारों के सामंत नृपति थे। **हर्षदेव** नामक चंदेल राजा के समय में यह वंश शक्तिशाली और स्वतंत्र होने लगा। हर्षदेव ने द्वितीय भोज और महीपाल दो प्रतिहार राजकुमारों के गृहकलह में भाग लिया और महीपाल को राजा बनाया। **यशोवर्मन्** के समय में चंदेल राज्य का अधिक विस्तार हुआ। उसने कलचुरियों, मालवों और कौशलों को हराकर उनके कतिपय प्रांतों को छीन लिया। उत्तर में अपने अधिपति प्रतिहारों पर भी उसने अपना बलप्रयोग किया और उनसे कालंजर का दुर्ग छीन लिया[३]। देवपाल प्रतिहार पर उसका

१ वही, पृ० १७७-७८; ताजुलमासिर (इलियट : हिस्ट्री आफ् इंडिया, भा० २, पृ० २१४-१६)।

२ इंडि० ऐंटि०, जि० ३७ (१९०८), पृ० १३६-३७।

३ एपि० इंडि०, जि० १, पृ० १३२, श्लोक २३, पृ० १३३, श्लोक ३१।

पूरा आतंक था। उससे विष्णुप्रतिमा छीनकर उसने खजुराहो के एक मंदिर में प्रतिष्ठित कराया[१]।

यशोवर्मन् का पुत्र धंग चंदेलवंश का सबसे शक्तिशाली और प्रतापी राजा था। उसने १००७ वि० से लेकर १०५६ वि० तक राज्य किया। वह बड़ा विजेता और नीतिज्ञ था। अपने राज्यकाल के प्रारंभ में वह प्रतिहारों को अपना अधिपति मानता रहा, यद्यपि वास्तव में वह स्वयं उनसे अधिक शक्तिशाली और स्वतंत्र था। आगे चलकर उसने अपने पूर्व अधिपति प्रतिहारों को परास्त किया और उत्तर में यमुना तट तक अपना राज्य फैला लिया। इसके पश्चात् उसने चंदेलों के पूर्ण प्रभुत्व की घोषणा की[२]। १०५५ वि० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि काशी भी धंग के अधिकार में आ गई थी, जहाँ उसने एक ब्राह्मण को भूमिदान किया था।[3] सुबुक्तगीन के विरुद्ध शाही राजा जयपाल ने जो सैनिक संघ बनाया था उसमें धंग की सेना भी संमिलित हुई थी। धंग के बाद गंड राजा हुआ। उसने भी तुर्कों के विरुद्ध शाही नृपति आनंदपाल की सहायता की परंतु भारतीय सेनाओं के साथ उसकी सेना भी परास्त हुई। महमूद गजनी की सेना उत्तर में कान्यकुब्ज तक आ गई। इसके बाद गंड की सारी शक्ति तुर्कों के साथ संघर्ष में लगी। कान्यकुब्ज के दुर्बल राजा राज्यपाल ने महमूद के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। गंड ने राज्यपाल को दंड देने के लिये अपने पुत्र विद्याधर को भेजा। राज्यपाल मारा गया। इस घटना से महमूद बहुत ही क्रुद्ध हुआ। तुर्क सेनाएँ फिर उत्तरभारत में लौटीं। कान्यकुब्ज से चंदेल सेना को परास्त होकर लौटना पड़ा[४]। इसके बाद महमूद ने चंदेलों के सामंत राज्य गोपाद्रि (ग्वालियर) पर आक्रमण किया और उसकी सेना कालंजर पर भी चढ़ आई। लंबे घेरे के बाद भी तुर्क कालंजर को जीत न सके। परंतु गंड ने प्रजा पर होते हुए अत्याचारों को देखकर अंत में आत्मसमर्पण कर दिया। महमूद के साथ संधि हुई और वह वापस चला गया।

चंदेल शक्ति का फिर उत्थान हुआ। कीर्तिवर्मन् ने खोई हुई कुललक्ष्मी की पुनः स्थापना की। बीच में कलचुरी राजाओं ने चंदेलों को दबा रखा था। कीर्तिवर्मन् ने पासा पलट दिया। उसने कलचुरी नृपति लक्ष्मीकर्ण को परास्त किया और अपने प्रदेशों को वापस लिया। वह विद्या और कला का बड़ा ही प्रेमी था। उसकी राजसभा में कृष्ण मिश्र नामक विद्वान् रहते थे जिन्होंने

[१] वही, पृ० १३४, श्लोक ४३।

[२] वही, पृ० १६७, २०३, श्लोक ३।

[3] इंडि० ऐंटि०, जि० १६, पृ० २०२-२०४।

[४] इलियट : हिस्ट्री आफ् इंडिया, जि० २, पृ० ४६४।

'प्रबंधचंद्रोदय' नामक नाटक की रचना की। कीर्तिवर्मन् के बाद लगभग ११८६ वि० में मदनवर्मन् राजा हुआ। उसकी सेनाएँ गुजरात तक पहुँची और उसने सोलंकी राजा जयसिंह को हराया। मऊ (झाँसी) के प्रशस्तिलेख से मालूम होता है कि उसने चेदिराज (गयाकर्ण) को परास्त किया, मालवा के परमार राजा को उखाड़ फेंका और काशी के राजा (विजयचंद्र गहड़वाल) को मैत्री करने के लिये बाध्य किया[1]। मदनवर्मन् के पश्चात् परमर्दि (परमाल) ने १२२२ वि० से लेकर १२६० वि० तक शासन किया। इस समय तक चंदेलों की राजधानी महोबा जा चुकी थी। चंदेलों और चाहुमानों में घोर संघर्ष था। तृतीय पृथ्वीराज चौहान ने परमर्दि को १२३९-४० के लगभग परास्त किया[2] परंतु चंदेलों ने फिर अपनी शक्ति को सँभाल लिया। चंदेलों और गहड़वालों में मित्रता थी। ऐसा जान पड़ता है कि इन दोनों शक्तियों ने शहाबुद्दीन गोरी के विरुद्ध चाहुमानों की सहायता नहीं की। दिल्ली और कान्यकुब्ज के पराभव के बाद चंदेलों की स्थिति संकटापन्न हो गई। १२६० वि० में शहाबुद्दीन के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ने कालंजर पर आक्रमण किया। परमर्दि वीरता के साथ लड़ा परंतु अंत में परास्त हुआ। तुर्कों ने कालंजर और महोबा पर अधिकार कर लिया। वीरगाथा की अनुश्रुतियों के अनुसार बनाफर आल्हा और ऊदल परमर्दि के सामंत और सहायक थे। ये कृष्ण वनस्परों के वंशज थे और ओछे कुल के माने जाते थे। मध्ययुगीन युद्धों और नायिका-अपहरण में इन्होंने स्वभावसुलभ भाग लिया। चंदेलों की राजसभा में रहनेवाले कवि जगनिक ने इन्हीं को नायक मानकर 'आल्हा-काव्य' की रचना की जो संपूर्ण उत्तरभारत में बहुत लोकप्रिय है। इसके अनंतर सोलहवीं शती वि० के मध्य तक स्थानीय राज्य के रूप में कई स्थानों पर चंदेल राज्य करते रहे।

मध्ययुगीन भारत में स्थापत्य तथा मूर्तिकला के विकास में चंदेलों की बहुत बड़ी देन है। अनेक मंदिरों और सरोवरों का उन्होंने निर्माण कराया। खजुराहो में आज भी अनेक भव्य मंदिर उनके कीर्तिस्तंभ के रूप में खड़े हैं। ये नागर शैली के मंदिरों के सुंदर नमूने हैं[3]। महोबा का मदनसरोवर मदनवर्मन के द्वारा निर्मित हुआ था। कालंजर का अभेद्य दुर्ग अपने ढंग का अनोखा दुर्ग-स्थापत्य है।

[1] एपि० इंडि०, जि० १, पृ० १९८-२०४।

[2] मदनपुर-अभिलेख, आ० स० इंडि०, १९०३-१९०४, पृ० ५५।

[3] इंडि० ऐंटि०, जि० ३७ (१९०८), पृ० १३२।

चतुर्थ अध्याय

राजनीतिक विचार और संस्थाएँ

१. राजनीतिशास्त्र और उसका अन्य विद्याओं से संबंध

मध्ययुग के प्रसिद्ध ग्रंथ शुक्रनीति में राजनीतिशास्त्र का बहुत बड़ा महत्व स्वीकार किया गया है : 'नीतिशास्त्र सबकी जीविका की व्यवस्था करनेवाला; लोक की स्थिति और मर्यादा को स्थिर रखनेवाला; धर्म, अर्थ और काम का मूल और मोक्ष देनेवाला है। अतः राजा को सदा नीतिशास्त्र का अभ्यास करना चाहिए, जिसके जानने से राजा आदि (मंत्री, राजपुरुष आदि) शत्रुओं को जीतने में समर्थ और संसार का अनुरंजन करनेवाले होते हैं'।[1] शुक्र ने यह भी कहा है कि "नीति के बिना संपूर्ण संसार के व्यवहार की स्थिति उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार शरीरधारियों के देह की स्थिति भोजन के बिना असंभव है[2]"। अन्य शास्त्रों के साथ नीतिशास्त्र के संबंध पर भी विचार किया गया है। शुक्र ने आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति चार सनातन विद्याओं को माना है और राजा को उनका सदा अभ्यास करने का उपदेश किया है।[3] सोमदेव सूरि ने भी अपने ग्रंथ नीतिवाक्यामृत[4] में कौटिल्य का अनुसरण करते हुए चार विद्याओं का उल्लेख किया है—(१) आन्वीक्षकी, (२) त्रयी, (३) वार्ता और (४) दंडनीति। आन्वीक्षकी अथवा दर्शन सभी शास्त्रों और व्यवहारों में सम्यक् दृष्टि देनेवाला माना गया है। त्रयी सभी वर्णों और आश्रमों को उनकी मर्यादा के भीतर रखती और अनियम तथा अपराध का संवरण करती है। वार्ता (=आधुनिक अर्थशास्त्र) संसारयात्रा का आधार है। दंडनीति अथवा राजनीति ऐसी सामाजिक व्यवस्था और स्थिति उत्पन्न करती है जिसमें जीवन के पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम तथा

[1] सर्वोपजीवकं लोक-स्थिति-कृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थ-काममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥
अतः सदानीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्नतो नृपः।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्च शत्रुजिल्लोकरंजकाः॥ १. ५, ६।

[2] सर्वलोक-व्यवहार-स्थितिर्नीत्या विना नहि।
यथाऽशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम॥ १. ११।

[3] आन्वीक्षकी त्रयीवार्ता दंडनीतिश्च शाश्वती।
विद्या चतस्त्र एवैता अभ्यसेन्नृपतिः सदा॥ १. ५१।

[4] नीतिवाक्य०, ३. ७, ८ तथा ९।

मोक्ष—की प्राप्ति हो सके। सभी विद्याएँ परस्पर पूरक और आवश्यक हैं। शुक्रनीति में कौटिल्य द्वारा उद्धृत उशना (शुक्र) के मत की पुनरावृत्ति की गई है कि और शास्त्र तो अपने अनुयायियों के बुद्धिकौशल मात्र हैं; व्यवहार में उनका उपयोग नहीं; अर्थात् दंडनीति ही सर्वोपरि शास्त्र है[1]। इन वचनों से यह स्पष्ट है कि अभी देश में नीतिशास्त्र (दंडनीति) का अध्ययन होता था परंतु इनके देखने से यह भी प्रकट होता है कि ये सारी उक्तियाँ परंपरागत हैं; इनमें नवीनता और मौलिकता का अभाव है।

२. राज्य की उत्पत्ति

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में विचार न कर राजा की उत्पत्ति के संबंध में विचार किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि राज्य में राजा का सर्वोपरि महत्व स्वीकार कर लिया गया था। परवर्ती पुराणों में महाभारत में वर्णित वेन और पृथु की कथाएँ प्रायः दुहराई गई हैं। मत्स्य और बृहद्धर्मपुराण में जो वर्णन है उसके अनुसार वेन और पृथु की राजपद पर नियुक्ति मात्स्यन्याय के निवारण के लिये हुई थी। पृथु की उत्पत्ति में दैवी विधान का ही प्राधान्य है। गरुडपुराण के अनुसार पृथु में विष्णु का मानसिक तेज था; अग्निपुराण के अनुसार विष्णु ने उन्हें विभिन्न वर्ग के जीवों पर शासन के लिये नियुक्त किया; बृहद्धर्म के अनुसार पृथु विष्णु के अवतार थे, विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार पृथु मानव शरीर में स्वयं विष्णु थे। इस प्रकार राजा अपनी शक्ति और अधिकार केवल विष्णु द्वारा अपनी सृष्टि से ही नहीं, अपितु उनके स्वतः व्यक्तित्व से प्राप्त करता है। वास्तव में राजा विष्णु का प्रतिनिधि है। इन वर्णनो से यही प्रकट होता है कि इस समय के विश्वास के अनुसार राज्य की उत्पत्ति दैवी थी। राज्य सामाजिक 'समय' अथवा अनुबंध है, इस सिद्धांत की चर्चा कहीं नहीं पाई जाती।

३. राज्य के अंग और उसकी कल्पना

शुक्रनीति में राज्य के अंगों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—(१) स्वामी, (२) अमात्य, (३) सुहृत्, (४) कोश, (५) राष्ट्र, (६) दुर्ग और (७) बल राज्य के अंग हैं। राज्य सप्तांग (सात अंगोंवाला) कहलाता

[1] तत्तन्मतानुगैः सर्वैः विधृतानि जनैः सदा।
बुद्धिकौशलमेतद्धि तैः किं स्याद्व्यवहारिणाम्॥ १. १०।

[2] गरुड० १. ६. ५-८; अग्नि० १७. ११-१८; १६. २२-२६; म० पु० १०. १३-१६; बृहद्धर्म० ३. १३. ४-५६; विष्णुधर्मोत्तर० १. १०८-१०६।

है। उसमें राजा (स्वामी) मूर्द्धन्य कहा गया है।[१] सोमदेव सूरि के नीतिवाक्यामृत[२] में भी इन्हीं अंगों को राज्य का उपादान स्वीकृत किया गया है। एक बात यहाँ ध्यान देने की है। राज्य और इन अंगो में अंगी और अंग का संबध माना गया है और राज्य की उपमा एक सेंद्रिय पिंड से की गई है। मंत्री राज्य का नेत्र, मित्र, कान, कोश मुख, सेना मन, दुर्ग हाथ और राष्ट्र पाद कहा गया है।[3] यहाँ राज्य की कल्पना एक परस्परावलंबी जीवित संस्था के रूप में की गई है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि राजा यहाँ मूर्द्धन्य माना गया है। इस युग में एकतांत्रिक राज्य की महत्ता के कारण ऐसा हुआ है। किंतु राज्य की यह कल्पना और राजा के महत्व पर बल दोनों ही नए नहीं है। अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, कामंदकनीतिसार आदि प्राचीन ग्रंथों में भी सप्तांग राज्य की कल्पना पाई जाती है। एकतंत्रवादी कौटिल्य ने भी प्रभु (राजा) का महत्व दर्शाते हुए कहा है कि राजा संक्षेप में संपूर्ण प्रकृति (राज्य के घटक) है[४]। इन सभी अंगों को समृद्धि देनेवाला (भूतिप्रद)[५] कहा गया है किंतु राजा की विशेष महत्ता गाई गई है—'राजा इस संसार की वृद्धि का हेतु है। वृद्धों से माननीय है। नेत्रों को इस प्रकार आनंद देता है जिस प्रकार चंद्रमा समुद्र को। सम्यक् नेतृत्व करनेवाला यदि राजा न हो तो प्रजा इस प्रकार नष्ट हो जाय जैसे समुद्र में कर्णधार (नाविक) के विना नाव। पालक राजा के बिना प्रजा अपने स्वधर्म का पालन नहीं करती…[६]। राजा अपने सत् और असत् कर्मों द्वारा काल का कारण है। अतः वह अपने क्रोध और उद्यत दंड द्वारा प्रजा को अपने स्वधर्म में स्थित करें।[७]

४. राजा

राज्य की उत्पत्ति के साथ राजा की उत्पत्ति और उसकी दैवी संपत्ति की चर्चा हो चुकी है। इस काल के भाष्यकार विश्वरूप, मेधातिथि आदि ने इस बात की

१ स्वाम्यमात्य-सुहृत्कोश-राष्ट्र दुर्ग-बलानिच।
सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा स्मृतः नृपः ॥ १. ६१।

२ नीतिवाक्य०, अ० १७, २३।

३ दृगमात्या सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशा बलं मनः।
हस्तौ पादौ दुर्ग-राष्ट्रौ राज्यागानि स्मृतानि हि ॥ शुक्र० १. ६२।

४ राजा प्रकृति इति संक्षेपः।

५ शुक्र० १. ६३।

६ ,, १. ६४-६६।

७ कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वतः।
स्वक्रौर्योत दंडाभ्यां स्वधर्मे स्थापयेत्प्रजाः ॥ १. ६०।

भी मीमांसा की है कि कौन सा व्यक्ति राजा होने का अधिकारी हो सकता है। परंपरागत और रूढ़ विचार यह था कि केवल क्षत्रिय ही राजा होने के योग्य है। परंतु स्थिति ने दूसरी दिशा में सोचने के लिये विवश किया। दूसरी शती वि० पू० से लेकर सातवीं शती वि० पू० तक ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्णों ने समय समय पर राज्य किया। मनु और याज्ञवल्क्य का उल्लेख करते हुए विश्वरूप[1] ने कहा है कि राजपद के वे सभी अधिकारी हैं जो राज्य स्थापित करने में समर्थ हैं और जिनका राज्याभिषेक आदि संस्कार हुआ है। मेधातिथि[2] का भी प्रायः यही विचार है। वे राजपद के अंतर्गत किसी भी जनपदेश्वर का समावेश करते हैं, चाहे वह क्षत्रियेतर क्यों न हो। इसके विपरीत वे राज्याभिषेक से रहित क्षत्रिय को राजपद से बहिष्कृत समझते हैं[3]। उन्होंने अपने सिद्धांत का समर्थन इस प्रकार किया है कि यद्यपि सामान्यतः क्षत्रिय को ही राजा होना चाहिए, किंतु उसके अभाव में किसी वर्ण का पुरुष राजा हो सकता है, क्योंकि इसके बिना प्रजा नष्ट हो जायगी[4]। उनका यह भी कहना है कि मनु के अनुसार क्षत्रिय अस्त्रशस्त्र को धारण कर अपनी जीविका चलाता है; दूसरे वर्ण के व्यक्ति भी क्षत्रियोचित व्यापार को करके राजपद प्राप्त कर सकते हैं[5]। ऐसे भी स्मृतिवाक्य मिलते हैं कि जो कोई भी प्रजा का पालन करता है वह नृप (राज)-पद का अधिकारी है, क्योंकि प्रजा की रक्षा और उसके कल्याण के लिये ही राजा के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है[6]। इसकी पुष्टि में मेधातिथि ने यह तर्क दिया है कि मनु ने राजा के लिये 'पार्थिव' जैसे सामान्य शब्द का प्रयोग किया है जो किसी भी भूभाग पर शासन करनेवाले व्यक्ति के लिये उपयुक्त है[7]। ऐसा जान पड़ता है कि मध्ययुग के प्रारंभ में हर्ष के साम्राज्य के विघटन के पश्चात् देश में अराजकता फैल जाने से प्रजारक्षण एक बहुत बड़ी

[1] त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज संस्करण, पृ० ९८।

[2] मनु०, ३. ११९; ४. ८४, ११०; ५. ९३; ७. १-२ पर भाष्य।

[3] वही।

[4] वही, ७. २ पर भाष्य।

[5] वही, ८. १ पर भाष्य।

[6] यः कश्चित्सर्वलोकानां पालकश्च नृपः स्मृतः।
कर्मनिष्ठा च विहिता लोकसाधारणे हिते॥
मनु० ८. १ पर मेधातिथि द्वारा उद्धृत।

[7] मनु० ८. १ पर भाष्य।
दक्षिण में 'कलौ आद्यन्तयोः स्थितिः'। कलि में केवल आदि (ब्राह्मण) और अंत (शूद्र) की स्थिति का सिद्धांत प्रचलित हो जाने पर प्रायः सभी राजवंश शूद्र समझे जाने लगे। किंतु अभिलेखों में यह भी लिखा पाया जाता है कि वे विष्णु के चरण से उत्पन्न होने के कारण मूर्द्धन्य ब्राह्मणों से भी अधिक पूज्य थे (क्योंकि पूजा चरण की होती है, शिर की नहीं)।

समस्या हो गई थी ; अतः जो व्यक्ति जनता का संरक्षण कर सकता था वह सर्वमान्य हो जाता था ; वर्ण इसमें बाधक नहीं था। परंतु एक बार पुनः राजपूतों का प्राधान्य स्थापित हो जाने पर राजपद के लिये क्षत्रियत्व की अनिवार्यता पर बल दिया जाने लगा, यद्यपि इसके अपवाद पूरे युग में पाए जाते रहे।

सिद्धांततः राजा निरंकुश था और राज्य के ऊपर उसका एकतंत्र अधिकार था। परंतु भारतीय राजाओं पर परंपरागत कई प्रतिबंध थे और उनमें अत्याचारियों की संख्या बहुत कम थी। इस संबंध में अपने ग्रंथ जमीयतुल-हिकायत में उफी द्वारा वर्णित दीर्घजीवन-औषधि का वर्णन बहुत मनोरंजक है। वह लिखता है कि हिंदू राजा इस बात में विश्वास करते थे कि अत्याचारी राजा का जीवन अपनी प्रजा के शाप से क्षीण हो जाता है। यह बात वह मुसलिम शासकों की तुलना में लिखता है[1]। हिंदू राजाओं के सामने इस युग में भी मर्यादापुरुषोत्तम आदर्श राजा राम का उदाहरण रहता था[2] और मध्ययुग में कश्मीर को छोड़कर और किसी राज्य में अत्याचारी शासक का उल्लेख नहीं मिलता। इसके कई कारण थे। एक तो प्रजारंजन और अहिंसा की परंपरा इस देश में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। दूसरे विधि (कानून) बनाने का अधिकार हिंदू राजा के हाथ में नहीं था। समाज द्वारा विकसित और ऋषियों तथा आचार्यों द्वारा शास्त्र का रूप पाए नियमों का अनुसरण उसे करना पड़ता था। वास्तव में वह धर्मप्रवर्तक नहीं, अपितु धर्मसंस्थापक था। इसी प्रकार कर आदि का विधान भी स्मृतियों में विहित था; सामान्यतः राजा कोई नया कर नहीं लगा सकता था। इस परिस्थिति में यदि कोई राजा अत्याचारी हुआ भी तो उसका अत्याचार व्यक्तिगत होता था और प्रभाव सीमित। जनता पर शासन का भार कम था, क्योंकि मध्ययुगीन राजाओं को बहुसंख्यक स्थायी सेना और कर्मचारी, लेखक आदि की फौज नहीं रखनी पड़ती थी, जिनके लिये येनकेनप्रकारेण राजा को देश का शोषण करना पड़ता है।

४. राजा और प्रजा का संबंध

मध्ययुग के प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि के वक्तव्यों से इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। मनुस्मृति पर भाष्य करते हुए सिद्धांततः उन्होंने राजा के अपरिमित शासनाधिकार को स्वीकार किया है और उसके क्रोध से बचने के लिये चेतावनी दी

[1] इलियट : हिस्ट्री आफ् इंडिया, जिल्द २, पृ० १७४।

[2] शीलं दयां च सौख्यं च अथवा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
उत्तररामचरित, अंक १ में राजा राम का उद्गार।

है[1]। किंतु इस अधिकार पर बड़ी सावधानी से प्रतिबंध लगाने की भी चेष्टा की है। उनका कहना है कि राजा का शासन और प्रजा की विधेयता का संबंध केवल कार्यव्यवस्था से है जो धर्मशास्त्र और आचार के अनुकूल होनी चाहिए[2]। प्रजा द्वारा वर्णाश्रम धर्म के पालन में या किसी प्रकार के धर्माचरण में राजा का कोई अधिकार नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि केवल दंडनीय व्यक्तियों पर ही राजा का अनुशासन था। प्रजा से कर ग्रहण करने के कारण राजा इस बात के लिये अनुबद्ध था कि वह प्रजा की रक्षा करेगा। यह उसका नित्यधर्म था। किंतु समाज के ऐसे अंग भी उसके द्वारा रक्षणीय थे जो उसे कर नहीं देते थे, क्योंकि राजा के सामान्य धर्म और राज्यारोहण के समय की प्रतिज्ञा के अनुसार प्रजापालन और रक्षण उसके लिये अनिवार्य था।

राजा को कर देना और उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा का धर्म था। परंतु प्राचीन काल से ही आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र द्वारा अपनी रक्षा करने का अधिकार प्रजा को प्राप्त था[3]। मेधातिथि[4] ने विस्तार से इसकी व्याख्या की है। एक अर्थ में तो वे स्मृतियों से भी आगे हैं। धर्मसूत्रों और स्मृतियों के अनुसार तो निश्चित परिस्थितियों—विप्लव आदि—में ही प्रजा को शस्त्रधारण का अधिकार है। किंतु मेधातिथि के मत में प्रजा को बराबर शस्त्रधारण का अधिकार है, क्योंकि समाज में ऐसे आततायी होते ही हैं जो व्यक्तियों को अपनी रक्षा के लिये तैयार होने का अवसर नहीं देते और राज्य के द्वारा रक्षा के साधन सभी व्यक्तियों तक पहुँच नहीं सकते। केवल अपनी ही रक्षा के लिये नहीं, अपितु परिवार और अपनी संपत्ति की रक्षा के लिये भी प्रजा को शस्त्रग्रहण का अधिकार था। किन्हीं स्मृतियों के मत से दूसरों की रक्षा में भी शस्त्र का उपयोग किया जा सकता था। जहाँ तक नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न है, दूसरे प्रसिद्ध भाष्यकार विश्वरूप[5] महाभारत के मत का समर्थन करते हैं कि अत्याचारी राजा के वध का अधिकार प्रजा को प्राप्त है। जब राजा कोई बड़ा अपराध करे तो उसके ऊपर बहुत बड़ा भूखंड फेंककर उसे मार डालना चाहिए, क्योंकि ऐसे राजा के होने से सेना, कोष आदि राज्य की संपत्ति नष्ट हो जाती है। बारहवीं शती के लेखकों में ऐसे विचार

[1] मनु ७. १२ पर भाष्य 'तं राजानं यो द्वेष्टि, प्रातिकूल्येन वर्तते तस्मिन्, सत्वसंशयं नश्यति।'

[2] यतः सर्वतेजोमयो राजा तस्माद्धेतोरिष्टेषु वल्लभेषु, मंत्रिपुरोहितादिषु, कार्यगत्या धर्मं कार्यव्यवस्थां शास्त्राचाराविरुद्धां व्यवसेन्निश्चित्य स्थापयेन्न विचालयेत। सा तादृशी राज्ञोऽनुज्ञा नातिक्रमणीया। मनु० ७. १३ पर भाष्य।

[3] म० भा० १२. ९२. १; १२, ९३. ९; १३. ६१. ३२-३३।

[4] मनु० ८. ३४८–३४९ पर भाष्य।

[5] याज्ञ० पर बालक्रीडा नामक भाष्य।

प्रकट करने का साहस नहीं दिखाई पड़ता। कृत्यकल्पतरु[1] के रचयिता लक्ष्मीधर ने राजा की दैवी उत्पत्ति और उसके असीमित अधिकारों तथा प्रजा की विधेयता पर ही अधिक बल दिया है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि प्रत्येक अवस्था में देश और समाज की रक्षा के लिये राजा आवश्यक है और उसके बिना मात्स्यन्याय फैल जायगा। परंतु प्रजा के सहज अधिकारों की चर्चा किए बिना ही उन्होंने राजा के परंपरागत धर्म पर पर्याप्त बल दिया है।

६. राजा के कर्तव्य

भाष्यों और निबंधों दोनो में राजधर्म पर विस्तार के साथ लिखा गया है और राजा के सार्वजनिक कर्तव्यों पर पर्याप्त बल दिया गया है। मनुस्मृति पर भाष्य करते हुए मेधातिथि[2] ने राजधर्म को दो भागों में बाँटा है—(१) दृष्टार्थ, अर्थात् ऐसे कार्य जिनका फल स्पष्ट आँखो से दिखाई पड़ता है और (२) अदृष्टार्थ, अर्थात् यज्ञादि धार्मिक कार्य जिनका फल आँखों से नहीं दिखाई पड़ता। इन दोनों में सार्वजनिक दृष्टि से प्रथम की महत्ता अधिक मानी गई है। इस प्रसंग मे मेधातिथि[3] का यह भी कथन है कि राजधर्म का आधार केवल वेद या धर्मशास्त्र नहीं है, अपितु लौकिक अर्थशास्त्र भी है, यद्यपि इसपर धर्मशास्त्र का नियंत्रण स्वीकार्य है। राजा के कर्तव्य की इतनी महत्ता थी कि राजा इस काल के नीतिकारों द्वारा 'काल का कारण[4]' माना गया है। राजा के आठ प्रकार के वृत्त (कार्य) बतलाए गए हैं—(१) दुष्ट-निग्रहण, (२) दान, (३) प्रजा का परिपालन, (४) राजसूय आदि यज्ञ, (५) कोष का न्याय से अर्जन, (६) अन्य राजाओं को हराकर उनसे कर लेना, (७) शत्रुओं का दमन और (८) भूमि का बारंबार उपार्जन।[5] इन कार्यों में राज्य के मौलिक (अनिवार्य) और लोकोपकारी कार्यों का समावेश है तथा प्रजारक्षण, प्रजापालन और प्रजारंजन इनमें संमिलित है। शुक्र ने यह भी कहा है कि 'जैसे वायु गंध का प्रेरक है वैसे राजा भी प्रजा के सत् और असत् कर्म का प्रेरक है'। वह धर्म का संस्थापक है और अधर्म का उसी

१ राजधर्म कांड।

२ मनु० ७. १ पर भाष्य।

३ प्रमाणांतरमूला ह्यत्र धर्मा उच्यंते, न सर्वे वेदमूला। अन्यमूलत्वे च यदत्र धर्मशास्त्राविरुद्धं तदुच्यते। वही।

४ कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वतः। शुक्र० १. ६०।

५ शुक्र० १. १२३-१२४।

प्रकार नाशक है जिस प्रकार सूर्य अंधकार का।[1] जिन राजाओं से सेना की वृद्धि नहीं हुई, अन्य राजा करद नहीं बनाए गए और प्रजा सम्यक् प्रकार से पालित न हुई वे राजा षंढ (तेलहीन) तिल के समान व्यर्थ हैं[2]। संक्षेप में राजा के सैनिक, शासनीय और न्यायसंबंधी सभी कर्तव्यों का उल्लेख इन वक्तव्यों में पाया जाता है।

राजा का दैनिक कार्यक्रम भी स्मृतियों में वर्णित मिलता है। 'राजा को रात्रि के चौथे प्रहर में दो मुहूर्त (एक घड़ी) पहले उठकर यह जानना चाहिए कि नियत आय और व्यय कितना है, कोश में आए हुए द्रव्य का व्यय कितना हुआ है; व्यवहार में मुद्रित आय, व्यय और शेष कितना है; स्वयं अपनी आँखों से देखकर और लिखित लेखा से जाँचकर, आज कितना व्यय होगा यह जानकर, उसके समान द्रव्य कोश से निकालना चाहिए। इसके पश्चात् मल का त्यागकर एक मुहूर्त में स्नान करे और आगे के दो मुहूर्त में संध्या, पुराणादि का श्रवण और दान करे। एक मुहूर्त पारितोषिक आदि देने में व्यतीत करे और एक मुहूर्त धान्य (अन्न), वस्त्र, स्वर्ण, रत्न, सेना, देश, लेख आदि देखने में। बराबर चार मुहूर्त (संपूर्ण राष्ट्र के) आयव्यय देखने में लगावे और स्वस्थचित्त होकर मित्रों के साथ भोजन में एक मुहूर्त बितावे, जीर्ण और नवीन वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण में एक मुहूर्त और एक मुहूर्त प्राड्विवाक् (धर्म-विधि-सचिव) आदि द्वारा बोधित व्यवहार (न्यायव्यवस्था) के समझने में व्यतीत करे। इसके अनंतर दो मुहूर्त मृगया (शिकार) और क्रीडा (खेल) में और एक मुहूर्त व्यूहाभ्यास (सैनिक अभ्यास) में लगावे। फिर एक मुहूर्त सायं संध्या में व्यय करे। पुनः एक मुहूर्त भोजन तथा दो मुहूर्त गुप्तचरों द्वारा सुनाई हुई वार्ता में बितावे। अंतिम आठ मुहूर्त सोवे। इस प्रकार रात्रि-दिन को तीस तीस मुहूर्त में बाँटकर आहार-विहार करनेवाले राजा को सम्यक् प्रकार से सुख प्राप्त होता है। स्त्री और मद्य के सेवन में काल वृथा नष्ट न करे। जिस काल में जो कार्य करना हो वह अशंकित हो तुरंत करे।[3]

७. राजा के प्रकार

राज्य की आय के आधार पर राजा के कई भेद किए गए हैं—(१) जिस राजा के राज्य में प्रतिवर्ष प्रजा को पीड़ित किए बिना एक लाख कर्ष[4] संचित

[1] वायुर्गंधस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः।
धर्मप्रवर्तको अधर्मनाशकस्तमसो रविः॥ १. ७३।

[2] न वर्धितं बलं यैस्तु न भूपाः करदीकृताः।
न प्रजा पालिता सम्यक् ते वै षंढतिला नृपाः॥ वही, १. १२५।

[3] शुक्र० १. ७५-८५।

[4] एक प्रकार का सिक्का।

होता है उसे सामंत कहते हैं; (२) उसके ऊपर, जिसके राज्य में तीन लाख से दस लाख तक आय होती है वह मांडलिक कहलाता है; (३) बीस लाख तक आय-वाला राजा कहलाता है; (४) पचास लाख पर्यंत महाराज कहलाता है; (५) उसके आगे एक करोड़ तक स्वराट्; (६) दस करोड़ तक सम्राट्; (७) इसके ऊपर २० करोड़ तक विराट् और (८) पचास करोड़ की आय पर सार्वभौम होता है, जिसके वश में सप्तद्वीपा पृथ्वी सदा रहती है[१]। राजाओं का यह विभाजन राज्य की सामंतीय तथा एकतांत्रिक कल्पना के आधार पर किया गया है। ब्राह्मणकाल में स्वराट् और विराट् का संबंध गणतांत्रिक व्यवस्था से था[२]। परंतु मध्ययुग में इसकी स्मृति भी लेखकों की कल्पना से ओझल हो रही थी। इस युग में १ से ४ तथा ६ वर्ग के राजा प्रायः पाए जाते हैं। ७ तथा ८ वर्गों का संबंध तो केवल सिद्धांत और महत्वाकांक्षा से है। इस समय किसी भी भारतीय राज्य का विस्तार इनके अनुकूल नहीं हुआ। यह बात सच है कि कहीं कहीं प्रशस्तियों में राजाओं के साम्राज्य का अतिरंजित वर्णन पाया जाता है। परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से वे वास्तविक नहीं हैं।

८. युवराज

एकतांत्रिक व्यवस्था में राजा के साथ साथ उसके युवराज (भावी राजा) का भी राजशासन में निश्चित और महत्वपूर्ण स्थान था। 'युवराज और मंत्रिगण राजा के दक्षिण और वाम भुजा तथा नेत्र और कर्ण कहे जाते हैं। उनके बिना राजा बाहु, कर्ण और नेत्रहीन होता है। अतः इनको विचार करके नियुक्त करे अन्यथा ये महाविनाश के कारण होते हैं। जो (राजा के अधिकारचिह्न) मुद्रा के बिना ही (स्वतः अधिकार से) संपूर्ण राज्यकृत्य करने में समर्थ हो ऐसे अपनी धर्मपत्नी में उत्पन्न औरस (आत्मज) पुत्र को युवराजपद पर नियुक्त करे। यदि ऐसा औरस पुत्र न हो तो अपने सबसे छोटे चचा, छोटे भाई, बड़े भाई के पुत्र, पुत्रीकृत पुत्र अथवा दत्तक पुत्र का युवराज पद पर अभिसिंचन करे। इनके अभाव में दौहित्र अथवा भानजे को इस पद पर नियुक्त करे। अपने हित के लिये, मनसा भी, इन्हें कभी दुःख न दे'[३]।

'युवराज अपनी संपत्ति के मद से माता, पिता, गुरु, भ्राता, भगिनी और राजा के वल्लभ (मंत्री आदि) को अपमानित न करे। राष्ट्र के महाजनों को अपमान

[१] वही, १. ८२-८६।
[२] ऐत० ब्रा० ८. १५।
[३] शुक्र०, १. १२-१६।

तथा पीड़ा न पहुँचावे। अधिक समृद्धि को प्राप्त होकर भी पिता की आज्ञा में रहे[१]। अपने भ्राताओं में अपना आधिक्य न दिखावे, क्योंकि भाग के योग्य भ्राताओं के अपमान से दुर्योधन नष्ट हो गया'[२]। 'राजा को अपना कृत्य प्रतिदिन निवेदन करे और संपूर्ण परिवार के अविरोध से घर में निवास करे। विद्या, कर्म और शील से सदा प्रजा का प्रसन्नता से अनुरंजन करता हुआ त्यागी तथा सत्वसंपन्न होकर सभी को अपने वश में रखे'[३]। युवराज सभी कार्यों में राजा की सहायता करता था और उसकी अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधित्व। राजा के साथ वह स्कंधावार, यात्रा आदि में जाता था। कभी कभी वह महत्वपूर्ण प्रदेश का शासक भी बनाया जाता था।

६. मंत्रिमंडल

वैदिक समिति और सभा, जो सार्वजनिक संस्थाएँ थीं, बहुत पीछे छूट चुकी थीं। परवर्ती मंत्रिपरिषद् भी, जिसका भारतीय राज्यविधान में विधिक और परंपरागत स्थान था, इस समय वर्तमान नहीं थी। फिर भी यह नीति के अनुसार आवश्यक समझा जाता था कि राजा अपनी सहायता और परामर्श के लिये मंत्रियों की नियुक्ति करे और उनके साथ राज्य की नीति, समस्याओं और कार्यक्रम के संबंध में मंत्रणा करे, यद्यपि इस प्रकार से नियुक्त मंत्रियों का संयुक्त और अनिवार्य अधिकार नहीं होता था। शुक्रनीति में मंत्रियों के महत्व के संबंध में निम्नलिखित मंतव्य प्रकट किया गया है :

> 'छोटे से छोटा कार्य भी एक असहाय व्यक्ति के लिये दुष्कर होता है, फिर राज्य जैसे महान् कार्य का तो कहना ही क्या? सब विद्याओं में कुशल और मंत्रवेत्ता राजा भी मत्रियों के बिना अकेला मंत्र और राज्यव्यवहार का कार्य न करे। बुद्धिमान् राजा को सदा सभ्य, अधिकारी प्रकृति और सभासदों के मत में स्थित रहना चाहिए, केवल अपने मत में कभी नहीं। राजा बिलकुल स्वतंत्र होकर केवल अनर्थ करने में समर्थ होता है; उसका राष्ट्र छिन्न भिन्न हो जाता है और उसकी प्रकृतियाँ भी तितर बितर हो जाती हैं। पुरुष पुरुष में भिन्न भिन्न बुद्धिवैभव दिखाई पड़ता है। आप्त वाक्य, अनुभव, आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष, सादृश्य, साहस, छल, बल, गुरु और लाघव से व्यवहारों की विचित्रता और उन्नति (जानी जा सकती है)। यह संपूर्ण एक

[१] वही, १. ३६–३७।
[२] वही, १. ४०।
[३] वही, १. ४८-४६।

मनुष्य से नहीं जाना जा सकता। अतः राज्य की वृद्धि के लिये राजा सहायों (मंत्रियों आदि) का वरण (चुनाव) करे[1]।

राजा की सहायता के लिये मंत्रिमंडल में निम्नलिखित दस मंत्री होते थे जिनको शुक्र ने 'राजा की दस प्रकृति' कहा है[2] :

(१) **पुरोधा** (पुरोहित)—यह मंत्रियों में प्रथम और सर्वश्रेष्ठ होता था। राजा और संपूर्ण राष्ट्र का पालक था। मंत्रानुष्ठान से संपन्न, त्रयी का ज्ञाता, कर्म में तत्पर, जितेंद्रिय, क्रोध पर विजयी, लोभ और मोह से रहित, छः वेदांगों को जाननेवाला, अंगों सहित धनुर्वेद का ज्ञाता, अर्थ और धर्म का विद्वान् होता था, जिसके भय से राजा भी धर्मनीति में रत रहता था। पुरोहित नीतिशास्त्र, व्यूहादि सभी में कुशल होता था। वास्तव में शाप और अनुग्रह में सक्षम पुरोधा ही राजा का आचार्य होता था[3]।

(२) **प्रतिनिधि**—यह राज्य के सभी कार्य और अकार्य का विज्ञाता कहा गया है। जो कार्य अहित है, जो तत्काल कर्तव्य कार्य है, जो नहीं करने योग्य है, जो राजा के लिये हित है, इन सबको प्रतिनिधि जनावे, करावे, करे, न करे, न जनावे[4]।

(३) **प्रधान**—यह सत्य अथवा असत्य जितना कार्यसमूह है उन सबका राजकृत्यों में प्रधान चिंतन करता था। गज, अश्व, रथ, पदाति आदि सैनिक व्यवस्था भी यह करता था[5]।

(४) **सचिव**—सचिव भी सैनिक कार्यों की सूचना राजा को देता था[6]।

(५) **मंत्री**—साम, दाम, भेद और दंड चतुर्विध नीति का व्यवहार जिनके साथ, कब, किस प्रकार करना चाहिए, उनसे बहु, मध्य तथा अल्प क्या फल होगा, ऐसा सोचकर और निश्चय करके मंत्री राजा के पास निवेदन करता था[7]।

[1] यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किमुराज्यं महोदयम् ॥
सर्वविद्यासु कुशलो नृपोह्यपि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विना मत्रं नैकार्थं चिन्तयेत्क्वचित् ॥ आदि ॥ २. १–७।

[2] २. ६९–७०।

[3] वही, २. ७७–७९।

[4] वही, ८२. ३।

[5] वही।

[6] वही।

[7] वही, २. ८४।

(६) प्राड्विवाक—साक्षी, लिखित, भोग अथवा छल से उत्पन्न, स्वतः उत्पादित अथवा संप्राप्त मानवी व्यवहारों का चिंतन कर, दिव्य साधन के योग्य, अथवा किनमें कौन साधन उपयुक्त होगा, युक्ति, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान के द्वारा लोकशास्त्र के अनुसार अनेक संमतियों से सिद्ध कार्यों को प्राड्विवाक सभा में स्थित हो सभ्यों के साथ राजा के प्रति निवेदन करता था[१]।

(७) पंडित—वर्तमान तथा प्राचीन धर्मों में कौन लोक में आधारित हैं, शास्त्रों में किनका विधान है और शास्त्र से किनका विरोध है, किनका लोक और शास्त्र दोनों से विरोध है, पंडित इन सबका विचार कर पारलौकिक और ऐहिक सुख देनेवाले धर्मों का राजा के प्रति निवेदन करे[२]।

(८) सुमंत्र—वर्ष में इतना संचित द्रव्य, तृणादि है, इतना व्यय और इतना शेष—स्थावर और जंगम—है, यह सुमंत्र राजा के प्रति निवेदन करता था[३]।

(९) अमात्य—राज्य में कितने पुर, ग्राम और अरण्य हैं, कितनी भूमि कर्षित (जोती) है, उससे कितना भाग (राजा का अंश) किससे प्राप्त हुआ है, कितना भाग शेष पड़ा हुआ है, कितनी भूमि अकृष्टा (बिना जोती) है, वर्ष में भाग-द्रव, शुल्क, दंड आदि से कितना प्राप्त हुआ, अकृष्ट भूमि से कितना अन्न उत्पन्न हुआ और अरण्य से कितनी, खान से क्या आय हुई, निधि से कितना, अस्वामिक (जिसका कोई स्वामी न हो) कितना, कतिप्राप्त (अकस्मात् प्राप्त) कितना, नाष्टिक (खोया हुआ) कितना, तस्कर (चोर) से वापस प्राप्त कितना—इन सबसे राजकोष में कितना संचित है यह निश्चय करके अमात्य राजा के प्रति निवेदन करे[४]।

(१०) दूत—इंगित और आकार से तत्व की बात जान लेनेवाला राजा का अनुगामी दूत कहा गया है[५]। वह राजदूत कहलाता था और परराष्ट्र विभाग उसके हाथ में होता था।

मंत्री केवल अलंकरण मात्र नहीं थे अपितु राजा के ऊपर उनका नैतिक प्रभाव था, इस बात को नीतिकारों ने स्वीकार किया है—'प्रकृति (मंत्री) के सन्मंत्र के बिना राज्य का नाश होता है। जिनके द्वारा राजा (के निरंकुश कार्यों) का निरोध हो वे ही अच्छे मंत्री कहे जाते हैं। जिन मंत्रियों से राजा डरता नहीं उनसे राज्य का संवर्धन कैसे हो सकता है? ऐसे मंत्री स्त्रियों के समान अलंकार, वस्त्र

[१] वही।
[२] वही।
[३] वही, २. ८५।
[४] वही।
[५] वही, २. ८६।

आदि से भूषणीय हैं। जिनके मंत्र से राज्य, प्रजा, बल (सेना), कोष, सुराजत्व की वृद्धि और शत्रु का नाश नहीं हुआ उनसे क्या प्रयोजन, अर्थात् कुछ नहीं[1]।

१०. केंद्रीय शासन का संगठन

प्राचीन काल से केंद्रीय शासन का संगठन कई विभागों में होता था जिन्हें तीर्थ कहते थे। इनका वर्णन महाभारत, अर्थशास्त्र आदि में पाया जाता है। परिवर्तित रूप में ये तीर्थ कई विभागों और विभागाध्यक्षों के नाम से मध्ययुग में भी वर्तमान थे। कई राजाओं ने तो नए विभागों का भी निर्माण किया। राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर के राजा ललितादित्य ने जनक द्वारा स्थापित अठारह तीर्थों के अतिरिक्त पाँच नए विभाग (कर्मस्थान) प्रवर्तित किया—(१) महाप्रतिहार, (२) महासांधिविग्रहिक, (३) महाश्वशाल, (४) महाभांडागारिक और (५) महासाधनभाग।[2] इनमें से प्रथम दो का उल्लेख गुप्तकालीन उत्कीर्ण लेखों में पाया जाता है। ये क्रमशः राजप्रासाद के आरक्षकों के अध्यक्ष, परराष्ट्र-सचिव, अश्वारोही सेना के अध्यक्ष, मुख्य कोषाध्यक्ष और मुख्य प्रशासक थे। इस युग के ताम्रपट्टों में बहुत से विभागाध्यक्षों और केंद्रीय अधिकारियों के पदान्वय पाए जाते हैं। बंगाल के पालों के लेखों में निम्नलिखित मिलते हैं[3] :

(१) राजामात्य	(प्रधानमंत्री)
(२) पुरोहित	(धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में परामर्श देनेवाला मंत्री)
(३) महाधर्माध्यक्ष	(राज्य तथा राजकुल के धार्मिक कार्यों का अध्यक्ष)
(४) महासांधिविग्रहिक	(दूसरे राज्यों से संधि तथा युद्ध करनेवाला परराष्ट्र मंत्री)

[1] विना प्रकृतिसन्मंत्राद्राज्यनाशी भवेन्मम।
निरोधनं भवेदेनं राज्ञस्ते स्युः सुमन्त्रिणः॥
न विभंति नृपो येभ्यस्तैः किं स्याद्राज्यवर्धनम्।
यथालंकारवस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथाहिते॥
राज्यं प्रजा बलं कोषः सुनृपत्वं न वर्धितम्।
यन्मंत्रतोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनम्॥ वही, २. ८०–८२।

[2] राजतरंगिणी, ४. १४१-१४२।

[3] एपि० इंडि०, जि० १४, पृ० १५६।

(५) महासेनापति	(सेना के प्रमुख अधिकारी)
(६) महामुद्राधिकृत	(मुद्रा के अध्यक्ष)
(७) महाक्षपटलिक	(राजकीय कागजपत्र के अध्यक्ष)
(८) महाप्रतिहार	(राजभवन में प्रवेश के अध्यक्ष)
(९) महाभोगिक	(राजकर के अध्यक्ष)
(१०) महापीलुपति	(हस्तिसेना के अध्यक्ष)

इनके अतिरिक्त महादेवी, युवराज तथा सामंतों का भी उल्लेख मिलता है, परंतु ये नियमित अधिकारी या राजपुरुष के रूप में नहीं माने जाते थे। गहडवाल अभिलेखों में निम्नांकित अधिकारी पाए जाते हैं[१] :

(१) मंत्री (२) पुरोहित (३) प्रतिहार (४) सेनाधिपति (५) भांडागारिक (६) अक्षपटलिक (७) वैद्य (८) ज्योतिषी (९) अंतःपुरिक (१०) दूत (११) महिषी (१२) युवराज

चेदि राजाओं के उत्कीर्ण लेखों में निम्नलिखित का उल्लेख है[२] :

(१) महादेवी (२) युवराज (३) महामंत्री (४) महासांधिविग्रहिक (५) महामात्य (६) महाधर्माधिकरणिक (७) महाप्रतिहारी (८) महाक्षपटलिक (९) महाभांडागारिक (१०) महासामंत।

महादेवी, युवराज, पुरोहित, राजवैद्य और राजज्योतिषी प्रभावशाली व्यक्ति होते थे, यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रथम, चतुर्थ और पंचम नियमित विभागाधिकारी नहीं थे।

११. प्रादेशिक शासन

शासन की सुविधा के लिये राज्य कई इकाइयों में विभक्त होता था। मोटे तौर पर संपूर्ण राज्य के दो भाग होते थे—(१) गृहराज्य और (२) अधिराज्य। प्रथम के ऊपर राजा सीधे शासन करता था और दूसरे में उसके अधीन सामंत राजा। प्रत्येक राज्य पुनः शासन की कई इकाइयों में बँटा था। इस काल के उत्कीर्ण लेखों के अनुसार इसका क्रम निम्नलिखित था[३] :

(१) देश अथवा भुक्ति	(=प्रदेश)
(२) मंडल	(=कमिश्नरी)

[१] वही, जि० ४, पृ० १०५; इंडि० एंटि०, जि० १८, पृ० १५।
[२] एपि० इंडि०, जि० ११, पृ० ४१।
[३] प्रतिहार महेंद्रपाल का दिघवा-दुबौली अभिलेख, इंडि० एंटि०, जि० १५ पृ०, ११२।

(३) विषय (=जिला)
(४) पटल (=परगना)
(५) पठक (=तहसील)
(६) ग्राम (=गाँव)

इन इकाइयों के शासक क्रमशः राजस्थानीय अथवा भोगपति, मंडलाधिपति, विषयपति, पाटलिक, पठविक (?) तथा ग्रामकूट अथवा महत्तर होते थे। संपूर्ण प्रादेशिक शासन से संबंध रखनेवाले अधिकारियों की लंबी सूची पाई जाती है। उदाहरण के लिये, बंगाल के राजा नारायणपाल के भागलपुर ताम्रपट्ट[1] में निम्नांकित अधिकारियों का उल्लेख है जिनका संबंध किसी भी भूमिदान से होता था :

(१) राजराजानक (करद राजा)
(२) राजपुत्र (राजकुमार अथवा राजवंश से संबद्ध क्षत्रिय)
(३) राजामात्य (मंत्री अथवा उच्च राज्याधिकारी)
(४) महासांधिविग्रहिक (परराष्ट्र सचिव)
(५) महाक्षपटलिक (राजकीय कागजपत्र विभाग का प्रमुख अथवा रजिस्ट्रार)
(६) महासामंत (सामंतों में प्रमुख)
(७) महासेनाधिपति
(८) महाप्रतिहार
(९) महाकार्यातिक (महाकार्यातिक ?)
(१०) महादौसाध्यसाधनिक (सैनिक निर्माण का प्रमुख)
(११) महादंडनायक (प्रधान न्यायाधीश)
(१२) महाकुमारामात्य (प्रमुख राजकुमार-अधिकारी)
(१३) राजस्थानीयोपरिक (राजा का प्रतिनिधि)
(१४) दशापराधिक (शासन-न्यायाधीश)
(१५) चौरोद्धरणिक (आरक्षक : पुलिस)
(१६) दांडिक (कारावास-अधिकारी)
(१७) दंडपाशिक (आरक्षक : पुलिस)
(१८) शौल्किक (शुल्क=चुंगी संग्रह करनेवाला)
(१९) गौल्मिक (सस्य, वनस्पति संबंधी अधिकारी)
(२०) क्षेत्रप (खेतों का रक्षक)
(२१) प्रांतपाल (सीमा का रक्षक)

[1] इंडि० एंटि०, जि० १५।

(२२) कोट्टपाल (दुर्ग का रक्षक)
(२३) खंडरक्षक (भागविशेष का रक्षक)
(२४) आयुक्तक—नियुक्तक (राजस्व संबंधी स्थानीय अधिकारी)
(२५) गजपाल, अश्वपाल, आदि सैनिक अधिकारी
(२६) पशुपाल (गोशाला आदि का अधिकारी)
(२७) दूतप्रेषणिक (दूत भेजनेवाला)
(२८) गमागमिक (आने-जानेवाला दूत)
(२९) अभित्वरमाण (शीघ्रता से चलनेवाला)
(३०) पटलिक (कागजपत्र रखनेवाला)
(३१) ग्रामिक (गाँव का मुखिया)
(३२) चाटभट (पुलिस तथा सैनिक)

इस सूची से पता लगता है कि प्रादेशिक शासन अच्छी तरह से सुव्यवस्थित था और किसी भी सभ्य देश के शासन से उसकी तुलना की जा सकती है।

१२. नगरशासन

इस काल के नीतिग्रंथों तथा उत्कीर्ण लेखों में पुर अथवा नगर रचना और उसके शासन का उल्लेख पाया जाता है। शुक्रनीति[१] में राजधानी के निर्माण का निम्नलिखित विवरण मिलता है :

"नाना वृक्ष और लता से आकीर्ण, पशुपक्षियों के समूह से आवृत, उदक (जल) तथा धान्य से युक्त, तृण तथा काष्ठ जहाँ सुगमता से प्राप्त हों, जहाँ से समुद्र तक आवागमन की सुविधा हो, पर्वत से अनतिदूर और सुरम्य सम भूदेश में राजा राजधानी बनावे (प्रकल्पयेत्)। अर्द्धचंद्राकार, वर्तुलाकार अथवा चतुरस्र (चौकोर), सुशोभना, प्राकारों (चहारदीवारी) से संयुक्त, परिखा (खाई) सहित, बीच में ग्रामादि (गृहसमूह) पूर्ण, सभामध्या, कूप-वापी-तडागादि से सदा युक्त, चारों दिशाओं में चार द्वारवाली, मार्ग-आराम (वाटिका)-वीथिका (गली) से संकुल और दृढ़, सुरालय (मंदिर)-मठ-पांथशाला (धर्मशाला) से विराजित राजधानी बनाकर तथा वहाँ सुरक्षित होकर प्रजा के साथ राजा बसे।...'

दूसरे नगर भी प्रायः राजधानी के अनुकरण पर बसाए जाते थे। उनका शासन दो भागों में बँटा हुआ था—सैनिक तथा नैगमिक (म्युनिसिपल)। सैनिक शासन कोट्टपाल के हाथ में होता था और नैगमिक स्थानाधिकृत के

[१] १. ११२-११३।

अधीन। स्थानाधिकृत स्थानीय श्रेष्ठी होता था और उसके अधीन नगर के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों की निगमसभा होती थी जिनको महाजन कहते थे। महाजन ही स्थानाधिकृत का चुनाव करते थे। नगर कई हट्टों में विभक्त था। विविध हट्टों की व्यवस्था महाजन लोग करते थे। निगम शासन को नगर के ऊपर कर लगाने का अधिकार था। नागरिक स्वेच्छा से भी अपने ऊपर कर अथवा लाग लगाते थे। ग्वालियर के पास सियाडोनी में प्राप्त उत्कीर्ण लेख[1] से ज्ञात होता है कि एक श्रेष्ठी ने विष्णुमंदिर का निर्माण कराया था और उसके संरक्षण तथा पूजन के लिये अक्षयनीविका (स्थायी कोष) की व्यवस्था की थी। कई वीथिकाएँ (दूकानयुक्त गलियाँ) मंदिर के लिये समर्पित थीं, जिनकी आय उसपर व्यय होती थी। इसी प्रकार नगर के कल्लपालों (कलालों=कलवारों) ने विष्णुमंदिर के लिये अपने प्रत्येक मद्यभांड के विक्रय पर ½ द्रम्म (रुपया) ताली (लाग) लगाई थी। इसी प्रकार धार्मिक तथा सार्वजनिक कार्यों के लिये दूसरे प्रकार के व्यवसायी भी अपने ऊपर ऐच्छिक कर लगाते थे। प्रत्येक नगर के द्वारों पर मंडपिका (चुंगीघर) होती थी जहाँ पर सामग्री का सोलहवाँ भाग (षोडशिका) चुंगी के रूप में वसूल होता था। प्रत्येक व्यवसाय की श्रेणी (संघ) होती थी जिसका अनुशासन सभी सदस्यों पर चलता था[2]।

१३. ग्रामशासन

मध्ययुग में एकतंत्र अथवा राजतंत्र की प्रधानता होने के कारण गावों का प्राचीन लोकतांत्रिक स्वरूप बदल चुका था। फिर भी उनमें स्थानीय शासन अभी सुरक्षित था और उसमें लोकतांत्रिक तत्व पाए जाते थे। ग्रामशासन[3] राज्यशासन की सबसे छोटी एकाई थी। इसकी व्यवस्था के लिये एक ग्रामसभा होती थी जो कई उपसमितियों में विभक्त थी। उपसमितियों को पंचकुली कहा जाता था। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, प्रत्येक उपसमिति के पाँच सदस्य होते थे। ग्रामसभा का मुख्य अधिकारी ग्रामपति, ग्रामिक, ग्रामप या महत्तर अथवा महत्तम कहा जाता था। शुक्रनीति में ग्रामप की योग्यता निम्नलिखित प्रकार से बताई गई है :

'जो ठग, चोर तथा अधिकारियों से प्रजा के संरक्षण में दक्ष हो ऐसा मातृपितृवत् पुरुष ग्रामप होता है[4]।'

[1] एपि० इंडि० जि० १, पृ० १७४।
[2] वही।
[3] वही, जि० ११ पृ० ४६।
[4] आधर्षकेभ्यश्चोरेभ्यो अधिकारिगणात्तथा।
प्रजा-संरक्षणे दक्षो ग्रामपो मातृपितृवत् ॥ २. ७०।

जैसा कि ग्रामप की योग्यता से स्पष्ट है ग्रामसभा का मुख्य कार्य रक्षात्मक था। ठग, चोर, डाकू आदि से वह रक्षा करती थी। साथ ही भ्रष्ट राजपुरुषों के अत्याचार से भी वह गाँव को बचाती थी। ग्रामसभा का दूसरा कार्य न्यायसंबंधी होता था। स्थानीय छोटे छोटे अभियोग ग्रामसभा के द्वारा निर्णीत होते थे। सरकारी कर वसूल करना भी उसी का काम था जिसके बदले में उसका एक अंश ग्रामसभा को मिलता था। ग्रामसभा के आर्थिक साधनों में साधारण अर्थदंड से प्राप्त धन, भूमिकर का एक अंश, स्थानीय चुंगी, बंजर और परती भूमि का उपयोग और विक्रय तथा ऐच्छिक कर संमिलित थे। गाँव के किसान देवकार्य के लिये अपनी आय का बीसवाँ और ब्राह्मणों को तीसवाँ भाग देते थे[1]। कई एक सार्वजनिक कार्य भी ग्रामसभा द्वारा संपादित होते थे। जलाशय, सड़क, पुल, पांथशाला, मंदिर आदि का निर्माण प्रायः उसके द्वारा होता था जिसके लिये राज्य से सहायता भी मिलती थी। पाठशाला, अनाथालय और चिकित्सालय की व्यवस्था भी उसी के हाथ में थी। अकाल, अग्नि, बाढ़, महामारी से ग्रामीणों के बचाने में भी ग्रामसभा का महत्वपूर्ण हाथ होता था।

१४. राजस्व

राजस्व शासन के प्रमुख अंगों में था, क्योंकि इसी के ऊपर राज्य की सारी योजनाएँ अवलंबित थीं। यही कारण है कि कोष की गणना राज्य के मूलतत्वों में की गई है। एतत्कालीन स्मृतियों, नीतिग्रंथों और उत्कीर्ण लेखों में राजस्व के संबंध में प्रचुर वर्णन पाए जाते हैं। राजस्व का प्रमुख स्रोत भूमिकर था जो कई रूपों में वसूल होता था। इसका महत्व शुक्रनीति[2] में निम्नलिखित प्रकार से दिया है :

'भूमि का परिवर्तन चतुर्भुज के समान कहा गया है। राजा पृथ्वी के भाग का ग्रहण प्राजापत्य मान से (लोकपाल होने से प्रजापति के समान) करे। आपत्तिकाल में मनु के मान से करे, और किसी प्रकार से नहीं। लोभ से जो संकर्षण करता है वह राजा प्रजा के साथ नष्ट हो जाता है। दो अंगुल भूमि को भी राजा अपना स्वत्व छोड़कर किसी को न दे, क्योंकि भाग की कल्पना राजा की वृत्ति के लिये की गई है; जबतक वह ग्रहण करेगा तभी तक जीवित रहेगा। परंतु गुणवान् राजा सदा देवालय, आराम (वाटिका)

[1] राज्ञे दत्वा तु षड्भागं देवानां चैव विंशकम्।
विप्राणां त्रिंशकं चैव सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ पराशर०।

[2] शुक्र० १. १०८–११।

तथा परिवारवाले मनुष्य को देखकर गृहनिर्माण के लिये भूमि का त्याग करे।'

इस संबंध में एक और प्रश्न विचारणीय है कि भूमि पर राज्य का एकाधिकार था अथवा कृषक का जो राज्य को करमात्र संरक्षण के बदले में देता था। कम से कम अर्थशास्त्र के समय से यह ज्ञात है कि भूमि दो प्रकार की होती थी। एक को भाग कहते थे जिसपर कृषक का पूरा अधिकार होता था और राज्य को केवल भाग या कर मिलता था। दूसरी सीता या राज्य की निजी भूमि होती थी, जिसपर या तो राज्य की ओर से खेती होती थी या राज्य स्वेच्छानुसार उसे उपरिकर या अधिक अतिरिक्त कर पर उठाता था। यह स्थिति मध्ययुग तक बनी रही। दान में राज्य द्वारा जो गाँव या उसका भाग दिया जाता था उसमें केवल कर वसूल करने का अधिकार हस्तातरित होता था, कृषक के अधिकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

भूमि पर निम्नलिखित कर लगाए जाते थे :

(१) भाग—यह भूमि के उपज का छठा भाग होता था। यह बहुत प्राचीन काल से सर्वमान्य कर था।
(२) भोग—राजा के उपभोग के लिये अतिरिक्त कर।
(३) उद्रंग—राजकीय भूमि के अस्थायी किसानों से लिया जानेवाला कर।
(४) उपरिकर—राजकीय भूमि के अस्थायी किसानो से कर।
(५) धान्य—विशेष अन्न पर लिया गया कर।
(६) हिरण्य—सोना आदि धातुओं पर कर।
(७) चाटभट प्रवेश—यात्रा पर पुलिस तथा सैनिकों के भोजनादि के लिये कर।
(८) चौरोद्धरण—चौर आदि से रक्षा के लिये लगाया हुआ कर।
(९) विष्टिक—बेगार।
(१०) प्रवणिका (स्पष्ट नहीं)।
(११) सस्कंधक (स्पष्ट नहीं)।

जैसा कि 'भाग' शब्द से प्रकट होता है, भूमिकर प्राचीन काल में सर्वथा और मध्ययुग तक प्रायः अनाज के रूप में वसूल होता था। पर ऐसा जान पड़ता है कि नवीं, अथवा दसवीं शती से देश के कुछ भागों में भूमिकर नकद लिया जाने लगा था[१]। शुक्रनीति में एक गाँव की राजकीय आय चाँदी के एक सहस्र कर्ष

[१] इंडि० एंटि०, जि० १६, पृ० १७४।

बताई गई है[१]। एक गुर्जर प्रतिहार दानपत्र में एक गाँव की आय पाँच सौ मुद्रा वर्णित है। उड़ीसा में एक गाँव की आय बयालीस रुपए मात्र थी। सेनवंशीय अभिलेखों से पता लगता है कि बंगाल में बारहवीं शती से भूमिकर नकद लिया जाने लगा था। भूमि की उर्वरता और सिंचाई के प्रबंध के अनुसार राजा का भाग (उपज का १/६ भूमिकर) घटता बढ़ता रहता था[२]। शुक्रनीति में तो ३३ प्रतिशत तक भूमिकर का विधान है। पर यह कहा गया है कि कृषक को भूमिकर और उत्पादनव्यय का कम से कम दूना मिलना चाहिए[३]।

भूमि की माप की प्रथा प्रचलित थी। प्रसिद्ध मापदंड **निर्वतन** था, यद्यपि छोटे खेतों की माप **वितस्त** (बालिश्त) से भी होती थी। गाँवो और खेतो की सीमा निश्चित होती थी। खेतों की सीमा को **आघात** कहते थे।

राजकीय आय का दूसरा प्रमुख साधन व्यापार था। स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। पश्चिमी एशिया और दक्षिणपूर्व एशिया दोनों से भारत का व्यापारिक संबंध था। पश्चिमी एशिया का व्यापार अरबों के उत्थान और प्रसार के कारण भारतीयों के हाथ से निकलता जा रहा था। उत्तरभारत के स्थल और जलमार्ग अब भी प्रशस्त थे और आंतरिक व्यापार अब भी चालू था। कृषि तथा उद्योग धंधों से उत्पन्न सामग्री का आयात-निर्यात होता रहता था। इससे कर रूप में राज्य को प्रचुर आय थी। उद्योग धंधों से उत्पन्न वस्तुओं पर कर लगता था जो १/२० से १/५० अंश तक होता था। विक्रय पर जो कर लगता था उसको **शुल्क** कहते थे। नगर में विक्रयार्थ आनेवाली वस्तुओं पर चुंगी लगती थी। नगर के द्वारों पर चुंगीघर बना होता था जिसको **मंडपिका** कहते थे। धार्मिक कृत्यों में उपयोगी बहुत से पदार्थ शुल्क से मुक्त होते थे। उत्कीर्ण लेखों में राजकीय आयों में 'भूत', 'उपात्त' और 'प्रत्याय' का उल्लेख मिलता है। संभवतः भूत का अर्थ पहले से उत्पन्न, उपात्त का अर्थ बाहर से आया हुआ और प्रत्याय का राज्य को किसी भी प्रकार प्राप्त है।[४] व्यापार तथा आयात-निर्यात से कर वसूल करनेवाले अधिकारी को **शौल्किक** कहा जाता था[५]।

१ भवेत्क्रोशात्मको ग्रामो रूप्य-कर्ष-सहस्रकः। शुक्र० १. ६२।

२ स्मृतिर० (पृ० ६२) में यह कहा गया है कि 'षष्ठ भाग तो उपलक्षण मात्र है। जहाँ तक प्रजा को पीड़ा न हो वहाँ तक प्रजापालन के आवश्यकतानुसार कर लग सकता है : षड्भागमुपलक्षणं यावत् प्रजानां पीडा न स्यात् तावदेव प्रजापालनस्यावश्यकत्वात्।'

३ शुक्र०, ४. २. ११५।

४ एपि० इंडि०, जि० ६, पृ० २६।

५ इंडि० एंटि०, जि० १५, पृ० १८।

देश की कुछ प्राकृतिक संपत्ति और उद्योग धंधों पर राज्य का एकाधिकार होता था जिससे उसको पर्याप्त आय होती थी। इनमें से 'खनि' (खान) का स्थान प्रमुख था। गहडवालों के ताम्रपट्टों में लोहे तथा नमक की खानों का विवरण मिलता है। वन और गोचर भूमि पर भी राज्य का एकाधिकार होता था, किंतु उनके ऊपर प्रजा के सीमित अधिकार (पशुचारण, जलौनी आदि के) राज्य को मान्य थे। यद्यपि अस्त्रशस्त्र का निर्माण पूर्णतः नियंत्रित नहीं था, फिर भी सिद्धांततः यह राज्य के एकाधिकारों में संमिलित था। मुद्रा (सिक्कों) का निर्माण और प्रचलन पूर्णतः राज्य-नियंत्रित था। मादक वस्तुओं का उत्पादन तथा विक्रय भी राज्य के हाथ में था। इसी प्रकार द्यूत और वेश्यावृत्ति को सरकार नियंत्रित करती थी और उससे राज्य को लाभ होता था। राजकीय न्यायालयों में अभियोगों के शुल्क तथा अर्थदंड से राज्य को नियमित आय होती थी।

यद्यपि नीतिग्रंथों में अतिरिक्त करों की निंदा की गई है, फिर भी आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त और असामयिक कर प्रजा पर लगाए जाते थे। उदाहरण के लिये आरक्षकों तथा सैनिकों के आवागमन के समय गाँववालों पर चाटभट-प्रवेश कर लगाया जाता था[1]। बाहरी आक्रमण के समय सैनिक व्यय बढ़ जाने के कारण अतिरिक्त कर लगता था। गहडवालों के उत्कीर्ण लेखों में तुरुष्क-दंड[2] का वर्णन मिलता है, जिसका अर्थ है तुर्कों के आक्रमण से बचाने के लिये लगा हुआ कर। विशेष परिस्थितियों में विष्टि या बेगार भी प्रजा से ली जाती थी।

मध्ययुगीन स्मृतियों तथा नीतिग्रंथों में कर के सिद्धातों का भी वर्णन पाया जाता है। सिद्धांततः कर राज्य का आर्थिक आधार होने के कारण सार्वभौम माना जाता था और समस्त प्रजा को किसी न किसी रूप में देना पड़ता था। परंतु प्रजा का ऐसा अंग जो समाज की आर्थिक इकाई न था, कर से मुक्त कर दिया जाता था। ऐसे अंगों में श्रोत्रिय ब्राह्मणों, स्नातकों, सैनिकों तथा अपांग लोगों की गणना थी। दूसरा प्रमुख सिद्धांत यह था कि कर हल्का होना चाहिए और प्रजापालन को ध्यान में रखकर ही इसका आरोप करना चाहिए। इस संबंध में शुक्र[3] का कथन है: 'भागहार (राजा) को मालाकार (माली) के समान होना चाहिए जो यत्नपूर्वक वृक्षों का पालन करके पुष्प और फल को चुनता है।'

[1] राजसेवकानां वसतिदंडप्रयाणदंडौ न स्तः। इंडि० एंटि०, जि० १४, पृ० ३१६।

[2] एपि० इंडि०, जि० १४, पृ० १६३।

[3] वृक्षान्संपुष्य यत्नेन फलं पुष्पं विचिन्वति।
मालाकार इवात्यंतं भागहारस्तथाविधि॥ शुक्र० २.७१।

तीसरा सिद्धांत यह था कि राजा नवीन कर और शुल्कों को न लगावे : 'नवीन कर और शुल्क आदि से लोक (प्रजा) उद्विग्न होता है; कुलीन राजा भी यदि गुण, नीति और सेना का द्वेष करता है तो वह अधार्मिक है।'[1]

१५. न्याय

अत्यंत प्राचीन काल से न्याय की व्यवस्था और अपराधियों को दंड देना राजा का परम कर्तव्य माना जाता था। मध्ययुग के धर्मशास्त्र-ग्रंथ और नीतिग्रंथ भी इस सिद्धांत को दुहराते हैं। कान्यकुब्ज के गहडवाल राजा गोविंदचंद्र के मंत्री प्रकांड पंडित लक्ष्मीधर ने अपने 'व्यवहारकल्पतरु' में संपूर्ण धर्मशास्त्र का सार निकालकर न्यायशासन-व्यवस्था के लिये अपूर्व निबंध-ग्रंथ प्रस्तुत किया। शुक्रनीतिसार, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रंथों तथा मेधातिथि, विश्वरूप, अपरार्क आदि के स्मृतिभाष्यों में न्यायव्यवस्था का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। लक्ष्मीधर ने व्यवहारमातृका के प्रारंभ में ही राजा के न्यायसंबंधी कर्तव्य को ध्यान में रखकर मनु० (८. १–३) को उद्‌धृत किया है : 'पार्थिव राजा व्यवहारों (विवादों) को देखने की इच्छा रखते हुए, ब्राह्मणों तथा मंत्रज्ञ (सूक्ष्म तत्वों को जाननेवाले) मंत्रियों के साथ विनीत होकर सभा में प्रवेश करे।' इसी प्रकार शुक्र ने कहा है : 'धर्मशास्त्र के अनुसार, क्रोध और लोभ से रहित होकर, प्राड्‌विवाक, अमात्य, ब्राह्मण तथा पुरोहित के साथ, सावधान चित्त से क्रमशः व्यवहारों (विवादों) को राजा देखे[2]।'

विवादों को देखने और निर्णय करने के समस्त कार्यक्रम को व्यवहार कहते थे। व्यवहारमातृका में उद्धृत कात्यायन के अनुसार 'वि (नाना अर्थों में) + अव (संदेह) + हार (हरण) के कारण इसको व्यवहार कहा जाता है'[3]। स्मृतिचंद्रिका में उद्धृत अपरार्क ने व्यवहार की परिभाषा इस प्रकार दी है : 'जब न्यायविस्तर (न्याय से पुष्ट) और प्रयत्नसाध्य (प्रयत्न से पालन योग्य) धर्माचरण विच्छिन्न हो जाता है तब साध्यमूल (जिसका मूल साध्य हो) जो वाद खड़ा किया जाता है उसको व्यवहार कहते हैं[4]।' हारीत ने और सरल परिभाषा दी

[1] नवीनकर-शुल्कादेर्लोकं उद्विजते ततः।
गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः॥ वही, २. ६४।

[2] वही, ४. १२८।

[3] वि नानार्थेऽव संदेहे करणं हार उच्यते।
नानासंदेह-हरणात् व्यवहार इति स्मृतः॥
जीमूतवाहन : व्यवहारमातृका, पृ० २८३।

[4] प्रयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्माख्ये न्यायविस्तरे।
साध्यमूलस्तु यो वादो व्यवहारः स उच्यते॥ स्मृति० २, पृ० १।

है : 'जिस प्रकार अपने धन की प्राप्ति हो और दूसरे के धन का वर्जन, जहाँ न्याय के साथ यह किया जाता है उसे व्यवहार कहते हैं[1]।' लक्ष्मीधर के अनुसार अर्थी और प्रत्यर्थी के बीच विवाद को ही व्यवहार कहते हैं[2]।

न्याय के परंपरागत स्रोतों और आधारों को इस काल के भाष्यों और निबंधों ने स्वीकार किया है, यद्यपि आवश्यकतानुसार उन्होंने उनमें परिवर्तन और परिवर्धन भी किया है। राजा को धर्मशास्त्र को सर्वप्रथम रखकर न्याय करना था। धर्म के उद्गम (१) श्रुति, (२) स्मृति, (३) सदाचार (शिष्टाचरण तथा प्रथाएँ) और (४) आत्मा को प्रिय (विकल्पों में) माने जाते थे। इनमें प्रथम स्वतः और अन्य परतःप्रमाण थे। इनके अतिरिक्त वेदांग, मीमांसा न्याय पुराणादि भी धर्म के स्रोतों में परिगणित थे। लक्ष्मीधर ने नारद के उस वाक्य को उद्धृत किया है जहाँ व्यवहार के निर्णय में अर्थशास्त्र भी प्रमाण माना गया है : 'धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के अविरोधी मार्ग से कुशलता के साथ समीक्षा करते हुए व्यवहार को संपन्न करना चाहिए[3]।' किंतु जहाँ धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में विरोध हो वहाँ धर्मशास्त्र को ही बलवत्तर प्रमाण माना गया है। जहाँ धर्मशास्त्र में विरोध होता था वहाँ युक्ति का सहारा लिया जाता था। सदाचार के तीन भाग थे (१) देशाचार, (२) जात्याचार तथा (३) कुलाचार। जाति, जानपद, श्रेणी तथा कुलधर्म को अच्छी तरह समझकर राजा को न्याय करने का आदेश था। व्यवहार चतुष्पाद (चार पादवाला) माना जाता था। चार पाद थे— (१) धर्म, (२) व्यवहार, (३) चरित्र और (४) राजशासन[4]। जहाँ वादी और प्रतिवादी दोनों सत्य बोलते थे और न्यायालय आगे विधिक कारवाई किए बिना निर्णय करता था वहाँ व्यवहार का आधार धर्म माना जाता था। साक्षी आदि प्रमाणों के आधार पर जहाँ निर्णय होता था उसका आधार व्यवहार था। देशविशेष में प्रचलित प्रथा या उदाहरण (मुख्यतः लिखित) के द्वारा जब निर्णय होता था तब उसका आधार चरित्र था। जब पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों

[1] स्वधनस्य यथा प्राप्तिः परधनस्य वर्जनम्।
न्यायेन यत्र क्रियते व्यवहारः स उच्यते॥ वही, पृ० १।

[2] व्यवहारान् अर्थिप्रत्यर्थिनो विवाद-विषयान्। कृत्य०, व्यवहारकांड, १. ८।

[3] धर्मशास्त्रार्थशास्त्राभ्यामविरोधेन मार्गतः।
समीक्ष्यमाणो निपुणं व्यवहारगतिं नयेत्॥ कृत्य०, व्यवहारकांड, पृ० १२।

[4] धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थं चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥
तत्र सत्ये स्थितो धर्मः व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम्॥ नारद०, १. १०-११, सरस्वती० पृ० ५८ पर उद्धृत।

समान बलवाले होते थे और राजा धर्मशास्त्रादि का ध्यान रखकर विवेक से अपना शासकीय निर्णय देता था तो उसका आधार राजशासन माना जाता था। चारों पादों के सापेक्ष बलाबल पर भी विचार किया गया है। इनमें से पश्चिम (पिछला) पूर्वबाधक (पूर्व का बाधक या पूर्व से बाधित) माना जाता था। आवश्यकतानुसार 'पूर्वबाधक' के दोनों अर्थ ग्राह्य होते थे।

न्यायव्यवस्था के लिये राज्य में कई प्रकार के न्यायालय होते थे। इनमें राजसभा प्रमुख न्यायालय थी जहाँ अन्य न्यायालयों से निर्णीत अभियोगों के संबंध में अंतिम अभ्यर्थना होती थी। न्यायालय चार प्रकार थे—(१) प्रतिष्ठित (नगरों और ग्रामों में), (२) अप्रतिष्ठित (जंगम), (३) मुद्रित (राजा की मुद्रा से अधिकार प्राप्त) और (४) शासित (जिसमें राजा स्वयं न्यायाधीश का कार्य करता था)[1]। न्यायालयों के वर्गीकरण का एक और भी प्रकार था जिसके अनुसार (१) कुल, (२) श्रेणी, (३) गण और (४) नृपाधिकृत वर्ग के न्यायालयों में न्याय की प्रतिष्ठा होती थी और उनका उत्तरोत्तर महत्व था[2]।

राजकीय न्यायसभा में राजा अथवा उसके द्वारा नियुक्त अध्यक्ष, ब्राह्मण, मंत्री, सभ्य, अमात्य, पुरोहित और प्राड्विवाक निर्णय के लिये उपस्थित होते थे। इन सभी में ऊँची योग्यता की अपेक्षा की जाती थी। राजा धर्मासन पर अंगों को संयत करके, समाहित होकर लोकपालों को प्रणाम करके कार्यदर्शन प्रारंभ करता था। ब्राह्मणों के लिये वेदादि का ज्ञाता होना आवश्यक था। मंत्रियों को मंत्रज्ञ होना अनिवार्य था, नहीं तो राजा के पथभ्रष्ट होने की आशंका थी। राजा 'साधु-कर्मक्रिया में युक्त, सत्यपरायण, क्रोध-लोभ से रहित, शास्त्रज्ञ' व्यक्तियों को सभ्य नियुक्त करता था। (वे आधुनिक न्यायालयों के असेसर के समकक्ष होते थे।) अमात्य और पुरोहित स्थायी अधिकारी होते थे और इनकी योग्यता पहले से परीक्षित होती थी। न्यायसभा में प्राड्विवाक का प्रमुख स्थान था। विवाद में वह प्रश्न और प्रतिप्रश्न पूछता था एवं प्रेमपूर्वक पहले ही बोलता था, इससे वह प्राड्विवाक कहलाता था। 'जिस प्रकार भिषक् यंत्रशक्ति के द्वारा शरीर से काँटा निकाल लेता है उसी प्रकार प्राड्विवाक व्यवहार के द्वारा (समाज-शरीर से) सत्य निकाल लेता है।' इनके अतिरिक्त न्यायसभा में गणक, लेखक आदि भी लेखनकार्य के लिये होते थे। हेम (सोना), अग्नि, अंबु (जल) आदि भी शपथ के लिये न्यायसभा में रखे रहते थे[3]।

[1] प्रतिष्ठितापुरे ग्रामे नानाग्रामेऽप्रतिष्ठिता।
मुद्रिताध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता ॥ बृहस्पति (अपरार्क द्वारा उद्धृत)।

[2] नारद० १. ७।

[3] लक्ष्मीधर : कृत्य०, व्यवहारकांड।

विवादास्पद प्रश्नों को व्यवहारपाद या विवादपाद कहते थे। व्यवहारपादों की संख्या धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के अनुसार १६ से २० तक थी। इस काल के निबंधकार कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति आदि को इस संबंध में उद्धृत करते हैं। सबसे लंबी सूची याज्ञवल्क्य से ली जाती थी जो निम्नलिखित और मिताक्षरा से अनुमोदित है :

(१) ऋणादान	(ऋण का लेना देना)
(२) उपनिधि	(धरोहर)
(३) अस्वामिविक्रय	(अनधिकृत विक्रय)
(४) संभूयसमुत्थान	(सहकारी कार्य)
(५) दत्ताप्रदानिक	(दिए का वापस लेना)
(६) वेतनादान	(वेतनसंबंधी)
(७) संविद्-व्यतिक्रम	(अनुबंध का भंग)
(८) क्रीतानुशय	(खरीदने में पूर्वाधिकार)
(६) विक्रीयासंप्रदान	(बेचकर नहीं देना)
(१०) स्वामिपाल-विवाद	(स्वामी तथा पालक में विवाद)
(११) सीमाविवाद	(सीमासंबंधी विवाद)
(१२) वाक्पारुष्य	(मानहानिसूचक वचन)
(१३) दंडपारुष्य	(आक्रमण)
(१४) स्तेय	(चोरी)
(१५) साहस	(डाका)
(१६) स्त्रीसंग्रहण	(स्त्री के साथ बलात्कार)
(१७) दायविभाग	(पैतृक संपत्ति का बँटवारा)
(१८) द्यूत-समाह्वय	(जूआ)
(१६) अभ्युपेताशुश्रूषा	(आगंतुक की सेवा)
(२०) प्रकीर्णक	(मिश्र—बहुसंख्यक)

लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकांड में मनु० (८. ४-८) के अठारह व्यवहारपादों का ही उल्लेख किया है। प्राचीन काल में कौटिल्य ने विवादों के क्रम से न्यायालयों को धर्मस्थीय और कंटकशोधन दो भागों में बाँटा था जिससे विवादों के दो मोटे वर्ग—(१) धर्मस्थ या व्यवहार और (२) पारुष्य (फौजदारी) ज्ञात होते हैं। पिछली स्मृतियों ने उनको (१) अर्थमूल या धनमूल और (२) हिंसामूल कहा है। प्रत्येक वाद के चार अंग होते थे—(१) पूर्वपक्ष (भाषा, आगम), (२) उत्तरपक्ष, (३) क्रियापाद (चिकित्सा) और (४) निर्णय। वादी के प्रस्तुत करने पर वाद की सुनवाई राजा करता था;

राजा को धनलोभ अथवा वशित्व (प्रभाव) से किसी विवाद का चलाना निषिद्ध था। हाँ, पारुष्य के वादों में राजा स्वयं कार्रवाई प्रारंभ कर सकता था।

वादों का निर्णय चार प्रमाणों के आधार पर होता था—(१) लिखित, (२) भुक्ति, (३) साक्षी तथा (४) दिव्य। लेख के प्रकार और विधि निश्चित थी। उसकी परीक्षा करके उसका प्रामाण्य स्वीकार किया जाता था। इसी प्रकार पूर्वापर भुक्ति (अधिकार) का भी विचार किया जाता था। बृहस्पति[1] के अनुसार वाद की प्रकृति के आधार पर नौ, सात, पाँच, चार, तीन अथवा दो श्रोत्रिय साक्षी हो सकते थे, किंतु एक साक्षी कभी नहीं। व्यास[2] के अनुसार साहस संबंधी वादों में एक व्यक्ति भी साक्षी हो सकता था, यदि वह शुद्धचारी, धर्मज्ञ और पहले से सत्य बोलने के लिये प्रमाणित हो चुका रहता था। साक्षियों की योग्यता, अयोग्यता तथा अपवाद सभी निश्चित थे। साक्षियों से प्रश्न पूछकर उनकी परीक्षा की जाती थी। अन्य प्रमाणों के न मिलने पर चतुर्थ प्रमाण (दिव्य) का उपयोग किया जाता था। दिव्य प्रमाणों के प्रायः नौ प्रकार थे—(१) घट या तुला, (२) अग्नि, (३) उदक, (४) विष, (५) कोष, (६) तंडुल, (७) तप्तमाषक, (८) फाल और (९) धर्मज[3]। इन प्रमाणों में पूर्व-पूर्व का महत्व अधिक था। अर्थमूल विवादों में दिव्य का प्रयोग नहीं किया जाता था। जहाँ कोई भी प्रमाण नहीं मिलता था वहाँ राजा ही प्रमाण होता था।

वाद का पूरा क्रियापाद अथवा चिकित्सा करके अंत में निर्णय दिया जाता था। वाद के सिद्ध होने पर वादी को जयपत्र मिलता था। जयपत्र में पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रियापाद, प्रमाण, परीक्षण, निगद, स्मृतिवाक्य, सभ्यों के मत, आदि संक्षेप से अंकित होते थे। पराजित प्रतिवादी को विनय और अर्थव्यय देने की आज्ञा होती थी। पारुष्य, साहस, स्तेय आदि के वादों में अभियुक्त को, वाद सिद्ध होने पर, कई प्रकार के दंड मिलते थे। देश, काल, कर्म, वर्ण, वय, विद्या, स्थानविशेष, शक्ति, वित्त आदि पर विचार कर अपराधानुसार दंड दिया जाता[4]। मोटे तौर पर दंड के प्रकार ये थे—(१) वाग्दंड, (२) धिग्दंड, (३) अर्थदंड, (४) रोधन, (५) बंधन, (६) अंगताडन तथा अंगभंग, (७) निर्वासन, (८) वध या प्राणदंड। प्राणदंड के संबंध में शास्त्रकारों में मतभेद था। कुछ तो इसके बिलकुल विरुद्ध थे। उदाहरणार्थ शुक्रनीति में कथन है : 'यावजीवन कोई

[1] स्मृति० २. ७६ में उद्धृत।

[2] वही।

[3] पितामह, अपरार्क (पृ० ६६४) द्वारा उद्धृत।

[4] लक्ष्मीधर : व्यवहारकांड, पृ० ७७८।

भी जीव वध के योग्य नहीं होता, क्योंकि श्रुति निश्चयपूर्वक यह कहती है कि प्राणियों की हत्या नहीं करनी चाहिए। इसीलिये राजा को सभी प्रकार के प्रयत्न से वध का त्याग करना चाहिए। उसे अवरोधन, बंधन और ताडन से ही दंड देना चाहिए[1]। मध्ययुग के दंडविधान की एक विशेषता यह थी कि यह वर्णानुक्रम या जातिक्रम से प्रायः होता था। पारुष्यवाले अपराधों में अनुलोम क्रम से अवर वर्णों को दंड अधिक मिलता था। लोभमूलक स्तेय आदि अपराधों में ऊपर के वर्णों को दंड कड़ा मिलता था। अधिकांश शास्त्रकारों के अनुसार ब्राह्मण वर्ण मृत्युदंड से मुक्त था, लांछन अथवा निर्वासन उसके लिये पर्याप्त समझा जाता था। कुछ शास्त्रकारों ने आततायी आदि ब्राह्मणों को वधार्ह माना है[2]।

१६. सैनिक शासन

मध्ययुग के पूर्व ही भारत में विशाल साम्राज्य एवं उसके निर्माण और स्थिति के लिये स्थायी और विपुल सेना का संगठन भी प्रायः समाप्त हो चुका था। परंतु राजनीतिक विघटन और विकेंद्रीकरण तथा राज्यों में परस्पर संघर्ष और युद्ध के कारण सैनिक वातावरण पहले से अधिक घना बना रहा। कान्यकुब्ज के के प्रतिहार और गहडवाल, दक्षिणापथ के चालुक्य और राष्ट्रकूट तथा बंगाल के पाल राज्यो के पास अपनी स्थायी सेनाएँ काफी बड़ी थीं, फिर भी वे और दूसरे बड़े राज्य युद्ध के समय प्रायः सामंतों की सेनाओं पर अवलंबित रहते थे। तथापि राज्यों में सैनिक विभाग होता था और उसकी व्यवस्था भी की जाती थी। राज्य के मूल तत्वों में 'बल' अब भी महत्व का माना जाता था। इस विभाग के मुख्य तीन उपविभाग थे—(१) दुर्ग, (२) अस्त्रशस्त्रागार और (३) सेना संगठन।

राजधानी, सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानो और सीमापंक्तियों पर अनेक प्रकार के दुर्गों का निर्माण देश की रक्षा और सैन्यशक्ति के संरक्षण के लिये होता था। शुक्रनीति[3] के अनुसार दुर्ग निम्नलिखित प्रकार के होते थे :

(१) ऐरिण—खात, कंटक और पाषाण से दुर्गम पथवाले दुर्ग को ऐरिण कहते थे।

[1] यावज्जीवं तु वा कश्चिन्न कश्चिद्वधमर्हति।
न निहन्याच्च भूतानि इति जागर्ति वै श्रुतिः॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वधदंडं त्यजेन्नृपः।
अवरोधाद्बंधनेन ताडनेन च कर्षयेत्॥ ४. ८८-८६।

[2] लक्ष्मीधर : कृत्य० व्यवहारकांड।

[3] ४. ५०-५४ पृ० १५४।

(२) पारिख—चारो ओर से विशाल खाईवाले दुर्ग को पारिख कहा जाता था।

(३) पारिघ—ईंट, पत्थर, मिट्टी और भीत से जिसका प्राकार बना होता था उसको पारिघ कहते थे।

(४) वनदुर्ग—बड़े बड़े काँटों और वृक्षों के समूह से जो व्याप्त होता था उसकी संज्ञा वनदुर्ग थी।

(५) धन्वदुर्ग—जिसके बाहर चारो ओर जल का अभाव होता था उसका नाम धन्वदुर्ग था।

(६) जलदुर्ग—जिसके चारो तरफ महा गहरा जल हो उसे जलदुर्ग कहा जाता था।

(७) गिरिदुर्ग—जिसके पृष्ठभाग में जल हो और जो ऊँचे (पार्वत्य) और एकांत स्थान में स्थित हो उसे गिरिदुर्ग कहते थे।

(८) सैन्यदुर्ग—जो अभेद्य हो तथा व्यूहरचना में प्रवीण वीरों से व्याप्त हो उसका नाम सैन्यदुर्ग था।

(९) सहायदुर्ग—जिसमें शूरो (सैनिकों) के अनुकूल बंधुजन (मित्र) रहते थे उसको सहायदुर्ग कहा जाता था।'

इन दुर्गों में पारिख से ऐरिण, ऐरिण से पारिघ और उससे वनदुर्ग श्रेष्ठ माना जाता था। वनदुर्ग से धन्वदुर्ग, धन्व से जल और जल से गिरिदुर्ग महत्वपूर्ण समझा जाता था। सहाय तथा सैन्यदुर्ग तो सभी प्रकार के दुर्गों के प्रसाधक (सहायक थे)। इन दोनो के बिना सभी दुर्ग निष्फल थे, इसलिये बुद्धिमान लोग सैन्यदुर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ समझते थे।

अस्त्र और शस्त्र का निर्माण और संग्रह सैन्यविभाग का अनिवार्य अंग था। मध्ययुग के पूर्व गुप्तकाल में जिन अस्त्रशस्त्रो (प्रहरण) का उपयोग होता था उनका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में पाया जाता है—परशु, शर, शंकु, शक्ति, प्रास, असि, तोमर, भिंदिपाल, नाराच, वैतंसिक आदि[1]। शुक्रनीति[2] के अनुसार प्रहरण (हथियार) दो प्रकार के थे। अस्त्र वह होता था जिसका उपयोग हाथ से पकड़कर होता था, जैसे असि (तलवार), कुंत (भाला) आदि। अस्त्र दो प्रकार के होते थे—(१) मांत्रिक (जो मंत्र से चालित हो, यह प्राचीन परंपरा और विश्वास की वस्तु थी; मध्ययुग में मंत्रशक्ति लुप्त हुई मानी जाती थी) और (२) नालिक। लघु, दीर्घ आकार, धारा आदि भेद

[1] फ्लीट : गुप्त अभि०, सं० ३।

[2] ४. २५-५०।

से अस्त्रशस्त्र के अनेक भेद होते थे। नलिका दो प्रकार की होती थी—(१) बृहत् (बड़ी तोप) और क्षुद्र (छोटी बंदूक)। नलिका में यंत्राघात, अग्नि और चूर्ण (बारूद) का भी प्रयोग होता था[1]। बहुत प्राचीन काल से भारत में शतघ्नी नामक अस्त्र का उल्लेख पाया जाता था। इसको कतिपय विद्वान् पत्थर के गोले फेंकनेवाला कोई यंत्र समझते हैं; परंतु यह एक प्रकार की नालिका हो सकती है। बाण की गणना भी अस्त्रों में ही की जाती थी। धनुषबाण इस युग का मुख्य हथियार था। शस्त्रों में गदा, खड्ग, प्रास, कुंत (भाला), शंकु, चक्र, लोहरज्जु आदि का प्रयोग होता था। शिरस्त्राणसहित कवच भी युद्ध में पहना जाता था।

सेनाविभाग का सबसे महत्व का अंग सैन्यसंगठन तथा युद्धसंचालन था। शुक्रनीति[2] के अनुसार सेना 'शस्त्र-अस्त्र से संयुक्त मनुष्यो के समूह को कहते हैं। वह स्वगमा तथा अन्यगमा दो प्रकार की और वही दैवी, आसुरी और मानवी तीन प्रकार की होती है।' जो अपने पैरों से चलती थी उसको स्वगमा और जो यान से चलती थी उसे अन्यगमा कहते थे। दूसरे शब्दो में पदातियों की सेना को स्वगमा और अश्व, गज (रथ) को अन्यगमा कहते थे। सेना की कल्पना अब भी चतुरंगिणी थी अर्थात् इसमें (१) पदाति (२) अश्व, (३) गज और (४) रथ होने चाहिए। परंतु मध्ययुग में पिछले कटु अनुभवों से चौथा अंग रथ युद्ध से लुप्त हो चुका था। पालों और चोलों के पास विशाल नौसेना (समुद्री सेना) थी। अन्य राजा भी नदियो से युद्ध करने के लिये नौसेना रखते थे। सेना के अंगों में गज अथवा हस्ति का महत्व अब भी स्वीकार किया जाता था। नीतिवाक्यामृत के अनुसार 'बल (सेना) में हस्ति प्रधान अंग है। अपने अवयवों से हाथी आठ आयुधवाला होता है' (बलसमुद्देश, २०७)। किंतु अशिक्षित हाथियों को वह केवल अर्थप्राणहरा मानता है। इस काल के राजाओ में उत्तरभारत के राजा हयपति, पूर्व के गजपति और दक्षिण के नरपति कहलाते थे। कोई त्रयाधिपति भी। इसके अतिरिक्त युद्धसामग्री, भोजन, औषध आदि के वहन के लिये शकट, बैल, घोड़े, खच्चर, ऊँट आदि भी सेना के पृष्ठभाग में होते थे।

सेना की भरती कई स्रोतों से होती थी। परंपरागत स्रोत थे—(१) मौल (वंशानुगत क्षत्रिय आदि जातियाँ), (२) भृत्य (केवल वेतन के लिये भरती),

[1] बहुत से ऐतिहासिक शुक्रनीति के इन श्लोकों को प्रक्षिप्त और परवर्ती मानते हैं।

[2] सेना शस्त्रास्त्रसंयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका।
स्वगमान्यगमाचेति द्विधा सैवपृथक्त्रिधा ॥ ४. ६३।

(३) श्रेणी (शस्त्रोपजीवी गणजातियाँ), (४) मित्रबल (मित्र राज्यों की सेना), (५) अरिबल (पराजित शत्रुराज्यों की सेना) और (६) अटवी बल (जंगली जातियों से भरती की हुई सेना)। इस समय तक श्रेणियाँ समाप्त हो गई थीं, अतः उनका उल्लेख नहीं मिलता। मानसोल्लास में अटवीबल को अधम कहा गया है।[1] सेना का संगठन कई क्रमशः बढ़ती हुई इकाइयों में किया जाता था; जैसे, (१) पत्ति, (२) सेनामुख, (३) गुल्म, (४) गण, (५) वाहिनी, (६) पृतना, (७) चमु, (८) अनीकनी और (९) अक्षौहिणी। नीतिप्रकाशिका[2] के अनुसार एक पत्ति में तीन घोड़े, पाँच पैदल, एक हाथी और एक रथ होते थे। तीन पत्ति का एक सेनामुख होता था। इस तरह ऊपर की इकाइयाँ तिगुनी होती जाती थीं, किंतु अक्षौहिणी अनीकनी की दसगुनी होती थी। इनके संचालन के लिये अलग अलग अधिकारी नियुक्त होते थे। उत्कीर्ण लेखों[3] के अनुसार सबसे प्रधान अधिकारी को महासेनापति और अंग विशेष के अधिकारी को सेनापति कहते थे। दौसाध्यसाधनिक नामक अधिकारी का भी उल्लेख मिलता है। संभवतः वह दुर्गभेदन आदि कठिन कार्य करता था। सैनिकों को मासिक नकद वेतन मिलता था। अधिकारी भी वेतन पाते थे। संभवतः प्रमुख सेनाधिकारी को भूमि भी मिलती थी।

यद्यपि मध्ययुग में राजा प्रायः परस्पर युद्धरत थे, किंतु सिद्धांततः यह माना जाता था कि जब राजनीतिक प्रश्नों के सुलझाने का दूसरा कोई उपाय सुलभ न हो तभी युद्ध करना चाहिए।[4] देश, काल और बल का विचार करके विग्रह (युद्ध) का प्रारंभ किया जाता था। जब शत्रु बल-मित्र-हीन, अपने दुर्ग के भीतर स्थित और दो शत्रुओं से घिरा हो तो युद्ध का उपयुक्त अवसर माना जाता था। शरत्, हेमंत और शिशिर युद्ध के लिये उपयुक्त ऋतुएँ थीं, वसंत मध्यम और ग्रीष्म अधम। वर्षाऋतु युद्ध के लिये गर्हित समझी जाती थी, क्योंकि उस समय साम (शांति) ही उचित था। परंतु गो, स्त्री, ब्राह्मण का विनाश उपस्थित होने तथा अन्य अनिवार्य परिस्थितियों में कभी भी युद्ध हो सकता था। सेना के प्रस्थान को जयप्रयाण कहते थे। उस अवसर पर जयस्नान आदि मंगल कार्य किए जाते थे। जो भूमि सेना के व्यायाम के लिये उपयुक्त और शत्रुसेना के विपरीत हो वह युद्ध के लिये उचित समझी जाती थी। युद्ध तीन प्रकार के होते

[1] २. ६. ५६०।

[2] ८. ३-१०।

[3] भागलपुर ताम्रपट्ट (नारायणपाल का)।

[4] उपायान्तरनाशे तु ततो विग्रहमाचरेत्।
विगृह्य संधाय तथा संभूय अथ प्रसंगतः॥ शुक्र० ४. ८५।

थे—(१) दैवी, (२) आसुर तथा (३) मानव। मंत्रादि से जो युद्ध होता था उसे दैवी, नलिकादि शस्त्रों से जो युद्ध होता था उसे आसुर और आमने सामने मनुष्य से मनुष्य का जो युद्ध होता था उसे मानव कहते थे[1]।

वास्तविक युद्ध में नैतिक परंपराओं के पालन का विधान था, यद्यपि यह कहना कठिन है कि कहाँ तक उनका निर्वाह होता था। अरब और तुर्कों के नृशंस आक्रमणों से ये परंपराएँ छिन्न भिन्न हो गईं। 'विजिगीषु (जय की इच्छा करनेवाले) बल तथा वीर्य से वह विजय नहीं प्राप्त करते जो सत्य, आनृशंस्य, धर्म तथा उद्यम से। धर्म से निधन श्रेय है; पाप कर्म से जय नहीं[2]।' इन परंपरागत उपदेशों के होते हुए भी मध्ययुग की सामंतवादी परिस्थिति में युद्ध के लिये बड़ा प्रोत्साहन था। शुक्रनीति के अनुसार 'राजाओं में युद्ध न करनेवाले को और ब्राह्मणों में अप्रवासी को भूमि वैसे ही निगल लेती है जैसे बिल में सोनेवाले चूहे को साँप'।[3] ब्राह्मण का संसार में क्षात्र जीवन प्रशंसनीय है। क्षत्रिय का यह महान् अधर्म है कि वह शय्या पर पड़ा पड़ा मरे।...लोक में ये दो पुरुष सूर्यमंडल का भेदन करनेवाले होते हैं, एक तो योगयुक्त संन्यासी और दूसरा रण में संमुख मरा हुआ वीर।[4] मिताक्षरा में उद्धृत शंख के अनुसार 'पानी पीते हुए, भोजन करते हुए, जूता उतारते हुए, कवचरहित, स्त्री, करेणु, घोड़े, सारथि, सूत, दूत, ब्राह्मण और राजा को नहीं मारना चाहिए[5]।' शरणागत को किसी अवस्था में भी नहीं मारा जाता था, यद्यपि शत्रुओं की ओर से इस नैतिक नियम का दुरुपयोग होता था। वृद्ध, बाल और स्त्री अवध्य माने जाते थे। भग्नशस्त्र, विपन्न, कृत्तज्य (जिसके धनुष की प्रत्यंचा कट गई हो), हतवाहन (जिसका वाहन नष्ट हो गया हो) पर कभी आक्रमण नहीं किया जाता था। घायल शत्रु की चिकित्सा की जाती थी। उसके घाव भर जाने पर उसको मुक्त कर दिया जाता था[6]। शुक्रनीतिसार में इनसे मिलते जुलते युद्ध के नैतिक नियम पाए जाते हैं। 'रथ के साथ रथ को, पदाति के संग पदाति को, एक के संग एक को, शस्त्र के संग शस्त्र को और अस्त्र के संग अस्त्र को (युद्धार्थ) मिलना चाहिए। स्थलारूढ़, क्लीव,

[1] शुक्र० ४।

[2] न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः।
यथा सत्यानृशंसाभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च॥ म० भा०, भीष्म० २१. १०।
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा। वही, शांति० ९५. १७

[3] शुक्र० ४. ३५।

[4] वही, ४. ३६–४६।

[5] याज्ञ० १. ३२६ पर भाष्य।

[6] म० भा०, शांति० ९५. १३–१४।

कृतांजलि (हाथ जोड़े हुए : शरणागत), मुक्तकेश (बाल खोले हुए), आसीन (बैठ हुए), 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहनेवाले, सुसन्न (थकित), विसन्नाह (कवचरहित), नग्न, निरायुध, युद्ध्यमान (दूसरे से युद्ध करते हुए), जल पीते हुए, भोजन करते हुए, अन्य कार्य में व्याकुल, भयभीत और युद्ध से पराङ्मुख को सत्पुरुषों के धर्म को स्मरण करता हुआ राजा न मारे[१]। परंतु इसके बाद शीघ्र ही शुक्र का कथन है : 'ये नियम धर्मयुद्ध में व्यवहृत होते हैं; कूटयुद्ध में नहीं। बलवान् शत्रु के नाश के लिये कूटयुद्ध के समान कोई युद्ध नहीं'[२]। मध्ययुगीन युद्धों के वर्णन से लगता है कि युद्ध संबंधी नैतिक नियमों का पालन भारतीय योद्धा न केवल आंतरिक युद्धों में ही करते थे, अपितु विदेशी आक्रमणकारियों के साथ भी। विदेशी आक्रमणकारी इन नियमों का पालन नहीं करते थे; अतः भारतीय सेनाओं को दुहरी हानि उठानी पड़ती थी। उत्तरभारत के राजवंशों में तो कूटयुद्ध प्रायः बंद ही हो गया; प्रकाश युद्ध में वीरता दिखाना ही उनमें जीवन का चरम लक्ष्य था। शुक्रनीति के कूटयुद्ध संबंधी उपदेश का पालन आगे चलकर महाराष्ट्र में हुआ, जहाँ लुक-छिपकर किसी भी प्रकार शत्रु का विनाश करना युद्ध की पद्धति बन गई।

१७. परराष्ट्र विभाग और परराष्ट्र नीति

बहुत प्राचीन काल से भारत के भीतर बहुत से राज्य थे और भारत के प्रमुख राज्यों का देश तथा विदेश के राज्यों के साथ राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संबंध रहता था। इसलिये राज्यों के परस्पर संबंधों के विषय में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा परंपरा से नीति और सिद्धांतों का विकास हो चुका था। प्रत्येक समृद्ध और महत्वाकांक्षी राज्य इनके प्रति जागरूक रहता था। मंत्रिमंडल में दूत अनिवार्य रूप से रहता था और बाहरी राज्यों से दूतों का आदान प्रदान होता था। मध्ययुग में आंतरिक द्वंद्वों में व्यस्तता और राजनीतिक अदूरदर्शिता के कारण यह जागरूकता कम हो गई थी। परंतु अंशतः इन नीतियों और सिद्धांतों का पालन होता था। नीतिवाक्यामृत, राजनीतिप्रकाश, नीतिमयूख, मनु के भाष्यकार मेधातिथि तथा याज्ञवल्क्य के भाष्यकार विज्ञानेश्वर आदि सभी ने परराष्ट्रनीति पर विचार किया है।

भारतीय राज्य की कल्पना ही अंतर्राष्ट्रीय थी। इसके अनुसार राज्य की सात प्रकृतियों में मित्र भी एक था। अतः प्रत्येक राज्य का यह उद्देश्य होता था

[१] ६. ७५–७८।

[२] धर्मयुद्धे तु कूटे नैव संति नियमा अमी।
न युद्धं कूटसदृशं नाशनं बलवद्रिपोः॥ वही, ४. ८०।

कि वह अपने पड़ोसी राज्यों में से यथासंभव अधिकतम राज्यों को अपना मित्र बनावे। राज्य का योगक्षेम (प्राप्ति और संरक्षण) दो बातों पर निर्भर था— (१) शम (शांति) और (२) व्यायाम (उद्योग)। षाड्गुण्य (छः प्रकार की अंतर्राष्ट्रीय नीति[1]) से शम और व्यायाम की उत्पत्ति होती है। षाड्गुण्य का ही परिणाम उदय होता है जो विकासोन्मुख अथवा ह्रासोन्मुख होता है। यह उदय मानवी तथा दैवी कारणों पर अवलंबित है। मानवी नय (नीति) के पालन से योगक्षेम और अपनय (अनीति) से विनाश होता है[2]।

विभिन्न राज्यों की स्थिति और उनके पारस्परिक संबंध को मंडल के रूप में कल्पित किया गया था। इस मंडल का केंद्र विजिगीषु (विजय की महत्वाकांक्षा रखनेवाला राजा) होता था[3]। उसी के संबंध से अन्य राज्यों का वर्गीकरण किया गया था। मंडल की सामान्यतः बारह प्रकृतियाँ मानी गई थीं जो निम्नलिखित हैं :

(१) विजिगीषु	(केंद्रस्थानीय विजयाकांक्षी राजा)
(२) अरिमित्र	(केंद्र के संमुख निकटतम प्रथम वृत्त पर स्थित राजा)
(३) मित्र	(केंद्र के संमुख दूसरे वृत्त पर स्थित राज्य)
(४) अरिमित्र	(केंद्र के संमुख तीसरे वृत्त पर स्थित राज्य)
(५) मित्रमित्र	(केंद्र के संमुख चौथे वृत्त पर स्थित राज्य)
(६) अरिमित्रमित्र	(केंद्र के संमुख पाँचवें वृत्त पर स्थित राज्य)
(७) पार्ष्णिग्राह	(केंद्र के पीछे पहले वृत्त पर स्थित राज्य : शत्रु)
(८) आक्रंद	(केंद्र के पीछे दूसरे वृत्त पर स्थित राज्य : जो बुलाया जा सके अर्थात् मित्र)
(९) पार्ष्णिग्राहसार	(केंद्र के पीछे तीसरे वृत्त पर : अरिमित्र)
(१०) आक्रंदसार	(केंद्र के पीछे चौथे वृत्त पर : मित्रमित्र)
(११) मध्यम	(जिसके राज्य की सीमाएँ विजिगीषु और अरि दोनों के राज्यों से मिलती हों और जो दोनों के बीच में मध्यस्थता कर सके)

[1] संधि, विग्रह, यान (आक्रमण), आसन, समाश्रय (अधीन होना) तथा द्वैधीभाव (भेद)। शुक्र० ४. ६५।

[2] कौटिल्य : अर्थ०; सोमदेव : नीतिवाक्य०।

[3] सम्पन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साहः कृतश्रमः।
जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरिति स्मृतः॥ कामंदक० ८. ६।

(१२) उदासीन — (जिसके राज्य की सीमाएँ विजिगीषु के निकट दो राज्यों के बाद हों और जिसकी विजिगीषु की नीति में कोई वास्तविक रुचि न हो[1])

वास्तव में इन समस्त राज्यों को विजिगीषु, अरि, मित्र और मध्यम में बाँटा जा सकता है क्योंकि राजनीतिक संपर्क और व्यवहार इन्हीं के साथ प्रायः होता था।

विजिगीषु अपनी शक्ति (प्रभु, मंत्र और उत्साह) के अनुसार परराष्ट्रों से षाड्गुण्य का व्यवहार करता था। यह षड्विध नीति इस प्रकार थी :

(१) संधि — (परस्पर शांति और सामंजस्य की स्वीकृति)
(२) विग्रह — (संघर्ष या युद्ध का दृष्टिकोण)
(३) यान — (युद्ध की तैयारी)
(४) आसन — (उदासीन दृष्टिकोण)
(५) द्वैधीभाव — (एक से युद्ध और दूसरे से संधि : संशय)
(६) संश्रय — (शक्तिमान राजा का आश्रय लेना[2])

शुक्रनीति[3] के अनुसार जिन क्रियाओं के करने से बलवान् शत्रु भी मित्र हो जाय उसको संधि कहते हैं। जिससे पराजित किया हुआ शत्रु अपने अधीन हो जाय उसे विग्रह कहते हैं। अपना अभीष्ट सिद्ध करने तथा शत्रु के नाश के लिये जो चढ़ाई की जाती है उसे यान कहते हैं। जिससे अपनी रक्षा तथा शत्रु का नाश हो वह आसन है। जिससे रक्षित होकर दुर्बल राजा भी बलवान् हो जाता है उसे आश्रय कहा जाता है। एक गुल्म से दूसरे गुल्म में अपनी सेना की स्थापना को द्वैधीभाव कहा जाता है। इन छः गुणों को मोटे तौर पर संधि, विग्रह तथा उदासीनता के अंतर्गत गिन सकते हैं। परराष्ट्र संबंधी परंपरागत नीति चार प्रकार की थी[4] :

(१) साम — (शांति या समझौता) 'तुमसे मुझसे परस्पर अनिष्ट की चिंता नहीं करनी चाहिए, किंतु सहायता करनी चाहिए। यह शत्रु के लिये साम है।'

(२) दान — (आर्थिक सहायता अथवा राजनीतिक क्रय) 'कर अथवा प्रमित ग्रामों द्वारा एक वर्ष के लिये

[1] सोमदेव : नीतिवाक्य०; विज्ञानेश्वर : मिताक्षरा (याज्ञ० १. ३४३)।
[2] विष्णुधर्मोत्तर० २. १४५. ६; सरस्वती०, पृ० ४२; मिताक्षरा (याज्ञ० १. ३४६)।
[3] ४. ६६–६६।
[4] शुक्र० ४. २८–३२।

प्रबल शत्रु को तुष्ट करे। यह यथायोग्य शत्रु के लिये दान है।'

(३) भेद — (परराष्ट्र में आंतरिक संघर्ष अथवा भेद उत्पन्न करना) 'शत्रु को साधक से हीन करना, प्रबल का आश्रय लेना, उसकी हीनता से जीना, शत्रु के लिये भेद कहा जाता है।'

(४) दंड — (बल अथवा सेना का प्रयोग) 'दस्युओं से शत्रु का पीड़न, धनधान्य से उसका कर्षण, उसके छिद्र का दर्शन, उग्र बलनीति से भय दिखाना, युद्ध में डटकर त्रास दिखाना, शत्रु के लिये दंड है।'

यथासंभव साम अथवा शांति का ही व्यवहार विहित माना जाता था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि जय और पराजय दोनों ही अनित्य हैं। जब साम से काम नहीं चलता था तब दान, जब इससे भी काम नहीं चलता था तब भेद और जब सभी उपाय विफल हो जाते थे तब दंड या युद्ध अंतिम साधन था[१]। युद्ध के नियंत्रण के लिये भी नैतिक नियम बने हुए थे जिनका पालन सामान्य अवस्था में प्रायः होता था। उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि मध्ययुग के राज्य इस नीति का पालन विवेकपूर्वक नहीं करते थे। वंशगत अभिमान, कन्या-पहरण, युद्धलिप्सा आदि के कारण भी ऐसी बहुत सी लड़ाइयाँ लड़ी गईं जो टाली जा सकती थीं।

[१] शुक्र० ४. ३४।

पंचम अध्याय

सामाजिक स्थिति

१. समाज की रचना

(१) **जातितत्व**—सामाजिक रचना के ताने बाने में कई मानव परिवार बहुत प्राचीन काल से घुले मिले थे। मूलतः भारतवर्ष कई जातीय भूमियों में बँटा था। उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्य और पूर्वापर समुद्र के बीच स्थित आर्यावर्त में आर्य बसते थे। हिमालय की उपरली शृंखलाओं और पूर्वोत्तरी भुजाओं में किरात जाति के लोग रहते थे जिनमें यक्ष, गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, आदि जातियाँ भी संमिलित थीं। विंध्य मेखला में आग्नेयवंश की शबर-पुलिंद आदि जातियों का निवास था। दक्षिणापथ के वन्य तथा पार्वत्य प्रदेशों में कोल, निषाध और हबशियों से मिलती जुलती जातियाँ रहती थीं। सुदूर दक्षिण में द्रविड जाति का मूलस्थान था। ऐतिहासिक कारणों—जातीय भ्रमण, उपनिवेश, विजय, व्यापार, सामाजिक संबंध, धार्मिक यात्रा आदि—से ये जातियाँ एक दूसरे के संपर्क में आई और बहुत से जातीय प्रतिबंध और वर्जनशीलताओं के होते हुए भी अनिवार्य रूप से उनका संमिश्रण हुआ। महाभारत के समय तक यह संमिश्रण पूरा हो चुका था और शुद्ध जाति का पता लगाना कठिन था। नहुषोपाख्यान[१] में जाति के संबंध में युधिष्ठिर के ये वचन हैं :

"हे महामति सर्प! 'जाति' शब्द का प्रयोग तो मनुष्यत्व (मनुष्य मात्र) में होता है। सब वर्णों के संकर (मिश्रण) के कारण शुद्ध जाति दुष्परीक्ष्य है। सभी जाति के पुरुष सभी जाति की स्त्रियों से सदा संतान उत्पन्न करते आए हैं। इसलिये तत्वदर्शी लोगो ने कहा है कि मानव में शील ही प्रधान है (जाति नहीं)।"

(२) **जतियों का समन्वय**—यद्यपि इस जातिसमूह में आर्यों की प्रधानता रही है, किंतु उन्होंने युरोप के गौरांगों की तरह अन्य जातियों के साथ उनके

[१] जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरत्वात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्वदर्शिनः॥ म० भा०, वन० १८०।

संपूर्ण विनाश और दासीकरण की नीति नहीं अपनाई और न तो ऐकांतिक वर्जनशीलता का ही व्यवहार किया। अपनी सामाजिक रचना में उन्होंने कुछ वन्य और पार्वत्य (अंत्यज) जातियों को छोड़कर सभी को स्थान दिया, यद्यपि उनमें अपनी जातिगत और वर्गगत सीमाएँ अब भी सुरक्षित थीं। मूलतः भारतीय जातियों के अतिरिक्त मुसलिम आक्रमण तक जो जातियाँ बाहर से आईं वे भी अपनी कुछ विशेषताओं को बचाते हुए विशाल भारतीय समाज में विलीन हो गईं। **पारसीक, यवन, वल्त्री, पह्लव, शक, तुषार (कुषण)** आदि जातियाँ गुप्तकाल के पहले ही भारत में आईं। इनका पूरा भारतीकरण हुआ और ये भारतीय समाज में आत्मसात् हो गईं। प्रारंभिक भेद और संघर्ष होते हुए भी ये अंतिम रूप से भारतीय समाज का अंग बन गईं। गुप्त साम्राज्य के ह्रासोन्मुख होने पर हूण नामक जाति ने भारत में प्रवेश किया। अपनी बर्बरता और नृशंसता के लिये यह प्रसिद्ध थी। अपनी अंतिम हार के बाद इस जाति के बहुत से लोग मध्यभारत, राजस्थान तथा पश्चिमोत्तर भारत में बस गए और इनका भी भारतीकरण हो गया। इन्होंने भारतीय भाषा, धर्म, सामाजिक संबंध, खानपान, वेशभूषा आदि अपना लिया। उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि कपिल नामक एक शक पंडित ने काठियावाड़ के सैंधव राजाओं के लिये एक दानपत्र की रचना की थी[1]। हूणों के ब्राह्मण-क्षत्रियों के साथ वैवाहिक संबंध का भी उल्लेख पाया जाता है। मध्ययुग में समाजीकरण की दो समस्याएँ थीं। एक तो हूणादि बाहरी जातियों को समाज में मिलाना और दूसरे बहुत से परंपरा-विरोधी तथा आचारभ्रष्ट भारतीय वर्गों को पूर्णरूपेण ग्रहण करना। दूसरे में बौद्ध, जैन, लोकायत, पाशुपत तथा कतिपय वाममार्गी संप्रदायों की गणना थी। आचारगत भेद होने से इनके समाजीकरण में प्रारंभिक अरुचि धर्मशास्त्रों में पाई जाती है परंतु आगे चलकर सभी संप्रदायों का सामाजिक समन्वय हो गया।

२. वर्ण

(१) चार वर्ण तथा वर्णसंकर—परंपरागत चार वर्णों का उल्लेख प्रायः सभी धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में पाया जाता है। किंतु इसके अतिरिक्त अनेक संकर वर्णों और जातियों की कल्पना हुई थी। शुक्रनीति[2] के अनुसार 'जाति पुराकाल में ब्रह्मा द्वारा कर्म के आधार पर चार भागों में विभाजित थी, परंतु अनुलोम और प्रति-

[1] एपि० इंडि०, जि० २६, पृ० २००।

[2] चतुर्धा भेदिता जातिः ब्रह्मणा कर्मभिः पुरा।
तत्तत्सांकर्यसांकर्यात् प्रतिलोमानुलोमतः॥
जात्यानन्त्यं तु संप्राप्तं तद्वक्तुं नैव शक्यते। शुक्र० ४. ५२।

लोम क्रम से पुनः पुनः संकर (मिश्रण) के कारण अनंत जातियाँ हो गई जिनका वर्णन करना शक्य नहीं है।' ये वचन वास्तव में उस सामाजिक प्रवृत्ति के द्योतक हैं जिसके कारण समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, चार कर्मात्मक वर्णों के अतिरिक्त अगणित संकर वर्णों, जातियों, उपजातियों और उप-उपजातियों में बँटता जा रहा था। इसका अर्थ यह है कि वर्णव्यवस्था का पाचन अब खराब हो गया था और अब वह मानव जातियो और वंशो को कर्मात्मक चार वर्णों में पचा नहीं पा रही थी। पहले समाज का निम्नतर स्तर शूद्र था। अब अतिशूद्र, असच्छूद्र, पंचम, अंत्यज, अस्पृश्य, अदृश्य, चांडाल, विगर्हित आदि की कल्पनाएँ बढ़ती जा रही थीं। पहले इसी जन्म में वर्णों के उत्कर्ष और अपकर्ष (विकास और ह्रास) का सिद्धांत मान्य था[1]। फिर अनुलोम विवाह द्वारा कई पीढ़ियों में वर्ण का परिवर्तन संभव माना जाने लगा[2]। इसके पश्चात् यह सिद्धात प्रचलित हो गया कि इस शरीर से वर्ण नहीं बदल सकता, तपस्या तथा सदाचरण से जन्मांतर में ही वर्ण का परिवर्तन संभव है[3]। शुक्र ने तो यह स्पष्ट मान लिया कि 'जन्म से उत्तम व्यक्ति नीच के संसर्ग से नीच हो जाता है, किंतु जन्मना नीच उत्तम संसर्ग से उत्तम नहीं हो सकता[4]।' यह निराशापूर्ण और पलायनवादी प्रवृत्ति ह्रासोन्मुख जीवन का लक्षण है। ह्रास तथा पतन की ओर तीव्रता से जानेवाले समाज में विभाजन तथा विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। भारतीय समाज ने अपनी परंपरागत उदारता से अपने विशाल घेरे में बहुत से वर्गों और जातियों को समेट अवश्य लिया किंतु उसका आंतरिक संघटन ढीला हो गया ; यह समाज खंड-खंड का संघात था, उसमें सेंद्रिय एकता नहीं थी। उसमे विपत्तियों को रोकने की शक्ति नहीं रही, यद्यपि वह विपत्ति सहकर जीवित रह सकता था। वर्ण के संबंध मे मध्य-युग में एक और भी सिद्धात प्रतिपादित हुआ कि कलियुग में केवल दो ही वर्ण— ब्राह्मण और शूद्र—हैं, क्षत्रिय तथा वैश्य नहीं[5]। इसका कारण चाहे जो हो, परिणाम यह हुआ कि कल्पना की रक्षा करने के लिये बहुत सी क्षत्रिय और वैश्य

[1] सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥ म० भा०, अनुशासन० १४३. ५१।

[2] वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पंचमे वा आचार्याः। गौ० ध० सू० ४. १८–१९। परवर्ती भाष्यों तथा निबंधों में प्रमाणरूप से उद्धृत। याज्ञ० १. ५६ ; पराशरमाधवीय, १. २. १२२।

[3] म० भा०, वन० २१५. १५। परवर्ती भाष्यों तथा निबंधों में उद्धृत।

[4] उत्तमो नीचसंसर्गाद् भवेन्नीचस्तु जन्मना।
नीचो भवेन्नोत्तमस्तु संसर्गाद् वापि जन्मना॥ ४. ५५।

[5] 'कलावाद्यन्तयोः स्थितिः'। पुराणांतर के नाम से 'शूद्रकमलाकर' में उद्धृत।

जातियाँ शूद्रों में परिगणित हो गईं। सामाजिक उत्कर्ष का भाव जाता रहा और अधिकांश जनता में अपने संबंध में हीनभाव उत्पन्न हो गया।

(२) वर्णों के कर्तव्य और अधिकार—वर्णों के कर्तव्यों और अधिकारों का विवरण इस काल के धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में पाया जाता है जो अधिकांश परंपरागत और अंशतः सामयिक है। यज्ञ, अध्ययन और दान तो द्विजमात्र के कर्म थे, किंतु यज्ञ कराना, पढ़ाना और दान लेना ब्राह्मण के विशेष थे। सज्जनों की रक्षा, दुष्टों का नाश, प्रजा से अपने अंश का कर रूप में ग्रहण क्षत्रिय के विशिष्ट कर्म थे। कृषि, गोरक्ष और वाणिज्य वैश्यों के अपने कर्तव्य थे। शूद्र आदि के कर्म दान और सेवा ही थे। क्रियाभेद से अनेक प्रकार की नौकरी उनकी अनिंदित वृत्ति थी। वर्णों के आपद्धर्म का भी शास्त्रों में विधान है। ब्राह्मण आपत्तिकाल में क्षत्रिय और वैश्य का काम कर सकता था। किंतु शूद्र का काम उसके लिये वर्जित था। जब राजवंश नष्ट हो जाय या किसी कारण से क्षत्रिय राज्य की रक्षा करने में असमर्थ हो तो ब्राह्मण अस्त्रशस्त्र धारण कर सकता था। ब्राह्मण यदि कृषि करता था तो एक हल की भूमि के लिये उसे सोलह बैल रखना विहित था जब कि अन्य वर्ण चार बैलो से काम चला सकते थे। क्षत्रिय वैश्य का और वैश्य शूद्र का काम जीविका के लिये कर सकता था[१]।

(३) समाज में वर्णों का स्थान तथा मान—**(अ)** ब्राह्मण : समाज में जहाँ तक वर्णों के स्थान और मान का प्रश्न है, ब्राह्मण सर्वोपरि था, किंतु वही ब्राह्मण पूज्य और गुरु माना जाता था जो समस्त विद्याओं को पढ़े होता था; अनपढ़ केवल जाति से गुरु नहीं हो सकता था। अनपढ़ ब्राह्मण ब्रह्मबंधु (ब्राह्मण का भाई) था, ब्राह्मण नहीं[२]। देवालय में पूजा करने, अयोग्य वेश धारण करने, निषिद्ध स्थान में रहने से ब्राह्मण का आदर घट जाता था। पराशर के अनुसार जिस ग्राम में 'अव्रत, अपढ़, भिक्षुक ब्राह्मण रहते हों उसे राजा दंडित करे, क्योंकि वह चोरों का पोषण करनेवाला है[३]।' अग्रहार तथा ब्रह्मदाय संबंधी उत्कीर्ण लेखों से प्रकट है कि इस युग में विद्वान् ब्राह्मणों की कमी नहीं थी। धर्मशास्त्रों के दंडविधान में ब्राह्मणों को कुछ विशेषाधिकार मिले हुए थे[४]। जिन अपराधों के

[१] शुक्र०, ४. ५६ आदि।

[२] शुक्र० १. ७५–७६; १. ७७–७८।

[३] अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः॥

[४] वधादृते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति।
शिरसो मुंडनं दंडस्तस्य निर्वासनं पुरात्॥ नारद० १–११; यम (स्मृति० २, पृ० ३१७ में उद्धृत)।

लिये अन्य वर्णों को प्राणदंड विहित था उसके लिये ब्राह्मण को निष्कासित या लांछित करना ही पर्याप्त समझा जाता था। कुछ भाष्यकारों ने तो ब्राह्मण के लिये अर्थदंड भी निषिद्ध ठहराया है। परंतु कात्यायन आदि स्मृतिकारों ने आततायी और सैनिक ब्राह्मण को वध्य माना है[1]।

(आ) **क्षत्रिय :** यद्यपि "कलौ आद्यन्तयोः स्थिति" (कलियुग में केवल ब्राह्मण और शूद्र वर्ण हैं) के अनुसार क्षत्रिय और वैश्य समाज में नहीं होने चाहिए, किंतु इस बात के पुष्कल प्रमाण हैं कि दोनों ही वर्ण समाज में वर्तमान थे। क्षत्रिय का वर्णानुक्रम से समाज में ऊँचा स्थान था और अन्य वर्ण भी जब राजनीतिक सत्ता स्वायत्त कर लेते थे तो उनका क्षत्रिय के समान ही आदर होता था[2]।

(इ) **वैश्य :** वैश्यों का सामाजिक स्थान मध्यम होने से परिवर्तनों का प्रभाव उनपर कम पड़ता था। उनका आर्थिक महत्व प्रायः बराबर बना रहा। परंतु उनकी संख्या में एक परिवर्तन अवश्य हुआ। कृषि और पशुपालन करनेवाले बहुत से वैश्य शूद्रों में गिने जाने लगे[3]।

(ई) **शूद्र :** जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि संप्रदायों के शुद्धिवाद और कृच्छ्राचार के कारण शूद्रों की सामाजिक अवस्था और गिर गई। यह एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक आश्चर्य है कि जिन धर्मों के प्रवर्तकों ने मानवमात्र की समता का उपदेश दिया उन्हीं के अनुयायियों ने बाह्यशुद्धि के नाम पर बहुसंख्यक मानव को मानवेतर स्थान दिया। इस काल के स्मृतिकारों और भाष्यकारों ने अपने पूर्वजनों से भी अधिक शूद्रों की अयोग्यताओं पर बल दिया है। पराशरस्मृति[4] के अनुसार शूद्र का भोजन, उसका संपर्क, एक आसन पर उसके साथ बैठना और उससे पढ़ना तो तेजस्वी व्यक्ति को भी पतित कर देनेवाला था। पहले सूपकार अथवा पाचक शूद्र ही हुआ करते थे, इस काल में उनके लिये यह कार्य वर्जित हो गया। कुछ लेखकों ने तो शूद्र को अस्पृश्य और अदृश्य भी माना है। वेदाध्ययन के निषेध का नियम शूद्रों के संबंध में खूब दुहराया गया है। पर ऐसा लगता है कि व्यवहार में ये सभी निषेध और अधिकांश प्रतिबंध असंभव थे। इस युग के अगणित शूद्र वैश्य के कर्म करते थे, कुछ राजवंश तक मूलतः शूद्र थे।

[1] याज्ञ० २. २८१ पर विश्वरूप द्वारा उद्धृत; वृद्धहारीत. ९. ३४९-५०।

[2] मेधातिथि (मनु० ३. ११९; ४. ८४, ११०; ५. ९३; ६. १-२ पर भाष्य)।

[3] यह परंपरा अमरकोश से प्रारंभ हुई जो वैश्य वर्ग के अंतर्गत वर्णों का महत्व सत्यानृत के आधार पर आँकता है। व्यापार और कृषि में उसे असत्य और हिंसा अधिक दिखाई पड़ती है। अतः वैश्य क्रमशः शूद्रों के साथ परिगणित होते गए (अमर० २. ९. २-३)।

[4] संस्कार, पृ० ५१३।

(उ) अस्पृश्यता : अस्पृश्यता और अदृश्यता देश के अधिकांश भागों में केवल एक शास्त्रीय सिद्धांत मात्र था, जिसका पालन अत्यंत कठिन था, क्योंकि सारे कृषि और व्यापार के कार्य तथाकथित अस्पृश्य जातियों के सहारे होते थे, शिल्प और अधिकांश कलाएँ भी उन्हीं के हाथ में थीं।

(ऊ) शूद्रों का आर्थिक स्वातंत्र्य : वस्तुतः इस युग में सामाजिक और आर्थिक स्वातंत्र्य शूद्र को पहले की अपेक्षा अधिक प्राप्त था। मनु[1] पर भाष्य करते हुए मेधातिथि ने लिखा है कि शूद्र के लिये दास्य का दैवी विधान और स्वतंत्रता की अयोग्यता केवल अर्थवाद है, क्योंकि स्वयं मनु ने अन्य स्थानों पर शूद्रों की मुक्ति की व्यवस्था की है। दास्य शूद्र के लिये सहज नहीं, ऐच्छिक है, क्योंकि अन्य वर्णों का दास्य वह कर्तव्यबुद्धि से और पुण्य के लिये करता है, यह क्रीत अथवा गृहज दास के समान विक्रीत अथवा प्रदत्त नहीं हो सकता। मेधातिथि शूद्र के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं। शूद्र-शिष्यत्व के बारे में उनका कथन है कि शूद्र को व्याकरण और विज्ञानादि पढ़ाने का अधिकार है (निषेध केवल वेदाध्ययन और वेदाध्यापन का है)। जहाँ तक धार्मिक कृत्यों और वैदिक संस्कारों का संबंध था, शूद्र सभी का निर्मंत्र अनुष्ठान कर सकता था। यह सच है कि शूद्र के सामाजिक अधिकार और कर्तव्य दोनों सीमित थे। दासों का वर्णन इस काल की स्मृतियों में प्रायः नहीं के बराबर है। मेधातिथि ने घरेलू नौकरों के प्रति उदार व्यवहार की व्यवस्था अपने भाष्य में की है। दक्षिण के मंदिरों में दास-दासी रखे जाते थे, किंतु उत्तर के मंदिरों में यह प्रथा नहीं थी। उपमितिभवप्रपंचकथा[2] में विंध्याचल के भीलों में दासविक्रय का उल्लेख पाया जाता है।

३. जातियाँ

(१) जातियों की संख्यावृद्धि—सामाजिक विघटन और विभाजन के कारण जातियों और उपजातियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। जन्म, स्थान, व्यवसाय, संप्रदाय, प्रथा आदि के आधार पर नई नई जातियाँ बनने लगीं, जिनका स्वार्थ सीमित घेरे में बंद होने लगा और सामाजिक समष्टि दृष्टि से ओझल होने लगी। एक बार वर्णव्यवस्था ने हजारों जातियों को सामाजिक आदर्श और कार्यव्यवस्था के अंतर्गत संघटित किया था। वर्ण इस युग में स्वयं जाति बन गया। जातिव्यवस्था ने फिर वर्ण को आक्रांत कर लिया। ब्राह्मण मध्ययुग में पहली बार दस शाखाओं—

[1] मनु० ८-१५ पर भाष्य।

[2] ४०४. ०५।

पंच गौड (गौड, सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल और उत्कल) तथा **पंच द्रविड** (नागर, महाराष्ट्र, कर्णाट, तैलंग और द्रविड)—में बँटे। इनमें क्रमशः विवाह-संबंध और भोजनादि भी परस्पर बंद हो गए। क्षत्रिय वर्णगत न रहकर वंशगत और जातिगत बन गए। अपने वंश और स्थानीय राज्य के लिये युद्ध करना ही उनका कर्तव्य रह गया। वैश्यों और शूद्रों में तो अनगिनत जातियाँ फिर उत्पन्न हो गई जो परस्पर वर्जनशील और संकीर्ण थीं। संकर वर्णों के काल्पनिक सिद्धांत ने नई जातियों के निर्माण में बहुत योग दिया। बहुत सी व्यावसायिक जातियाँ अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न मान ली गईं।

(२) **अलबेरुनी का साक्ष्य**—ग्यारहवीं शती वि० के उत्तरार्द्ध में अल बेरुनी ने उत्तरभारत का भ्रमण किया और भारतीय शास्त्रों का अध्ययन भी। वह भारतीय जातियों के संबंध में लिखता है : "प्राचीन खुसरो ने इस प्रकार (जाति) की महती संस्था का निर्माण किया था जिसका भंग व्यक्तिगत गुणों और घूस से नहीं हो सकता है। अर्दशिर ने जब फारसी साम्राज्य का पुनःस्थापन किया तो जातियों का भी पुनरुत्थान किया जो इस प्रकार की थीं :

(१) राजा और सामंत
(२) भिक्षु, पुरोहित और धर्मशास्त्री
(३) वैद्य, ज्योतिषी और वैज्ञानिक
(४) कृषक और शिल्पी

और इन जातियों के भीतर अनेक उपजातियाँ थीं जो एक दूसरे से भिन्न परंतु एक ही मूल जाति के अंतर्गत थीं। हिंदुओं में भी इस प्रकार की संस्था थी। हम मुसलमान सभी मनुष्यों को, धार्मिक पवित्रता को छोड़कर, समान समझते हैं। यह एक बहुत बड़ी कठिनाई है जो हमारे और हिंदुओं के बीच परस्पर समझदारी और समझौता नहीं होने देती। हिंदू अपनी जातियों को वर्ण अथवा रंग कहते हैं और वंशानुक्रम से उन्हें जात (जाति)। प्रारंभ से उनकी संख्या चार है। सबसे ऊँची जाति ब्राह्मणों की है, उसके पीछे क्षत्रियों की। क्षत्रिय ब्राह्मणों से बहुत नीचे नहीं हैं। इसके बाद वैश्य और शूद्र हैं। इन दोनों में बहुत अंतर नहीं है। इनमें कुछ आंतरिक भेद होते हुए भी ये एक ही नगर और गाँव में मिल-जुलकर, और एक ही घर में मिश्र रूप से, रहती हैं।[१]"—अलबेरुनी के वर्णन में वर्ण और जाति में स्पष्ट अंतर नहीं जान पड़ता। इसका कारण उसकी जानकारी की कमी हो सकती है, किंतु ऐसा लगता है कि दसवीं शती के पूर्व जातियों की संख्या

[१] सखाउ : अलबेरुनीज इंडिया, भाग १, पृ० ९९-१०१।

अधिक नहीं थी, यद्यपि उपजातियों की संख्या में वृद्धि प्रारंभ हो गई थी। नई जातियों की उत्पत्ति और वृद्धि के प्रायः तीन कारण थे—(१) आचार (भोजनादि)-शुद्धि, (२) वंशशुद्धि (रक्त अथवा विवाहादि) तथा (३) देशाचार (प्रथाएँ)।

(३) ब्राह्मणों में जातिभेद—ब्राह्मण पहले शुद्ध वर्ण मात्र था और यद्यपि मध्ययुग में भी इसमें जातियाँ और उपजातियाँ अन्य वर्णों की अपेक्षा कम बनीं, तथापि इसके कई विभाजन हो गए। उत्कीर्ण लेखों से विदित है कि पहले ब्राह्मणों का परिचय उनके गोत्र, शाखा और प्रवर (वैदिक विभाजन) के आधार पर होता था। अब प्रदेश और नगर के आधार पर होने लगा। जैसा पहले लिखा गया है, ब्राह्मणों की दस प्रमुख स्थानीय शाखाएँ बनीं—पंचगौड और पंचद्रविड। उत्तरभारत के ब्राह्मण पंचगौड कहलाते थे, जिनमें (१) गौड़, (२) सारस्वत, (३) कान्यकुब्ज, (४) मैथिल तथा (५) उत्कल संमिलित थे। इसी समय ब्राह्मणों की उपाधियों की भी उत्पत्ति हुई। सं० १२८३ वि० के एक परमार उत्कीर्ण लेख में[१] गोत्र-प्रवर के साथ साथ पंडित, दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी, आवस्थिक आदि का उल्लेख पाया जाता है। प्रतिहारों और गहडवालो[२] के ताम्रपट्टों में ब्राह्मणों की ये उपाधियाँ मिलती हैं। पहले सवर्णमात्र में विवाह और सहयोग संभव था। अब इनमें प्रतिबंध लग गए। ब्राह्मण वर्ण निम्नलिखित स्थानीय शाखाओं तथा उपशाखाओं में विभक्त हो गया: १. काश्मीरी, २. नगरकोटिया, ३. मुह्याल, ४. सारस्वत, ५. गौड, ६. नर्नोल, ७. कान्यकुब्ज, ८. सरयूपारीण, ९. जेजाकभुक्ति (जिझौतिया), १०. त्रिपुरीय (तिवारी), ११. श्रीमाली, १२. पुष्कर्ण (जोधपुर में), १३. सिंधी, १४. नागर, १५. मोधा (धर्मारण्य के) १६. दशपुरीय (दसोर), १७. गुर्जर, १८. मालवीय, १९. बंगीय, २०. उत्कल, २१. देशस्थ, २२. कोंकणस्थ, २३. कर्हाटक, २४. कर्णाटक, २५. आंध्र (तैलंग), २६. द्रविड (तामिल) तथा २७. नंबूदरी (मलयाली)। संख्या २१ से लेकर २७ तक की उपशाखाएँ दाक्षिणात्य ब्राह्मणों में थीं। इनके अतिरिक्त कुछ और उपशाखाएँ भी धीरे धीरे विकसित हुईं।

(४) क्षत्रियों के भेद—क्षत्रिय वर्ण का विभाजन स्थान की अपेक्षा वंश अथवा कुल तथा वृत्ति के ऊपर अधिक हुआ। पश्चिमोत्तर भारत पर मुसलमानों के आक्रमण के कारण बहुत से क्षत्रिय वंशों का विघटन हुआ और उनके हाथ से शासन संबंधी तथा सैनिक कार्य निकल गए। फलतः उन्हें वैश्यवृत्ति—व्यापार तथा

[१] एपि० इंडि०, जि० ६, पृ० १०८-१२१।
[२] वही, जिल्द ४, पृ० १२६।

कृषि—अपनानी पड़ी। इस प्रकार क्षत्रियों के पहले दो मोटे विभाग हो गए—(१) राजपुत्र (शासक वर्ग) और (२) राजपुत्रेतर। बल्लालसेन के अभिलेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है, जिसमें शासकवर्ग के क्षत्रियों को राजपुत्र कहा गया है।[1] स्थान के आधार पर भी एक प्रकार से वर्गीकरण हुआ, जैसे (१) राजस्थान, मध्यभारत तथा उत्तरप्रदेश, (२) पश्चिमी हिमालय प्रदेश, (३) महाराष्ट्र, (४) द्रविड़ तथा (५) पौर्वात्य। क्रमशः प्रथम दो शुद्ध क्षत्रिय और अन्य व्रात्य क्षत्रिय माने जाने लगे और कहीं कहीं शूद्रों के साथ उनकी गणना भी होने लगी। वंशानुक्रम से पृथ्वीराजरासो में क्षत्रियों के छत्तीस[2] कुलों की निम्नलिखित सूची मिलती है :

(१) रवि, (२) ससि (शशि), (३) जाधव (यादव), (४) ककुत्स्थ, (५) परमार, (६) सदावर, (७) चाहुवान (चाहुमान=चौहान), (८) चालुक (चालुक्य), (९) छंदक (चंदक=चंदेल), (१०) सिलार (शिलाहार), (११) अभीयर (आभीर), (१२) दोयमत्त, (१३) मकवान, (१४) गरुअ, (१५) गोहिल, (१६) गोहिलपुत्र, (१७) चापोत्कट, (१८) परिहार, (१९) रावराठोर (राष्ट्रकूट), (२०) रोसजुत, (२१) देवरा, (२२) टांक, (२३) सैंधव (सैंधव), (२४) अनिग (अनंग), (२५) यौतिक, (२६) प्रतिहार, (२७) दधिषट, (२८) कारट्टपाल, (२९) कोटपाल, (३०) हुल (हूण), (३१) हरितट, (३२) गौर (गौड), (३३) कमाप (कलाष), (३४) भट, (३५) धान्यपालक, (३६) निकुंभवर, (३७) राजपाल, (३८) कविनीस तथा (३९) कालच्छुरक (कलचुरि[3])।

(३) कायस्थ—मध्ययुग में 'कायस्थ' नामक एक नई जाति का उदय हुआ। प्राचीन काल में याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार शासन (काय) में स्थित लेखक—संख्यायक, गणक आदि—को कायस्थ कहते थे। समाज में इनका यश

[1] जयिरे राजपुत्राः : एपि० इंडि० जि० १४, पृ० १२६।

[2] वंशों अथवा कुलों की छत्तीस संख्या राजतरंगिणी और कुमारपालचरित में भी पाई जाती है। रासो में भी समस्त संख्या छत्तीस दी हुई है किंतु गणना उनतालीस तक पहुँच जाती है। इसका कारण यह है कि प्रथम तीन वंश (मूल क्षत्रिय वंश) मध्ययुग में भी दुहरा दिए गए हैं।

[3] मध्ययुग में इन वंशों का इतना महत्व बढ़ा कि क्षत्रियों के वैदिक गोत्र, प्रवर, शाखा आदि सभी दब गए और केवल धार्मिक क्रियाओं के लिये उन्होंने अपने पुरोहितों का गोत्र पकड़ लिया।

अच्छा नहीं था। अतः याज्ञवल्क्य स्मृति[1] में कहा गया है : 'राजा को चाट [ठग; किसी के अनुसार आरक्षक (पुलिस)], तस्कर (चोर), दुर्वृत्त (दुराचारी), महासाहसिक (डाकू) तथा विशेषतः कायस्थों से पीड्यमान प्रजा को बचाना चाहिए।' इसपर मिताक्षरा में विज्ञानेश्वर ने भाष्य किया है : 'कायस्थ का अर्थ है लेखक तथा गणक। उनसे विशेष करके प्रजा को बचाना चाहिए, क्योंकि राजा के प्रिय तथा मायावी होने के कारण उनका निवारण करना कठिन होता है[2]।' इससे स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शती तक अभी कायस्थों की कोई जाति नहीं बनी थी। कायस्थ वर्ग में सभी वर्णों और जातियों के लोग संमिलित थे। अतः उनके आचार-विचार, विवाहसंबंध, भोजन-पेय आदि भिन्न भिन्न थे। किंतु व्यवसाय से वर्ग की तथा वर्ग से जाति की कल्पना उत्पन्न हुई और मूलतः मिश्र समुदाय अपने को एक जाति का समझने लगा, यद्यपि बहुत पीछे तक उसकी उपजातियाँ अपने को परस्पर विभिन्न समझती रहीं। मध्ययुग में स्थानभेद से इनकी भी कई उपजातियाँ बन गई, जैसे गौड (थाणेसर के पास के), भटनागर (भटनगर=भटिंडा के पास के), माथुर (मथुरा के पास के), सकसेना (संकाश्य=सकिसा के पास), श्रीवास्तव (श्रावस्तव्य=श्रावस्ती के पास के)। मध्ययुग की राजनीति और शासन में—विशेषतः अधिकरणों (कार्यालयों), राजस्व (माल) और निगमों (नगरपालिकाओं) में—उनका प्रमुख स्थान था[3]। मुसलमानों के बाद भी उनका प्रभाव और स्थान सुरक्षित रहा।

(५) वैश्यों की जातियाँ—वैश्यों की प्राचीन काल से अगणित जातियाँ थीं, क्योंकि समस्त सामान्य जनता (=विश्) इसमें संमिलित थी। कृषि, गोरक्ष और वाणिज्य इनके मुख्य व्यवसाय थे। जैसा पहले कहा गया है, बौद्ध, जैन और वैष्णव शुद्धिवाद और कृच्छ्राचार के प्रभाव से कृषि और गोरक्षा के साथ, उनकी प्रक्रिया में हिंसा और असत्य का मिश्रण होने से, अनृत (पाप) तथा सत्यानृत (सत्य के साथ असत्य और पाप) की भावना जुटने लगी। इसलिये बहुत सी वैश्य जातियाँ धीरे धीरे शूद्रों में परिगणित होने लगीं और उनके साथ वर्णसंकर का सिद्धांत भी जोड़ दिया गया। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अनुकरण पर, स्थान और वंशानुक्रम के आधार पर, वैश्यों की बहुत सी जातियाँ और शाखाएँ बन गई। केवल वाणिज्य करनेवाली वैश्य जातियों की संख्या इस समय लगभग एक सौ थी।

[1] चाटतस्कर-दुर्वृत्त-महासाहसकारिभिः।
पीड्यमाना प्रजाः रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषतः॥ १. ३३६।

[2] कायस्था लेखका गणकाश्च तैः पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत्। तेषां राजवल्लभतयातिमायावित्वाच्च दुर्निवारत्वात्॥ मिताक्षरा, याज्ञ० १. ३३६।

[3] एपि० इंडि०, जि० १२, पृ० ६; इंडि० एंटि०, जि० १६, पृ० २१८।

प्राग्वाट, कारापक, पोरवाल, मोढ़ आदि वंशों के नाम उत्कीर्ण लेखों में पाए जाते हैं[1]। ये शैव, वैष्णव तथा जैन धार्मिक संप्रदायों में बँटे हुए थे। वाणिज्य-व्यवसायी वैश्यों की सामाजिक अवस्था ऊँची थी। उनके दान, धार्मिक अनुष्ठान और मंदिरनिर्माण आदि के बहुत से उल्लेख पाए जाते हैं।

(६) **शूद्रों की जातियाँ**—शूद्रवर्ण में भी अनेक जातियों और उपजातियों का उदय हुआ। समाज में अनेक प्रकार के श्रम, शिल्प और व्यवसाय थे, जिनके आधार पर शूद्रों का विभाजन हुआ। इस काल में शूद्रों में सबसे अधिक जातियाँ थीं। जैसा पहले उल्लेख किया गया है, बहुत सी वैश्य जातियाँ भी शूद्रों में आ मिलीं। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ एक ओर बहुत सी वैश्य जातियों का अपकर्ष (ह्रास) हुआ वहाँ संपूर्ण शूद्र वर्ण का उत्कर्ष (उन्नति), और उनकी आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था ऊँची उठ गई। शूद्रों के दो भाग हो गए—(१) सच्छूद्र (सत्=अच्छा + शूद्र) जिसके साथ उच्च वर्ण का सामाजिक संपर्क हो सकता था और (२) असच्छूद्र (असत्=अशुद्ध) जिसके साथ उच्च वर्ण का निकट संपर्क वर्जित था। स्वतः शूद्रों में भी परस्पर ऊँच नीच का भाव था; भोजन, विवाहसंबंध और सामाजिक संपर्क अपनी उपजाति तक सीमित थे। उच्च वर्णों के समान ही स्थान और वंशानुक्रम से शूद्रों की असंख्य जातियाँ बोधित होने लगीं।

४. अंत्यज और अस्पृश्यता

कृच्छ्राचार तथा भोजन, विवाह एवं संपर्क के संबंध में वर्जनशीलता और संकीर्णता के कारण मध्ययुग में अंत्यजों और अस्पृश्यों की संख्या भी बढ़ गई। पहले अंत्यज का अर्थ 'सभ्य बस्ती के अंत (छोर) पर रहनेवाला' होता था; अर्थात् ऐसे व्यक्ति और जातियाँ जिनका समाजीकरण पूर्ण नहीं होता था वे अंत्यज मानी जाती थीं। उनके साथ अशौच, अपवित्रता, पापभावना और अस्पृश्यता का कोई संबंध नहीं था। मध्ययुगीन स्मृतियों की कई जातियाँ—चर्मकार चाडाल, पौल्कस, वरुा, विदलकार, वासःपल्पूलि (रजक)—वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में[2] पाई जाती हैं, परंतु उनके साथ अस्पृश्यता का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत और मनुस्मृति के अनुसार मनुष्य मात्र के चार ही वर्ण हो सकते हैं; पाँचवाँ वर्ण नहीं होता।[3] पाणिनि और पतंजलि ने चांडाल और मृतप

[1] ज० रा० ए० सो० बं०, जि० ५५, पृ० ४०; इं० एंटि०, जि० ११, पृ० ७२।

[2] ऋग्० ८. ५. ३८; वाजसनेयी; तैत्तिरीय ब्राह्मण।

[3] स्मृतास्च वर्णास्चत्वारः पंचमो नाधिगम्यते। महा० अनुशासन० ४७. १८; चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः। मनु० १०. ४।

को शूद्रवर्ण के अंतर्गत माना है।[१] ऐसा जान पड़ता है कि आचार और प्रथा के आधार पर क्रमशः शूद्र और चांडाल आदि जातियों में भेद बढ़ता गया और चांडाल आदि अस्पृश्य मान लिए गए। स्मृतियों के अनुसार अस्पृश्यता जन्म से नहीं किंतु अशौच से उत्पन्न होती है जो कई प्रकार का होता था, जैसे—(१) पातकाशौच (पाप से अशौच), (२) जननाशौच (जन्म से अशौच), (३) मरणाशौच (मरण से अशौच), (४) मलाशौच (मल-मूत्र-त्याग से अशौच) आदि। मनु के अनुसार ब्रह्मघाती, सुवर्णचौर और सुरापी अस्पृश्य थे।[२] घर में जन्म और मरण के कारण निश्चित समय के लिये परिवार या गोत्र ही अस्पृश्य मान लिया जाता था। मलाशौच के कारण व्यक्ति कुछ घंटों या दिनों के लिये अस्पृश्य माना जाता था। किंतु विहित प्रायश्चित्त तथा संस्कार के पश्चात् ये सभी स्पृश्य हो जाते थे। कभी कभी तो शुद्ध धार्मिक मतभेद के कारण ही कई संप्रदाय अस्पृश्य माने गए थे। अपरार्क के भाष्य तथा स्मृतिचंद्रिका में उद्धृत षट्त्रिंशन्मत के अनुसार बौद्ध, पाशुपत, लोकायतिक, नास्तिक तथा विकर्मस्थ द्विजों को छूकर सचैल (वस्त्र के साथ) स्नान करना चाहिए।[3] वृद्धहारीत[४] ने बौद्ध तथा शैव मंदिरों में प्रवेश करने पर स्नान की व्यवस्था की है। मिताक्षरा[५] ने देवलक (पुजारी) को अस्पृश्य माना है। शातिपर्व में आह्वायक (पुकारनेवाला), देवलक (पुजारी), नाक्षत्र (ज्योतिषी), ग्रामयाजक (गाँवों में यज्ञ करानेवाला) तथा महापथिक (श्मशानजीवी, पाशुपत) ब्राह्मण को भी चांडाल माना है।[६] अपरार्क[७] द्वारा उद्धृत वृद्धयाज्ञवल्क्य के अनुसार चांडाल, पुक्कस, म्लेच्छ, भिल्ल, पारसिकादि (पारसी आदि) तथा महापातकियों को छूकर सचैल (सवस्त्र) नहाना आवश्यक है। संवर्त[८] ने निम्नलिखित जातियों को अस्पृश्य बतलाया है : कैवर्त (केवट-मल्लाह), मृगयु (मृग मारनेवाला), व्याध (बहेलिया), शौनि (कसाई), शाकुनिक (चिड़ीमार) तथा रजक (धोबी)। अत्रि[९] के अनुसार

१ पाणिनि २. ४. १०; महा० (पाणिनि २. ४. १० पर)।

२ मनु० ६. २३५–२३६।

3 अपरार्क, पृ० ६२३; स्मृति० १, पृ० ११८; मिताक्षरा में (याज्ञ० ३-३०) 'बौद्धान्' के स्थान पर 'शैवान्' और 'स्पृष्ट्वा' (छूकर) के स्थान पर 'शूद्रान्' पाया जाता है।

४ ६. ३५६, ३६३ तथा ३६४।

५ ३. ३०।

६ म० भा० शांति० ७६. ६।

७ पृ० २६३।

८ अपरार्क, पृ० ११६६।

९ आनंदाश्रम संस्करण, २६७–२६६।

चांडाल, पतित, म्लेच्छ, मद्यभांड तथा रजस्वला को स्पर्श कर स्नान करना चाहिए। श्वपाक (कुत्ते का मांस खानेवाले) की छाया पड़ने पर स्नान तथा घृतप्राशन का विधान किया है।[1]

मध्ययुगीन उत्कीर्ण लेखों में मेद तथा चांडाल का उल्लेख मिलता है। अलबेरूनी ने अपने तहकीकेहिंद में अंत्यजों तथा अस्पृश्यों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया है : 'शूद्रों के बाद उन लोगों का स्थान है जिन्हें अंत्यज कहते हैं, जो कई प्रकार की सेवाएँ करते हैं और जिनकी गणना किसी जाति में नहीं है। उनके आठ वर्ग हैं जो आपस में विवाह संबंध करते हैं—धोबी, चर्मकार और जुलाहों को छोड़कर। आठ वर्ग या व्यवसाय ये हैं—(१) धोबी, (२) चमार, (३) जादूगर, (४) डोम-धरकार, (५) केवट, (६) मल्लाह, (७) बहेलिया-पाशी तथा (८) जुलाहा। ये व्यवसायवाले गाँवों और नगरों के पास किंतु उनके बाहर रहते हैं। हाडी, डोम, चांडाल, बधतौ लोगों की गणना किसी जाति में नहीं होती। ये हीन कर्म, जैसे गाँवों की सफाई आदि करते हैं। इन सबको मिलाकर एक वर्ग माना जाता है। वास्तव में ये प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न अवैध संतति समझे जाते हैं, जैसे ब्राह्मणी माता और शूद्र पिता से उत्पन्न। अतः ये जातिबाह्य अथवा अंत्यज हैं।[2]

अस्पृश्यता के कई अपवाद मध्ययुगीन धर्मशास्त्र में स्वीकार किए गए हैं। अत्रि[3] के अनुसार देवयात्रा, विवाह, यज्ञप्रकरण तथा संपूर्ण उत्सवों में स्पृश्यास्पृश्य का विचार नहीं होता है। शातातप[4] ग्राम (समूह अथवा सार्वजनिक स्थान), यात्रा, कलह, ग्रामसंकट (अग्नि, चोर आदि से) में अस्पृश्यता नहीं मानते। स्मृत्यर्थसार (पृ० ७६) में ऐसे स्थानों की एक लंबी सूची दी हुई है जहाँ स्पर्श से अस्पृश्यता का दोष नहीं लगता : संग्राम (युद्ध), हट्टमार्ग (बाजार), यात्रा, देवगृह, उत्सव, क्रतु (यज्ञ), तीर्थ, ग्राम और देश में विप्लव, महाजलसमीप (समुद्रतट), महाजनवरेषु (महापुरुषों के समीप), अग्नि-उत्पात तथा महा-आपत्। इन अपवादों के अतिरिक्त समाज में स्वतंत्रतावादी, परंपरा तथा रूढ़िविरोधी एवं सुधारवादी ऐसे संप्रदाय और संत-महात्मा थे जो शारीरिक शौच पर अत्यधिक बल न देकर मनुष्य की परिस्थितियों का ध्यान कर उसपर दयाभाव रखते और मानवोचित अधिकारों से उसे वंचित नहीं रखते थे। उनका ध्यान भावशुद्धि और

[1] अत्रि० २८८–२८९

[2] सखाउ, जि० १, अध्याय १०।

[3] देवयात्राविवाहेषु यज्ञकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते॥ अत्रि० २४९।

[4] स्मृति० १, पृ० ११९ में उद्धृत।

पिछड़े वर्गों के समाजीकरण पर अधिक था। भागवतों, पाशुपतों और बौद्धों ने सामयिक आचार-विचारों से मनुष्य को कभी नहीं जकड़ा। उनके मतानुसार अंत्यज और अस्पृश्य कही जानेवाली जातियाँ भगवन्नामस्मरण मात्र से ही पवित्र होकर सबके लिये व्यवहार्य बन जाती थीं।

५. आश्रम

जिस प्रकार वर्णव्यवस्था अपने परिवर्तनों और संकटों को सहती हुई मध्ययुग में अपने विकृत रूप में पहुँची थी, उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था भी। मूलतः वर्ण मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों के ऊपर अवलंबित था और आश्रम व्यक्तिगत संस्कार का साधन था। वर्ण अब जन्म और जातिगत स्वार्थ से जकड़ित और आश्रम शिष्टाचार मात्र हो रहा था। आश्रम-व्यवस्था को बौद्ध और जैन आंदोलनों ने पहले धक्का दिया था जिनके अनुसार क्रमिक आश्रम-व्यवस्था आवश्यक नहीं, जब भी इच्छा हो, कोई व्यक्ति श्रमण या परिव्राजक हो सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अपरिपक्व भिक्षुओं और श्रमणों से देश भर गया। इसकी प्रतिक्रिया शुंगों के समय में हुई और मनु के अनुसार 'आश्रमाद् आश्रमं गच्छेत्' (क्रमशः एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाना चाहिए) का सिद्धांत पुनः दृढ़ किया गया—यहाँ तक कि संन्यास की गणना 'कलिवर्ज्य' में कर दी गई[1]। मध्ययुग में संन्यास की कलिवर्ज्यता को शंकराचार्य ने तोड़ा। परंतु संन्यास आश्रम केवल ब्राह्मणों तक सीमित कर दिया गया। शुक्रनीति[2] के अनुसार 'ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति क्रमशः चार आश्रम ब्राह्मण के सदैव हैं। अन्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिये अंतहीन [संन्यास (यति) रहित] केवल तीन ही आश्रम होते हैं। विद्या के लिये ब्रह्मचर्य, सबके पालन के लिये गार्हस्थ्य, इंद्रियदमन के लिये वानप्रस्थ और मोक्षसाधन के लिये संन्यास आश्रम है।' उत्कीर्ण लेखों से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण कुलों में अब भी बहुसंख्यक अंतेवासी और ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का जीवन बिताते थे जिसके लिये ब्राह्मणों को अग्रहार और ब्रह्मदेय राजाओं की ओर से मिलते थे। गार्हस्थ्य तो सभी के लिये सहज और सुलभ था। वानप्रस्थियों और संन्यासियों की संख्या कम थी। उनके बदले में अवैदिक धार्मिक संप्रदायों के साधुओं की संख्या बढ़ती जा रही थी। वैष्णव, शैव, शाक्त, पाशुपत, कापालिक आदि साधु-संन्यासियों और श्रमणों का स्थान ले रहे थे।

[1] अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पंच विवर्जयेत॥ स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम, पृ० १७६।

[2] शुक्र० ४. ३१–४१।

६. परिवार अथवा कुल

(१) परिवार की कल्पना—परिवार संस्था भारत में अत्यंत प्राचीन है और यहाँ के आदिम साहित्य ऋग्वेद में ही इसका स्वरूप स्थिर हो चुका था। इसके कार्य और उद्देश्य भी सुव्यवस्थित हो गए थे। इसके प्राथमिक कार्य थे—(१) स्त्री-पुरुष के यौन संबंध को विहित और नियमित करना, (२) संतति की उत्पत्ति, संरक्षण और पालन, तथा (३) गृह और गार्हस्थ्य में स्त्री-पुरुष का सहवास और नियोजन। इसके साथ साथ परिवार का आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्व भी था। इन कार्यों और उद्देश्यों में मध्ययुग तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और परिवार की उपयोगिता अक्षुण्ण बनी रही।

इस युग के प्रमुख धर्मशास्त्रीय ग्रंथ मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका, जो बंगाल को छोड़कर प्रायः संपूर्ण भारत में प्रचलित थी), वीरमित्रोदय : व्यवहार-कांड (उत्तर मध्यकालीन, किंतु परंपरागत; बनारस में अधिक मान्य), विवादरत्नाकर (मिथिला में प्रचलित), व्यवहारमयूख (महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदि में प्रचलित), स्मृतिचंद्रिका (मद्रास में प्रचलित) आदि से परिवार की कल्पना और उसके सदस्यों के आर्थिक और विविध संबंधों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

(२) परिभाषा—सामान्य समाजशास्त्रियों के अनुसार परिवार वह संस्था है जिसमें एक स्त्री और एक पुरुष एक आवास में अपने संयुक्त बच्चों के साथ उनकी आवश्यकता के समय तक रहते हैं। हिंदू परिवार की कल्पना इससे भिन्न थी। इसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियाँ संमिलित थीं और इसमें अपने रक्तसंबंध से भिन्न सामाजिक अंश भी मिला था। इसमें गृहस्थ के पूर्वज (पितर रूप से), जीवित पिता-पितामह, एक से अधिक (संभावित) स्त्रियाँ, औरस [पत्नी में अपने उरस् (हृदय) से उत्पन्न] के अतिरिक्त अनेक प्रकार के पुत्र और पुत्रियाँ, भाई और उनकी स्त्रियाँ, बच्चे आदि, अविवाहित बहनें और भविष्य में उनसे उत्पन्न होनेवाले सपिंड, दायाद और बंधु सभी संमिलित थे। यह एक संयुक्त और प्रलंबित परिवार था। भारतीय परिवार पितृसत्तात्मक तथा पितृस्थानीय था। भारत के एक छोटे खंड केवल केरल प्रदेश में परिवार मातृसत्तात्मक और मातृस्थानीय था।

(३) स्त्री-पुरुष का संबंध—स्त्री-पुरुष का यौन संबंध जीवन का प्राथमिक आधार था किंतु अंतिम नहीं; कर्तव्य और भावना इसके उच्चतर आधार थे जिनके प्रभाव से यौन संबंध को भी सार्थकता और महत्व मिलता था। धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक कर्तव्यों के पालन में दंपती की पूरी समानता और सहकारिता थी। सिद्धांततः परिवार पितृसत्तात्मक होने के कारण स्त्री, परिवार के अन्य सदस्यों के

समान ही, पति की विधेया थी, किंतु भावना के जगत् में पति का सारा स्नेह और अधिकार उसके चरणों में समर्पित था। पति के अनुशासन का क्षेत्र भी सीमित था; वह उसके साथ पाशविक व्यवहार करने में स्वतंत्र नहीं था। पति परिवार का कर्ता (व्यवस्थापक) था। अतः स्त्री को स्वतंत्र विधिक अधिकार भी प्राप्त न थे, परंतु परिवार के सभी महत्वपूर्ण निर्णय उसकी इच्छा से ही होते थे। परिवार की संपत्ति संयुक्त थी और उसमें भावी संतानों का अधिकार भी संनिहित था, अतः स्त्री को स्वतंत्र आर्थिक अधिकार भी प्राप्त न थे, परंतु उसके पास एक प्रकार की संपत्ति थी, जिसपर उसका निर्बाध अधिकार था। वह थी स्त्रीधन[1]। इसमें संबंधियों से स्नेह से और उपहार में मिली हुई समस्त वस्तुओं का समावेश था। पत्नी को अपने भरण-पोषण का अधिकार सर्वदा प्राप्त था। स्त्री-पुरुष का संबंध अविच्छिन्न था; पुरुष किसी अवस्था में स्त्री का परित्याग नहीं कर सकता था। रुग्णा, बंध्या अथवा पुत्रहीना होने पर पति उसका अधिवेदन कर दूसरा विवाह कर सकता था। एक साथ एक से अधिक स्त्रियों का रखना अच्छा नहीं माना जाता था; धर्म के पालन के लिये एक स्त्री पर्याप्त थी; अन्य स्त्रियाँ तो कामार्थ थीं। परंतु विधिक रूप से एक पति कई वर्णों की कई पत्नियाँ एक साथ रख सकता था; विवाह तथा वर्णक्रम से परिवार में उनका पृथक् पृथक् स्थान था।

(४) पुत्रों के प्रकार—परिवार की रक्षा और पितरों के संतर्पण के लिये संतान, विशेषतः पुत्र का होना अनिवार्य था। पुत्र और पुत्रियाँ कई प्रकार की थीं। मनु के समय से निम्नलिखित बारह प्रकार के पुत्र माने जाते थे :[2]

(१)	औरस	(विवाहिता स्त्री में पति से उत्पन्न)
(२)	पुत्रिकापुत्र	(अपना पुत्र न होने पर पुत्र स्थान पर नियुक्त पुत्री का पुत्र)
(३)	क्षेत्रज	(पति के अयोग्य होने पर विवाहिता स्त्री में, पति या अन्य अधिकारी व्यक्ति की आज्ञा से, अन्य से उत्पन्न)
(४)	दत्तक	(दूसरे से गोद लिया हुआ)
(५)	कृत्रिम	(पुत्रोचित गुणों से युक्त, बनाया हुआ)
(६)	गूढज	(पति की आज्ञा बिना विवाहिता स्त्री में गुप्त रीति से दूसरे से उत्पन्न)
(७)	अपविद्ध	(वास्तविक माता पिता से त्यक्त)
(८)	कानीन	(विवाह के पूर्व कन्यावस्था में उत्पन्न)

[1] मिताक्षरा (याज्ञ० २. १४३ पर)।

[2] नारद; बृहस्पति; देवल; दत्तकमीमांसा, पृ० ६८।

(९) सहोढ (विवाह के समय माता के गर्भ में)
(१०) क्रीत (क्रय किया हुआ)
(११) पौनर्भव (एक बार विवाहित पुनः विधवा स्त्री से उत्पन्न)
(१२) स्वयंदत्त (पुत्र रूप में स्वयं प्रदत्त; मातापिता अज्ञात)

इन बारह के अतिरिक्त कोई कोई शौद्र (निषाध और पाराशव) भी जोड़ते हैं। हिंदू परिवार में इतने प्रकार के पुत्रों (विशेषतः कानीन, गूढज एवं सहोढ) का समावेश देखकर कई लेखकों की यह धारणा थी कि हिंदू समाज में नैतिकता का अभाव अथवा यौन शुद्धि के प्रति उदासीनता थी। किंतु यह धारणा बिलकुल गलत थी। हिंदू धर्मशास्त्रकारों ने कन्या के कौमार्य के अपहरण और विवाहित व्यभिचार की कड़ी भर्त्सना की है और यौन व्यभिचार के लिये कड़े दंड का विधान भी। परंतु यदि इसके बाद भी संतान उत्पन्न हो तो उसके भरणपोषण का प्रबंध तो होना ही चाहिए था। अतः संबद्ध और उचित परिवार पर उसका भार डाला गया था। क्षेत्रज अथवा नियोगज पुत्र की गणना पहले बारह पुत्रों में ऊँची थी। किंतु पीछे पशुधर्म कहकर इसे विगर्हित कर दिया गया। यही अवस्था कानीन, सहोढ और गूढज की भी हुई। जाति के भेदभाव ने धीरे धीरे दूसरे परिवार से आए पुत्रों का समावेश भी निषिद्ध कर दिया। मध्ययुग में औरस, पुत्रिकापुत्र और दत्तक इन्हीं तीन की प्रधानता थी।

(५) मातापिता और संतान का संबंध—संतान के ऊपर मातापिता का सहज स्नेह था, और विधिक रूप से उनपर पूरा अधिकार था। इस पैतृक अधिकार की तुलना कुछ विद्वानों ने रोमक विधि के पैतृक अधिकार से की है जिसके अनुसार पिता को संतान के बेचने और मार डालने का भी अधिकार था। वैदिक साहित्य में पिता द्वारा शुनःशेप के बेचने और ऋजाश्व के अंधा करने के दृष्टांत पाए जाते हैं, परंतु एक दो घटनाओं से कोई परिणाम निकालना ठीक नहीं। यदि ये प्रथाएँ रही भी हों तो भी बहुत पीछे छूट गईं थीं और मध्ययुगीन स्मृतिकारों ने संतानों के ऊपर मातापिता के अधिकार को बहुत सीमित कर दिया। निष्कासन और वध का अधिकार पिता को बिलकुल नहीं था; दंड का बहुत सीमित अधिकार था; वह केवल हल्का ताडन (मर्मस्थान और उत्तमांग छोड़कर) कर सकता था। यह नीतिवाक्य बहुत प्रचलित हो गया : पाँच वर्ष की अवस्था तक लालन और दस वर्ष तक (१५ वर्ष की अवस्था तक) ताडन करना चाहिए। सोलह वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर पुत्र के साथ मित्र के समान व्यवहार करना चाहिए[1]।

[1] लालयेत्पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत॥

संतान का कर्तव्य मातापिता की आज्ञा का पालन था; यहाँ तक कि इसमें नैतिकता और औचित्य का विचार भी अनावश्यक समझा जाता था। परशुराम, राम और भीष्म की कथाएँ इस युग में भी दुहराई जाती थीं। परंतु यह कहना पड़ेगा कि इस समय के राजपुत्रों में प्राचीन काल की पितृभक्ति नहीं थी और राज्य के लिये पितापुत्र में विरोध पाया जाता है। मातापिता श्रद्धा और आदर के पात्र थे। कुछ शास्त्रकारों के अनुसार माता पिता से सहस्रगुनी श्रद्धेय थी। संतान को भरणपोषण का अधिकार प्राप्त था। पारिवारिक संपत्ति में मिताक्षरा के अनुसार पुत्र का जन्मना अधिकार था और पिता के जीवित रहते भी वह अपना भाग अलग करा सकता था। दायभाग के अनुसार पुत्र को उपरम (पिता के मरने पर ही) अधिकार प्राप्त था। अविवाहित लड़कियों के विवाह और अविवाहित रहने पर भरणपोषण की विधिक व्यवस्था थी।

(६) **भाईबहन का संबंध**—भाईबहन का संबंध भी परिवार में एक पवित्र और मधुर संबंध था। बहन घर में कन्या थी—किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा नेया (विवाह्या) थी। असगोत्र विवाह और पितृसत्तात्मक परिवार में यह अनिवार्य था। इसलिये वह सहानुभूति और स्नेह की पात्र थी क्योंकि उसे परिवार से बाहर पतिगृह जाना है और उसके स्थान पर पितृगृह में बाहर से कन्या आएगी, अतः पारिवारिक संगठन और स्थिरता के लिये पितृगृह में भाइयों के रहते हुए कोई आर्थिक स्वार्थ नहीं था। भाइयों के न रहने पर उसका पुत्र नाना की संपत्ति का स्वामी होता था। पुत्रिकापुत्र पुत्र के समान माना जाता था। पुत्रिका के आगे गौण पुत्रों का महत्व इस युग में बिल्कुल कम हो गया।

७. विवाह

(१) **महत्व**—मध्ययुग में विवाह एक चिरमर्यादित संस्था थी और इसके आदर्श, उद्देश्य तथा कार्य स्थिर हो चुके थे, यद्यपि इनके स्वरूप तथा प्रकार में समय समय पर परिवर्तन होते रहे। धर्म और दर्शन की दृष्टि से विवाह का संबंध जीवन के पुरुषार्थों से था। धर्म के अभ्यास और संस्कार के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था थी। अर्थ की उपलब्धि तथा काम के सेवन के लिये गार्हस्थ्य और उसके आधारभूत विवाह की आवश्यकता थी। यदि समाजविज्ञानी शब्दों में कहा जाय तो विवाह का उद्देश्य तथा कार्य (१) स्त्रीपुरुष के यौन संबंध का नियंत्रण और वैधीकरण, (२) संतान की उत्पत्ति, संरक्षण, पालन तथा शिक्षण और (३) नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का पालन था। शुक्रनीति[1] के अनुसार

[1] शुक्र० ४।

जगत् के पालन के लिये विवाह करके गार्हस्थ्य में प्रवेश अनिवार्य था। मनु का निम्नलिखित कथन इस काल के भाष्यकारों को मान्य था : 'जिस प्रकार सब जीवधारी वायु के आश्रय से जीवित रहते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गार्हस्थ्य के ऊपर अवलंबित होते हैं[1]।' विवाह प्रायः सभी के लिये अनिवार्य था। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाने की मर्यादा सर्वमान्य थी और सिद्धांततः कलि में संन्यास वर्जित था, यद्यपि इसके अपवाद स्वीकार्य थे। स्वयं पुरुष स्त्री के बिना आधा ही मनुष्य माना जाता था। अपरार्क ने बृहस्पति के इस वचन को उद्धृत किया है : 'आम्नाय (वेद), स्मृतितंत्र (स्मृति) और लोकाचार में ऋषियों तथा विद्वानों द्वारा स्त्री शरीरार्द्ध और पुण्यापुण्य के फल में समान कही गई है[2]।' महाभारत की निम्नलिखित सूक्तियाँ निबंधों में प्रायः दुहराई जाती हैं : 'गृह को गृह नहीं कहा गया है; गृहिणी गृह कही जाती है।' 'भार्या मनुष्य का अर्द्धांश और श्रेष्ठतम सखा है। भार्या त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का मूल और संसार से तरण का साधन भी[3]।'

(२) **विवाह के प्रकार**—गृह्यसूत्रों और स्मृतियों में वर्णित आठ प्रकार के विवाह इस काल की स्मृतियों, भाष्यों और निबंधों को भी गणना के लिये मान्य थे, यद्यपि इनमें से कई एक अप्रचलित और वर्जित हो रहे थे। ऊर्ध्वग क्रम से उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है[4] :

(अ) **पैशाच**—यह निम्नतम स्तर पर था। जहाँ सुप्ता, मत्ता, प्रमत्ता कन्या से एकांत में उपगमन किया जाता था वह विवाहों में पापिष्ठ, अधमाधम पैशाच अष्टम प्रकार था। इसमें छल और पशुबल दोनों का प्रयोग होता था। पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच नामक जाति में इसका प्रचार था, अतः इसे पैशाच कहा जाता था।

(आ) **राक्षस**—जहाँ कन्या के संबंधियों की हत्या, छेदन तथा भेदन कर उसको रोती हुई बलपूर्वक घर से हरणकर विवाह किया जाता था उसे राक्षस कहते थे। इसके लिये युद्ध, हिंसा और पशुबल आवश्यक था,

[1] यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ मनु० ३. ७७।

[2] आम्नाये स्मृतितंत्रे च लोकाचारे च सूरिभिः।
शरीरार्द्धं स्मृता भार्या पुण्यापुण्य फले समाः॥ अपरार्क०, पृ० ७४०।

[3] न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। म० भा० शांति०, १४४. ६६।
अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥ म० भा० आदि० ७४. ४०।

[4] नारद० स्त्रीपुंस०, ३८–३९; मनु० ३. २१।

अतएव इसे राक्षस कहा जाता था। मध्ययुग के क्षत्रियों में प्रायः इस प्रकार के विवाह होते थे जो युद्ध के कारण बन जाते थे। यह केवल क्षत्रियों में प्रचलित था (राक्षसं क्षत्रियस्यैकम्—मनु० ३. ३४)। पृथ्वीराज-संयुक्ता का विवाह इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। किंतु इस प्रकार के कतिपय विवाहों में कन्या की स्वीकृति और अपहरण पूर्वनियोजित होता था। इसका मूल आदिम-काल की बर्बर जातियों में पाया जाता है।

(इ) **गांधर्व**—जहाँ वर और कन्या का स्वेच्छा से अन्योन्य संयोग होता था उसे मैथुन्य कामसंभव गांधर्व विवाह कहा जाता था। इसका आधार कामवासना और इंद्रियसुख था। मूलतः इसका प्रचार हिमालयवासी गंधर्व जाति में था जिससे इसका नामकरण गांधर्व हुआ। पीछे क्षत्रियों में इसका काफी प्रचार हो गया। कुछ लेखकों के मत में सकामा (कामनायुक्त स्त्री) का सकाम (कामनायुक्त पुरुष) से संबंध निर्मंत्र (विधिरहित) होने पर भी श्रेष्ठ कहा गया है।

(ई) **आसुर**—जहाँ कन्या के संबंधियों तथा कन्या को शक्त्यानुसार धन देकर स्वच्छंदतापूर्वक उसका ग्रहण किया जाता था उसे आसुर (विवाह) कहा जाता था। भारत की पश्चिमोत्तर सीमा और पश्चिमी एशिया की असुर जाति में यह विवाह मूलतः प्रचलित था, इसलिये इसे आसुर कहा जाता था। पीछे क्षत्रिय तथा वैश्य में भी यह प्रचलित हो गया। पैशाच और राक्षस से अच्छा होने के कारण इसे मानव कहा गया है। किंतु इसके मूल में व्यापारिक भावना और लोभ होने के कारण इसकी निंदा की गई है एवं कहीं कहीं निषेध भी।

(उ) **प्राजापत्य**—जहाँ मातापिता या संरक्षक 'तुम दोनों साथ धर्माचरण करो' कहकर कन्या को वर के लिये प्रदान कर देते थे उसे प्राजापत्य कहते थे। इस विवाह के अंतर्गत प्रजापति के कार्य—(१) संतान की उत्पत्ति तथा (२) धर्माचरण की प्रधानता थी, अतः इसे प्राजापत्य कहते थे।

(ऊ) **आर्ष**—जहाँ एक या दो जोड़े गौ के धर्मतः (यज्ञार्थ अथवा दानार्थ) वर से लेकर विधिवत् कन्याप्रदान किया जाता था उसे आर्षधर्म (ऋषि-विवाह) कहते थे। ऋषियों अथवा ब्राह्मणों में यह विवाह प्रचलित था, इसलिये इसे आर्ष कहते थे। गौ का ग्रहण धर्मतः होने पर भी इसमें व्यापार अथवा शुल्क की गंध आती थी। अतः मध्ययुग में इसका प्रचलन प्रायः नहीं के बराबर था।

(ए) **दैव**—कन्या को अलंकृत कर यज्ञकार्य में लगे हुए ऋत्विज को दिया जाना दैव विवाह कहलाता था क्योंकि दैवकर्म से इसका संबंध था,

इसलिये इसे दैव कहते थे। इस प्रकार के विवाह में अनिश्चय अधिक और कर्मकांड की प्रधानता थी। जब कर्मकांड का महत्व घटा तो यह प्रथा भी बंद हो गई।

(ऐ) **ब्राह्म**—जब कन्या का पिता अथवा अभिभावक उसको भली प्रकार वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर विद्वान् तथा आचारवान् वर को स्वयं बुलाकर और उसका आदर करके कन्यादान करता था तब उसे ब्राह्म विवाह कहते थे। विवाह की यह सबसे सात्विक और सरल प्रथा थी। अतः भारतीय इतिहास के प्रायः सभी कालों में यह अधिक प्रचलित थी। मध्ययुग में यही प्रथा सर्वाधिक प्रिय थी और पीछे तो यह प्रायः एकमात्र प्रथा रह गई।

(३) **प्रकारों का सापेक्ष महत्व**—धर्मशास्त्रकारों ने इन आठों प्रकारों को दो भागों में बाँटा है—(१) प्रथम चार अप्रशस्त और (२) द्वितीय चार प्रशस्त। पैशाच और राक्षस तो बिलकुल पशु-धरातल पर थे। कन्या की केवल सामाजिक निंदा और अवहेलना का ध्यान रखकर उसका भार उसके भावी पति पर डाल दिया जाता था। इसके बाद विवाह-संस्कार करना भी आवश्यक माना जाता था। यदि किसी कारण से आक्राता स्थायी संबंध के लिये तैयार न हो और कन्या का उसके साथ विवाह संस्कार न हो सका तो कन्या का सामान्यतः दूसरे के साथ विधिवत् विवाह हो जाता था। मध्ययुग के क्षत्रियों में तो राक्षस विवाह काफी प्रचलित था, किंतु पैशाच विवाह के उल्लेख प्रायः नहीं पाए जाते हैं। गांधर्व प्रथम दो से उत्तम माना जाता था, किंतु इसमें काम की प्रधानता थी और इसके स्थायित्व में संदेह रहता था। प्रौढ़ तथा अंतर्जातीय विवाहों के बंद होने से यह प्रथा भी कम होने लगी। मध्ययुग में विवाहपूर्व प्रणय की बहुत सी कथाएँ और दृष्टांत पाए जाते हैं, जिससे मालूम होता है कि यह प्रथा अभी जीवित थी। आसुर विवाह में कन्याविक्रय जैसा होता था, इसलिये विवाह के साथ दान की कल्पना का विकास होने पर आसुर विवाह कम होने लगा। केवल कुछ आदिम जातियों और निर्धन परिवारों तक यह प्रथा सीमित हो गई। प्राजापत्य नागरिक विवाह (सिविल मैरेज) से कुछ मिलता जुलता था। किंतु दान की भावना के साथ किसी प्रकार के प्रतिबंध का मेल नहीं खाता था। अतः इसका समावेश ब्राह्म के अंतर्गत कर लिया गया और इसका अलग अस्तित्व नहीं रहा। क्रमशः ऋषिकल्प ब्राह्मणों की कमी और गोमिथुन के ग्रहण में भी विक्रय और शुल्क की गंध आने के कारण आर्ष प्रथा भी प्रायः बंद हो गई। पशुबल के प्रयोग से रहित, केवल कामवासना से मुक्त, शुल्क और विक्रय के व्यापारी भाव से शून्य, ऐहिक प्रतिबंध से स्वतंत्र, सबसे शुद्ध, ब्राह्म विवाह था। जैसा पहले लिखा जा चुका है, यही सर्वाधिक लोकप्रिय प्रकार था।

(४) **स्वयंवर**—उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहों के अतिरिक्त स्वयंवर भी एक प्रकार था। पहले स्वयंवर का अर्थ बहुत सरल था। जो कन्या स्वयं अपना वर चुन लेती थी उसे स्वयंवरा कहते थे। धर्मशास्त्र के अनुसार ऋतुमती होने के तीन वर्ष के भीतर यदि पिता अथवा अभिभावक कन्या के विवाह की व्यवस्था नहीं कर पाते थे तो उसको अधिकार था कि वह अपना पति स्वयं चुन ले। मातापिता तथा संरक्षक के अभाव में भी कन्या को अपना पति चुनने का अधिकार था। यदि कन्या स्वतंत्रता से अपना वर चुनती थी तो उसे मातापिता से प्राप्त धन लौटाना पड़ता था, किंतु इस स्थिति में स्वयंवृत पति किसी प्रकार का शुल्क देने से मुक्त हो जाता था। इस विधि का संबंध कन्या के ऊपर परिवार के सांपत्तिक अधिकार से था। इस प्रकार के स्वयंवर का अधिकार सभी वर्णों की कन्याओं को प्राप्त था। परंतु धीरे धीरे मध्ययुग में स्वयंवर प्रायः राजकुलों तक ही सीमित हो गया और उसके स्वरूप में भी बहुत परिवर्तन हुआ। अब स्वयंवर एक मेले और उत्सव और कभी कभी युद्ध में परिवर्तित हो जाता था। इस काल का सबसे प्रसिद्ध स्वयंवर कान्यकुब्ज के राजा जयचंद्र की पुत्री संयुक्ता का था। कथानक के अनुसार संयुक्ता का पृथ्वीराज से पूर्वप्रेम था; स्वयंवर का आयोजन पिता द्वारा किया गया; और पृथ्वीराज ने बलात् संयुक्ता का अपहरण भी किया। अतः इस विवाह में गांधर्व, स्वयंवर तथा राक्षस का संमिश्रण पाया जाता है। प्राचीन महाकाव्यों—रामायण तथा महाभारत—के अनुसार स्वयंवर में पिता के प्रण के कारण स्वयंवर पर प्रतिबंध भी लगते थे, जैसे, सीता के स्वयंवर में धनुषभंग तथा द्रौपदी के स्वयंवर में मत्स्यभेद; अतः इसमें शुद्ध स्वयंवर नहीं हो सकता था; वर्णभेद से भी स्वयंवर प्रतिहत होता था। मध्ययुग में भी ये प्रतिबंध लगे हुए थे। उत्तरभारत के राजनीतिक पतन के बाद बालविवाह, मुसलिम आक्रमण, पर्दाप्रथा आदि के कारण स्वयंवर की प्रथा बंद हो गई।

(५) **विवाह का निर्धारण**—विवाह के निर्धारण के प्रश्न पर इस युग की स्मृतियों, भाष्यों तथा निबंधों में सविस्तर विचार किया है। निर्धारक तत्वों में वर्ण, गोत्र तथा पिंड मुख्य थे। अतः संक्षेप में नीचे इन्हीं का उल्लेख किया जायगा—

(अ) **वर्ण**—वैदिक साहित्य में विवाह के संबंध में वर्णपरक प्रतिबंध का उल्लेख नहीं मिलता, इसके विपरीत असवर्ण विवाहों के कई दृष्टांत पाए जाते हैं; जैसे, ब्राह्मण ऋषि च्यवन का विवाह क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से, ब्राह्मण श्यावाश्व का विवाह क्षत्रिय राजा रथवीति दार्म्य की कन्या से, आदि।[1] सूत्रों तथा स्मृतियों के समय से सवर्ण विवाह पर बल दिया जाने लगा। तथापि

[1] श० ब्रा० ४. १. ५; १३. २. ६. ८; बृहद्देवता ५. ५०।

अनुलोम (उत्तम वर्ण के वर का अवर वर्ण की कन्या के साथ) विवाह वैध माना जाता था। प्रतिलोम (अवर वर्ण के वर का उत्तम वर्ण की कन्या के साथ) विवाह निषिद्ध होने पर भी समाज में प्रचलित था, निषेधों से ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है। धीरे धीरे शूद्रा कन्या के साथ विवाह निषिद्ध होने लगा। अंत में असवर्ण विवाह बिलकुल बंद हो गया और सवर्ण विवाह ही प्रचलित रहा।

मध्ययुग में सवर्ण का प्रतिबंध अभी तरलावस्था में था। थोड़ी ही पूर्ववर्ती नारदस्मृति के अनुसार 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के परिग्रह (विवाह) में सजाति भार्या श्रेष्ठ होती है, स्त्रियों के सजाति पति। किंतु अनुलोम से ब्राह्मण की तीन स्त्रियाँ और हो सकती हैं', आदि[१]। यहाँ प्रतिलोम विवाह का बिलकुल उल्लेख नहीं है, परंतु अनुलोम विवाह की छूट है। याज्ञवल्क्यस्मृति[२] के टीकाकार विश्वरूप (९वीं शती) ने स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय-कन्या से विवाह कर सकता है। मनुस्मृति[३] के भाष्यकार मेधातिथि (९वीं शती का अंत) ने लिखा है कि ब्राह्मण का विवाह क्षत्रिय तथा वैश्य कन्या के साथ कभी कभी होता था, किंतु शूद्रा के साथ नहीं। मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर ने कहीं इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि मनु तथा याज्ञवल्क्य द्वारा विहित अनुलोम विवाह उनके समय में अवैध हो गए थे। साहित्य और उत्कीर्ण लेखों में असवर्ण विवाह के उदाहरण पाए जाते हैं। बाण ने अपने हर्षचरित[४] में लिखा है कि उसके साथियों में उसके दो पारशव भाई चंद्रसेन और मातृषेण थे जो उसके पिता की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुए थे। कान्यकुब्ज के राजा महेंद्रपाल के आचार्य तथा राजकवि राजशेखर ने अपने ग्रंथ कर्पूरमंजरी[५] में इस बात का उल्लेख किया है कि उसकी विदुषी स्त्री अवंतिसुंदरी क्षत्रिय चाहुमान वंश की थी। बाउक के जोधपुर उत्कीर्ण लेख[६] से पता लगता है कि प्रतिहारों की उत्पत्ति हरिश्चंद्र नामक ब्राह्मण की क्षत्रिय स्त्री से हुई थी। शक्तिकुमार के आटपुर उत्कीर्ण लेख[७] में इस बात का वर्णन है कि गुहिल वंश का प्रवर्तक

[१] ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणाञ्च परिग्रहे।
सजातिः श्रेयसी भार्या सजातिश्च पतिः स्त्रियाः॥
ब्राह्मणस्यानुलोम्येन स्त्रियोऽन्यास्तिस्र एवतु॥ ४-५॥

[२] ३. २८३. भ्रातृजाया च ब्राह्मणस्यापि क्षत्रिया भवत्येव।

[३] ३. १४. अनित्यत्वे चापदि सवर्णाया अलाभे वा भवति चायमवगमः 'शूद्रा न वोढव्या इतरे तु वोढव्ये' ति।

[४] उच्छ्वास १।

[५] १. ११।

[६] एपि० इंडि०, जि० १८, पृ० ८७ (तिथि सं० ८९४ वि० = ८३७ ई०)

[७] (तिथि सं० १०३४ वि० = ९७७ ई०)

गुहदत्त ब्राह्मण था, जिसके वंशज भर्तृपट्ट ने राष्ट्रकूट-राजकुमारी से विवाह किया था। ऐसा जान पड़ता है कि वंशानुक्रमिक व्यवसाय, कुलाभिमान, अवर वर्णों और जातियों में उच्च शिक्षा का ह्रास, शुचिवाद और कृच्छ्राचार से उत्पन्न वर्जनशीलता आदि के कारण असवर्ण तथा असजातीय विवाहसंबंध कम होते जा रहे थे।

(आ) गोत्र—विवाह पर दूसरा प्रतिबंध गोत्र और प्रवर का था। वैदिक साहित्य में 'गोत्र' शब्द का उल्लेख गोष्ठ,[1] गोसमूह, दुर्ग,[2] समिति, जनसमूह, व्यक्ति विशेष के वंशज अथवा रक्तसंबंध[3] से संयुक्त मानव समूह के अर्थ में पाया जाता है। उपनिषदों में भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव, वैयाघ्रपद्य, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप आदि गोत्रों से गुरुकुलों में विद्यार्थी संबोधित होते थे।[4] परंतु विवाह से इनका कोई संबंध नहीं था। सबसे पहले लाट्यायन श्रौतसूत्र[5] में इस बात का उल्लेख मिलता है कि 'जन' वह मानव समूह है जिसकी लड़कियों के साथ विवाहसंबंध हो सकता है; सगोत्र व्यक्ति समानजन (होने से अविवाह्य) है।

संभवतः सूत्रकाल में ही गोत्रसंबंधी प्रतिबंध का उदय हुआ। बौधायन-श्रौत-सूत्र के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप, ये सात गोत्रऋषि हैं और अष्टम अगस्त।[6] इनकी संतति को गोत्र कहते हैं।[7] पाणिनि के मत में अपत्य, पौत्र प्रभृति गोत्र हैं[8]। पातंजलि महाभाष्य[9] के अनुसार अस्सी सहस्र ऋषियों ने ब्रह्मचर्य का पालन किया; अगस्त्य आदि आठ ऋषियों से संतति चली। इन महानुभावों की जो संतानें थीं उनको गोत्र कहते हैं, इनसे भिन्न को गोत्रावयव (आंशिक गोत्र) कहते हैं। गृह्य तथा धर्मसूत्रों और स्मृतियों में असगोत्र विवाह अनिवार्य हो गया। मध्ययुगीन स्मृतियों, भाष्यकारों और निबंधकारों ने इस नियम का और कठोरता से प्रतिपादन किया।

[1] ऋग्० १. ५१. ३; २. १७. १; ३. ३९. ४; ३. ४३. ७; ६. ८६. २३।
[2] ऋग्० १०. १०३. ७; अथर्व ५. २. ८, वाजसनेयी स०, १७. ३९।
[3] अथर्व०, ५. २१. ३।
[4] तैत्तिरीय०, १. ८. १८. १।
[5] विवाह्यो जनः सगोत्रः समानजन इति धानंजय्यः। ८. २. ११।
[6] विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।
अत्रि वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः।
तेषां सप्तर्षिणामगस्त्याष्टानां यदपत्यं तद्गोत्रमुच्यते ॥ प्रवराध्याय, ५४।
[7] वही।
[8] अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम्। ४. १. १६२।
[9] पाणिनि ४. १. ७८ पर।

मेधातिथि[1] ने बड़ी विशदता से 'गोत्र' की व्याख्या की है। वे पुनः कहते हैं : 'किसी व्यक्ति का किसी गोत्रविशेष से संबंध है, यह केवल परंपरा से जाना जाता है...जैसे कि कोई ब्राह्मण है, यह भी परंपरा से ही ज्ञात है।' मिताक्षरा ने भी वंशपरंपरा के अर्थ में ही 'गोत्र' को स्वीकार किया है और विवाह में उसके प्रतिबंध को माना है। किंतु आगे चलकर ऐसा लगता है कि गोत्र का संबंध धार्मिक तथा सांस्कृतिक परंपरा से हो गया। पुरोहितों और आचार्यों से यजमानों और शिष्यों की परंपराएँ चलने लगीं। यही कारण है कि मध्ययुग में और उसके पश्चात् ब्राह्मण से इतर वर्णों के गोत्र ब्राह्मण पुरोहितों के ही गोत्र थे, यद्यपि इसका आधार ब्राह्मण तथा सूत्रग्रंथों में भी मिलता है।[2]

(इ) **प्रवर**—'प्रवर' शब्द उतना पुराना नहीं है जितना 'गोत्र'। वैदिक साहित्य में इसके बदले 'आर्षेय' शब्द पाया जाता है[3]। प्रवर गोत्र के अंतर्गत होने से असगोत्र विवाहवाला नियम प्रवर पर भी लग गया और कन्या असगोत्रा के साथ साथ असमानप्रवरा भी होनी चाहिए, ऐसी मान्यता हो गई। दत्तक पुत्र के विवाह के समय उसके बीजी पिता के प्रवर और गोत्र का भी विचार होता था। मध्ययुग में कन्या के असमानप्रवरा होने का नियम प्रचलित था। पराशर-माधवीय (उद्वाहतत्व, पृ० १११ में उद्धृत) में प्रवर की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है : 'गोत्रप्रवर्तक मुनि के व्यावर्तक (अंतरगोत्र के प्रवर्तक) मुनिगण प्रवर हैं[4]।' सगोत्रा तथा समानप्रवरा कन्या के साथ विवाह का घोर निषेध इस काल के धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में पाया जाता है : 'सगोत्रा तथा समानप्रवरा के साथ विवाह होने पर उसका त्याग करके चांद्रायणव्रत का अनुष्ठान करना चाहिए[5]।' 'समान-गोत्र-प्रवरा कन्या के साथ विवाह तथा उपगमन करके और उसमें चांडाल को उत्पन्न कर मूढ़ पुरुष ब्राह्मणत्व से च्युत होता है[6]।'

(ई) **पिंड**—विवाह में सपिंडता का प्रतिबंध भी विशेषतः उत्तर-भारत में कड़ाई के साथ प्रचलित था। सपिंडता का न केवल विवाह से अपितु उत्तराधिकार और अशौच (जननाशौच और मरणाशौच) से भी संबंध

[1] मनु० ३. ५. ११४ पर।
[2] ऐत० ३४. ७।
[3] ऋग्० ६. ६७. ५१।
[4] प्रवर : गोत्रप्रवर्तकस्य मुनेर्व्यावर्तको मुनिगण इत्यर्थः। पराशरमाधवीय, १. २. ७०।
[5] अपरार्क, पृ० ८०।
[6] समानगोत्रप्रवरां कन्यामुद्वोपगम्य च।
तस्यामुत्पाद्य चांडालं ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ उद्वाह०, पृ० ११२ में उद्धृत आपस्तंब।

था। मध्ययुग के दो प्रसिद्ध लेखक विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा में) और जीमूतवाहन (दायभाग में) ने सपिंडता के ऊपर विस्तृत विचार किया है। दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि सपिंडा कन्या के साथ विवाह नहीं होना चाहिए, यद्यपि 'सपिंड' के अर्थ में दोनों में मतभेद है। विज्ञानेश्वर ने 'सपिंड' का अर्थ इस प्रकार किया है :

'असपिंडा वह स्त्री है जो सपिंडा नहीं है। सपिंड वह है जिसमें समान पिंड (शरीर के कोष अथवा अंश) हों। व्यक्तियों में सपिंडता का संबंध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि दोनों में एक ही (उभयनिष्ठ) शरीर के कोष हैं। पुत्र का पिता के साथ सपिंड संबंध इसलिये है कि पिता के शरीर के कण उसमें वर्तमान हैं। इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह आदि से उसका सपिंड संबंध है। पुत्र का माता के साथ सपिंड संबंध इसलिये है कि उसमें माता के शरीर के अंश वर्तमान हैं। इसी प्रकार मातामह, मातुल, मातृश्वसा आदि से उसका सपिंड संबंध है। इस प्रकार शरीर के अवयवों की क्रमबद्धता से सपिंडता सिद्ध होती है[1]।' सामान्यतः माता से पाँच पीढ़ी तथा पिता से सात पीढ़ी तक व्यवहार के लिये सपिंडता मानी जाती थी[2]। असवर्ण संबंधियों (अंतर्जातीय विवाह से) में सपिंडता केवल तीन पीढ़ी तक जाती थी। दाक्षिणात्यों में सपिंडता का प्रतिबंध देशाचार से बाधित होता था। महाराष्ट्र और कर्णाटक में मातुल-कन्या से विवाह वैध था। सुदूर दक्षिण में तो भगिनी-कन्या से भी विवाह संभव था। परंतु उत्तरभारत में इस प्रकार के विवाह बिलकुल निषिद्ध थे।

विवाह के निर्धारण और प्रतिबंधों के आधार में जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उनका संक्षेप से विवेचन करना आवश्यक है। वर्ण का आधार क्रमशः जन्म होने के कारण विभिन्न वर्णों में शैक्षणिक, मानसिक तथा आचार संबंधी भेद बढ़ते गए। अतः जात्यभिमान और कुलाभिमान भी बढ़ता गया। इस वर्जनशीलता के कारण विवाह जैसा आजीवन घनिष्ठ संबंध वर्ण और जाति तक सीमित हो गया। गोत्र, प्रवर तथा पिंडपरक प्रतिबंधों के संबंध में कतिपय मानवशास्त्रियों का मत है कि इनका आधार धर्मचिह्न (टोटम) है। आदिम जातियाँ कई धर्मचिह्नों में बँटी हुई थीं और प्रत्येक अपने धर्मचिह्न को पवित्र मानती थी तथा उसको यौन संबंध से अपवित्र नहीं करना चाहती थी। अतः अपने से भिन्न धर्मचिह्नवाली जाति की कन्याओं से विवाह करने की प्रथा चल पड़ी। कुछ विद्वानों के विचार में राक्षस

[1] विज्ञानेश्वर : याज्ञ० १. ५२–५३।

[2] पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतः क्रमात्।
सपिंडता निवर्तेत सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥ उद्वाह०, पृ० १०८ में नारद का उद्धरण।

विवाह इसका कारण है। प्रारंभ में एक जाति के नवयुवक विजयोल्लास में दूसरी जाति की कन्याओं का बलपूर्वक अपहरण करते थे। पीछे यह क्रम अभ्यासगत हो गया। संभव है कि प्रारंभ में ये दोनों प्रवृत्तियाँ काम करती रही हों। परंतु आगे चलकर नीति और सामाजिक सामंजस्य की भावना भी इसमें आ गई। सगोत्र और सपिंड विवाह की अवस्था में एक कुल के बहुत से नवयुवक एक युवती के पीछे घूमते थे, जिससे परस्पर संघर्ष और विवाहपूर्व यौन संबंध में अनियम उत्पन्न होता था। अनुभव के बाद परिवार को आंतरिक संघर्षों से बचाने और यौन संबंध की पवित्रता बनाए रखने के लिये उपर्युक्त प्रतिबंधों का विकास हुआ।

(६) विवाह में निर्वाचन

(अ) कुल—कुल-निर्धारण के द्वारा विवाह का क्षेत्र और उसकी सीमा निश्चित कर दी गई थी। निर्वाचन के द्वारा निश्चित सीमा के भीतर यथासंभव उत्तम कन्या तथा वर का चुनाव किया जाता था। इस विषय पर प्राचीन धर्मशास्त्रीय ग्रंथ उद्धृत किए जाते थे। सबसे पहले कन्या और वर दोनों के लिये उत्तम कुल ढूँढ़ने की प्रथा थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र[1] के अनुसार सबसे आगे (पहले) मातृ और पितृ दोनों पक्षों से कुल की परीक्षा करनी चाहिए। मनु का स्पष्ट विधान था कि 'उत्तम व्यक्ति उत्तम के साथ ही नित्य-संबंध का आचरण करे। कुल को उत्कर्ष के मार्ग पर ले चलने की इच्छा रखनेवाला अधम कुलों का परित्याग करे[2]।' विष्णुस्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'ब्राह्मण का तो केवल कुल ही देखना चाहिए सक्रमपद वेद का अध्ययन नहीं, क्योंकि कन्यादान और श्राद्धकर्म में विद्या कारण नहीं है[3]। कुलीनता की परिभाषा याज्ञवल्क्य स्मृति में इस प्रकार दी हुई है : 'दशपुरुष विख्यात श्रोत्रियों के महाकुल' अर्थात् जिस कुल में दस पीढ़ियों तक लगातार वेदाध्ययन हो वह कुलीन कहलाता था[4]। मिताक्षरा के रचयिता विज्ञानेश्वर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं : 'पुरुष का अर्थ है पूरुष (पीढ़ी); दस पीढ़ी मातृपक्ष से तथा पाँच पितृपक्ष से विख्यात परिवार को कुलीन कहा जाता है[5]।' शारीरिक और नैतिक आधार पर भी बहुत से परिवार निषिद्ध

[1] कुलमग्रे परीक्षेत मातृतः पितृतश्चेति। १. ५।

[2] उत्तमैरुत्तमौ नित्यं संबंधानाचरेत्सदा।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत्॥ वी० मि०, सं० भा० २, पृ० ५८७।

[3] ब्राह्मणस्य कुलं ग्राह्यं न वेदाः सपदक्रमाः।
कन्यादाने तथा श्राद्धे न विद्या तत्र कारणम्॥ वही०, पृ० ५८५।

[4] दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात्। १. ५४।

[5] याज्ञ० १. ५४ पर भाष्य।

माने गए थे। मनु तथा यमस्मृति ने ऐसे कुलों की लंबी सूची दी है। कुल का चुनाव प्रजननशास्त्र के आधार पर होता था। यह माना जाता था कि संतति कुलानुरूप उत्पन्न होती है। 'पुत्र मामा का अनुकरण करते हैं और कन्या पिता का, जिस शील की माता होती है उसी शील की संतान[१]।'

(आ) कन्या की योग्यता—व्यक्तिगत योग्यता में कन्या की योग्यता पर बहुत बल दिया जाता था, क्योंकि ऐसी मान्यता थी कि कुल का उत्कर्ष और परिवार का सुख उसी के ऊपर अवलंबित है। आश्वलायन गृह्यसूत्र[२] तो कन्या के अच्छे बाह्य लक्षणों से ही संतुष्ट था। भारद्वाज[३] के अनुसार 'वित्त, रूप, प्रज्ञा और बांधव, इन चार पर विचार करना चाहिए।' भारद्वाज के ही अनुसार कुछ शास्त्रकारों का मत था कि 'जिस कन्या में मन रमण कर जाय और चक्षु आकृष्ट हो उसे पुण्यलक्ष्मीका (उत्तम शोभावाली) समझना चाहिए, केवल ज्ञान से क्या करना है[४]?' परंतु अधिक संतुलित लेखकों के विचार में 'अप्रज्ञया (बुद्धिहीन) कन्या से कैसे सहवास हो सकता है[५]?' बाह्य लक्षणों के अनुसार कन्या को अव्यंगांगी (अतिरिक्त अंगों से रहित), सौम्यनाम्नी (सुंदर नामवाली), हंसवारणगामिनी (हंस और हाथी के समान गंभीर चालवाली), तनुलोमकेशदशना (छोटे रोएँ, केश और दाँतवाली) और मृद्वंगी (कोमल शरीरवाली) होना चाहिए[६]। लाल रंग के केशोंवाली, अतिरिक्त अंगवाली, रुग्ण, लोमरहित, अतिलोमवाली, बकवासी तथा पिंगलाक्षी कन्या के साथ विवाह नहीं करना चाहिए[७]। वीरमित्रोदय[८] में उद्धृत विष्णुपुराण के अनुसार दाढ़ी-मूँछवाली, पुरुषाकृति, कर्कश स्वरवाली तथा बराबर व्यंग्य करनेवाली स्त्री के साथ विवाह अवांछनीय है। मध्यकालीन यमस्मृति के अनुसार वेदनाम्नी, नदीनाम्नी, शैलगंधर्वनामिका, ऋक्ष (नक्षत्र)-लतानाम्नी कन्या विवाह के लिये वर्जित है[९]।'

[१] मातुलान् भजते पुत्रः कन्यका भजते पितॄन्।
यथाशीला भवेन्माता तथा शीला भवेन्नृप॥ व्यास०।

[२] १.५।

[३] चत्वारि विवाहकरणानि वित्तं रूपं प्रज्ञा बांधवमिति। १.६।

[४] यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते तां विन्द्यात्पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यति। १.१२।

[५] अप्रज्ञया हि कथं संवासः। १.१६।

[६] मनु० ३.१०।

[७] मनु० ३.८।

[८] भा० २, पृ० ७३१।

[९] वही, पृ० ७३२ पर उद्धृत।

कन्या के लिये यह भी आवश्यक था कि वह यवीयसी (वर से वय में कम), अनन्यपूर्विका (पहले से किसी के साथ यौन संबंध में न आई हुई) और स्त्री (माता होने योग्य) हो[१] । मिताक्षरा में इन तीनों योग्यताओं पर बहुत बल दिया गया है । पहली योग्यता इसलिये थी कि कन्या का शारीरिक विकास वर की अपेक्षा कम वय में ही हो जाता था । दूसरे का आधार यौन संबंध की पवित्रता थी । तीसरे का आधार जातीय अथवा वंशपरंपरा को सुरक्षित रखना था । 'स्त्री' की व्याख्या करते हुए विज्ञानेश्वर ने लिखा है 'स्त्री वह है जो नपुंसकत्व (बंध्यत्व) निवृत्ति के लिये स्त्रीत्वेन (संभाव्य मातृत्वेन) परीक्षित हो[२] ।'

यदि कन्या की योग्यताओं का वर्गीकरण किया जाय तो वे तीन वर्गों— (१) शारीरिक, (२) बौद्धिक और (३) नैतिक में विभाजित हो सकती हैं । इनका प्रतिमान बहुत ऊँचा था और यदि कड़ाई से इनका पालन किया जाता तो लगभग पचास प्रतिशत कन्याएँ अविवाहित रह जातीं; अतः व्यवहार में इन योग्यताओं के बहुत से अपवाद भी होते थे । मध्ययुग में धीरे धीरे ब्रह्मवादिनी और आजीवन ब्रह्मचारिणी स्त्रियों की कमी होती जा रही थी । समाज की यह धारणा बनती जा रही थी कि स्त्रियों को अविवाहित नहीं रहना चाहिए । इसका परिणाम यह हुआ कि अयोग्य कन्याएँ भी विवाहित होने लगीं ।

(इ) वर की योग्यता—वर की योग्यता का मानदंड भी बहुत ऊँचा था । मिताक्षरा के आधार पर याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार कन्या की प्रायः सभी योग्यताएँ वर में होनी चाहिए । मनु का विधान अब भी सिद्धांततः मान्य था । 'सभी वेदों, दो अथवा कम से कम एक वेद का क्रमशः अध्ययन कर, अविलुप्त ब्रह्मचर्य होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए[३] ।' जैसे कन्या के लिये अनन्यपूर्विका का प्रतिबंध था उसी प्रकार वर के लिये अविलुप्त ब्रह्मचर्य का । वर के लिये दूसरी मुख्य योग्यता आयु अथवा वय की थी । वीरमित्रोदय में उद्धृत लिंगपुराण के अनुसार 'पहले वर की आयु की परीक्षा होनी चाहिए, पीछे अन्य लक्षणों की । आयुहीन मनुष्यों के अन्य लक्षणों से क्या लाभ[४] ?' प्राचीन गृह्यसूत्रों में वर की विद्या, चारित्र्य, बंधु तथा शील की परीक्षा आवश्यक मानी जाती थी । मध्यकालीन यमस्मृति के अनुसार वर के 'कुल, शील, वपु (शरीर), वय, विद्या,

[१] याज्ञ० १.५२ ।

[२] स्त्रियं नपुंसकत्वनिवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम् । वही ।

[३] वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ मनु० ३. २ ।

[४] पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमादिशेत् ।
आयुर्हीननराणाञ्च लक्षणैः किं प्रयोजनम् ॥ वी० मि० सं० भा० २, पृ० ७५२ ।

वित्त और सनाथता (साधनसंपन्नता) इन सात गुणों की परीक्षा होनी चाहिए[1] ।' शेष अचिंतनीय हैं।

जिस प्रकार कन्या के लिये स्त्रीत्व आवश्यक था उसी प्रकार वर के लिये पुंसत्व । नारद ने स्पष्ट कहा है : 'अपत्य (संतान) के लिये स्त्रियों की सृष्टि हुई है। स्त्री क्षेत्र और नर बीजी हैं। क्षेत्र बीजवान को देना चाहिए। अबीजी को क्षेत्र नहीं चाहिए[2] ।' नारद ने चौदह प्रकार के अयोग्य वरों का वर्णन किया है जो विवाह के अयोग्य थे[3] । प्रव्रजित (संन्यस्त), लोकविद्विष्ठ, मित्रों तथा संबंधियों से परित्यक्त, विजातीय, क्षयरोगी, लिंगस्थ (गुप्तवेशधारी), उदरी (पेटू या बड़े पेटवाला), प्रमत्त (पागल), पतितकुष्ठी, सगोत्र, अंध-बधिर, अपस्माररोगी आदि विवाह के लिये वर्जित थे।[4] ये दोष चाहे विवाह के पूर्व ज्ञात हों या पश्चात्, दोनों दशाओं में कन्यादान अवैध माना जाता था। वसिष्ठस्मृति के अनुसार कुलशील-विहीन, षंढ, पतित, अपस्मारि, विधर्मी, रोगी, वेशधारी को दी हुई कन्या वापस ले लेनी चाहिए और इसी प्रकार सगोत्रा विवाहिता कन्या को भी[5] । अति निकटस्थ और अति दूरस्थ, अत्यंत बलिष्ठ और अत्यंत दुर्बल, जीविकारहित और मूढ़ को भी कन्या नहीं देनी चाहिए। पराशर ने कहा है कि जो व्यक्ति धन की लिप्सा से वृद्ध, नीच कुरूप और अकुलीन को कन्या प्रदान करता है वह मरकर प्रेत होता है[6] । ऐसा लगता है कि जब मध्ययुग में कन्या का विवाह अनिवार्य हो गया तो वर की योग्यताओं का भी ध्यान कम हो गया। यह बात बौधायन के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जायगी :

'गुणवान् ब्रह्मचारी को नग्निका कन्या प्रदान करना चाहिए; यदि आवश्यकता हो तो गुणहीन को भी, परंतु रजस्वला कन्या को अविवाहित रोकना नहीं चाहिए[7] ।'

१ कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च ।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिंतनीयम् ॥
वी० मि० सं०, भा० २, पृ० ७५४ पर उद्धृत।

२ अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः ।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥ नारद०, स्त्रीपुंसंयोग, १२–१६ ।

३ वही, ११–१३ ।

४ कात्यायन : वी० मि० सं०, भा० २, पृ० ७५८ पर उद्धृत।

५ वही ।

६ कन्या यच्छति वृद्धाय नीचाय धनलिप्सया ।
कुरूपायाकुलीनाय स प्रेतो जायते नरः ॥ पाराशर, वही ।

७ दद्याद् गुणवती कन्या नग्निका ब्रह्मचारिणे ।
अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम् ॥ बौधायन, वही ।

(७) **विवाहयोग्य वय**—आदिम और वैदिक युग में वर और कन्या दोनों वयस्क होते थे, क्योंकि प्राकृतिक जीवन में यौन संबंध प्रायः वयस्क जोड़ों में ऋतु के अनुसार होता है। सभ्यता के कृत्रिम उद्दीपनों और ऐतिहासिक कारणों से विवाहयोग्य वय में परिवर्तन होता रहा। महाकाव्यों, सूत्रों तथा प्राचीन स्मृतियों के समय तक वर कन्या प्रायः वयस्क होते थे। इसके पश्चात् क्रमशः वय कम होने लगा। बौधायन-स्मृति के अनुसार 'कन्या वयस्क होने के पूर्व ही गुणवान तथा बुद्धिमान पति को ब्याहनी चाहिए। यदि वह स्त्रीत्व को प्राप्त हो चुकी हो तो उसे और न रोककर अयोग्य पति को भी सौंप देना चाहिए[१]।' मातापिता को लगनेवाले पाप के भय ने भी कन्या को बाल्यावस्था में ब्याहने के लिये बाध्य किया। ऋतुकाल के भय से पिता नग्निका कन्या को ब्याह दे; ऋतुमती कन्या के अविवाहित रहने पर पिता को दोष लगता है[२]। इस काल में विवाहयोग्य कन्या को पाँच वर्गों में बाँटा गया—(१) नग्निका अर्थात् बाल्यावस्था के कारण नग्न (वस्त्रहीन) होने पर लज्जा न अनुभव करनेवाली, (२) गौरी (अष्टवर्षीया), (३) रोहिणी (नववर्षीया), (४) कन्या (दशवर्षीया), तथा (५) रजस्वला (दस वर्ष के ऊपर अवस्थावाली, जिसको रजोधर्म प्रारंभ हो गया हो)[३]। इसमें नग्निका सबसे अच्छी समझी जाती थी। कभी कभी तो विवाह के लिये असंभव अल्पायु की भी कल्पना की गई है। महाभारत में एक प्रक्षिप्त श्लोक के अनुसार 'जन्म के समय ही कन्या को सदृश वर को प्रदान कर देना चाहिए, यथासमय कन्या के प्रदान से पिता धर्म को प्राप्त होता है[४]।' आगे चलकर बालविवाह का इतना अधिक प्रचार हो गया कि भाष्यकारों तथा निबंधकारों ने प्राचीन शास्त्रों में वयस्क विवाह की नई व्याख्याएँ प्रारंभ कर दीं। परंतु शास्त्रों में ऐसा परिवर्तन होते हुए भी क्षत्रिय आदि कुछ वर्णों में वयस्क विवाह अब भी प्रचलित थे और उनमें गांधर्व तथा राक्षस विवाह की प्रथा भी जीवित रही।

जैसा कि पहले लिखा गया है बालविवाह के उदय में कई ऐतिहासिक कारण थे। सारे देश में भौतिक सभ्यता का विकास होने पर जनता में क्रमशः विलासिता आने लगी और वैवाहिक जीवन उचित वय के पहले ही प्रारंभ हो गया। विक्रमपूर्व पाँचवीं शती से लेकर विक्रमपश्चात् पाँचवी शती तक बाहर के आक्रमण इस देश पर होते रहे। ईरानी, यवन, बाख्त्री, पह्लव, शक, तुषार, हूणादि आक्रमणकारियों में स्त्री का स्थान बहुत नीचा था और वह केवल विलास की

[१] वही।
[२] वसिष्ठ०, १७।
[३] सर्वसंग्रह, पा० गृ० सू० १. ४. ८ पर गदाधर द्वारा उद्धृत।
[४] अनुशासन पर्व, ४४।

सामग्री समझी जाती थी। इसका प्रभाव भी भारतीयों पर पड़ा। यद्यपि वयस्क विवाह बीच बीच में होते रहे, बालविवाह की प्रवृत्ति बढ़ती रही। भारत की निम्न स्तर की जातियों में पहले से ही बालविवाह की प्रथा थी; इसका प्रभाव भी उच्च वर्ग की जनता पर पड़ता था। आगे चलकर अरबों और तुर्कों के आक्रमणों ने इस प्रथा को और भी प्रोत्साहन दिया। स्त्री-अपहरण को रोकने के लिये लड़कियों का बालविवाह बड़े पैमाने पर किया जाने लगा। इन कारणों के साथ एक धार्मिक कारण भी काम कर रहा था। वह था कन्यादान में दान की भावना। जब कन्या स्वयंवरा थी तो दान का प्रश्न उठता ही नहीं था। इसके पश्चात् कन्या-प्रदान में प्रदान केवल विधिक था, जिसके अनुसार कन्या के ऊपर पिता के अधिकार का स्थानातरण मात्र होता था। अंत में दान की शुद्ध धार्मिक भावना का प्राबल्य हुआ। कन्या दान की वस्तु हो गई; अतः इसका शुद्धतम रूप नग्निका कन्या में ही संभव था। इसलिये ऋतुकाल के पूर्व कन्यादान आवश्यक मान लिया गया।

(८) **निर्वाचन का अधिकार**—आदिम काल में स्त्री अनावृत्त (अनियंत्रित) थी। जब विवाह प्रथा ही नहीं तो वह स्वैरिणी (स्वतः इच्छानुसार पुरुष के पास जानेवाली) थी। सामाजिक विकास सामाजिक प्रतिबंधो के विकास का इतिहास है। विवाह स्वयं एक सामाजिक प्रतिबंध था। विवाह प्रथा प्रचलित होने पर भी प्रारंभिक अवस्था में स्त्री स्वयंवरा (स्वतः वर चुननेवाली) थी; वर के चुनाव के पश्चात् धार्मिक क्रियाएँ तथा सामाजिक शिष्टाचार होते थे। गांधर्व विवाह बहुत दिनो तक इसके अवशेष के रूप में चलता रहा। पुरानी स्मृतियों तक में निर्वाचन अथवा कन्यादान के प्रश्न को बहुत कम महत्व दिया गया है। संपत्ति तथा उसके अधिकार और पारिवारिक संघटन की दृढ़ता ज्यों ज्यो बढ़ती गई त्यों त्यों कन्यादान के अधिकार का भी प्रश्न महत्व ग्रहण करता गया। बालविवाह ने संरक्षकत्व के प्रश्न को और भी बढ़ाया।

विष्णुधर्मसूत्र[१] के अनुसार विवाह में प्रदान के लिये कन्या के अभिभावक निम्नांकित थे: पिता, पितामह, भाई, सकुल्य, मातामह तथा माता एवं तीन ऋतुकाल बीतने पर लड़की स्वयं। मनु के अनुसार ऋतुमति होने के तीन वर्ष बाद तक अभिभावकों का अधिकार कन्या पर था। इसके पश्चात् कन्या स्वयं अपने पति का वरण कर सकती थी। याज्ञवल्क्यस्मृति[२] में इस सूची से मातामह हटा दिए गए और यह प्रतिबंध तोड़ दिया गया कि मानसिक स्वास्थ्य की दशा में ही अभिभावक अपने अधिकार का उपयोग कर सकते थे, उनके अभाव में कन्या स्वयं वर का

[१] १. २४, ३८-३६

[२] १. ६३-६४।

चुनाव कर स्वयंदत्ता हो सकती थी। मध्ययुग के ठीक पूर्व नारदस्मृति[१] में कन्या प्रदान का क्रम इस प्रकार है : पिता, भ्राता, पितामह, मातुल, सकुल्य, बांधव, माता, सगोत्र और सबके अभाव में राजाज्ञा से कन्या स्वयं। क्योंकि मध्ययुग में स्त्री अकेली वैदिक कर्मकांड नहीं कर सकती थी अतः माता अथवा कन्या नांदी श्राद्ध और संकल्प स्वयं करके शेष संस्कार ब्राह्मण के माध्यम से करती थी[२]। यह होते हुए भी मध्ययुग में संरक्षकत्व और अधिकार का प्रश्न गौण और धर्मतः कन्या के विवाह का प्रश्न मुख्य था। यदि किसी के द्वारा भी कन्या का विधिवत् विवाह करा दिया गया तो वह विवाह वैध और अमेय हो जाता था। विधिक-संरक्षक न्यायालय की सहायता से विवाह रोक सकता था, किंतु विवाह हो जाने पर उसका भंग नहीं करा सकता था[३]।

(६) **संस्कार**—विवाह की पवित्रता और स्थायित्व के लिये संस्कार आवश्यक माना जाता था, यहाँ तक कि अप्रशस्त पैशाच, राक्षस, गांधर्व तथा आसुर विवाहों की सामाजिक स्वीकृति के लिये भी संस्कार अनिवार्य बना दिए गए थे। वैवाहिक प्रतिबंध के लिये दो पक्ष, वर और कन्या, पर्याप्त थे किंतु धर्म की दृष्टि से विवाह में एक तीसरा पक्ष संस्कार था जो दो पक्षों के बीच किसी भी वैषम्य और संघर्ष का समाधान करता था। सिद्धांततः मध्ययुग तक संस्कार की यह स्थिति चली आई। ऋग्वेद में वर्णित सूर्या और सोम के विवाह की विधियाँ गृह्यसूत्रों से होती हुई मध्यकालीन निबंधों और पद्धतियों तक प्रचलित रहीं। किंतु देशाचार, ग्रामवचन और जनपदधर्म के कारण धीरे धीरे संस्कार के रूप और विस्तार में परिवर्तन भी हुए[४]। मध्ययुग में जो विवाह-संस्कार प्रचलित था उसमें निम्नलिखित क्रियाएँ संमिलित थीं[५] :

१ पिता दद्यात्स्वयं कन्यां भ्राता वानुमते पितुः।
पितामहो मातुलश्च सकुल्या बांधवास्तथा॥
माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्तते।
तस्याम् प्रकृतिस्थायां दद्युः कन्यां सनाभयः॥
यदि तु नास्ति कश्चित्स्यात्कन्या राजानमाश्रयेत।
अनुज्ञया तस्य वरं प्रतीत्य वरयेत्स्वयम्॥ नारद०, स्त्रीपुंस०, २०–२२।

२ धर्मसिंधु, ३, पूर्वार्द्ध पृ० २५१; निर्णय० ३, पूर्वार्द्ध, पृ० ३०६।

३ उद्वाह०, पृ० १२७; निर्णय० ३, पूर्वार्द्ध, पृ० ३०७।

४ ग्रामवचनं च कुर्युः। पा० गृ० सू० १. ८. ११; १. ५;
क्रमः उक्तः स च देशाचारवशेनानुसर्तव्यः। प्रयोगरत्न०।
जनपदधर्मान् ग्रामधर्मांश्च विवाहे प्रतीयान्। निर्णय० ३. पूर्वार्द्ध।

५ संस्कारमयूख, वी० मि० सं० कांड, स्मृति० तथा विवाहपद्धतियों एवं प्रयोगों पर आधारित।

(१) वधूवर-गुण-परीक्षा (कन्या तथा वर के गुणों की परीक्षा)
(२) वर-प्रेषण (कन्या को देखने के लिये वर को भेजना)
(३) वाग्दान (विवाह के लिये वचनदान अथवा मौखिक स्वीकृति)
(४) मंडपकरण (विवाह संस्कार के लिये मंडप-निर्माण)
(५) पुण्याहवाचन तथा नांदीश्राद्ध (संस्कार के पूर्व शुभाशंसा तथा पितरों की प्रसन्नता के लिये उनका आवाहन)
(६) वधूगृहागमन (कन्या के पिता के घर वरपक्ष का जाना)
(७) मधुपर्क [मधुपर्क (मधु=शर्करा-घृतादि से निर्मित मिष्ठ-विशेष) से स्वागत]
(८) विष्टरादान (वर को बैठने के लिये आसन देना)
(९) गौरीहर-पूजा [पार्वती तथा महादेव (अचल सौभाग्य के द्योतक) की पूजा]
(१०) स्नापन, परिधापन तथा संनहन (स्नान, वस्त्रधारण, कटि-बंधन आदि)
(११) समंजन [वरवधू को अंगराग (सुगंधित लेप) लगाना]
(१२) प्रतिसरबंध (कन्या के हाथ में कवच बाँधना)
(१३) वधूवर निष्क्रमण (वर-वधू का घर के अंदर से निकलकर मंडप में जाना)
(१४) परस्पर समीक्षण (वर-वधू का परस्पर देखना)
(१५) कन्यादान (पिता तथा अभिभावक द्वारा नियमतः कन्यादान)
(१६) अक्षतरोपण [अक्षत (अहत अथवा यव) रखना]
(१७) कंकणबंधन (वधू की कलाई में कंकण बाँधना)
(१८) आर्द्राक्षतरोपण (गीले अक्षत रखना)
(१९) तिलककरण (ललाट पर तिलक लगाना)
(२०) अष्टफलिदान (आठ प्रकार के फलों का दान)
(२१) मंगलसूत्र बंधन (मंगलसूत्र बाँधना)
(२२) गणपतिपूजा (गणेश की पूजा)
(२३) वधूवरयोरुत्तरीय-प्रांतबंधन (वधू-वर की चादरों का छोर बाँधना)।
(२४) लक्ष्मी-पार्वती-शची पूजा [लक्ष्मी, पार्वती तथा शची (इंद्राणी) की पूजा]
(२५) वापनदान (बोए हुए अंकुरित पौधों का दान)
(२६) अग्निस्थापन तथा होम (अग्नि की स्थापना तथा हवन)

(२७) पाणिग्रहण (वर द्वारा कन्या का हाथ पकड़ना)
(२८) लाजा होम (धान के लाजा को अग्नि में हवन करना)
(२९) अग्निपरिणयन (वर द्वारा वधू के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा)
(३०) अश्मारोहण (वधू का पत्थर पर चढ़ना)
(३१) गाथागान (स्त्रियों की प्रशंसा)
(३२) सप्तपदी [सात पग (विवाह के सात उद्देश्यों की सिद्धि के लिये) रखना]
(३३) मूर्द्धाभिषेक (शिर पर जल छिड़कना)
(३४) सूर्योदीक्षण (कन्या द्वारा सूर्य की तरफ देखना)
(३५) हृदयस्पर्श (वर द्वारा कन्या के हृदय को छूना)
(३६) सिंदूरदान [सिंदूर (सौभाग्य-चिह्न) लगाना=सुमंगली]
(३७) प्रेक्षकानुमंत्रण (दर्शकों को संबोधन)
(३८) दक्षिणादान (आचार्य को दक्षिणा देना)
(३९) गृहप्रवेश (वधू का वर के घर में प्रवेश)
(४०) गृहप्रवेशनीय होम (गृहप्रवेश के समय हवन)
(४१) ध्रुवारुंधतीदर्शन (ध्रुव तथा अरुंधती का दर्शन)
(४२) आग्नेय स्थालीपाक (पक्वान्न का हवन)
(४३) त्रिरात्रव्रत (विवाहोपरात तीन रात्रि का ब्रह्मचर्यव्रत)
(४४) चतुर्थीकर्म (विवाह के चौथे दिन वरवधू की एकता के सूचक कर्म)
(४५) देवकोत्थापन तथा मंडपोद्वासन (आहूत देवताओं की विदाई तथा विवाह-मंडप का उखाड़ना)

(१०) **संस्कार का प्रतीकत्व**—विवाह संस्कार का महत्व उसके प्रतीकत्व में था। उसकी प्रत्येक क्रिया विवाह के किसी न किसी आदर्श, उद्देश्य अथवा कार्य की ओर संकेत करती थी; क्रियाएँ स्वयं वाहक का काम करती थीं। क्योंकि विवाह एक धार्मिक संस्कार था, इसके बहुत से उद्देश्य और कार्य सूक्ष्म भावना और मनोविज्ञान पर अवलंबित थे। उनको व्यक्त करने के लिये प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती थी।

कुछ प्रतीक इस बात के द्योतक थे कि विवाह दो योग्यतम व्यक्तियों का युग्म अथवा जोड़ा है। विवाह एक नया बंधन है, इस बात पर कई क्रियाओं का बल है। विवाह के स्थायित्व और दृढ़ता को कई क्रियाएँ व्यक्त करती हैं। विवाह में यौन संबंध और संतानोत्पादन का क्या स्थान है, इसका स्पष्टीकरण कई क्रियाओं से होता है। विवाहित जीवन सफल और समृद्ध होना चाहिए, इसको प्रायः

ध्वनित किया गया है। विवाह जीवन में एक बड़ी संक्रांति है, इसका विवेचन कई क्रियाएँ करती हैं और विवाहित जीवन की आशंकाओं तथा संभावनाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं। विवाह यौन संबंध के लिये प्रमाणपत्र नहीं किंतु तत्संबंधी संयम का विधान है, इसका उपदेश वैवाहिक क्रियाओं में पाया जाता है। संस्कार की कतिपय क्रियाएँ इस बात का द्योतन करती हैं कि विवाह एक प्रकार का सामाजिक यज्ञ है और विवाहित युग्म को समाज के निमित्त कष्टसहन और बलिदान के लिये प्रस्तुत रहना चाहिए।

(११) बहुविवाह

(अ) बहुपतित्व—बहुपतित्व की प्रथा आदिम काल में प्रचलित थी, जब परिवार मातृसत्तात्मक था और स्त्री को यौन संबंध के बारे में पूरी स्वतंत्रता थी। वैदिक संहिताओं के युग तक यह प्रथा बंद हो गई थी, केवल उसकी स्मृति शेष थी। तैत्तिरीय संहिता[1] में यह कथन मिलता है: 'एक यूप पर दो रशनाएँ बाँधी जाती हैं, अतः एक पुरुष दो पत्नियाँ रख सकता है। एक रशना दो यूपों से नहीं बाँधी जाती है, अतः एक स्त्री दो पति नहीं कर सकती।' इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण[2] में लिखा है: 'अतः एक पुरुष की कई स्त्रियाँ होती हैं, किंतु एक स्त्री के कई पति नहीं होते।' ऐतिहासिक काल में एक ही उदाहरण बहुपतित्व का मिलता है और वह है महाभारत में द्रौपदी का उदाहरण, जिसके अनुसार द्रौपदी के पति पाँचो पांडव—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुनादि—थे। परंतु महाभारत में ही इसका घोर विरोध किया गया है। धृष्टद्युम्न युधिष्ठिर से कहते हैं: 'हे कुरुनंदन, एक (राजा) की बहुत सी रानियाँ विहित हैं। किंतु एक स्त्री के बहुत से पति नहीं सुने जाते। आप धर्मज्ञ और पवित्र हैं। लोक और वेदविरुद्ध अधर्म आपके योग्य नहीं। हे कौंतेय! किस प्रकार आपकी ऐसी बुद्धि हो गई[3]।' युधिष्ठिर को उत्तर देना बहुत कठिन हो गया। अंत में उन्होंने यह कहकर पिंड छुड़ाया: 'हे महाराज, धर्म सूक्ष्म है। हम इसकी गति नहीं जानते। परंपरा से पूर्वजों द्वारा अपनाए मार्ग का अनुसरण करते हैं[4]।' अपने प्रमाण में युधिष्ठिर कठिनता से दो पौराणिक

[1] यदेकस्मिन्यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते। यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते। ६. ६. ४. ३; ६. ५. १. ४।

[2] तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दते। तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्य बहवः सहपतयः॥ ऐत० ब्रा० १२. ११।

[3] म० भा०, आदि० १९५, २७–२९।

[4] वही, १९६।

उदाहरण दे सके। अपने तंत्रवार्तिक[1] में कुमारिल भट्ट ने महाभारत की घटना की यह व्याख्या की है कि द्रौपदी (द्रुपद की पुत्री) एक नहीं, सदृशरूपा पाँच थीं जो पाँच पांडवों से अलग अलग ब्याही गई थीं।

मध्ययुग में इसकी केवल स्मृतिमात्र रह गई थी। स्मृतिचंद्रिका[2] में उद्धृत बृहस्पति का कथन है कि कुल (समूह) को कन्याप्रदान अन्य देशों में सुना जाता है (भारत में नहीं)। इससे प्रकट है कि भारत के मर्यादित समाज में बहुपतित्व की प्रथा बंद हो गई थी। परंतु कुछ जातियों में पीछे तक यह प्रथा बनी रही और कुछ में आज तक पाई जाती है। यह प्रथा दो प्रकार की रही है। एक तो मातृ-सत्तात्मक, जिसके अनुसार स्त्री गृहस्वामिनी होती थी और कई पतियों को साथ रखती थी। इसमें संतान और संपत्ति दोनों ही माता के द्वारा परिगणित होती थीं। यह प्रथा मलाबार के नगरों में प्रचलित थी जो आधुनिक युग में बंद हुई है। दूसरी पितृसत्तात्मक थी, जिसके अनुसार एक स्त्री कई भाइयों से ब्याही जाती थी और पतिगृह में रहती थी। इसमें संतान जीवित ज्येष्ठ भाई की मानी जाती थी। यह प्रथा कुमायूँ, गढ़वाल, चंबा, कुल्लू आदि हिमालय की तलहटियों में प्रचलित है।

(आ) बहुपत्नीत्व—एकपत्नीत्व आदर्श माना जाता था और व्यवहार में प्रायः नियम सा था किंतु अपवाद रूप से बहुपत्नीत्व बहुत प्राचीन काल से समाज में प्रचलित था। प्रचलित होते हुए भी समाज इसे हेय समझता था। अधिकांश राजकुलों तथा धनिक वर्ग में यह पाया जाता था। बहुपत्नीत्व के प्रायः दो आधार थे—(१) काम और (२) संतति। पहली स्त्री धर्मपत्नी और अन्य कामपत्नी मानी जाती थी। कामभाव से प्रेरित दूसरी स्त्री रखनेवाला समाज में आदरणीय नहीं था। पहली स्त्री जीवित रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह करने पर पहले युग में भी प्रतिबंध था और मध्ययुग में भी। आपस्तंब-धर्मसूत्र[3] में विधान था : 'धर्म-प्रजा-संपन्न पत्नी के होते हुए दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए, किंतु यदि धर्म अथवा प्रजा दोनों में से एक का भी अभाव हो तो श्रौत कर्म के पूर्व दूसरी स्त्री से विवाह करना चाहिए।' ऐसा न करने पर पति घोर प्रायश्चित का भागी होता था। मध्ययुग

[1] अथवा बह्व्य एव ताः सदृशरूपाद्रौपद्य एकत्वेनोपचारिता इति व्यवहारार्थपत्या गम्यते। पृ० २०६।

[2] कुले कन्याप्रदानं च देशेष्वन्येषु दृश्यते॥ स्मृति० १. १०।

[3] धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्। आ० ध० सू० २. ५. ११. १२–१३।

के ठीक पूर्व नारद[1] ने कहा है : 'अनुकूल, अवाग्दुष्ट (मधुरभाषिणी), दक्ष (गृहकार्य में), साध्वी तथा प्रजावती (संतानवाली) स्त्री को छोड़नेवाले पति को कठिन दंड से राजा उचित पथ पर रखे।' इससे प्रकट होता है कि इसके प्रतिकूल पत्नी के होते हुए दूसरी पत्नी रखी जा सकती थी। इस संभावना को विधिक रूप मिल जाने से इसका दुरुपयोग भी होता था। मध्ययुग में बहुपत्नीत्व अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित था। गृहस्थरत्नाकर में उद्धृत देवल के अनुसार शूद्र की एक, वैश्य की दो, क्षत्रिय की तीन और ब्राह्मण की चार स्त्रियाँ होती थीं; राजा की यथेच्छ अर्थात् जितनी स्त्रियाँ वह रखना चाहे[2]। ऐसा जान पड़ता है कि इस समय बहुत स्त्रियाँ रखना आर्थिक और सामाजिक मर्यादा का द्योतक था। मध्ययुग के राजाओं के रनिवास में सैकड़ों स्त्रियाँ होती थीं। चेदिराज गांगेयदेव विक्रमादित्य के संबंध में जबलपुर में प्राप्त यशःकर्णदेव के उत्कीर्ण लेख में उल्लेख है कि उसने प्रयाग में सौ पत्नियों के साथ मुक्ति प्राप्त की[3]। राक्षस और गांधर्व विवाह के द्वारा बहुत सी राजकुमारियों और सुंदर स्त्रियों का संग्रह राजाओं में बहुत प्रचलित था। इसका प्रमाण तत्कालीन कथा तथा आख्यायिका साहित्य, नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित, बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर आदि में प्रचुर मिलता है। बंगाल और मिथिला में 'कुलीनता' ने इस प्रथा को बहुत ही प्रश्रय दिया और एक कुलीन के पास बीसों स्त्रियाँ, पत्नीरूप में समर्पित होती थीं। इस प्रथा के मूल में कई कारण थे, जैसे—(१) अधिक पुत्रों का धार्मिक महत्व, (२) बालविवाह, (३) स्त्रियों में अशिक्षा, (४) ऋतुकाल के अशौच का सिद्धांत, (५) स्त्रियों का शूद्रों से समीकरण, (६) स्त्रियों का पुरुषों पर नितात परावलंबन, तथा (७) सामंतवादी विलासिता और कामुकता। श्रीमंत तथा शासकवर्ग में इस प्रथा के होते हुए भी, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, सामान्यतः जनसाधारण का इसके प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव था। उन्नीसवीं विक्रमशती तक प्रायः यही अवस्था थी। स्टील नामक एक युरोपीय लेखक ने अपनी पुस्तक 'हिंदू जातियों की विधि तथा प्रथा' में लिखा है '...प्रथम पत्नी के बंध्यत्व के अतिरिक्त बहुपत्नीत्व प्रायः नहीं होता है[4]।'

[1] अनुकूलामवाग्दुष्टां साध्वीं च प्रजावतीम्।
त्यजन् भार्यामवास्थाप्यो राजा दंडेन भूयसा॥ नारद० स्त्रीपुंस० ९५।

[2] एक शूद्रस्य वैश्यस्य द्वे तिस्रः क्षत्रियस्य च।
चतस्रो ब्राह्मणस्य स्युर्भार्या राज्ञो यथेच्छतः॥ गृहस्थरत्नाकर, पृ० ८५।

[3] प्राप्ते प्रयागवटमूलनिवेशबन्धौ सार्धं शतेन गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्।
एपि० इंडि०, जि० २, पृ० ४।

[4] १८२६ ई० (=सं० १८८२ वि०) में प्रकाशित; पृ० १६८, द्वितीय संस्करण १८९८ वि०।

इंपीरियल गजेटियर, जि० १, पृ० ४८२ (१९६४ वि० संस्करण) में वक्तव्य है : यद्यपि सिद्धांततः बहुपत्नीत्व विहित है, व्यवहार में प्रथम स्त्री के रहते दूसरी पत्नी नहीं रखी जाती और भारत में सब मिलाकर प्रति १००० पुरुषों के लिये १०११ पत्नियाँ हैं, जिससे स्पष्ट है कि एक सहस्र में ग्यारह छोड़कर शेष एकपत्नीव्रत का पालन करते हैं।

(१२) **विवाहित जीवन**—इस युग के प्रायः सभी भाष्यकारों तथा निबंधकारों ने विवाहित जीवन के आदर्श और कर्तव्य के संबंध में मनु आदि प्राचीन स्मृतियों को उद्धृत किया है। मनु ने पति-पत्नी के पारस्परिक कर्तव्य को संक्षेप में कहा है : भार्या और पति का आमरणांतिक (मरण के समय तक) परस्पर (धर्म, अर्थ तथा काम में) अव्यभिचार (अनुल्लंघन) हो, संक्षेप में स्त्री-पुरुष का यही श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिए। विवाहित स्त्री-पुरुष नित्य इस बात का प्रयत्न करें कि वे वियुक्त होकर (धर्म, अर्थ तथा काम में) एक दूसरे का अतिक्रमण न करें[1]। मेधातिथि तथा कूल्लूक ने इन श्लोकों का भाष्य करते हुए इस सिद्धांत को स्वीकार किया है। गोभिलस्मृति ने सहधर्म पर बल देते हुए लिखा है : 'राम ने अपनी यशस्विनी पत्नी सीता की स्वर्णमूर्ति बनवाकर भाइयों से अर्चित बहुत प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान किया[2]।'

पति-पत्नी का सर्वप्रथम धर्म था कि वे साथ साथ देवताओं, ऋषियों और पितरों के प्रति अपने ऋण को चुकावें और नित्य पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान करें। देवताओं का ऋण यज्ञ करके, ऋषियों का वेदाध्ययन और स्वाध्याय से तथा पितरों का संतानोत्पत्ति से चुकाया जाता था। नित्य पंचमहायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), देवयज्ञ (श्रौत यागादि), पितृयज्ञ (संतानोत्पत्ति, तर्पणादि), अतिथियज्ञ (संन्यासी, विद्यार्थी तथा अन्य अभ्यागत को भोजनदान) और भूतयज्ञ (जीवमात्र का पोषण और उनके प्रति दयाभाव : प्रतीक रूप से कुत्ता, श्वपच, कृमि तथा पापरोगी को भोजनदान) की गणना थी। इनके अतिरिक्त अन्य श्रौत-स्मार्त-काम्य धार्मिक क्रियाओं को भी पति-पत्नी साथ करते थे। मध्यकालीन भाष्यकारों ने यह प्रश्न उठाया कि पत्नी को अकेले धार्मिक कृत्यों के करने का अधिकार है या नहीं। व्यवहारमयूख में उद्धृत कात्यायन के अनुसार 'पिता, भर्ता (पति) अथवा

[1] अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणांतिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः। ९. १०१।
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृत क्रियौ।
यथानाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ ९. १०२।

[2] रामोऽपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्।
ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरर्चितैः ॥ ३. १०।

पुत्र की आज्ञा से स्त्री धार्मिक कृत्य कर सकती है; अनुज्ञा के बिना उसके धार्मिक कर्म विफल होते हैं।' पराशरमाधवीय (२. १. ३७) तथा हेमाद्रिव्रतखंड (१. ३६२) में मार्कंडेयपुराण से यह उद्धृत किया गया है। दूसरा प्रश्न था कि यदि एक पुरुष की कई पत्नियाँ हों तो किसके साथ धार्मिक क्रियाएँ करनी चाहिए। इसपर विष्णुधर्मसूत्र का उद्धरण लिया गया है : 'यदि कई एक सवर्ण पत्नियाँ हों तो ज्येष्ठा के साथ, यदि मिश्र (कई वर्ण की) हों तो भी कनिष्ठा सवर्णा के साथ, यदि सवर्णा न हो तो क्रमशः क्षत्रिया और वैश्या के साथ, किंतु द्विज को शूद्रा के साथ धार्मिक कृत्य नहीं करना चाहिए[1]।' वसिष्ठ ने कहा है : 'कृष्णवर्णा (शूद्रा) रामा (स्त्री) केवल रमण के लिये होती है, धर्म के लिये नहीं[2]।' इसका कारण यह था कि मध्ययुग में प्रायः अंतर्वर्ण विवाह और वर्णोत्कर्ष के सिद्धांत शिथिल हो गए थे।

सभी धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया है। स्त्री का प्रथम कर्तव्य था पति की आज्ञा का पालन और उसका देवतातुल्य आदर करना। अपने पति च्यवन के प्रति सुकन्या के वचन को शतपथ ब्राह्मण से प्रायः उद्धृत किया गया है : 'जिसके लिये मेरे पिता ने मुझे समर्पित कर दिया है, आजीवन उसका परित्याग न करूँगी[3]।' स्मृतिचंद्रिका तथा पराशरमाधवीय में उद्धृत शंखलिखित का कथन है : 'पत्नी को पति से द्वेष नहीं करना चाहिए, चाहे वह नपुंसक, पतित, अंगहीन अथवा रोगी ही क्यों न हो; स्त्रियों का पति ही देवता है[4]।'

पत्नी के गृहस्थी संबंधी कर्तव्यों के संबंध में मनु और याज्ञवल्क्य को विशेषरूप से उद्धृत किया गया है। मनु[5] के अनुसार 'पत्नी को सदा प्रसन्नमुख, गृहकार्यों में सावधान तथा कुशल रहना चाहिए, घर के बरतन-भाँडों को साफ सुथरा रखना चाहिए और कभी अमितव्ययी नहीं होना चाहिए। संपत्ति के संरक्षण और व्यय का भार, गृहवस्तुओं को साफ रखने का दायित्व, धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान का कार्य, भोजनादि की तैयारी तथा संपूर्ण गृहस्थी के निरीक्षण का काम पत्नी को सौंप देना चाहिए। सुरापान, बुरे लोगों का सहवास, पति से अलग रहना, तीर्थादि में घूमना, दिन में सोना और अपरिचित के घर में आवास, ये छः स्त्री के दूषण के कारण हैं।' याज्ञवल्क्यस्मृति पर भाष्य करते हुए विज्ञानेश्वर ने शंख का निम्नलिखित

[1] वि० ध० सू० २६. १–४।
[2] वही, १८. १८।
[3] श० ब्रा० ४. १. ५. ६।
[4] स्मृति०, व्यवहार०, पृ० २५१; पराशरमाधवीय, भाग २, खंड १, पृ० ३८।
[5] मनु०, ५. १५०–१५६।

कथन उद्धृत किया है : 'स्त्री को आज्ञा लिए बिना घर से नहीं निकलना चाहिए; उत्तरीय (चादर) लिए बिना भी नहीं; शीघ्रता से नहीं चलना चाहिए; वणिक्, प्रव्रजित, वृद्ध और वैद्य को छोड़कर परपुरुष से बातचीत नहीं करना चाहिए; अपनी नाभि का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए; टखने तक वस्त्र धारण करना चाहिए; स्तनों को उभाड़कर नहीं रखना चाहिए; मुँह ढके बिना जोर से नहीं हँसना चाहिए; उसको पति तथा उसके संबंधियों से द्वेष नहीं करना चाहिए; गणिका, धूर्ता, अभिसारिणी, प्रव्रजिता, प्रेक्षणिका (नाटक, अभिनय आदि में भाग लेनेवाली), मायामूला (धोखेबाजी से जीनेवाली), कुहककारिका (जादूगरनी) तथा दुःशीला के साथ एक स्थान में नहीं रहना चाहिए[1] ।' बृहस्पति के अनुसार 'स्त्री को अपने गुरुजनों के पूर्व सोकर उठना चाहिए, उनके भोजनोपरांत भोजन करना चाहिए; उनसे नीचे आसन पर बैठना चाहिए[2] ।'

इस काल के धर्मशास्त्रीय ग्रंथों ने स्त्रीधर्म के ऊपर पुराणवचनों का प्रचुर उद्धरण दिया है। भागवतपुराण[3] के अनुसार 'जो पत्नी अपने पति को हरि समझती है वह हरिलोक में पति के साथ विलास करती है।' स्कंदपुराण[4] में पातिव्रत्य के लंबे कर्तव्यों का वर्णन है : 'स्त्री को अपने पति का नामोच्चार नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस आचरण से पति की आयु घटती है, उसे दूसरे पुरुष का नाम नहीं लेना चाहिए, पति से लांछित होने पर भी पत्नी को चिल्लाकर नहीं बोलना चाहिए, पति से मार खाने पर भी उसे मुस्कराना ही चाहिए। पतिव्रता स्त्री को सदा आलक्तक, कुंकुम, सिंदूर, अंजन, कंचुकी, तांबूल, सुंदर आभूषण और वेणी (बालों की) धारण करना चाहिए।' पद्मपुराण[5] के अनुसार वह स्त्री पतिव्रता है जो दासी के समान गृहस्थी का काम करती हो, वेश्या के समान रतिकला में कुशल हो, परिवार के पालनपोषण में माता के समान हो और विपत्तिकाल में मंत्रणा करने में मंत्री के समान हो।'

प्रोषितपतिका के कर्तव्यों का भी वर्णन शास्त्रकारों ने किया है। शंखलिखित के अनुसार[6] 'जिस स्त्री का पति बाहर गया हो उसे दोला, नृत्य, चित्रदर्शन, शरीर में सुगंधिविलेपन, उद्यानविहार, खुले हुए आकाश के नीचे सोना, स्वादिष्ट

[1] मिताक्षरा (याज्ञ० १. ८७ पर भाष्य)।
[2] स्मृति०, व्यवहार०, पृ० २५७ पर उद्धृत।
[3] ७. ११. २९।
[4] ब्रह्मखंड, धर्मारण्य, अध्याय ७।
[5] सृष्टिखंड, अध्याय ४७, श्लोक ५५।
[6] अपरार्क, पृ० १०८।

भोजन और पेय, कंदुकक्रीड़ा, इत्रादि सुगंधित पदार्थ, पुष्प, आभूषण, दंतप्रसाधन, आँखों में अंजन आदि का परित्याग करना चाहिए।' वेदव्यासस्मृति[1] में उल्लेख है : 'पति के बाहर जाने पर पतिव्रता स्त्री विवर्णदीनवदना, देहसंस्कारवर्जिता होकर निराहार से अपने को शोषित करती रहे।' मिताक्षरा[2] द्वारा उद्धृत बृहस्पति का कथन है : 'जो स्त्री पति के आर्त होने पर आर्त, मुदित होने पर प्रसन्न, प्रोषित होने पर मलिन और कृश तथा मरने पर मृत होती है उसे पतिव्रता कहते हैं।'

पत्नी के कार्यों और कर्तव्यों के बदले में उसे अधिकार और सुविधाएँ भी प्राप्त थीं और उनके आधार पर पति के कर्तव्य भी स्थिर किए गए थे। पत्नी को पति के घर में रहने का विधिक अधिकार प्राप्त था। साथ ही उसको पति के द्वारा भरणपोषण का भी अधिकार मिला हुआ था। मनु पर भाष्य करते हुए मेधातिथि[3] ने एक श्लोक उद्धृत किया है जो इस प्रकार है : 'मनु ने कहा है कि वृद्ध माता-पिता, साध्वी भार्या और बालक पुत्र का पालन सैकड़ों अकार्य (अनुचित कार्य) करके भी होना चाहिए।' दक्षस्मृति[4] में पोष्यवर्ग में निम्नांकित की गणना की गई है : माता, पिता, गुरु, भार्या, प्रजा, दीन, समाश्रित, अभ्यागत, अतिथि तथा अग्नि। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य पर भाष्य करते हुए कहा है : 'स्त्रियों की रक्षा अपनी पत्नी में निरत रहने से ही होती है, ताडन आदि से नहीं। ताडन से उनका अनर्थ ही सुना जाता है, व्यवहारकुशल लोग पांचाल स्त्रियों में मृदुता का ही उपदेश करते हैं[5]।' पति के द्वारा भरणपोषण का कर्तव्य इतना अनिवार्य था कि यदि स्त्री व्यभिचारिणी हो तब भी उसका भंग नहीं होता था। विज्ञानेश्वर[6] ने याज्ञवल्क्य पर भाष्य करते हुए वसिष्ठ के इस वचन की ओर ध्यान दिलाया है : 'शूद्र के साथ व्यभिचार करनेवाली ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की

[1] २. ५२।

[2] आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥ याज्ञ० १. ८६ पर भाष्य में उद्धृत।

[3] वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत॥ मेधातिथि (मनु० ३. ६२) तथा मिताक्षरा (याज्ञ० १. २२४) द्वारा उद्धृत।

[4] माता पिता गुरुर्भार्या प्रजा दीनः समाश्रितः।
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः॥ दक्ष० २. ३६।

[5] रक्षा च स्त्रीणां स्वदारनिरतत्वमेव न तु ताडनादिका। तथा तासामनर्थोऽपि संभाव्येत। तथा च लौकिकाः पांचाल स्त्रीषु मार्दवमिति पठंति॥ विश्वरूप : याज्ञ० १. ६० पर भाष्य।

[6] याज्ञ० १. ७०-७२ पर भाष्य।

स्त्रियाँ, यदि यौन संबंध से संतान की उत्पत्ति न हो तो, प्रायश्चित से शुद्ध हो जाती हैं, किंतु दूसरे प्रकार की नहीं।' अर्थात् यदि व्यभिचार से संतानोत्पत्ति हो तो पत्नी का त्याग कर देना चाहिए। किंतु त्याग का अर्थ है स्त्री को धार्मिक कृत्य तथा दांपत्य जीवन से वंचित करना; घर से बिल्कुल निकाल फेकना नहीं। उसको अलग और सुरक्षित रखना तथा भोजनवस्त्र देना पति का कर्तव्य था। केवल चार प्रकार की स्त्रियों का सर्वथा त्याग विहित था : (१) शिष्यगा, (२) गुरुगा, (३) पतिघ्नी, तथा (४) जुंगितोपगता (चांडाल आदि जुगुप्सित के संपर्क में आनेवाली)[1]। वेदव्यास ऋषि के अनुसार 'व्यभिचारिणी स्त्री आगामी ऋतुकाल के बाद पवित्र हो जाती है और उसके बाद उसके साथ पूर्ववत् (पत्नीवत्) व्यवहार करना चाहिए[2]। इन कथनों से स्त्रियों के साथ काफी उदारता का परिचय मिलता है।

दांपत्य जीवन में साथ रहने और परस्पर यौन संबंध का अधिकार स्त्री-पुरुष दोनो को प्राप्त था। पति का यह कर्तव्य था कि वह ऋतुकाल में नियमित रूप से स्त्री के साथ रहे और उससे संतान उत्पन्न करे; ऐसा न करने से उसको भ्रूणहत्या का दोष लगता था। पति को सहवास का विधिक अधिकार भी था, जिसको स्त्री अस्वीकार नहीं कर सकती थी। 'जो तीन वर्ष तक ऋतुमती भार्या के पास नहीं जाता है उसे निस्संदेह भ्रूणहत्या के समान पाप लगता है। ऋतुस्नाता भार्या के समीप जो नहीं जाता उस महीने में उसके पितर स्त्री के रज में सोते हैं। जो स्त्री भी पति का प्रत्याख्यान कर अपना ऋतु व्यर्थ करती है उसे ग्राम के बीच में भ्रूणघ्नी घोषित कर घर से निकाल देना चाहिए[3]।' विश्वरूप ने याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका में इस वचन को उद्धृत किया है। पराशर तथा संवर्त स्मृतियों में इस कर्तव्य और अधिकार का प्रायः समान वर्णन मिलता है।

संपूर्ण दांपत्य जीवन में विधिक अधिकारों पर बल न देकर उसके सामाजिक और नैतिक स्वरूप पर ही जोर दिया जाता था। पति-पत्नी की अभिन्नता तथा पारिवारिक सुखशांति ही विवाहित जीवन का उद्देश्य और आधार माना जाता था : इसका सबसे सुंदर उदाहरण भवभूतिरचित उत्तररामचरित में सीता के प्रति राम का उद्गार है : 'जो अद्वैत (अन्योन्य), सुख-दुःख तथा सभी अवस्थाओं में अनुकूल, हृदय को विश्रामप्रद, वृद्धावस्था से अहार्य रसवाला तथा कालक्रम से आवरण

[1] वसिष्ठ०, २१. १०–१२।

[2] व्यास०, २. ४६–५०।

[3] विश्वरूप द्वारा याज्ञ० १. ७६ पर उद्धृत; बौ० ध० सू० ४. १. १६–२०।

(संकोच) के हटने से स्नेहसार में स्थित दांपत्य प्रेम है वह जिसे प्राप्त हो गया उस सौभाग्यशाली मनुष्य का कल्याण हो[१] ।'

(१३) **विवाहेतर स्त्री-पुरुष के संबंध**—सामान्यतः विवाह के अंतर्गत ही स्त्री-पुरुष का यौन संबंध होता था, किंतु इस काल के साहित्य तथा धर्मशास्त्र से पता लगता है कि विवाह के बाहर भी यह संबंध संभव था। यह संबंध दो प्रकार का था—(१) विवाहित स्त्री-पुरुष के अवैध संपर्क या व्यभिचार के रूप में और (२) समाज से स्वीकृत वेश्यावृत्ति के रूप में। पहले प्रकार के संबंध में तत्कालीन धर्मशास्त्रीय दंडविधान में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। मेधातिथि[२] गौतमधर्मसूत्र और मनुस्मृति से इस बात में सहमत हैं कि व्यभिचारी युग्म को ताडन द्वारा मृत्युदंड मिलना चाहिए। व्यभिचार के संबंध में प्रयत्नमात्र करनेवाले के लिये भी मेधातिथि ने कठोर दंड का विधान किया है। द्विजाति स्त्री के साथ ब्राह्मणेतर द्वारा व्यभिचार होने पर मृत्युदंड दिया जाता था; किसी भी वर्ण की कुलस्त्री के साथ बलात्कार करने पर किसी भी वर्ण के पुरुष को मृत्युदंड मिलता था। सामान्यतः समाज में व्यभिचार कम था, परंतु कुछ जातियों की स्त्रियाँ विवाहित होने पर भी आर्थिक आय के लिये व्यभिचार कराती थीं। अभिधानरत्नमाला[३] के अनुसार नट जाति का पुरुष जायाजीव (जिसकी जीविका स्त्री के व्यभिचार से चले) होता था। चारणों की स्त्रियाँ भी व्यभिचारिणी होती थीं। मेधातिथि ने संकेत किया है कि इस प्रकार के व्यभिचार पति की सहमति से होते थे। रतिरहस्य और उपमितभवप्रपंचकथा[४] में धूर्त पुरुषों के जाल में फँस जानेवाली स्त्रियों की एक लंबी सूची पाई जाती है। अरब लेखक अबू जईद[५] के यात्रावर्णन से स्मृतियों के उपर्युक्त दंडविधान की पुष्टि होती है। वह लिखता है कि व्यभिचार के लिये स्त्री-पुरुष दोनों को प्राणदंड मिलता था, यदि स्त्री की अनिच्छा से व्यभिचार हुआ हो तो केवल पुरुष को प्राणदंड दिया जाता था।

१ अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत् ।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितम् ।
भद्रं तत्र सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्राप्यते ॥ उत्तररामचरित, ६. ३९ ।

२ मनु०, ८. ३५९ पर भाष्य ।

३ २. ४३७; रतिरहस्य, १३. २९–३४ ।

४ रतिरहस्य, ११. ३१; उपमितिभवप्रपंचकथा, ८९६ ।

५ हिस्ट्री आव् इंडिया ऐज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स (इलियट तथा डाउसन द्वारा संपादित), भा० १ में उद्धृत ।

स्वतंत्र वेश्यावृत्ति बहुत दिनों से भारत में एक संस्था के रूप में चलती आ रही थी। मध्ययुग के सामंती वातावरण में इसकी और अधिक वृद्धि हुई। संगीत, शृंगार और कामुक विलासिता इसके मुख्य अंग थे। प्रथम दो के कारण वेश्याओं का समाज में संमान था और उन्हें राजसभाओं और देवालयों में अपनी कला के प्रदर्शन के लिये समान रूप से स्थान मिलता था। कामुकता के लिये वेश्याएँ समाज में निंदित थीं, किंतु वैवाहिक संबंध को पवित्र और स्थायी बनाए रखने के लिये वे सामाजिक सुरक्षाद्वार के रूप में सहन की जाती थीं। क्षेमेंद्र के समयमातृका तथा दामोदरगुप्त के कुट्टनीमतम् नामक ग्रंथों से इस समय की वेश्यावृत्ति के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। समयमातृका में नायिका एक वेश्या है जो राजनर्तकी, किसी संपन्न पुरुष की प्रेयसी, सामान्य सड़कों पर घूमनेवाली वनिता, कुट्टनी, छद्मतापसी, युवकों को भ्रष्ट करनेवाली, देवालयों की पुजारिन आदि कई रूपों में विचरण करती है। वेश्या किस प्रकार पुरुष के धर्म, धन, स्वास्थ्य और जीवन का अपहरण करती है, इसका विस्तृत वर्णन उपर्युक्त ग्रंथों में पाया जाता है।

षष्ठ अध्याय

समाज में स्त्री का स्थान

समाज में स्त्रियों के स्थान का चित्रण कई रूपों में किया जा सकता है— कन्या, पत्नी, माता, ब्रह्मवादिनी, स्वतंत्रा, वेश्या आदि। मध्ययुग की परिस्थितियों में स्त्रीजीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुए। सामान्यतः इन परिवर्तनों की प्रवृत्तियाँ थीं नियंत्रण, संकोच और ह्रास।

१. कन्या

(१) जन्म तथा परिवार में स्थान—भारतीय समाज में कन्या यद्यपि बराबर से ही आदरित, लालित और पालित होती आई है तथापि उसका जन्म संपूर्ण परिवार को गंभीर बना देता है। उसकी पवित्रता और सुरक्षा के संबंध में अत्यंत ऊँचे किंतु कठोर भाव और उसके विवाह और भावी जीवन की चिंता से समस्त कुटुंब और विशेषतः मातापिता त्रस्त रहते आए हैं। कन्या किसी अनागत वर से नेय और एक धरोहर है जिसको अक्षुण्ण प्रत्यर्पित करना है, यह स्मृति मन पर बोझ की तरह रहती आई है[1]। इसीलिये कन्या और पुत्र के जन्म के समय भिन्न प्रकार से दोनों आगंतुकों का स्वागत होता आया है। दोनों के लिये अलग अलग विधियाँ और पद्धतियाँ बरती जाती रही हैं। फिर भी मध्ययुग की धार्मिक पृष्ठभूमि में सिद्धांततः कन्या शक्ति का अवतार है। शाक्तधर्म ने कन्या को गौरी और भवानी के रूप में देखा। अतः मातापिता दायित्व के भाव से दबे रहकर भी कन्या का स्वागत शक्तिरूप में करते थे। बाण ने हर्षचरित[2] में राज्यश्री के मातृगर्भ में आने और जन्म लेने का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

'देवी यशोवती ने देवी राज्यश्री को उसी प्रकार गर्भ में धारण किया जिस प्रकार नारायणमूर्ति ने वसुधा को। ··· जिस प्रकार मेना ने सर्वजीवधारियों से

[1] उद्वेग महाऽऽवर्ते पातयति पयोधरोन्नमनकाले।
सरिदिव तटमनुवर्षं विवर्द्धमाना सुता पितरम्। हर्ष० ४. (२३१) ५।
यौवनारम्भ एव च कन्यकानाम् इंधनी भवंति पितरः संतापानलस्य। वही. ४ (२१४)।

[2] देवी यशोवती गर्भेण आधत्त। नारायणमूर्तिरिव वसुधां देवीं राज्यश्रियम्।···
सर्वभूभृदभ्यर्थिता गौरीमिव मेना प्रसूतवती दुहितरम्॥ वही, ४. (१६७–१७६)।

अभ्यर्थित गौरी को उत्पन्न किया था वैसे ही यशोवती ने दुहिता (राज्यश्री) को प्रसव किया।'

(२) **पालन, पोषण तथा शिक्षा**—कन्या के पालन पोषण में कोई कमी नहीं आई, किंतु उसकी शिक्षादीक्षा के संबंध में आमूल परिवर्तन हुआ। वेदों के युग में कन्या को ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार था, उसका उपनयन संस्कार होता था और उसे उच्चतम आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा मिल सकती थी। लोपामुद्रा, विश्ववारा, घोषा आदि स्त्रियों ने मंत्रद्रष्टा ऋषि के पद को प्राप्त किया था। उपनिषदों में अनेक विदुषी और ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। प्रायः रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों के युग तक यह परंपरा चलती रही। रामायण में कौसल्या और महाभारत में द्रौपदी क्रमशः मंत्रवित् और पंडिता कही गई हैं। परंतु धर्मशास्त्रों के समय से कन्या की शिक्षा के संबंध में स्थिति बिलकुल बदल गई। बौद्धयुग में अधिक संख्या में भिक्षुणी बनने और तत्पश्चात् यवन-पह्लव-शक-तुषारादि के आक्रमणों के कारण स्त्री की उच्च शिक्षा के स्थान पर उसकी सुरक्षा और गोपनीयता ने महत्व प्राप्त किया। स्मृतियों में कन्या का ब्रह्मचर्य पुराकाल की बात बना दिया गया। मनु[1] के अनुसार 'पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन संस्कार, पति की सेवा ही आश्रमनिवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे।' वेदाध्ययन की दृष्टि से स्त्रियों की गणना शूद्रों के साथ होने लगी। मध्ययुग तक पहुँचते पहुँचते यह स्थिति बिलकुल रूढ़ हो गई। शुक्राचार्य[2] ने विवाह के अवसर पर वर की ऊँची शैक्षणिक योग्यता पर बहुत बल दिया है, किंतु कन्या की शिक्षा और विद्या के बारे में कुछ नहीं कहा है। यम[3] के अनुसार शिक्षण संस्थाओं में जाना कन्या के लिये अतीत की बात हो गई थी, वह केवल मातापिता, भाईबंधु आदि से अपने घर पर शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। नालंदा आदि विश्वविद्यालयों में जहाँ सहस्रों की संख्या में पुरुष-छात्र शिक्षा पाते थे वहाँ स्त्री-छात्रों का कहीं संकेत भी नहीं मिलता।

मध्ययुग में यद्यपि लड़कियों की सामूहिक और उच्च शिक्षा का ह्रास हो

[1] वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ मनु० २. ६७।

[2] शुक्र०।

[3] पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबंधनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वाचनं तथा॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः।
स्वगृहे चैव कन्यायाः भैक्षचर्या विधीयते॥
वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च॥ संस्कारप्रकाश०, पृ० ४०२-३ में उद्धृत।

गया था तथापि व्यक्तिगत रूप से वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। कुछ बहुत सुशिक्षिता और विदुषी स्त्रियों का उल्लेख पाया जाता है; विशेषकर राजपरिवारों और ब्राह्मणकुलों में कतिपय स्त्रियाँ अब भी विदुषी होती थीं। सातवीं शती के प्रारंभ में स्थाण्वीश्वर की राजकुमारी राज्यश्री के बारे में कहा गया है : 'नृत्यगीत आदि में विदग्ध सखियों के बीच वह संपूर्ण कलाओं का प्रतिदिन अधिकाधिक परिचय प्राप्त करती हुई धीरे धीरे बढ़ रही थी[1]।' मंडन मिश्र की पत्नी भारती दार्शनिक शास्त्रार्थों में मध्यस्थ पद को सुशोभित कर सकती थी। राजशेखर की पत्नी अवंतिसुंदरी साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित थी। वाचस्पति मिश्र की पत्नी भामती धार्मिक और दार्शनिक विषयों में रुचि और प्रवेश रखती थी।

(३) सुविधाएँ तथा अधिकार—कन्या को परिवार में कई सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे, यद्यपि पितृसत्तात्मक परिवार होने के कारण उसे पूर्ण विधिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। 'पिता रक्षति कौमार्ये' के सिद्धात में केवल कन्या के ऊपर नियंत्रण का ही भाव नहीं था, अपितु पिता के ऊपर संरक्षण का पूरा दायित्व था, पिता के अभाव में भाइयों अथवा अन्य अभिभावकों के ऊपर। पिता के मरने पर उसकी संपत्ति के विभाजन के समय यदि कन्या कुमारी रही तो उसके विवाह के लिये निश्चित संपत्ति सुरक्षित कर दी जाती थी। यदि वह आजीवन कुमारी रहने का निश्चय करती थी तो उसके भरणपोषण का भार विधिक रूप से परिवार के ऊपर होता था। माता के मरने पर उसके स्त्रीधन में कन्याओं का एकमात्र अधिकार होता था। कात्यायनस्मृति[2] के अनुसार अदत्त (अविवाहित) कन्या को चतुर्थ भाग विभाजन के समय मिलता था। विज्ञानेश्वर[3] का कहना है कि यहाँ पर चतुर्थ का तात्पर्य संपूर्ण पैतृक संपत्ति का चतुर्थ नहीं, किंतु पुत्र होने पर जितना उसको मिलता उसका चतुर्थांश है। दायभाग[4] के अनुसार पैतृक संपत्ति स्वल्प होने पर भाई अपने भाग का चतुर्थांश देकर भगिनी का विवाह करते थे। यदि संपत्ति विपुल हुई तो चतुर्थांश अनिवार्य नहीं था; विवाह के लिये आवश्यक द्रव्य से विवाह की व्यवस्था कर दी जाती थी। पूर्वकाल में कन्या को दाय का उत्तराधिकार पुत्र के अभाव में भी नहीं था, मध्ययुग मे कन्या का यह अधिकार

१ अथ राज्यश्रीरपि नृत्यगीतादिषु विदग्धासु सखीषु सकलासु कलासु च प्रतिदिनमुपचीयमानपरिचया शनैः शनैः अवर्द्धत। हर्ष० ४. २३०।

२ याज्ञ० २. १३५ पर मिताक्षरा में उद्धृत।

3 वही।

४ वही, १. ३५, पृ० ६६; मिताक्षरा, याज्ञ० २, १२४ पर भाष्य।

स्वीकार कर लिया गया था। दायभाग में उद्धृत नारद[1] के अनुसार 'पुत्र के अभाव में दुहिता (तुल्य संतान होने से) पिता की उत्तराधिकारिणी थी। पुत्र और दुहिता दोनों ही पिता के संतानकारक हैं।' मिताक्षरा[2] में उद्धृत बृहस्पति के अनुसार 'पत्नी भर्तृ (पति) के धन की उत्तराधिकारिणी कही गई है, उसके अभाव में दुहिता। पुत्र के समान दुहिता मनुष्यों के अंग अंग से उत्पन्न होती है। अतः (उसके रहते) पितृधन को दूसरा मनुष्य कैसे ग्रहण कर सकता है?' अपुत्र पिता के मरने पर कुमारी कन्या उत्तराधिकारिणी होती थी; उसके अभाव में ऊढ़ा (विवाहिता)। पितृधन और स्त्रीधन (मातृधन) दोनों के विभाजन में प्रतिष्ठित (सुव्यवस्थित) और अप्रतिष्ठित (अव्यवस्थित) कन्याओं में से अप्रतिष्ठित को तथा प्रदत्त और अप्रदत्त में से अप्रदत्त को उत्तराधिकार के समय प्राथमिकता दी जाती थी।

२. पत्नी

(१) **गृहस्वामिनी**—'पत्नी' का शाब्दिक अर्थ स्वामिनी होता है। दंपति की कल्पना में पति-पत्नी दोनो गृह के संयुक्त और समान रूप से अधिकारी होते थे। वैदिक युग में विवाहोपरांत पति के घर आने पर पत्नी को जो आशीर्वाद दिया जाता था उसमें घर के ऊपर पत्नी के पूर्ण आधिपत्य की स्वीकृति है : 'श्वसुर के ऊपर सम्राज्ञी हो। देवरों के ऊपर सम्राज्ञी हो[3]।' युवती कन्या के विवाह के समय ऐसा होना उचित ही था, क्योंकि वह शरीर और बुद्धि दोनों से परिपक्व होती थी। बुद्ध के समय तक पत्नी का यह पद और शक्ति बनी रही। परवर्ती काल में बहू के ऊपर सास के शासन और अत्याचार की कहानियाँ सुनाई पड़ती हैं[4]। परंतु प्राचीन साहित्य में कतिपय बहुओं के अत्याचार के कथानक भी पाए जाते हैं[5]। बौद्ध साहित्य में इस बात का उल्लेख मिलता है कि कई एक सासें, नवागत बहू के शासन से त्रस्त होकर भिक्षुणी हो जाती थीं। एक ऐसा भी उदाहरण मिलता है जिसमें बहू ने ससुर को घर से निकाल दिया। एक तीसरी घटना

[1] पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानकारणात्।
पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ॥ नारद०, दाय, ५०।

[2] याज्ञ० २. १३५ पर भाष्य।

[3] सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी अधि देवृषु। ऋग्०, १०. ८५. ४६।
यथा सिंधुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवात्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य च॥ अथर्व०, १४. १. ४३।

[4] विवादवत्थुकथा, ज० ए० सो० बं०, १९३३, पृ० ५९ पर उद्धृत।

[5] धम्मपद, ११५, भाष्य; थेरीगाथा, ४५ पर भाष्य।

का भी उल्लेख है, जिसके अनुसार एक चतुर बहू ने अपनी सास को एक ऐसे तालाब में नहाने के लिये उतारा जहाँ मकर रहते थे और वहाँ बूढ़ी सास मकरजाल में फँस गई[1]। किंतु ऐसी घटनाएँ अपवाद रूप में होती थीं। सामान्यतः बहू सास का आदर और सास बहू से स्नेह करती थी।

(२) बालवधू—मध्ययुग में जब कन्याओं के बालविवाह की प्रथा चल गई और वह पाँच, सात, आठ, दस वर्ष की अवस्था में बहू बनने लगी तब श्वसुर-गृह में उसके स्थान और अधिकार में बहुत परिवर्तन और अंतर आ गया। अब वह घर की साम्राज्ञी न रहकर स्वयं पोष्य और विधेय के रूप में दूसरों के संरक्षण में रहने लगी। विवाह कन्या का उपनयन, पति उसका आचार्य, श्वसुरगृह गुरुकुल, गृहस्थी का कार्य अग्निहोत्र समझा जाने लगा। इस परिस्थिति में पति को पत्नी को सुधारने और दंड देने का भी अधिकार मिल गया। प्राचीन काल में मनु[2] के अनुसार पति पतली रस्सी अथवा वेणुदल से पत्नी को हल्का शारीरिक दंड दे सकता था। मेधातिथि[3] के अनुसार मौखिक दंड अथवा अर्थदंड पर्याप्त था। विश्वरूप[4] का कहना है कि पत्नी के सुधार के लिये उसमें आसक्ति और स्नेह सबसे उपयोगी अस्त्र हैं।

(३) पति से अभिन्न—पति-पत्नी के संबंध के बारे में प्राचीन काल से यह सिद्धांत चला आ रहा था कि दोनों के शारीरिक, आर्थिक तथा नैतिक स्वार्थ और आदर्श अभिन्न थे। आपस्तंबधर्मसूत्र[5] के अनुसार 'जाया (पत्नी) और पति में विभाग नहीं देखा जाता। पाणिग्रहण के समय से कर्मों में उनका महत्व रहता है। इसी प्रकार पुण्यकाल में भी, और द्रव्य के परिग्रह में भी।' मनु[6] का कथन है: 'विप्रों ने यह कहा है कि जो भर्ता (पति) है वही अंगना (पत्नी) सुनी गई है।' पति-पत्नी का परस्पर आनुकूल्य और सामंजस्य ही सब सुखों का मूल माना जाता था। दंपती का आनुकूल्य ही त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) के उदय का कारण है। यदि स्त्री अनुकूल है तो त्रिदिव (स्वर्ग) से क्या प्रयोजन? यदि वह प्रतिकूल है तो नरक की क्या आवश्यकता? सुख के लिये ही गृहस्थाश्रम है। उस सुख का

[1] जातक, सं० ४३२।
[2] मनु०, ८. २९९–३००।
[3] वही।
[4] याज्ञ०, १. ८० पर भाष्य।
[5] आ० ध० सू०, २. ६. १४. १६–२०।
[6] विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृतांगना। ९. ४५।

मूल पत्नी है[१] ।' भवभूतिरचित मालतीमाधव[२] में उक्ति है : 'स्त्रियों का भर्ता (पति) और पुरुषों की धर्मदारा (कामदारा नहीं) अन्योन्य प्रेय, मित्र, समग्र बंधुता, संपूर्ण आकांक्षा, अक्षय कोश तथा जीवन है ।'

(४) वाद तथा त्याग—पति और पत्नी को एक दूसरे के विरुद्ध अभियोग लगाने का विधिक अधिकार नहीं था[३] । परंतु मध्यकालीन भाष्यकारों ने व्यावहारिक दृष्टि से यह स्वीकार किया था कि पति-पत्नी के बीच ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जब राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए और दोनों को उचित मार्ग पर लाना चाहिए[४] । विवाह के अंतर्गत पति को पत्नी साथ रखने और पत्नी को भरण-पोषण पाने का अन्योन्याश्रय अधिकार था । फिर भी विशेष परिस्थितियों में पत्नी का अधिवेदन (एक स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से विवाह करना), पत्नी का त्याग, अथवा पति का त्याग हो सकता था । यदि पत्नी बंध्या, केवल पुत्री उत्पन्न करनेवाली हो अथवा उसकी संतान जीवित न रहती हो तो उसकी इच्छा से या स्वतः दूसरी पत्नी करने का पति को अधिकार था[५] । परंतु इस परिस्थिति में पति को पत्नी के भरणपोषण का समुचित प्रबंध करना आवश्यक था; उसका परित्याग अथवा निष्कासन नहीं हो सकता था[६] । दूसरे पुरुष के साथ व्यभिचार करने पर प्रथम बार पत्नी का त्याग नहीं होता था; उसको दूसरे ऋतुकाल तक अथवा गर्भ रह जाने पर संतानप्रसव तक घर के एकांत कक्ष या बाहरी घर में रहने का दंड मिलता था और प्रायश्चित्त के बाद वह शुद्ध मानी जाती थी[७] । व्यभिचार की पुनरावृत्ति पर पति पत्नी का परित्याग कर सकता था[८] । कोई व्यवस्था किए बिना पति के प्रवास की दशा में पत्नी को पति की प्रतीक्षा करनी

[१] पद्म०, उत्तरखंड, २२३, ३६-३७ ।

[२] प्रेयो मित्रं बंधुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा ।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥ अंक ६, १८ ।

[३] ईर्ष्यासूयासमुत्थेतु सबंधे रागहेतुके ।
दंपती विवदेयातां न ज्ञातिषु न राजनि ॥ नारद०, स्त्रीपुंस०, श्लोक ८९ ।

[४] मिताक्षरा, याज्ञ० २. २९४ पर भाष्य ।

[५] अशुश्रूषाकरीं वंध्यां बंधकीं परिहिंसकीम् ।
त्यजंति पुरुषा प्राज्ञाः क्षिप्रमप्रियवादिनीम् ॥
अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां दशमे त्यजेत् ।
प्रेतप्रजां पंचदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम् ॥ बौधायन, कृत्य० व्यवहार०, स्त्रीपुंयोग में उद्धृत ।

[६] मिताक्षरा, याज्ञ० १. ७४ पर भाष्य ।

[७] वसिष्ठ० २१. १०-१२; मिताक्षरा १. ७२ ।

[८] वही ।

पड़ती थी और प्रवास के विभिन्न प्रयोजनों के अनुसार प्रतीक्षाकाल घटता बढ़ता था। इसके पश्चात् स्त्री पति का त्याग कर सकती थी[१]। पराशरस्मृति[२] के अनुसार पति के नष्ट (अशास्त्रीय आचरण के कारण स्वजनों से परित्यक्त), प्रव्रजित (अशास्त्रीय ढंग से व्यर्थ मौंड्यादि करानेवाला), क्लीब (नपुंसक) तथा पतित (धर्माचरण से भ्रष्ट) हो जाने पर—पाँच आपत्तियों में—स्त्रियों के लिये दूसरे पति का विधान है। कुछ भाष्यकारों ने पति का अर्थ 'रक्षक' किया है और पत्नी के पुनर्विवाह का निषेध किया है, जो कष्टकल्पित है। प्राचीन अर्थशास्त्रों में परस्पर मोक्ष (संबंधविच्छेद) की व्यवस्था थी। कौटिल्य के अनुसार पत्नी-पति के परस्पर द्वेष से भी मोक्ष हो सकता था। परंतु मोक्ष की यह सुविधा केवल अप्रशस्त (आसुर, गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच) विवाहों पर ही लागू थी, प्रशस्त विवाहों (ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य) पर नहीं। मध्ययुग में शुद्ध मोक्ष की व्यवस्था नहीं पाई जाती, केवल विशेष परिस्थितियों में दूसरे विवाह की अनुमति है जिससे मोक्ष की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती थी। देवल के अनुसार नष्ट, प्रव्रजित, क्लीब, पतित, राजकिल्विषी (राजयोग से पीड़ित), लोकांतरगत (सुदूरप्रवासी) पति स्त्रियों के लिये त्याज्य है। स्त्री पति के मृत अथवा जीवित रहने पर दूसरे पति का वरण कर सकती है, किंतु यह संतति की अनाशार्थता (रक्षा) के लिये ही संभव है, स्त्री के स्वातंत्र्य से नहीं[३]। निचले स्तर की जातियों में विवाहविच्छेद की प्रथा मध्ययुग में थी और आज भी प्रचलित है।

(५) **प्रोषितपतिका**—प्रोषितभर्तृका के कर्तव्य के ऊपर कृत्यकल्पतरु में जो उद्धरण दिए गए हैं उनका संक्षेप इस प्रकार है। मनु[४] के अनुसार यदि पत्नी की व्यवस्था करके पति बाहर गया हो तो उसे (पत्नी को) नियम में स्थित होकर उस वृत्ति पर जीविका चलानी चाहिए; यदि कोई व्यवस्था किए बिना प्रोषित हो तो अगर्हित (अनिंदनीय) शिल्पों द्वारा उसे निर्वाह करना चाहिए। 'याज्ञवल्क्य[५]' का

[१] नारद०, स्त्रीपुस०, १५. ८९–१०२।

[२] नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ ४. २४, नारद १५–९७।

[३] नष्टः प्रव्रजितः क्लीबः पतितो राजकिल्विषी।
लोकांतरगतो वापि परित्याज्यः पतिः स्त्रियाः॥
मृते भर्तरि जीवे वा स्त्री विंदेतापरं पतिम्।
संतत्यनाशार्थतया न स्वातंत्र्येण योषितः॥ कृत्य०, व्यवहार०, स्त्री-पुंयोग, पृ० ६४१।

[४] ९. ७५।

[५] १. ७४।

आदेश है कि 'प्रोषितभर्तृका को क्रीडा (खेल), शरीरसंस्कार (शृंगार), समाजोत्सवदर्शन, हास्य, दूसरे के घर सवारी से जाना छोड़ देना चाहिए।' बृहस्पति[1] का कथन है कि 'पति के प्रोषित होने पर पत्नी को प्रसाधन, नृत्य, गीत, समाजोत्सवदर्शन, मांस तथा मद्य का सेवन नहीं करना चाहिए।' विष्णु[2] का कथन है कि 'पति के प्रवास पर पत्नी को प्रसाधन, दूसरे के घर गमन तथा द्वारदेश और गवाक्षों (झरोखों) पर खड़ा होना त्याग देना चाहिए।' शंखलिखित[3] ने प्रोषितपतिका के लिये एक लंबी व्यवस्था दी है : 'सभी स्त्रियों में ब्राह्मणी अपने चारित्र्य की रक्षा स्वयं करे। दूसरे वर्णों की स्त्रियों की रक्षा मातापिता और उनके पश्चात् राजन्य (राजा तथा राजपुरुष) करें। प्रेंखा (दोला), ताडव, विहार, चित्रदर्शन, अंगराग, उद्यानयान, विवृतशयन, उत्कृष्ट पान तथा भोजन, कंदुकक्रीड़ा, धूम, गंध, माल्य, अलंकार, दंतधावन, अंजन, आदर्शन, प्रसाधन, आदि अस्वतंत्र प्रोषितभर्तृका कुलस्त्री को नहीं करना चाहिए।' हारीत[4] ने बालों में वेणी (चोटी) निकालना भी निषिद्ध किया।

(६) मृतभर्तृका : अनुमरण अथवा ब्रह्मचर्य—लक्ष्मीधर ने अपने कृत्यकल्पतरु में मृतभर्तृका के कर्तव्यों का भी वर्णन किया है। मृतभर्तृका के लिये दो ही प्रशस्त मार्ग खुले थे—(१) पति के साथ सहमरण अथवा अनुमरण और (२) ब्रह्मचर्य अथवा नियमव्रत के साथ ब्रह्मचर्य। अंगिरास्मृति आदि ग्रंथों में पहले पर बहुत ही बल दिया गया है[5] :

'पति के मर जाने पर जो स्त्री हुताशन (अग्नि) पर आरोहण करती है वह अरुंधती (वशिष्ठ की स्त्री) के समान आचरणवाली स्वर्गलोक में महत्ता को प्राप्त होती है। साढ़े तीन करोड़ जो रोएँ मानवशरीर में होते हैं, पति का अनुगमन करनेवाली स्त्री उतने वर्षों तक स्वर्ग में निवास करती है। जिस प्रकार साँप पकड़नेवाला साँप को बिल से निकाल लेता है वैसे ही अधोगति से अपने पति को बचाकर उसके साथ स्त्री स्वर्ग को जाती है। पति का अनुगमन करनेवाली नारी माता, पिता तथा भर्ता तीनों के कुलों को पवित्र करती है। वह पति में अनुरक्ति रखनेवाली, उत्तम, परम आकांक्षावाली स्त्री पति के साथ स्वर्ग में चतुर्दश इंद्रों के समय तक विहार करती है। पति ब्रह्मघ्नी, कृतघ्न अथवा मित्रघ्न क्यों न हो, उसका अनुगमन करनेवाली स्त्री उसे पवित्र करती है, ऐसा अंगिरा का वचन है।'

[1] २५. १३।
[2] २५. ६–११।
[3] कृत्यक०, व्यवहार०, स्त्रीपुंयोग, पृ० ६३२ पर उद्धृत।
[4] वही।
[5] वही, पृ० ६३२–६३३।

'पति के मरने पर साध्वी स्त्रियों का अग्निप्रवेश के अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म विज्ञेय नहीं है। पति के मरने पर जबतक पतिव्रता अपने शरीर का दाह नहीं करती तबतक वह स्त्रीशरीर से किसी प्रकार भी मुक्त नहीं होती। मरकर पति के स्वर्ग जाने पर वियोग के क्षत (घाव) से कातर स्त्रियों का अग्निप्रवेश के अतिरिक्त दूसरा मार्ग (धर्म) नहीं।'

व्यासस्मृति[1] ने अनुगमन का ही विधान किया है और अनुगमन करनेवाली स्त्री का माहात्म्य वर्णन किया है। ब्रह्मपुराण[2] में निम्नलिखित कथन पाया जाता है :

'पति के मरने पर सत्स्त्रियों की दूसरी गति नहीं। भर्तृवियोगाग्नि से उत्पन्न दाह का दूसरा कोई शमन नहीं। यदि पति देशांतर में मरे तो उसकी पादुकाओं को साध्वी स्त्री अपने हृदय से लगाकर तथा पवित्र होकर अग्नि में प्रवेश करे।'

परंतु ऐसा जान पड़ता है कि सहमरण तथा अनुमरण का यह माहात्म्य-गायन होते हुए भी सभी विधवा स्त्रियाँ अपना अग्निदाह नहीं करती थीं और न तो सभी शास्त्रकार इस बात पर सहमत ही थे कि सभी स्त्रियों को अनिवार्य रूप से अग्नि में प्रवेश कर पति का अनुगमन करना चाहिए। किसी भी धर्मसूत्र में—विष्णु को छोड़कर—सहगमन का उल्लेख नहीं है। विष्णु[3] ने भी अन्वारोहण (अग्निदाह) को दूसरे विकल्प में रखा है। 'पति के मरने पर स्त्री ब्रह्मचर्य का पालन करे अथवा अन्वारोहण।' बृहस्पति[4] ने स्पष्ट लिखा है, 'नारी पुरुष का आधा शरीर है। पुण्य और अपुण्य के फल में समान है। चाहे वह अनुगमन करे अथवा साध्वी होकर जीवित रहे, दोनों दशाओं में वह पति का हित करती है।' हारीत[5] के अनुसार विधवा स्त्री जिह्वा, हस्त, पाद आदि इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर, स्वाचारवती होकर, दिनरात पति का अनुशोच करती हुई, क्षांत रहकर जीवन के अंत में पतिलोक का विजय करती और पुनः पतिवियोग को प्राप्त नहीं होती। कहा भी है :

१ वही, पृ० ६३४।

२ मृते भर्तरि सत्स्त्रीणां न चान्या विद्यते गतिः।
नान्यद्भर्तृवियोगाग्निदाहस्य शमनं क्वचित्।
देशांतरमृते तस्मिन् साध्वी तत्पादुकाद्वयम्।
निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेज्जातवेदसम्॥ वही, पृ० ६३४।

३ मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा। वही, २५. १४।

४ शरीरार्धं स्मृता नारी पुण्यापुण्यफले समा।
अन्वारूढा जीवन्तीवा साध्वी भर्तृहिताय सा॥ कृत्य०, व्यवहार०, स्त्रीपुंस०, ६३४।

५ वही।

'पति के मरने पर जो पतिव्रता साध्वी निष्ठा (ब्रह्मचर्य) का पालन करती है वह सब पापों को छोड़कर पतिलोक को प्राप्त होती है।' बृहस्पति[१] ने पुनः कहा है कि यदि स्त्री अपुत्रवती भी हो तब भी उसे ब्रह्मचर्य का ही पालन करना चाहिए। 'नित्य व्रत-उपवास में निरत, ब्रह्मचर्य में व्यवस्थित, दम और दान में रत, अपुत्रा होते हुए भी स्वर्ग को जाती है।' यम, कात्यायन आदि अन्य शास्त्रकारों की भी यही संमति है[२]।

(७) नियोग—लक्ष्मीधर ने इस विषय पर सर्वप्रथम मनु को उद्धृत किया है। 'संतान के परिक्षय (विनाश) होने पर प्रजा (संतति) की इच्छा रखनेवाली सम्यक् नियुक्त (धर्मशास्त्र के अनुसार गुरुजनों से अनुज्ञाता) स्त्री को देवर द्वारा अथवा सपिंड के साथ अधिगमन (यौन संबंध) करना चाहिए[३]।' मेधातिथि ने इसपर जो भाष्य किया है उससे नियोग का विरोध नहीं जान पड़ता।' 'संतान' शब्द से पुत्र कहा जाता है अथवा पुत्रिका (पुत्रस्थानीय बनाई हुई) दुहिता। वही पितृवंश का विस्तार करती है, अन्या नहीं। उसका परिक्षय है अनुत्पत्ति, उत्पत्तिनाश अथवा अपुत्रीकरण। नियुक्ता (गुरुओं से अनुज्ञाता) होकर (संतान) उत्पन्न करे। पति के सगोत्र श्वसुर, देवरादि को गुरु समझना चाहिए, पिता आदि को नहीं। भाई के पुत्र होने पर नियोग नहीं करना चाहिए। देवर पति का भ्राता है। सपिंड पति का अन्वय है। सम्यक् का अर्थ है घृताक्त (घी से विलेपित) आदि होना। 'इप्सित' शब्द से कार्य की क्षमता कही गई है। इसके अनंतर केवल दुहिता, अंध, बधिर आदि उत्पन्न होने पर फिर नियोग करना चाहिए[४]।' भाष्य में मेधातिथि ने कुछ बातें नई जोड़ दी हैं; जैसे, संतान के अंतर्गत 'पुत्रिका' और 'भाई के पुत्र होने पर नियोग नहीं करना चाहिए।' नियोग के प्रसंग में याज्ञवल्क्य, नारद, यम आदि के भी उद्धरण दिए गए हैं।

परंतु ऐसा जान पड़ता है कि मध्ययुग का जनमत नियोग के विरुद्ध होता जा रहा था। लक्ष्मीधर ने तुरंत पुनः मनु[५] से अवतरण दिया है : 'विवाहसंबंधी

[१] वही, २५. १५।

[२] वही, पृ० ६३७–३८।

[३] मनु०, ६. ५६।

[४] मेधातिथि, मनु० ६. ५८–५६ पर भाष्य।

[५] नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥ मनु० ६. ६५–६६।

मंत्रों में नियोग का कहीं उल्लेख नहीं है और न विवाह विधियों में विधवा के साथ पुनःविवाह का। विद्वान् द्विजातियों द्वारा यह विगर्हित (निंदनीय) पशुधर्म (कहा गया है)।' बृहस्पति[1] ने स्पष्टतः नियोग का निषेध किया है : 'मनु ने नियोग की व्यवस्था की है किंतु स्वयं उसे निषिद्ध भी बताया है। युगह्रास के कारण मनुष्यों द्वारा विधानतः इसका करना अशक्य है। कृत और त्रेतायुग में मनुष्य तप और ज्ञान से युक्त होते थे। द्वापर और कलि में मनुष्यों की शक्तिहानि हो गई। पुरातन ऋषियों द्वारा अनेक प्रकार के पुत्र बताए गए थे। शक्तिहीन आधुनिकों द्वारा इस समय ऐसा करना संभव नहीं।' नियोग बंद होने के कतिपय कारण थे। एक तो यौन संबंध की अत्यंत पवित्रता की भावना बढ़ती जा रही थी। दूसरे, जनसंख्या बढ़ने से अधिकाधिक पुत्रों का महत्व भी घटता जा रहा था। तीसरे, संपत्ति के विभाजन तथा उत्तराधिकार और पिंडार्पण के लिये सगोत्रों, सपिंडों और बांधवों की संख्या उत्तरोत्तर विस्तार पाती जा रही थी जिसके कारण केवल पुत्र का होना अनावश्यक हो गया। चौथे, पिंडदान से प्राप्त पितृलोक या स्वर्ग की महत्ता मोक्ष के सामने गौण होती जा रही थी। इन कारणों से नियोग कलिवर्ज्य में परिगणित कर लिया गया।

(८) परपूर्वा स्त्री—एक बार विवाहिता होकर फिर दुबारा पति करनेवाली स्त्री को परपूर्वा (पहले अन्य के साथ रहनेवाली) कहा जाता था। नारदस्मृति[2] के अनुसार परपूर्वाएँ सात प्रकार की होती थीं—तीन प्रकार की पुनर्भू और चार प्रकार की स्वैरिणी। पुनर्भू का अर्थ पुनः पत्नी होनेवाली और स्वैरिणी का 'मर्यादा तोड़कर स्वेच्छा से रमण करनेवाली' था।

(अ) पुनर्भू—जो वास्तव में कन्या और अक्षतयोनि होती थी और केवल पाणिग्रहण मात्र से दूषित हुई रहती थी वह पुनः विवाह संस्कार कराने के कारण प्रथमा पुनर्भू कही जाती थी। जो कौमार पति को छोड़कर दूसरे पति का आश्रय ग्रहण करती थी वह पुनः पति के गृह जाने के कारण द्वितीया पुनर्भू कहलाती थी। देवर आदि के न होने पर जो बांधवों द्वारा किसी अन्य सवर्ण अथवा सपिंड को समर्पित की जाती थी उसकी संज्ञा तृतीया पुनर्भू थी।

(आ) स्वैरिणी—जिस स्त्री को संतान हुई हो अथवा नहीं, पति के जीवित रहने पर ही जो कामवश दूसरे पुरुष का आश्रय ग्रहण करती थी उसे प्रथमा स्वैरिणी कहते थे। पति के मरने पर देवर आदि को छोड़कर जो स्त्री कामवश दूसरे से संबंध स्थापित करती थी वह द्वितीया स्वैरिणी समझी जाती

[1] कृत्य०, व्यवहारकांड, स्त्रीपुंस०, पृ० ६४३ पर उद्धृत।
[2] नारद०, स्त्रीपुंयोग, १५, ४५-५३।

थी। किसी अन्य देश से अपहृत (भगाई हुई) अथवा विक्रीत (बेंची हुई) और क्षुधा, तृष्णा, व्यसन आदि से पीड़ित होकर जो 'मैं तुम्हारे पास उपस्थित हुई हूँ' ऐसा कहती थी उसको तृतीया स्वैरिणी कहा जाता था। उत्पन्नसाहसा (व्यभिचारिणी) होने पर अपने बड़ों द्वारा देशधर्म की अवहेलना करने पर किसी को जो स्त्री सौंप दी जाती थी उसको चतुर्था स्वैरिणी कहते थे। इन सात प्रकार की परपूर्वा—पुनर्भू और स्वैरिणी—स्त्रियों में पूर्वा जघन्या तथा उत्तरा अपेक्षाकृत श्रेयसी (अच्छी) समझी जाती थीं। हारीत[1] के अनुसार 'स्वैरिणी, पुनर्भू, रेतोधा (कुंडमाता), कामचारिणी तथा सर्वभक्षा (सुरापी) ये पाँच प्रकार की स्त्रियाँ शूद्रयोनि मानी जाती थीं। इनमें जो संतान उत्पन्न होती थी वह पंक्ति के योग्य नहीं होती थी और उसको पंक्ति में नहीं बैठाते थे।' समाज में इस प्रकार की स्त्रियाँ निंदनीय होती थीं और उनको पापिष्ठ समझा जाता था। कात्यायन[2] ने ऐसी स्त्रियों की घोर भर्त्सना की है।

(६) पत्नी के आर्थिक और विधिक अधिकार

(अ) अप्रतिबाध अधिकार से वंचित—पत्नी के स्वतंत्र आर्थिक और विधिक अधिकार के संबंध में दो सिद्धांत प्राचीन काल से चले आ रहे थे। एक तो यह कि पत्नी पति से अभिन्न और अविच्छेद्य है, अतः उसके पृथक् सत्त्व, संपत्ति तथा विभाजन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जैसे पति गृहपति था वैसे ही पत्नी गृहस्वामिनी थी, गृह के पितृसत्तात्मक होने से संपत्ति का विधिक अधिकार पति को प्राप्त था। इसके अतिरिक्त संपत्ति परिवार की थी, व्यक्ति की नहीं; सबसे समर्थ व्यक्ति उसकी व्यवस्था करता था। दूसरा सिद्धांत यह था कि स्त्री 'निरिंद्रिय' अर्थात् शरीर से दुर्बल होती है (और इसलिये वह बाह्य संपत्ति का प्रबंध नहीं कर सकती)। इस परिस्थिति में प्राचीन भारत के धर्मशास्त्रों में पत्नी के स्वतंत्र आर्थिक अधिकार को महत्व नहीं दिया गया, यद्यपि धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से उसका स्थान काफी ऊँचा था। विधवा होने पर भी पति की संपत्ति का उत्तराधिकार पत्नी को प्राप्त नहीं था। आपस्तंब, मनु और नारद के अनुसार अपुत्र पति की संपत्ति विधवा पत्नी को नहीं मिल सकती थी[3]। गौतम ने सपिंड और सगोत्र के साथ पीछे उसके अधिकार को

[1] स्वैरिणी च पुनर्भूश्च रेतोधा कामचारिणी।
सर्वभक्ष्या च विज्ञेयाः पंचैताशूद्रयोनयः॥
एतासां यान्यपत्यानि उत्पद्यन्ते कदाचन।
न तान्पंक्तिषु युंजीत न ते पंक्त्यर्हकाः स्मृताः॥ कृत्य०, व्यवहार०, स्त्रीपुंयोग, पृ० ६४६।

[2] वही।

[3] आ० ध० सू० २. ६. १४. २। मनु० ६. १८५। नारद०, स्त्रीपुंयोग।

स्वीकार किया[1] है। सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य[2] ने विधवा पत्नी को अपुत्र पति का प्रथम उत्तराधिकार दिया है, यदि वह विभक्त संपत्ति का स्वामी रहा हो। मध्यकालीन विष्णु तथा कात्यायन आदि स्मृतियों ने पत्नी के इस अधिकार को स्वीकार किया। बृहस्पति ने पत्नी को पति की सर्वप्रथम उत्तराधिकारिणी माना[3]। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि मध्ययुग में पत्नी का आर्थिक और विधिक अधिकार अधिक पुष्ट और सुरक्षित हुआ।

(आ) भरणपोषण—पत्नी को भरणपोषण का अबाध अधिकार था। इस काल के निबंधकार और भाष्यकार मनु के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार 'पत्नी का भरणपोषण सैकड़ों अकार्य करके भी करना चाहिए[4]।' पत्नी की जीविका की व्यवस्था किए बिना पति प्रवास में नहीं जा सकता था। उसकी जीवितावस्था में दूसरा विवाह करने की दशा में उसके लिये उचित प्रबंध अनिवार्य था। यहाँ तक कि बलात्कार से उपभुक्ता और चोर के हाथ में पड़ी होने के कारण दूषित पत्नी का त्याग भी वर्जित था और पति उसके भरणपोषण के लिये उत्तरदायी समझा जाता था। प्राचीन शास्त्रकारों के मत के अनुसार पत्नी अपने इस अधिकार के संबंध में पति के विरुद्ध न्यायालय में अभियोग नहीं कर सकती थी। परंतु विज्ञानेश्वर ने इस बात का अधिकार पत्नी को दिया है कि यदि उसका पति अनुचित रूप से उसका परित्याग या उसकी संपत्ति का अपहरण करता है तो वह न्यायालय की शरण ले।

(इ) दाय—पत्नी पति की संपत्ति के विभाजन का दावा नहीं कर सकती थी, परंतु यदि पति स्वयं पुत्रों में अपनी संपत्ति का विभाजन करता था अथवा पुत्र उसकी संपत्ति का विभाजन करते थे तो पत्नी को पुत्र के बराबर संपत्ति का अंश पाने का अधिकार था। परंतु पत्नी के अंश का पृथक्करण

१ गौ० ध० सू०, २८–१९।

२ याज्ञ० २. १३५।

३ आम्नाये स्मृतितंत्रे च पूर्वाचार्यैश्च सूरिभिः।
शरीरार्धम् स्मृता भार्या पुण्यापुण्यफले समा ॥
यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति।
जीवत्यर्धशरीरे तु कथमन्यः समाप्नुयात ॥ दायभाग, खंड ११ में उद्धृत; बृहस्पति, मिताक्षरा (या० २. १३५–१३६) में उद्धृत।

४ वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत ॥ मेधातिथि (मनु० ३. ६२) तथा मिताक्षरा (याज्ञ० १. २२४) द्वारा ४ : उद्धृत।

पत्नी की इच्छा से नहीं, अपितु पति की इच्छा से होता था[१]। मदनरत्न[२] ने पत्नी के अंश के पृथक्करण का विरोध इस प्राचीन सिद्धांत के आधार पर किया है कि पत्नी पति से अविभाज्य है। व्यवहारप्रदीप[३] ने अविभाज्य के सिद्धांत का आदर करते हुए लिखा है कि पति प्रीतिदान के समान ही पत्नी का अंश उसे सौंप सकता है।

पति के मरने पर उसके पुत्रों तथा अन्य दायादों के रहते हुए विधवा पत्नी को उत्तराधिकार पहले प्राप्त नहीं था। 'पुरुष ही दायाद हो सकता था, स्त्री अदायादी थी[४]।' आपस्तंबधर्मसूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'पुत्र के अभाव में प्रत्यासन्न (निकट सपिंड), उसके अभाव में आचार्य, उसके अभाव में अंतेवासी (शिष्य) अथवा दुहिता (किंतु पत्नी नहीं) उत्तराधिकार पा सकती थी[५]। सबसे पूर्व विष्णु[६] ने विधवा के उत्तराधिकार को स्वीकार किया : 'अपुत्र का धन पत्नी को प्राप्त होता है। उसके अभाव में दुहिता को।' इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य[७] ने इस मत का समर्थन किया और अपुत्र के उत्तराधिकारियों में विधवा को प्रथम स्थान दिया। इस परिवर्तन का कारण यह जान पड़ता है कि धीरे धीरे नियोग और विधवा विवाह की प्रथा समाज में कम होती जा रही थी। पुत्रोत्पत्ति और विवाह द्वारा ऐहिक सुख प्राप्त करने के बदले ब्रह्मचर्य और तपस्या द्वारा आध्यात्मिक जीवन बिताना विधवा के लिये अधिक संमान की वस्तु समझी जाने लगी। इसलिये सामाजिक दृष्टि से आवश्यक था कि परिवार में स्त्री का प्रभावयुक्त आर्थिक स्थान स्थिर कर दिया जाय। परंतु इस बात पर बहुत दिनों तक शास्त्रकारों में मतभेद रहा। नारद[८], कात्यायन[९], भोज आदि विधवा का अधिकार स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, कुछ शास्त्रकार, जैसे, अपरार्क द्वारा उद्धृत व्यास[१०], इस मत के थे कि स्त्रीधन के अतिरिक्त विधवा को दो अथवा तीन सहस्र पण और मिलने चाहिए।

१ याज्ञ० २. ११५; मिताक्षरा (याज्ञ० २ ५२)।।
२ मदनरत्न (हस्तलेख), पृ० ६१ (बी)।
३ पृ० ४४१–४४२।
४ तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादाः। तैत्तिरीय०, ६. ५. ८. २।
५ २. १४. २–४।
६ अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि। तदभावे दुहितृगामि। १७. ४३।
७ याज्ञ०, २. १३५–१३६।
८ नारद०, १३. ५२।
९ विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञ० २. १३६ पर उद्धृत।
१० अपरार्क, पृ० ७५२ पर उद्धृत।

बृहस्पति के अनुसार विधवा पति की अस्थावर संपत्ति को ही उत्तराधिकार में पा सकती थी, स्थावर को नहीं। मिताक्षरा[1] में उद्धृत शंख के मत में अपुत्र के स्वर्गगामी होने पर उसका धन भाई को प्राप्त होता था, उसके अभाव में उसे मातापिता ग्रहण करते थे अथवा ज्येष्ठा पत्नी। सुधारवादी संप्रदाय इस समझौते को मानने के लिये तैयार नहीं था। वह इस वैदिक सिद्धांत पर डटा हुआ था कि पारिवारिक संपत्ति पर पतिपत्नी का संयुक्त अधिकार है, अतः पति के अभाव में वह संपत्ति पत्नी को ही प्राप्त होनी चाहिए; विधवा के जीवित रहने पर पति का अर्धांश जीवित था, उसके रहते संपत्ति दूसरे को नहीं मिल सकती थी। मध्यकालीन निबंध दायभाग और टीका मिताक्षरा ने विधवा के अधिकार का समर्थन किया। मिताक्षरा में विज्ञानेश्वर का कथन है : 'अपुत्र, स्वर्गगत, विभक्त, असंसृष्ट (पति) के धन को परिणीता स्त्री (विधवा) संयता (ब्रह्मचारिणी) रहकर सकल (संपूर्ण) ग्रहण करती है[2]।' इसके अनुसार अविभक्त अथवा संयुक्त परिवार में यह अधिकार विधवा को नहीं था। दायभाग[3] ने इसका और विस्तार किया। इसने संयुक्त परिवार में भी विधवा के अधिकार को स्वीकार किया। परंतु दोनों में अंतर यह है कि मिताक्षरा ने स्त्री के संपत्ति-अधिकार को सीमित नहीं किया है जबकि दायभाग ने उसे सीमित माना है। अधिकांश शास्त्रकार पति से उत्तराधिकार में प्राप्त संपत्ति पर पत्नी का अधिकार सीमित (केवल उपभोग के लिये) मानते हैं, उसे अपहार (अलग करने) का अधिकार नहीं दिया गया है। आगे चलकर कुछ विशेष परिस्थिति में उसको ऐसा करने का अधिकार था।

(ई) **स्त्रीधन**—स्त्रीधन का शाब्दिक अर्थ है स्त्री का धन अर्थात् वह संपत्ति जिसके ऊपर उसका पूरा और अबाध अधिकार था और जो पैतृक तथा संयुक्त पारिवारिक संपत्ति से स्वतंत्र थी। इस काल के भाष्यकार तथा निबंधकार प्रायः मनु द्वारा दी हुई स्त्रीधन की परिभाषा से प्रारंभ करते हैं। मनु ने स्त्रीधन की परिभाषा इस प्रकार दी है : 'जो वैवाहिक अग्नि के समक्ष कन्या को दिया जाता है, जो कन्या को पतिगृह जाने के समय मिलता है, जो स्नेह के कारण दिया जाता है, जो भाई, माता और पिता से प्राप्त होता है, वह छः प्रकार का स्त्रीधन कहा जाता है[4]।' विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में इसका उल्लेख

१ याज्ञ०, २. १३६ पर उद्धृत।

२ तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्य असंसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णाति इति स्थितम्। याज्ञ० २. १३६ पर टीका।

३ खंड १३।

४ मनु०, ९. १९४।

करते हुए कहा है : 'स्त्रीधन के छः प्रकार केवल उसकी न्यून संख्या का व्यवच्छेद करने के लिये हैं, अधिक संख्या का व्यवच्छेद करने के लिये नहीं[१]।' याज्ञवल्क्य ने स्त्रीधन की सीमा बढ़ा दी थी : 'पिता, माता, पति तथा भाई से प्रदत्त, विवाह के अवसर पर अग्नि के सामने उपागत, पत्नी के अधिवेदन (पति द्वारा दूसरी स्त्री से विवाह) के समय प्राप्त, बंधुदत्त तथा विवाह के समय शुल्क (आसुर पद्धति से), सब मिलकर स्त्रीधन कहलाते हैं[२]।' अपरार्क के भाष्य के अनुसार इसमें जो 'च' शब्द आया है वह 'आद्यर्थ' है जिससे यह ध्वनित होता है कि इनके अतिरिक्त अन्य संपत्ति भी स्त्रीधन में संमिलित हो सकती है, जैसे पारिवारिक संपत्ति के विभाजन के समय पत्नी या माता का पुत्र के समान अंश, भाइयों के अंश का चतुर्थांश, माता का पारिणाह्य (वैवाहिक शुल्क) आदि[३]। दायभाग ने नारद का उद्धरण स्त्रीधन की परिभाषा में दिया है जो प्रायः मनु के समान है। कात्यायन ने सबको मिलाकर स्त्रीधन की एक लंबी सूची दी है जिसका अवतरण मिताक्षरा और दायभाग दोनों करते हैं। व्यवहार में सर्वमान्य स्त्रीधन की परिभाषा मिताक्षरा में इस प्रकार पाई जाती है : 'पिता, माता, पति तथा भाई से जो दत्त, जो विवाहकाल में अग्नि के सामने मातुलादि से प्रदत्त, अधिवेदन के निमित्त अधिविन्ना स्त्री को पति द्वारा दिया हुआ, आदि शब्द से रिक्थ (उत्तराधिकार), क्रय, संविभाग, परिग्रह, अधिगम से प्राप्त इस प्रकार का स्त्रीधन मनु आदि से कहा गया है। 'स्त्रीधन' शब्द यौगिक है, पारिभाषिक नहीं। योग की संभावना में परिभाषा के अयुक्त होने के कारण ये[४]। पराशरमाधवीय[५] में योग के ऊपर रूढ़ि को ही महत्व दिया गया (रूढियोगमपहरति)। व्यवहारमयूख[६] के अनुसार स्त्रीधन दो प्रकार का है—(१) पारिभाषिक (स्मृतियों में परिगणित) तथा (२) अपारिभाषिक (विभाग, शिल्प आदि से प्राप्त)। वीरमित्रोदय (काशीसंप्रदाय में सर्वमान्य) मिताक्षरा से पूर्ण सहमत है।

स्त्रीधन पर स्त्री का कितना अधिकार था इसका निर्णय करने के लिये इस युग के शास्त्रकारों ने तीन आधारों का अवलंबन किया है—(१) संपत्ति का उद्गम, (२) संपत्तिप्राप्ति के समय स्त्री का पद (कन्या, स्त्री अथवा माता), तथा (३)

[१] मिताक्षरा (याज्ञ० २. १४३-१४४ पर टीका)।
[२] वही।
[३] पृ० ७५१।
[४] याज्ञ० २. १४१ पर टीका।
[५] पृ० ३००।
[६] पृ० १६० :

संप्रदाय (प्रदेश विशेष में किसी धर्मशास्त्र से मर्यादा)। इस संबंध में कात्यायन, नारद आदि स्मृतियों का विशेष उल्लेख किया जाता है। कात्यायन[1] का मत इस प्रकार है : 'सौदायिक (स्नेहियों से प्राप्त धन) पर स्त्रियों का स्वातंत्र्य अभीप्सित है क्योंकि यह इसलिये मिलता है कि वे अपना उपजीवन (सहायता या पोषण) कर सकें और नृशंस (कठोर अथवा दयनीय) अवस्था को न प्राप्त हों। इच्छानुसार स्थावर संपत्ति का भी वह विक्रय और दान कर सकती है। भर्तृदाय को पति के मरने पर ही यथेष्ट काम में ला सकती है—उसके जीवनकाल में उसको सुरक्षित रखना पड़ता है—अथवा वह उसके कुल पर व्यय कर सकती है। सौदायिक स्त्रीधन के ग्रहण अथवा दान में पति, पुत्र, पिता, भाई किसी को अधिकार नहीं है।' मिताक्षरा के अनुसार दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि तथा जेल जाने की दशा में केवल पति द्वारा उपयोग हो सकता था; अन्यथा उपयोग करने पर लौटाना पड़ता था[2]। स्त्री के अधिकार पर एक प्रतिबंध था और वह था पवित्रता का। मनु के ऊपर भाष्य करते हुए मेधातिथि ने कात्यायन[3] का इस विषय पर उद्धरण दिया है : 'अपचारक्रियायुक्ता, निर्लज्जा, अर्थनाशिनी तथा व्यभिचाररता स्त्री का स्त्रीधन पर अधिकार नहीं होता था।'

धर्मशास्त्र के कई संप्रदायों में स्त्रीधन के उत्तराधिकार को लेकर मतभेद पाया जाता है। परंतु प्रायः सभी शास्त्रकार इस बात पर एकमत थे कि स्त्रीधन के उत्तराधिकार में दुहिता को प्राथमिकता और वरीयता मिलनी चाहिए, यद्यपि आगे चलकर स्थावर संपत्ति को लेकर पुत्रों का अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया था। मिताक्षरा के आधार पर याज्ञवल्क्य का कथन है : 'माता की (ऋण देने के बाद शेष) संपत्ति दुहिताओं को मिलनी चाहिए; उनके अभाव में अन्वय (अन्य संतति, पुत्रादि) को[4]।' स्त्रीधन दुहिताओं को मिलना चाहिए, किंतु पत्नी यदि संतान के बिना मरे तो पति को, यदि उसका विवाह प्रशस्त (ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य) विधि से हुआ हो तो उसके पितामाता को[5]। मिताक्षरा ने इस व्यवस्था को स्वीकार कर इसका भाष्य किया है। व्यवहारमयूख[6] ने अन्वय का अर्थ 'दुहिताओं

[1] अपरार्क, पृ० ७५२ पर उद्धृत।

[2] याज्ञ०, २. १४७ पर मिताक्षरा।

[3] अपचारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिका।
व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं सा न चार्हति ॥ कात्यायन०, मनु० ८. २८ पर मेधातिथि द्वारा उद्धृत।

[4] मिताक्षरा; याज्ञ०, २. ११७ पर टीका।

[5] वही, याज्ञ० २. १४४–१४५।

[6] पृ० १४६।

की संतति' किया है। दायभाग[1] में उद्धृत देवल के अनुसार 'मृत स्त्रियों का स्त्रीधन पुत्र तथा कन्या को समान रूप से मिलना चाहिए; संतानरहित मरने पर क्रमशः भर्ता (पति), माता, भाई और पिता को मिलना चाहिए।' पराशर[2] के अनुसार 'अप्रदत्ता (अविवाहित) कन्याओं को ही स्त्रीधन मिलना चाहिए, पुत्र को नहीं; यदि दुहिताएँ विवाहित हों तो उनको समान भाग मिलना चाहिए।' अविवाहित कन्या के स्त्रीधन का उत्तराधिकार क्रमशः भाई, माता तथा पिता को मिलता था। कन्याओं की वरीयता का कारण बताते हुए विज्ञानेश्वर[3] ने लिखा है : 'यह उचित ही है। पुरुष का शुक्र अधिक होने से पुमान् (पुरुष) उत्पन्न होता है; स्त्री का रज अधिक होने से (स्त्री) इस लिये कन्या में स्त्री के अवयव अधिक होने के कारण स्त्रीधन उसको प्राप्त होता है; पुत्र में पुरुष का अवयव अधिक होने से पितृधन पुत्र को मिलता है।'

३. माता

(१) **आदर और महत्ता**—स्त्री के अनेक रूपों मे मातृरूप सबसे अधिक आदरणीय और महत्व का माना जाता था। वास्तव में माता होने में ही स्त्रीजीवन की सार्थकता समझी जाती थी। बंध्या, अपुत्रा, मृतपुत्रा होना स्त्री के लिये कलंक था। माता होने के साथ ही स्त्री का घर में स्थान और मूल्य दोनों तुरंत बढ़ जाते थे। मध्ययुग के शास्त्रकारों तथा साहित्यकारों ने माता के संबंध में लिखते हुए प्राचीन धर्मशास्त्रों से प्रभूत अवतरण दिया है। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ हो सकता है। गौतमधर्मसूत्र[4] के अनुसार 'गुरुओं में आचार्य श्रेष्ठ हैं, कई एक के मत में माता।' आपस्तंब[5] का कथन है : 'माता पुत्रत्व का महान् कार्य करती है; उसकी सुश्रुषा नित्य है, पतित होने पर भी।' बौधायन[6] ने कहा है कि 'पतिता माता का भी भरणपोषण करना चाहिए, उससे न बोलते हुए।' वसिष्ठ[7] की व्यवस्था थी : 'पतित पिता का परित्याग हो सकता है, (जहाँ तक माता का संबंध है) वह पुत्र के लिये पतिता नहीं होती।' महाभारत में माता की भूरिभूरि

[1] दायभाग, ४, २६, पृ० ७६।
[2] पराशरमाधवीय, ३. ५५२।
[3] याज्ञ०, २. ११७ पर टीका।
[4] आचार्य श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके। गौ० ध० सू० २. ५६।
[5] माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि। आ० ध० सू० १, १०, २८, ६।
[6] पतितामपि तु मातरं बिभृयादभिभाषमाणः। बौ० ध० सू० २. २. ४८।
[7] पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति। बौ० ध० सू० १३. ४७।

प्रशंसा की गई है : 'माता के समान कोई छाया (शरण) नहीं और न तो उसके समान कोई गति। माता के सदृश कोई त्राण नहीं और न उसके बराबर कोई प्रिय[1]।' 'वेद से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं, माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं, इहलोक और परलोक में दान से बढ़कर कोई मित्र नहीं[2]।' 'सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं[3]।' मनुस्मृति में स्त्रियों के ऊपर कठोर नियंत्रण का विधान है, किंतु उसके अनुसार भी माता का स्थान बहुत ऊँचा है : 'दश उपाध्यायों से आचार्य श्रेष्ठ होता है, शत आचार्यों से पिता। माता पिता से सहस्रगुना श्रेष्ठ होती है[4]।' रामायण और महाभारत के अनेक स्थल माता के लिये आदर और पूजा के भाव से भरे हुए हैं। परवर्ती काव्यों, कथाओं और नाटकों में भी माता का स्थान सर्वथा ऊँचा रहा है। धार्मिक विश्वासों में मातृशक्ति आदिकाल से पूजनीय रही है। मध्ययुग में मातृशक्ति के आधार पर विविध देवियों की कल्पना हुई जिसका पुष्कल वर्णन मध्यकालीन तंत्रों और आगमों में पाया जाता है।

भारतीय इतिहास में पितृहत्या के कतिपय उदाहरण हैं, किंतु मातृहत्या के बहुत कम। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण परशुराम का है, जिन्होंने अपने पिता जमदग्नि की आज्ञा से अपनी माता रेणुका का वध किया। परंतु ऐसा लगता है कि यह कथा पितृभक्ति के अर्थवाद के रूप में प्रचलित हुई। पिता ने जब प्रसन्न होकर परशुराम से वर माँगने को कहा तो उन्होंने सर्वप्रथम वर माता के पुनर्जीवन का ही माँगा[5]। इस संबंध में बौद्ध साहित्य में एक मनोरंजक कथा मिलती है। अजातशत्रु अपने पिता बिंबिसार को बंदीगृह में डालकर भूखों मार डालना चाहता था। उसकी विमाता जब बिंबिसार से मिलने जाती थी तो अपने शरीर पर मधु का लेप कर लेती थी जिसको चाटकर वह जीवित रहता था। जब यह बात अजातशत्रु को ज्ञात हुई तो वह अपनी विमाता को मारने पर उद्यत हुआ। इसपर उसके मंत्रियों ने कहा, 'अठारह सहस्र दुष्ट राजाओं ने अपने पिता का वध किया है, किंतु एक ने भी अपनी माता का नहीं[6]।' ऐसा सुनकर अजातशत्रु पापकर्म से विरत हुआ। मध्ययुग

[1] नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ शान्ति० २६७. ३१।

[2] नास्ति वेदात्परं शास्त्रं नास्ति मातुः परो गुरुः।
नास्ति दानात्परं मित्रमिह लोके परत्र च। अत्रि० १५१।

[3] नास्ति सत्यात्परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः। शांति० ३४३. १८।

[4] उपाध्यायाद्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ मनु० २. १४५-४६।

[5] स वने मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै। म० भा० ३. ११७-१८।

[6] अमितायुध्यानसूत्र (सेक्रेड बुक्स आव् दि ईस्ट सिरीज), जि० ४९ भा० २, पृ० १६३।

में मातृहत्या का कोई उदाहरण नहीं मिलता। धर्मशास्त्र में मातृहत्या के लिये प्रायश्चित का ऐसा कठोर विधान है जिससे अत्यंत विरल अवस्थाओं में ही इसकी संभावना प्रकट होती है।

(२) **विधिक अधिकार**—माता के विधिक अधिकारों का उल्लेख मध्यकालीन धर्मशास्त्रों में पाया जाता है। माता का भरणपोषण पुत्र के लिये अनिवार्य था। यहाँ तक कि आपद्धर्म के कार्य करने पर भी वह पालनीया थी। पतिता होने पर भी उसका यह अधिकार सुरक्षित रहता था। उसको उत्तराधिकार का अधिकार भी प्राप्त था। विधवा पत्नी को उत्तराधिकार का अधिकार भारतीय इतिहास में बहुत पीछे मिला, किंतु माता को यह अधिकार बहुत पहले मिल गया था। मनु ने विधवा पत्नी को उत्तराधिकारियों में नहीं संमिलित किया है, किंतु माता को यह अधिकार दिया है कि वह संतानहीन पुत्र की संपत्ति प्राप्त करे[१]। उत्तराधिकारियों में उसे ऊँचा स्थान प्राप्त था। स्मृतिचंद्रिका ने बृहद्विष्णु के वचन को उद्धृत किया है जिसके अनुसार उसने दुहिता अथवा दौहित्र के पश्चात् माता और उसके पीछे पिता को उत्तराधिकारी माना है[२]। मिताक्षराकार ने क्रम को उलटकर पिता को पहले और माता को पीछे स्थान दिया है, जिसको वीरमित्रोदय के रचयिता ने भी ठीक माना है[३]। इस प्रश्न को लेकर मध्ययुग के भाष्यकारों और निबंधकारों में मतभेद था। किसी के मत में गर्भधारण एवं पोषण के कारण माता श्रेष्ठ थी और कोई 'बीजप्राधान्य' अथवा 'उत्पादन-ब्रह्मदातृत्व' के कारण उत्तराधिकार में पिता को श्रेष्ठ मानते थे। बृहस्पति के अनुसार भार्या और पुत्र से रहित मृत पुत्र की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी माता होती थी और उसकी अनुज्ञा से भाई[४]। माता के अभाव में पिता की माता को भी उत्तराधिकार मिला हुआ था[५]।

(३) **दाय**—पिता की मृत्यु के उपरांत जब उसकी संपत्ति का विभाजन पुत्रों द्वारा होता था तो माता (अथवा विमाता) को उसमें पुत्र के समान अंश मिलता था[६]। शुक्रनीति के अनुसार माता को पुत्र का चतुर्थांश मिलना चाहिए,

१ अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्। मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥
मनु० ६. १८५ में पिता और भाई को उत्तराधिकार दिया गया है।

२ स्मृति०, व्यवहारकांड।

३ याज्ञ० २. १३५ पर टीका; वीरमित्रोदय, दाय०।

४ भार्यासुतविहीनस्य तनयस्य मृतस्य तु।
माता रिक्थहरी ज्ञेया भ्राता वा तदनुज्ञया॥ बृहस्पतिः अपरार्क, पृ० ७४४ पर उद्धृत।

५ मनु० ६. २१७।

६ स्मृति०, व्यवहारकांड, २. २६८।

परंतु इस सिद्धांत को अधिकांश शास्त्रकार नहीं मानते थे[1]। जबतक पुत्र संयुक्त परिवार में रहना चाहते थे तबतक माता अपना अंश विभक्त नहीं करा सकती थी। यदि माता के पास स्त्रीधन पर्याप्त होता था तो पुत्र की संपत्ति में उसका अंश भी अपेक्षाकृत कम हो जाता था। कुछ शास्त्रकारों के अनुसार माता को केवल पोषण ही मिलना चाहिए, किंतु मिताक्षरा ने इसका प्रतिवाद किया है और समान अंश का ही समर्थन किया है[2]। साथ ही मिताक्षरा ने इस मत का भी विरोध किया है कि यदि पुत्र की संपत्ति सीमित हो तो माता को समान अंश मिलना चाहिए और यदि विपुल हो तो केवल पोषण के लिये पर्याप्त। ऐसा लगता है कि उत्तर मध्ययुग में माता का यह अधिकार क्षीण होने लगा। स्त्री मात्र को समान अंश देना परवर्ती भाष्यकारों तथा निबंधकारों को मान्य नहीं था; अतः माता को भी भरणपोषण के अधिकार तक ही सीमित रखा गया। व्यवहारसार तथा विवादचंद्रोदय आदि ने अपने समर्थन में बौधायन के इस वचन को उद्धृत किया है: 'निरिंद्रिया अदाया हि स्त्रियो मताः[3]।'

४. सतीप्रथा

(१) **अर्थ**—सती का शाब्दिक अर्थ है '(बराबर) अस्तित्व में रहनेवाली (=अमर)'। यदि 'सती' को प्राकृत शब्द माना जाय तो इसका अर्थ सत्य पर दृढ़ रहनेवाली होता है। दोनों ही दशाओं में पति और पत्नी के बीच अविच्छेद्य संबंध और धर्म के प्रति दृढ़ रहकर अपनी कीर्ति द्वारा लोक में चिरस्मरणीय (अमर) रहनेवाली स्त्री को सती कहते थे। परंतु यह नाम अपेक्षाकृत आधुनिक है। प्राचीन ग्रंथों में इसके लिये सहमरण (साथ मरना), सहगमन (साथ जाना), अन्वारोहण (साथ चिता पर चढ़ना) और अनुमरण (यदि पति प्रवास में मरा हो तो मृत्यु का समाचार सुनकर उसके पीछे मरना) शब्द प्रचलित थे। इन शब्दों और उनसे बोधित प्रथा के पीछे भावना यह थी कि मरने के समय तक पति-पत्नी का विवाह संबंध अविच्छिन्न रहे और उसके बाद परलोक और जन्म-जन्मातर में भी वह अचल बना रहे। किंतु इस भावना के उदय, विकास और दुरुपयोग का इतिहास बड़ा मनोरंजक है और मध्ययुग की विशेष परिस्थिति में इसका अस्तित्व विचारणीय[4]।

1 शुक्र०, ४. ५. २६७।
2 याज्ञ०, २. १३५ पर टीका।
3 विवादचंद्रोदय, पृ० ६७।
4 देखिए—एडवर्ड टॉमसन : सती (१६२८)।

(२) सार्वभौम प्रथा—सती की प्रथा भारत के लिये कोई असामान्य बात नहीं थी। प्राचीन काल के धार्मिक विचारों और अंधविश्वासों के अनुसार यह प्रथा विभिन्न रूपों में कई देशों में प्रचलित थी। मिश्र में राजाओं के साथ उनकी रानियाँ, दास, दासी आदि अन्य सुख की सामग्रियों के साथ पिरामिड में ढक दिए जाते थे। यूनानियों, रूमियों, स्लाव आदि कई प्राचीन जातियों में पति के साथ स्त्रियों को गाड़ने और जलाने की प्रथा थी[1]; किंतु यह राजाओं, सामंतों और श्रीमंतों तक सीमित थी।

(३) भारत में सतीप्रथा का प्रारंभ—वेदपूर्व काल में संभवतः भारत के आर्यों में यह प्रथा रही हो, परंतु वेदों के समय में यह प्रथा बंद हो गई थी। वेदों में कोई ऐसा मंत्र नहीं है जो सती प्रथा का उल्लेख करता हो[2]। प्राचीन गृह्यसूत्रों में सतीप्रथा का संकेत नहीं मिलता। विष्णु को छोड़कर किसी धर्मसूत्र में भी सती का विधान नहीं है। मनुस्मृति जैसे व्यापक धर्मशास्त्र में भी सती होने की व्यवस्था नहीं पाई जाती। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ शती वि॰ पू॰ यह प्रथा भारत में प्रचलित हुई। संभवतः यवन-पह्लव-शक-संपर्क से या तो यह प्रथा उत्पन्न हुई अथवा भारत में ही उत्पन्न होकर इससे प्रोत्साहित हुई। सिकंदर महान् के साथी यूनानियों ने पंजाब और सीमांत में सतीप्रथा को पाया[3]। विष्णुधर्मसूत्र में इस बात का विकल्प है कि विधवा या तो ब्रह्मचर्य का पालन करे अथवा मृत पति के साथ चिता पर अन्वारोहण[4]। महाभारत में सती के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं, किंतु यह प्रथा सर्वव्यापी नहीं थी, अपितु राजवंशों तक सीमित[5]। पैठीनसि, अंगिरस्, व्याघ्रपाद आदि स्मृतियों ने ब्राह्मणी विधवाओं का सती होना वर्जित किया है[6]। वेदव्यासस्मृति ने विष्णुधर्मसूत्र के समान विकल्प दिया है, किंतु उसका क्रम उलट दिया है[7]। कालिदास के कुमारसंभव[8], गाथासप्तशती[9] और

[1] श्रेडर : प्रीहिस्टॉरिक ऐंटिक्विटीज आव् दि एरियन पीपुल;
वेस्टरमार्क : ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव् मॉरल आइडियाज।

[2] औख्य शाखा की तैत्तिरीय संहिता, अनुवाक ८४ के जो दो मंत्र 'अग्ने व्रतानां...।' उद्धृत किए जाते हैं उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

[3] स्ट्रैबो, १५. १. ३० एवं ६२।

[4] मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा। वि॰ ध॰ सू॰ २५. १४।

[5] आदिपर्व, ९५. ६५; आदि॰ १२५. २६; विराट्॰ २३. ८; शांतिपर्व १४८. १०-१२।

[6] अपरार्क, पृ॰ ११२ पर उद्धृत।

[7] २. ५३।

[8] कुमार॰, ४. ३४ में रति काम के भस्म होने पर सती होने जा रही थी, यद्यपि आकाशवाणी द्वारा रोक ली गई।

[9] ७. ३३।

वात्स्यायन के कामसूत्र[१] में अनुमरण के वर्णन मिलते हैं। वराहमिहिर[२] ने अपनी बृहत्संहिता में पति के साथ सती होनेवाली स्त्री के साहस की बड़ी सराहना की है। इन उदाहरणों से पता लगता है कि यह प्रथा क्रमशः लोकप्रिय होती जा रही थी।

(४) मध्ययुग में सतीप्रथा का विशेष प्रचलन—मध्ययुग के प्रारंभ में सर्वप्रथम बाणरचित हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन की स्त्री यशोमती के अग्निप्रवेश का वर्णन मिलता है[३]। किंतु इसमें एक बात विशेष यह थी कि यशोमती ने प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पूर्व ही अपने को भस्म किया था। किंतु कादंबरी[४] में स्वयं बाण ने ही अनुमरण की कड़ी निंदा की है। मध्ययुगीन उत्कीर्ण लेखों में सती होने के कतिपय दृष्टांत पाए जाते हैं। नेपाल में प्राप्त एक लेख के अनुसार राजा धर्मदेव की विधवा राज्यवती ने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर पति का अनुगमन किया[५]। मिस्तरा देवली (जोधपुर) के उत्कीर्ण लेख में यह वर्णित है कि गुहिलवंश की दो रानियों ने चिता में जलकर पति का अनुगमन किया[६]। मध्ययुग में जब युद्ध अधिक होने लगे तो राजवंशों और सामान्यतः क्षत्रियों में सती की प्रथा अधिकाधिक बढ़ने लगी। जब अरबों और तुर्कों के आक्रमण देश पर होने लगे तो सती प्रथा ने जौहर का रूप धारण किया। जिन युद्धों में राजा तथा उसके सामंतो और सैनिकों का मरना निश्चित हो जाता था उसके पूर्व रानियाँ, उनकी सखियाँ तथा रनिवास की अन्य स्त्रियाँ भी युद्ध में पुरुषों की वीरगति होने के पहले ही चिता बनाकर उसमें अपने को होम कर देती थीं। इसके दो आधारभूत उद्देश्य थे। एक तो यह कि स्त्रियाँ विदेशी आक्रमणकारियों के हाथ में जीवित पड़कर अपमान और पशुता का जीवन बिताने के बदले मर जाना अधिक पसंद करती थीं। दूसरे उद्देश्य का संबंध धार्मिक विश्वास से था। यह दृढ़ विश्वास था कि वीरगति को प्राप्त होकर सैनिक स्वर्ग को जाते हैं, अतः उनकी स्त्रियाँ अग्निप्रवेश द्वारा उनका पूर्वगमन कर स्वर्ग के द्वार पर उनका स्वागत करने को तैयार रहती थीं।

(५) सती होने के अलौकिक लाभ—इस युग की स्मृतियों ने सती होने के अलौकिक लाभों का विस्तृत विवरण दिया है। शंख और अंगिरस[७] का कथन है : 'वह स्त्री जो मृत पति का अनुगमन करती है उतने वर्षों तक स्वर्ग में

[१] ६. ३. ५३।
[२] ७४. १६।
[३] उच्छ्वास ५।
[४] कादंबरी, पूर्वभाग, पृ० १७७, चंद्रापीड महाश्वेता से।
[५] इंडि० एंटि०, जि० ६, पृ० १६४।
[६] एपि० इंडि०, जिल्द २०, पृ० ५८।
[७] मिताक्षरा द्वारा याज्ञ०, १. ८६ की टीका में उद्धृत।

आनंद भोगती है जितने उसके शरीर पर रोम होते हैं, अर्थात् साढ़े तीन करोड़ वर्ष तक। जिस प्रकार सँपेरा बलात् बिल से साँप को खींच लेता है उसी प्रकार सती अपने पति को अधोगति से उबार लेती है और उसके साथ स्वर्गीय सुख भोगती है। वह स्वर्ग में अपने पति में एकांत अनुरक्ति के कारण देवांगनाओं से प्रशंसित होकर चौदह इंद्रों के शासनकाल तक पति के साथ विहार करती है। चाहे उसका पति ब्रह्मघ्न, मित्रघ्न अथवा कृतघ्न हो, सती अपनी गोद में उसको लेकर तथा भस्म होकर उसको पवित्र कर देती है। पति के मरने पर जो स्त्री चिता में प्रवेश करती है वह चरित्र में अरुंधती के समान है और स्वर्ग में प्रशंसित होती है। पति के मरने पर जबतक अपने को अग्नि में भस्मसात् नहीं करती तबतक वह स्त्रीजन्म से मुक्त नहीं होती।' हारीत[1] ने सती का माहात्म्य इस प्रकार कहा है : 'जो स्त्री पति के मरने पर उसका अनुगमन करती है वह माता, पिता तथा पति तीनों के कुलों को पवित्र करती है।' मिताक्षरा के समय तक सती की प्रथा प्रायः सभी वर्णों में प्रचलित हो गई थी। केवल गर्भिणी तथा अल्पवयस्क बच्चोंवाली स्त्रियाँ इसका अपवाद मानी जाती थीं[2]। परंतु पुराने भाष्यकारों में से कुछ अभी तक सतीप्रथा का विरोध करते थे। मनुस्मृति पर भाष्य करते हुए मेधातिथि ने सती की तुलना श्येनयाग से की है जो शत्रुनाश के लिये किया जाता था। उनका मत इस प्रकार है : 'यद्यपि अंगिरा ने अनुमरण की अनुमति दी है, परंतु वास्तव में यह आत्महत्या है और स्त्रियों के लिये निषिद्ध। वेद में 'श्येनेनाभिचरन् यजेत्' पाया जाता है, फिर भी यह धर्म नहीं समझा जाता (यह अभिचार या जादू है) अपितु अधर्म। अतः यद्यपि सती का उल्लेख करते हैं, पर वास्तव में यह अधर्म है। जो स्त्री शीघ्रता से अपने तथा अपने पति के लिये स्वर्ग पाने को उत्सुक है वह अंगिरा के वचन का पालन तो करती है, किंतु उसका आचरण अशास्त्रीय है। अन्वारोहण इस श्रुति के विरुद्ध है : 'अपने पूर्ण विहित जीवन में कर्तव्य कर्म का पालन करने के पूर्व इस संसार का (बलात्) त्याग नहीं करना चाहिए[3]।' जैसा कि ऊपर कहा गया है, विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में मेधातिथि का विरोध करते हुए अन्वारोहण और अनुमरण का समर्थन किया है, यद्यपि उनके तर्क कष्टकल्पित लगते हैं।

(६) **सतीपद्धति**—सती होने की पद्धति शुद्धितत्व[4] नामक ग्रंथ में पाई

[1] हारीत, वही।

[2] अयं च सर्वासां स्त्रीणाम् गर्भिणीनाम् बालापत्यानामाचांडालं साधारणो धर्मः। भर्तारं यानुगच्छतीत्य विशेषोपादानात्। मिताक्षरा, याज्ञ०, १. ८६ पर टीका।

[3] मेधातिथि, मनु०, ५. १५६ पर भाष्य।

[4] शुद्धितत्व, पृ० २३५।

जाती है : 'विधवा स्नान करके दो श्वेत परिधान धारण करती है, हाथों में कुश पकड़ती है, पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख खड़ी होती है और आचमन करती है। जब ब्राह्मण 'ओ३म् तत्सत्' उच्चारण करता है तब वह भगवान् नारायण का स्मरण करती है। मास, पक्ष और तिथि का निर्देश करती हुई संकल्प करती है। अपने सहमरण अथवा अनुमरण के साक्षी होने के लिये दिक्पालों का आवाहन करती है। तीन बार चिता की प्रदक्षिणा करती है। तब ब्राह्मण 'इमा नारी' आदि वैदिक मंत्र का उच्चारण करता है और फिर पौराणिक वचन : 'पति में अनुरक्त ये भद्र और पवित्र स्त्रियाँ मृत पति के शरीर के साथ अग्नि में प्रवेश करें।'

(७) **दुरुपयोग**—आगे चलकर सतीप्रथा का दुरुपयोग भी होने लगा। सती होना परिवार के लिये संमान की बात समझी जाती थी, अतः अनिच्छुक विधवाओं को कभी कभी बलात् चिता पर फेंक दिया जाता था। कभी कभी केवल स्वार्थबुद्धि से भी विधवा जला दी जाती थी। भारत के उन भागों में जहाँ दायभाग का संप्रदाय विकसित हुआ, पति के मरने पर विधवा को पारिवारिक संपत्ति में मृत पति के पूरे विधिक अधिकार प्राप्त थे। दायभाग के रचयिता जीमूतवाहन ने अपने पूर्वज जितेंद्र का उल्लेख इस संबंध में किया है[1]। परिवारवालों को प्रायः इससे असुविधा होती थी। इसलिये इस कंटक को दूर करने के लिये सतीप्रथा का उपयोग किया जाता था। बंगाल में सतीप्रथा का भयंकर रूप था। मिताक्षरा से संचालित प्रदेशों में सती की प्रथा अपेक्षाकृत कम थी। ऐसे बहुत से उल्लेख पाए जाते हैं जिनमें परिवारवाले विधवा को सती होने से विरत करने का प्रयत्न करते थे। ऐसा लगता है कि सब मिलाकर सती होनेवाली स्त्रियों की संख्या बहुत नहीं होती थी[2]।

५. वेश्यावृत्ति

(१) **सार्वभौम प्रथा**—वेश्यावृत्ति बहुत प्राचीन काल से किसी न किसी रूप में संसार के प्रायः सभी देशों में प्रचलित रही है और भारत में इसको सामाजिक तथा विधिक रूप प्राप्त था। कुछ लेखकों ने इस संबंध में व्यंग के साथ भारत की ओर संकेत किया है, परंतु इस संस्था के ऊपर जो आँकड़े इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में एकत्र किए गए हैं उनसे पता लगता है कि यह प्रायः सार्वभौम है। मनुष्य की कामवासना और सौंदर्यप्रियता इसके मूल में थी। वैदिक[3] काल

[1] दायभाग, जीवानंद संस्करण, १८९२, पृ० ४६, ५६।

[2] कोलब्रुक : मिसेलेनियस एसेज, १८३७, भा० १, पृ० १२२।

[3] परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः। ऋग्०, १. १६७. ४।

से ही वेश्या के अस्तित्व के उल्लेख मिलने लगते हैं। धर्मसूत्रों और महाकाव्यों[१] में अनेक उदाहरण और प्रसंग इस संबंध में पाए जाते हैं। स्मृतियों और सामान्य साहित्य में भी इसकी चर्चा है। मध्ययुग की सामंतवादी व्यवस्था और विलासिता में वेश्यावृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला।

(२) **विविध नाम तथा गुण**—वेश्या के लिये वारस्त्री, गणिका, रूपाजीवा, साधारणी, सामान्या आदि पर्याय शब्दों का प्रयोग होता है। गणिका की जो परिभाषा कामसूत्र में दी हुई है वह मध्यकालीन लेखकों को भी मान्य थी। इससे गणिका की योग्यता और सामाजिक अवस्था का पता लगता है। कामसूत्र[२] के अनुसार 'गणिका सुशिक्षित और उसकी बुद्धि सुसंस्कृत (शास्त्रप्रहतबुद्धि) होनी चाहिए। चौंसठ कलाओं में निपुणता, मधुर स्वभाव, व्यक्तिगत आकर्षण, दूसरों पर विजय प्राप्त करनेवाले गुण गणिका में होते हैं। इस प्रकार की सुसंपन्ना गणिका को सभाओं और परिषदों में ऊँचा स्थान मिलता है। वह राजाओं से संमानित और सहृदयों से प्रशंसित होती है। उसकी दया और सहवास की लोग कामना करते हैं। वह सभी के लिये दर्शनीया और आदर्श बन जाती है।' मध्ययुगीन ग्रंथ कुट्टनीमतम् और उपमितिभवप्रपंचकथा में उच्च कोटि की गणिका के गुण विस्तार के साथ दिए हुए हैं। कुट्टनीमतम्[३] के अनुसार 'गणिका शारीरिक सौंदर्य की पराकाष्ठा होती है। वह वात्सायन, दत्तक, विटपुत्र तथा राजपुत्र के कामशास्त्रों में निपुणता प्राप्त करती है। भरत, विशाखिल, दंतिल के नाट्यशास्त्रों में वह पारंगत होती है। वृक्षायुर्वेद, चित्रकला, संगीत (गायन, वादन, नृत्य), सूचीकर्म, पत्रच्छेदविधान (शरीर पर रंगावली करना), पुस्त (मिट्टी से मूर्ति आदि बनाना) आदि कलाओं में भी गणिका को कुशल होना चाहिए। उच्च कोटि की गणिका अपने अर्जित धन का उपयोग लोकोपकारी और धार्मिक कार्यों, जैसे, मंदिर, तालाब, उपवन, पुल, यज्ञशाला, यज्ञ तथा दान आदि अन्य धार्मिक कृत्यों में करती थी। सभी गणिकाएँ उच्च कोटि की नहीं होती थीं। ऐसी गणिकाओं की कमी नहीं थी जो सुसंस्कृत नहीं होती थीं और जिनका काम केवल पुरुषों की कामवासना की तृप्ति और उनके स्वास्थ्य और धन का अपहरण करना था।

(३) **दंडविधान**—स्मृतियों और भाष्यकारों ने वेश्यागमन के दोषादोषों और उसके दंडविधान पर प्रकाश डाला है। नारद[४] के अनुसार स्वैरिणी, वेश्या,

[१] गांधार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता।
धृतराष्ट्रं महाराजं वेश्या पर्यचरत्किल॥ आदि०, १. १५. ३६।

[२] कामसूत्र, १. ३. २०।

[३] कुट्टनीमतम्, श्लोक १०६।

[४] नारद०, स्त्रीपुंस०, ७८–७९।

दासी तथा भुजिष्या (अनवरुद्धा रखेली) के साथ सहवास विहित है, यदि ये अपने से उच्च वर्ण की न हों; यदि ये किसी पुरुष से अवरुद्ध (नियंत्रित रखेली) हों तो सहवास के लिये वही दंड होना चाहिए जो परस्त्रीगमन के लिये। याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य करते हुए विज्ञानेश्वर का कथन है : 'स्कंदपुराण के अनुसार वेश्याओं की एक स्वतंत्र जाति है; पंचचूड़ा नामक अप्सराओं से उनकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार की अनवरुद्ध वेश्याओं का यदि पुरुषों से सहवास हो तो उन्हें दंड नहीं मिलता; इसी प्रकार उनके पास जानेवाले पुरुषों को भी राजदंड नहीं होता। किंतु पुरुषों को पाप लगता है, क्योंकि स्मृतियों की आज्ञा है कि पुरुषों को अपनी पत्नियों में अनुरक्त होना चाहिए। वेश्यागामी पुरुष प्राजापत्य व्रत से शुद्ध होता है[1]।' नारद ने पुनः व्यवस्था की है कि 'यदि शुल्क ग्रहण कर वेश्या पुरुष का प्रत्याख्यान करती है तो उसे शुल्क का दुगुना अर्थदंड होना चाहिए; इसी प्रकार वेश्या का उपभोग कर जो पुरुष उसे शुल्क नहीं देता उसको भी शुल्क का दूना दंड मिलना चाहिए[2]।' मत्स्यपुराण[3] में वेश्याधर्म का विस्तृत वर्णन है, जो स्पष्टतः मध्ययुगीन है।

(४) **समाज में स्थान**—शुद्ध नीति और धर्म की दृष्टि से वेश्या समाज में हेय दृष्टि से देखी जाती थी और वेश्यागामी पुरुष पापी समझा जाता था। भारतीय समाज में बराबर से स्त्री का संमान कन्या, पत्नी और माता के रूप में था; अनियंत्रिता, स्वतंत्रा, स्वैरिणी और वेश्या बराबर संदेह की दृष्टि से देखी और निंदित मानी जाती थीं। परंतु समाज वेश्यावृत्ति को विवाहित यौन संबंध की पवित्रता के लिये सुरक्षाद्वार समझकर व्यावहारिक दृष्टि से सहन करता था। कला का माध्यम और लोकरंजन का साधन समझकर समाज वेश्या का संमान करता था। मध्ययुग में गणिका का संमान बढ़ जाने का सामाजिक कारण भी था। इस काल में कन्याओं का उपनयन संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम बंद हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश स्त्रियाँ उच्च शिक्षा से वंचित हो गईं। केवल राजपरिवारों और श्रीमंतों के यहाँ ही लड़कियों की उच्च शिक्षा का प्रबंध हो सकता था। पुनः स्त्रियों के यातायात पर भी क्रमशः बढ़ती हुई पर्दाप्रथा से काफी प्रतिबंध हो गया। वे शिक्षा के लिये दूसरे स्थानों और घरों में नहीं जा सकती थीं। अतः घर के धंधों तथा कुलाचार के बाहर उनके ज्ञान, संस्कार तथा अलंकार की सीमा नहीं बढ़ पाती थी। इसके विपरीत गणिका को साहित्य संगीत, वाद्य, नाट्य आदि

[1] याज्ञ०, २. २९० पर टीका।

[2] नारद०, वेतनस्यानपाकर्म, १८।

[3] अध्याय ७०।

विविध कलाओं की पूरी शिक्षा मिलती थी। गणिका स्त्रीसुलभ सौंदर्य, बौद्धिक विकास, चातुर्य, अलंकरण आदि का केंद्र और प्रतिमान बन गई। इस परिस्थिति में यह आवश्यक था कि समाज का सामूहिक ध्यान कुलस्त्री की ओर न जाकर गणिका की ओर जाता। यही कारण है कि सामूहिक और सामाजिक अवसरों पर लोकानुरंजन के लिये गणिका आमंत्रित होती थी और उसका आदर किया जाता था। फिर भी यह मान्यता बनी रही कि गणिका का दर्शन मांगलिक किंतु उसका स्पर्श पापमय है।

६. अवगुंठन (पर्दा)

(१) **गोपन की प्रवृत्ति**—सामाजिक लज्जा और गोपन की प्रवृत्ति से जीवन में एकात और जनसमूह की दृष्टि से बचाव तो थोड़ी बहुत मात्रा में संसार के बहुत से देशों में पाए जाते हैं। किंतु स्त्रियों के मुँह और कहीं कहीं उसके पूरे शरीर को ढकना, उसको घर के विशेष भाग में नियंत्रित रखना तथा घर के बाहर सामाजिक कार्यों के लिये निकलने न देना एक विशेष प्रकार की प्रथा है। यह मुसलिम देशों और भारत के उत्तरी भाग में पाई जाती थी और कुछ अंश में भारत में अभी तक वर्तमान है। देखना यह है कि प्राचीन और मध्ययुग में यह प्रथा इस देश में प्रचलित थी या नहीं; यदि थी तो इसकी क्या सीमा थी।

(२) **वैदिक काल में पर्दा का अभाव**—वैदिक काल में पर्दाप्रथा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत ऋग्वेद[1] के उस मंत्र में जो विवाह के समय उच्चरित होता था, इस बात का विधान है कि विवाह के अंत में सभी उपस्थित लोग कन्या को देखें और आशीर्वाद दें। ऋग्वेद[2] में ऐसा भी आशीर्वादात्मक मंत्र है जिसके अनुसार नवविवाहिता बहू श्वसुर, सास, ननद तथा देवरों पर साम्राज्ञी बनकर जाती थी; इस परिस्थिति में पर्दा असंभव था। इसके अतिरिक्त वैदिक काल में स्त्रियाँ विदथ[3] (सभा, समिति) तथा समन[4] (उत्सव, मेला) में स्वतंत्रता के साथ जाती थीं। निरुक्त के अनुसार अपना उत्तराधिकार सिद्ध करने के लिये उन्हें न्यायालय में भी जाना पड़ता था[5]। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि बहू अपने श्वसुर से लज्जा नहीं करती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार का कथन है कि स्नुषा

[1] सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं विपरेतन। ऋग्०, १०. ८५. ३३।

[2] सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञ्यधिदेवृषु। वही, १०. ८५।

[3] वशिनी त्वं विदथमावदासि। वही, १०. ८५. २६।

[4] जुष्टा नरेषु समनेषु वल्गुः।

[5] निरुक्त, ३. ५।

(पुत्रवधू) श्वसुर से लजाती हुई उसके पास से दूर हट जाती थी[1]। धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में इस बात का कहीं भी संकेत नहीं मिलता कि स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं या उनको पूरा शरीर ढककर बाहर जाना पड़ता था। पाणिनि के अष्टाध्यायी[2] में 'असूर्यम्पश्या' शब्द आता है, जिसका अर्थ है ऐसी स्त्री जिसको सूर्य भी न देख सके। इससे पर्दे का अस्तित्व सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। परंतु यह सामान्य पर्दे का द्योतक नहीं है। इसकी व्याख्या की गई है—'असूर्यम्पश्या राजदाराः'। अर्थात् राजा की स्त्रियाँ ही असूर्यंपश्या होती थीं। इसका कारण बहुत कुछ राजनीतिक था। रामायण में राजवंश की स्त्रियों के बारे में कहा गया है: 'जिस सीता को आकाशगामी जीव भी नहीं देख सकते उसको आज सड़कों पर चलनेवाले लोग भी देखते हैं[3]।' प्रायः इसी प्रकार का वर्णन महाभारत में भी पाया जाता है: 'जिन स्त्रियों को न तो चंद्रमा ने देखा था और न सूर्य ने, वे कौरवेंद्र राजा धृतराष्ट्र के वन जाने पर शोकार्त होकर राजमार्ग (खुली सड़क) पर चलने लगीं[4]।' परंतु रामायण मे यह भी कथन पाया जाता है कि 'व्यसन (विपत्ति), कृच्छ्र (व्रत), युद्ध, स्वयंवर, ऋतु (यज्ञ) तथा विवाह के समय देखने से स्त्रियाँ दूषित नहीं होती हैं[5]।' दोनों महाकाव्यों में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ स्त्रियाँ बिना पर्दे के और स्वतंत्रता के साथ बाहर जाती और घूमती हुई पाई जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि उक्त कथनों में काव्योचित अतिरंजन है और वे संभवतः पीछे के प्रक्षेप हैं।

(३) पर्दा का प्रारंभ : भारत में इसका स्वरूप—ऐसा लगता है कि विक्रम संवत् के पूर्व प्रथम शती से भारत के ऊपर बाहरी आक्रमणों के कारण समाज के अंगविशेष में पर्दे की प्रथा प्रारंभ हुई। भास के नाटक 'प्रतिमा' में सीता अवगुंठन के साथ रंगमंच पर आती है। उनके दूसरे नाटक स्वप्नवासवदत्ता में पद्मावती अपने विवाह के बाद पर्दा रखना प्रारंभ करती है। कुछ आगे चलकर मृच्छकटिक नाटक में वसंतसेना गणिका जब भद्र महिला बनती है तो उसे अवगुंठन प्रदान किया जाता है। किंतु विक्रमपश्चात् तीसरी शती तक यह प्रथा लोकप्रिय नहीं

[1] ऐत० ब्रा०, १२. ११।

[2] ३. २. ३६।

[3] या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥ युद्ध०, ३३. ८।

[4] आश्रमवासी पर्व, १५. १३।

[5] व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे।
न क्रतौ न विवाहे वा दर्शनं दुष्यते स्त्रियः॥ युद्ध०, ११६. २८१

हुई थी और स्त्रियाँ इसका विरोध करती थीं। ललितविस्तर में जब गौतम सिद्धार्थ की विवाह्य पत्नी गोपा को अवगुंठन दिया जाता है तो वह इसका विरोध करती है और कहती है : 'जिनका शरीर संयत, इंद्रियाँ सुरक्षित, आचार रागरहित तथा मन प्रसन्न है उनके मुख को ढकने से क्या लाभ[1]?' साँची, भरहुत तथा अजंता-एलोरा की मूर्तियों तथा चित्रों में भी पर्दे का अंकन नहीं पाया जाता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में स्त्रियों के आचार-व्यवहार के संबंध में बहुत से विधान हैं किंतु पर्दे का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। कालिदास के नाटकों और काव्यों में नायिकाओं और उनकी सहेलियों में पर्दे का कहीं पता नहीं; हाँ, जब शकुंतला दुष्यंत की राजसभा में गर्भावस्था में प्रवेश करती है उस समय उसके मुख पर पर्दा था[2]। बाण की कादंबरी में न तो कादंबरी और न महाश्वेता तथा उनकी सखियाँ किसी प्रकार का पर्दा रखती हैं। परंतु राजवंश की स्त्रियों के वर्णन में बाण ने भी पर्दे का उल्लेख किया है; जैसे, हर्षचरित के अनुसार विवाह के समय राज्यश्री का मुख झीने लाल वस्त्र से ढका हुआ था[3]। विधवा राज्यश्री पुनः किसी प्रकार का पर्दा नहीं करती। भवभूति के नाटकों, महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालती-माधव में स्त्रियाँ कहीं भी पर्दे का व्यवहार नहीं करतीं। ग्यारहवीं शती में लिखित बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर आदि कथासाहित्य भी पर्दे से मुक्त हैं। कथासरित्सागर[4] में रत्नप्रभा ने पर्दे का विरोध इस प्रकार किया है : 'हे आर्यपुत्र, प्रसंग से कहती हूँ, सुनिए; अंतःपुर में स्त्रियों की रक्षा इस प्रकार हो यह मेरा मत नहीं। स्त्रियों का कड़ा पर्दा और नियंत्रण ईर्ष्या से उत्पन्न मूर्खता है। इसका कोई उपयोग नहीं। सच्चरित्र स्त्रियाँ अपने सदाचार से ही सुरक्षित रहती हैं और किसी पदार्थ से नहीं।' कश्मीर के प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ राजतरंगिणी के पात्र भी पर्दे का व्यवहार नहीं करते। दसवीं शती के अरब यात्री अबू जईद ने लिखा है कि उसके समय में भारतीय रानियाँ पर्दे के बिना ही राजसभा में उपस्थित होती थीं[5]। इस प्रकार संपूर्ण प्राचीन भारत में आधुनिक अर्थ में पर्दाप्रथा प्रचलित नहीं थी। केवल राजवंशों तथा श्रीमंत परिवारों में कुछ विशेष

१ गोपा शाक्यकन्या न कंचन दृष्ट्वा वदनं छादयति स्म ।
ये काम संवृता गुप्तेन्द्रिया सुनिवृताश्च ।
मनः प्रसन्ना किं तादृशानां वदनं प्रतिछादयित्वा ॥ सर्ग १६ ।

२ कास्विदवगुंठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या । अभिज्ञानशाकुंतल, ५. १३ ।

३ तत्र…अरुणांशुकावगुंठितमुखीं…वधूमपश्यत् । हर्ष०, उच्छ्‌वास ४ ।

४ राजपुत्र प्रसंगेन वदामि तव तच्छृणु । रक्षा चान्तः पुरेष्वीदृक् नैवमेतन्मतं मम ॥
नीतिमात्रमहं मन्ये स्त्रीणांरक्षा नियंत्रणम् । ३६. ६–७ ।

५ इलियट ऐंड डाउसन : हिस्ट्री आफ् इंडिया, भाग १, पृ० ११ ।

अवसरों पर मुख का आंशिक अवगुंठन होता था। सारा समाज इसको स्वीकार नहीं करता था। पर्दाप्रथा का सर्वांग और व्यापक प्रचार भारत में मुसलिम आक्रमण के बाद से प्रारंभ हुआ। मुसलमानों में इस्लामी प्रभाव के कारण कठोर पर्दाप्रथा प्रचलित थी। अपने आक्रमणों से, जिनमें संपत्ति, स्त्री तथा बच्चों का बलात् अपहरण होता था, उन्होंने भारत में बड़ी अरक्षित अवस्था उत्पन्न कर दी। इस परिस्थिति में पर्दाप्रथा प्रचलित होने के दो कारण थे। एक तो विजयी मुसलमानों का अनुकरण; पर्दा संभ्रांत होने का एक लक्षण माना जाने लगा। दूसरे, संभ्रांत घर की स्त्रियों को आक्रमणकारियों से बचाना आवश्यक रहा होगा, अतः वे घर के भीतर सुरक्षित रखी जाने लगीं और बाहर भी कपड़े से आवृत्त होकर जाने लगीं जिससे उनका रूप किसी को आकृष्ट न कर सके। बालविवाह और अशिक्षा ने इस प्रथा को और प्रोत्साहन दिया। स्त्रियों के कार्यक्षेत्र क्रमशः संकुचित होने लगे और वे घर की चहारदीवारी के भीतर बंद रहने लगीं। फिर भी यह प्रथा सारे भारत में नहीं प्रचलित हुई, केवल उत्तरभारत तक सीमित रही। दाक्षिणात्य स्त्रियों ने कभी भी पर्दा स्वीकार नहीं किया।

७. स्त्रियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण

भारतीय साहित्य से कुछ उक्तियों को लेकर प्रायः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि भारतीय समाज का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण बड़ा कठोर तथा अन्यायपूर्ण था। परंतु यदि संपूर्ण भारतीय साहित्य का अवलोकन किया जाय तो जान पड़ेगा कि विभिन्न परिस्थितियों में और स्त्री के विभिन्न रूपों के प्रति विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं। कन्या, पत्नी, माता तथा शुद्ध स्त्री (यौन), ये स्त्री के विविध रूप थे। संतुलित गृहस्थ, अंधप्रेमी, विरक्त अवधूत आदि की विभिन्न दृष्टियों से स्त्री अंकित होती थी। सामान्यतः स्त्री जाति के प्रति भारतीय दृष्टिकोण उदार था। पूर्व मध्यकाल तक प्रायः यह स्थिति बनी रही।

(१) सामान्य उदार दृष्टिकोण—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, कन्या, पत्नी तथा माता के रूप में स्त्री सदा से आदरणीया थी। सिद्धांततः स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी थी, उसके बिना पुरुष अपूर्ण था, दोनों के मिलन से ही जीवन की पूर्णता और सफलता संभव थी। ब्राह्मण काल से यह तथ्य स्वीकृत किया गया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार : 'जाया (स्त्री) अपना आधा है। इसलिये जबतक जाया का वरण नहीं होता तबतक प्रजनन संभव नहीं, तबतक मनुष्य असर्व (अपूर्ण) रहता है। जब जाया का वरण करता और संतान उत्पन्न करता है तब सर्व (पूर्ण) होता है[1]।' महाभारत आदिपर्व में कहा गया है : 'भार्या मनुष्य का

[1] श० ब्रा०, ५. २. १. १०।

आधा अंग है। भार्या उसकी श्रेष्ठतम सखा है। भार्या त्रिवर्ग का मूल है। भार्या (संसार सागर से) तरण का साधन है[१]।' अपरार्क द्वारा उद्धृत बृहस्पति का कथन है : 'आम्नाय (वेद), स्मृतितंत्र तथा लोकाचार में भार्या विद्वानों द्वारा शरीर का आधा भाग और पुण्यापुण्य की प्राप्ति में समान मानी गई है[२]।' स्मृतियों और निबंधों सभी ने इस बात को माना है कि धर्मसंपत्ति, प्रजोत्पत्ति और रति तीनों में स्त्री और पुरुष समान, अभिन्न तथा अविच्छेद्य हैं। स्त्री के बिना गृह और गृहस्थ जीवन की कल्पना ही असंभव थी। गृहिणी ही गृह थी। उसके बिना गृह अरण्य था[३]। गृहिणी की प्रशंसा से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। कालिदास, बाण और भवभूति आदि सभी ने समान रूप से गृहिणी की प्रशंसा की है। धर्म और दर्शन में शक्तिरूपा स्त्री पूजनीया है। शाक्त धर्म और दर्शन में तो यहाँ तक कहा गया है कि शक्ति के बिना शिव भी शवरूप (मृतक) हैं।

(२) **असफल प्रेमी और पलायनवादी**—इसमें संदेह नहीं कि असफल प्रेमियों और संसार से पलायनवादी विरक्त अवधूतों द्वारा स्त्रियों के प्रति उपालंभ, भर्त्सना और निंदा के उद्गार प्रकट किए गए हैं। ऋग्वेद में निराश पुरूरवा उर्वशी के प्रति कहता है : 'स्त्रियों के साथ मैत्री नहीं हो सकती; उनका हृदय भेड़िए के समान है[४]।' ऋग्वेद में पुनः कथन है : 'स्त्रियाँ दासों के आयुधागार और शत्र हैं[५]।' तैत्तिरीय संहिता में यह पाया जाता है : 'इसलिये स्त्रियाँ निरिंद्रिय (दुर्बल), अदायादी (दाय न पानेवाली) तथा पापिष्ठ पुरुष से भी निम्नतर स्तर पर बोलनेवाली होती हैं[६]।' मनु के अनुसार 'धर्म की यह व्यवस्था है कि स्त्रियों की क्रियाएँ मंत्रों के साथ नहीं होतीं। स्त्रियाँ निरिंद्रिया और अमंत्रा होती हैं। स्थिति यह है कि स्त्रियाँ अनृत होती हैं[७]।' मनु ने यह भी कहा है कि 'कौमार्य, यौवन और वार्द्धक्य सभी अवस्थाओं में स्त्री को दूसरे के संरक्षण में रहना

१ आदि०, ७४. ४०।

२ अपरार्क, पृ०

३ न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्॥ शांति०, १४४. ६६।

४ ऋग्०, ११. ५. ६. १।

५ वही, ५. ३०. ६।

६ तैत्तिरीय०, ६. ५. ८. २।

७ नास्ति स्त्रीणां क्रिया मंत्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
निरिंद्रिया ह्यमंत्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥ मनु०, ६. १८।

चाहिए[१] ।' नारद आदि स्मृतियों का यही मत है[२] । मिताक्षरा और चतुर्वर्गचिंतामणि आदि में ये मत उद्धृत तथा स्वीकृत हुए ।

कहीं कहीं तो स्त्रियों के स्वभावतः नैतिक पतन का भी उल्लेख पाया जाता है । महाभारत के अनुशासन पर्व[3] में स्त्रियों के संबंध में निम्नलिखित उद्गार हैं : 'प्रजापति का यह मत है कि स्त्रियाँ स्वातंत्र्य के योग्य नहीं होतीं । सूत्रकार की यह व्यवस्था है कि स्त्रियाँ अनृतरूपा हैं । स्त्रियों के अनृतत्व के बारे में वेद में भी पाठ मिलता है ।'''स्त्रियों से बढ़कर दूसरा कोई पापिष्ठ नहीं होता ।'''स्त्री एकत्र क्षुरे की धारा, विष, सर्प तथा अग्नि होती है ।' रामायण के अनुसार 'तीनों लोकों में स्त्रियों का यह स्वभाव देखा जाता है कि वे विमुक्तधर्मा, चपला, तीक्ष्णा तथा भेदकरा होती हैं[४] ।' मनुस्मृति[५] में इनसे भी अधिक अनुदार वक्तव्य हैं : 'स्त्रियाँ कामुकतापूर्ण, चंचल और स्नेहरहित होती हैं । वे अपने पतियों से घृणा करती और दूसरे पुरुषों को पसंद करती हैं, चाहे वह कुरूप ही क्यों न हो, केवल इसलिये कि वह पुरुष है ।'''स्त्रियों के स्वभाव में यह बात है कि वे पुरुषों को मोहित करें । इसलिये बुद्धिमान पुरुष असावधानी के साथ नवयुवतियों के साथ व्यवहार नहीं करता, क्योंकि वे पुरुष को अवश्य पथभ्रष्ट करती हैं, चाहे वह पंडित हो अथवा मूर्ख ।' बृहत्पराशर में कथन है : 'स्त्रियों में पुरुष से आठगुना काम, छगुना व्यवसाय, चौगुनी लज्जा और आहार दूना है[६] ।' यह उक्ति प्रायः पाई जाती है : 'अनृत (झूठ), साहस, माया, मूर्खता, अतिलोभिता, अशौचत्व तथा निर्दयत्व—ये दोष स्वभाव से स्त्रियों में पाए जाते हैं[७] ।' जैनाचार्य हेमचंद्र ने लिखा है : 'अंगना (स्त्री) संसार का बीज, नरक के मार्गद्वार की दीपिका, शोक का कंद, कलि का मूल तथा दुःखों की खानि है[८] ।' ये कथन मध्ययुगीन साहित्य तथा परवर्ती साहित्य में भी उद्धृत होते रहे हैं । स्त्रियों के लिये निंदात्मक कथन केवल भारत में ही नहीं संसार के अन्य देशों में भी पाए जाते हैं । यूनानी दार्शनिक सुकरात ने कहा है : 'स्त्री सभी बुराइयों का

१ मनु०, ६. २–३ ।

२ नारद०, दायभाग, श्लोक २८–३० ।

3 ३८. १२ तथा २६ ।

४ अरण्य०, ४५. २६–३० ।

५ मनु०, ६. १४–१५ ।

६ स्त्रीणामष्टगुणः कामो व्यवसायश्च षड्गुणः ।
लज्जा चतुर्गुणा तासामाहारश्च तदर्धकः ॥ बृहत्पराशर०, पृ० १२१ ।

७ अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता ।
अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥

८ बीजं भवस्य नरकमार्गद्वारस्य दीपिका ।
शुचा कंदः कलेर्मूलं दुःखानां खनिरंगना ॥ योगशास्त्र०, २. ८७ ।

मूल है। पुरुषों की घृणा से स्त्रियों का प्रेम अधिक भयानक है। बिचारा नवयुवक, जो विवाह में स्त्री का वरण करता है, मछली की तरह से बंसी में फँसता है। संत पाल का भी दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति अनुदार था : 'पुरुष के लिये इसी में कल्याण है कि वह स्त्रियों का स्पर्श न करे। विवाह कर्तव्य नहीं, एक छूट है; व्यभिचार से बचने के लिये पतन।' टरटुलियन के उद्गार तो और कठोर हैं : 'स्त्री नरक का द्वार है, सभी बुराइयों की माँ। स्त्रीत्व के विचार मात्र से उसे लज्जा आनी चाहिए और हौवा के पाप के लिये उसे सदा तपस्या और प्रायश्चित्त करना चाहिए।' और भी अनुदार वचन पाए जाते हैं : 'पुरुष के लिये स्त्री से बढ़कर और कोई दूसरी विपत्ति नहीं पाई गई है। हे स्त्रियों का समूह, तुम न्याय के दिन के लिये नरकरूप हो। तुम शैतान के द्वार हो। तुमने ईश्वर की प्रतिमा को अपवित्र किया है।' ग्यारहवीं शती के एक पादरी मारबॉड ने स्त्रियों का भयानक चित्र खींचा है : 'मानव के कुटिल शत्रु (शैतान) ने पहाड़ों, मैदानों और खेतों में जो अनेक जाल फैला रखा है उनमें निकृष्टतम और अनिवार्य फंदा स्त्री है। दुःखांत तना, पाप का मूल, बुराइयों का निर्झर···। हमारे प्रथम पूर्वज को निषिद्ध फल खाने के लिये किसने प्रलोभित किया ? एक स्त्री ने। पिता को अपनी कन्या भ्रष्ट करने के लिये किसने विवश किया ? एक स्त्री ने[1]।'

(३) **संतुलित दृष्टिकोण**—उपर्युक्त कथन सर्वमान्य नहीं थे और स्वयं भारतीय साहित्य में उनका विरोध और स्त्रियों की प्रशंसा पाई जाती है। वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में ऐसे विचारों का घोर प्रतिवाद किया है : 'जो लोग वैराग्यमार्ग से स्त्रियों के गुणों को छोड़कर केवल उनके दोष का वर्णन करते हैं, मेरे विचार में वे दुर्जन हैं और उनके वाक्य सद्भावना से रहित हैं। सच कहो, स्त्रियों का वह कौन सा दोष है जिसको पुरुषों ने नहीं आचरित किया है ? धृष्टता के कारण पुरुषों से स्त्रियाँ निरस्त हुई हैं।' मनु ने कहा है कि 'स्त्रियाँ पुरुषों से गुण में अधिक हैं। चाहे वह जाया (पत्नी) हो या माता, पुरुषों का संभव (जन्म) स्त्रीकृत है। उनकी निंदा करनेवाले हे कृतघ्नो, तुम्हें कहाँ सुख मिलेगा ? अनवद्य स्त्रियों की निंदा असाधुओं की धृष्टता है; वह ऐसा ही है जैसे चोरी करते हुए चोर कहे 'रुको, चोर !' पुरुष एकांत में स्त्रियों की चाटुकारिता करते हैं, किंतु पीछे नहीं। परंतु स्त्रियाँ कृतज्ञतावश पुरुषों के मरने पर भी उनके शव को लेकर अग्नि में प्रवेश करती हैं[2]।' मनुस्मृति में जहाँ एक ओर घोर नियंत्रण का भाव है वहाँ दूसरी ओर आदर और प्रशंसा भी है : 'जहाँ स्त्रियों का

[1] देखिए—जे० एल० डेवीज : ए शार्ट हिस्ट्री आफ् विमेन, अ० ४।

[2] बृ० सं०, ७४. ५, ६, ११, १५, १६।

आदर होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। जिन कुलों में स्त्रियाँ शोक करती हैं वे तुरंत नष्ट हो जाते हैं; जहाँ वे शोक नहीं करतीं वे समृद्धि को प्राप्त होते हैं[१]।' महाभारत में भी स्त्रियों की भूरि भूरि प्रशंसा पाई जाती है : 'स्त्री लक्ष्मीरूपा है। कल्याण की इच्छा रखनेवालों को सदा उनका सत्कार करना चाहिए। लालित और अनुगृहीत स्त्री ही लक्ष्मी होती है।...स्त्री साध्वी, महाभागा, आदरणीया और लोकमाता है। वह सवनकानना समग्र पृथ्वी को धारण करती है[२]।' 'पृथ्वी में जितने भी तीर्थ हैं वे सब सती स्त्री के चरणों में हैं[३]।' यहाँ तक कि संन्यासमार्गी योगवासिष्ठ में भी स्त्रियों के संबंध में संतुलित प्रशंसा के वाक्य मिलते हैं : 'पतियों की स्नेहशालिनी कुलललनाएँ सखा, भ्राता, सुहृद्, भृत्य, गुरु, मित्र, धन, सुख सभी कुछ हैं। पति के लिये कुलांगना शास्त्रों का आयतन, दास तथा सर्वस्व है। वह सर्वदा तथा सभी प्रकार से पूजनीया है। उसमें दोनों लोकों का संपूर्ण सुख प्रतिष्ठित है[४]।'

भारतीय साहित्य में स्त्रियों के संबंध में अतिरंजित प्रशंसा और घोर निंदा के वाक्य सौंदर्यप्रेमी कवियों और संसार से विरक्त अवधूतों के वचन के रूप में पाए जाते हैं। ये दोनों ही ऐकांतिक मार्ग थे। परंतु संतुलित भारतीय दृष्टिकोण समन्वयवादी था। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—पुरुषार्थचतुष्टय—जीवन का चरम उद्देश्य था। काम के अंतर्गत स्त्री-पुरुष का परस्पर सामाजिक तथा कामुक संबंध जीवन के मध्य में था। इसको स्वीकार कर उसे परिष्कृत और उन्नत करने का प्रयत्न सदा भारतीय विचारकों द्वारा किया गया है। इस स्थान पर स्त्री सदा पूज्या रही है। कन्या, पत्नी तथा माता के रूप में सदा उसकी प्रशंसा हुई है। उसकी निंदा शुद्ध यौन संबंध और प्रलोभन के रूप में ही हुई है। क्योंकि प्रकृति ने उसे पुरुष से अधिक सुंदर बनाया है अतः प्रलोभन में उसका दायित्व अधिक माना गया है।

१ मनु०, ३. ५७।
२ म० भा०, १३. ८१. १५; १३. ७८. २३।
३ पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि। महावैवर्त०, ८३, १११।
४ योगवासिष्ठ, अ० ६, १०९, २६–२६।

द्वितीय खंड

साहित्यिक आधार तथा परंपरा

लेखक

डा० भोलाशंकर व्यास

प्रथम अध्याय

संस्कृत

१. वैदिक साहित्य का उदय

भारतवर्ष की साहित्यिक संपदा कम से कम छः हजार वर्षों की वह अखंड परंपरा है जिसे पाकर भारत किसी भी देश की साहित्यिक समृद्धि से होड़ ले सकता है। विश्व में इतनी अखंड प्रवहमान साहित्यिक धारा कुछ ही देशों के पास है। सभ्यता के उषःकाल से लेकर आज तक भारत के अमर गायकों ने भारती की उपासना में जिन जिन राग-रागिनियों को छेड़ा वे भारतीय जनजीवन की नस नस में स्पंदित हैं। वैदिक काल के मंत्रद्रष्टा ऋषि से लेकर आज की जनभावनाओं के उद्गाताओं तक इस भावधारा का स्रोत बहता चला आया है।

भारतीय साहित्य का उषःकाल वैदिक युग में उन भावुकों के उद्गारों से आरंभ होता है जिनकी पैनी दृष्टि ने नीले आकाश के अवगुंठन से हल्के गुलाबी रंग की मुखशोभा को छिप-छिपकर प्रदर्शित करती हुई उषासुंदरी के लावण्य को सराहा, जिनकी सशक्त वाणी ने रसवती 'गायों' को गुफा में छिपानेवाले वृत्र को कठोरता से खंडित करते वज्रपाणि इंद्र के वज्र का निर्घोष व्यक्त किया, जिनकी मदभरी रसना ने 'सोम' की सरसता का अनुशीलन किया और जिनके ज्योतिर्मय नेत्रों ने रत्न के समान जाज्वल्यमान 'पुरोहित' अग्नि के प्रभाभास्वर हिरण्यपिंड का साश्चर्य अवलोकन किया। और आज भी वह ब्राह्म मुहूर्त भारतीय साहित्य के शंखनाद, भारतीय संस्कृति के वैतालिकों के जागरण-गान, और धी को प्रेरित करनेवाले सविता के 'भर्ग' की उपस्थापना करनेवाले ब्रह्मर्षियों की वेदध्वनि का प्रतीक है। इसी 'गोमुख' को हम भारत की भारती का आदिस्रोत कह सकते हैं।

वैदिक कालीन कवि ने प्रकृति की कोमल और रौद्र दोनों तरह की शक्तियों को कुतूहल और आश्चर्य से देखा। उसने इनमें दिव्यत्व का आरोप कर समय समय पर अपने योगक्षेम की कामना करते हुए इनका आवाहन किया, इनकी कृपा की प्रार्थना की। उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, इन दिव्य आत्माओं से संबद्ध हो गए और जहाँ कहीं उसकी इन भावनाओं का प्रसार होता वहाँ दिव्य आत्माएँ हाथ बँटाने जरूर आतीं। यदि इंद्र 'ग्रावाणों' से पीसे सोम को मस्ती के साथ पीने और आमोदप्रमोद में भाग लेने आता था तो वह शंबर को मारकर गुफा में छिपी आर्यों की गाएँ भी छुड़ाता था; वह वसिष्ठ के आवाहन पर दाशराज्ञ

युद्ध में आकर आर्यों की ओर से लड़ने को तैयार था। आर्यों के प्रत्येक कार्य में प्राकृतिक देव शक्तियाँ कंधे से कंधा भिड़ाकर सहयोग करती देखी जाती हैं। वरुण, इंद्र, सविता, उषा और अग्नि तो उनके खास साथी थे। इनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन, जिसमें वैदिक कवि के स्वानुभूत जीवन की जीवंत धारा और सौंदर्यभावना भी विद्यमान थी, संगीत के सहारे एकाएक वाणी के फलक पर चित्रित कर दिया गया। साहित्य और संगीत का प्रथम आविर्भाव हुआ। वैदिक कवि ने प्राकृतिक देव शक्तियों को अपने ही जीवन के चश्मे से देखा, यह स्वाभाविक भी था। उन्होंने देखा, नीले अंबर में प्रकट होती हुई चिरकुमारी उषा अपने अधखुले लावण्य को नर्तकी की तरह प्रदर्शित कर रही है[1]। उन्होंने यह भी देखा कि सूर्य उसके प्रणय की अभिलाषा लिए उसी तरह उसके पीछे दौड़ रहा है जैसे कोई नवयुवक किसी उन्मत्तयौवना का अनुगमन करता है[2], और भारतीय साहित्य में सबसे पहले भावना और कल्पना का निविड़ घनसंश्लिष्ट आवेग फूट पड़ा। मानव जीवन की प्रोज्वल कल्पना ने प्राकृतिक दर्शन को भी उपमा के रंगो में भरकर रंगीन बना दिया था।

वैदिक कवि की भावना धीरे धीरे बौद्धिक चिंतन को जन्म देने लगी। ऋग्वेद काल के अंतिम दिनों में ही वह जिज्ञासा भरी दृष्टि से 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' के द्वारा रहस्यमयी शक्ति की ओर संकेत करने लगा था। इसी बीज ने उपनिषदों के याज्ञवल्क्य, गार्गी, जनक, पिप्पलाद, दधीचि, और नचिकेता को जन्म दिया। उपनिषदों के चिंतन का अनेकशाख वटवृक्ष पल्लवित हुआ। संहिताकाल के बाद एक ओर यज्ञादि के विधान तथा आर्यजीवन की कथाओं के संग्रह ब्राह्मणों की रचना हुई, दूसरी ओर संसार के रहस्यात्मक कार्यकारणवाद को समझने के लिये उपनिषदों का दार्शनिक चिंतन चल पड़ा। इसके अनंतर आर्यों के समाज को व्यवस्थित रूप देने के लिये श्रौतसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों का प्रणयन हुआ और यज्ञादि के लिये शुल्वसूत्रों की रचना की गई। संस्कृत का परवर्ती साहित्य वैदिक कवि की भावना और औपनिषदिक चिंतकों की मेधा का दाय लेकर हमारे सामने आता है, पर इतना होते हुए भी प्रकृति में वह इस साहित्य से बिलकुल अलग जान पड़ता है, और है भी। यही कारण है कि भारत के परवर्ती साहित्य को जो परंपरा मिली है वह वैदिक साहित्यवाली नहीं है, वह साहित्यिक संस्कृत की काव्यपरंपरा है, और जो कुछ वैदिक परंपरा के छिटपुट चिह्न मिले हैं वे सब साहित्यिक संस्कृत के ही साँचे में ढलकर आए हुए हैं। भारतीय साहित्य की प्रौढ़ काव्यपरंपरा का आरंभ साहित्यिक संस्कृत के

[1] अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। ऋग्०, १.९२.४।

[2] सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्॥ ऋग्०।

साथ ही होता है, पर उसके लिये वैदिक साहित्य की संक्षिप्त पृष्ठभूमि दे देना आवश्यक होगा।

२. वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य के अंतर्गत चारों वेदों की संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांगों का समावेश होता है। 'वेद' शब्द का प्रयोग वैसे तो संहिता के मंत्रभाग के लिये माना जाता है, पर वैदिक विद्वानों ने 'वेद' शब्द के अंतर्गत ब्राह्मण भाग का भी ग्रहण किया है—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। वेदों की रचना मूलतः याज्ञिक अनुष्ठान के लिये की गई थी। इनमें भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा समय समय पर विरचित मंत्रों का संग्रह पाया जाता है। यज्ञादि क्रिया के समय चार ऋत्विज तत्तत् वेद का शंसन, हवन, उद्गीथ और पठन करते थे। होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के मंत्रों का विनियोग करते थे। इन्हीं याज्ञिक अनुष्ठानों का विधिविधान ब्राह्मण ग्रंथों में पाया जाता है। उपनिषदों में दार्शनिक तत्वचिंतन और वेदांगों में वैदिक साहित्य के अंग के रूप में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छंद का अध्ययन है।

३. संहिताएँ

(१) **ऋग्वेद**—संहिता भाग में चारों वेदों की संहिताएँ आती हैं। इनमें मुख्य ऋग्वेद संहिता है। ऋग्वेद के कई मंत्र यजुर्वेद में भी संगृहीत हैं, तथा सामवेद तो आमूलचूल ऋग्वेद के ही मंत्रों का उद्गीथ की दृष्टि से किया हुआ संग्रह है। अथर्ववेद का भी लगभग पंचमांश ऋग्वेद से लिया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद बाकी तीनों वेदों का आदिस्रोत कहा जा सकता है। ऋग्वेद का दो प्रकार से विभाग किया जा सकता है :

(अ) अष्टकक्रम का विभाग—इसके अनुसार समस्त ऋग्वेद आठ अष्टकों में विभक्त है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार समग्र ऋग्वेद में ६४ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय वर्गों में विभक्त है। ऋग्वेद में २०६ वर्ग हैं।

(आ) मंडलक्रम का विभाग—यह विभाग विशेष वैज्ञानिक है। इसके अनुसार ऋग्वेद को १० मंडलों में विभक्त किया गया है। इन मंडलों में कुल मिलाकर १०१७ सूक्त हैं जिनमें यदि ११ बालखिल्य सूक्तों को (जो बाद के परिशिष्ट माने जाते हैं) भी मिला दिया जाय तो संख्या १०२८ हो जायगी। मंडलक्रम के अनुसार द्वितीय से लेकर सप्तम तक के मंडल गोत्रमंडल (या वंशमंडल) कहलाते हैं। इनमें प्रत्येक मंडल के रचयिता एक ही गोत्र के

ऋषि रहे हैं, जैसे द्वितीय से सप्तम तक के मंडल के ऋषि क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वसिष्ठ हैं। अष्टम मंडल में कण्व तथा अंगिरा इन दो गोत्रों के ऋषियों की रचनाएँ हैं। नवम मंडल में कई ऋषियों की रचनाएँ हैं, पर इस मंडल के मंत्रों का संग्रह प्रतिपाद्य विषय तथा मंत्र के देवता के आधार पर किया गया है। नवम मंडल के सभी सूक्तों के देवता सोम पवमान है। अतः नवम मंडल को हम 'सोम मंडल' भी कह सकते हैं। अब प्रथम तथा दशम मंडल बचते हैं। इन दोनों मंडलों के विषय में विद्वानो का यह मत है कि इनकी रचना बाकी मंडलों से बहुत बाद की है। वैसे इनमें भी कुछ ऐसे सूक्त हैं, जो पुराने माने जाते हैं। विशेषकर प्रथम मंडल का लगभग आधा भाग प्राचीनतम है। दशम मंडल निःसंदेह भाषा, छंद, दार्शनिक चिंतन आदि की दृष्टि से बहुत बाद का माना जाता है। ऋग्वेद की कई शाखाएँ सुनी जाती हैं जिनकी संख्या २१ मानी जाती है। संभव है, इनमें से कई शाखाओं की अपनी अपनी संहिताएँ रही हों। बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन तथा मांडूकायन की संहिताओं का अनुमान किया जाता है। किंतु इस समय ऋग्वेद की केवल शाकल शाखा की ही संहिता उपलब्ध है जो ऋग्वेदसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है।

जैसा कि स्पष्ट है, ऋग्वेद में देवताओं के स्तोत्रों का संग्रह है। इन स्तोत्रों में अनेक ऋषियों ने अपने भावों की सुंदर अभिव्यंजना की है। ऋग्वेद में जिन देवताओं की स्तुति मिलती है उनमें प्रमुख अग्नि, इंद्र तथा वरुण हैं। अन्य देवताओं में उषा, सविता, पूषा, मित्र, विष्णु, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य तथा सोम पवमान के सूक्त भी अधिक हैं। कुछ सूक्तों में एक साथ दो दो देवताओं की स्तुति पाई जाती है, जैसे इंद्राग्नी, मित्रावरुणौ, नासत्यौ, द्यावापृथिवी देवताद्वंद्वों की। देवस्तुतियों के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ अन्य प्रकार के सूक्त भी मिलते हैं। कुछ सूक्त ऐसे हैं जिनमें दानस्तुतियाँ हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ये दानस्तुतियाँ किसी ऐतिहासिक राजा के दान से संतुष्ट ऋषि की रचनाएँ हैं, किंतु पं० बलदेव उपाध्याय इन्हें किसी व्यक्तिविशेष की स्तुतियाँ नहीं मानते[१]। श्री उपाध्याय ने यह भी बताया है कि ये दानस्तुतियाँ वस्तुतः दानस्तुतियाँ नहीं हैं, इसका केवल आभास मात्र है। दानसूक्तों के अतिरिक्त संवादसूक्तों तथा दार्शनिक सूक्तों का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। संवादसूक्तों में तीन सूक्त विशेष महत्वपूर्ण हैं—(१) पुरूरवा-उर्वशी सूक्त (ऋ० १०. ९५), (२) यमयमी सूक्त (१०. १०) तथा (३) सरमापणि सूक्त (१०. १३०)। पाश्चात्य विद्वानों में इन संवादसूक्तों के विषय में अनेक मत पाए जाते हैं। डा० लेवी, श्रोदर तथा हर्तेल

१ बलदेव उपाध्याय : वै० सा०, पृ० ११२।

के मतानुसार ये सूक्त वस्तुतः नाटक के अंश हैं जिनका अभिनय यज्ञादि क्रिया के समय होता था। डा० ओल्डेनबर्ग ने इन्हें प्राचीन आख्यानों का अवशिष्ट अंश माना है तथा प्रो० विंतरनित्स इन्हें प्राचीन लोकगीत काव्य का रूप मानते हैं। दार्शनिक सूक्त ऋग्वेद के दशम मंडल में ही पाए जाते हैं। इनमें नासदीयसूक्त (१०।१२६), पुरुषसूक्त (१०।६०), हिरण्यगर्भसूक्त (१०।१२१) तथा वाक्सूक्त (१०।१४५) की गणना होती है। पुराना भावुक वैदिक ऋषि अब चिंतनशील बनने लगा था और इन सूक्तों में दार्शनिक गंभीरता का आभास मिलता है। नासदीयसूक्त में वैदिक ऋषि ने सृष्टि के विकास की दार्शनिक मीमांसा की है। इन सूक्तो के अतिरिक्त कुछ सूक्त ऐसे भी हैं, जो शव संस्कार से संबंध रखते हैं। दशम मंडल के एक सूक्त (१०।३४) में किसी जुआरी के विषाद की व्यंजना है, जहाँ जुआरी द्यूत की निंदा करता है।

(२) **यजुर्वेद**—यजुर्वेद में 'आध्वर्यव' कर्म के लिये प्रयुक्त याजुषों का संग्रह है। ऋचा तथा यजुष् का भेद करते हुए वैदिक आचार्यों ने यह बताया है कि यजुष् गद्यमय मंत्र होते हैं (गद्यात्मको यजुः)। यजुर्वेद को दो संप्रदायों के आधार पर कृष्ण तथा शुक्ल इन दो वर्गों में बाँटा जाता है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्शपौर्णमासादि याग के मंत्रो का संग्रह है। कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रों के साथ ही उनके विनियोग का संकेत करनेवाले ब्राह्मणों का भी समावेश है। कृष्ण यजुर्वेद की प्रधान शाखा तैत्तिरीय है तथा शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिनी। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ तथा कपिष्ठल-कठ इन चार संहिताओं का पता चलता है। इनमें से तैत्तिरीय संहिता का ही विशेष प्रचार है। शुक्ल यजुर्वेद की दो संहिताएँ उपलब्ध हैं—वाजसनेय संहिता तथा काण्व संहिता। इन समस्त संहिताओं में उत्तर भारत में शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का ही विशेष प्रचार है। वाजसनेयी संहिता में ४० अध्याय हैं। इनमें आरंभिक चार अध्यायों में क्रमशः दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यागों से संबद्ध मंत्रों का संग्रह है। इसके बाद के चार अध्यायों में सोमयाग का प्रकरण है। नवम तथा दशम अध्यायों में 'वाजपेय' तथा 'राजसूय' यज्ञों का प्रकरण है। ११ से १८ तक के अध्यायों में यज्ञ के लिये 'अग्निचयन' का विस्तार से वर्णन है। बाद के तीन अध्यायों में सौत्रामणी यज्ञ का विधान है। अध्याय २० से अध्याय २५ तक अश्वमेध याग का प्रकरण है। २६ से २६ तक के चार अध्याय खिल मंत्र कहलाते हैं, जो बाद के परिशेष माने जाते हैं। ३० वें अध्याय में 'पुरुषमेध' का प्रकरण है, जहाँ पुरुष के प्रतीक रूप में १६४ पदार्थों के आलंभन (मेध) का वर्णन है। ३१वाँ अध्याय ऋग्वेद का पुरुषसूक्त ही है जिसमें ६ मंत्र अधिक पाए जाते हैं। ३२-३३ अध्याय में 'सर्वमेध' के मंत्र हैं। ३४वें अध्याय में आरंभ के छह मंत्रों में शिवसंकल्पसूक्त है। ३५वें अध्याय में पितृमेध संबंधी मंत्रों का संग्रह है तथा ३६ से ३८ तक के तीन अध्यायों में प्रवर्ग्ययाग

का प्रकरण है। यजुर्वेद के अंतिम अध्याय में ईशावास्य उपनिषद् है। यह उपनिषद् समस्त उपनिषदों में प्राचीनतम माना जाता है, क्योंकि अकेला यही उपनिषद् संहिता का अंश है।

(३) **सामवेद**—सामवेद का प्रयोग यज्ञादि के समय उद्गाता के द्वारा उद्गीथ के लिये किया जाता है। साम का आधार ऋग्वेद की ऋचाएँ ही हैं, तथा सामवेद संहिता में उपलब्ध १८७५ ऋचाओं में १७७१ ऋचाएँ ऋग्वेद से ही संकलित हैं, बाकी १०५ ऋचाएँ नवीन हैं, इनमें भी ५ ऋचाएँ पुनरुक्त हैं। अतः सामसंहिता में केवल ९९ ऋचाएँ नई हैं। सामवेद की अनेक शाखाएँ मानी जाती हैं। पुराने विद्वानों ने इसकी हजार शाखाएँ मानी हैं। पर मोटे तौर पर साम के १३ आचार्यों के नाम मिलते हैं, और इनमें भी केवल तीन आचार्यों की शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) कौथुमीय, (२) राणायनीय तथा (३) जैमिनीय। इन तीनों शाखाओं की संहिताएँ अलग अलग हैं। इनमें कौथुमीय संहिता का विशेष प्रचार है।

(४) **अथर्ववेद**—अथर्ववेद की गणना कई पुराने विद्वान् वेदों में नहीं करते थे, तभी तो वेदों की संख्या तीन (वेदत्रयी) मानी जाती थी। इसका कारण यह था कि ऋग्वेदादि से आमुष्मिक फल की प्राप्ति मानी जाती थी, जबकि अथर्ववेद से ऐहिक फलप्राप्ति होती थी। अथर्ववेद में भी ऋग्वेद का संग्रह है तथा उसका लगभग पंचमाश ऋग्वेद से गृहीत है, शेष के अधिकांश मंत्रों में 'सफेद जादू' तथा 'काले जादू' वाले मंत्र हैं। सर्पों के विष का अपहरण करनेवाली मणिमंत्रोषधियों का वर्णन, यातुधान, उलूक, पिशाच, डाकिनी आदि के अरिष्ट का निवारण करने के मंत्र, क्लेशदायी रोगों, शिरःशूल, क्षयरोग आदि का निवारण करनेवाले मंत्रों आदि का संग्रह इसमें है। इसके साथ ही शत्रुओं के मारण, उच्चाटन आदि के भी मंत्र इसमें पाए जाते हैं। युद्ध में जानेवाले सैनिकों का अभिमंत्रण करते हुए पुरोहित उनको 'मणि' बाँधकर कहता था :

'तेरी दीर्घ आयु के लिये, तेरे बल के लिये मैं मणि बाँधता हूँ, शत्रुओं को स्तब्ध करनेवाला, शत्रुओं के हृदय को तपानेवाला दर्भ बाँधता हूँ।'

'हे दर्भ, हे मणि, शत्रुओं के हृदय को फोड़ देना। तुम उनकी खाल को अलग कर देना, उनका सिर भूमि पर गिरा देना।' अथर्व० १३.११.१, ४।

अथर्ववेद के पुरोहित मंत्रादि से रोगियों के रोगों का उपचार भी करते देखे जाते हैं—

'सिर की जलन, सिर का रोग और तीसरे कर्णशूल, मैं तेरे सारे शिरःशूल को बाहर अभिमंत्रित कर रहा हूँ।' १६.७४.१।

'हम तेरे पेट से, आँतों से, नाभि से, हृदय से, आत्मा से, इस यक्ष्मा को बाहर निकाल रहे हैं।' १६.६५.२।

४. वेदों का साहित्यिक मूल्यांकन

(१) रस—आर्यों का पुरातन इतिहास जानने के लिये ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की संहिताओं का अत्यधिक महत्व है। आर्यों की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थिति का वर्णन इन संहिताओं में उपलब्ध होता है। जहाँ तक संहिताओं के साहित्यिक मूल्य का प्रश्न है, चाहे साहित्यिक संस्कृतवाली अलंकृत शैली यहाँ न मिले, पर साहित्य का अनाविल रूप यहाँ निःसंदेह देखा जा सकता है। कई ऐसे सूक्त हैं जिनमें वीर, रौद्र या करुण रसों की अभिव्यंजना पाई जाती है। दाशराज्ञ सूक्त में वसिष्ठ ने दिवोदास तथा दाशराज्ञों के युद्ध का सुंदर वर्णन उपस्थित किया है। इंद्र की स्तुतियों में यत्र तत्र इंद्र की वीरता की गाथा गाई गई है :

त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथा रन्धयो तिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सना देव दस्युहत्याय जज्ञिषे ॥
१.५१.६।

'हे इंद्र, तुमने ही शुष्ण (दैत्य) के युद्धों से कुत्स की रक्षा की, तुमने शंबर (दैत्य) को मारा, तुमने बड़े अर्बुद (दैत्य) को इसलिये पैर से मसल दिया कि तुम अतिथि (संभवतः किसी दल का नाम) के साथियों की रक्षा करो, तुम हमारे शत्रुओं (दस्युओं) को बड़े बलपूर्वक मार रहे हो।'

बंधन से छुड़ाने के लिये गृत्समद द्वारा की गई इंद्र की स्तुति में इंद्र की वीरता का संकेत किया गया है। इंद्र वीरता का प्रतीक है। उसकी कृपा के बिना कोई भी योद्धा विजय नहीं प्राप्त कर सकता। योद्धा लोग युद्धभूमि के लिये उसका आवाहन करते हैं। वह इस समस्त विश्व में श्रेष्ठतम है। वह अच्युतों को भी च्युत करनेवाला है :

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥
२.१.९।

ऋग्वेद में कई स्थलों पर श्रृंगार रस की व्यंजना पाई जाती है। पुरूरवा तथा उर्वशीवाला सूक्त (१०।९५) उदाहरण के लिये उपस्थित किया जा सकता है। इस सूक्त में पुरूरवा की उक्तियों में उसकी उर्वशी के विरह से क्लांत दशा का मार्मिक चित्र मिलता है, जहाँ विप्रलंभ श्रृंगार की व्यंजना पाई जाती है। उर्वशी से प्रणययाचना करता हुआ पुरूरवा उससे अपनी विरहदशा का वर्णन कर रहा है :

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥
१०.९५.३।

'हे उर्वशी, तेरे विरह के कारण मेरा बाण तरकश से फेंके जाने में असमर्थ होकर विजयश्री की प्राप्ति में योग नहीं देता। इसीलिये मैं वेगवान् होकर शत्रुओं की गायों का उपभोक्ता नहीं बन पाता। मेरी शक्ति राजकर्म में भी प्रवृत्त नहीं होती। मेरे योद्धा भी विस्तीर्ण संग्राम में मेरे सिंहनाद को नहीं सुन पाते।'

इतना ही नहीं, पुरूरवा को उर्वशी से प्रेम करनेवाले अन्य व्यक्तियों से ईर्ष्या होती है। जिस सौभाग्य से वह स्वयं वंचित है, उसका उपभोग करनेवाला अन्य व्यक्ति नष्ट क्यों नहीं हो जाता? शृंगार रस के संचारी भाव के रूप में 'ईर्ष्या' का अंकन पुरूरवा की निम्नांकित उक्ति में देखा जा सकता है:

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥
१०.९५.१४।

'हे उर्वशी, तेरे साथ क्रीड़ा करनेवाला आज ही गिर पडे (मर जाय), वह न लौटने के लिये दूर से दूर देश को चला जाय। अथवा निर्ऋति (पृथ्वी या पाप के देवता) की गोद में सो जाय, अथवा इसे वेगवान वृक खा जायँ।'

शृंगार रस के आभास की व्यंजना हमें यम-यमी-सूक्त में मिलती है, जहाँ यमी अपने भाई यम के प्रति प्रणय प्रकाशित कर उसे संभोगार्थ आमंत्रित करती हुई कहती है:

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने ये नौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्‌गृहेव रथ्येव चक्रा॥
१०.१०.७।

'हे यम, तेरी अभिलाषा मुझे एक स्थान में एक साथ शयन के लिये प्राप्त हो। पति के लिये पत्नी के समान मैं तुझे अपनी देह अर्पित कर दूँ। हम दोनो रथ के दो चक्रों की तरह गृहस्थी के भार को सँभालें।'

वैदिक कवि ने प्रकृति के सौंदर्य को शृंगारी परिवेश में चित्रित किया है। उषा से संबद्ध कई सूक्तों में वैदिक ऋषि ने उसे उस परम सुंदरी के रूप में देखा है, जो भावुक युवकों के मन को आकृष्ट करती है। प्रातःकाल पूर्व दिशा में उदित होती उषा ऋग्वेद के एक कवि को सद्यःस्नाता नायिका सी दिखाई देती है और उसकी वाणी इस रूप में मुखरित हो उठती है:

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥
५.८०.५।

'यह शुभ्रवर्णा उषा अलंकृत युवती की तरह अपने अंगों को प्रकट करती,

जैसे स्नान से उठती हुई, हम सबके दर्शनार्थ (पूर्व दिशा में) उदित हो रही है। यह द्यौः की पुत्री उषा दुष्ट अंधकार को बाधित करती तेज के साथ आ रही है।'

(२) **अलंकार**—उषा की स्तुतिवाले सूक्तों में एक ओर उसके चिर कौमार्य का सुंदर वर्णन किया गया है, दूसरी ओर शृंगार रस की सरस अभिव्यंजना मिलती है। वैदिक ऋषि को उषा के लावण्य में रमणी के सौंदर्य की झलक दिखाई पड़ती है, और उसके पीछे आता हुआ सूर्य उसे युवती का पीछा करता हुआ कामुक पुरुष दिखाई देता है :

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।

यहाँ कवि ने उपमा अलंकार का सुंदर संनिवेश किया है। वेदों में उपमा का सुंदर प्रयोग कई स्थलों पर मिलता है। साहित्यिक संस्कृत के कवियों की तरह यहाँ जबर्दस्ती ठूसा हुआ अलंकारविधान नहीं है। वेदों की शैली इतनी स्वाभाविक है कि उसमें भावना तथा कल्पना एक दूसरे में संश्लिष्ट होकर आती हैं। कवि की भावना स्वतः कहीं कहीं अलंकृत रूप में व्यक्त हो उठती है।

उपमा ऋग्वेदीय (आर्च) कवि का इतना प्यारा अलंकार है कि कहीं तो उसकी लड़ी पर लड़ी विन्यस्त दिखाई पड़ती है। निम्नोक्त ऋचा में एक साथ चार उपमाएँ हैं :

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥
१.१२४.७।

वैदिक कवि ने उपमान का चयन अपने ही आसपास के जीवन से किया है। ऊपरवाली उपमा मानव जीवन का ही एक पक्ष है। पशुचारणवाले जीवन से चुनी हुई एक सुंदर उपमा निम्नोक्त ऋचा में देखी जा सकती है, जिसके उत्तरार्धवाली उपमा वैदिक ऋषि ने अपने युद्धव्यस्त जीवन से ली है।

अभि त्वा सिंधो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित् सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि॥
१०.७५.४।

'हे सिंधो, जैसे दूध की धार छोड़ती हुई गाएँ रँभाती हुई बछड़ों के पास जाती हैं, वैसे ही ये नदियाँ तुम्हारे प्रति दौड़ रही हैं। जिस प्रकार योद्धा राजा अपनी सेना लेकर युद्धभूमि की ओर बढ़ता है, वैसे ही तुम भी इन नदियों को लेकर आगे बढ़ती हो।'

प्रो॰ दिवेकर ने वैदिक ऋचाओं से दो रूपक अलंकार के उदाहरण दिए हैं—'विद्युद्रथाः' (३.५४.१३) तथा 'वृक्षकेशाः' (५.४१.११)। पर इस विषय

में संदेह है कि यहाँ उपमित समास है या मयूरव्यंसकादि। ऐसा जान पड़ता है, ये उपमा के ही स्थल हैं। ऋग्वेद से अतिशयोक्ति अलंकार का यह प्रसिद्ध उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ 'शब्द' का वर्णन करते समय उसे एक 'महान् वृषभ' के द्वारा अध्यवसित कर दिया गया है :

> चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥
> ४.५८.३।

इस महान् वृषभ के चार सींग (नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात) हैं, तीन पैर (भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्), दो सिर। इसके सात हाथ (सात विभक्तियाँ) हैं तथा यह तीन ओर (तीन वचनों) से बँधा है। यह महान् वृषभ (शब्द) रव कर रहा तथा मनुष्यों में प्रविष्ट हो रहा है।

दूसरा उदाहरण उपनिषद् का है :

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचकाशीति॥
> मुण्डक०, ३.१.१।

यहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा रूप 'विषय' का पक्षिद्वय रूप 'विषयी' ने निगरण कर लिया है। इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति का एक अन्य उदाहरण निम्नोक्त है जिसमें वाणी की महत्ता बतलाते हुए भी वैदिक कवि ने शृंगारी उपमा का अलंकृत परिवेश अपनाया है। इसमें विरोध या विरोधाभास अलंकार का भी चमत्कार है :

> उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
> १०.७१.४।

'सामान्य व्यक्ति वाणी को देखते हुए भी नहीं देख पाता, सुनते हुए भी नहीं सुन पाता। किंतु विद्वान् व्यक्ति के समक्ष वाणी अपने कलेवर को ठीक उसी तरह प्रकट कर देती है जैसे सुंदर वस्त्रवाली कामिनी प्रिय के हाथों अपने आपको सौंप देती है।'

इनके अतिरिक्त वैदिक ऋचाओं से अन्य अलंकारों के भी कुछ निदर्शन मिले हैं। 'द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परियामृतस्य' (ऋग्०, १.१६४.११) में इस द्वादशार ऋत चक्र को अन्य लौकिक चक्र से विलक्षण बताया गया है, अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है। इसी तरह 'पितेव पुत्रं अभिभरुपस्थे त्वामग्ने वर्धयश्वः सपर्यन्' (१०.६९.१०) में 'उपस्थ' शब्द के दो अर्थ हैं—'वेदी' तथा 'गोदी', अतः यहाँ 'श्लेष' अलंकार है।

वैदिक साहित्य में इसी प्रकार का स्वाभाविक अलंकारप्रयोग मिलता है। यजुर्वेद के शिव-संकल्प-सूक्त में वैदिक ऋषि ने उपास्य देव से अपने मन को कल्याण की ओर अग्रसर करने की प्रार्थना करते समय, उसे सारथि की उपमा दी थी, जो रश्मियों को पकड़कर घोड़ों को ठीक मार्ग पर ले जाता है :

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते भीषुमिर्वाजिनइव ॥
यजुर्वे० ३४।

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर 'महिषी' (६.५.३.१) का श्लिष्ट प्रयोग संकेतित किया जा सकता है जिसके 'पट्टराज्ञी' तथा 'भैंस' दोनों अर्थ होते हैं।

उपनिषदों से भी कुछ अर्थालंकारों के उदाहरण दिए जा सकते हैं; जैसे, निम्नलिखित मंत्रों में रूपक अलंकार पाया जाता है :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
कठोप० १.३.३।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्यु सुपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋग्वेद में प्रायः साधर्म्य (औपम्य) को लेकर चलनेवाले अलंकार ही मिलते हैं, जिनका स्वाभाविक संनिवेश हो गया है। साम्यमूलक अर्थालंकारों में भी वेदों में प्रमुखतः उपमा का ही प्रयोग मिलता है, यद्यपि विद्वानों ने रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, श्लेष आदि के भी कुछ छिटपुट उदाहरण ढूँढ़ निकाले हैं। ऋग्वेद में अलंकारों की इस गवेषणा को अत्यधिक महत्व देने का कुछ विद्वानों ने खंडन भी किया[1] है। इनका कहना है कि वैदिक साहित्य में अलंकारों के प्रयोग पर अत्यधिक जोर देना अनावश्यक जान पड़ता है। काणे[2], भट्टाचार्य तथा दिवेकर ने वैदिक साहित्य में अलंकार प्रयोग के सुंदर निदर्शन दिए हैं। प्रो० दिवेकर[3] ने तो अपने गवेषणात्मक प्रबंध के द्वितीय परिच्छेद में इस विषय की विशद एवं सुंदर विवेचना की है।

(३) छंद—वैदिक संहिताओं में अधिकांश भाग छंदोबद्ध हैं। केवल कृष्ण यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के कुछ अंश में गद्य का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद के मंत्र, जो छंदोबद्ध हैं, ऋचाएँ कहलाते हैं। वैदिक संहिताओं के सभी छंद वर्णिक हैं, पर एक दृष्टि से लौकिक संस्कृत छंदों से इनमें भेद पाया जाता है। लौकिक संस्कृत

[1] देखिए—डे० हि० सं० पो०, भा० १, पृ० ३४१।

[2] देखिए—काणे : हि० सं० पो०, १९५१ ई०, पृ० ३१४–१५।

[3] देखिए—एच० आर० दिवेकर : ले फ्ल्योर द रेतोरीक द लांद १९३० ई०, अध्याय २।

छंदों में प्रायः सभी छंद चतुष्पात् होते हैं, जब कि वैदिक छंदों में कई छंद त्रिपात् तथा पंचपात् भी पाए जाते हैं। उदाहरण के लिये गायत्री, उष्णिक्, पुरउष्णिक् तथा ककुप् छंद त्रिपात् होते हैं, जबकि पंक्ति छंद पंचपात् होता है। बाकी छंद चतुष्पात् होते हैं। शौनक के ऋक् प्रातिशाख्य के १६वें, १७वें तथा १८वें पटल में वैदिक छंदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। आरंभ में वैदिक छंदों को सात प्रकार का माना गया है—गायत्री (त्रिपात् छंद, प्रत्येक चरण ८ वर्ण), उष्णिक् (त्रिपात्, प्रथम-द्वितीय चरण ८ वर्ण, तृतीय १२ वर्ण), अनुष्टुप् (चतुष्पात् छंद, प्रत्येक चरण ८ वर्ण), बृहती (चतुष्पात् छंद, तृतीय चरण १२ वर्ण, अन्य में ८ वर्ण), पंक्ति (पंचपात् छंद, प्रत्येक चरण में ८ वर्ण), त्रिष्टुप् (चतुष्पात् छंद, प्रत्येक चरण में ११ वर्ण) तथा जगती (चतुष्पात् छंद, प्रत्येक चरण में १२ वर्ण[1])। इन्हीं में उष्णिक् के अवांतर भेद पुरउष्णिक् तथा ककुप्, बृहती का अवातर भेद सतोबृहती तथा पंक्ति का अवातर भेद प्रस्तारपंक्ति माना जाता है। इनको लेकर वैदिक छंद कुल मिलाकर ११ होते हैं। कभी कभी एक छंद के साथ दूसरे छंदो की रचना मिलाकर छंदःसांकर्य भी पाया जाता है। इस छंदःसांकर्य को प्रगाथ कहते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में इस छंदोमिश्रण का विवरण है। लौकिक संस्कृत के कुछ छंद वैदिक छंदों से विकसित माने जा सकते हैं; जैसे वैदिक अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् तथा जगती का विकास लौकिक संस्कृत के क्रमशः अनुष्टुप्, इंद्रवज्रा एव उपजाति वर्ग तथा वंशस्थ इंद्रवंशा वर्ग के रूप में हुआ है। इतना होते हुए भी वर्ण तथा गणों का जो रूढ़ नियम हमें लौकिक संस्कृत के छंदों में मिलता है, वह वैदिक छंदों में नहीं मिलता। वैदिक छंद अक्षर गणना पर ही नियत रहते हैं, उनमें गणो या अक्षरों के गुरु लघु होने का कोई विशेष नियम नहीं होता। कभी कभी तो वैदिक छंदो में ऐसे भी छंद मिलते हैं, जिनमें एक वर्ण न्यून या अधिक पाया जाता है। उदाहरण के लिये गायत्री छंद में ८ × ३=२४ वर्ण होते हैं, किंतु किसी किसी गायत्री में एक चरण में केवल ७ ही वर्ण मिलते हैं, और इस प्रकार कुल २३ वर्ण होते हैं। इसी प्रकार कभी कभी किसी एक चरण में ९ वर्ण होते हैं, और पूरे छंद में २५ वर्ण। इस प्रकार न्यून या अधिक वर्णवाले छंद क्रमशः 'निचृत्' या 'भुरिक्' कहलाते हैं। २३ वर्ण की गायत्री निचृत् गायत्री है, २५ वर्ण की गायत्री भुरिक् गायत्री। कभी ये अक्षर दो भी हो सकते हैं। दो अक्षर न्यूनवाली (२२ वर्ण) गायत्री 'विराट् गायत्री' कहलाती है, दो अक्षर अधिकवाली (२६ वर्ण की) गायत्री 'स्वराट् गायत्री'। ऋग्वेद में सबसे अधिक ऋचाएँ त्रिष्टुप् तथा गायत्री छंद

[1] गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती च प्रजापतेः।
पंक्तिस्त्रिष्टुभ् जगती च सप्तच्छन्दांसि तानि ह॥ शौ : ऋ० प्रा० १६. १।

में निबद्ध है। त्रिष्टुप् छंद में ऋग्वेद की लगभग दो पंचमांश ऋचाएँ पाई जाती हैं। इसके बाद ऋग्वेद का लगभग एक चौथाई भाग गायत्री छंद में निबद्ध है। ऋग्वेद का तीसरा अधिक प्रचलित छंद जगती है। उपर्युक्त छंदों के अतिरिक्त कुछ अन्य अप्रसिद्ध छंद भी वेद में मिलते हैं जो १२ से अधिक वर्णवाले हैं। इनका प्रयोग ऋग्वेद में बहुत कम हुआ है। इनमें प्रमुख अतिजगती (१३ वर्ण का चतुष्पात् छंद), शक्वरी (१४ वर्ण का चतुष्पात् छंद), अतिशक्वरी (१५ वर्ण का चतुष्पात् छंद), अष्टि (१६ वर्ण का चतुष्पात् छंद), तथा अत्यष्टि (१७ वर्ण का चतुष्पात् छंद) हैं।

५. ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्

वैदिक साहित्य में संहिताभाग के अतिरिक्त ब्राह्मणों का समावेश होता है जिनके परिशिष्ट रूप में आरण्यक तथा उपनिषद् हैं। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग उस वैदिक साहित्य के लिये किया जाता है जिसमें वैदिक मंत्रों, यज्ञसंबंधी कर्मों तथा मंत्रों के यज्ञसंबंधी विनियोग की व्याख्या होती है[1]। ये गद्य में लिखे गए हैं तथा इनका मूल उद्देश्य वेदों की कर्मकांडीय मीमांसा करना है। किसी विशेष भाग के प्रकरण में किस प्रकार अग्नि प्रज्वलित करना चाहिए, वेदी किस आकार की बनानी चाहिए, दर्शपौर्णमासादि याग करनेवाला दीक्षित व्यक्ति किस प्रकार आचरण करे, अध्वर्यु, होता, उद्गाता या ब्रह्मा को किस ढंग से किस दिशा की ओर मुँह करके बैठना चाहिए, किस समय हाथ में कुशा ग्रहण करनी चाहिए, इन सारी कर्मकांडीय पद्धति का विधान ब्राह्मण में होता है। यद्यपि ब्राह्मणों का उद्देश्य मंत्रों की व्याख्या एवं यागकर्म का विनियोग प्रतिपादित करना ही है, किंतु उसी व्याख्या के बीच ब्राह्मणों में कई ऐतिहासिक एवं लौकिक आख्यानों का सुंदर समावेश हुआ है। इस दृष्टि से ब्राह्मण आगे आनेवाले इतिहास-पुराणों के प्रेरक हैं। इन आख्यानों में सृष्टि के विकासक्रम, आर्यों के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन एवं आर्यों तथा आर्येतर जातियों के संघर्ष की कहानी मिलती है। जलप्लावन की कथा, जो शतपथ ब्राह्मण के पहले काड के आठवें अध्याय के प्रथम प्रपाठक में है, सृष्टि के विकासक्रम के संबंध में प्रसिद्ध जलप्लावन की घटना का संकेत करती है। इसी प्रकार पुरूरवा तथा उर्वशी का आख्यान (श० ब्रा० ११.५.१), शुनःशेप का आख्यान (ऐतरेय० ७.२), तथा देवासुरसंग्राम की कथा (श० ब्रा० २.१.६.८, ऐ० ब्रा० १.४.२३,

[1] नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते ॥ वाचस्पति मिश्र, पं० बलदेव उपाध्याय द्वारा वै० सा०, पृ० १७४ पर उद्धृत।

६.२.१) का निर्देश किया जा सकता है। ब्राह्मणों में कुछ अन्यापदेशी (एलेगोरिकल) आख्यान भी मिलते हैं जहाँ कहानी के बहाने किसी दार्शनिक तथ्य की व्यंजना की जाती है। उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण के प्रथम अध्याय के चतुर्थ कांड के पंचम प्रपाठक में मन तथा वाणी के झगड़े का आख्यान है, जो प्रजापति के पास जाकर यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि हममें बड़ा कौन है। प्रजापति मन को वाणी से महान् घोषित करते हैं। ब्राह्मणों में आर्यों के प्राचीन जनजीवन का अध्ययन करनेवाले गवेषक के लिये विपुल सामग्री है। प्रत्येक वेद के अपने अलग अलग ब्राह्मण हैं। कई ब्राह्मणों का संकेत भर मिलता है, संभवतः वे लुप्त हो चुके हैं। अधुना उपलब्ध ब्राह्मणों में ऋग्वेद का ऐतरेय, यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद का ताड्य (पंचविंश) और जैमिनीय (तवल्कार), तथा अथर्ववेद का गोपथ मुख्य है।

आरण्यक ब्राह्मणों के वे परिशिष्ट अंश हैं जो अरण्य में मनन करने की वस्तु हैं। ये वस्तुतः वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम में स्थित व्यक्तियों के लिये थे। आरण्यकों में यागों के आध्यात्मिक तथ्य का विचार होता है। आरण्यकों के ही एक विशिष्ट अंश को उपनिषद् कहते हैं। ये वस्तुतः वेद के सार होने के कारण 'वेदांत' भी कहलाते हैं। उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। इनकी संख्या वैसे तो १०८ तक मानी जाती है, किंतु ग्यारह उपनिषद् मान्य हैं, तथा प्राचीनता की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है। इनमें ऋग्वेद के उपनिषद् ऐतरेय तथा कौषीतकि हैं, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय, कठ और श्वेताश्वतर, शुक्ल यजुर्वेद के बृहदारण्यक और ईश, सामवेद के छांदोग्य और केन तथा अथर्ववेद के प्रश्न, मुंडक तथा मांडूक्य। इन सब उपनिषदों में शुक्ल यजुर्वेद का ईशोपनिषद् सबसे प्राचीन माना जाता है। कुछ उपनिषद् गद्य में और कुछ पद्य में हैं। कुछ में गद्य तथा पद्य दोनों का प्रयोग मिलता है। उपनिषदों में कई सुंदर आख्यान भी मिलते हैं, जिनके द्वारा दार्शनिक तथ्यों की व्यंजना की गई है। केनोपनिषद् का उमा-हैमवती आख्यान बड़ा सुंदर है तथा ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का संकेत करता है। कठोपनिषद् में यमराज तथा नचिकेता के आख्यान द्वारा आत्मतत्व का विश्लेषण किया गया है। कठोपनिषद् का दूसरा अध्याय दार्शनिक चिंतन की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कठोपनिषत् के दार्शनिक चिंतन का ही प्रभाव हमें श्रीमद्भगवद्गीता में मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य तथा जनक का आख्यान है, जिसमें याज्ञवल्क्य तत्वज्ञान का उपदेश देते हैं तथा आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन को ही जीवन का प्रधान लक्ष्य घोषित करते हैं :

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।
बृ० उ०, ४.५.६।

संक्षेप में, आत्मदर्शन ही उपनिषदों की ब्रह्मविद्या का रहस्य है।

६. वेदांग

वैदिक साहित्य के अंतर्गत छः वेदांगों की भी गणना होती है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष। शिक्षा के अंतर्गत प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रंथों का समावेश होता है। वैदिक ऋषियों ने भाषा को शुद्ध एवं उसकी उच्चारण-विधि को सुरक्षित रखने के लिये शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों की रचना की है। प्रत्येक वेद के अपने अलग अलग प्रातिशाख्य तथा शिक्षाएँ हैं। इन्हीं के कारण आज तक वैदिक मंत्रों का उच्चारण एक सीमा तक सुरक्षित बना रहा। भाषाविज्ञान संबंधी गवेषणा की दृष्टि से शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों का बड़ा महत्व है। कल्प के अंतर्गत श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, तथा गृह्यसूत्रों का ग्रहण होता है। श्रौतसूत्रों में वैदिक यज्ञों का विधान है। गृह्यसूत्रो में सामाजिक संस्कारों तथा अन्य कर्मों का विधान है। ये कल्पसूत्र भी तत्तत् वेद के अलग अलग होते हैं। इनके अतिरिक्त कल्प के अंतर्गत एक चौथे प्रकार के सूत्रो की भी गणना होती है; ये हैं शुल्वसूत्र। इनमें यज्ञ के लिये वेदियों की माप आदि का संकेत होता है। व्याकरण में पद के स्वरूप तथा उसकी अर्थसिद्धि का विचार होता है। गोपथ ब्राह्मण (१.२४) में प्राचीन वैदिक व्याकरण के विषय का स्पष्ट निर्देश मिलता है। वैदिक व्याकरण का कोई प्रतिनिधि ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। आजकल उपलब्ध व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है, किंतु पाणिनि से पूर्व ऐंद्र व्याकरण के अस्तित्व के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। संभवतः इंद्र ही सर्वप्रथम वैदिक वैयाकरण थे। निरुक्त उन निघंटुओं की टीका है जिनमें वेद के कठिन शब्दो का संग्रह होता है। प्राचीन समय में ऐसे कितने निघंटु थे, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनकी संख्या के विषय में बहुत मतभेद है। आजकल केवल एक ही निघंटु उपलब्ध है, इसी की टीका यास्क का 'निरुक्त' है। पर यास्क ने अपने पूर्व के बारह निरुक्त-कारों के मतों का तत्तत् स्थान पर संकेत किया है। व्युत्पत्तिशास्त्र (एटाइमालोजी) तथा अर्थविज्ञान (सिमेंटिक्स) की दृष्टि से निरुक्त अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। छंदःशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रंथ पिंगल छंदःसूत्र है। पिंगल के व्यक्तित्व के विषय में कुछ भी पता नहीं। वैसे छंदों के नाम संहिता तथा ब्राह्मणों में मिलते हैं तथा ऋक्प्रातिशाख्य में वैदिक छंदों का विवरण भी मिलता है। वेदांग ज्योतिष का एकमात्र ग्रंथ लगधमुनिकृत है, जिसके दो रूप मिलते हैं, एक याजुष ज्योतिष जिसमें ४३ श्लोक हैं, दूसरा आर्च (ऋग्वेदीय) ज्योतिष। इस प्रकार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांग सब मिलाकर वैदिक साहित्य का विस्तार अत्यधिक समृद्ध है। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इनमें संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् विशेष महत्व की वस्तु हैं।

७. साहित्यिक संस्कृत

वैदिक साहित्य और साहित्यिक संस्कृत की काव्यसंपत्ति की तुलना करते समय यह पता चलता है कि दोनों ही भारत की उपज और आर्यों के जीवन से संबद्ध होने पर भी प्रकृति में एक दूसरे से बहुत दूर हैं। इसके कई कारण हैं, जिनमें मुख्य ये हैं : (१) वैदिक साहित्य तत्कालीन जनभाषा का साहित्य है[1]। उसे हम उस काल का लोकसाहित्य भी मान लें तो अनुचित न होगा; संस्कृत का काव्य साहित्य जनभाषा का साहित्य न होकर अभिजात वर्ग की साहित्यिक भाषा का साहित्य है; (२) वैदिक साहित्य प्राकृतिक शक्तियों से संबद्ध दिव्य साहित्य है, संस्कृत का साहित्य मानव जीवन का साहित्य है; (३) वैदिक साहित्य आर्यों के उस सामाजिक जीवन का साहित्य है जब वे मुख्यतः पशुचारण का जीवन यापन करते थे पर घुमक्कड़पन छोड़कर ग्राम्य सभ्यता की ओर बढ़ चले थे, पशुचारणवृत्ति के साथ कृषि का विकास हो चला था; संस्कृत का साहित्य आर्यों का वह साहित्य है जब वे नागरिक सभ्यता में ढल चुके थे, (४) वेदों का समाज दो वर्गों का समाज है, आर्य और अनार्य, विजेता और विजित का समाज, संस्कृत साहित्य का समाज चातुर्वर्ण्य की नींव पर आधृत पौराणिक ब्राह्मण धर्म का समाज है; (५) वैदिक साहित्य का काव्य भावना और कल्पना के अनाविल, अनलंकृत, स्वाभाविक प्रवाह से तरल है, जहाँ भावना और कल्पना की स्वाभाविकता संगीत और कविता का मणिकांचन संयोग घटित कर देती है, संस्कृत का साहित्य उन कलाकारों का साहित्य है जिन्होंने काव्यरचना के पूर्व शास्त्र और कला का पूरा अभ्यास किया था। वैदिक साहित्य लोकगीतों सा स्वाभाविक साहित्य है, संस्कृत साहित्य अलंकृत। और यह अलंकरण कृत्रिमता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता गया है, जैसा कि हम कालिदास से परवर्ती संस्कृत कविता के विषय में देखेंगे। संक्षेप में, वैदिक साहित्य का ही विकसित रूप होते हुए भी साहित्यिक संस्कृत की काव्यसंपदा नई

[1] कुछ विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद का साहित्य भी जनसामान्य की शैली में नहीं है। वह उस काल के पुरोहितों और राजाओं की भाषा में निबद्ध हुआ है। जनभाषा की शैली का रूप यदि हमें कहीं मिल सकता है, तो अथर्ववेद में। यही कारण है कि अथर्ववेद की भाषा और शैली सर्वथा भिन्न रूप लेकर आती है। संभवतः इसीलिये अथर्ववेद को बहुत दिनों तक वेदों में संमिलित नहीं किया गया था और वेदों की संख्या तीन, वेदत्रयी ही मानी जाती थी। साथ ही अथर्ववेद की संहिता का जो रूप हमें आज उपलब्ध है, वह पुरोहितों द्वारा सुसंस्कृत किया हुआ रूप जान पड़ता है। ऋग्वेद की भाषा को एक प्रकार से साधुभाषा माना जाता है, कथ्यभाषा का वास्तविक रूप नहीं।

देखिए—डा० चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं०, पृ० ५२; एवं डा० प्र० बे० पंडित : प्राकृत भाषा, पृ० १३–१४।

सामाजिक स्थिति के उपयुक्त नया रूप लेकर आती है, और यहाँ आकर वैदिक साहित्य की प्रकृति का अपूर्व गुणात्मक परिवर्तन देखा जाता है।

८. वैदिक भाषा और पाणिनीय संस्कृत

संहिता काल (२००० वि० पू०—१००० वि० पू०) के बाद से ही आर्यों की भाषा में अधिक परिवर्तन होने लगा था। स्वयं वेदों में ही एक काल की और एक स्थान की भाषा न होकर अनेक वैभाषिक रूप पाए जाते हैं। ऋग्वेद के गोत्र-मंडल (२सरे से ८वें मंडल तक) की भाषा अधिक प्राचीन है, तो प्रथम एवं दशम मंडल की भाषा का अधिकांश रूप संहिताकाल के परवर्ती दिनों का संकेत करता है। दशम मंडल का पुरुषसूक्त और हिरण्यगर्भसूक्त वैदिक भाषा के परवर्ती रूप की स्पष्ट व्यंजना करते हैं। वैदिक भाषा में हमें पदरचना के कई वैकल्पिक रूप मिलते हैं। अकारांत पुंल्लिंग शब्दों के प्रथमा बहुवचन में एक साथ 'देवाः', 'देवासः' जैसे, दो रूप मिलते हैं[1], तो तृतीया बहुवचन में 'देवैः', 'देवेभिः' जैसे दो रूप[2]। अकारांत नपुंसक लिंग शब्दों के प्रथमा-द्वितीया बहुवचन में 'गुह्या', 'गुह्यानि' जैसे वैकल्पिक रूप मिलते हैं। इतना ही नहीं, वाक्यरचना की दृष्टि से इन (नपुंसक बहुवचन) के साथ कभी कभी एकवचन क्रिया का प्रयोग भी पाया जाता है[3]। सप्तमी के एकवचन रूपों में 'इ' विभक्तिचिह्नवाले रूपों—देवे (देव + इ), मनसि, नरि, विशि, तन्वि—के अतिरिक्त शून्य विभक्तिवाले रूप भी मिलते हैं, जैसे—परमे व्योमन्[4]। क्रिया रूपों में यद्यपि परवर्ती संस्कृत रूपों से अत्यधिक भेद नहीं पाया जाता तथापि बाद में लेट् के रूप नहीं पाए जाते। क्रिया रूपों के प्रयोग में वैदिक भाषा की एक खास विशेषता है लिट् का वर्तमान के लिये प्रयोग। विद्वानों ने बताया है कि प्रा० भा० यू० में लिट् का प्रयोग वर्तमान के लिये ही किया जाता था, जो ग्रीक तथा वैदिक भाषा दोनों में अक्षुण्ण बना रहा[5]। ऋग्वेद के 'स दाधार पृथिवीं

[1] ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः। ऋग्० ५. ५९. ६।
हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः। ऋग्० १०. ८. ४१।
हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्। ऋग्० ४. ३१।
देखिए—वाकेरनागेल : अल्तिदिश्के ग्रामातीक, §४९ (डी), पृ० १०१।

[2] यातं अश्वेभिरश्विना। ऋग्० ८. ५. ७।
आदित्यैर्यातमश्विना। ऋग्० ८. ३५. १३।
अंगिरोभिरागहि यज्ञियेभिः। ऋग्० १०. १४. ५।
अंगिरोभिर्यज्ञियैरागहीह ऋग्० २८. १. ५६।

[3] मैकडानेल : वै० ग्रा०, §१४६ प, पृ० २८९।

[4] ब्लाक : इंडो आर्यन, पृ० ११८, ११९।

[5] मैकडानल : वै० ग्रा०, §२१३ प, पृ० ३४२।

धामुतेमां' का अर्थ है 'वह इस पृथिवी और आकाश को धारण करता है।' पाणिनीय संस्कृत भाषा में आकर लिट् परोक्षभूत के लिये प्रयुक्त होने लग गया। क्रिया रूपों के अतिरिक्त कई ऐसे प्रत्यय हैं जो केवल वैदिक भाषा में ही पाए जाते हैं, संस्कृत में नहीं। उदाहरण के लिये 'ते', 'तवै', 'तात्', 'ताति', 'त्वन' जैसे कई कृदंत और तद्धित प्रत्यय बाद में लुप्त हो गए। वैदिक भाषा की दूसरी विशेषता समास की है। वैदिक भाषा में तीन या चार पदों से अधिक समासांत पद नहीं मिलते। इनमें भी तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि तथा द्वंद्व समास ही पाए जाते हैं। वैदिक भाषा के द्वंद्व समासों में दो तरह की समासप्रक्रिया ध्यान देने योग्य है। पहले ढंग के द्वंद्व समासों में दोनों पद विशेषण होते हैं, जैसे नीललोहित, ताम्रधूम्र, अरुणपिशंग आदि[1], दूसरे ढंग के समास देवता-द्वंद्व कहलाते हैं, जिनमें दोनों पद द्विवचन में होते हैं, जैसे इन्द्रानुपूषणा, मित्रावरुणा, सूर्याचन्द्रमसा; पर परवर्ती ऋचाओं में ये रूप लुप्त होने लगे हैं, और साथ ही साथ 'इन्द्रवायू' जैसे रूप मिलने लगे हैं[2]।

मुंडा और द्रविड़ों के संपर्क से आर्यों की भाषा मे परिवर्तन आने लगा। विजेता आर्यों ने वैदिक भाषा को अनार्य तत्वों से अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये वैदिक मंत्रों की ध्वनियों और स्वरों के शुद्ध उच्चारण पर जोर दिया। इसके लिये प्रत्येक वेद के प्रातिशाख्यों और शिक्षाग्रंथो ने शिक्षा का व्याख्यान किया। वैदिक ऋषियों ने भाषाविज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन का पहला सूत्रपात किया, जो पहला होते हुए भी अत्यधिक प्रौढ़ तथा त्रुटिरहित है। पद में प्रयुक्त व्यस्त एवं समस्त (संहितागत) ध्वनियों के तत्तत् संध्यात्मक परिवर्तनो का नियमालेखन किया गया एवं उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय का विभाग कर स्वरों के आरोहावरोह का विवेचन हुआ। यह सब इसलिये कि आर्यों की वैदिक निधि उस शुद्धता को सुरक्षित रख सके जिससे यजमान की योगक्षेम-कामना पूर्ण हो और वह विपरीत फल न दे दे[3]। पर प्रातिशाख्यो और शिक्षाओं में ही उच्चारण का वैकल्पिक विधान मिलता है। याजुष प्रातिशाख्य और शिक्षाकार टवर्गरहित 'ष' का 'ख' उच्चारण मानते हैं और पदादि 'य' का 'ज'[4] जब कि ऋक् प्रातिशाख्य इन्हें इस रूप में नहीं लेते। स्पष्टतः ये सब वैभाषिक प्रवृत्तियाँ हैं।

[1] वाकेरनागेल : अल्तिदिश्के ग्रामातीक, भाग १, पृ० १७१, §७८ (बी)।

[2] वही, पृ० १५१–५२, §६३ (सी)।

[3] मंत्री हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेंद्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात ॥ पाणिनीय शिक्षा।

[4] खष्टुमूते च। केशवी शिक्षा।
पदादौ वर्तमानस्य ह्यसंयुक्तस्य यस्य च।

भाषा के निरंतर प्रवहनशील परिवर्तन के कारण मंत्रों की भाषा यास्क (८०० वि० पू०) के समय दुर्बोध हो गई थी। इसीलिये यास्क ने अपने पूर्व के निरुक्तों एवं निघंटुओं को देखकर दुर्बोध वैदिक मंत्रों को स्पष्ट किया था। पर यास्क भी 'जर्फरी', 'तुर्फरी' जैसे शब्दों का अर्थ न बता पाए। विद्वानों का मत है कि वैदिक भाषा में कुछ शब्द असुरों की भाषा (असीरियन) के थे। उपर्युक्त शब्द भी उन्हीं में से हैं। पाणिनि (६०० वि० पू०) से बहुत पहले ही पूर्व के पतित वेदविरोधी आर्यों (व्रात्यों) की भाषा उच्चारण तत्व की दृष्टि से बड़ी विकृत हो गई थी[1]। इस काल में ब्रह्मर्षि देश तथा अंतर्वेद की विभाषा, उत्तरी विभाषा उस काल की परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) भाषा थी, और पाणिनि से पहले भी कुछ वैयाकरणों (शाकटायन, शाकल्य, स्फोटायन, इंद्र) ने इसे व्याकरण-संमत साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न किया था। पाणिनि ने जिस भाषा का व्याकरण, चार हजार सूत्रों की अष्टाध्यायी में निबद्ध कर, साहित्यिक संस्कृत की वज्रशिला स्थापित की वह उनके *समय की बोलचाल की भाषा निश्चित रूप से रही होगी; और यही* कारण है कि पाणिनि ने 'विभाषा', 'अन्यतरस्याम्' आदि के द्वारा लोक में प्रचलित वैकल्पिक रूपों को भी लिया[2]। पाणिनि का यह प्रयास अत्युत्कृष्ट भाषावैज्ञानिक प्रयास था जिसकी होड़ विश्व का कोई व्याकरण नहीं कर सकता। संस्कृत भाषा का जो अर्थ लिया जाता है वह पाणिनीय संस्कृत ही है। यहाँ इसी पाणिनीय संस्कृत की संघटना पर दो शब्द कहना आवश्यक है।

संस्कृत भाषा में अर्थतत्व का विधान करनेवाला शब्द प्रकृति कहलाता है एवं संबंधतत्व का विधान करनेवाला शब्द प्रत्यय। प्रकृति के साथ प्रत्यय को जोड़कर किसी अर्थ की प्रतीति कराई जाती है। प्रत्यय चार तरह के हैं—सुप् (कारकप्रत्यय), तिङ् (क्रियाप्रत्यय), कृदंत (आख्यात या क्रिया से बने शब्दों में प्रयुक्त) तथा तद्धित (नामशब्दों से बने शब्दों में प्रयुक्त)। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से पहले दो को प्रत्यय (सफिक्स) न कहकर विभक्ति (इन्फ्लेक्शन) कहना उचित होगा। संस्कृत के नामशब्द संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनाम में विभक्त हैं। संज्ञा तीन लिंगों में विभक्त है, पर संस्कृत का लिंगविधान लौकिक लिंग की दृष्टि से नहीं

आदेशो हि जकारः स्यात् युक्तः सन् हरणेन तु। माध्यंदिनी शिक्षा।
देखिए—मेरा लेख : यजुर्वेद के मंत्रों का उच्चारण, शोध पत्रिका, २००९।

[1] डा० चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं०, पृ० ६१, ६२।

[2] देखिए—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : 'पाणिनि और उनका शास्त्र', ना० प्र० प०, वर्ष ५६, अंक ३-४, सं० २००८।

है; वहाँ 'मित्र', 'कलत्र' नपुंसक हैं तो 'देवता' स्त्रीलिंग और 'दाराः' सदा बहुवचनांत पुल्लिंग। संस्कृत का विशेषण विशेष्य के अनुसार ही लिंग, वचन एवं विभक्तियाँ बदलता है। नामशब्दों के रूपों में तीन वचन होते हैं और प्रथमा, द्वितीयादि आठ विभक्तियाँ। सर्वनाम शब्दों में संबोधन नहीं होता। संस्कृत नामशब्दों को दो तरह से बाँटा जा सकता है। कुछ शब्द स्वरांत (अजंत) तथा कुछ व्यंजनांत (हलंत) होते हैं। इनके अतिरिक्त कई अव्यय शब्द भी होते हैं जो लिंग, वचन या विभक्ति के अनुसार परिवर्तित नहीं होते। भाषावैज्ञानिकों के मत से इनमें से अधिकतर किन्हीं शब्दों के सविभक्तिक रूपों से ही विकसित हुए हैं। संस्कृत में छह समास पाए जाते हैं—तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्विगु, द्वंद्व और अव्ययीभाव। पाणिनीय संस्कृत में आकर समास क्रिया बहुत जटिल हो गई जिसका रूप बाण, भवभूति, मुरारि, श्रीहर्ष जैसे कवियों के समासांत पदों के प्रयोग में देखा जा सकता है। संस्कृत की क्रिया सर्वप्रथम दो पदों में विभक्त है—आत्मनेपदी (जहाँ क्रिया के फल का भोक्ता स्वयं हो), परस्मैपदी (जहाँ क्रिया के फल का भोक्ता अन्य हो)। पर यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ठीक नहीं बैठता क्योंकि संस्कृत के कई धातु केवल आत्मनेपदी हैं, कई केवल परस्मैपदी और कई दोनों (उभयपदी)। समस्त रूप दस लकारों में विभक्त हैं जिनमें तीन काल (वर्तमान, भविष्यत् तथा भूत) और चार विधियाँ (मूड)—(आज्ञा, विधि, आशिषि, हेतुहेतुमत्) पाई जाती हैं। भविष्यत् के दो रूप पाए जाते हैं—लृट्, लुट्, तथा भूत के तीन—अनद्यतनभूते लङ्, सामान्यभूते लङ्, परोक्षभूते लिट्। वैयाकरणों ने इन्हें दो कोटियों में विभक्त किया है, एक आर्धधातुक, दूसरे सार्वधातुक। इन्हें ही भाषावैज्ञानिक लट् से संबद्ध लकार तथा लुङ् (अयोरिस्ट) से संबद्ध लकार मानते हैं। संस्कृत धातु दो प्रकार के हैं—अकर्मक तथा सकर्मक। सकर्मक में से कुछ द्विकर्मक हैं। धातुओं का कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य तथा प्रेरणार्थक (णिजंत) रूप मिलता है। कर्मवाच्य और भाववाच्य रूप सदा आत्मनेपदी होते हैं। संस्कृत का अन्य महत्वपूर्ण प्रकरण वाक्यरचना या कारकविधान का है। संस्कृत की सविभक्तिकता के कारण उसकी वाक्यरचना हिंदी की तरह निश्चित नहीं है। हम 'रामः रावणं जघान' कहें, या 'रावणं जघान रामः' या 'जघान रावणं रामः' अर्थ एक ही है। पर इतना होने पर भी कर्मप्रवचनीयों के प्रयोग के कारण उनके साथ निश्चित विभक्ति का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। पदरचना की दृष्टि से संस्कृत निःसंदेह ग्रीक भाषा या लातिनी से अधिक जटिल है। संस्कृत का शब्दकोष वैदिक शब्दसंपत्ति के साथ, मुंडा, द्राविड़, यूनानी, हूण, तुरुक आदि कई अवांतर जातियों के शब्दों से युक्त है। बाद में संस्कृत ने प्राकृत से भी अनेक शब्दों को अपनाया। श्रीहर्ष ने संस्कृत 'अंगार' के ही प्राकृत रूप 'इंगाल' का प्रयोग किया, तो माघ ने 'मदिर' के प्राकृत रूप 'मइर' से बने शब्द

'मैरेय' का।[1] लोलिंबराज ने तो अपने काव्य में अरबी, फारसी शब्दों की भी छौंक डाल दी है।

महर्षि पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी सूत्रों में जिस भाषा का व्याकरण निबद्ध किया, उसकी आरंभिक साहित्यिक शैली वैदिक भाषा के ही परवर्ती साहित्य में देखी जा सकती है। कठ, मुंडक और श्वेताश्वतर उपनिषदों में कई मंत्रभाग ऐसे हैं जिनकी शैली साहित्यिक संस्कृत के विशेष निकट है[2]। इन परवर्ती उपनिषदों की साहित्यिक शैली का विकास ही महाभारत तथा रामायण की शैली में देखा जा सकता है। महाभारत और गीता की साहित्यिक शैली कठोपनिषद् की शैली से बहुत मिलती है, और कठोपनिषद् का शैलीगत तथा चिंतनगत प्रभाव गीता में स्पष्ट है। महाभारत और रामायण की शैली वह कड़ी है, जो वैदिक साहित्य की परवर्ती शैली तथा साहित्यिक संस्कृत की काव्यपरंपरा को जोड़ती है। इन दोनों अमर कृतियों के जो रूप हमें आज उपलब्ध हैं उनमें तो बाद में कई प्रक्षेप मिलाए जाते रहे हैं, पर अनुमान होता है कि इनका मूल रूप लगभग षष्ठ शती वि० पू० का है[3]। इस मूल रूप का पता चलाना आज कठिन हो गया है, पर इतना निश्चित है कि विक्रम के बाद तक भी इनमें प्रक्षेप होते रहे हैं। इसी समय पूर्व में जहाँ एक ओर वेदविरोधी व्रात्यों की सामाजिक क्रांति का उदय हो रहा था, वहाँ उस काल की जनभाषा में रचनाएँ होने लगी थीं। कुछ विद्वानों ने बौद्ध जातक कथाओं के गाथा भाग के कई छंदों को वाल्मीकि रामायण से भी अधिक प्राचीन माना है[4]। यद्यपि शैली की दृष्टि से महाभारत तथा रामायण दोनों अश्वघोष तथा कालिदास की साहित्यिक संस्कृत के समीप हैं, तथापि महाभारत का यथार्थवादी जीवनदर्शन का वातावरण परवर्ती काव्यों के वातावरण से भिन्न है। रामायण में वह आदर्शवादी वातावरण देखा जा सकता है। महाभारत तथा रामायण दोनों ही उस काल के काव्य हैं जब आर्यों ने नगर की सभ्यता में प्रवेश कर लिया था। उपनिषदों में ही अहिच्छत्र, आसंदीवंत, कांपिल्य, अयोध्या, हस्तिनापुर जैसे नगरों का समृद्ध वातावरण

१ वितेनुरिंगालमिवायशः परे। नै० च०, प्रथम सर्ग।
पीतमैरेयरिक्तं कनकचषकमेतद्'''। शि० व०, सर्ग ११।

२ दासगुप्ता और डे : हि० सं० लि०, भूमिका, पृ० १७।

३ पूना से प्रकाशित महाभारत के संपादन से कई नई बातों का पता चलता है। महाभारत के संस्कृत रूप के नीचे प्राकृत रूप का आधार विद्यमान है, इस बात की भी पुष्टि हो रही है। यदि ऐसा ही है, तो महाभारत जनजीवन का यशःकाव्य सिद्ध होता है, जिसे बाद में संस्कृत रूप दे दिया गया। महाभारत की भाँति संभवतः रामायण भी लोककथाओं के रूप में चलती रही होगी।

४ राइज डेविड और कारपेंटर : दीघनिकाय, भा० २, भूमिका, पृ० ८।

संकेतित हुआ है। महाभारत तथा रामायण में वैदिक साहित्य से एक भेद है; नागरिक सभ्यता के उदय के काव्य होने के कारण वे मानव गाथाएँ हैं, वैदिक साहित्य की तरह दिव्य साहित्य नहीं। महाभारत तो आर्यों के सामंतवादी जीवन के उदय के साथ ही साथ उस काल की समस्त लोककथाओं, आख्यानों और उपाख्यानों का सुंदर संकलन है जिसने बाद के पुराण साहित्य की रचना में प्रेरणा दी है। रामायण एक आदर्श मानव की, एक आदर्श सम्राट् की कहानी है जिसमें आर्यों और अनार्यों के संघर्ष का परिपार्श्व अंकित है। काव्यशैली की दृष्टि से वाल्मीकि की कला अधिक रुचिर तथा अलंकृत है। दोनों महाकाव्य बाद के संस्कृत साहित्य के दीपस्तंभ रहे हैं, और अनेकों संस्कृत कवियों एवं नाटककारों ने कथावस्तु, विवेच्य विषय, भावना और काव्य-परिवेश की दृष्टि से इन काव्यों से कुछ न कुछ प्रेरणा पाई है। महाभारत और रामायण साहित्यिक संस्कृत के आदिम काव्य होते हुए भी उस काव्यपरंपरा में नहीं गिने जाते जो साहित्यिक संस्कृत के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कुछ कारण हैं। व्यास और वाल्मीकि की कृतियाँ काव्य होते हुए भी आर्ष ग्रंथ हैं, और ये दोनों अमर कवि होते हुए भी वैदिक ऋषियों की पाँत में बिठाए जाते हैं। इनकी भाषा पर पाणिनि महाराज के नियम-दंड का कोई बस नहीं चलता, और इन कृतियों में वह कृत्रिम कलात्मकता नहीं पाई जाती जो बाद के काव्यों में मिलती है। पर इससे भी बढ़कर कुछ सामाजिक कारण हैं। महाभारत एवं रामायण का समाज ग्रामसभ्यता एवं नगरसभ्यता के संधिकाल का साहित्य है, वह सामंतवाद का पोषक है, पर सामंतवाद तथा नागरिक जीवन का प्रौढ़ रूप ईसा की पहली शती के बाद के साहित्य में उपलब्ध होता है। पौराणिक ब्राह्मण धर्म की व्यवस्था का जो रूप बाद के साहित्य में मिलता है वह महाभारत या रामायण में उतना कड़ा नहीं है। महाभारत का समाज अधिक स्वतंत्र है, जबकि बाद के साहित्य का समाज स्मृत्यनुमोदित वर्णाश्रम धर्म के शिकंजे में विशेष जकड़ा हुआ है। एक और भेद यह भी है कि बाद के संस्कृत साहित्य के रचयिता प्रायः दरबारी कवि रहे हैं तथा उनका काव्य थोड़े से अभिजात वर्ग के लोगों के लिये लिखा गया है, जबकि महाभारत और रामायण समस्त समाज के यशःकाव्य हैं, जिनकी रचना समस्त समाज के लिये की गई है।

रामायण और महाभारत

वैदिक साहित्य के बाद लौकिक संस्कृत के साहित्य का आरंभ होता है। विषय, भाषा, भाव, छंदरचना आदि की दृष्टि से यह साहित्य वैदिक साहित्य से कतिपय अंशों में भिन्न तथा इस दृष्टि से परवर्ती संस्कृत साहित्य से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। रामायण तथा महाभारत लौकिक संस्कृत साहित्य की आदिम रचनाएँ

है। रामयण को तो भारतीय परंपरा में 'आदिकाव्य' कहा ही जाता है, क्योंकि इसमें सर्वप्रथम मानव चरित्र का अंकन पाया जाता है; साथ ही इसकी काव्यशैली वैदिक शैली को छोड़कर एक नई शैली का सूत्रपात्र करती है। निषाद के बाण से विद्ध क्रौंचमिथुन में से नर पक्षी को देखकर द्रवीभूत आदिकवि का शोक जिस रूप में प्रवाहित हुआ, वह लौकिक काव्यसाहित्य की पहली धारा है। रामायण तथा महाभारत दोनों महाप्रबंधकाव्य कहलाते हैं। दोनों काव्य केवल काव्य न होकर भारतीय संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के सर्वांगीण आकर ग्रंथ हैं। इस दृष्टि से महाभारत रामायण से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। वह भारतीय संस्कृति का विश्वकोश कहा जा सकता है।

रामायण तथा महाभारत भारतीय परंपरा के अनुसार क्रमशः आदिकवि वाल्मीकि तथा वेदव्यास की रचनाएँ माने जाते हैं। भारतीय परंपरा उन्हें प्राचीनतम काव्य मानती है, तथा रामायण की रचना रामजन्म के पूर्व ही आदिकवि ने त्रेतायुग के आरंभ में की थी। ठीक इसी तरह भगवान वेदव्यास ने महाभारत की रचना द्वापरयुग के अंत में की थी। इस प्रकार धार्मिक परंपरा इनका रचनाकाल विक्रम से भी कई हजार वर्ष पूर्व मानती है। साथ ही उसके अनुसार, ये दोनों ग्रंथ वेद के समान पवित्र माने जाते हैं, तथा इतिहास-पुराण पंचम वेद में इनकी गिनती होती है। इतना ही नहीं, इनके श्रवण से मोक्षप्राप्ति तक की आशा की जाती है। पर शर्त यह है कि इनका श्रवण संस्कृत भाषा में ही किया गया हो, जनभाषा में नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों की भाँति इन ग्रंथों की भी शुद्धता तथा पवित्रता सुरक्षित रखने पर धार्मिक परंपरा जोर देती रही है।

किंतु रामायण तथा महाभारत की भाषा, उसमें वर्णित समाज का चित्रण तथा कुछ अन्य प्रमाण उन्हें इतना पुराना सिद्ध होने में बाधक हैं। रामायण तथा महाभारत की भाषा उन्हें ईसा से छठी शती से पूर्व का नहीं घोषित करती। यह माना जा सकता है कि रामायण की रामकथा, महाभारत की कौरवपांडवों की युद्धकथा तथा उसमें संगृहीत अन्य कथाएँ, आख्यान तथा उपाख्यान पुराने हैं। किंतु जिस साँचे में वे ढाले गए हैं वह अधिक पुराना नहीं जान पड़ता। रामायण तथा महाभारत के रचनाकाल के पौर्वापर्यक्रम के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। शैली की दृष्टि से महाभारत की शैली सरल, अकृत्रिम एवं यथार्थवादी है जबकि रामायण की शैली अधिक काव्यमय, प्रौढ़, परिमार्जित, अलंकृत एवं आदर्शवादी है। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि रामायण बाद की रचना है। जर्मन विद्वान् वेबर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने इसीलिये महाभारत का रचनाकाल रामायण से पूर्व माना है। कुछ विद्वान् रामायण को प्राचीनतम रचना मानते हैं तथा महाभारत को परवर्ती। भारतीय परंपरा भी इसी मत की पुष्टि करती है। इतना कहा जा सकता है कि रामायण

तथा महाभारत के मूल अंश विक्रम से ६०० वर्ष पूर्व विद्यमान थे। बाद में दोनों काव्यों में अनेकानेक प्रक्षिप्त अंश जुड़ते गए हैं।

रामायण सात कांडों में विभक्त महाप्रबंधकाव्य है। प्रत्येक कांड सर्गों में विभक्त है। विद्वानों का मत है कि बालकांड तथा उत्तरकांड बाद के प्रक्षेप हैं। जर्मन विद्वान् याकोबी ने मूल रामायण में अयोध्याकांड से लेकर युद्धकांड तक के ही अंश को माना है। कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उत्तरकांड बाद की रचना है। रामायण के भी हमें तीन संस्करण उपलब्ध हैं। उत्तरी भारत, बंगाल तथा काश्मीर के संस्करणों में परस्पर पाठभेद है। एक चौथा संस्करण दक्षिणी भारत संस्करण है, जिसमें उत्तरी भारत संस्करण से विशेष भिन्नता नहीं है। उत्तरी भारतवाला संस्करण ही विशेष मान्य समझा जाता है।

रामायण करुणरस का काव्य है, वैसे इसमें शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत आदि अन्यान्य रसों का भी परिपाक दृग्गोचर होता है। यद्यपि रामायण का कवि भावपक्ष का ही विशेष प्रेमी है, तथापि कलापक्ष की मनोहारिता भी कम नहीं है। उपमा, उत्प्रेक्षा जैसे साधर्म्यमूलक अर्थालंकारों की छटा दर्शनीय है। इतना ही नहीं, सुंदरकांड के चंद्रवर्णन में तो कवि ने शब्दालंकार का भी प्रयोग किया है। वाल्मीकि ने जिस स्वाभाविक शैली को जन्म दिया, उसका निर्वाह अश्वघोष तथा कालिदास ने सफलतापूर्वक किया है। वाल्मीकि के काव्य की अन्यतम विशेषता प्रकृतिप्रेम है। वे मानवप्रकृति तथा मानवेतर प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं। राम, भरत, हनुमान, विभीषण, रावण, सीता, कैकेयी आदि के चरित्रों में मानव प्रकृति का जो सूक्ष्म पर्यवेक्षण मिलता है, वह इसका प्रमाण है। रामायण के राम पूरे मानव हैं, अतिमानव अथवा अलौकिक नहीं। वे मानवसुलभ गुणों तथा दुर्बलताओं दोनों से समवेत हैं। यही कारण है, वाल्मीकि के राम, कालिदास के राम (जो उन्हें 'रामाभिधानो हरिः' मानते हैं) कृत्तिवास तथा तुलसी के राम से भिन्न हैं। बाद के कवियों के राम मानव न रहकर देवता हो गए हैं। मानव होने के कारण ही, वाल्मीकि के राम के साथ हमारा साधारणीकरण सहजता से हो जाता है। वाल्मीकि रामायण के वे अंश जिनमें राम का देवत्व अंकित है संभवतः बाद के प्रक्षेप हैं। मानवेतर प्रकृति के वर्णन के लिये वाल्मीकि प्रसिद्ध हैं। प्रकृतिवर्णन में जिस बिंबग्राहक शैली के वे जन्मदाता हैं, उसका निर्वाह बाद के कवियों में केवल कालिदास तथा भवभूति ही कर पाए हैं। वाल्मीकि ने प्रकृति का, आलंबन तथा उद्दीपन विभाव दोनों दृष्टि से चित्रण किया है, किंतु उसके आलंबन रूपवाले चित्र संस्कृत साहित्य की अपूर्व निधि हैं। किष्किंधाकांड के वर्षा, शरत् तथा हेमंत ऋतु के वर्णन इसके उदाहरण हैं। वाल्मीकि के प्रकृति वर्णन में तीन प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं :

(१) बिंबग्रहणवाली अनाविल अलंकृत शैली, जिसमें प्रकृति का यथावत् चित्रण उपस्थित करना ही कवि का प्रधान लक्ष्य है, जैसे—

जराजर्जरितैः पत्रैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषा हिमध्वस्ता न भांति कमलाकराः ॥ किष्किंधाकांड ।

'पके हुए पत्तोंवाले कमलाकर, जिनके केसर तथा कर्णिका झड़ गए हैं, हिमध्वस्त होने से केवल नालशेष रह गए हैं तथा सुंदर नहीं लग रहे हैं ।'

(२) प्रकृति के क्रियाकलाप की तुलना सामान्य अथवा विशिष्ट मानव प्रकृति से की जाती है। यहाँ अलंकृत शैली का निबंधन पाया जाता है, किंतु अप्रस्तुत विधान माघ या श्रीहर्ष की भाँति केवल वैचित्र्यमूलक न होकर स्वतः-संभवी है; जैसे—

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः ।
सुग्रीव इव शांतारिर्धाराभिरभिषिच्यते ॥ किष्किंधाकांड ।

'फूले अर्जुनोंवाला, केतकी पुष्पों से सुगंधित यह पर्वत जलबिंदुओं के द्वारा ठीक उसी तरह अभिषिक्त किया जा रहा है, जैसे सुग्रीव जिसके शत्रु ध्वस्त हो चुके हैं ।'

यहाँ उपमा का विधान सुग्रीव की विशिष्ट मानव प्रकृति के चित्र को भी उपस्थित कर रहा है ।

(३) कभी कभी कवि वक्ता या पात्र की स्वयं की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की झलक बाह्य प्रकृति के चित्रण में प्रतिबिंबित दिखाकर दोनों का समन्वय करने की चेष्टा करता है; जैसे—

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे ।
स्फुरन्ती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी ॥
किष्किंधाकांड ।

'नीले मेघ में चमकती हुई बिजली मुझे ऐसी प्रतीत होती है, जैसे रावण की गोद में छटपटाती तपस्विनी सीता हो ।'

यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा कवि ने राम की मानसिक प्रतिक्रिया का भी संकेत किया है ।

महाभारत १८ पर्वों में विभक्त महाप्रबंधकाव्य है। प्रत्येक पर्व अध्यायों में विभक्त है। महाभारत में रामायण की अपेक्षा कहीं अधिक प्रक्षिप्त अंश हैं। इस ग्रंथ के दो संस्करण हैं—उत्तरी संस्करण तथा दक्षिणी संस्करण। इनमें प्रामाणिक कौन है, नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का मत है कि महाभारत का मूल रूप प्राकृतमिश्रित संस्कृत या मिश्रसंस्कृत में था। पूना से इस महाकाव्य का शुद्धतम संस्करण निकला है। महाभारत में कौरवपांडवों के युद्ध का वर्णन है, किंतु इस परिपार्श्व में दर्शन, धर्म, आचार, राजनीति आदि विषयों

पर विचार मिलते हैं। दार्शनिक दृष्टि से श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया आदेश महत्वपूर्ण है। महाभारत का यह अंश—भगवद्गीता—भारतीय दर्शन की 'प्रस्थानत्रयी' में माना जाता है, तथा तत्तत् दार्शनिक संप्रदाय के आचार्यों ने इसपर भाष्यों का निबंधन किया है। राजनीति तथा धर्म की दृष्टि से युधिष्ठिर को भीष्म के द्वारा दिए गए शांतिपर्व के उपदेशों का संकेत किया जा सकता है। साथ ही आर्यों की प्राचीनतम सभ्यता में प्रचलित अनेक सामाजिक व्यवस्थाओं का जितना पूरा ब्योरा हमें महाभारत में मिलता है, उतना रामायण में नहीं। इसके अतिरिक्त महाभारत अनेक आख्यानों तथा उपाख्यानों का, अनेक लोककथाओं का संग्रह भी है। दुष्यंत-शकुंतला, सत्यवान-सावित्री, नल-दमयंती की कथाएँ इनमें प्रमुख हैं।

महाभारत तथा रामायण दोनों की शैली में आकाश-पाताल का अंतर है। रामायण आदर्शवादी शैली का काव्य है, जब कि महाभारत यथार्थवादी शैली में निबद्ध है। महाभारत में मानवजीवन की दुर्बलताओं का भी मार्मिक चित्रण पाया जाता है। रामायण की शैली महाभारत की अपेक्षा अधिक सरस, अलंकृत तथा काव्यमय है। यही कारण है कि महाभारत को काव्य न कहकर 'इतिहास' कहा जाता है। महाभारत में काव्यगत चमत्कार उस मात्रा में उपलब्ध नहीं है।

रामायण तथा महाभारत दोनो परवर्ती संस्कृत साहित्य तथा अन्य देश्य भाषा साहित्यों के प्रेरक रहे हैं। बाद के कवियों ने न केवल शैली की दृष्टि से ही अपितु विषय की दृष्टि से भी इन दोनो काव्यों से प्रेरणा और सामग्री प्राप्त की। संस्कृत के अनेक काव्य एवं नाटक रामकथा को लेकर लिखे गए हैं और महाभारत की कथा तथा उसमें वर्णित अनेक आख्यानोपाख्यानों ने भी बाद के कवियों को विषय-वस्तु प्रदान की है। हिंदी के कवि भी रामायण तथा महाभारत के अत्यधिक ऋणी हैं। अन्य भाषाओं ने भी इस महान् सांस्कृतिक दाय को पाया है, तथा बँगला साहित्य के मध्ययुग में कृत्तिवास जैसे अनेक कवियों ने रामकथा तथा कवींद्र परमेश्वर जैसे कवियों ने महाभारत की कथा को अपनी सरस कविता में निबद्ध किया है।

पुराण

भारतीय साहित्य को साहित्यिक प्रेरणा देने में रामायण तथा महाभारत के अतिरिक्त पुराण साहित्य का भी प्रमुख हाथ है। पुराणों की संख्या १८ मानी गई है। ब्राह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, नारद, मार्कंडेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्मांड। इसके अतिरिक्त १८ उपपुराणों की भी कल्पना की जाती है। कुछ विद्वान् इस गणना में वायुपुराण

को भी संमिलित करते हैं जिसे प्राचीनतम पुराण माना जाता है। पुराणों का रचनाकाल बहुत बाद का है, संभवतः विक्रम की दूसरी शती से लेकर विक्रम की नवीं-दसवीं शती तक। किंतु जिन मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन उनमें हुआ है वे विक्रम से भी पुराने हैं। पुराण केवल धर्म तथा दर्शन का ही प्रतिपादन नहीं करते, वे केवल अवतारवाद तथा बहुदेववाद के ही प्रतिष्ठापक नहीं हैं, अपितु वे भारतीय संस्कृति के क्रमिक विकास का, भारतीय इतिहास का भी लेखाजोखा उपस्थित करते हैं, भले ही उसमें अतिरंजना हो। पुराणों के इस अतिरंजित कलेवर में सत्य का भव्य रूप छिपा पड़ा है, गवेषकों का कार्य है कि पुराणों में छिपे ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों को सामने लाएँ।

पुराणों में श्रीमद्भागवत का प्रमुख स्थान है। इस विषय में विवाद है कि यह पुराण है या उपपुराण। साथ ही इसके रचनाकाल के विषय में भी मतभेद है। इसकी उदात्त काव्यशैली को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि यह विक्रम की दशवीं शती से पूर्व की रचना नहीं हो सकती। श्रीमद्भागवत १२ स्कंधों में विभक्त पुराण है, जिसमें दशम स्कंध इसका प्राण है। भागवत का प्रधान लक्ष्य श्रीकृष्ण की महत्ता प्रदर्शित करना है; उसका सूत्रवाक्य है—'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। प्रथम, दशम तथा एकादश इन तीन स्कंधों में विस्तार से कृष्ण की कथा वर्णित है। काव्यशैली इतनी उदात्त है कि इसे विद्वानों के पांडित्य का निकषोपल माना जाता है। कृष्ण के बाल तथा तरुण रूप का वर्णन जिस मनोहर एवं सरस रूप में दशम स्कंध में वर्णित हुआ है, उसने जयदेव, चंडीदास, विद्यापति, सूरदास तथा अन्यान्य कृष्णभक्त कवियों को प्रेरणा दी है।

६. संस्कृत साहित्य का उदय और विकास : ऐतिहासिक पीठिका

यद्यपि पाणिनीय संस्कृत साहित्य की परंपरा विक्रम से कई शतियों पूर्व से लेकर आज तक पाई जाती रही है, तथापि हिंदी साहित्य की आधार-भित्ति के रूप में हम उस समय तक की परंपरा का पर्यवेक्षण करेंगे, जो हिंदी के उदय के समय तक मिलती है। इस परंपरा का आदिम रूप हम पतंजलि के समय के लगभग पाते हैं, जब ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत राजभाषा का पद ग्रहण कर रही थी। पुष्यमित्र का समय संस्कृत साहित्य का आरंभिक काल माना जा सकता है। पतंजलि के महाभाष्य से पता चलता है कि संस्कृत साहित्य में उनके पूर्व भी वररुचि की काव्यकृति (वाररुचं काव्यम्), वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी जैसा कथासाहित्य और 'बलिबंधनं' तथा 'कंसवध' जैसे नाटक विद्यमान थे। पर पतंजलि से पूर्व का साहित्य हमें आज उपलब्ध नहीं है। पाणिनीय संस्कृत साहित्य पतंजलि के समय से अखंड परंपरा में चलता रहा है, फिर भी ऐतिहासिक कारणों से इसकी

लहरें चढ़ती उतरती रही हैं। वैसे तो साहित्यिक व्यक्तित्व किसी दायरे में नहीं बाँधे जा सकते, किंतु यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कृत के कई कवियों को ख्याति दिलाने में उस काल की परिस्थितियाँ भी हाथ बटाती रही हैं। संस्कृत के बहुत से कवियों को राजाश्रय प्राप्त हुआ है। राजाओं के द्वारा संमानित होने के कारण तथा राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किए जाने के कारण ही संस्कृत की विशेष उन्नति हुई। जब जब कोई संस्कृतप्रेमी साम्राज्यविशेष इतिहास के नभोमंडल में चमका तब तब संस्कृत साहित्य के समुद्र में ज्वार आया; कवियों और पंडितों ने अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। यदि हम प्राचीन भारत के इतिहास के साथ संस्कृत साहित्य के धारावाहिक इतिहास का सर्वेक्षण करें तो पता लगेगा कि शुंग, उज्जयिनी के महाक्षत्रप, नाग-भारशिव, वाकाटक, गुप्त, पुष्यभूति तथा मध्ययुगीन राजवंशों के आश्रय से संस्कृत को प्रचुर प्रोत्साहन मिला।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद कान्यकुब्ज और वलभी (गुजरात) दो प्रमुख साहित्यिक केंद्र थे। वलभी का केंद्र कुछ ही दिनों तक रह पाया किंतु कान्यकुब्ज का केंद्र बाण (सातवीं शती) से लेकर नैषधकार श्रीहर्ष (बारहवीं शती) तक विद्या और कविता का पीठ बना रहा। कान्यकुब्ज के कई राजा स्वयं कवि थे, और यहीं समय समय पर बाण, मयूर, वाक्पतिराज, भवभूति, राजशेखर आदि कवियों को प्रश्रय मिलता रहा है। नवीं शती में दक्षिण में एक और साहित्यिक केंद्र का उदय हुआ। यह थी विदर्भ के राजाओं की राजधानी मान्यखेट। मान्यखेट के राजाओं के ही आश्रय में नलचंपू के रचयिता त्रिविक्रम भट्ट तथा कविरहस्य के रचयिता हलायुध थे। मुरारि भी दक्षिण में ही माहिष्मती (माधाता) के कलचुरि राजाओं के आश्रित थे। विक्रम की ११वीं और १२वीं शती में उत्तरी भारत में तीन केंद्र और चमके। इतिहास के पृष्ठों में पट्टण (गुजरात के सोलंकियों की राजधानी), धारा (परमारों की राजधानी), और लक्ष्मणावती (बंगाल के सेनों की राजधानी), कविता और विद्या के केंद्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। भारत में इस्लामी साम्राज्य स्थापित होने के पहले तक काशी (कान्यकुब्ज), पट्टण और लक्ष्मणावती कवियों के गढ़ थे, धारा का नक्षत्र कुछ ही दिनों पहले भोज की राज्यश्री के साथ अस्त हो चुका था। इसके बाद भी यत्रतत्र कई राज्यों में संस्कृत का संमान बना रहा। पर एक ओर इस्लामी साम्राज्य की प्रतिष्ठापना तथा दूसरी ओर नव्य प्रादेशिक भाषाओं के उदय ने संस्कृत साहित्य की धारा का वेग कम कर दिया। संस्कृत साहित्य की प्रकृति समझने के लिये १२वीं शती तक के साहित्य की प्रकृति का अनुशीलन ही आवश्यक है, क्योंकि बाद का संस्कृत साहित्य शत-प्रति-शत अंश में गतानुगतिक है, उसमें कोई नवीन मौलिक उद्भावना या नए प्रयोग नहीं मिलते।

संस्कृत साहित्य के इस युग को हम दो कालों में विभक्त कर सकते हैं :

एक संस्कृत साहित्य का विकासकाल, जिसमें संस्कृत कवियों ने काव्य को नई प्रवृत्तियाँ, नई भंगिमाएँ, नई उद्भावनाएँ प्रदान कीं। इस काल ने कालिदास, बाण, अमरुक जैसे कई व्यक्तियों को जन्म दिया। इस काल के कवियों ने जहाँ अजंता की चित्रकला से भावभंगिमा ली, वहाँ उनकी छेनी को उस काल की मूर्तिकला से कलात्मक नक्काशी भी प्राप्त हुई। हर्ष की मृत्यु (७०४ वि० सं०) के बाद संस्कृत साहित्य का विकास रुक सा गया। काव्य को पांडित्य-प्रदर्शन ने धर दबाया और वे सामंती विलासिता के दर्पण बन बैठे। संस्कृत साहित्य का गौरव फिर भी बना रहा, पर जैसे वह अपनी चढ़ती पर न था, उसकी उतरती के दिन आ रहे थे। यही कारण है कि हर्षोत्तर काल (७०४-१२५७ वि० सं०) के संस्कृत साहित्य को हम 'ह्रासोन्मुख साहित्य' कह सकते हैं। इसके पहले कि हम संस्कृत साहित्य की विधाओं का धारावाहिक सर्वेक्षण करें, उनके मूल में अनुस्यूत प्रवृत्तियो का संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं।

संस्कृत साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ पाँच हैं: (१) यह साहित्य स्मृत्यनुमोदित वर्णाश्रम धर्म का पोषक है। (२) इसका जीवन विलासी नागरिक जीवन है जिसका रूप हम वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित नागरक प्रकरण में देख सकते हैं[१]। (३) इस साहित्य पर तात्कालिक आस्तिक दार्शनिक चिंतन का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। कालिदास सांख्ययोग दर्शन से प्रभावित हैं, माघ सांख्ययोग तथा पूर्वमीमासा से एवं श्रीहर्ष शंकराचार्य के अद्वैत वेदात तथा न्याय-वैशेषिक की दार्शनिक सरणियों का प्रभाव अत्यधिक प्रकट करते हैं। (४) इन कवियों की कलात्मक मान्यताएँ भिन्न हैं। कालिदास भावपक्ष पर जोर देते हैं, पर उनके उत्तराधिकारी कलापक्ष पर। ये शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति या वक्रोक्ति के सौंदर्य को ही कलाकृति का सौंदर्य मानने लग गए हैं। फलतः ह्रासोन्मुखी कृतियों में अभिव्यंग्य तथा अभिव्यंजना का संतुलन नहीं हो सका है।[२] यही कारण है कि 'संस्कृत की परवर्ती कविता उस समय के परिशीलन की चीज नहीं है जब दिल भरा हो और दिमाग खाली हो; दिमाग का भरा होना इनके लिये जरूरी है।' (५) संस्कृत साहित्य की पाँचवीं विशेषता उसका संगीत है। संस्कृत कवियों का संगीत विशाल है, प्रत्येक कवि का संगीत अपने व्यक्तित्व को लिए है। 'कालिदास का संगीत मधुर और कोमल है, माघ का गंभीर और धीर, भवभूति का कहीं प्रबल और उदात्त,

[१] देखिए—कामसूत्र, १. ४. ५, १०, १३, १६–२६।

[२] देखिए—डा० भोलाशंकर व्यास : सं० क० द०, पृ० १८-३२।
इस ग्रंथ के उपर्यंकित पृष्ठों में इन पंक्तियों के लेखक ने संस्कृत साहित्य की इन समस्त विशेषताओं पर विस्तार से विचार किया है।
साथ ही देखिए—दासगुप्ता और डे : हि० सं० लि०, भूमिका, पृ० २६-३१।

एवं श्रीहर्ष और जयदेव का संगीत एक ओर कुशल गायक के अनवरत अभ्यास (रियाज) का संकेत करता है, दूसरी ओर विलासिता में शराबोर है[१]।

१०. संस्कृत साहित्य की शैलियों का धारावाहिक पर्यवेक्षण

सर्वप्रथम संस्कृत साहित्य को शैली की दृष्टि से दो तरह का माना जा सकता है : पद्य साहित्य और गद्य साहित्य। इन्हीं दोनों शैलियों का एक मिश्रित रूप भी मिलता है जिसे 'चंपू' कहते हैं, जिसमें एक साथ गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग मिलता है। श्रव्य काव्य में हम इन्हीं शैलियों को मान सकते हैं। दृश्य काव्य में गद्य और पद्य दोनों का व्यवहार होता है। पद्य साहित्य को पुनः महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक इन तीन शैलियों में बाँटा जा सकता है। गद्य साहित्य में एक ओर नीतिवादी शैली की कथाएँ आती हैं जो नैसर्गिक गद्य शैली का व्यवहार करती हैं, दूसरी ओर अलंकृत काव्यशैली की आख्यायिकाएँ और कथाएँ हैं। चंपू काव्यों को कुछ विद्वान् इसी दूसरी कोटि के गद्यसाहित्य का अंग मानते हैं जिनमें ह्रासोन्मुखी काल की पद्यशैली की छौंक अत्यधिक मिलती है। वे चंपू काव्यों को शैली की दृष्टि से स्वतंत्र नहीं मानते, क्योंकि चंपू काव्यों ने किसी भिन्न शैली को जन्म नहीं दिया[२]। दृश्य काव्यों को दस प्रकार के रूपकों में विभक्त किया जाता है जिनमें नाटक प्रमुख हैं। हम इन्हीं साहित्यिक शैलियों को लेकर प्रत्येक की गतिविधि का संक्षिप्त पर्यालोचन करेंगे।

(१) **महाकाव्य**—संस्कृत के पद्यसाहित्य में सबसे प्रमुख महाकाव्य साहित्य है। महाकाव्य प्रबंध काव्य की कोटि के इतिवृत्तात्मक विषयप्रधान काव्य हैं। संस्कृत में महाकाव्यों की विशेष पद्धति पाई जाती है। ये सर्गों में विभक्त होते हैं जो संख्या में आठ से अधिक होते हैं। इनका नायक देवता या उच्चकुलोत्पन्न राजा होता है जो धीरोदात्त कोटि का नायक होता है। नाटकों की भाँति महाकाव्य की कथावस्तु भी पंचसंधिसमन्वित होनी चाहिए। चतुर्वर्ग इन महाकाव्यों का लक्ष्य होता है और इनमें पुत्रजन्मोत्सव, विवाह, युद्ध आदि के वर्णन होते हैं। प्रकृति में प्रभात, सायंकाल, चंद्रोदय, षड्ऋतु वर्णन आदि पाए जाते हैं। महाकाव्य का अंगी रस शृंगार, वीर या शांत होता है, अन्य रस अंग रूप में निबद्ध होते हैं[३]। महाकाव्यों का उपर्युक्त लक्षण सर्वप्रथम दंडी के काव्यादर्श में मिलता है और ऐसा प्रतीत होता है कि दंडी ने अपने पूर्व के महाकाव्यों, विशेषतः कालिदास और भारवि के

[१] देखिए—डा० व्यास : सं० क० द०, आमुख, पृ० ३३-३४।
[२] दासगुप्ता और डे : हि० सं० लि०, पृ० ४२।
[३] देखिए—दंडी : काव्यादर्श, १. १४-२२।

आधार पर यह परिभाषा निबद्ध की है। अश्वघोष से लेकर बाद तक संस्कृत में पचासों महाकाव्य लिखे गए हैं। इनमें विषय की दृष्टि से दो कोटियाँ हैं : प्रथम पौराणिक महाकाव्य जिनकी कथा महाभारत या रामायण से ली गई है, दूसरे चरित संबंधी महाकाव्य। दूसरी कोटि के महाकाव्य संस्कृत के ह्रासोन्मुख काल की रचनाएँ हैं। इन महाकाव्यों में राजसभा के कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की यशोगाथा का गान किया है। विक्रम की ११वीं शती से लेकर बहुत बाद तक इस तरह के तथाकथित ऐतिहासिक चरितकाव्यों की बाढ़ संस्कृत साहित्य में देखी जा सकती है जिसका प्रभाव हिंदी के आदिकालीन चरितकाव्यों पर भी पड़ा है।

संस्कृत महाकाव्य के रचयिताओं में सर्वप्रथम **अश्वघोष** (सं० १८० वि०) का नाम लिया जा सकता है जिनके दो महाकाव्य बुद्धचरित और सौंदरानंद उपलब्ध हैं। अश्वघोष के पूर्व का कोई महाकाव्य उपलब्ध नहीं है। पाणिनि के 'पाताल-विजय' और 'जांबवतीपरिणय' नामक महाकाव्यों का संकेत किंवदंतियों से मिलता है। पाणिनि के नाम से उपलब्ध सूक्तिपद्यों की शैली बहुत बाद की प्रतीत होती है। अश्वघोष कनिष्क के गुरु तथा सभापंडित एवं महायान संप्रदाय के आचार्य थे। इन दोनों काव्यों में उनका विषय भगवान् बुद्ध के जीवन से संबद्ध कथा ही है। एक में स्वयं बुद्ध के जीवन की कथा है, दूसरे काव्य में बुद्ध के विमातृज भाई नंद के बौद्ध भिक्षु बनने की कथा है। अश्वघोष के काव्यों का लक्ष्य 'उपदेशवादी' है[1] और यही कारण है कि अश्वघोष का भावपक्ष और कलापक्ष दोनों नैतिक एवं धार्मिक उपदेश के उपस्कारक बनकर आते हैं। अश्वघोष, कालिदास और माघ में एक तात्विक अंतर है। अश्वघोष दार्शनिक कवि हैं, कालिदास मूलतः कवि हैं, माघ पंडित कवि हैं। अश्वघोष की प्रवृत्ति विशुद्धिवादी है, कालिदास की भावुक, माघ की कलावादी। अश्वघोष की कविता कई स्थानों पर बोझिल और रूक्ष हो हो जाती है। पर जहाँ अश्वघोष धार्मिक उपदेश से बाहर निकलकर आते हैं, वहाँ उनमें काव्य की भव्यता के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि बुद्धचरित के केवल तृतीय और चतुर्थ सर्ग सुंदर बन पड़े हैं, जबकि सौंदरानंद बुद्धचरित की अपेक्षा अधिक सुंदर कृति है। शैली की दृष्टि से अश्वघोष की शैली आदिकवि की भाँति सरल और सरस है, हाँ कालिदास जैसी स्निग्धता का अश्वघोष में अभाव है।

अश्वघोष की रूक्ष शैली का स्निग्ध रूप **कालिदास** में उपलब्ध होता है।

[1] यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं ।
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥ सौंदरा०, १८, ६३ ।

अश्वघोष और कालिदास[1] के बीच का कोई काव्य नहीं मिलता, किंतु अश्वघोष की शैली का परिपक्व रूप हम हरिषेण (सं० ४०७ वि०) की समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में देख सकते हैं[2]। कालिदास संस्कृत साहित्य का वह ज्वलंत दीपस्तंभ है जिसमें अभिव्यंग्य और अभिव्यंजना, भावपक्ष और कलापक्ष का चरम समन्वय पाया जाता है। पर कालिदास का महत्व इससे भी बढ़कर इसलिये है कि उनके काव्य में अपने युग की सामाजिक चेतना अंकित है। कालिदास का काव्य एक ओर उदार राजनीति, उस काल के नैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्तर का प्रतिनिधित्व करता है, दूसरी ओर भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग की शास्त्र, विज्ञान, और कलासंबंधी उन्नति का परिचायक है। यह दूसरी बात है कि कालिदास मूलतः नागरिक जीवन के कवि हैं। चाहे वे दिलीप के लिये हाथों में मक्खन लेकर उपस्थित होते ग्रामवृद्ध, रघु के चरित को गाती हुई ऊख के खेत की रखवाली करती शालिगोपिकाओं[3], मेघ की प्रतीक्षा करती जनपदवधुओं के चित्र भी अंकित करते हों, पर उनका मन अधिकतर उज्जयिनी या अलका के राजमार्ग के सरस विलासी चित्र में ही रमता है[4]। अयोध्या की नागरिक समृद्धि का ध्वंस देखकर कवि का मन वेदना और पीड़ा से कराह उठता है[5]। कालिदास रसवादी कवि हैं। उनके कुमारसंभव और मेघदूत में रस ही प्रमुख प्रतिपाद्य है, वहाँ कोई संदेश नहीं है। रघुवंश में कवि के प्रौढ़ जीवन के अनुभवों ने काव्य को जीवन की प्रेरणा का अस्त्र बनाया है, पर वहाँ भी कवि रस का इतना उदात्त रूप सँभाले रहता है कि उसका संदेश व्यंग्य बना रहता है और काव्य की प्रभावोत्पादकता में विघ्न नहीं

[1] कालिदास के काल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। पंडितों का एक दल उन्हें विक्रम की प्रथम शताब्दी का मानता है। हमने यहाँ अधिक प्रचलित मत को लेकर कालिदास को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समसामयिक माना है।

[2] डा० ब्यूल्हर : इंडियन इन्स्क्रिप्शन एंड दि एंटिक्विटी आफ् इंडियन आर्टिफिशल पोएट्री, पृ० २५–३७।

[3] इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ र० वं०, ४. २०।

[4] कालिदास के नगर-समृद्धि-वर्णनों में मेघदूत का उज्जयिनी तथा अलका का वर्णन प्रमुख है। कालिदास के इन चित्रों में विलासी जीवन की रंगीनी देखी जा सकती है। नमूने के रूप में एक वर्णन यह है :

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मंदारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥ मे० दू०, उत्तरमेघ० ६।

[5] देखिए—र० वं०, १६. १२–१६ तथा परवर्ती पद्य।

डालता। रघुवंश की सबसे बड़ी सफलता का कारण यही है। उसमें संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों का चरम उत्कर्ष दृष्टिगत होता है। कालिदास का कलापक्ष सदा भावपक्ष का उपस्कारक बनकर आता है। न तो वे भारवि की भाँति अर्थ को पांडित्य की कठोर चहारदीवारी के भीतर छिपाए रहते हैं, न माघ की भाँति अलंकारों के मोह में ही फँसते हैं, और न श्रीहर्ष की भाँति दुरूह कल्पना में ही अपनी पांडित्य-पूर्ण कलात्मकता का प्रदर्शन करते हैं। कालिदास का कवि सहृदय कवि है, मधुर आकृति का कवि है, आत्मा की सरसता का कवि है, जिसे किसी बाह्य अलंकृति को बलात् आरोपित करने की आवश्यकता नहीं। कालिदास की कला का एकमात्र प्रतिपाद्य 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'—सुंदर आकृतिवालों को मंडन की क्या आवश्यकता—है।

कालिदास के दो महाकाव्य हैं, कुमारसंभव तथा रघुवंश। इनके अतिरिक्त कालिदास के दो गीतिकाव्य (तथाकथित खंडकाव्य) तथा तीन नाटक भी उपलब्ध हैं (ऋतुसंहार और मेघदूत, तथा मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुंतल)। कुमारसंभव शिवपार्वती की कथा को लेकर चलता है, और कालिदास की रचना इसके आठ सर्ग ही हैं। ऐसा जान पड़ता है, कवि ने इसे अधूरा नहीं छोड़ा है, किंतु पार्वती की तपश्चर्या के 'फल' रूप शिवपार्वती संभोग का वर्णन कर काव्य को यहीं समाप्त कर देना ठीक समझा है, और कुमार के जन्म की व्यंजना कराने में यह पूर्णतः समर्थ है। कुमारसंभव कवि के यौवन की उद्दाम प्रणयभावना से अंकित जान पड़ता है। रघुवंश १६ सर्ग का काव्य है, जिसमें दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के राजाओं का वर्णन है। इस प्रकार रघुवंश में एक समग्र इतिवृत्त न होकर अनेक इतिवृत्तों का एक सूत्र में आकलन है। रघुवंश एक चित्रशाला है, जिसमें अनेक राजाओं के चित्र हमारे सामने आते हैं। दिलीप, रघु, अज और राम के चित्र हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट करते हैं, और इन सबमें भी कवि की तूलिका ने अपना रस राम के चित्र को अधिक दिया जान पड़ता है[१]। रघुवंश का इतिवृत्त एक निश्चित आदर्श को लेकर आता है। रघुवंश का प्रत्येक राजा एक विशिष्ट आदर्श का प्रतीक है, और कालिदास अपने राजा में एक साथ इन सभी आदर्शों का समन्वय देखना चाहते हैं। पर आदर्श

[१] डा० कुन्हन राजा ने रघुवंश का मुख्य चरित्र रघु को ही माना है, राम को नहीं। वे तो एक समस्या भी उपस्थित करते हैं कि कालिदास को रामायण तक का पता न था। पर डा० राजा की यह शंका ठोस प्रमाणों पर आधृत नहीं जान पड़ती। देखिए—डा० कुन्हन राजा : श्रीराम ऐंड रघुवंश (ए वाल्यूम आव् स्टडीज इन इंडोलॉजी, प्रेजेंटेड टु प्रो० पी० वी० काणे, पृ० ३५६-३६१)।

होते हुए भी कालिदास के ये चरित्र कृत्रिम नहीं जान पड़ते। उनके शिवपार्वती देवता होते हुए भी मानवी रूप में सामने आते दिखाई देते हैं, और उनके दिलीप, रघु, अज या राम आदर्श राजा होते हुए भी इसी विश्व के प्राणी हैं; वे आदर्श होते हुए भी यथार्थ से दूर नहीं हैं। कालिदास ने प्रबंधकाव्य को बाद के महाकाव्यों की तरह कोरे ऊब भरे वर्णनों का आलवाल नहीं बनाया है। उन्होंने इस बात को ध्यान में रखा है कि महाकाव्य का इतिवृत्त गतिशील रहे। यह दूसरी बात है कि महाकाव्य के इतिवृत्त की गति नाटकीय कथावस्तु की अपेक्षा मंथरता का आश्रय लेती है, पर उसे अनावश्यक विस्तृत वर्णनों से अवरुद्ध कर देना महाकाव्य के साथ न्याय नहीं। ह्रासोन्मुख काल के सभी महाकाव्यों में यह दोष पाया जाता है। अश्वघोष तथा कालिदास दोनों ने इस बात का ध्यान रखा है कि इतिवृत्त की धारा का अधिक अवरोध न हो। अश्वघोष में फिर भी दार्शनिकता कहीं कहीं इतिवृत्त की गति को रोक देती है, पर कालिदास के दोनों महाकाव्यों की कथा में गत्यवरोध नहीं मिलता। कालिदास के महाकाव्यों में बीच बीच में एक से एक सुंदर वर्णन आते हैं, किंतु वर्णन के पिष्टपेषण को सुनकर पाठक के ऊबने से पहले ही कालिदास कथासूत्र पकड़कर आगे बढ़ जाते हैं। कई स्थलों पर उनके विस्तृत वर्णन भी भावप्रवण होने के कारण ऊब नहीं पैदा करते। इसके उदाहरण के लिये हम रघुवंश के तेरहवें सर्ग का पुष्पक विमान की यात्रा का वर्णन ले सकते हैं।

कालिदास कोमल भावों के चित्रकार हैं। शृंगार तथा करुण कालिदास के विशेष रस हैं। प्रकृतिवर्णन में भी कालिदास प्रकृति के कोमल पक्ष के ही प्रशंसक हैं, भवभूति की भाँति उन्हें प्रकृति के गंभीर और भयावह पक्ष के प्रति रुचि नहीं। कालिदास ने संयोग तथा विप्रयोग दोनों तरह के शृंगार का सुंदर चित्रण किया है। प्रथम का उदाहरण कुमारसंभव के अष्टम सर्ग या रघुवंश के १६वें सर्ग का रतिवर्णन लिया जा सकता है। विप्रलंभ शृंगार का बेजोड़ वर्णन यक्ष का संदेश है। कुमारसंभव के रतिविलाप और रघुवंश के अजविलाप में विहाग की करुण रागिनी झंकृत हो उठी है[1]। कालिदास में आलंबन रूप तथा उद्दीपन रूप दोनों तरह की प्रकृति के चित्र मिलते हैं। आलंबन रूप प्रकृति का वर्णन करने में कालिदास ने सदा स्वभावोक्तिवाली अनलंकृत पद्धति का प्रयोग किया है[2] जो आदिकवि के प्रकृतिवर्णन की परंपरा का निर्वाह है। उद्दीपन रूप प्रकृति में कालिदास ने अप्रस्तुत-विधान का व्यवहार किया है, पर कालिदास के अप्रस्तुत-विधान वातावरण के

[1] गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥ कु० सं०, सर्ग ४।

[2] देखिए—कु० सं० का हिमालयवर्णन, सर्ग १ तथा र० वं० का हिमालयवर्णन, सर्ग २।

निर्माण में सहयोग देते हैं[१], वे भारवि, माघ या श्रीहर्ष के अलंकृत प्रकृतिवर्णनों की तरह कोरी प्रौढ़ोक्तियाँ नहीं हैं। कालिदास ने एक स्थल पर (रघुवंश, नवम सर्ग) प्रकृतिवर्णन में यमक का भी उपन्यास किया है, पर वह भारवि (पंचम सर्ग) या माघ (चतुर्थ सर्ग या षष्ठ सर्ग) से अधिक सरस है। भारतीय पंडितों ने कालिदास की उपमा को सर्वोत्कृष्ट माना है और एक उपमा के आधार पर उन्हें 'दीपशिखा कालिदास' की उपाधि दी है[२]। उपमा के अतिरिक्त कालिदास की वस्तूत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति भी बेजोड़ है। कालिदास के साधर्म्यमूलक अलंकारों का सबसे बड़ा गुण यह है कि वे मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय देते हैं[३]। खेद है, कालिदास ने काव्य के क्षेत्र में जिस राजमार्ग का संकेत किया उसपर चलना उनके उत्तराधिकारियों ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कालिदास के कलापक्ष को तो आगे बढ़ाया, पर वे भावपक्ष को न सँभाल सके। कालिदास के बाद के काव्य अधिक अलंकृत परिवेश को लेकर आने लगे। इनका पहला प्रकट रूप भारवि के किरातार्जुनीय में उदित हुआ।

भारवि (लगभग सं० ६०० वि०) दाक्षिणात्य थे और कुछ किंवदंतियों के अनुसार काञ्ची के किसी राजा के सभापंडित थे। दूसरी किंवदंतियाँ उन्हें पुलकेशी द्वितीय के छोटे भाई विष्णुवर्धन का सभापंडित मानती हैं, जो प्रामाणिक नहीं जान पड़तीं। भारवि की एकमात्र उपलब्ध कृति किरातार्जुनीय है, जो १८ सर्ग का महाकाव्य है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है जिसमें पाशुपतास्त्र के लिये अर्जुन की तपस्या का वर्णन है। भारवि का इतिवृत्त बीच बीच में कई अनावश्यक ऊब भरे वर्णनों से अवरुद्ध दिखाई पड़ता है। उसके चतुर्थ सर्ग से लेकर दसवें सर्ग तक कथाप्रवाह रुक जाता है। भारवि में पाडित्यप्रदर्शन अधिक पाया जाता है, और उनका प्रमुख लक्ष्य अर्थगौरव है। अर्थगौरव के साथ ही भारवि चित्रकाव्य के भी प्रेमी हैं। पंचम सर्ग में अनेक प्रकार के यमक और पंचादश सर्ग में विविध चित्रकाव्यों का प्रयोग सर्वप्रथम भारवि में ही मिलता है। भारवि का भावपक्ष कालिदास और माघ दोनों की अपेक्षा निम्न कोटि का है, और कलापक्ष में भी माघ बाजी मार ले जाते हैं। भारवि के काव्य के प्रभावोत्पादक स्थल उनके संवाद हैं। प्रथम और द्वितीय सर्ग का द्रौपदी, भीम और युधिष्ठिर का संवाद किरातार्जुनीय महाकाव्य का प्रमुख स्थल है। यहीं भारवि के राजनीतिक ज्ञान का भी परिचय मिलता है। भारवि के ही मार्ग पर भट्टि (सं० ६८२ वि०)

१ देखिए—कु० सं०, सर्ग ३ का वसंतवर्णन : ३. २५–२९।

२ संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ.........भूमिपाल। र० वं०, ६. ६७।

३ एक उदाहरण यह है :
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिंधुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥ कु० सं०, सर्ग ५।

भी चलते दिखाई देते हैं। भेद केवल इतना है कि भारवि का पांडित्य राजनीति का है, भट्टि का व्याकरण का। काव्य की दृष्टि से भट्टिकाव्य बहुत निम्न कोटि का काव्य है, किंतु इस काव्य की एक विशेषता यह है कि २२ सर्ग के काव्य में रामकथा के बहाने कवि ने व्याकरण के नियमों का प्रदर्शन किया है। भारवि की कलावादिता का प्रभाव कुमारदास के जानकीहरण पर भी देखा जा सकता है।

भारवि संस्कृत महाकाव्यों की कलावादी सरणि के उद्भावक हैं, तो माघ (७३२ वि० सं०) इसके एकच्छत्र सम्राट्। माघ ने भले ही भारवि के मार्ग पर चलना स्वीकार किया हो, पर माघ का काव्य क्या भावपक्ष, क्या अर्थगांभीर्य, क्या शब्दभांडार और क्या पदविन्यास, सभी दृष्टियों से भारवि से कहीं आगे बढ़ा हुआ दिखाई पड़ता है। कथासंविधान की दृष्टि से माघ का 'शिशुपालवध' किरातार्जुनीय को आदर्श बनाकर चला है, पर शैली की दृष्टि से माघ का आदर्श भारवि के कलावादी क्षेत्र को और परिपुष्ट बनाना है। भारवि को गौडी की विकटबंधता का अभिनिवेश नहीं है। माघ ही सबसे पहले कवि हैं जिन्होंने संस्कृत काव्यों को एक नई शैली दी जो भावी महाकाव्यों का दीपस्तंभ रही है। माघ का काव्य पांडित्य के बोझ से दबा हुआ अवश्य है, किंतु महाकाव्यों के क्षेत्र में कालिदास के बाद यदि किसी कवि में भावतरलता है तो वह माघ में ही। पुराने आलोचकों ने माघ की प्रौढोक्ति, श्लेषयोजना और गंभीर पदविन्यास को ही देखकर उसे महाकाव्यों का मूर्धन्य घोषित कर दिया था, किंतु माघ के वास्तविक लावण्य की ओर वे आँख न उठा पाए। माघ का सच्चा कविहृदय हमें माघ की स्वभावोक्तियों में मिलता है जो उसके पंचम तथा द्वादश सर्ग के सेनाप्रयाण वर्णन में मिलती हैं। माघ ने जहाँ भारवि के गुणों को अधिक व्यक्त रूप दिया है वहाँ भारवि के दोषों को भी घनीभूत कर दिया है। यमक, श्लेष तथा चित्रकाव्यों के प्रयोग में भी माघ भारवि से बढ़े चढ़े हैं, जो माघ के काव्य के भावपक्ष को दबा देते हैं[1]। इतिवृत्तनिर्वाहकता माघ में भारवि जितनी भी नहीं है और एक छोटे से कथानक को लेकर २० सर्गों के महाकाव्य का वितान फैला देना कलाबाजी की हद है। शिशुपालवध के वीररसपूर्ण कथानक में चौथे सर्ग से लेकर तेरहवें सर्ग तक का विस्तार से किया गया प्रकृति, षड्ऋतुवर्णन, जलविहार, रतिकेलि आदि का चित्रण कहाँ तक खप सकता है। माघ में अंगी रस (वीर) की अपेक्षा अंग रस (शृंगार) का चित्रण अधिक हो गया है। विषय संविधान और शैली की दृष्टि से माघ का प्रभाव समस्त परवर्ती काव्यों पर रहा है। रत्नाकर (९०७ वि० सं०) का हरविजय एवं हरिचंद्र (१०वीं शती) का धर्मशर्माभ्युदय माघ की शैली पर चलनेवाले काव्यों में प्रमुख हैं। इन परवर्ती काव्यों का एकमात्र लक्ष्य शब्दयोजना तथा वक्रोक्ति के द्वारा

[1] देखिए—शि० व०, सर्ग ४ और सर्ग १६।

(स्वभावोक्ति के द्वारा नहीं) प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करता रहा है। यही कारण है कि ये काव्य हृदय को उतना नहीं छू पाते जितना बुद्धि को। आलोचकों ने भी इनमें इन्हीं गुणों को देखा और अनूठी कल्पनाओं के लिये, अद्‌भुत सूक्तियों के लिये, भारवि, माघ और त्रिविक्रम भट्ट को क्रमशः आतपत्रभारवि,[1] घंटामाघ[2] यामुनत्रिविक्रम की[3] उपाधि से विभूषित कर डाला।

माघोत्तर काल में महाकाव्यों में तीन तरह की कृतियाँ देखी जा सकती हैं। पहले ढंग की कृतियाँ वे हैं जो पूर्णतः चित्रकाव्य कही जा सकती हैं। माघ के बाद संस्कृत साहित्य में यमक काव्यों और द्वयाश्रय श्लेष काव्यों की बाढ़ सी आ गई। महाकाव्य शाब्दिक क्रीड़ा के क्षेत्र बन गए। यमक काव्यो में नलोदय काव्य तथा युधिष्ठिरविजय प्रसिद्ध हैं जिनमें प्रत्येक में यमक का प्रयोग, यमक के अनेक भेदों का प्रदर्शन किया गया है। इन कृतियों ने माघ के रहे सहे भावपक्ष को भी कुचल दिया। श्लेष काव्यों में प्रथम महत्वपूर्ण कृति कविराज (११वीं शती) का 'राघवपाडवीय' है जिसमें श्लेष के द्वारा एक साथ रामायण तथा महाभारत की कथा कही गई है। प्रत्येक पद्य का अभंग और सभंग श्लेष के कारण दोनों पक्षों में अर्थ लगता है। कविराज के अनुकरण पर राघवनैषधीय (हरदत्तसूरि कृत) और राघवपाडवीययादवीय (चिदंबरकृत) जैसे अन्य तथाकथित महाकाव्य भी लिखे गए। इनमें अंतिम कृति में एक साथ रामायण, महाभारत और भागवत (कृष्णकथा) इन तीनों कथाओं का श्लिष्ट निर्वाह मिलता है। दूसरे ढंग की कृतियाँ सूक्तिप्रधान महाकाव्य हैं, जिनमें कवि का लक्ष्य दूर की उड़ान, हेतूत्प्रेक्षा और प्रौढोक्ति की लंबी कल्पना करना रहा है। माघ में ही कुछ ऐसे अप्रस्तुतविधान मिल सकते हैं, पर माघ के बाद इस तरह के प्रयोग काव्य में अधिक पाए जाते हैं। मंख या मंखक (१२वीं शती) का श्रीकंठचरित, जो शिव से संबद्ध पौराणिक महाकाव्य है, प्रौढोक्तियों के लिये विशेष प्रसिद्ध है। तीसरी पद्धति ऐतिहासिक चरितकाव्यों की है। कहने को तो ये काव्य ऐतिहासिक हैं, पर इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा कल्पना का पुट अधिक दिया गया है। चरितकाव्यों की परंपरा का आरंभ शिलाप्रशस्तियों से माना जा सकता है, पर उसका स्फुट रूप बाण के हर्षचरित और वाक्पतिराज के गउडवहो (प्राकृत काव्य) में मिलता है। संस्कृत महाकाव्यों में इस पद्धति का सर्वप्रथम काव्य विह्लण (११वीं शती) का विक्रमांकदेवचरित है। विल्हण ने अपने काव्य में फिर भी ऐतिहासिक तथ्यों को अधिक विकृत नहीं किया है, पर पद्मगुप्त (११वीं शती) के नवसाहसांकचरित में तो इस प्रवृत्ति से

१ आधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्। किरातार्जुनीय, ४।

२ घंटाद्वयपरिवातिवारणेंद्रलीलाम्। शि० व०, ४. २०।

३ सलिलनिधिविभिन्नं जाह्नव यामुनं च। न० च०, ६. १।

इतिहास दब सा गया है। संस्कृत में १२वीं शती के बाद भी कई तथाकथित ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे गए जो तथ्य और कल्पना की धूपछांही लेकर आते हैं। शैली में ये माघ के ढर्रे पर चलते दिखाई देते हैं। इन काव्यों में हम्मीरविजय, राष्ट्रौढवंश, सुर्जनचरित आदि प्रसिद्ध हैं।

बारहवीं शती के अंतिम दिनों में संस्कृत साहित्य में एक प्रबल व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है जिसने उपर्युक्त तीनो धाराओं से प्रभावित होकर एक यशस्य कृति दी। श्रीहर्ष (१२वीं शती) का नैषधीयचरित माघोत्तर काल के महाकाव्यों में मूर्धन्य है। दरबारी कवियों की सूक्तिपरंपरा का श्रीहर्ष पर पर्याप्त प्रभाव है, और श्रीहर्ष का गंभीर पाडित्य उनकी नई नई सूक्तियों को जन्म दे सका है। श्रीहर्ष कवि के रूप में पाठक को इतना चमत्कृत नहीं करते जितना सूक्तिकार के रूप में। सूक्तियों के लिये वे भाव का हनन कर सकते हैं। दमयंतीविलापवाले प्रसंग (नवम सर्ग) में कवि के पास भावव्यंजना कराने का पर्याप्त स्थल था पर वहाँ भी श्रीहर्ष अपने सूक्तिवादी पाडित्य के चोले को अलग नहीं कर सके[1]। श्रीहर्ष की शैली में श्लेष का प्रयोग माघ से भी अधिक है, और १३वें सर्ग में तो कवि ने दमयंती के स्वयंवर में नलरूप में आए इंद्रादि देवताओं और नल का श्लिष्ट वर्णन किया है। इस सर्ग के कुछ पद्यों के तो पाँच पाँच अर्थ होते हैं जो क्रमशः इंद्र, अग्नि, वरुण, यम और नल के पक्ष में घटित होते हैं। श्रीहर्ष पर तीसरा प्रभाव ऐतिहासिक काव्यों का भी है। यद्यपि नैषधीयचरित स्वयं ऐतिहासिक महाकाव्य नहीं है, पर श्रीहर्ष की ११वें और १२वें सर्ग की राजप्रशस्तियों में यह प्रभाव ढूँढा जा सकता है। प्राचीन पंडितों ने श्रीहर्ष की कविता में जिस सौंदर्य को देखा है, वह है उनकी पदयोजना। श्रीहर्ष में पदलालित्य का अपूर्व निर्वाह दिखाई देता है। पुराने कवियों में यह निर्वाह केवल माघ में ही पाया जाता है, बाद के कवियों में इस दृष्टि से या तो जयदेव का नाम लिया जा सकता है या फिर जगन्नाथ पंडितराज का।

महाकाव्यों की विशेषताओं का उपसंहार करते हुए हम देखते हैं कि कालिदास की परंपरा का निर्वाह करनेवाला कोई भी उत्तराधिकारी नहीं दिखाई देता। कालिदास का सरस शृंगार आगे के काव्यों में जाकर शृंगारकला का रूप ले लेता है। यद्यपि कालिदास स्वयं भी वात्स्यायन से प्रभावित हैं, किंतु भारवि, माघ या श्रीहर्ष में वात्स्यायन का प्रभाव अत्यधिक पाया जाता है। कालिदास के कुछ शृंगारी वर्णनों को अश्लील कहा जाता है, पर माघ और श्रीहर्ष कहीं अधिक अश्लील हैं। कालिदास की प्रकृति मूलतः स्वच्छंदतावादी (रोमेंटिक) है, वे

[1] नै० च०, ६. १०६ तथा परवर्ती पद्य।

प्रेमभाव के कवि हैं, जबकि भारवि, माघ या श्रीहर्ष का शृंगारवर्णन हृदयतल से निकला हुआ नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि ये कवि आंगिक सौंदर्य और विलास के कवि हैं। रसवादी कालिदास के वर्णन हृदय को हलका सा गुदगुदा देते हैं, अलंकारवादी महाकवियों के वर्णन उत्तेजक दिखाई पड़ते हैं। कालिदास में मानव प्रकृति और बाह्य प्रकृति का निरीक्षण करने की अपूर्व सूझ है, जो बाद के कवियों में नहीं पाई जाती।

(२) **खंडकाव्य**—मानव जीवन के किसी एक पक्ष से संबद्ध इतिवृत्त को लेकर चलनेवाले प्रबंध कोटि के काव्य खंडकाव्य कहलाते हैं। ये भी विषयप्रधान ही होते हैं और इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका फलक (केन्वस) विस्तृत नहीं होता। संस्कृत के आलंकारिकों ने बताया है कि खंडकाव्य प्रायः सर्गों में विभक्त नहीं होते। संस्कृत परंपरा में खंडकाव्यों की धारणा कुछ स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ती। कई ऐसी रचनाओं को जो वस्तुतः खंडकाव्य नहीं हैं, खंडकाव्य मान लिया गया है। मेघदूत, चौरपंचाशिका जैसे काव्य, जो वस्तुतः विषयिप्रधान गीतिकाव्य हैं, खंडकाव्य कहे जाते हैं। खंडकाव्य का विशेष लक्षण वस्तुप्रधानता है तथा इनमें इतिवृत्त का स्पष्ट आधार होता है। मेघदूत आदि रचनाओं में यह विशेषता सुस्पष्ट नहीं पाई जाती। वहाँ इतिवृत्त या कथासूत्र नगण्य है, उनकी सबसे बड़ी विशेषता कवि के अपने भावो और कल्पनाओं की अभिव्यंजना जान पड़ती है। संस्कृत का सबसे प्रथम तथाकथित खंडकाव्य कालिदास का मेघदूत है। मेघदूत को कुछ लोग करुण गीत (एलीजी) मानते हैं। यह मत भी भ्रांत है। वस्तुतः मेघदूत गीतिकाव्य या 'लिरिक पोयम' है। मेघदूत का यक्ष कुछ नहीं, कवि के स्वयं के व्यक्तित्व को सामने रखता दिखाई पड़ता है। कल्पनाओं की रंगीनी और भावो की तरलता जैसी मेघदूत के चित्रपट पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है, वैसी कालिदास के प्रबंधकाव्यों में नहीं। उज्जयिनी या अलका के नगरवर्णन, रामगिरि से अलका तक के प्रकृतिवर्णन, विंध्य की तलहटियों में हाथी की पत्ररचना की तरह छिटकी रेवा की धारा, नीप पुष्पों से सुरभित नीच पर्वत, रसभरी गंभीरा नदी, आम्रकूट पर्वत आदि स्थलों के वर्णन में कवि ने स्वानुभव को व्यक्त किया है। उत्तरमेघ का यक्षसंदेश तो कवि के हृदय की वेदना को उभारकर सामने रख देता है[1]। पूर्वमेघ में कल्पना-पक्ष की प्रचुरता है, उत्तरमेघ में भावनापक्ष की। कल्पना और भावना के निविड घनसंश्लिष्ट आवेग से भरा मेघ कवि के हृदय का संदेश देता है। मेघदूत की सरसता का मूल कारण भी विषयिप्रधानता ही है। मेघदूत में जो अति-शृंगारी चित्र

[1] अङ्गेनाङ्ग प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं, सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कंठमुत्कंठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥
उत्तरमेघ।

पाए जाते हैं; उन्हें कालिदास की भावुक (रोमैंटिक) प्रकृति की उदात्त प्रक्रिया (सब्लिमेशन) माना जा सकता है जो वर्णाश्रम व्यवस्था से जकड़े प्रबंधकाव्य में अपनी उन्मुक्त प्रणयवेदना को व्यक्त करने में असमर्थ पाकर गीतिकाव्य का परीवाह मार्ग पाकर तेजी से निकल पड़ती है। कालिदास से प्रभावित होकर बाद के कई कवियों ने इस तरह के बीसों काव्य लिखे, जिनमें विक्रम (१०वीं शती) का 'नेमिदूत' तथा धोयी (१२वीं शती) का 'पवनदूत' विशेष प्रसिद्ध है। पर ये दूतकाव्य मेघदूत के गुणों को नहीं पा सके। इसका कारण भावों की ईमानदारी का अभाव था जो गीतिकाव्य के लिये आवश्यक होता है। मेघदूत संस्कृत गीतिकाव्यों का चूड़ामणि है।

(३) मुक्तक काव्य

(अ) नीति मुक्तक—संस्कृत मुक्तक पद्यों को तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है : (१) नीतिपरक मुक्तक,(२) स्तोत्र-मुक्तक, (३) शृंगारी मुक्तक। नीतिपरक मुक्तकों की कोटि में एक ओर अन्योक्तिवाले मुक्तक, दूसरी ओर नीतिसंबंधी मुक्तक, तीसरी ओर वैराग्य संबंधी शांतरसपरक मुक्तकों का समावेश किया जा रहा है। नीतिपरक मुक्तकों में उपदेशात्मक पद्धति का आश्रय पाया जाता है। इनमें भी अन्योक्तिवाले मुक्तको में काव्यसौंदर्य अधिक दिखाई पड़ता है, क्योंकि वहाँ उपदेश व्यंग्य रहता है, वाच्य नहीं हो पाता। अन्य दो कोटियों के नीतिपरक मुक्तकों में वह वाच्य हो जाता है, फलतः कलात्मक सौंदर्य दब जाता है। अन्योक्तियों में भल्लट (७५७ वि० सं०) के अन्योक्तिमय मुक्तक हैं जो 'भल्लटशतक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। भल्लट के मुक्तकों को आनंदवर्धन तक ने ध्वन्यालोक मे उद्धृत किया है। हाथी, भौंरा, चातक, मृग, सिंह आदि को प्रतीक बनाकर भल्लट ने मानव जीवन के कई चित्र अंकित कर उनपर सटीक निर्णय दिया है। भल्लट के बाद कई फुटकर अन्योक्तियाँ सुभाषित ग्रंथों में मिलती हैं। परवर्ती काल में पंडितराज जगन्नाथ (१७वीं शती) ने भी कई अन्योक्तियाँ लिखी हैं, जो भामिनी-विलास में संगृहीत हैं। दूसरी कोटि के नीतिपरक मुक्तकों तथा तीसरी कोटि के शांतपरक मुक्तकों में भर्तृहरि (६७५ वि० सं०) के पद्यों का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। भर्तृहरि के नीति, वैराग्य तथा शृंगारशतक मुक्तक काव्यों में प्रथम चरण हैं। नीतिसंबंधी मुक्तकों में भर्तृहरि ने अपनी पैनी निगाह से समस्त मानव जीवन का सर्वेक्षण किया है। उसने सज्जनों की साधुता, दुष्टों की भुजंगता, मानियों का मान, परोपकारियों की उदारता, पंडितों की मेधा और मूर्खों की जड़ता जैसे परस्पर विरोधी कई तरह के सदसत् पहलुओं की मार्मिक व्याख्या की है। नीतिपरक मुक्तकों की कोटि में एक कृति का नाम न लेना भूल होगी, जिसने सभी नीतिपरक मुक्तक काव्यों को प्रभावित किया है। यह है, चाणक्यनीति। चाणक्यनीति को भले

ही कुछ विद्वान् मुक्तक काव्य इसलिये न मानें कि वह कलात्मक सौष्ठव का अधिक प्रदर्शन नहीं कर पाती, पर चाणक्यनीति को भी नीतिकाव्यों की कोटि में मानना ही होगा। नीतिपरक मुक्तकों का मूल तो महाभारत में ढूँढा जा सकता है। वैराग्यसंबंधी नीतिमुक्तकों में संसार की क्षणभंगुरता और असारता, मन की चंचलता, इंद्रियों की भोगलिप्सा पर मार्मिक टिप्पणी कर विषयपराङ्मुखता, हरिचरणसेवन, मोक्षसाधन आदि पर जोर दिया जाता है। भर्तृहरि के बाद भी कई शांतरसपरक मुक्तक सुभाषितों में मिलते हैं।

(आ) स्तोत्र मुक्तक—स्तोत्र मुक्तकों का मूल तो वैदिक सूक्तों में ही माना जा सकता है, पर स्तोत्र साहित्य संस्कृत में साकारोपासना की व्यंजना करता है। इस कोटि की सर्वप्रथम दो रचनाएँ बाण (६५०–७०० वि०) तथा मयूर (६५०–७०० वि० सं०) की हैं, जो हर्षवर्धन के राजकवि थे। बाण का 'चंडीशतक' देवी पर लिखे १०० स्तोत्र पद्यों की रचना है। मयूर के सूर्यशतक (मयूरशतक) में सूर्य की स्तुति है। दोनों कवियों ने स्रग्धरा छंद को चुना है, और दोनों ही कवि शैली की दृष्टि से ह्रासोन्मुख काल की कृत्रिम काव्यशैली का संकेत देते हैं। मयूर की शैली बाण से भी अधिक कृत्रिम है। श्लेष-समासांतपदावली की गाढबंधता और आनुप्रासिक चमत्कार की दृष्टि से मयूरशतक चंडीशतक से अधिक बढ़ा चढ़ा है। कहीं कहीं तो मयूर ने आनुप्रासिक चमत्कार के पीछे सूर्य के सारथि अरुण की वंदना वरुण से कराई है; उसके रथ के अक्ष की स्तुति नक्षत्रनाथ से कराई है; एवं रथ के कूबर की वंदना का कार्य कुबेर को सौंपा गया है। इस तरह की पौराणिक रूढ़ियों की छीछालेदर के कारण पुराने समीक्षकों ने भी मयूर की आलोचना की है। बाण तथा मयूर की शैली में एक गुण अवश्य है, उनके पद्यों में एक प्रवाह है जो स्वतः उनके स्तोत्र काव्यों में संगीत को संक्रांत कर देता है। इसी काल के एक जैन कवि मानतुंग का 'भक्तामर स्तोत्र' है। पिछले दिनो के स्तोत्रकाव्यों में, जिनकी संख्या सैकड़ों है, शंकराचार्य की 'सौंदर्यलहरी' और पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' को नहीं भुलाया जा सकता। 'सौंदर्यलहरी' को कुछ विद्वान् आदिशंकराचार्य की रचना मानते हैं पर यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। यह किसी बाद के शंकराचार्य की रचना है। सौंदर्यलहरी काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का काव्य है, बाण के चंडीशतक और मयूर के सूर्यशतक से भी बढ़कर। सौंदर्यलहरी की सरलता की होड कोई संस्कृत स्तोत्रकाव्य नहीं कर पाता। त्रिपुरसुंदरी के मातृरूप का शृंगारी नखशिख वर्णन कवि का प्रतिपाद्य है। कवि ने एक भोले बालक की निगाह से माँ के सौंदर्य को देखा है, पर इस बालक में बुद्धि की प्रौढि विद्यमान है। सौंदर्यलहरी के कई पद्यों में शाक्त दार्शनिक मान्यताएँ तथा योगसाधनापरक संकेत आने के कारण कुछ पद्य भले ही जटिल जान पड़ें, पर कुल मिलाकर समस्त काव्य भक्तहृदय की सरल भावनाओं का प्रकाशन करता है और

रसप्रवण अधिक है। काव्य का शिखरिणी छंद स्वतः उसे गति और संगीत देता है। शिखरिणी के ही संगीतात्मक परिवेश का सहारा लेकर पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' आती है, जो काव्य-लालित्य की दृष्टि से सुंदर काव्य है।

(इ) *शृंगार मुक्तक*—संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों की परंपरा पतंजलि के भी पहले से चली आ रही है। पतंजलि के समय के आसपास के ही कुछ सरस मुक्तक उपलब्ध होते हैं, जो संस्कृत की रचनाएँ न होकर पालि की रचनाएँ हैं। पालि साहित्य की थेरगाथा और थेरीगाथा में कई सरस मुक्तक मिलते हैं जिनपर प्राकृत साहित्यवाले अध्याय में आवश्यक संकेत किया जायगा। इस परंपरा का प्रथम काव्य 'शृंगारतिलक' है, जिसके रचयिता का पता नहीं। कुछ विद्वान् इसे कालिदास की रचना मानते हैं, जो ठीक नहीं जान पड़ता। दूसरा 'घटखर्पर' नामक कवि का इसी नाम का २२ पद्यों का छोटा सा मुक्तक काव्य है। इस काव्य में यमक प्रयोग की कलाबाजी का सर्वप्रथम प्रदर्शन मिलता है। भावपक्ष की दृष्टि से यह काव्य सुंदर नहीं बन पड़ा है। शृंगारी मुक्तको में पहला नाम भर्तृहरि के शृंगारशतक का लिया जा सकता है। भर्तृहरि ने शृंगार के सामान्य पक्ष का चित्रण किया है, अमरुक की भाँति शृंगार के विशेष पक्ष का नहीं। यही कारण है कि अमरुक के शृंगारी मुक्तकों का संग्रह 'अमरुकशतक' संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों का मूर्धन्य है। अमरुक के मुक्तक शृंगारी मुक्तक के मणिदीप हैं, जिन्होने भावी मुक्तक कवियों का मार्गदर्शन किया है। शृंगार रस के विविध पक्षो को चित्रित करने मे अमरुक की तूलिका अपना सानी नहीं रखती और उसके चित्रो का बिना तड़क भड़कवाला, किंतु अत्यधिक प्रभावशाली रंग रस, उसकी रेखाओं की बारीकी और भंगिमा अमरुक के कारुवर की कलाविदग्धता का सफल प्रमाण है। अमरुक के पद्यों को कुछ विद्वान् वात्स्यायन के शास्त्र को ध्यान में रखकर लिखा गया मानते हैं, पर बात यों नहीं है। बाद के रतिविशारद आलोचकों ने अमरुक के मुक्तकों में वात्स्यायन की तत्तत् सांप्रयोगिक पद्धतियों को ढूँढ निकाला है। अमरुक का प्रत्येक पद्य शृंगार की वह गागर है जिसमें उसने रस का सागर उडेल दिया है। अनुभाव, सात्विक भाव और संचारी भाव के चित्रण में अमरुक सिद्धहस्त हैं, और नखशिख वर्णन के लिये पर्याप्त क्षेत्र न होने पर भी नायिका के सौंदर्य की एक दो रेखाएँ ही उसके लावण्य की व्यंजना कराने में पूर्णतः समर्थ दिखाई पड़ती हैं। भले ही अमरुक के पास हाल या बिहारी से अधिक बड़ा फलक हो, क्योंकि अमरुक ने वसंततिलका, शिखरिणी या शार्दूल-विक्रीडित जैसे बड़े वृत्तों को चुना है, फिर भी अमरुक के पास उनसे किसी हद में कम गठी हुई और चुस्त भाषा नहीं है, जो समास शैली का अद्भुत प्रदर्शन करती है। अमरुक ने आगे आनेवाले कई शृंगारी मुक्तक कवियों और कवयित्रियों (विकटनितंबा, विजका, शीलभट्टारिका आदि) को प्रभावित किया है। अमरुक के

बाद इस कोटि के मुक्तकों में किसी अज्ञात कवि की चौरपंचाशिका उल्लेखनीय है जो विल्हण की रचना मानी जाती है।

संस्कृत शृंगारी मुक्तक काव्यों में बारहवीं शती में एक और सशक्त व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है, वह है जयदेव। जयदेव का 'गीतगोविंद', जिसे संस्कृत परंपरा महाकाव्य मानती है, वस्तुतः मुक्तक काव्यसंग्रह है। जयदेव का काव्य जहाँ एक ओर विलासिता में अमरुक से भी दो डग आगे बढ़ा दिखाई पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर कलापक्ष में भी अमरुक को पीछे छोड़ देता है। जयदेव पदलालित्य, आनुप्रासिक चमत्कार और संगीत के लिये प्रसिद्ध हैं। संगीत की रागरागिनियों का संस्कृत में सफल प्रयोग जयदेव की प्रमुख विशेषता है। जहाँ तक भावपक्ष तथा कल्पना की मौलिकता का प्रश्न है, ध्यान से देखने पर पता चलता कि जयदेव इनका अधिक प्रदर्शन नहीं कर पाते। जयदेव में निःसंदेह मौलिकता का अभाव है, वे पुराने महाकवियों की विरासत का ज्यों का त्यों उपयोग करते हैं, पर जयदेव का पदविन्यास और संगीत जयदेव की इस कमी को छिपा देता है। जयदेव को कुछ लोग भक्त कवि मानते हैं, किंतु वह प्रकृति से शृंगारी कवि हैं, और कृष्ण तथा राधा के व्याज से शृंगारी विलासिता का प्रदर्शन ही उनका लक्ष्य रहा। उन्हें सूर की तरह भक्त कवि मानना अनुचित है, वे विद्यापति की तरह कोरे शृंगारी कवि हैं। जयदेव में चैतन्य की 'माधुर्य' उपासना का आदिरूप ढूँढना भी गलती है, हाँ चैतन्य को अपनी भक्ति की प्रेरणा जयदेव से अवश्य मिली है। जयदेव की राधा सूर की राधा की तरह स्वकीया न होकर, विद्यापति की राधा की तरह परकीया है। जयदेव का शृंगारवर्णन भी इन्हीं के समसामयिक श्रीहर्ष की भाँति शृंगार के उच्छृंखल चित्रों का प्रदर्शन करने में नहीं हिचकिचाता, जो उस काल के सामंतों के विलासी जीवन का संकेत करता है। जयदेव के ही समसामयिक गोवर्धन ने गाथासप्तशती के ढंग पर आर्यासप्तशती की शृंगारी आर्याओं की रचना की है।

जयदेव के पश्चात् कई शृंगारी मुक्तक लिखे गए। नायिका के नखशिख वर्णन को लेकर भी कई मुक्तक काव्यों की रचना हुई। विश्वेश्वर (१८ वीं शती) ने नायिका की रोमावली का वर्णन करते हुए 'रोमावलीशतक' की रचना की है। जयदेवोत्तरकाल के शृंगारी मुक्तक कवियों में पंडितराज जगन्नाथ (१७ वीं शती) का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। पंडितराज जगन्नाथ के पद्य फिर भी कुछ मौलिकता का परिचय देते हैं। प्रसादगुणयुक्त, सरस, सानुप्रासिक शैली लिखनेवालों में तो जगन्नाथ पंडितराज संस्कृत साहित्य के कवियों की पहली श्रेणी में भली भाँति रखे जा सकते हैं। पंडित और भावुक कवि का विचित्र समन्वय, पंडितराज का व्यक्तित्व संस्कृत-साहित्य-दीप की बुझती लौ का ज्वलंत प्रकाश है।

(४) गद्य साहित्य—साहित्य की धारा भावना के वेग को लेकर फूटती है, यही कारण है, कि वह संगीत को साधन बनाकर आती है। मानव के नैसर्गिक भावति गेयतत्व को आत्मसात् करके आने के कारण ही पद्य के परिवेश में लिपटी आती है। किसी भी भाषा का आदिम साहित्य इसीलिये पद्यबद्ध मिलता है: पद्य भावना का प्रतीक है, तो गद्य विचार का। एक हृदय से संबद्ध है, दूसरा मस्तिष्क से। ऋग्वेद के कवियों की भावना ने पद्य को जन्म दिया, तो याजुष मंत्रद्रष्टाओं और औपनिषदिक ऋषियों के चिंतन ने वैदिक गद्य को जन्म दिया। गद्य का एक रूप दार्शनिक चिंतन में मिलता है, दूसरा लोककथाओं में। प्रथम को साहित्य की कोटि में नहीं माना जा सकता, दूसरा भावतरल होने के कारण साहित्य का विशिष्ट अंग है। वैदिक काल के लोककथात्मक गद्य साहित्य का रूप हमें ब्राह्मण ग्रंथों के आख्यानों में मिल सकता है। दार्शनिक चितनवाला गद्य सूत्रों के मार्ग से होता हुआ, पतंजलि के महाभाष्य और शबर के मीमांसाभाष्य से गुजरता हुआ, शंकर के शारीरिक भाष्य तक प्रौढ किंतु नैसर्गिक शैली में बहता रहा है। शंकर के बाद ही यह कृत्रिम शैली का आश्रय लेता देखा जाता है, जिसका एक रूप वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष या चित्सुखाचार्य आदि के वेदात ग्रंथों में और दूसरा रूप गंगेश उपाध्याय तथा उनके शिष्यों—गदाधर भट्ट, जगदीश तथा मथुरानाथ—की नव्यन्याय वाली शास्त्रीय शैली में देखा जा सकता है। हमें यहाँ इस शास्त्रीय गद्य शैली पर कुछ नहीं कहना है।

साहित्यिक गद्य शैली ने अपना विषयचयन लोककथाओं से किया है। क्या नैसर्गिक गद्य शैली का कथा साहित्य, क्या अलंकृत गद्य शैली का आख्यायिका-कथा-साहित्य, दोनों ही लोककथाओं के ऋणी हैं। लोककथाओं में किसी देश की मानव संस्कृति का सच्चा रूप तरलित मिलता है। भले ही उसमें अप्सराओं, उड़नखटोलों, मनुष्य की तरह बात करते शुक-सारिकाओं, हंसों, राक्षसों, देवों और नागों का अलौकिक वातावरण दिखाई पड़े, भले ही उनकी भवितव्यता में जमीन के ऊपर रहनेवाली अदृश्य शक्तियाँ आकर हाथ बँटाती देखी जाँय, ये वे कथाएँ हैं, जो समाज की सच्ची आवाज को व्यक्त करती हैं। इन कथाओं में एक ओर प्रणय का नैसर्गिक स्वच्छंद वातावरण है, तो दूसरी ओर दुष्टों की नीचता जिनका प्रतिनिधित्व अधिकतर अप्सराएँ, नायक और नायिका को वियुक्त बना देनेवाली दुष्ट शक्तियाँ, राक्षस या दैत्य करते हैं और तीसरी ओर सपत्नी-द्वेष, मातृस्नेह, और पतिभक्त पत्नी का कौटुंबिक वातावरण मिलता है, तो चौथी ओर जीवन के भले-बुरे, कटु-मधुर दोनों तरह के अनुभवों पर नीतिमय सटीक व्याख्या भी पाई जाती है। पंचतंत्र या हितोपदेशवाली कथाओं ने इन लोककथाओं के एक पहलू को लिया है, जो मूलतः नीतिवादी है, तो संस्कृत के अलंकृत गद्य काव्यों ने इनके दूसरे पहलू को, जो प्रणय का स्वच्छंद चित्र है। इन कथाओं का मूलस्रोत बूढ़ी दादी

नानी की कहानियाँ ही हैं। ये कहानियाँ गद्य ही नहीं, पद्य के क्षेत्र में भी प्रविष्ट हो गई हैं, और पद्य में इनका आरंभिक रूप महाभारत में ही देखा जा सकता है। महाभारत में उस काल की लोककथाओं का अद्भुत संग्रह है। लोककथाओं का गद्यमय आदिम रूप बौद्ध जातककथाओं के पालि रूप में मिलता है। इन्हीं का संकलन गुणाढ्य की पैशाची कृति 'बड्ढकहा' में रहा होगा। 'बड्ढकहा' अनुपलब्ध है, पर वह संभवतः पद्य की रचना थी। गुणाढ्य की इस कृति पर कुछ अधिक संकेत प्राकृतवाले अध्याय में दिया जायगा। 'बड्ढकहा' के काश्मीरी संस्करण का ही रूप क्षेमेंद्र (११वीं शती) की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव (११वीं शती) के 'कथासरित्सागर' मे मिलता है जो पद्य-कृतियाँ हैं।

नीतिपरक लोककथाओं का सर्वप्रथम संग्रह 'पंचतंत्र' है जिसका एक परिवर्तित रूप ही वस्तुतः परवर्ती (८वीं शती की) रचना 'हितोपदेश' में मिलता है। पंचतंत्र के संकलनकर्ता या रचयिता विष्णुशर्मा माने जाते हैं। विष्णुशर्मा का मुद्राराक्षसकार विशाखदत्त को पता था। पंचतंत्र का मूल रूप विक्रम की पहली या दूसरी शती का माना जा सकता है। परंतु पंचतंत्र के भी कई रूप उपलब्ध हैं। पंचतंत्र की कहानियाँ ईरान, अरब, युरोप तक पहुँची हैं। ईसा की पाँचवीं शती में पहलवी भाषा में पंचतंत्र का अनुवाद हो चुका था। पंचतंत्र में जहाँ सच्चे मित्र की ईमानदारी, पंडित शत्रु की विचारबुद्धि, सोच विचारकर काम करनेवाले प्रत्युत्पन्नमति की उदात्तता है, वहाँ कुलटा पत्नी की धूर्तता, मूर्ख मित्र की जड़ता, बिना विचारकर काम करने के कारण पछताते हुए असमीक्ष्यकारी का पश्चात्ताप अंकित है। पंचतंत्र की शैली सरल है, वह संस्कृत गद्य की नैसर्गिक शैली का संकेत करती है। पंचतंत्र की शैली को ही आधार बनाकर शुकसप्तति, वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशत्पुत्तलिका, भोजप्रबंध, पुरुषपरीक्षा जैसे कथासंग्रह आते दिखाई पड़ते हैं।

अलंकृत गद्यशैली का सर्वप्रथम रूप हमें सुबंधु (६ठी शती) की 'वासवदत्ता' में मिलता है। किंतु 'वासवदत्ता' को ही इस प्रकार की शैली का आरंभ नहीं माना जा सकता। सुबंधु के कई शती पूर्व से गद्य में समासांत पदावली, आनुप्रासिक चमत्कार, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साधर्म्यमूलक अलंकारों की भरमार और श्लेष तथा उसके आधार पर स्थित विरोध एवं परिसंख्या अलंकार का प्रयोग चल पड़ा होगा। सुबंधु में इस कृत्रिम गद्यशैली का प्रसून विकसित होता देखा जाता है, जिसका चरम परिपाक फलरूप में बाण के गद्य में उपलब्ध होता है। यदि इस शैली के बीज देखना हो तो वे हमें रुद्रदामन् के संस्कृत शिलालेख[1] (२२७–२३७ वि० सं० के बीच) तथा वसिष्ठपुत्र शातकर्णि के प्राकृत शिलालेख की समासांत-

[1] डॉ० ब्यूलर : एंटीक्विटी आफ् इंडियन आर्टिफिशल पोएट्री, पृ० ३८–४५।

पदावली में मिल सकते हैं। रुद्रदामन् के शिलालेख की संस्कृत 'स्फुटलघुमधुरचित्रकांतशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य' ठीक उसी तरह है, जैसे इसका रचयिता ऐसी कला में 'प्रवीण' है। इस शिलालेख में 'गिरिशिखरतटाट्टालोपतल्पद्वारशरणोछ्रयविध्वसिना' जैसे लंबे समासात पद तथा 'पर्ज्जन्येन एकार्णवभूताया (?) मिव पृथिव्यां कृतायां' जैसे साधर्म्यमूलक (उत्प्रेक्षा) अलंकारों की योजना पाई जाती है।

सुबंधु की वासवदत्ता की दो विशेषताएँ हैं—एक तो लोककथाओं की रूढ़ियों का प्रयोग, दूसरे कृत्रिम गद्यशैली की योजना। वासवदत्ता में तोतेवाली रूढ़ि पाई जाती है, जहाँ तोता नायक नायिकाओं को मिलाने का काम करता है; साथ ही वह कथाप्रवाह को भी कथा के कुछ अंश का वक्ता बनकर गति देता देखा जाता है[1]। वासवदत्ता में स्वप्नदर्शन तथा गुणश्रवण से प्रणयोद्बोधवाली रूढ़ि का प्रयोग भी मिलता है[2]। इसी तरह नायिका के साथ आते समय दोनों का बिछुड़ना, नायिका का शाप के कारण शिला बन जाना, आत्महत्या के लिये उद्यत नायक को आकाशवाणी द्वारा रोकना तथा नायिका से मिलने का विश्वास दिलाना जैसी कई रूढ़ियाँ वासवदत्ता में हैं[3]। पर वासवदत्ता की कहानी बहुत छोटी है और सुबंधु की कृति का एकमात्र सौंदर्य वर्णनों का है। प्रातःकाल, सायंकाल, रात्रि, विंध्याटवी आदि के वर्णन कवि के कलाकृतित्व के प्रमाण हैं। सुबंधु के पास बाण जैसा कविहृदय न होने से वासवदत्ता भावतरलता से रहित है। इसकी खास विशेषता 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबंधत्व' है[4]। समासात पदयोजना में बाण सुबंधु से बढ़ चढ़कर हैं, पर इसके साथ ही बाण में संगीत भी है जो सुबंधु में नहीं मिलता।

१ अथ समुपजातकुतूहलया शारिकया मुहुर्मुहुरनुबध्यमान कथा कथयितुमारेभे। वा० द०, पृ० ८५।

२ वही, पृ० ३९, ५०, स्वप्नदृष्टकन्या का वर्णन, पृ० १३३–१३७, वा० द० द्वारा कंदर्पकेतु का स्वप्न में दर्शन।

३ वही, पृ० २३९–२४५।

४ वही, पृ० ६, पद्य १३।

वासवदत्ता की श्लेष शैली का नमूना :

एकदा कतिपयमासापगमे काकलीगायन इव समृद्धनिम्नगानदः, सध्यासमय इव नर्तितनीलकंठः, कुमारमयूर इव समारूढशरजन्मा, महातपस्वीव प्रशमितरजःप्रसरः...... विंध्य एव घनश्यामः युवतिजन इव पीनपयोधरः समाजगाम वर्षासमयः। पृ० २४५–४६।

यहाँ वर्षा समय तथा उसके उपमानों में जो साधर्म्य पाया जाता है, वह केवल शब्दसाधर्म्य है। बरसात में नदियों के नद बढ़ जाते हैं, और काकली का संगीत आरोहावरोहयुक्त गान को देनेवाला है, इस तरह दोनों 'समृद्धनिम्नगानद' हैं। वर्षा के समय मोर नाच उठते हैं, प्रलयकालीन संध्या में शिव तांडव नृत्य करते हैं। वर्षा में सरकंडे बहुत पैदा हो जाते हैं, तो स्वामिकार्तिकेय का मयूर इसलिये 'समारूढशरजन्मा' है

सुबंधु की वासवदत्ता के बाद दूसरी गद्यकृति दंडी (सातवीं शती) का दशकुमारचरित है[1]। दशकुमारचरित में सुबंधु की वासवदत्ता या बाण की कादंबरी की भाँति आदर्शात्मक चित्र न होकर जीवन की कठोरता के यथार्थ चित्र अधिक हैं। सुबंधु और बाण की कथाएँ प्रणय के स्वच्छंद आदर्श संसार की सृष्टि करती हैं, दंडी की कृति का जगत् शूद्रक के मृच्छकटिक की भाँति यथार्थ अधिक है, जिसमें धूर्त, लुच्चे, लफंगे, बदमाश, जुआरी और वेश्याएँ, दुष्ट कूटनीतिज्ञ अपनी कठोर वास्तविकता के साथ आते हैं। दंडी ने अपनी शैली को भी विषय के अनुरूप सशक्त तथा यथार्थवादी बनाने की चेष्टा की है। वैसे लंबे समास, यमक, आनुप्रासिक चमत्कार वाला पदलालित्य दंडी में भी है, पर दंडी श्लेष, विरोध या परिसंख्या के वाग्जाल में नहीं फँसते। दंडी के वाक्य आवश्यकता से अधिक लंबे नहीं होते। दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका और शेष आठ उच्छ्वासों में निबद्ध कथाओं में भी लोककथाओं का काफी पुट देखा जाता है। दस कुमारों की अलग अलग कथा के द्वारा दंडी ने मानव जीवन के सुन्दर और मलीमस दोनों तरह के चित्रों को उपन्यस्त किया है।

संस्कृत गद्यसाहित्य का एकच्छत्र सम्राट् बाण है, जिसने सुबंधु की शैली को एक अभिनव कलात्मक रूप दिया है। बाण के पास सुबंधु की अपेक्षा कविहृदय अत्यधिक है। सुबंधु कवि के रूप में मध्यम कोटि का ही कवि है, उसका एक मात्र महत्व शाब्दी क्रीडा के कारण है। बाण ने सुबंधु की तरह ही प्रणय के रोमानी इतिवृत्त को चुनकर 'कादंबरी' जैसी महान् कृति को जन्म दिया है। बाण के दो गद्यकाव्य उपलब्ध हैं, हर्षचरित और कादंबरी। हर्षचरित आख्यायिका है, कादंबरी कथा। आख्यायिका तथा कथा गद्यकाव्य के इन दो प्रभेदों में परस्पर यह अंतर है कि प्रथम में कवि की स्वानुभूत घटनाओं का वर्णन होता है, तथा वह तथ्य पर आधृत होती है, जबकि दूसरी कृति में कविकल्पित कथा पाई जाती है। शैली की

कि उसपर 'शरजन्मा' (कार्तिकेय) सवारी करते हैं। महातपस्वी रजोगुण (रागद्वेषादि) को शांत कर लेता है, वर्षाकाल बादलों से काला रहता है, युवतियों के स्तन पुष्ट होते हैं, वर्षाकाल में पानी से भरे मेघ घुमड़ते रहते हैं। इस तरह वर्षाकाल शाब्दिक समानता के कारण तत्तत् उपमान सा लगता है। इस तरह की श्लेष प्रणाली के वर्णन कोई गहरी मनोवैज्ञानिक सूझ नहीं व्यक्त करते। प्रकृतिवर्णनों में ये वर्णन बिंबग्रहण को उपस्थित करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। ऐसे स्थलों में कवि का एकमात्र उद्देश्य शाब्दी क्रीडा का प्रदर्शन होता है।

[1] उपलब्ध 'दशकुमारचरित' में दंडी की वास्तविक कृति केवल आठ उच्छ्वास ही हैं। आरंभ के पाँच उच्छ्वासों की पूर्वपीठिका तथा बाद की उत्तरपीठिका बाद में जोड़ी गई है। देखिए—डा० भोलाशंकर व्यास : सं० क० द०, पृ० ४५६-४६० ।

दृष्टि से आख्यायिका उच्छ्वासों में विभक्त होती है, तथा गद्य के साथ उसमें भावी घटना के सूचक वक्त्र या अपरवक्त्र वृत्तों का पद्यबद्ध प्रयोग भी होता है। कथा में इस तरह के उच्छ्वास-विभाजन की आवश्यकता नहीं होती, इसमें वक्त्र तथा अपरवक्त्र पद्य भी प्रयुक्त नहीं होते। कथा की सबसे बड़ी शर्त यही है कि उसकी कथावस्तु कल्पित हो[1]। बाद के आलोचकों ने आख्यायिका तथा कथा में मसृण मार्ग का त्याग कर उद्धत मार्ग के आश्रय और विकटबंधता तथा समासप्रचुरता की आवश्यकता मानी है[2]। संभवतः यह धारणा बाण जैसे गद्यलेखकों की कृति को देखकर ही चल पड़ी होगी।

हर्षचरित को ऐतिहासिक चरितकाव्य माना जाता है, पर यह मत ठीक नहीं। बाण ने इसे केवल एक स्वच्छंद कथा के रूप में लिखा है। आरंभ के तीन उच्छ्वासों में कवि के जीवन का वर्णन है। चतुर्थ उच्छ्वास से स्थाण्वीश्वर के राजाओं की कहानी प्रारंभ होती है। हर्ष के वर्णन में भी तथ्य और कल्पना का अपूर्व संमिश्रण दिखाई देता है। बाण ने इस कृति को अधूरा छोड़ दिया है। कादंबरी कल्पित कथावस्तु को लेकर आती है जिसमें चंद्रापीड और वैशंपायन के तीन तीन जन्मों की कथा है। बाण ने इस कथा को भी अधूरा ही छोड़ा था, जिसे उसके पुत्र भूषण (पुलिंध्र) ने पूरा किया है। कादंबरी में बाण ने जन्म-जन्मांतर-संगत प्रणय की कहानी को लोककथाओं के परिवेश में रखा है। एक कथा के अंतर्गत दो दो, तीन तीन कथाएँ चलती हैं। शुक की कथा में जाबालि की कथा और जाबालि की कथा में महाश्वेता की कथा घुली मिली दिखाई देती है। सुबंधु के संबंध में जिन लोककथाओं की रूढ़ियों का संकेत हम कर आए हैं, उसका उपयोग बाण ने भी किया है। बाण की शैली अलंकृत और कृत्रिम रूप लेकर आती है। हर्षचरित तथा कादंबरी की शैली की तुलना करने पर ही दोनों में कुछ भेद परिलक्षित होता है। हर्षचरित उस काल की रचना है जब बाण पर सुबंधु का प्रभाव अधिक नहीं पाया जाता। श्लेष, विरोध या परिसंख्या का मोह हर्षचरित में नहीं है। पर समासांत पदवाली शैली, नए नए शब्दों, मौलिक अर्थालंकारों और अनुप्रास का मोह हर्षचरित में भी है। इतना होते हुए भी हर्षचरित की शैली में कादंबरी जैसी स्निग्धता नहीं मिलती, कादंबरी के पदविन्यास की लय, संगीतात्मक गति,

[1] आख्यायिका तथा कथा के अंतर के लिये देखिए—
डा० डे० : दि आख्यायिका एंड कथा इन क्लैसिकल संस्कृत, बुलेटिन आव् द स्कूल आफ् ओरिएंटल स्टडीज, १९२५, पृ० ५०७–५१७।

[2] आख्यायिकायां शृंगारेऽपि न मसृणवर्णादयः। का० प्र०, उल्लास ८, पृ० ४०३।

और कादंबरी जैसी भाषा का प्रवाह वहाँ नहीं है। बाण की शैली के विषय में वेबर जैसे पाश्चात्य लोगों को कटु आलोचनात्मक दृष्टिकोण लेना पड़ा, उसका कारण उसकी शैली की कृत्रिमता है। पर इतना होते हुए भी वेबर की तरह बाण के गुणों से आँख मूँद लेना ठीक न होगा। बाण के पास वर्णन की अद्भुत शक्ति है। विंध्याटवीवर्णन, प्रभातवर्णन,[२] संध्यावर्णन[3] या अच्छोद सरोवर-वर्णन[४] में वह इतनी पैनी निगाह से चारों ओर घूम जाता है कि कोई वस्तु उसकी दृष्टि से नहीं बच पाती। वर्ण और ध्वनि का ग्रहण करने की बाण के पास गहरी सूझ है, और इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य में बाण के बाद केवल माघ का ही नाम लिया जा सकता है[५]। वर्णन और ध्वनि की अभिव्यंजना कराने के लिये वह अप्रस्तुत विधान या अनुप्रास का सहारा लेता है। बाण का चांडालपुत्री का वर्णन[६] आस्थानमंडप का चित्रण[७] और चंद्रापीड की सेना के प्रयाण का वर्णन[८] इस विशेषता का संकेत देने में समर्थ हैं। बाण जहाँ कृत्रिम अलंकृत शैली की योजना कर सकता है, वहाँ छोटे छोटे सरस वाक्यों की योजना में भी बेजोड़ है। इतिवृत्त में जहाँ कहीं भावात्मक स्थल आते हैं, उसके वाक्यों की गति अपने आप मंथर हो जाती है। महाश्वेता के विलाप का स्थल भावुकतापूर्ण है, तथा बाण का पांडित्य वहाँ हृदय को नहीं कुचलता। उसकी समस्त पदावली का घटाटोप वर्णनों में ही चलता पाया जाता है। उसकी सरस सरल शैली का एक अन्य स्थल शुकनासोपदेश है। बाण

१ कादंबरी, निर्णयसागर सं०, पृ० ३९-४३।

२ वही, पृ० ५५-५६।

३ वही, पृ० १०३-१०५।

४ वही, पृ० २६३-२६६।

५ बाण की शैली का नमूना :

इतश्चेतश्च निपतन्तीनां स्कन्धावसक्तचामराणां चमरग्राहिणीनां कमलमधुपानमत्त-जरत्कलहंसजर्जरितेन पदे पदे रणितमणीनां मणिनूपुराणां निनादेन, वारविलासिनी-जनस्य संचरतो जघनस्थलास्फालनगलितरत्नमालिकानां मणिमेखलानां मनोहारिणा झंकारेण, नूपुररवाकृष्टानां च धवलितास्थानमंडपसोपानफलकानां भवनदीर्घिकाकल-हसकानां कोलाहलेन, रसनारसितोत्सुकानां च तारतरविराविणामुल्लिख्यमानकांस्यझं-कारदीर्घेण गृहसारसानां कूजितेन, सरभसप्रचलितसामंतशतचरणतलाभिहतस्य चास्थानमंडपस्य निर्घोषगंभीरेण कंपयतेव वसुमतीं ध्वनिना··· ··संक्षोभादतित्वरितपद-प्रवृत्तैरवनिपतिभिः केयूरकोटिताडितानां क्वणितमुखररत्नदाम्नां च मणिस्तम्भानां रणितेन सर्वतः क्षुभितमिव तदास्थानभवनमभवत्। पृ० २९-३०।

६ वही, पृ० २०-२३।

७ वही, पृ० २८-३०।

८ वही, पृ० २३९-२५४।

चेतनासंपन्न कलाकार है, जो विषय के अनुरूप अभिव्यंजना शैली को सँभाले लिए जाता है। संस्कृत गद्यसाहित्य में वैसी उदात्त कलाभूमि का स्पर्श दंडी भी नहीं कर पाता। दंडी के पास यथार्थ जीवन का चित्रण और पदलालित्य भले ही हो, बाण जैसी भावतरलता, अनूठी कल्पना, प्रवाहमय भाषा, संगीत और चित्रमत्ता जैसे विविध गुणों का एक साथ समन्वय नहीं मिलता। यही कारण है, बाण के बाद गद्यसाहित्य में प्रगति रुक गई। बाण का गद्यसाहित्य हिमगिरि की वह अंतिम चोटी है, जहाँ पहुँचना दूसरे पर्वतारोहियों के बस की बात नहीं थी। फलतः बाण के बाद आनेवाली धनपाल (११वीं शती) की 'तिलकमंजरी' और ओडुयराज वादीभसिंह (१२वीं शती) की गद्यचिंतामणि इस क्षेत्र में प्रतिष्ठा न पा सकीं।

बाण ने गद्यकाव्य की जो कसौटी सामने रखी थी, उसपर खरा उतरना भावी कवियों के बस की बात न थी। गद्य के क्षेत्र में पद्य की छौंक अधिक से अधिक बढ़ने लगी। पद्य के छोटे से फलक पर शैली को अलंकृत बनाए रखना फिर भी संभव था, पर गद्य में बाण जैसी शैली का निर्वाह कठिन था। संस्कृत साहित्य में गद्य-पद्य-मिश्रित शैली चल पड़ी, जिसे चंपू कहा जाता है। संस्कृत की चंपू शैली का बीज शिलाप्रशस्तियों में ही माना जा सकता है जहाँ गद्य और पद्य का साथ साथ प्रयोग मिलता है। चंपू शैली का प्रथम काव्य त्रिविक्रम भट्ट (दसवीं शती) का 'नलचंपू' (दमयंतीकथा) है। त्रिविक्रम मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा इंद्रराज तृतीय (राज्यारोहण ९७३ वि० सं०) के सभापंडित थे,[1] और इन्होंने 'मदालसाचंपू' नामक एक अन्य कृति की भी रचना की थी। त्रिविक्रम को पंडितों ने बाण के बाद के गद्यलेखकों में प्रथम स्थान दिया है। त्रिविक्रम मे बाण से अधिक श्लेषक्रीड़ा पाई जाती है। सभंग श्लेष लिखने में त्रिविक्रम प्रसिद्ध है। पर त्रिविक्रम की शैली प्रवाहरहित है और सच्चे अर्थ में बाण के उत्तराधिकारी होने के गुण उसमें नहीं हैं। त्रिविक्रम के बाद संस्कृत में चपू काव्यों की बाढ़ सी आ गई। संस्कृत में अब तक प्रकाशित तथा अप्रकाशित चंपू काव्यों की संख्या १३१ मानी जाती है[2]। परवर्ती चंपू काव्यों में सोमदेव का यशस्तिलकचंपू, भोजदेव का रामायणचंपू, हरिश्चद्र का जीवंधरचंपू प्रसिद्ध हैं। बाद के चंपू काव्यों में सोड्ढल की अवंति-सुंदरीकथा, पारिजातहरण-चंपू, वरदांबिकापरिणय-चंपू, चंपूभारत जैसी कई कृतियाँ पाई जाती हैं।

(४) **दृश्य काव्य**—संस्कृत साहित्य में दृश्य काव्यों या रूपकों की अतुल संपत्ति है। संस्कृत में जितने रूपक हैं, उतने काव्य अन्य क्षेत्रों में नहीं मिलते।

[1] त्रिविक्रम : न० च०, साहित्याचार्य नंदकिशोरकृत संस्कृत भूमिका, पृ० ३।

[2] वही, पृ० ३।

जिस कोटि की साहित्यिक रचना के लिये हम सामान्यतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग किया करते हैं उसे संस्कृत में रूपक कहा जाता है। रूपक के दस भेदों में एक प्रमुख भेद होने के कारण रूपकमात्र के लिये नाटक का औपचारिक प्रयोग चल पड़ा है। रूपक उस काव्यरचना को कहते हैं जो मंच पर अभिनीत हो सके और जिसका रसास्वादन सहृदय सामाजिक नेत्रेंद्रिय के माध्यम से कर सकें। दृश्य का मंच बाहर होता है, श्रव्य काव्य का मंच अपने आप में होता है। यही कारण है कि जहाँ श्रव्य-काव्य-रचना में कवि को अधिक स्वतंत्रता होती है, वहाँ दृश्य-काव्य-रचना में उसे मंच की आवश्यकताओं और मर्यादाओं को ध्यान में रखकर चलना पड़ता है। संस्कृत के रूपकों में कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो उन्हें यूरोप के 'क्लैसिकल' नाटको से सर्वथा भिन्न कोटि का सिद्ध करती हैं। यूरोप के 'क्लैसिकल' नाटक अन्वितित्रय के नियम की पूरी पाबंदी करते देखे जाते हैं, जबकि संस्कृत के नाटकों में अन्वितित्रय का सिद्धांत उस सीमा तक नहीं माना जाता। शाकुंतल की कथावस्तु की समयसीमा सात वर्ष है, तो उत्तररामचरित की १२ वर्ष और महावीरचरित में १४ वर्ष। डा० डे ने संस्कृत रूपको की स्वच्छंदतावादी प्रकृति को देखते हुए उनकी तुलना अँगरेजी के एलिजाबेथ-युगीन नाटकों से की है[१]। संस्कृत रूपको की दूसरी विशेषता उनकी भावात्मकता है। संस्कृत साहित्य में प्रायः सभी रूपक कृतियाँ काव्य का भावनाप्रधान परिवेश लेकर आती हैं। उनका उद्देश्य मानव प्रकृति का यथार्थवादी चित्रण न होकर भावना द्वारा दर्शकों में रसोद्‌बोध करना है[२]। यही कारण है कि संस्कृत के रूपकों में काव्य का आदर्शवादी वातावरण अधिक मिलता है, नाटकोंवाला मानव प्रवृति का यथार्थवादी दर्पण कम। संस्कृत रूपको में यथार्थवादी झाँकी यदि कहीं मिल सकती है तो मृच्छकटिक में, पर यहाँ भी काव्य का रोमानी वातावरण साथ में संलग्न है। इसका दूसरा रूप हम विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में देखते हैं जो शुद्ध नाटकीय दृष्टि से संस्कृत रूपकों में मूर्धन्य माना जाता है[३]।

नाट्यशास्त्रियों ने संस्कृत रूपको को दस कोटियों में विभक्त किया है: नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी, और प्रहसन। इनके अतिरिक्त अठारह प्रकार के उपरूपक—नाटिका, प्रकरणिका आदि—भी माने जाते हैं। इन दस प्रकार के रूपकों में संस्कृत की दृश्य-काव्य-संपत्ति में अधिक अंश नाटकों और भाणों का है, इनके बाद नाटिका और प्रकरण हैं, एवं

[१] दासगुप्ता और डे० : हि० सं० लि०, पृ० ५५।
[२] वही, पृ० ५६।
[३] वही, भूमिका, पृ० ४७।

इनके बाद प्रहसन आते हैं। शेष रूपक-भेदों के एक एक दो दो उदाहरण ही मिलते हैं। रूपकों का यह भेद उनकी कथावस्तु, नायक तथा रस की दृष्टि से किया जाता है (वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः)। नाटक पंचसंधियुक्त प्रख्यात इतिवृत्त से युक्त होता है। इसका इतिवृत्त महाभारत, रामायण या बृहत्कथादि से लिया गया होता है। संस्कृत के नाटकों को देखने पर पता चलता है कि रामायण को कथावस्तु का आधार बनाकर अनेकों नाटक लिखे गए हैं। भास (२५० वि० सं०) से लेकर प्रसन्नराघवकार जयदेव (सं० १३०० वि० सं०) तक रामकथा पर कई नाटकों की रचना हुई है, बाद में भी रामचरित-संबंधी अनेक नाटक लिखे गए हैं। नाटक का नायक प्रख्यातवंश का राजर्षि होता है, तथा अंगी रस *शृंगार* या वीर (या शांत)। प्रकरण की कथा कल्पित होती है, इसका नायक धीर प्रशांत कोटि का ब्राह्मण या वैश्य होता है, तथा अंगी रस *शृंगार*। अभिज्ञान शाकुंतल, उत्तररामचरित, *वेणीसंहार*, *मुद्राराक्षस* आदि नाटक हैं, *मृच्छकटिक*, *मालतीमाधव* और मल्लिकामारुत (उद्दंडी की रचना) प्रकरण। नाटक और प्रकरण की अंकसंख्या ५ से अधिक तथा १० तक पाई जाती है। नाटिका चार अंको का उपरूपक है इसकी कथावस्तु किसी राजा के गुप्त अंतःपुर-प्रणय से संबद्ध होती है, इसका नायक धीरललित कोटि का राजा होता है, रस *शृंगार*। इसके उदाहरण *रत्नावली*, कर्ण सुदरी, विद्धशालभंजिका आदि दिए जा सकते हैं। भाण एकाकी रूपक है, जिसमें केवल एक ही पात्र होता है। भाण का प्रमुख रस वीर या *शृंगार* होता है। संस्कृत में पचासों भाण लिखे गए हैं जिनमें विलासी *शृंगारी* जीवन, वेश्याओं के अड्डों, धूर्तों के जमघट आदि का चित्रण किया गया है। वामन, भट्ट बाण तथा युवराज रविवर्मा की कई भाण रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। प्रहसन भी एकाकी रूपक होता है और भाण की ही तरह इसकी कथावस्तु भी कल्पित होती है। इसमें पाखंडी, कामुक, धूर्त, आदि पात्रों द्वारा हास्यरस की सृष्टि कराई जाती है।

संस्कृत नाटकों की परंपरा के बीज विद्वानों ने वेदों तक में ढूँढने की चेष्टा की है। इतना तो निश्चित है कि पतंजलि के समय नाटक खेले जाते थे। पतंजलि ने महाभाष्य में कंसवध तथा बलिबंधन के अभिनय का संकेत किया है। नाटकों की अखंड परंपरा विक्रम की पहली शती से पाई जाती है[1]। तुर्फान में मिले अश्वघोष के तीन नाटकों—शारिपुत्रप्रकरण, एक गणिकारूपक, तथा एक अन्यापदेशिक रूपक ने इस बात को दृढ़ कर दिया है कि भास से पूर्व ही संस्कृत नाटकों की परंपरा समृद्ध हो चुकी थी। अश्वघोष के प्रथम दो नाटकों में तो मृच्छकटिक की तरह धूर्तसंकुलत्व के संकेत मिलते हैं, जो संकीर्ण कोटि के प्रकरण रहे

[1] ए० बी० कीथ : सं० ड्रा०, पृ० ४५।

होंगे। दक्षिण से प्राप्त भास के १३ नाटकों ने कालिदास से पूर्व की नाटकपरंपरा को स्पष्ट कर दिया है। भास ने विविध क्षेत्रों से अपनी वस्तु को चुना है। भास के दो नाटक (प्रतिमा तथा अभिषेक) रामकथा से संबद्ध हैं, तो चार नाटक कल्पित हैं, जिनका मूल लोककथाएँ जान पड़ती हैं। शेष रूपक महाभारत से संबद्ध हैं। यद्यपि भास में कालिदास जैसी उदात्त एवं स्निग्ध कला नहीं मिलती, तथापि भास के महाभारत एवं कल्पित वस्तुवाले रूपकों में नाटकीय संविधान की अपूर्व योजना मिलती है। इनमें भी भास का स्वप्नवासवदत्तम् नाटकीय टेकनीक और भावतरल वातावरण, दोनों दृष्टियों से अद्भुत कृति है। भास की शैली सरस एवं स्वाभाविक है।

भास के बाद संस्कृत नाटकों में कालिदास का व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है। महाकाव्यों की भाँति यहाँ भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का चरम परिपाक व्यक्त किया है। कालिदास के तीन नाटकों—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान-शाकुंतल—में पहले नाटक की कथावस्तु मिश्रित है। मालविकाग्निमित्र नाटकीय संयोजन की दृष्टि से नाटिका के विशेष समीप दिखाई पड़ता है। नाटक का गुण इसमें यही है कि यह ५ अंकों में विभक्त किया गया है। यद्यपि मालविकाग्निमित्र आरंभिक कृति होने से प्रौढ नाटकीय संविधान का परिचय नहीं देता, तथापि भावी नाटकीय प्रौढि के बीज इसमें विद्यमान हैं। इस नाटक में कवि ने अग्निमित्र तथा मालविका के अंतःपुर-प्रणय की कथा निबद्ध की है। विक्रमोर्वशीय की कथावस्तु पौराणिक है। मालविकाग्निमित्र की भाँति कवि ने यहाँ भी प्रणयद्वंद्व की स्थिति उपस्थित की है। मालविकाग्निमित्र में यह स्थिति धारिणी तथा इरावती की पात्रयोजना के कारण है, विक्रमोर्वशीय में औशीनरी (पुरूरवा की पत्नी) की पात्रयोजना के कारण। शाकुंतल में जाकर कवि ने इस प्रणयद्वंद्व की योजना नहीं की है, और शाकुंतल का सारा संघर्ष प्रणयद्वंद्व पर स्थित न रहकर नियतिद्वंद्व पर स्थित है। विक्रमोर्वशीय में भी कवि ने नियतिद्वंद्व का समावेश किया है, जहाँ कुमारवन में प्रविष्ट होने पर उर्वशी लता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। शाकुंतल में यह नियतिद्वंद्व शाप की कल्पना पर आधृत है। शाकुंतल में प्रणयद्वंद्व को बचाना कवि की सबसे बड़ी सतर्कता है, शकुंतला के 'शुद्धांतदुर्लभ' सौंदर्य की व्यंजना कराने में भी यह सफल हो सका है। कवि ने एक स्थान पर दुष्यंत की रानी वसुमती का मंच पर संकेत तो दिया है, पर प्रवेश नहीं कराया है। विक्रमोर्वशीय तथा शाकुंतल की वस्तुयोजना को देखने पर पता चलता है[1] कि कालिदास में नाटकीय गत्यात्मकता, औत्सुक्य, तथा घटनाचक्र का

[1] कालिदास की वस्तु-संविधान-कुशलता के लिये देखिए—

सफल निर्वाह पाया जाता है, जो बाद के नाटककारों में से केवल शूद्रक और विशाखदत्त में ही मिल सकता है। यही कारण है कि कालिदास को कोरा कवि मानना भ्रांत दृष्टिकोण होगा। कालिदास कवि हैं, निःसंदेह प्रथम कोटि के कवि हैं, पर नाटक-कर्तृत्व की दृष्टि से भी वे संस्कृत के प्रथम श्रेणी के नाटककार हैं। कालिदास का लक्ष्य पाश्चात्य नाटककारों की भाँति चरित्रचित्रण न होकर रसव्यंजना है, किंतु कालिदास के चरित्र धूमिल न होकर सशक्त हैं। पराधीन भोली मालविका, रतिविशारदा उर्वशी, और प्रेमानभिज्ञ होते हुए भी प्रेममार्ग में तेजी से बढ़नेवाली शकुंतला के चित्रों की रेखाएँ स्पष्टतः उभारी गई हैं। अंत में, शकुंतला के चरित्र को विरह की आँच में तपाकर प्रभाभास्वर रूप दे दिया गया है। कालिदास के पुरूरवा और दुष्यंत कोरे प्रणयदुर्विदग्ध नायक नहीं हैं, वे कर्तव्यपरायण राजा का आदर्श भी उपस्थित करते हैं, और पुरूरवा से भी कहीं बढ़कर दुष्यंत इस उत्तरदायित्वपूर्ण पद को सफलतापूर्वक सँभालता दिखाया गया है। तीनों नाटकों का प्रतिपाद्य विषय शृंगार है, किंतु अंतिम दो नाटकों में शृंगार को पुत्रोत्पत्ति का साधन मानकर कालिदास ने जैसे 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' के सिद्धांत पर मुहर लगा दी है। शाकुंतल के सरल स्थलों में चतुर्थ अंक की शकुंतला की विदाईवाला प्रसंग अत्यधिक मार्मिक है। कालिदास की सबसे बड़ी नाटकीय सफलता का रहस्य यह है कि कालिदास का कवि भवभूति के कवि की तरह भावुकता के अतिरेक में बह नहीं जाता, उसे नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता का पूरा ध्यान रहता है, और वह नाटक के यथार्थवादी और काव्य के आदर्शवादी वातावरण का एक साथ सफल निर्वाह कर लेता है।

मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक को कुछ विद्वान् कालिदास से प्राचीन मानते हैं। मृच्छकटिक शूद्रक नामक किसी राजा की कृति है। कालीदास के पश्चात् संस्कृत के नाटककारों में शूद्रक का महत्वपूर्ण स्थान है।

मृच्छकटिक की कथावस्तु प्रायः कल्पित है, तथा यह १० अंकों का संकीर्ण प्रकरण है। इसमें अवंती के दरिद्र ब्राह्मण युवक चारुदत्त तथा गणिका वसंतसेना के प्रणय की कथा है। इसी में दूसरी और आर्यक तथा पालक के राजनीतिक संघर्ष की कहानी को घुला मिला दिया है। यह दूसरी कहानी इस कौशल से प्रणयकथा में गुँथी है कि दोनों एक ही लक्ष्य की ओर गतिशील दिखाई पड़ती हैं। मृच्छकटिक संस्कृत नाटकों में अकेला ऐसा नाटक है जिसमें ग्रीक 'कामेडी' का वातावरण देखने को मिलता है। शकार की मूर्खता, शर्विलक की बुद्धिमत्तापूर्ण साहसिकता,

डा० भोलाशंकर व्यास : सं० क० द०, महाकवि कालिदास की नाट्यकला नामक निबंध, पृ० २५०–७७।

पंडित विट की लाचारी जिसे पेट के लिये 'काणेलीमातृक' शकार की सेवा करनी पड़ती है, गणिका वसंतसेना का चारुदत्त के प्रति निःस्वार्थ अनुराग, चारुदत्त की उदारता और मैत्रेय की 'सर्वकालमित्रता' नाटक में अपूर्व वातावरण की सृष्टि करती हैं। मृच्छकटिक जीवन की कठोर भूमि को आधार बनाकर खड़ा होता है, उसके चरित्र किसी दिव्य जगत् के पात्र नहीं हैं। यही कारण है कि उसमें हमें एक सार्वदेशिक भूमिका के दर्शन होते हैं। काव्य की दृष्टि से भी मृच्छकटिक उत्तम कोटि का है, किंतु उसका सबसे बड़ा गुण घटनाचक्र है। नाटकीय व्यापार की गतिशीलता मृच्छकटिक में अभूतपूर्व है, औत्सुक्य स्वतः सामाजिक को आगे प्रेरित करता है और इस दृष्टि से मृच्छकटिक आज भी संस्कृत नाटकों का प्रतिमान बना हुआ है।

मृच्छकटिक के बाद हर्षवर्धन (सातवीं शती का उत्तरार्ध) के तीन रूपक आते हैं—प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानंद। इनमें प्रथम दो नाटिकाएँ हैं, अंतिम नाटक है। हर्ष हलके फुलके प्रेम का कोमल पक्ष चित्रित करने में अत्यधिक कुशल है। प्रियदर्शिका और रत्नावली में अंतःपुर का गुप्त प्रणय इसी कोमल रूप को लेकर आता है। हर्ष ने नागानंद में भी इसका व्यवहार किया है। यदि नागानंद तीसरे अंक पर ही समाप्त हो जाता तो वह भी रत्नावली के ढंग की प्रणयनाटिका रहता, पर जीमूतवाहन की दानशीलता की झाँकी दिखाने के लिये दो अंक और जोड़ दिए गए हैं। किंतु इन दोनों चित्रों को ऐसे सूक्ष्म सूत्र से जोड़ा गया है कि नाटक की अन्विति टूटी दिखाई पड़ती है। इन तीनों कृतियों में रत्नावली कवि की सफलतम कृति है। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली में मालविकाग्निमित्र के वस्तु-संविधान का पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है। हर्षवर्धन विषय, अभिव्यंजना तथा शैली की दृष्टि से कालिदास के ही मार्ग के पथिक हैं— वैसी ही प्रसादगुणयुक्त, शृंगाररस के उपयुक्त सरस शैली, वैसा ही विलासमय अंतःपुर का वातावरण। कथावस्तु के गठन की दृष्टि से हर्ष की रत्नावली में जो चुस्ती दिखाई पड़ती है वह निःसंदेह प्रशंसनीय है, और यही कारण है कि बाद के नाट्यशास्त्रियों ने रत्नावली में नाटकीय तत्वों को ढूँढ़ निकाला है। हर्ष ने स्वयं नाट्यशास्त्र के तत्तत् संध्यंगादि को ध्यान में रखकर यह रचना की है, ऐसा समझना ठीक न होगा। यदि हर्ष उन्हीं को ध्यान में रखकर रचना करते, तो ऐसी चुस्ती न आ पाती और भट्टनारायण के वेणीसंहार जैसी गतानुगतिकता और शिथिलता स्पष्ट परिलक्षित होती।

भट्टनारायण (आठवीं शती पूर्वार्ध) का वेणीसंहार नाट्यशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र के ग्रंथों में नाटकीय संविधान की दृष्टि से बड़ा प्रसिद्ध रहा है, पर इसका कारण नाट्यशास्त्र के नियमों की कड़ी पाबंदी है। नाट्यशास्त्र के नियमों की कड़ी पाबंदी करके कोई भी नाटक प्रभावोत्पादक नहीं बन सकता। यही हाल वेणीसंहार का है। वेणी-संहार छः अंकों का पौराणिक नाटक है जिसमें महाभारत के युद्ध की कथा, द्रौपदी औ

भीम की कौरवों से बदला लेने की प्रतिज्ञा के पूर्ण करने का चित्र है। भट्टनारायण की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उसने महाकाव्य के उपयुक्त इतिवृत्त नाटक के लिये चुना और उसे नाटक में ज्यों का त्यों ले लिया, कोई आवश्यक नाटकीय परिवर्तन नहीं किया। फलतः नाटक कई प्रभावोत्पादक चित्रों का समूह दिखाई पड़ता है जिनमें एक-सूत्रता तथा अन्विति का अभाव है। भट्टनारायण की दूसरी भूल, जिसकी आलोचना *प्राचीन पंडितों ने भी की है, वीररस पूर्ण नाटक में बलात् शृंगारी वातावरण* का पुट लगा देना है, जो दुर्योधन तथा भानुमती के प्रेमप्रसंग में द्वितीय अंक में पाया जाता है। भट्टनारायण की गाढबंधवाली शैली श्रव्य काव्य के लिये भले ही उपयुक्त हो, नाटक के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। इतना होते हुए भी भट्टनारायण के संवाद अद्भुत हैं और कर्ण तथा अश्वत्थामावाला वादविवाद तो विशेष सुंदर बन पड़ा है। वेणीसंहार से ही काव्य तथा कृत्रिम अलंकृत शैली नाटक के क्षेत्र को दबोचने लगी। इस प्रवृत्ति का प्रभाव भवभूति में भी पाया जाता है। मुरारि, राजशेखर तथा जयदेव तो इसी पथ के पथिक हैं।

जिन दिनों भट्टनारायण नाटक पर श्रव्य काव्य को लाद रहे थे, उन्हीं दिनों संस्कृत साहित्य में एक महान नाटककार उत्पन्न हुआ था जिसने भावी नाटककारों को नाटक की सच्ची सरणि दिखाने का प्रयत्न किया, पर खेद है, बाद के नाटककारों ने उस सरणि पर चलना स्वीकार न किया। विशाखदत्त (आठवीं शती का पूर्वार्ध) का मुद्राराक्षस संस्कृत नाटकसाहित्य की सफलतम कृति है और शुद्ध नाटकीय दृष्टि से कुछ विद्वान् उसे अभिज्ञानशाकुंतल तथा मृच्छकटिक से भी उत्कृष्ट मानते हैं[१]। चाहे मुद्राराक्षस में संस्कृत नाटकों का रोमानी वातावरण न मिले और इसमें काव्य की भावात्मक तरलता की कमी हो, पर मुद्राराक्षस नाटक की कसौटी पर खरा उतरता है। नाटक आमूलचूल गंभीर बौद्धिक वातावरण को लेकर आता है, पर चाणक्य तथा राक्षस की कूटनीतिपूर्ण चालों की जिस कुशलता से योजना की गई है, वह नाटकीय व्यापार को गत्यात्मकता देती है और औत्सुक्य की तीव्रता का संचार करती है। विशाखदत्त की शैली भी अपने विषय के अनुरूप है। क्या विषय और क्या अभिव्यंजना दोनों को सँभालते समय उसे प्रतिपद यह ध्यान रहा है कि मैं नाटक लिख रहा हूँ। चाणक्य तथा राक्षस, चंद्रगुप्त और मलयकेतु के परस्पर विरोधी चित्रों की रेखाओं को विशाखदत्त ने स्पष्टतः अंकित किया है। चाणक्य की बुद्धि रक्त का एक भी बिंदु गिराए बिना सबसे बड़ी लड़ाई जीत लेती है, अकेली चाणक्य की नीतिपटुता के सामने मलयकेतु की 'द्विपघटाएँ' धरी की धरी रह जाती हैं और उसकी 'षड्गुण। नीतिरज्जु' राक्षस को बाँध ही लेती है। राक्षस की

[१] दासगुप्त और डे : हि० सं० लि०, पृ० ५८, ४५५–५६।

पराजय होती है, पर उसकी पराजय भी प्रशस्त है। पराजित राक्षस का चरित्र सामाजिकों को कम चमत्कृत नहीं करता। राक्षस की पराजय का एकमात्र कारण उसके चरित्र की भावुकता है। चंद्रगुप्त बाहर से भले ही चाणक्य की कठपुतली दिखाई पड़े पर उसका अपना व्यक्तित्व है, वह प्रभुशक्ति तथा मंत्रशक्ति से समन्वित है, जब कि मलयकेतु उग्र स्वभाव तथा असंयत प्रकृति का परिचायक है।

पंडितों ने संस्कृत नाटककारों में कालिदास के बाद दूसरा स्थान भवभूति (८०० वि० सं०) को दिया है। पर भवभूति का यह महत्व नाटककार की दृष्टि से उतना नहीं है, जितना कवि की दृष्टि से। भवभूति मूलतः कवि हैं। नाटककार के रूप में वे सफल नहीं कहे जा सकते। यदि भवभूति की उज्ज्वल कृति उत्तररामचरित का नाटकीय सौंदर्य देखना है, तो उसे हमें गीतिनाट्य मानकर तदनुकूल कसौटी पर परखना होगा। भवभूति की प्रथम कृति प्रकरण है। मालतीमाधव दस अंकों का प्रकरण है जिसकी रचना में मृच्छकटिक से प्रेरणा मिली होगी। पर भवभूति की गंभीर प्रकृति संकीर्ण प्रकरण के हास्योपयुक्त वातावरण को सँभालने में असमर्थ थी। भवभूति स्वयं इस बात को पूरी तरह जानते थे और यही कारण है कि उनकी किसी भी कृति में विदूषक की पात्रयोजना नहीं मिलती है। नाटकीय संघर्ष के लिये भवभूति ने मालतीमाधव में रौद्र तथा बीभत्स (दे० पंचम तथा षष्ठ अंक) की योजना की है। मालतीमाधव की वस्तु में औत्सुक्य की कमी नहीं है, किंतु वस्तुयोजना बहुत शिथिल है। माधव का विरह कई स्थलों पर भावुकता की अति पर पहुँच जाता है (दे० नवम अंक)। महावीरचरित्र में भवभूति ने नाटकीय वस्तुयोजना में नई सूझ का परिचय दिया है। वेणीसंहार की भाँति वे महाकाव्योपयुक्त इतिवृत्त को ज्यों का त्यों नहीं ले लेते। महावीरचरित में माल्यवान् की कूटनीति की कल्पना कर भवभूति ने नाटकीय संघर्ष को ठोस भूमि दी है। भवभूति की यह कला उत्तररामचरित में और प्रौढ़ रूप लेकर आती है। इतना होते हुए भी इन दोनों पौराणिक नाटकों में एक तो कालान्विति का अभाव है, दूसरे वर्णनों तथा भावुकता के अतिरेक के कारण कथावस्तु की गति में, उसकी व्यापारमयता में, अवरोध उपस्थित कर दिया जाता है। उत्तररामचरित में द्वितीय तथा तृतीय अंक, जो उस नाटक के विशिष्ट रमणीय स्थल हैं, क्रमशः प्रकृतिवर्णन तथा करुण भावात्मक वातावरण की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, पर वहाँ नाटकीय व्यापार रुक सा जाता है। तृतीय अंक के करुण वर्णन से भी कई आलोचकों को यह शिकायत है कि राम के विलाप को अति पर पहुँचाना और उन्हें मूर्च्छित कर देना भवभूति की भावुकता का अतिरेक है, जो वेदना की अभिव्यंजनाशक्ति को कम कर उसे वाच्य बना देता है। कालिदास की भावुकता सीमा का उल्लंघन नहीं करती, पर भवभूति का भावावेश सीमा का अतिक्रमण कर देता है। भवभूति के पास सफल भावुक कविहृदय है, जो एक साथ जीवन के कोमल तथा कटु दोनों पहलुओं

पर दृष्टि डालता है। करुण तथा रौद्र-वीभत्स के चित्रण में भवभूति की तूलिका दक्ष है। भवभूति का करुण तो पत्थरों को रुलानेवाला और वज्र के हृदय को विदीर्ण कर देनेवाला है (अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयं)। भवभूति प्रकृति के सरस तथा भयंकर दोनों तरह के सौंदर्य देखने की पैनी निगाह रखते हैं। उनके पास विषय के अनुरूप बदलती हुई शैली है। एक ओर हृदय की वेदना को उभारकर रखनेवाली सरल मंथर प्रसादगुणयुक्त शैली के वे सफल प्रयोक्ता हैं, तो दूसरी ओर गंभीर भाव के उपयुक्त सानुप्रासिक समासांत पदावलीवाली शैली में भी दक्ष हैं। कालिदास का संगीत केवल पंचम के प्रति अधिक उन्मुख है, माघ का धैवत की गंभीर धीरता के प्रति, पर भवभूति एक साथ दोनों सरणियों के सफल गायक हैं जिसकी उत्कृष्ट तान उत्तररामचरित में सुनाई पड़ती है। दांपत्य जीवन के आदर्शात्मक प्रणय का चित्र अंकित करने में भवभूति संस्कृत साहित्य के अकेले प्रकाशस्तंभ हैं—उस प्रणय के जिसकी रसप्रवणता को जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ भी अपहृत नहीं कर पातीं, जो सुख-दुख में यौवनापगम में भी एक सा है, जो हृदय का विश्राम है।

जिस पांडित्य प्रदर्शन के बीज भट्टनारायण और भवभूति में भी मिलते हैं वे भवभूति के बाद के नाटक साहित्य को अत्यधिक दबोचने लगे। इसका प्रथम प्रौढ़ रूप मुरारि के 'अनर्घराघव' में देखा जा सकता है। मुरारि (८५० वि० सं०) भवभूति के ही मार्ग पर चलकर उन्हें परास्त करना चाहते हैं। उसकी कथावस्तु महावीरचरित का अनुकरण है। मुरारि ने भवभूति के कथासंविधान को बिना किसी हेर फेर के ज्यों का त्यों ले लिया है। उनकी शैली माघ और भवभूति की शैली का समन्वय लेकर आती है। अनर्घराघव में नाटकीय व्यापार का सर्वथा अभाव है, और कई अंक अनावश्यक वर्णनों से भरे पड़े हैं। उनपर ह्रासोन्मुखी काव्यशैली का पर्याप्त प्रभाव है। वे विविध शास्त्रों के पांडित्य तथा पदलालित्य की ओर विशेष ध्यान देते हैं। भवभूति के नाटकों में जो दोष दिखाई पड़ते हैं उनका घनीभूत रूप मुरारि में मिलता है, पर मुरारि में वह भावपक्ष बिलकुल नहीं है जिसके आधार पर भवभूति संस्कृत कवियों की पहली पंक्ति में विराजमान हैं। संस्कृत के पुराने पंडितों ने मुरारि के कोरे पांडित्य प्रदर्शन तथा पदचिंता पर ही रीझकर उन्हें भवभूति से बड़ा घोषित कर दिया था (मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा), पर यह भवभूति की भारती के साथ सबसे बड़ा अन्याय था। मुरारि के बाद के नाटककारों ने इसी पद्धति को अपना लक्ष्य बनाया। नाटक दृश्यकाव्यत्व के स्वाभाविक गुणों से दूर हटते गए। राजशेखर (९५० वि० सं०) का बालरामायण और पीयूषवर्ष जयदेव (१३०० वि० सं०) का प्रसन्नराघव अनर्घराघव से ही प्रभावित है। ये दोनों भी रामकथा से संबद्ध नाटक हैं।

जयदेवोत्तरकाल (१३००–१८०० वि० सं०) के रूपकों में नाटकीय सिद्धांत

और नाटकीय प्रक्रिया के सामंजस्य का निर्वाह न हो पाया। बाद के रूपकों में रामकथा संबंधी नाटक तथा भाण रूपक बहुत लिखे गए। जयदेव के पहले कृष्ण-मित्र का 'प्रबोधचंद्रोदय' एक अन्यापदेशिक नाटक भी लिखा गया था। इसी के ढंग पर आगे चलकर 'भर्तृहरिनिर्वेद' तथा 'चैतन्यचंद्रोदय' जैसे अन्यापदेशिक नाटक लिखे गए। प्रहसनों में 'लटकमेलक' तथा 'पाखंडविडंबन' प्रसिद्ध हैं, पर उत्कृष्ट कोटि की हास्यरसपरक रूपक कृतियाँ संस्कृत साहित्य में बहुत कम लिखी गई। जयदेवोत्तर काल के नाटककारों में प्रमुख वामनभट्ट, बाण, शेषकृष्ण मथुरादास, युवराज रामवर्मा आदि हैं जिनके क्रमशः पार्वतीपरिणय, कंसवध, वृषभानुजा नाटिका, अनंगविजय भाण आदि रचनाएँ हैं। भास, कालिदास, शूद्रक, हर्ष या विशाखदत्त के नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत नाट्यसाहित्य के अधिकतर नाटक रंगमंच की दृष्टि से असफल हैं। रंगमंच के ह्रास के कारण बाद के नाटककारों को राजाश्रय या लोकाश्रय न मिल पाया। संस्कृत के जनभाषा से बहुत दूर हो जाने, भारत में इस्लामी साम्राज्य स्थापित होने और नाटकों के पांडित्यप्रदर्शन के गढ़ बन जाने के कारण वे लोकजीवन के प्रवाह से दूर पड़ गए।

११. संस्कृत साहित्य की कलात्मक मान्यताएँ: साहित्यशास्त्र और काव्यालोचन

अब तक हमने संस्कृत के रचनात्मक पक्ष का पर्यालोचन किया, अब हमें उसके गुणदोष की परीक्षा करनेवाले आलोचनात्मक मानदंडों का परीक्षण करना है। कवि और भावुक को, 'कविता और बुद्धि के योग' को[१] साहित्यशास्त्रियों ने सदा महत्व दिया है। कवि स्वयं भी भावुक के रूप में अपनी कलाकृति का पर्यालोचन कर सकता है और भावुक सहृदय भी कवि बनकर ही कलाकृति की रमणीयता का अनुशीलन कर पाता है। यही कारण है कि क्या काव्यरचना और क्या काव्यानुशीलन दोनों के लिये प्रतिभा की आवश्यकता है। इसी प्रतिभा को विषयिभेद की दृष्टि से दो प्रकार का मान लिया जाता है। कवि से संबद्ध प्रतिभा कारयित्री है, भावुक सहृदय से संबद्ध प्रतिभा भावयित्री :

सा (प्रतिभा) च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री।··· भावकस्य उपकुर्वाणा भावयित्री···कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति, भावकश्च कविः इत्याचार्याः।'[२]

कुछ विद्वान् आलोचक को कोरा पंडित मान बैठते हैं, यह सब से बड़ी भ्रांति है। सच्चा आलोचक सदा पांडित्य और प्रतिभा, बुद्धिपक्ष और हृदय-पक्ष के समन्वय को लेकर, उनमें समरसता स्थापित कर, कवि की लोकोत्तर सृष्टि

[१] म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री : हाइवेज एंड बाइवेज आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत, पृ० १।

[२] काव्यमीमांसा, पृ० १२–१३।

का अवलोकन करता है। न वह कोरे भावुकतावादी आलोचकों की तरह भावावेश में बहकर दूसरी कविता ही करने बैठ जाता है, और न कोरे पंडित की भाँति कवि की सरसता के आस्वाद से ही वंचित रहता है। सफल आलोचक इन दोनों के बीच की खाईं को सेतु बाँधकर समाप्त कर देता है। उसकी आलोचना दोनों छोरों को छूती अनाविल सरिता की भाँति बहती रहती है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में इस राजमार्ग का संकेत करते हुए आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में आलोचक केइन दोनों पहलुओं पर विशेष बल दिया है :

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टियां परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे चाप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयंतो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥[1]

इस पद्य की प्रथम तीन पंक्तियों में कवि ने सहृदय आलोचक के इसी महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का संकेत किया है। इसीलिये संस्कृत के काव्यालोचन का लक्ष्य सांप्रदायिक आलोचनसरणियों की वैयक्तिक संकीर्णता से कलुषित नहीं हो पाया है[2]। यह दूसरी बात है कि यहाँ भी कई आलोचक राजमार्ग को छोड़कर इधर उधर की पगडंडियों में उलझ गए, पर भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक एक ही राजपथ बहता रहा है और पगडंडियों पर चलनेवाले भी उस राजपथ को भूलते नहीं दिखाई पड़ते।

आलोचक के सामने सर्वप्रथम दो प्रश्न आते हैं : (१) काव्य किसे कहते हैं। (२) काव्य में ऐसी कौन सी वस्तु है, कौन सा सौंदर्य है, जो सहृदय को प्रभावित करता है। इन्हीं प्रश्नों से संबद्ध अन्य प्रश्न भी उपस्थित होते हैं—काव्य का प्रयोजन क्या है ? ज्ञानराशि के क्षेत्र में काव्य का क्या स्थान है ?...इत्यादि, इनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न दूसरा है जो काव्य के 'सौंदर्य' से संबंध रखता है। इस प्रश्न को लेकर आलोचनशास्त्र में कई सरणियाँ चल पड़ी हैं। संस्कृत की एतत्संबंधी आलोचन सरणियों की मान्यताओं पर हम संक्षेप से आगे विचार करेंगे। यहाँ पहले 'सूचीकटाहन्याय' का आश्रय लेते हुए अन्य प्रश्नों की ओर संकेत कर दें।

जैसे चित्रकार रंग और रेखाओं के द्वारा अपनी भावनाओं को चित्रफलक पर मूर्त रूप देता है, वैसे ही कवि अपने भावों को वाणी के माध्यम से मूर्तिमान बनाता है। काव्य कवि के भावों का वाणी के माध्यम से प्रकाशन है। वाणी वस्तुतः

[1] ध्वन्यालोक, उद्योत ३।

[2] डा० भोलाशंकर व्यास : ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत, प्रथम भाग, आमुख, पृ० ३३–३४।

भाव से संपृक्त होने के कारण एक ऐसा अद्वय तत्व है, जिसमें शब्दार्थ संश्लिष्ट रूप में पाए जाते हैं। वाणी शब्द और अर्थ का युग्म तत्व है। यही कारण है कि काव्य की परिभाषा निबद्ध करते समय, उसका लक्षण उपन्यस्त करने में शब्दार्थ के इस युग्म तत्व को न भूलना होगा। भामह ने इसीलिये काव्य को 'शब्दार्थ' का साहित्य माना था (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्)।[1] 'काव्यम्' के एकवचन के साथ 'शब्दार्थौ' के द्विवचन का अन्वय तथा समानाधिकरण्य भी इसी तथ्य का संकेत करते हैं। भामह की काव्यपरिभाषा को ही आगे के मान्य आचार्यों ने स्वीकार किया है, और मम्मट ने भी 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' में इसी सिद्धात की प्रतिष्ठापना की है।[2] मम्मट के पहले कुंतक ने भी इसी परंपरा को अपनाकर शब्दार्थ को ही काव्य स्वरूप माना था।[3] संस्कृत साहित्यशास्त्र में एक दूसरा मत भी पाया जाता है जो शब्द को काव्य मानता है। इसका पहला रूप हमें दंडी के 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' वाले मत में मिलता है जो शब्दवाले अंग पर जोर देता है। विश्वनाथ ने भी इसी अंग पर जोर देते हुए 'रसात्मक वाक्य' को काव्य माना।[4] पंडितराज जगन्नाथ ने शब्दार्थ को काव्य माननेवाले विद्वानों का खंडन भी किया है और 'शब्द' को ही काव्य का स्वरूपाधायक माना है। वे कहते हैं, रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।[5] पर ध्यान से देखने पर भामह, कुंतक और मम्मट की काव्य परिभाषा ही वैज्ञानिक दिखाई पड़ती है, जो शब्दार्थ के संमिलित तत्व को काव्य मानते हैं। रुद्रट, वामन और भोजराज भी इसी मत के हैं।[6]

भारत के साहित्यालोचक ने प्रयोजन संबंधी पहेली को भी बड़े मजे से सुलझाया है। उसने रस को महत्ता देते हुए भी यूरोप के कलावादियों की भाँति 'लोककल्याण' के 'संदेशांश' को नहीं भुलाया है, और 'संदेश' को मानते हुए भी

१ भामह : का० अ०, १.६।

२ मम्मट : का० प्र०, पूनावाला प्रदीपयुक्त संस्करण, पृ० ६।

३ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धेऽप्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी०, १.८।

४ वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। सा० द०, १.२।

५ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। र० गं०, पृ० २।
साथ ही देखिए—पृ० ३, ४ में शब्दार्थ को काव्यार्थ माननेवाले मत का खंडन। पंडितराज के शब्दार्थ को काव्यार्थ माननेवाले मत का रसगंगाधर के टीकाकार नागेश ने खंडन किया है और मम्मट के मत को पुनः प्रतिष्ठित किया है। वही, पृ० ४-५।

६ पं० बलदेव उपाध्याय : भा० सा० शा०, प्रथम खंड, पृ० ५५७।

रस की चरम महत्ता घोषित की है, जिसका श्रेय ध्वनिवादियों को मिलना चाहिए। भामह की भाँति उन्होंने काव्य का प्रयोजन कोरी 'चतुर्वर्गफलप्राप्ति'[1] नहीं माना है, वह भी उसका अवांतर प्रयोजन है, पर खास प्रयोजन चिदानंदघन 'लोकोत्तर' (लौकिक होते हुए भी लोकोत्तर) रस का आस्वाद है। पर ध्यान देने की बात तो यह है कि रसास्वाद में भी औचित्य[2] का ध्यान रखकर ध्वनिवादी ने अपने आलोचन सिद्धांत को नैतिकता का विरोधी होने से बचा लिया है और साहित्य की नैतिकताविरोधी धाराओं को आड़े हाथों लिया है[3]। इसी रसप्रवणता के आधार पर भारतीय आलोचक ने ज्ञानराशि में काव्य का प्रमुख स्थान माना है, और इसे प्रभुसंमित उपदेशवाले वेद तथा सुहृत्संमित उपदेशवाले पुराण से बढ़कर घोषित किया है क्योंकि इसमें कातासंमितोपदेश पाया जाता है[4]। पर वह कौन सा गुण है, जो काव्यकला को 'कांता' की भाँति 'कांत' बना देता है? आगे हम इसी जटिल प्रश्न पर विचार करने जा रहे हैं।

तो काव्य का प्रमुख स्वरूपाधायक तत्व 'शब्दार्थ' (शब्दार्थौ) है। किंतु शब्दार्थ तो साधारण प्रयोग में भी पाया जाता है; क्या वह भी काव्य है? नहीं, 'विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है' (इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्)। शब्दार्थ में कुछ ऐसी विशेषता का होना अत्यावश्यक है जिससे वे काव्य बन सकें। अब सारे प्रश्न की कुंजी इस 'विशिष्ट' शब्द की मीमांसा के हाथों दिखाई पड़ती है। 'विशिष्ट' से आचार्यों का क्या तात्पर्य है? क्या अलंकार विशिष्ट शब्दार्थ काव्य हैं, या गुण विशिष्ट शब्दार्थ काव्य हैं, या वक्रताविशिष्ट शब्दार्थ काव्य हैं, या भोगविशिष्ट शब्दार्थ काव्य हैं, अथवा व्यंग्यविशिष्ट शब्दार्थ काव्य हैं? ये पाँच विकल्प ही संस्कृत साहित्यशास्त्र में पाँच प्रसिद्ध मतों या संप्रदायों का संकेत करते हैं। पहला मत अलंकारवादियों का है, दूसरा मत रीतिगुण संप्रदायवादियों का है, तीसरा मत वक्रोक्तिवादी कुंतक का, चौथा मत भोगवादी भट्टनायक का है जो अलग से कोई संप्रदाय नहीं है, अंतिम मत ध्वनिवादियों का राजमार्ग है। इन पाँचों मतों का उल्लेख अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबंध ने किया है। इन पाँचों मतों को वे तीन कोटियों में बाँटते हैं। प्रथम और द्वितीय मत शब्दार्थ में धर्मगत वैशिष्ट्य मानते हैं, तृतीय और चतुर्थ

१ चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते। भामह।

२ अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्॥ ध्व० आ०, ३. १५।

३ ध्व० आ०, काशी सं० सिरीज संस्करण, तृतीय उल्लास, पृ० ३१७।

४ का० प्र०, १. २, पृ० ५, ६। विद्यानाथ : प्रतापरुद्रीय, १. ८।

मत व्यापारगत वैशिष्ट्य एवं अंतिम मत व्यंग्यगत वैशिष्ट्य मानता है[१]। इनके अतिरिक्त आचार्य भरत के रस संप्रदाय तथा क्षेमेंद्र के औचित्य संप्रदाय को भी अलग से संप्रदाय माना जाता है। समुद्रबंध ने इनका संकेत नहीं किया है। इसका कारण यह है कि ये दोनों ध्वनिवाद में ही समाहित होते देखे जाते हैं। एक और संप्रदाय का नाम सुना जाता है, चमत्कार संप्रदाय। इस संप्रदाय में कोई प्रबल व्यक्तित्व नहीं दिखाई देता, पर विश्वनाथ महापात्र के पितामह नारायण इस मत को मानते थे[२]। बाद में तो विश्वेश्वर[३] तथा हरिप्रसाद ने इस सिद्धांत का विशद रूप से प्रतिपादन भी किया। जगन्नाथ पंडितराज भी 'चमत्कार' की घोषणा करते हैं। 'चमत्कार' का प्रयोग ध्वन्यालोक में भी मिलता है[४] और 'लोचन' में तो इसका प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है[५]। अभिनवभारती में 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग 'रस' के पर्याय के रूप में मिलता है[६]। इन सब बातों को देखते हुए 'चमत्कार' संप्रदाय और कुछ नहीं, औचित्य की भाँति ध्वनिवाद के ही मत का नवीन संस्करण है, जिसमें गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या, अलंकार सभी को

१ इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन वेति त्रय· पक्षाः। आद्येऽप्यलकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम् इति पंचसु पक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमं : आनंदवर्धनेन। समुद्रबंध : अलंकार सर्वस्व टीका।

साथ ही देखिए—पं० बलदेव उपाध्याय : भा० सा० शा०, प्रथम खंड, पृ० २३५-३६।

२ रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। सा० द०, तृतीय परिच्छेद।

३ विश्वेश्वर की चमत्कारचंद्रिका अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति लंदन की इंडिया आफिस लाइब्रेरी में है, एक मद्रास की 'ओरियंटल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में। इन पंक्तियों के लेखक ने लंदन में इसकी प्रति देखी है। यह ८६ पृष्ठों की हस्तलिखित प्रति है, जिसमें प्रत्येक पृ० में २० से ३० तक पंक्तियाँ हैं। यह लेख ग्रंथलिपि में है। विश्वेश्वर का मत इस पद्य से ज्ञात हो सकता है :

रम्योक्त्यर्थतनूज्ज्वला रसमयप्राणा गुणोल्लासिनी
चेतोरंजकरीतिवृत्तिकवितापाकं वयो बिभ्रती।
नानालंकरणोज्ज्वला दवसती (?) सर्वत्र निर्दोषतां
शय्यामंचति कामिनीव कविता कस्यापि पुण्यात्मनः॥

चमत्कारचंद्रिका, इं० आ० ला०, मैनु० सं० ३६६६।

४ ध्व० आ०, निर्णयसागर संस्करण, पृ० १४४।

५ लोचन, वही संस्करण, पृ० ३७, ६३, ६५, ७२, ७९, ११३, १३७, १३९।

६ अभिनवभारती, गायकवाड ओरियंटल सिरीज, पृ० १८१।

एक ही तत्व में समाविष्ट करने का प्रयास है[1]। हम तो औचित्य को भी अलग से संप्रदाय न मानकर ध्वनिसंप्रदाय का ही एक प्ररोह समझते हैं। यदि हम पाश्चात्य सिद्धांतपद्धति से कुछ पारिभाषिक शब्द उधार ले लें तो यह कहेंगे कि अलंकार, रीति और गुण में सौंदर्य माननेवाले लोग वे यथार्थवादी आलोचक हैं, जो काव्यकृति के आभ्यंतर सौंदर्य को नहीं देख पाते। काडवेल ने ऐसे ही लोगों को 'यांत्रिक भौतिकवादी' (मैकेनिकल मैटेरियलिस्ट) कहा है[2]। व्यापार में सौंदर्य माननेवाले आलोचकों का दृष्टिकोण 'विधिवादी' है। ठीक यही दृष्टिकोण ध्वनिवादियों का है। हमारे यहाँ के आलोचनशास्त्र में कोरी आदर्शवादी आलोचन-सरणि नहीं पनप पाई, यह शुभ लक्षण है और इस बात का संकेत करता है कि हमारे आलोचक ने कभी भी यथार्थ की भूमि नहीं छोड़ी। ध्यान देने की बात तो यह है कि ध्वनिवाद ने जहाँ विषयी को, भोक्ता को कलासौंदर्य के आस्वादन में महत्वपूर्ण स्थान दिया है, वहाँ काव्यालोचन को वैयक्तिक रुचि का क्षेत्र न मानकर यथार्थ को भी अपना लिया है। अखंड रस के आस्वाद को काव्य का प्रतिपाद्य मानकर भी उपदेश पक्ष को न भूलना, काव्य में नैतिकता की रक्षा करना, और श्रेणीविभाजन को गौण मानते हुए भी काव्य का तत्तत् श्रेणीविभाजन करना ध्वनिवादी की आदर्शात्मकता और यथार्थोन्मुखता दोनों के समन्वय का संकेत करता है। संभवतः दोनों का सफल समन्वय करने के कारण ही यह मत मान्य हो सका है। हम यहाँ ध्वनिवाद के पूर्वपक्ष के रूप में अन्य मतों का विवेचन कर इस सिद्धांत को संक्षेप में स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे, पर इसके पहले दो शब्द भामह से पूर्व की साहित्यिक गवेषणाओं पर कह देना ठीक होगा।

मानव ने जिस दिन से कवि का रूप धारण किया, उसी दिन से वह भावुक आलोचक भी बन बैठा था। वैदिक ऋषि ने ही उस काव्यवाणी के निगूढ़ लावण्य के खजाने की घोषणा की थी जो सहृदय के संमुख अपने लावण्य को इसी तरह प्रकट कर देती है जैसे रमणीय वस्त्रवाली प्रिया अपने आपको प्रिय के हाथों सौंप देती है। असहृदय व्यक्ति के हाथों वह अपने को नहीं सौंपती और असहृदय व्यक्ति उसे देखते हुए भी अंधा बना रहता है, सुनते हुए भी बहरा है[3]। वैदिक मंत्रद्रष्टा

१ चमत्कारस्तु विदुषामानंदपरिवाहकृत।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिं।
सप्तैतानि चमत्कारकारकाणं ब्रुवते बुधाः ...। हरिप्रसाद के काव्यालोक से डा० राघवन द्वारा सम कांसेप्ट्स आव् अलंकार शास्त्र में उद्धृत।

२ इल्यूजन ऐंड रियलिटी, पृ० ६।

३ उत त्वः पश्यन्न ददर्शवाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ऋ० वे०, १०. ७१. ४।

की तीव्र प्रतिभा ने एक ही निगाह में काव्य के सौंदर्य की आत्मा का प्रत्यक्ष कर लिया है, उस दिव्य संगीत से उसके श्रवण आप्यायित हो गए हैं, और सब से पहले आलोचक की बुद्धिसंवलित प्रतिभा ने मंत्र के फलक पर आलोचना की रेखाएँ खींच दी हैं जिनपर भावी कलाकारों ने समय समय पर रंग भर कर अपनी कुशलता का परिचय दिया है। वेदों के बाद यास्क के निरुक्त में तो पाँच प्रकार की उपमा का भी संकेत मिलता है[१] और पाणिनि के सूत्रों में भी उपमा शब्द का पारिभाषिक प्रयोग मिलता है।[२] राजशेखर ने साहित्यशास्त्र के तत्तदंग के आद्य आचार्यों का वर्णन किया है, पर इनमें कई आचार्यों के नाम तो राजशेखर के आनुप्रासिक चमत्कार जान पड़ते हैं, कई गपोड़े हैं, दो तीन नाम अवश्य तथ्यपूर्ण हैं।[3] भरत के पूर्व का कोई आचार्य हमें ज्ञात नहीं। भरत का पता कालिदास को था। अभिनवगुप्त आदि टीकाकारों ने वास्तविक भरत को 'वृद्धभरत' कहा है। इससे प्रतीत होता है कि भरत भी एक से अधिक रहे होंगे। भरत का प्रमुख उद्देश्य नाट्यशास्त्र के सिद्धांतो का विवेचन है, पर वैसे नाट्यशास्त्र साहित्यिक आलोचन का 'विश्वकोश' भी है। उन्होंने चार प्रकार के अलंकार माने हैं: उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक।[४] भरत में ही सर्वप्रथम गुणों व दोषों का संकेत मिलता है तथा नाट्यशास्त्र की दृष्टि से रसो की विशद मीमासा भी। इसके अतिरिक्त रूपको के भेद, वस्तु, नेता आदि का वर्गीकरण, वृत्तियों का विभाजन आहार्य, आंगिक, सात्विक वाचिक तथा अभिनय का मार्गदर्शन विस्तार से मिलता है, जो बाद के साहित्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र का पथप्रदर्शक है।

(१) **अलंकार संप्रदाय**—भरत के बाद सबसे प्रमुख व्यक्तित्व भामह का है।[५] भामह ने काव्य का वास्तविक सौंदर्य अलंकारों में निहित माना है। भामह के 'काव्यालंकार' के अलंकार प्रकरण में कवि की अभिव्यंजना को निश्चित अलंकार-

१ यास्क : निरुक्त, ३. १३. १८। देखिए—पं० बलदेव उपाध्याय : भा० सा० शा०, प्रथम खंड, पृ० १५, १६।

२ तुल्यार्थैरतुल्योपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। २. ३. ७२।
उपमानानि सामान्यवचनैः। २. १. ५५।
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। २. १. ५६।

३ का० मी०, पृ० १।

४ ना० शा०, १६. ४१।

५ भामह की तिथि के विषय में लोगों का मतैक्य नहीं है। संभवतः ये छठी शती के उत्तरार्ध में रहे होंगे। इस वादविवाद के लिये दे० पं० उपाध्याय : भा० सा० शा०, प्रथम खंड, पृ० १८१।

सरणियों में निबद्ध करने की चेष्टा की गई है। इस दृष्टि से अलंकारों की परिभाषाएँ तथा उदाहरण दिए गए हैं। भामह ने अलंकारों की भित्ति मूलतः वक्रोक्ति मानी है जिसके बिना किसी भी अलंकार की सृष्टि नहीं हो पाती।[1] भामह शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकारों पर विशेष जोर देता है। काव्य में प्रचलित वैदर्भ तथा गौड मार्ग का वर्णन करते हुए उसने काव्य के लिये वैदर्भ मार्ग ही प्रशस्त माना है जिसमें विद्वानों से लेकर बालक और स्त्रियाँ तक समझ सकें[2]। भामह काव्य की वास्तविक आत्मा 'रस' की ओर से आँखें मूँद लेता है, यह अवश्य है कि वह रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वी और समाहित में रसभावादि का समावेश कर अलंकार्य को भी अलंकार बना देने की गलती करता है। पर देखा जाय तो भामह काव्यालोचन की पहली सीढ़ी है, और आलोचना की पहली सीढ़ी पर शरीर के सौंदर्य पर, शब्दार्थ के अलंकारों पर, ही ध्यान जाना स्वाभाविक भी था। भामह के विवृतिकार उद्भट को भी अलंकारशास्त्र के आचार्यों में माना जाता है। उद्भट का निजी सिद्धांत कोई नहीं जान पड़ता, वह भामह का ही अनुकर्ता रहा है। वैसे कुछ नए अलंकारों और नए भेदों का उल्लेख उद्भट में मिलता है जो भामह को ज्ञात न थे। उदाहरण के लिये उद्भट ४ प्रकार की अतिशयोक्ति मानता है। अनुप्रास के छेक, लाट तथा वृत्ति नामक भेद भी उद्भट में ही मिलते हैं। भामह ने लाटानुप्रास का संकेत अवश्य किया है। उद्भट भी रस को अलंकार ही मानता है पर वह उसके साथ भाव, अनुभाव जैसे शब्दों का भी प्रयोग करता है, जो भामह में नहीं पाए जाते।

अलंकार संप्रदाय के तीसरे आचार्य दंडी हैं। डा० डे ने दंडी को रीतिगुण-संप्रदाय के आचार्यों में स्थान दिया है। डा० राघवन् इन्हें अलंकार संप्रदाय का आचार्य मानते हैं,[3] जो विशेष ठीक जान पड़ता है। अलंकारों के विकास में दंडी का हाथ भामह से किसी भी अवस्था में कम नहीं है। दंडी ने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति, समाधि, इन दस काव्यगुणों का संकेत किया है। गुणों के बाद काव्यमार्गों (रीतिः) का वर्णन है। काव्यादर्श के अंतिम दो परिच्छेदों में अलंकारों का वर्गीकरण और विवेचन है। अलंकार दो तरह के होते हैं, शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों का वर्णन करते हुए दंडी ने यमक के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है। अर्थालंकारों के प्रति दंडी

१ सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ का० अ०, २. ८५।

२ का० अ०, २. १. ३।

3 डा० राघवन : सम कांसेप्ट्स आफ् अलंकारशास्त्र, पृ० १३७।

विशेष ध्यान देता है, और उसने ३५ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। भेदोपभेद की दृष्टि से उसने कई नई उद्‌भावनाएँ की हैं, उदाहरण के लिये वह उपमा के ३२ भेद मानता है। दंडी ने सारे अलंकारवर्ग को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में विभक्त किया है और श्लेष तथा अतिशयोक्ति को विशेष महत्व दिया है। दंडी ने काव्य का सौंदर्य अलंकारों में ही माना है।

दंडी के बाद इस संप्रदाय का महत्वपूर्ण व्यक्तित्व रुद्रट है। रुद्रट 'रस-सिद्धांत' से प्रभावित जान पड़ता है। उसका १६ परिच्छेदों का ग्रंथ 'काव्यालंकार' है, जिसमें प्रथम दस परिच्छेदों में अलंकारविवेचन है, पिछले दो परिच्छेदों में रस पर विचार किया गया है। रुद्रट की कृति अलंकारों के विवेचन की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उसने ६८ अलंकारों का वर्णन किया है। इनमें भी अलग अलग अलंकार के उपभेद पाए जाते हैं। रुद्रट ही सर्वप्रथम स्पष्ट रूप में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के विभाजन की पृष्ठभूमि देता है। वह शब्दालंकारों को वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र, अनुप्रास और यमक पाँच भेदों में विभक्त करता है। अर्थालंकारों को वह वास्तव, औदम्य, अतिशय तथा श्लेष इन चार कोटियों में निहित करता है। यद्यपि रुद्रट भी काव्य का सौंदर्य अलंकारों में ही मानता है, पर उसने रस की महत्ता स्वीकार कर पूरे दो परिच्छेद उसके विवेचन के लिये दिया है।

रस तथा ध्वनि के सिद्धांतों के जोर पकड़ने पर अलंकारसिद्धांत कमजोर पड़ गया। ध्वनिवादियों ने भी अलंकारों की आवश्यकता स्वीकार कर ली थी, हाँ केवल उन्हीं को 'चमत्काराधायक' नहीं माना। पिछले दिनों दंडी और रुद्रट के प्रशिष्यों का अंकुर फूटता दिखाई पड़ता है। चंद्रालोककार जयदेव ने शब्दार्थ के लिये 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कहनेवाले मम्मट का डटकर खंडन किया और अलंकारों को काव्य का अविभाज्य धर्म ठीक उसी तरह माना है, जैसे उष्णत्व अग्नि का धर्म है[1]। जयदेव के ही मार्ग का अनुसरण अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानंद' में किया। इन लोगों ने वैसे तो ध्वनिवाद के सिद्धांतों के अनुरूप अपने आपको ढाल लिया था, पर अलंकारों का मोह ये पूरी तरह छोड़ नहीं पाए थे। किंतु जयदेव और अप्पय दीक्षित की मतसरणि ध्वनिवाद के सामने नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह दब गई। अलंकारवादी वस्तुतः वे वस्तुवादी आलोचक थे जो काव्य की आत्मा 'रस' तक नहीं पहुँच पाते थे और उसकी सत्ता स्वीकार करने पर भी उसे 'अलंकार' (काव्यशोभाकर धर्म) ही मानते थे। एकावलीकार ने इसीलिये ऐसे लोगों की तुलना चार्वाकों से की थी, जो आत्मा को नहीं पहचान पाते (चार्वाकैरिव कैश्चिदस्य न पुनः सत्तापि संभाव्यते)।

[1] अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ चन्द्रालोक, प्रथम मयूख।

(२) **रीति-गुण-संप्रदाय**—रीति शब्द का ठीक वही अर्थ नहीं है जो अँगरेजी के 'स्टाइल' (शैली) शब्द का। 'स्टाइल' व्यक्तिभेद से अनेकरूप होगा। रीति की संख्या निश्चित है तथा इसका संबंध विषयी (कवि) के व्यक्तित्व से न होकर कलाकृति के अवयवसंस्थान से है[१]। रीति का संकेत भामह में ही मिलता है, भामह ने ही वैदर्भ तथा गौड़ीय मार्गों का संकेत किया है[२]। दंडी ने तो गुणों का इतना वैज्ञानिक वर्णन किया है कि कुछ विद्वान् उन्हें ही रीति संप्रदाय का आदि आचार्य मानते हैं। भामह तथा दंडी दोनों ने अर्थालंकाराडंबर तथा अनुप्रास-प्राचुर्य वाले गौडीय मार्ग को उच्च कोटि का नहीं माना है। दंडी ने गौडीय मार्ग को ही 'पौरस्त्य' मार्ग भी कहा है[३]। विदर्भ तथा गौड देश के आधार पर रीतियों की भौगोलिक विभाजनवाली कल्पना भामह से भी पुरानी है। वैदर्भी का प्रयोग सुंदर काव्यरीति के लिये तथा गौडी का प्रयोग शब्दाडंबरप्रधान काव्यरीति के लिये बहुत पहले से चलता आ रहा होगा। पर भामह ने इस गतानुगतिक धारणा का खंडन किया है तथा काव्य की कसौटी मार्गविशेष न मानकर काव्य का अलंकारयुक्त, सार्थक, अग्राम्य, न्याय्य तथा अनाकुल होना माना है[४]।

रीतिसंप्रदाय के इतिहास में वामन का प्रमुख स्थान है। वामन ने ही सर्वप्रथम रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया तथा इसे विशिष्ट पदरचना कहा[५]। वामन ने ही सर्वप्रथम शब्द और अर्थ के दस दस गुणों को अलग अलग माना। उन्होंने गुणों का रीति से घनिष्ठ संबंध माना है। साथ ही यह भी बतलाया है कि रीति की उत्कृष्टता जितनी अर्थगुणों पर आधृत है उतनी शब्दगुणों पर नहीं। अर्थगुण तो रस की स्थिति तक पहुँच जाते हैं। वामन ने नवें अर्थगुण 'कांति' को 'दीप्तरसत्व' माना है[६]। वामन भी वैदर्भी को उत्कृष्ट रीति मानते हैं[७], पर दंडी की तरह वे गौडी रीति को बुरा नहीं मानते, उनके मत से गौडी में भी वैदर्भी के सारे गुण पाए जाते हैं, हाँ वैदर्भी के माधुर्य और सौकुमार्य वहाँ न पाए जाकर समासबाहुल्य तथा उज्ज्वलपद पाए जाते हैं जिन्हें हम ओज तथा कांति का प्राचुर्य मान सकते हैं। वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं, असमस्तपदा वैदर्भी,

१ डा० डे० : संस्कृत पोयटिक्स, भा० २, पृ० ११५-१६।
२ भामह : का० अ०, १. ३२, १. ३५।
३ दंडी : का० आ०, १. ४४, १. ५०।
४ भामह : का० अ०, १. ३५।
५ रीतिरात्मा काव्यस्य। वामन।
विशिष्टपदरचना रीतिः। का० अ० सू०, वृ० १. २. ७।
६ दीप्तरसत्वं कांतिः। वही, ३. २. १५।
७ समग्रगुणा वैदर्भी। वही, १. २. ११; साथ ही १. २. १४–१५।

समस्तपदा गौड़ी, मध्यममार्गावगाहिनी पांचाली। गुणों की स्फुटता के आधार पर वामन ने काव्य में आम्रपाक होना आवश्यक माना है। कोरे सुप्, तिङ्, पदों के परिपाक को वे निम्न कोटि का मानते हैं, और इसे वृंताकपाक कहते हैं[१]।

रुद्रट ने वामन की रीतियों में 'लाटीया' को जोड़कर इनकी संख्या चार बना दी। आनंदवर्धन ने रीति को काव्य की संघटनाविशेष माना है। शिंगभूपाल ने वामन की तीन वृत्तियों को ही कोमला, कठिना और मिश्रा, ये नए नाम दिए और भोजदेव ने सरस्वतीकंठाभरण में वैदर्भी, गौडी, पाचाली, लाटी, आवंती और मागधी इन छः रीतियों की गणना की। भोज के मत से आवंती रीति वैदर्भी और पांचाली के बीच की रीति है जिसमें दो, तीन या चार समस्तपद होते हैं[२]। मागधी वहाँ होती है जहाँ कवि एक रीति का आश्रय लेकर उसी पद्य के उत्तरार्ध में ठीक दूसरी रीति का आश्रय ले लेता है। इसीलिये भोज ने इसे 'खंडरीति' भी कहा है[३]। कुंतक ने 'रीति' को एक नया रूप देने की चेष्टा की है। वे इसे 'मार्ग' के नाम से पुकारते हैं, तथा रीति की परंपरागत कल्पना का खंडन भी करते हैं। वे इसे किसी देश विशेष से संबद्ध नहीं मानते[४]। वे वैदर्भी आदि रीतियों को उत्तम मध्यम, अधम मानने की धारणा का भी खंडन करते हैं। कुंतक ने दो मार्ग माने हैं, एक सुकुमार मार्ग, दूसरा विचित्र मार्ग। इन दोनों की छाया से मिश्रित तीसरे मार्ग का भी वे संकेत करते हैं जिसे वे 'रमणीय मार्ग' कहते हैं[५]। कुंतक विचित्र मार्ग (गौड़ी रीति) की निंदा नहीं करते, प्रत्युत उसे ऐसा असिधारापथ समझते हैं जिसपर विदग्ध कवि ही चल पाते हैं[६]। सुकुमार मार्ग को कुंतक ने फूलों का का वह वन माना है जिसकी ओर कविमधुप दौड़े पड़ते हैं[७]।

रीति के साथ ही दो शब्दों का और नाम लिया जाता है—वृत्ति और प्रवृत्ति। भोज ने शृंगारप्रकाश में तथा राजशेखर ने काव्यमीमांसा में दोनों का संकेत किया है। इनमें भेद यह है कि रीति वचनविन्यासक्रम है तो प्रवृत्ति वेष-विन्यासक्रम और वृत्ति विलासविन्यासक्रम। नाटक में कैशिकी, आरभटी,

१ वही, पृ० ३६।

२ सरस्वतीकंठाभरण, २. ३२, पृ० १५६।

३ पूर्वरीतेरनिर्वाहे खंडरीतिस्तु मागधी। वही, २. ३३, पृ० १५७।

४ व० जी०, पृ० ४६।

५ वही, पृ० ४७।

६ सोऽतिदुःसंचरो येन विदग्धकवयो गताः।
खड्गधारापथेनैव सुभटानां मनोरथाः॥ वही, १. ४३।

७ सुकुमाराभिधः सोयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनैव षट्पदाः॥ वही, १. २९।

सात्विकी और भारती ये चार वृत्तियाँ मानी जाती हैं। हमारे मत से वृत्ति और प्रवृत्ति का रीति से कोई घनिष्ठ संबंध नहीं है।

(३) वक्रोक्ति संप्रदाय—हम देख चुके हैं कि काव्य में वक्रोक्ति का महत्वपूर्ण स्थान घोषित करनेवालों में भामह ही प्रमुख थे। ध्वनिवादियों की व्यंजनावृत्ति तथा ध्वनि का खंडन करने के लिये राजानक कुंतक ने इसी 'प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी' सरणि वक्रोक्ति का आश्रय लेकर वक्रोक्तिसंप्रदाय को जन्म दिया। कुंतक के मार्ग पर चलनेवाले अनुयायी नहीं हुए, पर कुंतक का अकेला व्यक्तित्व अपने आपमें एक संप्रदाय है। कुंतक की यह वक्रता शब्द और अर्थ दोनों की हो सकती है, पर वे बताते हैं कि केवल वाचकवक्रता या वाच्यवक्रता से ही काव्यसंज्ञा सिद्ध न हो सकेगी। वस्तुतः सहृदय को चमत्कृत करने की क्षमता दोनों (शब्द और अर्थ) में होती है, जैसे प्रत्येक तिल में तैल होता है[१]। वक्रोक्ति को कुंतक 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' तथा 'विचित्रा अभिधा' मानते हैं[२]। कविव्यापार की इस वक्रता को कुंतक ने छः प्रकार का माना है—१. वर्णविन्यासवक्रता, २. पदपूर्वार्धवक्रता, ३. प्रत्ययवक्रता, ४. वाक्यवक्रता, ५. प्रकरणवक्रता, तथा ६. प्रबंधवक्रता[३]। काव्य के सभी अंगों का समावेश इन छः भेदों में कर लिया जाता है। अलंकार, रस, ध्वनि सभी कुंतक की वक्रोक्ति के महाविषय में अंतर्भुक्त हो जाते हैं[४]। शब्दालंकारों का समावेश कुंतक ने वर्णविन्यासवक्रता के अंतर्गत किया है। इसी में सुकुमार प्रस्ताव तथा परुष प्रस्ताव के द्वारा वे कोमला तथा परुषा वृत्तियों का भी संकेत करते हैं। ध्वनि के कुछ भेदों का समावेश कुंतक ने 'उपचारवक्रता' के अंतर्गत किया है जो ऊपर के दूसरे भेद का एक उपभेद है। सभी अर्थालंकारों का समावेश वाक्यवक्रता में हो जाता है[५]। रस को कुंतक ने प्रबंधवक्रता में लिया है। कुंतक ने प्रबंधवक्रता के कई प्रकार माने हैं। इस वक्रता का क्षेत्र अन्य भेदों की अपेक्षा विशाल है। रस की महत्ता प्रतिष्ठित करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार कहते हैं कि कोई कवि केवल कथा की रचना कर देने से ही सफल नहीं हो पाता, उसकी वाणी तभी अमर हो पाती है जब वह रसप्रवाह से निरंतर तरल संदर्भ से संपन्न हो[६]। कुंतक

[१] तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्। वही, पृ० ७।

[२] वही, कारिका १. १५।

[३] वही, कारिका १. १९. २१।

[४] देखिए—पं० बलदेव उपाध्याय : भा० सा० शा०, द्वि० खंड, पृ० ३२१, ३२७, ३३८ तथा परवर्ती।

[५] यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति। व० जी०, कारिका १. २१।

[६] निरन्तररसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवंति न कथामात्रमाश्रिताः॥ वही, पृ० २२५।

ने इस प्रकार काव्य के वास्तविक लावण्य से आँखें नहीं मूँदी हैं प्रत्युत उन्होंने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित अलंकार करनेवाले भामहादि का खंडन भी किया है।[१] कुंतक ने एक और महत्वपूर्ण मत व्यक्त किया था। वे स्वभावोक्ति को अलंकार मानने का निषेध करते थे[२]। कुंतक के सिद्धांतों को देखने पर पता चलता है कि बाद के आलंकारिकों ने जिस सरलता से कुंतक के ठोस सिद्धांत को एक वाक्य कहकर खंडित कर दिया, वह सबसे बड़ा अन्याय था। कुंतक की वक्रोक्ति को वक्रोक्ति अलंकार से अभिन्न मान लेना अनुचित था। वस्तुतः कुंतक ने भी उसी लावण्य को अपनी प्रतिभा से उन्मीलित किया है जो ध्वनिवादी का उपास्य है। भेद है तो केवल पारिभाषिक शब्दावली का या वर्गीकरण की सरणि का। संस्कृत के प्रतिभाशाली आचार्यों में आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त के बाद कुंतक का व्यक्तित्व ही पहला सशक्त व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है।

(४) रस संप्रदाय—राजशेखर ने रस का सर्वप्रथम आचार्य नंदिकेश्वर को माना है[३]। पर रस संप्रदाय का उदय भरत के व्यक्तित्व से होता है। भरत ने 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रसनिष्पत्ति' मानी है। भरत की रसविषयक मीमांसा दृश्यकाव्य को ध्यान में रखकर की गई है। भरत के मुख्य टीकाकारों को भी इसी संप्रदाय का माना जाता है। भट्टलोल्लट ने रस को विभावादि का 'उत्पाद्य' माना तथा वास्तविक रस अनुकार्य रामादि में घोषित किया, शंकुक ने रस को विभावादि का अनुमाप्य माना और रस की स्थिति रामादि में ही मानी, पर 'चित्रतुरगादिन्याय' की कल्पना कर सामाजिकों में भी गौणतः चमत्कार की स्थिति मानी। भट्टनायक ने ही सबसे पहले सामाजिक में रस की स्थिति स्वीकार करते हुए विभावादि को उसका 'भोजक' तथा रस को 'भोज्य' सिद्ध किया। ये तीनों मत क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और भुक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने रस संप्रदाय की खाई को पाटकर उन्हें एक कर दिया। उन्होंने रस को 'व्यंग्य' घोषित किया है और विभावादि को 'व्यंजक'। अभिनवगुप्त ने भी रस की स्थिति सहृदय सामाजिक में ही मानी[४]। उन्होंने सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप में स्थित रत्यादि भाव को रस का बीज घोषित किया।

[१] दे०—व० जी०, डा० डे द्वारा संपादित, पृ० १५७, १६१ तथा परवर्ती।

[२] वही, तृतीय उन्मेष, पृ० १३५, ३५।

[३] का० मी०, पृ० १।

[४] भरत के सूत्र की इन व्याख्याओं के लिये देखिए—
का० प्र०, आनंदाश्रम संस्करण, चतुर्थ उल्लास, पृ० ६१-१०२।

अभिनवगुप्त के बाद रससंप्रदाय अलग से संप्रदाय न रह पाया। रस को काव्य की आत्मा माननेवाले विश्वनाथ भी ध्वनिसंप्रदाय में ही दीक्षित थे, इसे न भूलना होगा। अभिनवगुप्तोत्तर काल में रस संबंधी कई नायक-नायिका-भेद-परक ग्रंथों का प्रणयन हुआ जिनमें प्रमुख भोजदेव का *शृंगारप्रकाश*, शारदातनय का भावप्रकाश, शिंगभूपाल का रसार्णव सुधाकर, और भानुदत्त की रसमंजरी तथा रसतरंगिणी हैं। हिंदी के रीतिग्रंथों पर इनका पर्याप्त प्रभाव है।

(५) **औचित्य संप्रदाय**—क्षेमेंद्र के औचित्यवाले मत को हम ध्वनिवाद का ही अवांतर प्ररोह मानते हैं, अलग से संप्रदाय नहीं[१]। औचित्य की कल्पना तो हमें आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त में ही मिलती है। विद्वानों ने औचित्य के बीज भरत के नाट्यशास्त्र में ही ढूँढे हैं[२]। औचित्य निर्वाह पर कुंतक भी जोर देते दिखाई पड़ते हैं[३]। क्षेमेंद्र ने औचित्य को रस का जीवित कहा है और काव्य की सरस चर्वणा में प्रमुख तत्व माना है[४], वे इसे रससिद्ध काव्य की आत्मा घोषित करते हैं[५]। औचित्य की कोई निश्चित संख्या नहीं बताई जा सकती। क्षेमेंद्र ने उपलक्षण के लिये २७ तरह के औचित्यों का निर्देश किया है। औचित्य का भाव यह है कि कवि को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किस वस्तु के साथ कौन-सी वस्तु का वर्णन अनुकूल पड़ता है। लौकिक व्यवहार में भी हार गले में सुशोभित होता है, कांची नितंब पर ही। काची गले में नहीं, न हार ही नितंब पर धारण किया जाता है। इसी तरह काव्य में भी शृंगार रस के साथ माधुर्य गुण और कोमला वृत्ति अनुकूल पड़ती है तो वीर रौद्रादि के साथ ओज गुण और परुषा वृत्ति। इसी भाँति तत्तत् अलंकार भी तत्तत् रस के अनुकूल होता है। कुशल प्रतिभासंपन्न कवि इसको कभी नहीं भूलता। क्षेमेंद्र के औचित्य का यही सार है। आनंदवर्धन ने इसे रस की 'परा उपनिषत्' (परम रहस्य) कहकर इसकी महत्ता मान ली थी। पर यतः इसका समावेश रस एवं ध्वनि में स्वतः हो जाता है अतः इसे अलग से तत्व मानना विशेष वैज्ञानिक नहीं जान पड़ता।

(६) **ध्वनि संप्रदाय**—कवि अपने भावों को स्पष्ट रूप में न कहकर अर्ध-स्पष्ट रूप में कहता है। कलाकृति का सौंदर्य भाव को स्पष्टतः प्रकट करने में नहीं,

[१] देखिए—ध्व० आ०, लोचन काव्यमाला संस्करण, कारिका ३. १५, पृ० ७५।

[२] ना० शा०, २३. ६९।

[३] व० जी०, कारिका १. ५३.५४।

[४] औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना। औचित्यवि० चर्चा, कारिका ३।

[५] औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। वही, कारिका ५।

उसे छिपाने में है। ध्वनिकार की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने ही इस तथ्य को सबसे पहले अनुशीलित किया। उसने देखा, अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य वृत्ति कवि के उस निगूढ़ तत्व का उन्मीलन नहीं कर पाती जो सहृदय को चमत्कृत करता है। इसीलिये उसने व्यंजना जैसी तुरीया शब्दशक्ति की कल्पना[1] कर और उसके आधार पर काव्यालोचन के मंदिर की प्रतिष्ठापना कर उस परमानंदरूप काव्यसौंदर्य को अपना उचित स्थान दिलाया। इसी को उसने 'ध्वनि' कहा। ध्वनि को उसने वह काव्यसौंदर्य माना जिसकी व्यंजना काव्य में प्रयुक्त शब्दार्थ अपने आपको तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर करते हैं[2]। काव्य का सच्चा लावण्य उसने न तो शब्द में ही माना, न अर्थ मे ही, पर उसे काव्य के अंतस् में तरलित वह सूक्ष्म लावण्य घोषित किया जो मोती की आभा की तरह या रमणी के लावण्य की तरह किसी अंग विशेष में न रहते हुए भी कोई अपूर्व वस्तु अवश्य है जिसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते, पर वह है अवश्य[3]। इसीलिये ध्वनिकार ने इसे 'अलोकसामान्य' भी कहा है। यही तत्व काव्य की आत्मा है (काव्यस्यात्मा ध्वनिः)। ध्वनि को ध्वनिकार ने तीन तरह की माना—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। इन तीनों में भी ध्वनिवादियों ने रस को ही प्रमुखता दी है। आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त ने रस को ही काव्य की सच्ची आत्मा मानने की व्यंजना की है तथा वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को उसी का उपस्कारक माना है[4]। ध्वनिवादियों ने अपने सिद्धांत के अंतर्गत समस्त पूर्ववर्ती संप्रदायों के सिद्धांतों को समेट लिया है। उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना, अलंकारों को शरीर (शब्दार्थ) की शोभा बढ़ानेवाले धर्म, गुणों को आत्मा (रस) के धर्म माना गया,[5] और रीति को काव्यशरीर की अवयवसंघटना। काव्यदोषों को उन्होंने काणत्व-खंजत्वादि के समान मानकर काव्य के लिये उनका न होना आवश्यक समझा। ध्वनिवादी ने ध्वनि के मोटे तौर पर १८ भेद माने हैं, वैसे तो

१ व्यंजना के स्वरूप के लिये देखिए—
डा० भोलाशंकर व्यास : ध्वनिसंप्रदाय और उसके सिद्धांत, प्रथम भाग, परिच्छेद ५ और ६।

२ यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कृतः॥ ध्व० आ०, १. १३, पृ० १०३।

३ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ वही, १. ४, पृ० ४६।

४ वस्त्वलंकारध्वनी तु रसं प्रति पर्यवस्येते।

५ अलंकार एवं गुण के अंतर के लिये देखिए—
मम्मट : का० प्र०, कारिका ८. १ तथा वृत्ति, पृ० ३८३–३८६।

ये भेद मध्यम दृष्टि से ५१ तथा सूक्ष्म दृष्टि से तीन हजार से भी ऊपर माने जाते हैं। पर यह भेदोपभेद भी औपचारिक ही जान पड़ता है। अभिधा और लक्षणा के आधार पर ध्वनिवादी ने अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य दो प्रकार के भेद माने हैं। इनमें पहले के दो भेद होते हैं, दूसरे के १६। दूसरे (अभिधामूलक) ध्वनि के संलक्ष्यक्रम तथा असंलक्ष्यक्रम दो भेद होते हैं। असंलक्ष्य क्रम के अंतर्गत रसध्वनि तथा रसाभासादि अन्य सात प्रकारों का समावेश होता है। संलक्ष्यक्रम में वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का समावेश होता है। कभी कभी कोई कोई भाव भी संलक्ष्यक्रम बन सकता है, पर ऐसे स्थल बहुत कम होते हैं[1]।

ध्वनिवादियों ने ध्वनि की कल्पना कर काव्य के भावनापक्ष को प्रधानता देते हुए भी कल्पनापक्ष को नगण्य नहीं समझा, और भावनापक्ष (रसध्वनि) तथा कल्पनापक्ष (वस्त्वलंकारध्वनि) को एक ही 'ध्वनि' के दो पहलू माना। ध्वनिकार और आनंदवर्धन ने जिस विधिवादी (स्वच्छंद) आलोचनसरणि की उद्भावना कर भामह, दंडी या अन्य गतानुगतिक आचार्यों के परंपरावाद को झकझोरकर काव्यारवाद में सहृदयत्व तथा प्रतिभा की महत्ता घोषित की, उसे ठोस दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक भित्ति देने का कार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य ने किया। भरत के रससूत्र पर ध्वनिवादी दृष्टि से नया विचार कर अभिनवगुप्त ने रससंबंधी सभी समस्याओं को सुलझाकर अंतिम निर्णय दिया। इस मंतव्य की प्रतिष्ठापना में अभिनवगुप्त पर शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। रसास्वाद की स्थिति को अभिनवगुप्त ने 'सोऽहम्' की प्रत्यवमर्शात्मक दशा से जोड़ दिया। रसास्वाद की स्थिति का जो विवेचन अभिनवभारती के छठे अध्याय में किया गया है, इस बात का संकेत करता है कि अभिनवगुप्त उसे दार्शनिक रूप देते हैं। पर इतना होते हुए भी वे उसकी लौकिकता का निषेध नहीं करते। वस्तुतः वह लौकिक होते हुए अन्य लौकिक अनुभवों से विलक्षण होने के कारण 'अलौकिक' मान लिया जाता है। इसी निर्णय से यह तथ्य संबद्ध है कि लौकिक शोकादि के अनुभव से हमें पीड़ा होती है, पर काव्यगत शोकादि से हमें आनंदप्राप्ति होती है। अभिनवगुप्त ने ध्वनिवाद को वह ठोस रूप दिया कि कुंतक या महिमभट्ट के विरोधी मत पनप नहीं पाए। कुंतक की भाँति महिमभट्ट ने भी ध्वनि के सभी प्रकारों को 'अनुमेय' मानते हुए 'काव्यानुमितिवाद' की प्रतिष्ठापना की थी। महिमभट्ट ने ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ के सौंदर्य को तो स्वीकार किया पर उसे ध्वनि का नाम देने और उसके लिये व्यंजना जैसी नई वृत्ति

[1] देखिए—ध्व० आ०, द्वितीय उद्योत, पृ० २४८-४६ 'एवं वादिनि देवर्षौ' आदि उदाहरण का प्रकरण।

की कल्पना का खंडन किया। मम्मट ने इन सब विरोधियों का खंडन कर व्यंजना और ध्वनि की महत्ता पर मुहर लगा दी और बाद में भारतीय साहित्यशास्त्र में ध्वनिवाद सर्वमान्य बन गया। इस मत के सर्वमान्य बनने के दो कारण थे, एक तो इसने महान् व्यक्तित्वों को जन्म दिया, पर इससे भी बढ़कर दूसरा कारण यह था कि इसकी मीमांसा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यधिक निर्दुष्ट है और यह काव्य के अंतस् में आकर उसके सच्चे लावण्य का अनुशीलन कराता है। कहना न होगा, ध्वनिवादी ही सबसे पहले आलोचक थे जिन्होंने 'रस' की प्रतिष्ठापना श्रव्य काव्य में भी की।

११. परंपरा का पर्यालोचन

संस्कृत साहित्य वह दृढ आधारशिला है जिसपर भारतीय संस्कृति तथा साहित्य की अट्टालिका खड़ी है यह वह अक्षय दाय है जिसका उपयोग सभी प्रांतीय भाषाओं और साहित्यों ने किया है। संस्कृत साहित्य की सभ्यता मूलतः ब्रह्मावर्त की सभ्यता है जिसने अपना क्षेत्र पसारकर हिमालय से सेतु तक और रत्नाकर से महोदधि तक के समस्त भारतवर्ष को एक सूत्र में पिरोकर राष्ट्रीय एकता स्थापित की। संस्कृत की ज्येष्ठी दुहिता हिंदी को आज वही महत्वपूर्ण काम सौंपा गया है। इस कुटुंब की सभी बहनों ने उसकी सांस्कृतिक महत्ता स्वीकार कर उसे राष्ट्रीय एकता का प्रतीक माना है। इसका कारण हिंदी की वे निजी विशेषताएँ हैं जो आज संस्कृत की सांस्कृतिक परंपरा का पूर्णतः वहन करती हैं। संस्कृत की परंपरा को ठीक उतनी सफलता से न तो मध्यदेश की प्राकृत शौरसेनी महाराष्ट्री ही निभा सकी, न नागर अपभ्रंश ही, यद्यपि उन्होंने भी इस परंपरा को लुप्त नहीं होने दिया, उसकी धारा को जीवंत बनाए रखा। आज हिंदी ने चौथी पीढ़ी में आकर अपनी प्राचीन कौटुंबिक कीर्ति का सिंहावलोकन किया है और वह प्रगति के पथ पर अग्रसर उस महान् आदर्श की ओर बढ़ चली है। उसके पास इस पथ पर चलने का अटूट सामर्थ्य है, इस पथ की प्रेरणा देनेवाला अमृत पाथेय है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की सांस्कृतिक निधि देशी भाषाओं और प्रांतीय साहित्यों की जागरूक चेतना से संवलित है। इस पाथेय में सबसे बड़ा अंश उसे अपनी माता से आशीर्वाद के रूप में प्राप्त हुआ है और हमें उस अनर्घ-दाय का पर्यालोचन अपना दृश्यबिंदु बनाना है।

साहित्यपुरुष के दो रूप हैं—एक उसका बाह्य रूप, दूसरा उसका आभ्यंतरिक रूप। आभ्यंतरिक रूप एक ओर भावपक्ष का, दूसरी ओर सांस्कृतिक चेतना का दर्पण है, जो सदा साहित्य के विषय तथा अभिव्यंग्य के रूप में प्रतिफलित होती रहती है। उसका बाह्यरूप साहित्य का अभिव्यंजनापक्ष, साहित्य का अवयवसंस्थान, सौंदर्यप्रसाधन आदि है जो स्वयं आभ्यंतरिक पक्ष से पूर्णतः प्रभावित होता है। हाँ,

हमें यह देखना है कि हिंदी साहित्य ने संस्कृत साहित्य की इस आभ्यंतर तथा बाह्य परंपरा को कहाँ तक अपनाया है। वैसे तो, समस्त मानव जाति में एक से सुख-दुख, आशा-निराशा, हर्ष-क्रोध आदि भाव पाए जाते हैं, पर इनको तीव्रतर रूप देने में किसी देशविशेष की संस्कृति, उसकी भौतिक, आध्यात्मिक, और कलात्मक मान्यताएँ समर्थ होती हैं। संस्कृत साहित्य की पौराणिक परंपरा ने इतिवृत्तात्मक काव्यों में प्रायः पुराणों से अपने चित्र चुने। हिंदी ने भी भक्तिकाल के सांस्कृतिक पुनरुत्थान से प्रभावित होकर पौराणिक धर्म को अपना आधार बनाया, जिसका प्रौढ़तम रूप तुलसी की कृतियों में मिलता है। पौराणिक धर्म के स्मृत्यनुमोदित वर्णाश्रम धर्म का गोस्वामी तुलसीदास हिंदी में उसी सफलता से प्रतिनिधित्व करते हैं जिस सफलता से संस्कृत साहित्य में कालिदास। तुलसी का अपना व्यक्तित्व एक दृष्टि से कालिदास से भी बढ़ा चढ़ा है और वह है उनका भक्त रूप। संस्कृत साहित्य के परवर्ती काल में राधा-कृष्ण-परक जो शृंगारी कविता चल पड़ी थी उसे भी हिंदी के भक्तिकालीन साहित्य ने उसकी विलासिता की मलिनता निखारकर, भक्ति के पारस का स्पर्श देकर, स्वर्ण बना दिया। सूर और अन्य कृष्णभक्त कवियों को इसका श्रेय मिलना चाहिए। संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी काल की राजप्रशस्तिवाली काव्य-प्रवृत्ति और विलासितापूर्ण शृंगारी मुक्तक परंपरा भी हिंदी में आई। राजप्रशस्तिवाले तथाकथित ऐतिहासिक वीरगाथाकाव्यों की परंपरा हिंदी को संस्कृत की ही देन है और यह परंपरा हिंदी के आदिकाल में संस्कृत साहित्य की धारा के समानांतर बहती दिखाई पड़ती है। बाद में भी इसका प्रबंधरूप सूदन जैसे कवियों में और मुक्तकरूप भूषण में परिलक्षित होता है। शृंगारी मुक्तक परंपरा, जिसके प्रतिनिधि अमरुक, जयदेव और गोवर्धन हैं, संस्कृत से सीधे रीतिकालीन कवियों में प्रकट हुई है जिसका परिपाक बिहारी, देव, मतिराम और पद्माकर में पाया जाता है। सारांश यह कि संस्कृत की विषयसंपत्ति ज्यों की त्यों समग्र रूप में हिंदी के हाथों सौंप दी गई है और हिंदी ने इसके अतिरिक्त बौद्ध तांत्रिक सिद्धों और नाथ सिद्धों की देश्य साहित्यिक परंपरा को लेकर, उसे भक्ति की चाशनी में लपेटकर, उसकी अक्खड़पनवाली कटुता को कुछ सरसता दी। इसका मुख्य श्रेय कबीर के भक्त व्यक्तित्व को है। हिंदी ने सूफी संतों के फारसीपन को भी आदर के साथ लेकर अपनी असंकीर्णता और धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। उसे तो उस देश की राष्ट्रीयता का प्रतीक बनना था जो वर्णधर्मादि की सीमा से ऊपर अनाविल चेतना का परिचय दे सके।

अभिव्यंजनापक्ष काव्य का परिवेश है। इसके अंतर्गत हम काव्यविधा, कथानक रूढ़ियों, अप्रस्तुतविधान संबंधी रूढ़ियों, शैली और छंदश्चयन को लेते हैं। संस्कृत ने इस दृष्टि से हिंदी साहित्य को कहाँ तक प्रभावित किया है, इसका पर्यालोचन कुछ विस्तार से करना होगा। महाकाव्यों की जो सर्गबद्ध शैली संस्कृत में पाई

जाती है, वह हिंदी के आदिकालीन वीरगाथा काव्यों और भक्तिकालीन प्रबंध काव्यों में नहीं पाई जाती। उनपर अपभ्रंश की प्रबंध-काव्य-परंपरा का प्रभाव पड़ा है जिसका विवेचन हम आगे के अध्यायों में करेंगे। द्विवेदीयुगीन आधुनिक हिंदी साहित्य की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना ने अवश्य संस्कृत परंपरा की ओर उन्मुख किया। इस चेतना ने जहाँ पुराणों से महाकाव्यों के विषय चुने वहाँ संस्कृत महाकाव्यों की सर्गबद्ध परंपरा को भी अपनाया। द्विवेदीयुगीन साहित्य में हरिऔध, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, अनूप शर्मा जैसे कवियों में इस प्रवृत्ति का प्रभाव देखा जा सकता है। हिंदी के चोटी के छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद भी इससे नहीं बच पाए हैं। सुबंधु या बाण की आख्यायिका अथवा कथावाली विधा हिंदी में नहीं आ सकी। इसके कारण हैं। एक तो हम देख चुके हैं कि बाण के बाद यह धारा संस्कृत साहित्य में ही धीरे धीरे सूखने लगी थी, दूसरे इसकी शैली हिंदी की प्रकृति के उपयुक्त नहीं थी। पर कथाओं की मूल चेतना लुप्त नहीं हुई। उसकी आत्मा, भले ही दूसरे शरीर में हो, सूफियों के प्रेमाख्यान काव्यों में फूट पड़ी है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह बाण का प्रभाव है। हमारा भाव यह है कि जिस प्रकार संस्कृत के कथासाहित्य ने लोककथाओं से कुछ संबंध बनाए रखा था, उसी प्रकार हिंदी ने भी उसे नहीं तोड़ा अपितु और बढ़ाया है। इस संबंध-स्थापन में संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश ने हिंदी की अधिक सहायता की है। संस्कृत के चंपू काव्यों की परंपरा हिंदी में नहीं मिलती। संस्कृत साहित्य में ही नाटकपरंपरा का ह्रास दिखाई पड़ता है। हिंदी के मध्यकालीन साहित्य में यह परंपरा नहीं आई। पर संस्कृत नाटकसाहित्य का प्रभाव हिंदी के मध्यकालीन साहित्य में देखा जा सकता है। मुरारि के अनर्घराघव, जयदेव के प्रसन्नराघव और अज्ञातनामा कवि के हनुमन्नाटक का पर्याप्त प्रभाव तुलसी के मानस और कवितावली में, तथा केशव की रामचंद्रिका में परिलक्षित होता है। ह्रासोन्मुखी संस्कृत नाटकों की संवादशैली ज्यों की त्यों केशव के संवादों में देखी जा सकती है। वैसे भारतेंदु के पूर्व भी हिंदी में कुछ नाटक मिलते हैं, पर उन्हें नाटक नहीं कहा जा सकता। भारतेंदु के पिता ने भी 'नहुष' नाटक लिखा था। भारतेंदु के नाटकों पर संस्कृत परंपरा का पर्याप्त प्रभाव है, और यह प्रभाव किसी अंश में प्रसाद में भी है। आधुनिक नाटककारों में प्रमुख लक्ष्मीनारायण मिश्र एक बार फिर कालिदास की नाटकीय पद्धति का प्रयोग करने की बात कहते दिखाई पड़ते हैं, पर उनका तात्पर्य कालिदास के नाटकों के सांस्कृतिक दाय से है, उनकी पुरानी पद्धति से नहीं। यह ठीक भी है। हिंदी के नाटक इतने आगे बढ़ चुके हैं कि इस समय संस्कृत की नाटकीय पद्धति को उनपर ज्यों का त्यों थोपने की बात करना साहित्य की हानि करेगा। कथानकरूढ़ियों का रूप यदि हमें कहीं देखना है तो वह संस्कृत काव्यों के कल्पित और लोककथाओं से गृहीत इतिवृत्तों में

देखा जा सकता है। हिंदी में भी ये रूढ़ियाँ आई हैं, पर वे संस्कृत से आई हुई परंपरा नहीं कही जा सकतीं। हिंदी की इन कथानकरूढ़ियों का विवेचन इस खंड के अंतिम अध्याय में किया जायगा।

काव्यरूढ़ियों में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान प्रतीकों का है। ये प्रतीक एक ओर किसी देश की भौतिक परिस्थितियों से संबद्ध होते हैं, दूसरी ओर उस देश की संस्कृति की आध्यात्मिक, नैतिक या कलात्मक मान्यताओं के परिचायक। ये प्रतीक उस देश के जनजीवन, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि से गृहीत होते हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र की कविसमयोक्तियों में ऐसी कई काव्यरूढ़ियाँ पाई जाती हैं। भारतीय साहित्य में कमल सौंदर्य का प्रतीक है। वह शोभा की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी का निवासस्थान है तो हंस शुचिता, पवित्रता, नीर-क्षीर-विवेक का प्रतीक है जो मेधा तथा प्रतिभा की देवी भगवती सरस्वती का वाहन है। चातक निष्कलुष प्रेम का आदर्श लेकर आता है तो चकोर प्रेम की तपस्या में आग की चिनगारियों के दुःख को बिना किसी आह के सहन करता (चुगता) दिखाया गया है। चक्रवाक और चक्रवाकी का चित्र दांपत्य जीवन के संयोग वियोग वाले मधुर कटु पक्ष को सामने रखता है, तो मयूर के केका और लास्य प्रिय के आगमन से हर्षित होती प्रेमिका के वातावरण का चित्र अंकित करने में समर्थ हैं। कविसमयोक्तियों के ये प्रतीक भारतीय कवि की अनूठी सूझ, पैनी पर्यवेक्षण शक्ति और मानव तथा मानवेतर सृष्टि में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने की भावना का संकेत करते हैं। इसी तरह रमणी के मणिनूपुरों के पदाघात से अशोक का पल्लवित हो उठना, मुखमदिरा से बकुल का मुकुलित होना, नृत्य का अनुशीलन कर कर्णिकार का उल्लसित होना, एक ओर भारतीय संस्कृति के सौंदर्यप्रेम और विलासिता के परिचायक हैं, दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की वसंतोत्सव संबंधी रूढ़ियों की ओर संकेत करते हैं तथा तीसरी ओर नायिकाओं के सौंदर्य की व्यंजना कराने में भी समर्थ हैं जो अपने स्पर्शादि से वृक्ष में भी दोहद (कामदोहद) उत्पन्न करने में समर्थ हैं। अशोकादि वृक्षों को नायक या प्रिय का प्रतीक मानने की धारणा भी चल पड़ी थी। इस प्रकार की काव्यरूढ़ियों का प्रथम प्रस्फुटन हमें साहित्यिक संस्कृत के काव्यों में ही मिलता है। हिंदी ने इन सभी काव्यरूढ़ियों को अपनाया है।

इन्हीं से संबद्ध दूसरा तत्व अप्रस्तुतों का प्रयोग है। कवि जब अपने हृदय में निहित भावों को वाणी के साँचे में पूरी तरह नहीं उतार पाता, जब वह शब्द दारिद्र्य का अनुभव करता है, तो लाक्षणिक पद्धति का प्रयोग आरंभ होता है। वह अपने भावों को व्यक्त करने के लिये बाह्य सादृश्य या अंतःसादृश्यवाले भौतिक पदार्थों को चुनता है। नायिका के मुख की उपमा वह चंद्रमा से देने लगता है तो उसके केशपाश की कभी मयूरकलाप से, कभी नाग से। ये अप्रस्तुत भी वह अपने आसपास के वातावरण से ही चुनता है। भारतीय कवि कमल या कोकिला

से परिचित था, नरगिस या बुलबुल से नहीं; फलतः ये या ऐसे ही अनेक अप्रस्तुत उसके लिये तत्तत् भाव के बोधक बन बैठे। साहित्यशास्त्र के पिछले खेवे के ग्रंथों में इस तरह के अप्रस्तुतों की तालिका दी जाने लगी थी। हिंदी के आरंभिक काल में भी ज्योतिरीश्वर ठक्कुर ने एक ऐसी ही तत्तत् प्रस्तुत के अप्रस्तुतों की तालिका 'वर्णरत्नाकर' में दी है। बाद में रीतिकालीन आचार्यों ने भी इन मुख्य अप्रस्तुतों की ओर संकेत किया है। हिंदी साहित्य में चंद से लेकर आज तक संस्कृतवाले अप्रस्तुतों की परंपरा अखंड रूप में चली आ रही है। वस्तुतः वह भारतीय जलवायु में उपजी वस्तु है। आज भी नायिका का कोकिलकंठ हमें अधिक आप्यायित कर पाता है, नाजनीन का बुलबुल जैसा तराना नहीं। सादृश्यमूलकता काव्य के अलंकारों की आधारभित्ति है और यही अभिव्यंजना के भेद से अलग अलग पारिभाषिक संज्ञा से अभिहित होती है। अप्पय दीक्षित ने तो इसीलिये सारे अलंकारों का अंतस् ही उपमा में माना था।

संस्कृत के परवर्ती काव्यों पर हम शाब्दी क्रीड़ा का प्रभाव पाते हैं। हिंदी साहित्य में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। प्राकृत तथा अपभ्रंश ने भी इस शब्दालंकारवाली पद्धति को अपनाया है। प्रवरसेन के सेतुबंध में ही यमक तथा श्लेष का प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश के जैन कवि पुष्पदंत में भी शाब्दी क्रीड़ा का प्रभाव है, इसका संकेत हम यथावसर करेंगे। हिंदी ने इस पद्धति को संस्कृत से ही पाया है। तुलसी और सूर जैसे सरस भावुक कवियों में भी शब्दालंकार की प्रवृत्ति मिलती है। तुलसी के मानस में तो कुछ स्थानों पर श्लेष तथा उसपर आधृत विरोध और परिसंख्या अलंकार भी मिलते हैं। पर इस प्रवृत्ति का अधिक प्रभाव रीतिकालीन कवियों में मिलता है। केशव और सेनापति जैसे चमत्कारवादी कवियों में यमक, श्लेष और चित्रकाव्यों का प्रयोग प्रचुर है। श्लेष और यमक तो बिहारी में भी हैं। संस्कृत की परवर्ती कविता की भाँति रीतिकालीन कविता में भी शाब्दी क्रीड़ा बहुत चल पड़ी है जो संस्कृत के ह्रासोन्मुखी साहित्य का प्रभाव है। इसी संबंध में दो शब्द 'सूक्तिवादी' परंपरा पर भी कह दिए जायँ। श्रीहर्ष तथा अन्य ह्रासोन्मुखी कवियों को हम अप्रस्तुतों की दूर की कौड़ी लाते देखते हैं। इसे हम चाहें तो आर्थी क्रीड़ा कह सकते हैं, जहाँ अलंकार विधान रस का उपस्कारक बनकर नहीं आता अपितु कवि का एकमात्र ध्येय सूक्ति के अनूठेपन से ही श्रोताओं को चमत्कृत करना होता है। तुलसी में ही कुछ सूक्तिमय अप्रस्तुतविधान मिल सकते हैं। 'वर्षाकाल में मेढकों की टर्र टर्र ऐसी सुनाई पड़ती है जैसे बटुसमुदाय वेदपाठ कर रहा हो', यह उक्ति सूक्ति ही है। पर तुलसी या सूर में इनका मोह नहीं। रीतिकाल में इस तरह की सूक्तियों का प्रयोग बहुत पाया जाता है। आज की हिंदी कविता भी इन सूक्तिवादियों के संप्रदाय से खाली नहीं है, पर आज की सूक्तियाँ संस्कृत परंपरा की न होकर, अँगरेजी से आती दिखाई पड़ती हैं।

संस्कृत की छंदःपरंपरा वर्णिक वृत्तों की है। वैदिक साहित्य के छंद भी वर्णिक ही हैं। पर ऐसा अनुमान होता है कि संस्कृत के छंदों के बाह्य परिवेश में वर्णों का महत्व होने पर भी उनका आधार मात्रिक ही है। संस्कृत वर्णिक वृत्त मात्रिक छंदःपरंपरा का ही विकसित रूप माना जा सकता है। पर इस समय उनका जो रूप मिलता है उसे मात्रिक कहना अनुचित होगा क्योंकि उसमें प्रत्येक पद में वर्णों और गणों की नियत संख्या का होना आवश्यक है। संस्कृत के छंद चार चरणोंवाले होते हैं, यद्यपि वैदिक साहित्य में गायत्री जैसे त्रिपात् और पंक्ति जैसे पंचपात् छंद भी पाए जाते हैं। संस्कृत साहित्य में अनुष्टुप् तथा त्रिष्टुप् जगती वर्ग के छंद विशेष प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत के कई छंदों में थोड़ा हेरफेर कर देने से वे परिवर्तित हो जाते हैं। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि सुवदना और कुछ नहीं, स्रग्धरा का ही थोड़ा परिवर्तित रूप है एवं मंदाक्रांता के गणों को इधर उधर कर देने से तथा चरण की अंतिम यतिवाले अंश में थोड़ा हेरफेर कर देने से हरिणी छंद बन जाता है; यथा, मंदाक्रांता के ४, ६, ७, को ६, ४, ७, कर देने से हरिणी हो जाती है; मंदाक्रांता के प्रथम यतिवाले अंश के ऽ ऽ ऽ ऽ को द्वितीय अंश बना देने पर तथा द्वितीय यतिवाले अंश । । । । । ऽ को प्रथम अंश बना देने पर तथा चरण के तृतीय यत्यंश में कुछ हेरफेर करने पर हरिणी छंद बन जाता है। मंदाक्रांता के तृतीय यत्यंश में ऽ।ऽऽ।ऽऽ होता है, हरिणी के तृतीय यत्यंश में ।ऽ ।।ऽ ।ऽ, एक में अंत मे दो गुरु होते हैं, दूसरे में एक लघु और एक गुरु। संस्कृत के कई छंद इसी तरह थोडे हेरफेर से नया रूप, नया संगीत, नई गति के साथ सामने आते हैं। संस्कृत के आर्यावर्ग के मात्रिक छंद संस्कृत पर प्राकृत छंदःपरंपरा का प्रभाव हैं। हिंदी की अपनी छादस प्रकृति मात्रिक अधिक जान पड़ती है, वर्णिक कम। यह दाय हिंदी को अपभ्रंश से मिला है। पर हिंदी ने संस्कृत छंदःपरंपरा का भी ग्रहण किया है। आदिकालीन हिंदी काव्य में ही साटक (शार्दूलविक्रीडित), श्लोक (अनुष्टुप्), भुजंगप्रयात जैसे वर्णवृत्तों का प्रयोग मिलता है। चंद ने इनका प्रयोग किया है। विद्यापति की कीर्तिलता में भी भुजंगप्रयात का प्रयोग है। भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन हिंदी साहित्य में हिंदी की मात्रिक छंदःपरंपरा अधिक पाई जाती है। संस्कृत वर्णवृत्तों के प्रति वहाँ अभिनिवेश नहीं दिखाई पड़ता। वैसे केशव की रामचंद्रिका के विविध छंदों के अजायबघर में संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का प्रयोग मिलता है। हिंदी का मध्यकालीन वर्णिक छंद सवैया यद्यपि संस्कृत छंद नहीं है पर उसका बीज संस्कृत के वर्णिक छंदों में ही ढूँढना होगा। सवैया दो त्रोटक छंदों (४ सगणवाला १२ वर्णों का छंद) को मिलाकर चल पड़ा है जिसमें एक दो वर्ण कम कर या गणों में हेरफेर कर सवैया के भेदोपभेद बना दिए गए हैं। संस्कृत के वृत्त अतुकांत होते हैं जबकि हिंदी ने अपभ्रंश के तुकांत वृत्तों की परंपरा अपनाई है। द्विवेदी-

युगीन आधुनिक हिंदी कविता में संस्कृत साहित्य के प्रति जो उन्मुखता पैदा हुई उसने हिंदी के वृत्तविधान को भी प्रभावित किया। संस्कृत के अतुकांत वर्णिक वृत्तों ने हिंदी कविता में स्थान पाया। स्वयं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के अतुकांत वर्णिक वृत्तों का प्रयोग किया है। इनके सफल प्रयोक्ताओं में हरिऔध जी तथा अनूप शर्मा के नाम लिए जा सकते हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी साकेत में यत्र तत्र संस्कृत के वर्णिक वृत्तों को स्थान दिया है। पर संस्कृत के वर्णिक वृत्त हिंदी की अपनी प्रकृति नहीं कहे जा सकते।

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व दो शब्द साहित्यशास्त्रीय मान्यताओं पर कह दिए जायँ। संस्कृत साहित्य के आचार्यों की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का हम पर्यालोचन कर चुके हैं। रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के विभिन्न मतों का संकेत किया जा चुका है। हिंदी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय चिंतन पर इसकी पूरी छाप पड़ी है। वस्तुतः हिंदी के तथाकथित आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की ज्यों की त्यों नकल कर दी है, काव्यशास्त्रीय चिंतन में कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है। इनमें से कुछ लोगो ने कुछ अलंकारों के वर्गीकरण या लक्षण में नई सूझ का परिचय देने की चेष्टा की है, पर वहाँ वे लड़खड़ा गए हैं। हिंदी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र में काव्यशास्त्र की समस्याओ पर कोई दार्शनिक विचार नहीं मिलता। हिंदी के इन आचार्यों का लक्ष्य अलंकारो और रसो तथा शृंगार के नायक-नायिका-भेद की तालिका तथा उदाहरण दे देना भर जान पड़ता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के शास्त्रार्थ यहाँ नहीं आ पाए। इसके कुछ कारण हैं। प्रथम तो हिंदी के सभी रीतिकालीन आचार्य भले ही आचार्य कहे जायँ, वे आचार्यत्व का परिचय नहीं देते; वे कवि हैं और ठोस चिंतन की मेधावाली पूँजी उनके पास कम दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि शास्त्रार्थों के प्रति वे उन्मुख नहीं हुए। दूसरे, हिंदी का गद्य विकसित नहीं हो पाया था और शास्त्रार्थ प्रणाली के लिये गद्य की शैली आवश्यक थी। तीसरे, अभिनवगुप्त और मम्मट के बाद साहित्यशास्त्रीय समस्याओ पर मौलिक विचार करने का क्षेत्र ही नहीं रहा था। स्वयं मम्मट में भी कोई मौलिक चिंतन नहीं मिलेगा, पर मम्मट का सबसे बड़ा महत्व अभिनवगुप्त के मौलिक चिंतन को एक निश्चित एवं व्यवस्थित रूप में सामने रखना है। इन दोनों आचार्यों के बाद संस्कृत साहित्यशास्त्र में ही मौलिक चिंतन कम हो चला था। पिछले आचार्यों में पंडितराज जगन्नाथ ही अकेले मौलिक चिंतक कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी को काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की जो परंपरा मिली वह ध्वनिवादियों की नहीं थी। ये लोग या तो जयदेव और अप्पय दीक्षित जैसे नव्य अलंकारवादियों से प्रभावित हुए, या शिंगभूपाल और भानुमिश्र के शृंगार रस के नायक-नायिका-भेद से। इन दरबारी कवियों के सामाजिक वातावरण को देखते हुए इनका भी अलंकारों की सूक्तियों और संयोग

शृंगार के तत्वदर्शों के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक जान पड़ता है। पर आधुनिक हिंदी साहित्य ने पुनः संस्कृत के आचार्यों की मौलिक चिंतन पद्धति को आगे बढ़ाया है। आधुनिक हिंदी साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल एक प्रबल व्यक्ति उत्पन्न हुए जिन्हें सीधे पंडितराज के बाद के आचार्यों की कोटि में रखा जा सकता है। उन्होंने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और मनोविज्ञान के प्रौढ़ ज्ञान से संपन्न हो एक बार फिर अपने सांस्कृतिक दाय की ओर दृष्टिपात किया और मौलिक उद्भावनाएँ कीं। यह दूसरी बात है कि आचार्य शुक्ल के वैयक्तिक दृष्टिकोण ने कहीं कहीं अनाविल मंतव्य देने में बाधा डाली हो। पर यह तो मम्मट और पंडितराज के विषय में भी कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व आज भी हमारे हिंदी काव्यशास्त्र का दीपस्तंभ है और भविष्य में भी बना रहेगा। उनके बाद हमें अभी तक साहित्यिक समस्याओं पर मौलिक दार्शनिक चिंतन को जन्म देनेवाला दूसरा व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ता।

द्वितीय अध्याय

प्राकृत और मिश्र संस्कृत

१. वैदिक भाषा में परिवर्तन और विकास

प्रसिद्ध यूरोपीय भाषाशास्त्री ओत्तो येस्पर्सन ने भाषाशास्त्र को 'भाषाशास्त्रीय प्राणिशास्त्र' के नाम से भी संबोधित किया था। येस्पर्सन की इस पारिभाषिक संज्ञा में यह संकेत था कि भाषाएँ भी प्राणियों की भाँति विकास की ओर अग्रसर होती हैं। किन्हीं विशेष कारणों से भाषा का विकास गतिशील रहता है और भाषा का रूपपरिवर्तन होता रहता है। वैदिक युग के आर्यों की भाषा ही कई रंगरूप बदलती, आज की हिंदी के रूप में विकसित हुई है। वैदिक युग की भाषा में हम कई वैभाषिक प्रवृत्तियों का संकेत कर चुके हैं जो तत्तत् काल और तत्तत् प्रदेश की वैदिक भाषा की विशेषता रही होंगी। आर्यों के सामाजिक विकास के साथ बोलचाल की भाषा बदलती रही और यास्क (८०० वि० पू०) के समय तक वैदिक भाषा इतनी अधिक विकसित हो गई थी कि हजार, डेढ़ हजार वर्ष पूर्व के मंत्रों की भाषा समझना कठिन हो गया था। इसीलिये यास्क ने अपने पूर्व के वैदिक निघंटुओं की सहायता लेकर वैदिक मंत्रों की व्याख्या की थी। यास्क के समय में वैदिक भाषा तथा बोलचाल की देश्यभाषा में पर्याप्त अंतर हो चुका था। यह देश्य भाषा भी प्रांतभेद से तीन कोटि की थी।

२. लौकिक तथा आर्येतर तत्वों का प्रवेश

वैदिक काल में ही वैदिक भाषा बोलनेवाले आर्य मध्यदेश तथा सप्तसिंधु प्रदेश से आगे फैल गए थे। उनकी भाषा द्रविड तथा मुंडावर्ग की भाषाओं से प्रभावित होने लगी। धीरे धीरे आर्यों की भाषा ही कई विभाषाओं में विभक्त होने लगी, जो ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक दृष्टि से निजी विकास से संपन्न थीं। ब्राह्मण-काल तथा उपनिषद्-काल में ही ये वैभाषिक प्रवृत्तिया पूर्णतः विकसित हो गई थीं, यहाँ तक कि ये वैभाषिक प्रवृत्तियाँ वैदिक मंत्रों तक में संनिविष्ट हो गईं। विकट, कीकट, निकट, दण्ड, अण्ड, √ पठ्, √ घट्, क्षुल्ल, वे वैभाषिक रूप थे जिनके वास्तविक वैदिक रूप क्रमानुसार विकृत, किंकृत, निकृत, दन्द्र, अन्द्र, √ प्रथ् √ प्रथ्, क्षुद्र (क्षुद्‌ल) थे[1]। ये रूप वस्तुतः प्राकृत या देश्य थे, जो धीरे धीरे

[1] डा० सु० कु० चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं०, पृ० ६२।

वैदिक भाषा में खप गए। वैदिक भाषा पर यह प्राच्य विभाषा का प्रभाव था। प्राच्य विभाषा में 'र' का 'ल' के रूप में विकास पाया जाता है। यही 'ल' दंत्य ध्वनि से मिलकर उसका मूर्धन्यीभाव कर देता है। वैदिक भाषा में 'ल' वाली विभाषा भी पाई जाती है जो प्राच्य प्रभाव ही है। परवर्ती वैदिक काल में ही देश्य भाषा के तीन रूप विकसित हुए होंगे—(१) उदीच्य या उत्तरीय विभाषा, (२) मध्यदेशीय विभाषा, (३) प्राच्य या पूर्व की विभाषा। उदीच्य विभाषा सप्तसिंधु प्रदेश की बोली थी और उस काल की परिनिष्ठित विभाषा थी। यही वह परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) भाषा थी जिसमें ब्राह्मणों और उपनिषदों की रचना हो रही थी। 'उदीच्य' विभाषा बोलनेवालों का उच्चारण अत्यधिक शुद्ध था और यह विभाषा वैदिक भाषा के विशेष निकट थी। कौशीतकि ब्राह्मण में उदीच्य लोगों के उच्चारण की प्रशंसा की गई है और उन्हे भाषा की शिक्षा में गुरु माना गया है। लोग उनके पास भाषा सीखने आते थे[१]। यही वह भाषा थी, जिसको आधार बनाकर वि० पू० सातवीं शती में महर्षि पाणिनि ने शास्त्रीय संस्कृत की नीव डाली थी। मध्यदेशीय विभाषा के विषय में कुछ पता नहीं चलता, पर अनुमान है कि यह विभाषा प्राच्य की अपेक्षा उदीच्य विभाषा के विशेष निकट थी किंतु उदीच्य विभाषा की भाँति रूढ़िबद्ध न थी। प्राच्य विभाषा अत्यधिक असंस्कृत तथा विकृत विभाषा थी। यह वह आर्यभाषा थी जो द्रविड़ तथा मुंडा भाषातत्वों से विशेष प्रभावित हुई थी। साथ ही, इसके बोलनेवाले वे लोग थे जो आर्यों की यज्ञ-यागादि क्रिया में आस्था नहीं रखते थे। इसलिये इन्हें 'व्रात्य' (व्रत से पुनः ग्राह्य) कहा जाता था। इन आर्यों का सामाजिक तथा राजनीतिक संघटन भी उदीच्य आर्यों से कुछ भिन्न था। आगे जाकर महावीर तथा बुद्ध के रूप में इन्हीं आर्यों की सामाजिक क्रांति प्रकट हुई थी और इन्होंने अपनी मातृभाषा को समुचित महत्व दिया था। उदीच्य भाषा के आधिपत्य को हटाकर इन्होंने जनभाषा को अपना उचित पद दिलाया था। ब्राह्मण ग्रंथों में प्राच्य विभाषा को असंस्कृत तथा अशुद्ध माना गया है। 'व्रात्य लोग उच्चारण में सरल वाक्य को भी कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे (वैदिक धर्म में) दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाए हुओं की भाषा बोलते हैं[२]।' इससे यह संकेत मिलता है कि पूरब के लोग संयुक्त व्यंजन, रेफ तथा सोष्म ध्वनियों का उच्चारण सरलता से नहीं कर पाते थे। प्राकृतकाल में इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

१ तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुं, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति। कौशीतकि ब्राह्मण, ७–६, डा० चाटुर्ज्या द्वारा उद्धृत, पृ० ६१।

२ अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः, अदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति। ताण्ड्य ब्राह्मण, १७–४, वही उद्धृत, पृ० ६१।

३. अशोककालीन प्राकृत

अशोक के पूर्व की देश्य भाषा के विषय में निश्चित रूप में कुछ भी पता नहीं। भगवान् सुगत के उपदेशों की भाषा, जो मूलरूप में उस काल की प्राच्य विभाषा (मागधी प्राकृत का पूर्वरूप) थी, शुद्ध रूप में नहीं मिलती। बुद्ध के उपदेशों की भाषा, जिस रूप में आज वह हमें उपलब्ध है, कई साँचों में ढलकर आई है। फिर भी उसमें मागधी के आदिम तत्व ढूँढ़े जा सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा को देखने पर पता चलता है कि उसके शिलालेखों में ही वैभाषिक प्रवृत्तियाँ हैं। उदाहरण के लिये जहाँ गिरनार के शिलालेख में 'लिख्' का णिजंत रूप **'लेखापिता'** मिलता है, वहाँ शहबाजगढ़ी में **'लिखपितु'**, जौगढ़ में **'लिखापिता'**, तथा मानसेरा में **'लिखपित'** पाया जाता है। अशोक के गिरनार शिलालेख में इसका भविष्यत् रूप **'लिखापयिसं'** पाया जाता है, जब कि बाद में मागधी में आकर यह **'लिहावइश्शं'** (मृच्छकटिक, पृ० १३६, २१) हो गया है।[१]

४. प्राकृत भाषा का विकास

यद्यपि साहित्यिक भाषा के रूप में प्राकृत भाषा का विकास परवर्ती घटना है, प्राकृत की देश्य विशेषताओं का आरंभ पाणिनि से भी पूर्व का है। मोटे तौर पर हम पाणिनि के काल को ही प्राकृत का आरंभ मान सकते हैं। वैदिक भाषा से इस भाषाविकास का भेद करने के लिये हम इसे मध्यभारतीय आर्यभाषा (मिडिल इंडो-आर्यन) कहते हैं। मध्यभारतीय भाषा का काल ६०० वि० पू० से लेकर १२०० वि० तक माना जाता है—(१) प्राकृतकाल (६०० वि० पू०–६०० वि०), तथा (२) अपभ्रंशकाल (६०० वि०–१२०० वि०)। प्राकृतकाल के आरंभिक ७००–८०० वर्षों में प्राकृत भाषा केवल देश्य रूप में ही विकसित होती रही। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने इसका आश्रय लेकर अपने जनकल्याण-मूलक सद्धर्म का उपदेश दिया, अशोक ने इसी में अपनी धर्मलिपियों को उत्कीर्ण कराया और खारवेल ने हाथीगुंफा के शिलालेख में इसी भाषा का प्रयोग किया, पर इस काल तक प्राकृत भाषा न तो देशभेद से तत्तत् विभाषाओं के रूप में प्रसिद्ध ही हुई थी, न उसका साहित्यिक रूप ही परिनिष्ठित हुआ था। प्राकृतों की यह स्थिति ईसा की दूसरी शती तक बनी रही, जिसके बाद प्राकृत परिनिष्ठित रूप लेने लगी। वैयाकरणों ने इसका व्याकरण निबद्ध कर इसे परिनिष्ठित रूप देने की योजना की। ईसा की दूसरी शती से लेकर छठी शती तक या इसके

[१] पिशेल : प्रा० प्रा० ग्रा०, § ७, १०५।

भी बाद की उपलब्ध प्राकृत रचनाएँ वैयाकरणों द्वारा निर्धारित परिनिष्ठित प्राकृत की रचनाएँ हैं, जो बोलचाल की देश्यभाषा का संकेत देने में पूरी तरह समर्थ नहीं कही जा सकतीं। जैसा कि डा० पंडित ने कहा है, 'शौरसेनी, वा उसका विकसित स्वरूप महाराष्ट्री, हमारे समक्ष किसी प्रदेश वा समय की व्यवहारभाषा के रूप में नहीं आती, केवल हम उसको साहित्यिक स्वरूप में ही पाते हैं। इस दृष्टि से प्राकृतों का विकास, संस्कृत की ही भाँति हुआ है। उत्तरकालीन प्राकृतों में हमारे पास प्रधानतया एक ही प्रकार की प्राकृत भाषा का साहित्य विद्यमान है। यदि व्यवहार की प्राकृत हमारे लिये बनी होती, तो इस विशाल देश में अनेक प्रकार की प्राकृत पाई जाती; जैसे, वर्तमान काल में पूर्व, पश्चिम वा मध्यदेश और उत्तर में अनेक प्रकार की भारतीय आर्य भाषाएँ विद्यमान हैं वैसे ही अनेक प्रकार की भिन्न भिन्न प्राकृत व्यवहार में आती[1]।' भाव यह है कि प्राकृत का जो साहित्यिक रूप हमें उपलब्ध है वह देश्य विभाषाओं का स्पष्ट संकेत करने में असमर्थ है।

५. प्राकृत की व्युत्पत्ति

इसके पूर्व कि हम प्राकृतकालीन मध्यभारतीय आर्यभाषा के भाषातत्व तथा साहित्य का परिशीलन करें, प्राकृत की उत्पत्ति तथा 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति पर संकेत कर दिया जाय। हम देख चुके हैं कि वैदिक भाषा उस काल की देश्य भाषा के बहुत निकट थी, यहाँ तक कि कुछ विद्वान् तो उसे उस काल की जनभाषा ही मानते हैं। वैसे विद्वानों का एक दल वैदिक संहिताओं की मंत्रभाषा को जनभाषा स्वीकार न कर तत्कालीन 'साधु भाषा' कहते हैं। देश्य भाषा ही विकसित होकर 'प्राकृत' बनी। प्राकृत वैयाकरणों तथा संस्कृत पंडितों ने प्राकृत का उद्‌भव प्रायः संस्कृत से ही माना है। इस संबंध में पिशेल ने अपने ग्रंथ में अनेक मतों का संग्रह कर उस मान्यता का संकेत किया है[2] जो प्राकृत की (मूल) प्रकृति संस्कृत मानती थी—

१—प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। हेमचंद्र, १. १।
२—प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं प्राकृतमुच्यते। मार्कण्डेय, पृ० १।
३—प्रकृतेरागतं प्राकृतं, संस्कृतम्। धनिक, दशरूपक, २. ६०।
४—प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। प्राकृतचंद्रिका।
५—प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः। वासुदेव : कर्पूरमंजरीटीका।

[1] डा० प्रबोध बेचरदास पंडित : प्रा० भा०, पृ० ४०।

[2] पिशेल : प्रा० प्रा० ग्रा०, ६० १।

किंतु प्राचीन विद्वानों में से कुछ यह भी मानते थे कि 'प्राकृत' संस्कृत से पहले बनी हुई (प्राक्+कृत) है। नमिसाधु ने काव्यालंकार की टीका में प्राकृत को जनता का वह स्वाभाविक वचनव्यापार माना जिसमें व्याकरण आदि के नियमों की पाबंदी नहीं होती :

'प्राकृतेति। सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्रकृतिः—तत्र भवः सैव वा प्राकृतम्।'

इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रकृति' जनसाधारण की भाषात्मक विशेषता है। अथवा यों कहा जा सकता है कि प्राकृत वह भाषा है जो स्वतः स्वभावसिद्ध है (प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतं) या जो प्रकृति अर्थात् साधारण जनता की भाषा है (प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्)। वाक्पतिराज ने गउडवहो में प्राकृत को समस्त भाषाओं का उद्‌गम तथा गंतव्य स्थल माना है। जैसे जल समुद्र से ही आता है, समुद्र में ही प्रवेश करता है, वैसे ही सब भाषाएँ प्राकृत से ही निकलती हैं, प्राकृत में ही समाविष्ट हो जाती हैं[1]।

६. प्राकृत का व्याकरण

प्राकृत भाषा की विशेषताओं का संकेत हमें प्राकृत वैयाकरणों के नियमों में मिलता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, वररुचि ने प्राकृतप्रकाश में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची इन्हीं चार प्राकृतों की परिगणना की है। इनमें भी महाराष्ट्री को परिनिष्ठित प्राकृत मानकर उसी की विशेषताओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है, बाकी प्राकृतों की केवल उन विशेषताओं का संकेत किया गया है जो महाराष्ट्री से मेल नहीं खातीं। प्राकृत वैयाकरण महाराष्ट्री को आधार बनाकर चले हैं। दंडी ने भी काव्यादर्श में महाराष्ट्री प्राकृत को ही प्रमुख प्राकृत बताया : महाराष्ट्राश्रयां भाषा प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः (काव्यादर्श, १.३४)। दंडी से भी पहले वररुचि ने इस मान्यता का संकेत करते हुए महाराष्ट्री से इतर प्राकृतो के विषय में 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' (१२-३२) का विधान किया था। धीरे धीरे महाराष्ट्री प्राकृत भी संस्कृत की भाँति साहित्यिकों की कृत्रिम भाषा सी हो गई और व्याकरण के नियमों ने इसे भी रूढ़ बना दिया। संस्कृत के नाटकों तथा प्राकृत काव्यों की प्राकृत बोलचाल की प्राकृत न होकर किताबी प्राकृत है। व्याकरण के अनुसार संस्कृत में ध्वनिपरिवर्तन तथा पदरचनात्मक परिवर्तन करके प्राकृत की रचना होने

[1] सयलाओ इमं वाया विसंति सत्तो य येंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय येंति सायराओ च्चिय जलाइं॥
डा० अग्रवाल के 'प्राकृतविमर्श' में उद्धृत, पृ० ४।

लगी। जैसा कि हम देखेंगे, अश्वघोष या भास की प्राकृत फिर भी बोलचाल की भाषा के निकट है, पर ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, प्राकृत का रूढ़ साहित्यिक रूप ही मिलता है।

प्राकृत भाषा की तत्संबंधी विशेषताओं को संक्षेप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है :

संस्कृत की ध्वनियों तथा पदरचना दोनों के प्राकृतकालीन विकास में हम सरलीकरण की प्रवृत्ति पाते हैं। संस्कृत की ऋ, ॠ, लृ, ऐ तथा औ ध्वनियों का प्राकृत में अस्तित्व नहीं है। संस्कृत 'ऋ' यहाँ अ, इ, या उ के रूप में विकसित हो गया है,[1] जब कि संस्कृत ऐ, औ प्रायः ए, ओ[2] और कभी कभी अ, इ, अ, उ,[3] या ई, ऊ के रूप में भी परिवर्तित होते देखे जाते हैं। संस्कृत में हमें ह्रस्व ऐ, औ, का पता नहीं चलता, आज की व्यावहारिक भाषाओं में ये ध्वनियाँ पाई जाती हैं। भाषाशास्त्रियों का मत है कि प्राकृत में ऐ, औ, ध्वनियाँ उच्चरित होती थीं। पिशेल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ग्रामातीक देर प्राकृत स्प्राखेन' में तीन स्थल ऐसे बताए हैं, जहाँ प्राकृत में ह्रस्व ऐ, औ का उच्चारण रहा होगा[4]।

प्राकृत में आकर संस्कृत की व्यंजनध्वनियाँ भी नवीन रूप में विकसित हुई हैं। संस्कृत के मध्यग (इन्टरवॉकेलिक) 'क, ग, च, ज, त, द, प, य, व,' प्रायः लुप्त हो जाते हैं[5]। तथा 'ख, घ, थ, ध, फ, भ,' का 'ह' हो जाता है[6]। संस्कृत 'प' प्रायः 'व' तथा पदादि 'य' 'ज' हो जाते हैं। संस्कृत में 'श, स, ष' तीन सोष्म ध्वनियाँ पाई जाती हैं, किंतु प्राकृत में आकर केवल एक सोष्म ध्वनि रह गई है। महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा अर्धमागधी में केवल 'स' ध्वनि पाई जाती है; मागधी में केवल 'श'। संस्कृत की संयुक्त व्यंजनध्वनियों का विकास भी अपने ढंग पर देखा जाता है। कहीं तो उनमें स्वरभक्ति का प्रयोग किया जाता है, जैसे मरियादा (मर्यादा), किलेश (क्लेश) आदि में, कहीं ध्वनियों में समीकरण कर दिया जाता है, जैसे पिक्क (पक्व), उम्मि (ऊर्मि) आदि में, तो कहीं एक व्यंजनध्वनि का लोप कर दिया जाता है, जैसे थूल (स्थूल), फटिक (स्फटिक) आदि में।

१ ऋतोऽत् । इदृष्यादिषु । उदृत्वादिषु । प्रा० प्र०, १. २९. ३१ ।

२ ऐत एत् । १. ३६, औत ओत् १. ४१ प्रा० प्र० । साथ ही पिशेल : ग्रा० प्रा० स्प्रा० § ६०, पृ० ५५ ।

३ दैत्यादिषु अइत् । १. ३७; पौरादिषु अउत् । १. ४२; साथ ही पिशेल, पृ० ५६ ।

४ पिशेल, ग्रा० प्रा० स्प्रा०, § ६६, ८४, ८५ ।

५ कगचजतदपयवां प्रायोलोपः । प्रा० प्र०, २. २ ।

६ खघथधभां हः । प्रा० प्र०, २. २७ ।

संस्कृत व्यंजनध्वनियों के प्राकृतकालीन विकास का प्रसंग भाषातत्व की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है।

प्राकृत में संस्कृत पदरचना भी सरल हुई। यह सारल्यप्रवृत्ति शब्दरूपों तथा धातुरूपों दोनों में पाई जाती है। संस्कृत के तीन वचन प्राकृत में आकर केवल दो ही रह गए। प्राकृत में केवल एकवचन तथा बहुवचन ही हैं, द्विवचन का यहाँ अभाव है। प्राकृत की इसी परंपरा का निर्वाह अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में पाया जाता है। प्राकृत के शब्द अकारांत, इकारांत, उकारांत, आकारांत, ईकारांत तथा ऊकारात हैं[1]। संस्कृत के हलंत शब्द यहाँ आकर अजंत हो गए हैं। 'प्राकृत काल में संस्कृत का लिंगविधान सुरक्षित रहा है। यहाँ तीनों लिंग पाए जाते हैं[2]। नपुंसक लिंगरूपों को देखने से पता चलता है कि संस्कृत में ही इनके रूपों की बहुत कमी है। प्रथमा-द्वितीया विभक्तिवाले रूपों को छोड़कर, जो एक से हैं, शेष विभक्तियों में ये पुल्लिंग रूपों में ही समाहित हो जाते हैं। प्राकृत में ये नपुंसक रूप सुरक्षित रहे हैं। प्राकृतकाल में विभक्तियों का भी सरलीकरण हुआ। संस्कृत में आठ विभक्तियाँ हैं किंतु प्राकृत में चतुर्थी का लोप हो गया है; वह षष्ठी में समाहित हो गई है[3]। इसी प्रकार विभक्तिचिह्नों में भी संस्कृत में जो अनेकता है, वह यहाँ लुप्त हो गई है[4]।

प्राकृत क्रियारूपों में विशेष परिवर्तन पाया जाता है। जिस प्रकार प्राकृत शब्दरूपों में एकरूपता लाने की प्रवृत्ति मिलती है, उसी प्रकार धातुरूपों में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। संस्कृत में व्यंजनात धातु हैं, पर यहाँ सभी धातु स्वरांत हो गए हैं। संस्कृत के दस गणों का भेद भी यहाँ लुप्त होने लगा है। धातुरूपों में भी द्विवचन का लोप हो गया है। आत्मनेपदी रूपों का प्रयोग बहुत कम होकर लकारों की संख्या भी कम हो गई है। भूतकाल के लिये भूतकालिक कृदंतों का प्रयोग भी चल पड़ा है, जो आगे जाकर अत्यधिक पल्लवित पाया जाता है। प्राकृत वाक्यरचना संस्कृत वाक्यरचना से अधिक भिन्न नहीं है। वैसे कुछ विभक्तियों के लोप के कारण वाक्यरचना में अंतर देखा जा सकता है। प्रत्येक प्राकृत की वाक्यरचनागत विभिन्नता का अध्ययन डा० सुकुमार सेन ने अपने ग्रंथ 'हिस्टॉरिकल सिंटेक्स आव् मिडिल-इंडोआर्यन[5]' में किया है।

[1] सुकुमार सेन : कां० ग्रा० मि० इं० आ०, § ३०, पृ० ५०।

[2] वही, § ३०, पृ० ५०।

[3] पिशेल : ग्रा० प्रा० स्प्रा०, § ३६१, पृ० २४६।

[4] सेन : कां० ग्रा० मि० इं० आ०, § १६२, पृ० १२५।

[5] लिंग्विस्टिक सोसायटी आफ् इंडिया, कलकत्ता से प्रकाशित।

प्राकृत शब्दसमूह में आर्य शब्दों के अतिरिक्त आर्येतर शब्द भी बहुत मिलते हैं। ये शब्द आग्नेय (आस्ट्रिक) तथा द्राविड परिवार के हैं। प्राकृत में संस्कृत के शुद्ध रूपों का प्रयोग आदृत नहीं हुआ है तथा यह पद्धति बाद में भी चलती रही। फिर भी प्राकृत में ऐसे शब्द मिलते हैं जो संस्कृत रूपों के समान हैं। इन्हें हम तत्सम कहते हैं। वैसे तो प्राकृत में ऐसे तत्सम शब्द बहुत कम पाए जाते हैं। प्राकृत शब्दसमूह में अधिकांश शब्द तद्भव हैं, शेष देशी या देशज शब्द वे हैं जिनका संबंध प्राकृत वैयाकरण संस्कृत शब्दों से नहीं जोड़ पाते। ये वे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है। हेमचंद्र ने अपनी 'देशीनाममाला' में ऐसे ही प्राकृत तथा अपभ्रंश शब्दों का संकलन किया है। डा० वैद्य का मत है कि हेमचंद्र के देशी शब्दों में कई तद्भव हैं तथा प्राचीन विद्वानो ने उनकी व्युत्पत्ति में भूल की है।

७. प्राकृत साहित्य का उदय

प्राकृत साहित्य जनसामान्य की वैचारिक क्रांति के साथ उदित होता दिखाई देता है। जैसा कि स्पष्ट है, विक्रम से कई सौ वर्ष पूर्व से ही संस्कृत धर्म और काव्य की भाषा बन चुकी थी एवं वह बोलचाल की भाषा से दूर हटती जा रही थी। संस्कृत के विकास में अभिजातवर्ग का विशेष हाथ रहा है। इसने सामान्य जनता की बोलियों को उच्च साहित्य का माध्यम नहीं बनाया, किंतु ये बोलियाँ जनता का सहारा पाकर विकसित होती रहीं। लोकपरक सुधारवादी वैचारिक क्रांति ने अपने प्रचार के माध्यम के लिये इन्हें अपनाया। यहीं से प्राकृत साहित्य का श्रीगणेश माना जा सकता है। प्राकृत साहित्य का उदय सर्वप्रथम धार्मिक क्रांति से होता है। जैन और बौद्ध धर्म ने विक्रम पूर्व पाँचवी-छठी शती में जनता की बोलियों को अपनाया और उनमें अपने प्रारंभिक साहित्य की रचना की। यह वैचारिक क्रांति पूर्व में हुई थी, अतः पूर्व की बोलियों को नया जीवन मिला। भगवान् बुद्ध तथा महावीर ने जनता की बोली में ही अपने सद्धर्म के उपदेश दिए। पर पश्चिम में चाहे जनसामान्य की बोलियों का स्वरूप रहा हो, वे अधिक विकास न पा सकीं। वहाँ संस्कृत का पद अक्षुण्ण बना रहा। इसका कारण यह था कि मध्यदेश आर्य वैदिक संस्कृति का केंद्र था। आगे जाकर ज्यों ज्यों संस्कृत रूढ होती गई, मध्यदेश में भी प्राकृत साहित्य का समानांतर विकास होने लगा, पर फिर भी वह अधिक पल्लवित न हो पाया।

वैसे तो प्राकृत का साहित्यिक काल विक्रम की छठी शती के बाद भी चलता है, पर मोटे तौर पर विक्रम पूर्व छठी शती से लेकर विक्रम की छठी शती तक का १२०० वर्ष का काल ही हमने प्राकृतकाल माना है। इस काल में प्राकृत साहित्य को तीन स्रोतों से आश्रय मिला—(१) धर्माश्रय, (२) राजाश्रय, और

(३) लोकाश्रय। धर्माश्रय का संकेत हम कर चुके हैं। प्राकृत को राज्यभाषा के रूप में सबसे पहला महत्व देनेवाला प्रियदर्शी अशोक था जिसने जनता की बोली में अपनी धर्मलिपियों को उत्कीर्ण कराया। किंतु मौर्यों का अंत होने पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से संस्कृत की पुनः प्रतिष्ठा बढ़ गई परंतु कलिंग के जैन राजाओं ने फिर भी प्राकृत को राज्यभाषा का पद दिया। खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख को इस बात का प्रमाण माना जा सकता है। पर इतना होने पर भी प्राकृत इस पद पर पूर्णतः प्रतिष्ठित न हो पाई। प्राकृत साहित्य की उन्नति में वैदिक धर्मावलंबी आंध्रवंशी राजाओं ने भी बहुत सहायता की। आंध्र साम्राज्य शीघ्र ही प्राकृत साहित्य का गढ़ बन गया। आंध्रवंशी राजा शातवाहन ने स्वयं प्राकृत की गाथाओं का संग्रह किया। परवर्ती कई अन्य राजाओं ने प्राकृत कवियों को आश्रय दिया। काश्मीरराज प्रवरसेन स्वयं प्राकृत महाकाव्य के रचयिता थे तथा यशोधर्मन् ने वाक्पतिराज (गउडवहो के रचयिता) को अपनी राजसभा में संमान्य स्थान दे रखा था। वाक्पतिराज के लगभग १००-१५० वर्ष बाद ही कन्नौज के एक अन्य राजा के यहाँ यायावर महाकवि राजशेखर ने अपनी प्राकृत रचना को पल्लवित किया और प्राकृत को संस्कृत से भी अधिक कोमल भाषा घोषित किया। राजशेखर के समय तक प्राकृत का संमान अत्यधिक बढ़ गया था। यह वह काल था, जब प्राकृत भी संस्कृत की भाँति परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा बन चुकी थी और वह भी लोकभाषाओं से दूर जा पड़ी थी। पंडितों तथा कवियों ने प्राकृत को संमानित पद दे दिया था। राजशेखर ने तो साहित्य की रचनाओं में संस्कृत तथा प्राकृत काव्य में ठीक वही भेद बताया था जो पुरुष तथा रमणी में है—एक में परुषता है तो दूसरे में कोमलता।

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणँ जेत्तिअ मिहंतरं तेत्तिअ मिमाणं ॥[1]

८. प्राकृत की विभाषाएँ

'प्राकृत' शब्द के उपर्युक्त प्रयोग से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इसके अंतर्गत अनेक भाषाओं तथा विभाषाओं का समावेश होता है। इन भाषाओं में कई भाषाएँ ऐसी हैं जिनका संकेत प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों ने नहीं किया है। वैसे काल की दृष्टि से पहले हम प्राकृत को तीन वर्गों में बाँट चुके हैं, प्राचीन प्राकृत, मध्यवर्ती प्राकृत, तथा परवर्ती प्राकृत (अपभ्रंश)। किंतु इस वर्गीकरण को पूर्णतः

[1] कर्पूरमंजरी, १.८।

वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि यहाँ हमें कालभेद की दृष्टि छोड़कर अन्य प्रकार का वर्गीकरण करना होगा :

(१) शिलालेखी प्राकृत—अशोक के समय से लेकर बाद तक ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में उपलब्ध शिलालेखों की प्राकृत जो उस समय के शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा सिक्कों में पाई जाती है।

(२) बहिर्भारतीय प्राकृत—इसके अंतर्गत खोतान में मिले खरोष्ठी लिपि में लिखित 'धम्मपद' की प्राकृत तथा मध्यएशिया से मिले खोतानी हस्तलेखों की प्राकृत की गणना होती है जिसे 'निया प्राकृत' कहा जाता है।

(३) धार्मिक प्राकृत—इसके अंतर्गत बौद्धों की धार्मिक प्राकृत, पालि तथा जैनों की आर्यभाषा अर्धमागधी का ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी का भी समावेश होता है।

(४) वैयाकरणों की प्राकृत—वररुचि तथा भरत से लेकर मार्कंडेय तथा राम तर्कवागीश तक के वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित प्राकृत एवं प्राकृत की विभाषाएँ।

(५) साहित्यिक प्राकृत—इसमें महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा अपभ्रंश के साहित्यिक रूप का समावेश होता है।

(६) नाटकीय प्राकृत—इसमें भास तथा अश्वघोष से लेकर बाद तक के संस्कृत नाटकों में उपलब्ध तत्तत् प्राकृत तथा उनकी वैभाषिक प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है। इसी में प्राच्या, आवंती, ढक्की (टक्की), शकारी, चांडाली आदि का ग्रहण होता है।

(७) व्यावहारिक या मिश्र संस्कृत—इसको कुछ विद्वान् प्राकृत से भिन्न मानना चाहेंगे, तथा अन्य विद्वान् इसे संस्कृत में ही अंतर्भूत करना चाहेंगे, किंतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह संस्कृत का ही वह प्राकृतीभूत रूप कहा जा सकता है जिसका समावेश प्राकृत में करना ठीक होगा। इसमें महाभारत तथा पुराणों की व्यावहारिक संस्कृत, बौद्धों की मिश्र संस्कृत या तथाकथित बौद्ध मिश्र संस्कृत तथा जैनों के कतिपय ग्रंथों की मिश्र संस्कृत का समावेश किया जाता है।

हम यहाँ इन्हीं प्राकृतो का क्रम से संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे :

(१) **शिलालेखी प्राकृत**—प्राकृत के प्राचीनतम रूप यदि कहीं उपलभ्य हैं तो केवल शिलालेखों में ही। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में हमें प्राकृत का प्राचीन रूप प्राप्त होता है। ये शिलालेख हमें दो लिपियों में मिलते हैं—ब्राह्मी तथा खरोष्ठी। खरोष्ठी का प्रयोग केवल शाहबाजगढ़ी और मानसेरावाले लेखों में ही मिलता है। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का अध्ययन करने के लिये अशोक के शिलालेखों का अत्यधिक महत्व है। भारतीय भाषाओं के विकासक्रम के अध्येता के लिये ये शिलालेख मौर्य साम्राज्य के विभिन्न भागो में प्रचलित तत्कालीन विभाषाओं को प्रदर्शित करते हैं। वि० सं० १९८१-८२ (सन् १९२५) में हुल्श ने इन शिलालेखों की प्राकृतों का अध्ययन प्रस्तुत किया था। अशोक के शिलालेखों की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन डा० मेहेंडेल ने भी प्रस्तुत किया है[1]।

इन लेखो में प्राकृत की चार वैभाषिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—उत्तर-पश्चिमी प्राकृत (या उदीच्य प्राकृत), पश्चिमी प्राकृत, मध्य-पूर्वी प्राकृत तथा पूर्वी प्राकृत।

अशोक के शिलालेखो के अतिरिक्त अन्य कई शिलालेख प्राकृत में उपलब्ध होते हैं। मेहेंडेल ने इन्हें पश्चिमी भारत में प्राप्त शिलालेख, दक्षिणी भारत में प्राप्त शिलालेख, तथा पूर्वी भारत में प्राप्त शिलालेख, इन तीन वर्गों में बाँटा है तथा इसी क्रम से अपनी पुस्तक में इनका भाषावैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यद्यपि शिलालेख बहुत पीछे तक के मिलते हैं, किंतु शिलालेखी प्राकृत के अध्ययन की दृष्टि से वि० पू० तीसरी शताब्दी से वि० चौथी शती तक के सात सौ वर्षों के शिलालेख ही विशेष महत्व के हैं। अशोक के बाद इस काल के शिलालेखों में खारवेल का हाथीगुंफा शिलालेख, उदयगिरि तथा खंडगिरि के शिलालेख एवं पश्चिमी भारत के आंध्र राजाओं के शिलालेख विशेष उल्लेखनीय हैं। आंध्र राजाओं के शिलालेख साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि प्राकृत का कृत्रिम साहित्यिक रूप—उदाहरण के लिये संस्कृत की भाँति समासांत प्राकृत पदों की

[1] देखिए—डा० मधुकर अनंत मेहेंडेल : हि० प्रा० इ० प्रा०, प्रथम परि० 'कांपरेटिव स्टडी आफ् अशोकन इन्स्क्रिप्शंस', पृ० १-४५।

शैली—यहाँ दृष्टिगोचर होने लगती है जो परवर्ती साहित्यिक तथा नाटकीय प्राकृत में पर्याप्त मात्रा में मिलती है[1]।

इनके अतिरिक्त अन्य कई प्राकृत शिलालेख लंका से भी प्राप्त हुए हैं। कुछ बाद के खरोष्ठी के शिलालेख काँगड़ा, मथुरा आदि स्थानों से भी मिले हैं। शिलालेखों के अतिरिक्त सिक्कों पर भी प्राकृत लेख मिलते हैं। पुराने सिक्के दो तरह के मिलते हैं—कुछ सिक्कों में लेख नहीं मिलते तथा उनके समय का पूरा पता नहीं लग पाता, दूसरी कोटि के सिक्कों में लेख मिलते हैं जिनके आधार पर उनकी तिथि का निर्धारण संभव है। इसी दूसरी कोटि के सिक्कों में ग्रीक, ब्राह्मी, खरोष्ठी तथा प्राचीन नागरी लिपि में लिखे लेख मिलते हैं। ये सिक्के सोने, चाँदी या ताँबे के बने हैं। इन सिक्कों में सबसे प्राचीन सिक्का धर्मपाल का है जो मध्यप्रदेश के सागर जिले से मिला है। इसकी तिथि वि० पू० तीसरी शती मानी जाती है। इसमें ब्राह्मी लिपि में 'धमपालस' (धर्मपालस्य) लिखा है। एक दूसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सिक्का खरोष्ठी लिपि में दिमित्रियस (वि० पू० दूसरी शती) का है, जिसमें 'महरजस अपरजितस दिमे' लिखा हुआ है। यद्यपि सिक्कों में प्राकृत के केवल एक दो ही शब्द मिलते हैं, पर वे इस बात का संकेत करते हैं कि उस समय तत्तत् प्राकृत में ध्वनि संबंधी तथा पदरचना संबंधी विकास किस स्थिति तक पहुँच चुका था। उदाहरण के लिये 'धमपालस' इस बात का संकेत करता है कि संस्कृत के रेफ का लोप हो गया, 'स्य' 'स' में विकसित हो गया, किंतु वह रूप अभी विकसित नहीं हुआ था जो परवर्ती प्राकृत में 'धम्मपालस्य' बनता है। इसी तरह पदमध्यग 'क, ग, च, ज, त, द, प, य, व,' का लोप नहीं हुआ अतः महाराअस्स 'अवराइअस्स' जैसे प्राकृत रूप अभी विकसित नहीं हुए थे। इस प्रकार ये किसी तरह प्राकृत के विकासक्रम का कुछ संकेत देने में सहायता कर सकते हैं। जहाँ तक शुद्ध साहित्यिक दृष्टि का प्रश्न है, शिलालेखों तथा सिक्कों की प्राकृत इस दृष्टि से नगण्य ही मानी जायगी।

(२) **बहिर्भारतीय प्राकृत**—इस कोटि की प्राकृतों के अंतर्गत खोतान में मिले खरोष्ठी लिपि के प्राकृत धम्मपद तथा निया प्राकृत का समावेश होता है। वि० सं० १९४९ (सन् १८९२ ई०) में फ्रांसीसी यात्री दुत्रवील दराँ ने खोतान से

[1] यहाँ खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख से एक वाक्य नमूने के लिये उद्धृत किया जा रहा है : (१) संपुंण चतुवीसति-वसो तदानी वधमानसेसयो वेनाभिविजयो ततिये कलिंगराजवसे पुरिसयुगे महाराजाभिषेचनं पापुनाति। (संपूर्णचतुर्विंशतिवर्षः तदानी वर्द्धमान-शैशव वैराग्याभिविजयः तृतीये कलिंगराजवंशे पुरुषयुगे महाराजाभिषेचनं प्राप्नोति।)

कुछ महत्वपूर्ण लेख प्राप्त किए। जर्मन विद्वान् ओल्डेनबर्ग तथा फ्रेंच विद्वान् एमीले सेनर ने उन लेखों का अध्ययन कर पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोलियों से प्रभावित उस धम्मपद को प्रकाशित किया। यह धम्मपद खरोष्ठी में मिलने के कारण 'खरोष्ठी धम्मपद' भी कहलाता है। इसी का एक परिवर्द्धित संस्करण वेणी-माधव बरुआ तथा शिशिरकुमार मित्र ने वि० सं० १९७८ (सन् १९२१) में कलकत्ते से प्रकाशित कराया था। इसमें बारह वर्ग तथा ३३२ छंद हैं। इसकी तिथि विक्रम की दूसरी शती (२०० विक्रम) के लगभग मानी जाती है। इसकी भाषा पालि से भिन्न है, इसलिये इसे 'प्राकृत धम्मपद' भी कहा जाता है[1]।

निया प्राकृत—सर ऑरेल स्टेन ने चीनी तुर्किस्तान में कई खरोष्ठी लेखों की खोज की थी। यह खोज वि० सं० १९५८ से १९७१ (सन् १९०१ से लेकर १९१४) तक तीन बार की गई। ये लेख निया प्रदेश से प्राप्त हुए हैं, अतः इनकी भाषा 'निया प्राकृत' के नाम से पुकारी जाती है। यह भाषा मूलतः भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश (पेशावर के आसपास) की मानी गई है। यूरोपीय विद्वान् बोयर, रेप्सन, तथा सेनर ने इन लेखों का संपादन वि० सं० १९८६ (सन् १९२९) में प्रकाशित कराया तथा वि० सं० १९९४ (सन् १९३७) में टी० बरो ने इस भाषा पर एक गवेषणात्मक निबंध प्रकाशित किया। बरो के अनुसार यह लेख वस्तुतः किसी भारतीय प्राकृत भाषा में है जो वि० तीसरी शती में क्रोराइना या 'शनशन' की राजकीय भाषा थी। ये लेख खरोष्ठी लिपि में हैं तथा भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इनका दरदी भाषाओं से विशेष संबंध दिखाई पड़ता है। दरदी वर्ग की तोखाली के साथ इसका निकटतम संबंध है[2]। इन लेखों में अधिकतर लेख राजकीय विषयों से संबद्ध हैं, उदाहरण के लिये राजाज्ञाएँ, प्राताधीशों या न्यायाधीशों के प्रसारित राजकीय आदेश, क्रय-विक्रय-पत्र, निजी पत्र तथा नाना प्रकार की सूचियाँ। इस भाषा में दीर्घस्वर, ऋ ध्वनि, तथा सघोष ऊष्म ध्वनियों के लिपिचिह्नों के अस्तित्व का पता लगता है, जबकि ये ध्वनियाँ अन्य भारतीय प्राकृतों में नहीं पाई जातीं।

[1] प्राकृत धम्मपद की भाषा का संकेत निम्नोक्त गाथा से मिल सकता है :

यस एतदिश यन गेहि परवइतस व।
स वि पतिन यनेन निवनसेव सतिए।

(जिस किसी गृहस्थ या साधु के पास यह यान है, वह व्यक्ति वस्तुतः निर्वाण के पास ही है।) यहाँ यस (यस्य), एतिदश (एतादृशम्), यन (यानं), गेहि पवइतस व गृहिणः प्रव्रजितस्य वा, वि (वै), निवनसेव (निर्वाणस्यैव) के पालिरूप क्रमशः यस्स, एतादि, यानं, गिहिनो पव्वजितस्सवा, वे, निब्बानस्सेव होते हैं।

[2] कत्रे : प्राकृत लैंग्वेजेज ऐंड देयर कांट्रिब्यूशन टु इंडियन कल्चर, पृ० ३५।

(३) धार्मिक प्राकृत—धार्मिक प्राकृतों के अंतर्गत हम बौद्ध तथा जैन धार्मिक ग्रंथों की प्राकृतों को लेते हैं। इसमें पालि, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी आती हैं।

(अ) पालि भाषा—'पालि' शब्द का प्रयोग बौद्ध धार्मिक ग्रंथों की प्राकृत के लिये किया जाता है, किंतु मूलतः इस शब्द का प्रयोग किसी भाषाविशेष के लिये नहीं पाया जाता था। 'पालि' शब्द का सर्वप्रथम व्यापक प्रयोग बुद्धघोष में मिलता है। वहाँ इसका प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—(१) बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिये, तथा (२) पाठ या मूल त्रिपिटक के पाठ के लिये वस्तुतः अट्ठकथा से बुद्धवचनों को अलग करने के उद्देश्य से उनके लिये 'पालि' शब्द प्रयुक्त होता था। 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों के कई मत प्रचलित हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप के मतानुसार 'पालि' वस्तुतः 'पालियाय' का संक्षिप्त रूप है, जिसका प्रयोग अशोक के शिलालेख में भी मिलता है। यहाँ 'पालियाय' (परियाय) का अर्थ बुद्धोपदेश है[१]। दूसरा मत भिक्षु सिद्धार्थ का है जिसके अनुसार 'पालि' शब्द शुद्धरूप में 'पालि' है जो संस्कृत 'पाठ' का प्राकृत रूप है[२]। तीसरा मत पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का है जो पालि शब्द को 'पंक्ति'वाची मानते हैं। यही रूप संस्कृत में भी 'पंक्ति' वाले अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके प्रमाण में वे पालिकोश 'अभिधानप्पदीपिका' की निम्नांकित पंक्ति को उद्धृत करते हैं जहाँ 'पालि' शब्द का अर्थ 'बुद्धवचन' तथा 'पंक्ति' दोनो दिया है—'तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि।' श्रीमती रीज डेविड्ज का मत भी 'पालि' को पंक्तिवाचक मानने का है[३]। जर्मन विद्वान् मैक्स वेलेसर ने एक अन्य मत प्रकट किया है। उनके अनुसार 'पालि' 'पाटलि' या 'पाडलि' का संक्षिप्त रूप है जिसका अर्थ है 'पाटलिपुत्र की भाषा'। कुछ विद्वान् 'पलि' शब्द का संबंध 'पल्लि' शब्द से भी जोड़ने की चेष्टा करते हैं[४]।

'पालि' किस प्राकृत का नाम है तथा यह कहाँ की भाषा थी, इस संबंध में भी विद्वानों में बहुत मतभेद है। बौद्ध धर्मानुयायियों के अनुसार 'पालि' मागधी ही है तथा यही वह मूलभाषा है जिसमें भगवान् सुगत ने अपने जनकल्याणमूलक विश्वधर्म का उपदेश दिया था। किंतु जब वैयाकरणों की तथा साहित्यिक काल की मागधी के साथ इस भाषा की तुलना की जाती है तो पता चलता है कि 'पालि' उससे मेल नहीं खाती। मागधी प्राकृत में दो विशेषताएँ हम विशेष रूप में पाते

१ भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृ० ८-१२।
२ डा० लाहा द्वारा संपादित : बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० ६४१–६५६।
३ भरतसिंह उपाध्याय : प्रा० सा० इ०, पृ० ७।
४ वही, पृ० ८।

हैं—(१) वहाँ र् तथा स् क्रमशः ल् तथा श् हो जाते हैं तथा (२) पुल्लिंग और नपुसंक लिंग अकारांत शब्दों के प्रथमा एकवचन में एकारांत रूप होते हैं, उदाहरणार्थ 'देवे'। पालि में ये दोनों विशेषताएँ नहीं पाई जातीं। यहाँ 'स्' का 'श्' के रूप में परिवर्तन नहीं होता, तथा 'श्' भी शौरसेनी की भाँति 'स्' हो जाता है। इसी तरह 'पालि' में 'र्' अपरिवर्तित बना रहता है, 'ल्' नहीं होता। महाराष्ट्री-शौरसेनी की भाँति पालि में भी अकारांत पुल्लिंग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओकार तथा अकारात नपुंसकलिंग शब्दों के प्रथमा एकवचन में अनुस्वार पाया जाता है। मागधी ही नहीं, अर्धमागधी भी पालि का आधार नहीं मानी जा सकती। प्रो० लूडर्स ने 'पालि' का मूल आधार प्राचीन अर्धमागधी माना है। पर उनके मत की पुष्टि में कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता[१]। फ्रेंच विद्वान् सिलवाँ लेवी के अनुसार पालि त्रिपिटक मूल बुद्धवचन न होकर किसी ऐसी पूर्ववर्ती मागधी का अनूदित रूप है, जिसमें पालि की अपेक्षा ध्वनिपरिवर्तन अधिक विकसित अवस्था में था। इस प्रकार लेवी 'पालि' को एक विविध रूपवती (मिश्रित) भाषा मानने का संकेत करते जान पड़ते हैं। पालि के संबंध में इन विभिन्न मतों के प्रचार का कारण यह है कि पालि में मागधी, शौरसेनी तथा पैशाची तीनों के तत्व उपलब्ध होते हैं तथा मागधी की अपेक्षा शौरसेनी के तत्व कहीं अधिक पाए जाते हैं। यहीं इसका भी संकेत कर दिया जाय कि 'पालि' मूलतः किस प्रदेश की भाषा थी। 'पालि' की भौगोलिक सीमा का निर्धारण भी इसी तरह मतवैभिन्न्य से आक्रांत है। विंडिश, गायगर, रीज डेविड्ज इसे मागधी का रूप मानती तथा कोसल प्रदेश की भाषा घोषित करती हैं[२]। वेस्टरगार्ड, कुह्न और फ्रैंक पालि को उज्जयिनी प्रदेश की बोली मानते हैं[३]। स्टेनकोनो के मतानुसार पालि का पैशाची से अत्यधिक साम्य है तथा दोनों का उद्गमस्थान विंध्यप्रदेश है[४]। किंतु ग्रियर्सन पैशाची को विंध्यप्रदेश की बोली न मानकर पश्चिमोत्तर भारत की बोली मानते हैं। ग्रियर्सन के मतानुसार पालि मागधी का वह साहित्यिक रूप है जो तक्षशिला में अध्यापन के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होता था[५]। डा० ओल्डेनबर्ग तथा ई० मूलेर पालि को कलिंग देश की भाषा मानते हैं। डा० चाटुर्ज्या के मतानुसार पालि का मूलाधार मागधी न होकर मध्यदेशीय प्राकृत है, उसका शौरसेनी से प्रचुर साम्य है तथा वह

१ वही, पृ० १८।

२ रीज डेविड्ज : बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० १५३-५४।

३ विंटरनित्स : हि० इं० लि०, पृ० ६०४।

४ वही, पृ० ६०४।

५ वही, पृ० ६०५।

शौरसेनी का वह रूप है जिसमें पश्चिमोत्तर प्राकृत तथा अन्य आर्य विभाषाओं के कई आर्ष (आर्केक) प्रयोग घुल मिल गए हैं[१]।

वस्तुतः पालि किसी एक प्रदेशविशेष की भाषा नहीं है। किसी एक प्राकृत या उसके प्राचीन रूप से पालि को संबद्ध करना भ्रांत मार्ग का आश्रय लेना होगा। पालि एक मिश्रित भाषा है जिसमें अनेक बोलियों का संमिश्रण मिलता है। पालि की प्रमुख भाषावैज्ञानिक विशेषताएँ ये हैं—पालि में अर्धमागधी की अपेक्षा अधिक आर्ष प्रयोग मिलते हैं। यहाँ आत्मनेपदी क्रियारूपों का प्रयोग बहुत पाया जाता है तथा लुङ् लकार का अत्यधिक प्रचलन है। द्वित्ववाले लिट् लकार के रूप कम मिलते हैं किंतु उनका सर्वथा अभाव नहीं है। प्राचीन गणवाले क्रियारूपों के कई अवशेष मिलते हैं—सुणोति (शौर० सुणदि), करोति (आत्मने० कुब्बते) (शौर० करेदि), ददाति (देति) (शौर० देदि)। 'पालि' में केवल दंत्य 'स' पाया जाता है, 'य' का 'ज' नहीं होता, 'र' कभी कभी 'ल' हो जाता है, पर मागधी की तरह यह परिवर्तन नियमतः नहीं पाया जाता। दंत्य 'न' पाया जाता है और इसका मूर्धन्यीभाव (नतिभाव, ण) बहुत कम मिलता है। स्वरमध्यग व्यंजन प्रायः अपरिवर्तित रहते हैं तथा पैशाची की भाँति सघोष अल्पप्राण ग, द, ब, अघोष अल्पप्राण क, त, प हो जाते हैं। संयुक्ताक्षरों में स्वरभक्ति का अत्यधिक प्रयोग पाया जाता है, उदाहरण के लिये 'आर्य' का पालि रूप 'अय्य' के साथ साथ स्वरभक्ति वाला 'अरिय' भी मिलता है।

'पालि' साहित्य में हम भाषाविकास के क्रम की दृष्टि से चार स्थितियाँ मान सकते हैं—(१) पालि साहित्य की प्राचीनतम छंदोबद्ध गाथाओं में हमें पालि की प्राचीनतम स्थिति मिलती है, इन गाथाओं के साथ संलग्न पालि गद्य बाद का है। (२) इसके बाद की स्थिति में सैद्धांतिक गद्य भाग आते हैं जिनमें पुराना आर्षपन तो दिखाई देता है, पर गाथा की भाषा की अपेक्षा इसमें परवर्ती विकास परिलक्षित होता है। (३) मिलिंदपञ्ह तथा गद्य टीकाओं (अट्ठकथाओं) की भाषा। (४) संस्कृत साहित्य के ढंग पर विरचित परवर्ती काव्यों की भाषा।

(आ) पालि साहित्य—भगवान् बुद्ध के वचनों का संग्रह 'त्रिपिटक' (तिपिटक) के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें 'सूत्रपिटक' (सुतपिटक), 'विनयपिटक' (विनयपिटक) तथा अभिधर्मपिटक (अभिधम्मपिटक) का समावेश होता है। बौद्ध परंपरा के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के कुछ सप्ताह बाद ही ४२८ वि० पू०

[१] डॉ० सु० कु० चाटुर्ज्या : ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव् बेंगाली लैंग्वेज, भा० १, पृ० ५५ तथा परवर्ती।

(४८५ ई० पू०) में बुद्ध के शिष्य स्थविर महाकाश्यप के सदुद्योग से राजगह (राजगृह) में एकत्र हुए तथा उन्होंने धर्म सिद्धांतों तथा 'विनय' की स्थापना के लिये बुद्धवचनों का संग्रह किया। यह संमेलन प्रथम संगीति के नाम से प्रसिद्ध है। प्रो० विंतरनित्स इस परंपरा के अनुसार प्रसिद्ध इस मत को कि सुत्तपिटक तथा विनयपिटक का संकलन पूर्णतः उसी समय हो गया था, पूरी तरह स्वीकार नहीं करते, किंतु वे यह नहीं कहते कि यह जनश्रुति सर्वथा निर्मूल है[१]। दूसरी 'संगीति' इसके लगभग सौ वर्ष बाद वेसाली (वैशाली) में हुई थी। इस संगीति का प्रयोजन विनय के उन दस नियमों की मीमांसा करना था जिनकी अवहेलना कई भिक्षु कर रहे थे। आठ महीने के इस संमेलन में भिक्षुओं ने बौद्ध सिद्धांतों की पुनरावृत्ति की। इससे यह संकेत मिलता है कि इससे पूर्व बौद्ध सिद्धांतों का कोई न कोई निश्चित स्वरूप पिटकादि के रूप में अवश्य रहा होगा[१]। अंतिम संगीति सम्राट् अशोक के समय हुई जिसे कुछ विद्वान् तीसरी तथा कुछ चौथी संगीति मानते हैं। वेसाली तथा अशोक की संगीति के बीच भी एक (तीसरी) संगीति वृजिपुत्र भिक्षुओं ने बुलाई थी, पर वह इतनी प्रसिद्ध नहीं है। अशोक के द्वारा बुद्ध के वचनों का संग्रह करने के लिये आहूत संगीति इतिहास में अत्यधिक प्रसिद्ध है। लंका की बौद्ध परंपरा के अनुसार यही तीसरी संगीति है। सम्राट् अशोक के समय तक बौद्ध भिक्षु अनेक संप्रदाय या वर्गों में विभक्त हो गए थे[२]। बुद्ध के निर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में बौद्ध भिक्षु तिस्स मोग्गलिपुत्त (तिष्य मौद्गलिपुत्र) की मंत्रणा से बौद्ध वचनों की आवृत्ति की गई। तिस्स ने थेरवाद या सद्धर्म के सिद्धांतों का चयन करने के लिये संमेलन बुलाया। इसमें उसने केवल विभज्यवादी (जिस वर्ग को तिस्स मानता था) सिद्धांतों के अनुसार थेरवाद की स्थापना की, तथा अन्य भिक्षुओं को बौद्ध नहीं माना। इसी समय त्रिपिटक का संग्रह हुआ। यही त्रिपिटक सुत्तपिटक, विनयपिटक तथा अभिधम्मपिटक का संग्रह है। 'पालि' साहित्य का प्रमुख अंश यही त्रिपिटक साहित्य है। इसके अतिरिक्त इस पर लिखी गई टीकाओं आदि का साहित्य भी 'पालि' भाषा में है, जो इस सिद्धांत साहित्य से अलग करने के लिये 'अनुपालि' या 'अनुपिटक' साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है।

[१] विंतरनित्स : हि० इं० लि०, पृ० ४।

[२] वही, पृ० ५।

[३] विद्वानों के मतानुसार ये वर्ग संख्या में १८ थे।।देखिए वही, पादटिप्पणी ३, पृ० ५।

[४] वही, पृ० ६।

'त्रिपिटक' सैद्धांतिक साहित्य—बौद्ध लोग त्रिपिटकों में सर्वप्रथम 'विनय-पिटक' की गणना करते हैं। विनयपिटक में तीन प्रकार के ग्रंथ संगृहीत हैं[1]।

(१) **सुत्तविभंग**—यह दो विभागों में है—(१) महाविभंग तथा (२) भिक्खुणीविभंग। महाविभंग में बौद्धभिक्षुओं के आठ प्रकार के उल्लंघनों का तथा भिक्खुणीविभंग में भिक्षुणियों के उल्लंघन का वर्णन किया गया है।

(२) **खंधक**—इसमें दो वर्ग हैं, महावग्ग तथा चुल्लवग्ग। इसमें जीवन के आवश्यक नित्यनैमित्तिक नियमों के पालन का निर्देश है। चुल्लवग्ग में प्रथम दो बौद्ध संगीतियों का विवरण मिलता है।

(३) **परिवार या परिवार पाठ**—इसे किसी सिंहली भिक्षु की परवर्ती रचना माना जाता है। यह १६ भागों में विभक्त है तथा इसे विनयपिटक का परिशिष्ट कहा जा सकता है। इसमें प्रश्नोत्तर रूप पाया जाता है[2]।

विनयपिटक में 'सुत्तविभंग' का अत्यधिक महत्व है तथा इसका मुख्य आधार 'पातिमोक्ख' या प्रातिमोक्ष है। प्रातिमोक्ष को कुछ विद्वान् अलग से सुत्तविभंग का एक अंश मानते हैं पर ये और कुछ नहीं, दोनों विभागों के संक्षिप्त रूप हैं। प्रातिमोक्ष वस्तुतः भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के लिये विनय का पालन करने के नियमों का संग्रह है। 'उपोसथ' के समय भिक्षु इसका पाठ करते थे तथा स्वयं अपने अपने पापों को स्वीकार किया करते थे। आरंभ में इसमें केवल १५२ नियम थे किंतु इन नियमों की संख्या थेरवादियों के पिटकसंग्रह के समय २२७ हो गई[3]।

सुत्तपिटक में पाँच निकायों का संग्रह है—(१) दीघनिकाय, (२) मज्झिमनिकाय, (३) संयुत्त निकाय, (४) अंगुत्तर निकाय, (५) खुद्दक-निकाय। सुत्तपिटक में बौद्ध सिद्धांतों और बुद्ध के प्रारंभिक शिष्यों का वर्णन है। प्रथम चार निकायों में सूत्रों का संग्रह है। दीघनिकाय में ३४ बड़े बड़े सूत्र हैं। मज्झिमनिकाय में मध्यम मान के सूत्र हैं, जिसमें बुद्ध के १५२ संभाषणों और संवादों का सूत्र रूप में संग्रह है। संयुत्तनिकाय में कई तरह के सूत्रों का संग्रह है, इसीलिये इसे 'संयुत्तनिकाय' कहा जाता है। इसमें देवता, मार आदि से संबद्ध अनेक सूत्र हैं। अंगुत्तरनिकाय में प्रायः २३०८ सूत्र हैं जो ११ निपातों में विभक्त हैं। इसमें एक, दो, तीन आदि संख्याओं के सूत्र हैं। खुद्दक में संक्षिप्त सूत्रों का

[1] वही, पृ० २१।
[2] वही, पृ० ३३।
[3] वही, पृ० २३–२४।

संग्रह है जिसमें विविध विषय हैं। यह १५ खुद्दक ग्रंथों का संग्रह है—(१) खुद्दकपाठ, (२) धम्मपद, (३) उदान, (४) इतिवुत्तक (५) सुत्तनिपात, (६) विमानवत्थु, (७) पेतवत्थु, (८) थेरगाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक, (११) निद्देस, (१२) पटिसंभिदामग्ग, (१३) अपादान, (१४) बुद्धवंस, (१५) चरियापिटक। साहित्यिक दृष्टि से बौद्धसाहित्य में खुद्दकनिकाय का अत्यधिक महत्व है। इसी में धम्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा तथा जातक का समावेश होता है जिनको साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

'धम्मपद' में बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का ४२३ छंदों में विस्तृत उल्लेख है। ये छंद २६ वग्गों (वर्गों) में विभक्त हैं। प्रत्येक वर्ग में १० से २० तक छंदों का संग्रह है। धम्मपद के कई छंद अन्य बौद्ध ग्रंथों में उद्धृत मिलते हैं। धम्मपद का बौद्ध धर्म में वही महत्व है जो सनातन ब्राह्मण धर्म में श्रीमद्भगवद्गीता का[१]। धम्मपद के कई पद्य संस्कृत या प्राकृत रूप में तत्कालीन भारतीय साहित्य महाभारत, पंचतंत्र, जैन साहित्य आदि में मिलते हैं। संभवतः धम्मपद तथा इनका मूल स्रोत एक रहा हो। धम्मपद पर महाभारत के कई पद्यों का प्रभाव देखा जा सकता है। *थेरगाथा तथा थेरीगाथा में छंदोबद्ध रचनाएँ हैं जिनमें क्रमशः भिक्षुओं तथा* भिक्षुणियों के चरित्र की प्रशंसा है। थेरगाथा में १०७ कविताएँ हैं जो १२७९ छंदों में हैं, थेरीगाथा में ७३ कविताएँ हैं जो ५२२ छंदों में हैं[२]। इनमें कविताओं के अतिरिक्त कुछ कथाओं का संग्रह भी मिलता है। यह कथासंग्रह अप्रामाणिक माना जाता है। काव्य की दृष्टि से थेरगाथा तथा थेरीगाथा के संग्रह उच्च कोटि के हैं। थेरगाथाओं में अंतर्जगत् के अनुभवों का प्राचुर्य है, जबकि थेरीगाथाओं में भिक्षुणियों की वैयक्तिक तरलता पाई जाती है। इनमें प्रकृति के मनोरम चित्र मिलते हैं। दोनो प्रकार की गाथाओं में धार्मिक आदर्श की प्रतिष्ठापना की गई है तथा नैतिक एवं चारित्रिक बल का परिचय मिलता है। किंतु इनका प्रदर्शन करते समय थेरों तथा थेरियों ने अपने वैयक्तिक अनुभवों की तरलता भर दी है। इनके साहित्यिक सौंदर्य का संकेत करने के लिये एक दो उदाहरण देना अनावश्यक न होगा। कोई ध्यानस्थ भिक्षु कुटी में बैठा है। वर्षा हो रही है। भिक्षु भावतरल होकर गा उठता है :

छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं।
चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवा।
(गाथा १)

[१] वही, पृ० ८१।
[२] भरतसिंह उपाध्याय : पा० सा० इ०, पृ० २७४।

(हे देव, सुखपूर्वक बरसो। मेरी कुटिया छाई है। हवा भीतर नहीं आ पाती, इसलिये कुटिया सुखदायक है। मेरा चित्त समाधि में लीन है, वह कामादि से मुक्त है। हे देव, सुखपूर्वक बरसो।)

एक दूसरा स्थविर वर्षाकालीन प्रकृतिसौंदर्य को देखकर मोहित हो उठता है :

यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मम्॥
(गाथा ३०७)

(जब स्वच्छ श्वेत पंखवाले बगले काले मेघ के भय से अपनी खोह की खोज में उड़ते हैं उस समय बाढ़ में शब्द करती हुई नदी मेरा मन आकर्षित करती है।)

पर ऐसे समय में भी भिक्षु का मन सांसारिक आसक्ति की ओर नहीं दौड़ता। जब मेघ की दुंदुभि गरजती है, आकाश में बादल उमड़-घुमड़कर पक्षियों के मार्ग को रोक लेते हैं तब भिक्षु पहाड़ के ऊपर जाकर समाधि लगाता है, उसे इससे बढ़कर आनंद और कहीं नहीं मिलता :

यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला विहगपथे समन्ततो।
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति ततो रतिं परमतरं न विंदति॥
(गाथा ५२२)

थेरगाथाओं के प्रकृति वर्णन में शुद्ध आलंबनप्रधान प्रकृतिसौंदर्य है जिसका एक रूप हम वाल्मीकि के प्रकृतवर्णन में पाते हैं। बाद के संस्कृत साहित्य में अनाविल अनलंकृत प्रकृतिवर्णन थोड़ा बहुत कालिदास तथा भवभूति में ही मिलता है, अन्य किसी कवि में नहीं। शांत रस के परिपार्श्व में किया गया यह प्रकृति-सौंदर्य-वर्णन निःसंदेह बौद्ध साहित्य की अपूर्व निधियों में से एक है।

थेरीगाथा में इसी प्रकार गीतितत्व की प्रधानता पाई जाती है। भिक्षुणियों की वैयक्तिक भावनाएँ इन गाथाओं को स्वतः कविता बना देती हैं। सीधी सादी अकृत्रिम शैली इन गाथाओं की प्रमुख विशेषता है। वृद्धा बनी हुई भिक्षुणी अंबपाली की गाथा एक ओर युवावस्था के मोहक सौंदर्य तथा दूसरी ओर उसकी नश्वरता का संकेत करती है :

'एक समय था जब भौंरों के समान काली तथा सघन मेरी यह वेणी पुष्पों एवं स्वर्णाभूषणों से सुगंधित तथा अलंकृत रहती थी। आज वही बुढ़ापे में श्वेत, बिखरी हुई, सन के वल्कों की तरह झड़ रही है। सत्यवादी बुद्ध के वचन झूठे नहीं होते। नीलमणि के समान ज्योतिर्मय उज्वल नेत्र आज शोभारहित हैं।

युवावस्था की लंबी नासिका, कर्णयुगल और कदलीमुकुल के सदृश दंतपंक्ति अब जर्जर तथा भग्न हो गई है। कोयल के समान मधुर स्वर तथा शंख के समान सुडौल ग्रीवा काँप रही है। यौवन में स्वर्णाभूषणों से युक्त अंगुलियाँ आज अशक्त हैं और वे उन्नत स्तन आज ढुलक कर चर्ममात्र रह गए हैं। स्वर्णनूपुरों से छुनछुनाते चरण और मेखलादि से अलंकृत कटिप्रदेश आज श्रीविहीन हैं[१]।'

भिक्षुणी अंबपाली का यह उद्‌गार निःसंदेह काव्योचित उदात्तता से समवेत है। इसकी शैली भिक्षुओं के उद्‌गारों से अधिक अलंकृत तथा कल्पनामंडित है। अंबपाली के अतिरिक्त अन्य कई भिक्षुणियों की गाथाएँ काव्य की दृष्टि से उत्तम हैं।

जातक—बौद्ध साहित्य में 'जातक' का विशेष स्थान है। 'जातक' शब्द का अर्थ है 'जन्म से संबंध रखनेवाला'। इसके अंतर्गत भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ हैं।

जातकों में बोधिसत्व या तो कथा के नायक या कथा की घटना के गौण पात्र या दर्शक के रूप में उपस्थित होते हैं। प्रत्येक जातककथा का कोई न कोई पात्र बोधिसत्व होता है। सभी जातककथाएँ प्रायः एक ही ढंग से आरंभ होती हैं—'एक समय (जब राजा ब्रह्मदत्त वाराणसी में राज्य करते थे) बोधिसत्व अमुक (कुरंगादि) योनि में उत्पन्न हुए अथवा वे अमुक ब्राह्मण या ब्रह्मदत्त के अमुक अमात्य थे।' इसके बाद मुख्य कथा होती है। अंत में कथा का मेल बोधिसत्व से बिठाया जाता है। इस ढंग से किसी भी लोककथा को मजे से 'जातक' का रूप दिया जा सकता था[२]। जातकों का जो रूप हमें उपलब्ध है वह मूल जातकमात्र न होकर उसकी व्याख्या या टीका 'जातकत्थवण्णना' से संवलित है।

जातकों का उपलब्ध रूप गद्य-पद्य-मिश्रित है। इनमें पद्यभाग या गाथाओं की भाषा गद्यभाग की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा आर्ष है। इसीलिये कई विद्वान् तो कुछ गाथाओं को रामायण के रचनाकाल से भी पुरानी मानते हैं। वस्तुतः इनमें कतिपय गाथाएँ लोककथा के अंश रूप में रही होंगी। किंतु सभी गाथाएँ एक ही काल की रचना नहीं हैं। इनमें कुछ गाथाएँ परवर्ती भी हैं; हाँ, वे गद्य की अपेक्षा अवश्य प्राचीन हैं। जहाँ तक गद्यभाषा का प्रश्न है, गद्यभाग भी एक काल का नहीं जान पड़ता। कुछ गद्यभाग का विषय वि० पू० दूसरी तथा तीसरी शती का माना जा सकता है क्योंकि 'जातकों' के गद्यभाग में वर्णित कई घटनाएँ

१ थेरीगाथा, ६६।

२ विंटरनित्स : हि० इं० लि०, पृ० ११३–१४।

भरहुत तथा साँची के स्तूपों की शिलाभित्तियों पर उत्कीर्ण हैं। बुद्ध की जातककथाओं में से कई निःसंदेह इतनी पुरानी हैं किंतु कतिपय आख्यान बाद में भी जोड़ दिए गए होंगे। जातक के गद्यभाग की रचना कब हुई, किसने की, इसके विषय में दो मत हैं। 'गंधवंस' के अनुसार गद्यभाग (जातकट्ठवरणना) बुद्धघोष की रचना है। किंतु यह मत संदिग्ध है। रीज डेविड्ज ने इसे बुद्धघोष की रचना या संकलन नहीं माना है[1]।

जातकों की उपलब्ध संख्या ५४७ है, किंतु चुल्लनिद्देश में केवल ५०० ही जातक माने गए हैं[2]। इनमें भी कई जातक अल्प रूपांतर के साथ दो जगह भी पाए जाते हैं या एक दूसरे में समाविष्ट हो गए हैं। कुछ जातककथाएँ सुत्तपिटक, विनयपिटक या अन्य पालि ग्रंथों में मिलती हैं, पर उपलब्ध जातककथाओं में संगृहीत नहीं हैं। कई जगह एक ही जातक में अनेक अवांतर कथाएँ भी पाई जाती हैं तथा कुल मिलाकर 'जातक' में लगभग तीन हजार कहानियाँ हैं।[3]

जातक साहित्य ऐसा बौद्ध सैद्धांतिक (केनानिकल) साहित्य है जिसका बौद्धों के समस्त वर्ग तथा संप्रदाय समान रूप से आदर करते हैं। हीनयान तथा महायान दोनों संप्रदायों में उसका समान महत्व है। जहाँ तक जातकों के साहित्यिक महत्व का प्रश्न है, इन्होंने भारतीय कथासाहित्य को प्रभावित किया है। संस्कृत, प्राकृत तथा जैन प्राकृत के कथासाहित्य पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जातककथाओं का प्रभाव पड़ा है। बृहत्तर भारत—बर्मा, स्याम, लंका, तिब्बत—यहाँ तक कि चीन तथा जापान के साहित्य को भी बौद्ध जातककथाओं ने प्रभावित किया है।[4] ये ही कथाएँ ईरान, अरब होती हुई युरोप तक फैल गई हैं। साहित्य के अतिरिक्त जातककथाओं ने स्थापत्यकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला को भी विकसित किया है। वि० पू० तीसरी तथा दूसरी शती के भरहुत तथा साँची स्तूपों की वेदिकाओं पर कई जातक कथाएँ उत्कीर्ण हैं। इसके पश्चात् अमरावती और अजंता की गुफाओं में भी इनका प्रभाव देखा जा सकता है। साहित्यिक तथा कलात्मक महत्व के अतिरिक्त जातकों का सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्व है। कुछ विद्वानों ने तो इनमें बुद्धकालीन भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की झाँकी देखने की चेष्टा की है। किंतु जातकों में बुद्धकालीन भारत का समाज इतना प्रतिबिंबित नहीं जान पड़ता जितना दो तीन शती बाद का। वि० पू० तीसरी शती से लेकर विक्रम की तीसरी-चौथी शती

१ भरतसिंह उपाध्याय : पा० सा० इ०, पृ० २८१।
२ विंटरनित्स : हि० इं० लि०, पृ० १२४, पाद टिप्पणी १।
३ उपाध्याय : पा० सा० इ०, पृ० २७५।
४ वही, पृ० १५४-५५।

तक के भारत की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अवस्था का पता जातक-कथाओं से लग सकता है।

अभिधम्मपिटक—'अभिधम्म' का अर्थ 'उच्च धर्म' है; दूसरे शब्दों में इसका अर्थ 'दर्शन' है। इसमें बौद्ध धर्म का दार्शनिक पक्ष है। इसमें धम्मसंगणि, विभंग, कथावत्थु, पुग्गल पंचति, धातुकथा, यमक, पट्ठानप्पकरण (महापट्ठान) ये सात ग्रंथ हैं। बौद्ध दर्शन को समझने के लिये यह पिटक अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसके कई ग्रंथ अत्यधिक रूखे, पंडिताउपन से भरे तथा क्लिष्ट हैं।

अनुपालि या अनुपिटक साहित्य—इस साहित्य का अधिकांश लंका के सिंहली विद्वानों ने लिखा है। वहाँ बहुत बाद तक, विक्रम की १५ वीं–१६ वीं शती तक, पालि साहित्य की रचना होती रही है। अनुपालि साहित्य का एक प्रमुख ग्रंथ, जो लंका में नहीं लिखा गया, **मिलिंदपञ्हो** है। इसमें यवन राजा मिलिंद तथा बौद्ध भिक्षु नागसेन का संवाद है, जिसमें बौद्ध दार्शनिक विचारों के अनुसार तत्वमीमासा है। विंटरनित्स ने इसकी तुलना 'डायलॉग्स आव् प्लेटो' से की है। दूसरा ग्रंथ **नेत्तिप्पकरण** (नेत्तिगंध या नेति) है, जिसमें बुद्ध की शिक्षाओं का विवरण है। इसके रचयिता महाकच्चायन (महाकात्यायन) माने जाते हैं। सिंहली विद्वानो ने पालि में अनेक ग्रंथों की रचना की है तथा उन सबमें महत्वपूर्ण रचना अट्ठकथाएँ हैं। पालि का परवर्ती साहित्य प्रायः शुद्ध धार्मिक है, किंतु कुछ कृतियाँ साहित्यिक महत्व की भी हैं। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के वैदेहस्थविर की **'रसवाहिनी'** एक सुंदर आख्यानकाव्य है। रसवाहिनी मूलतः सिंहली भाषा की रचना थी जिसका पालि रूपांतर वैदेह स्थविर ने किया है। वैदेहस्थविर ने **'समंत-कूटवरणना'** नामक काव्य भी लिखा है।

पालि में धार्मिक तथा साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त व्याकरण, कोष तथा छंदःशास्त्र के ग्रंथ भी लिखे गए। पालि का प्राचीनतम व्याकरण **कच्चानव्याकरण** (कात्यायनव्याकरण) है। इन कात्यायन का बुद्ध के शिष्य महाकात्यायन से अथवा पाणिनि सूत्रों के वार्तिककार कात्यायन से कोई संबंध नहीं है। नेत्तिप्पकरण के लेखक कात्यायन से भी ये भिन्न जान पड़ते हैं। कच्चानव्याकरण पर पाणिनि व्याकरण तथा वामन की काशिकावृत्ति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। कच्चानव्याकरण विक्रम की सातवीं-आठवीं शती से पुराना नहीं जान पड़ता। इसका महत्वपूर्ण भाष्य आचार्य विमलबुद्धि का 'न्यास' है। पालि में अन्य कई व्याकरण ग्रंथ लिखे गए पर उन सबका आधार कात्यायन का व्याकरण ही है। कात्यायन के अतिरिक्त मौग्गल्लायन का **पालिव्याकरण** भी अत्यधिक मान्य व्याकरणग्रंथ है। लंका तथा बर्मा में इस व्याकरण का विशेष आदर है। **मोग्गलायनव्याकरण** कच्चानव्याकरण की भाँति प्राचीन नहीं है, पर उससे अधिक पूर्ण तथा सुव्यवस्थित

है। मोग्गलायन सिंहली थे तथा अनुराधपुर के धूपाराम विहार के महाथेर थे। उन्होंने अपना व्याकरण परक्कमभुज (१२१०-१२४३ वि०) के शासनकाल में लिखा था। अर्वाचीन पालि व्याकरणों में भिक्षु जगदीश काश्यप का 'पालि महाव्याकरण' उल्लेखनीय है। पालिकोशों में मोग्गल्लायन की 'अभिधानप्पदीपिका' तथा बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति का 'एकक्खरकोस' अत्यधिक प्रसिद्ध है। अभिधानप्पदीपिका की रचना में मोग्गल्लायन का आदर्श संस्कृत का 'अमरकोश' रहा है। ये वही मोग्गल्लायन हैं जिनके व्याकरण का संकेत ऊपर किया जा चुका है। पालि में छंदःशास्त्र संबंधी ग्रंथ बहुत कम हैं। इनमें मुख्य 'वृत्तोदय' है। 'वृत्तोदय' की रचना सिंहली भिक्षु स्थविर संघरक्खित ने की है। पालि में भी एक काव्यशास्त्र-संबंधी ग्रंथ मिलता है। यह भी उन्हीं स्थविर संघरक्खित की रचना 'सुबोधालंकार' है।

(आ) जैन धार्मिक साहित्य—जैन धार्मिक साहित्य भी बौद्ध धार्मिक साहित्य की भाँति अत्यधिक समृद्ध है। बौद्ध साहित्य की भाँति ही इसे भी दो तरह का माना जा सकता है—(१) सिद्धांत साहित्य (केनानिकल लिटरेचर) तथा (२) सिद्धांतेतर साहित्य (नॉन-केनानिकल लिटरेचर)। बौद्धों की अपेक्षा जैनों का सिद्धांतेतर प्राकृत साहित्य साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्व का है। वैसे तो जिस प्रकार बौद्धों का प्राकृत साहित्य 'पालि' भाषा में लिखा गया है, वैसे जैनों का प्राकृत साहित्य अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत से संबद्ध माना जाता है। किंतु जैन विद्वानों ने अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत के अतिरिक्त महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत में भी रचनाएँ की हैं। महाराष्ट्री तथा शौरसेनी का जो रूप हमें जैन ग्रंथों में मिलता है वह परिनिष्ठित प्राकृत साहित्य की महाराष्ट्री-शौरसेनी से कुछ भिन्न है, इसलिये विद्वानों ने इन्हें जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी कहा है। प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी जैन विद्वानों एवं कवियों ने कई रचनाएँ निबद्ध की हैं। अपभ्रंश साहित्य की जो विशाल समृद्धि हुई उसका श्रेय अधिकतर जैन कवियों को ही दिया जाता है। पर जैन विद्वानों ने अपने सिद्धांत साहित्य तथा सिद्धांतेतर साहित्य दोनों के लिये आर्ष प्राकृत का प्रयोग नहीं किया है। उनका सिद्धांत-साहित्य अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत में मिलता है तथा सिद्धांतेतर साहित्य जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी तथा अपभ्रंश में।

अर्धमागधी—जैन-सिद्धांत-साहित्य की भाषा अर्धमागधी या आर्ष भाषा है। कहा जाता है कि स्वयं भगवान् महावीर ने इसी भाषा में उपदेश दिया था[1]।

[1] भगवं च णं अद्धमागहीये भासाये धम्मं आइक्खइं सा वियणं अद्धमागही भासा। समवायंगसुत्त ।

अर्धमागधी के गद्यभाग तथा पद्यभाग की भाषा में कुछ भेद दिखाई देता है। पालि साहित्य की भाँति अर्धमागधी के पद्यभाग की भाषा भी अधिक प्राचीन तथा आर्ष है। इसका अत्यधिक प्राचीन रूप आयारंगसुत्त, सूयगडंगसुत्त, तथा उत्तरज्झयण में मिलता है। अर्धमागधी रूप सिद्धांतेतर साहित्य की भाषा जैन महाराष्ट्री से सर्वथा भिन्न है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अर्धमागधी मागधी से सर्वथा भिन्न है तथा वह उसके नियमों का पूरी तरह पालन नहीं करती। अभयदेव ने बताया है कि अर्धमागधी में मागधी के लक्षण पूरी तरह नहीं मिलते। अर्धमागधी में 'र', 'स' ध्वनियाँ पाई जाती हैं, मागधी में इनके स्थान पर 'ल' तथा 'श' होता है[१]। मागधी में प्रथमा एकवचन में 'ए' विभक्तिचिह्न मिलता है, किंतु अर्धमागधी में 'ए' तथा 'ओ' दोनों रूप मिलते हैं। पिछला रूप महाराष्ट्री में मिलता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में अर्धमागधी को अलग भाषा कहा है[२] तथा बाद में विश्वनाथ ने इसे चरो, राजपुत्रों तथा सेठों की भाषा कहा है[३]। मुद्राराक्षस का जीवसिद्धि क्षपणक तथा प्रबोधचंद्रोदय के कुछ पात्र अर्धमागधी बोलते हैं। इसके भी पूर्व भास के कर्णभार नाटक में इंद्र अर्धमागधी बोलता पाया जाता है। अर्धमागधी प्राकृत के मुख्य भाषावैज्ञानिक लक्षण निम्नांकित हैं :

१—इसमें महाराष्ट्री की भाँति र-स ध्वनियाँ मिलती हैं, मागधी की तरह ल-श नहीं।

२—संयुक्त व्यंजन के पूर्व का स्वर दीर्घ बनाकर उसके एक व्यंजन का लोप होता है, जैसे वास (वस्स, वर्ष)।

३—व्यंजनों का लोप कर 'य' अपश्रुति का प्रयोग मिलता है—ठिय (स्थित), सायर (सागर)।

४—क के स्थान पर ग का प्रयोग मिलता है असोग (अशोक), सावग (श्रावक)।

५—प्रथमा एकवचन में मागधी की तरह 'ए' रूप मिलते हैं—सावके (श्रावकः), भदन्ते। किंतु इसके साथ 'ओ' वाले रूप भी मिलते हैं—समणो (श्रमणः)।

६—त्वा, ल्यप् के स्थान पर इतु (टु) प्रत्यय मिलता है—सुणित्तु (श्रुत्वा), जाणित्तु (ज्ञात्वा), कट्टु (कृत्वा) अवहट्टु (अपहृत्य)।

१ अर्धमागधी भाषा यस्यां रसौ, लशौ मागध्यामित्यादिकं मागधभाषालक्षणं परिपूर्णं नास्ति। समवायंगसुत्त टीका।

२ भरत : ना० शा०, १८. ३८।

३ सा० द०, षष्ठ परिच्छेद।

अर्धमागधी में उपलब्ध जैन-सिद्धांत-साहित्य श्वेतांबर जैनियों के अनुसार निम्नोक्त है—

१—द्वादश अंग—(१) आयारंग, (२) सूयगडंग, (३) ठाणंग, (४) समवायंग, (५) वियाहपण्णत्ति, (६) नायाधम्मकहाओ, (७) उवासगदसाओ, (८) अंतगदसाओ, (९) अणुत्तरोववाइयदसाओ, (१०) पण्हावागरणाई, (११) विवागसुय, (१२) दिट्ठिवाय।

२—द्वादश उपांग—(१) उपवाइय, (२) रायपसेणइज, (३) जीवाभिगम, (४) पन्नवणा, (५) सूरपण्णति, (६) जंबूदीवपण्णति, (७) चंदपण्णत्ति, (८) निरयावली, (९) कप्पवडिंसियाओ, (१०) पुप्फिआओ, (११) पुप्फचूलाओ, (१२) वण्हिदसाओ।

३—दस पइण्ण—(प्रकीर्णक) (१) चउसरण, (२) भत्तपरिण्णा, (३) संथार, (४) आउरपचक्खाण, (५) महापच्चक्खाण, (६) चंदविज्झय, (७) गणिविज्जा, (८) तंदुलवेयालिय, (९) देविंदत्थय, (१०) वीरत्थय।

४—छः छेयसुत्त—(छेदसूत्र) (१) आयारदसाओ, (२) कप्प (बृहत्कल्प), (३) ववहार, (४) निसीह, (५) महानिसीह, (६) पंचकप्प। अंतिम पंचकप्प के स्थान पर जिनभद्ररचित जीयकप्प को छठा सूत्र माना जाता है।

५—चार मूलसूत्र—(१) उत्तरज्झाय या उत्तरज्झयण, (२) दसवेयालिय, (३) आवस्सयनिज्जुत्ति, (४) छनिज्जुत्ति।

६—दो अन्य ग्रंथ ये हैं—नंदीसुत्त तथा अणुयोगदाराइं[1]।

उपर्युक्त जैन सिद्धांतग्रंथों में बारहवाँ अंग लुप्त हो चुका है, इसलिये जैन सिद्धात में ४५ ग्रंथ हैं। वैसे सिद्धांतग्रंथों की संख्या परंपरा के अनुसार ५० के लगभग है। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार महावीर ने मूल सिद्धातों के १४ पूर्वों (पुव्वों) को गणधर को उपदिष्ट किया था। किंतु यह उपदेश लुप्त हो गया। चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में एक संमेलन बुलाकर ग्यारहों अंगों का संग्रह किया। इसी समय स्थूलभद्र तथा भद्रबाहु के अनुयायियों

[1] विंतरनित्स : हि० ६० लि०, भा० २, पृ० ४२८–४३०।

में मतभेद हुआ तथा क्रमशः दिगंबर एवं श्वेतांबर संप्रदायभेद की नींव पड़ी[१]। इसके बाद विक्रम की छठी शती में एक संमेलन वलभी में हुआ। इस समय देवर्द्धिगणिन् (देवड्ढि) के नेतृत्व में सिद्धांतग्रंथों का संकलन किया गया। वलभी संमेलन के बाद अर्धमागधी साहित्यिक रचनाओं की भाषा न रही। छठी शती के बाद की जैन रचनाएँ संस्कृत, जैन महाराष्ट्री या अपभ्रंश में मिलती हैं[२]।

जैन महाराष्ट्री—जैन सिद्धांतेतर साहित्य जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी में मिलता है। जैन महाराष्ट्री में श्वेतांबर संप्रदाय का साहित्य मिलता है। महाराष्ट्री के परिनिष्ठित रूप से इसका केवल यही भेद है कि इसमें 'य' श्रुति का अत्यधिक प्रयोग पाया जाता है जो परिनिष्ठित महाराष्ट्री में नहीं पाया जाता। इस भाषा को यह नाम सर्वप्रथम हर्मन याकोबी ने कुछ जैन महाराष्ट्री कथाओं के संग्रह का संपादन करते समय दिया था। इस भाषा में कुछ काव्य तथा कथा-साहित्य उपलब्ध हैं। ये कहानियाँ धार्मिक प्रचार के लिये प्रयुक्त होती थीं। जैन महाराष्ट्री की प्राचीनतम साहित्यिक रचना विमल सूरि का **'पउमचरिय'** है। विमल सूरि के समय के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। विमल सूरि के अनुसार उन्होंने 'पउमचरिय' की रचना महावीर स्वामी के निर्वाण के ५३० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ६० के लगभग की थी[३]। जैन परंपरा के विद्वान् इसे इसी काल की रचना मानते हैं। किंतु डा० कीथ, डा० वूलनर तथा अन्य विद्वान् इसे विक्रम की तीसरी शती की रचना मानते हैं। डा० याकोबी भाषावैज्ञानिक आधार पर इसे विक्रम की चौथी-पाँचवीं शती से पुरानी कृति नहीं मानते[४]। भाषाशैली के आधार पर 'पउमचरिय' विक्रम की तीसरी शती से पूर्व की रचना कथमपि नहीं हो सकती। संभवतः इसपर संस्कृत के **'अंक'** काव्यों की परंपरा का प्रभाव हो। स्मरण होना चाहिए कि संस्कृत अंक काव्यों में प्रथम काव्य भारवि का किरातार्जुनीय है जो 'लक्ष्म्यंक' काव्य है। पउमचरिय के भी प्रत्येक उद्देस (सर्ग) के अंत में 'विमल' शब्द का प्रयोग मिलता है तथा यह 'विमलांक' काव्य कहलाता है। जो कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि पउमचरिय रविषेण के संस्कृत पद्मचरित से पुराना है जिसकी रचना वि० सं० ६३४ के लगभग मानी जाती है। ऐसा अनुमान

१ वही, पृ० ४३१-४३२।

२ कटरे : प्राकृत लैंग्वेज ऐंड देयर कांट्रिब्यूशन टु इंडियन कल्चर, पृ० १८।

३ पंचेव वाससया दुसमाए तीसवरसंजुत्ता।
वीरे सिद्धमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ १०३।

४ इन नाना मतों के लिये देखिए—नाथूराम प्रेमी : जै० सा० इ०, पृ० २७६।

होता है कि 'पउमचरिय' रविषेण की कृति से दो सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं हो सकता। इस प्रकार हमें डा० हर्मन याकोबी का मत ही विशेष समीचीन तथा वैज्ञानिक जान पड़ता है।

'पउमचरिय' जैन महाराष्ट्री में लिखा जैन पुराणों के ढंग का महाकाव्य है। इसमें ११८ उद्देस (उद्देश) या पव्वं (पर्व) हैं जो संस्कृत में सर्ग कहलाते हैं। इस महाकाव्य में जैन मत के अनुसार पद्म या भगवान् राम की कहानी कही गई है। विमलसूरि पउमचरिय में वाल्मीकि रामायण के मार्ग पर नहीं चलते, अपितु वे वाल्मीकि की कथा को झूठी सिद्ध करने के लिये जैन परंपरा की रामकथा का पल्लवन करते हैं। राजा श्रेणिक (सेणिय) महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम (गोयम) से रामकथा जानना चाहता है तथा गोयम रामकथा का वर्णन करते हैं। जैनियों की रामकथा ब्राह्मण रामकथा से कुछ भिन्न है तथा उसमें भी दो तरह की रामकथाएँ पाई जाती हैं। जैन रामकथा के इन दोनों रूपों का उल्लेख अपभ्रंश रामकथाओ के संबंध में अगले अध्याय मे किया जायगा जो वहीं द्रष्टव्य है। पउमचरिय की शैली परवर्ती संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश काव्यों की तरह अत्यधिक अलंकृत तथा कृत्रिम नहीं है। इसकी शैली पुराणों की सरल शैली सी है। समस्त काव्य गाहा (आर्या) छंदों में निबद्ध है, किंतु यत्रतत्र कुछ वर्णिक वृत्त भी मिल जाते हैं। पउमचरिय की शैली निम्नोक्त दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी :

किर रावणस्स भाया महाबलो नाम कुंभकण्णो त्ति।
छम्मासं विगयभयो सेज्जासु निरंतरं सुयइ॥
जइ वियएसु अंगं पेल्लिज्जइ गुरुयपव्वयसमेसु।
तेल्लघडेसु य कण्णा पूरिज्जंते सुयंतस्स॥
पडुपडहतूरसद्दं ण सुणइ सो सम्मुहं पि वज्जंतं।
नय उट्ठेइ महप्पा सेज्जाए अपुण्णकालम्मि॥
(२।१०८-११०)

(उस रावण का भाई महाबली कुंभकर्ण था। जो निर्भय होकर छः महीने निरंतर शय्या पर सोता था। यदि उसका अंग महान् पर्वतों के समान हाथियों से कुचल दिया जाय, या उसके कानों में तेल के घड़ों से तेल भर दिया जाय, या उसके संमुख नक्कारे और तुरही का शब्द किया जाय, तब भी वह महात्मा नींद पूरी न होने तक सेज से उठते ही नहीं थे।)

एवं भवंतरकएण तवोबलेण,
पावंति देवमणुएसु महंत सोक्खं।
को एत्थ दड्ढनीसेसकसायमोहा
सिद्धा भवंति विमला मलपंकमुक्का॥
(५।२७१)

(इस प्रकार पूर्व जन्म में किए तपोबल (कर्म) के कारण व्यक्ति देवताओं और मनुष्यों में महान् सुख प्राप्त करते हैं। इनमें कोई अपूर्व तपोबलवाले व्यक्ति ही अपने निःशेष कषाय तथा मोह को दग्ध करके मलपंक (रागादि) से मुक्त तथा निर्मल होकर सिद्धत्व प्राप्त करते हैं।)

जैन महाराष्ट्री में चूर्णिकाएँ और कथासाहित्य भी उपलब्ध होता है। प्राचीन कथाओं में संघदास की 'वासुदेवहिंडी' का नाम लिया जा सकता है जिसमें जैन महाराष्ट्री का प्राचीन रूप मिलता है। इसका प्रयोग 'समराइच्चकहा' के *पद्यभाग में भी मिलता है। समराइच्चकहा के गद्यभाग में शौरसेनी का प्रभाव* अधिक पाया जाता है। इसका पद्यभाग प्रायः गाथा (आर्या) छंद में है। इसकी शैली सरल तथा स्वाभाविक है, बाण या सुबंधु की तरह अत्यधिक कृत्रिम नहीं है, फिर भी वर्णनों में लंबे समासात पद तथा अलंकृत भाषा का अस्तित्व इस बात का संकेत करता है कि लेखक हरिभद्र (वि० आठवीं शती) अलंकृत काव्यशैली से पूर्णतः परिचित था। हरिभद्र ने इसे 'धर्मकथा' कहा है। 'समराइच्चकहा' केवल इसीलिये 'धर्मकथा' नहीं है कि इसके नायक नायिकाएँ जीवन का अनुभव प्राप्त करने के बाद संन्यस्त होकर जिनशासनानुसार जीवन व्यतीत करते हैं, अपितु इसलिये भी कि लेखक ने स्थान स्थान पर मूलकथा तथा वर्णनों में जैन सिद्धांतों के अनुसार कर्मादि का संकेत कर उपदेश देने की चेष्टा की है। समराइच्चकहा की मूल कथा में कई छोटी कहानियाँ भी अनुस्यूत हैं जिनका मूल उद्गम लोककथाएँ ही जान पड़ती हैं। समराइच्चकहा की शैली का एक नमूना यह है :

'अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे अवरविदेहे खेत्ते अपरिमियगुणनिहाणं तियसपुरवराणुगारि उज्जाणारामभूसियं समत्थमेइणितिलयभूयं जयउरं नाम नयरं त्ति जत्थ सुरूवो उज्जलनेवत्थो कलावियक्खणो लज्जालुओ महिलायणो जत्थ य परदारपरिभोयंमि भूओ, परदव्वावहरणंमि संकुचियहत्थो परोपयारकरणेकतच्छिल्लो पुरिसवग्गो।'

(इस जंबूद्वीप नामक द्वीप में अपर विदेह क्षेत्र में अपरिमित गुणों की खान, देवनगरी के समान वाटिका आदि से भूषित, समस्त पृथ्वी का तिलकभूत जयपुर नामक नगर है जहाँ सुंदर रूपवाली, उज्ज्वल वेशभूषावाली, कलाविचक्षण, लज्जाशील महिलाएँ तथा परदारभोग में नपुंसक, परद्रव्यापहरण में संकुचितहस्त, परोपकार करने में कुशल पुरुष रहते हैं।)

समराइच्चकहा के पूर्व भी इस प्रकार का कथासाहित्य रहा होगा। पालित्त (पादलिप्त) की 'तरंगवती' नामक प्राकृत कथा का उल्लेख कई स्थानों में मिलता है। इसका एक संक्षिप्त रूप प्राकृत छंदोबद्ध रचना 'तरंगलोला' के रूप में उपलब्ध है। यह रचना विक्रम की चौदहवीं शती के लगभग की है। मूल 'तरंगवती' के लेखक पालित्त का समय जर्मन विद्वान् लेमान ने विक्रम की

तीसरी शती के लगभग माना है[1]। इसी संबंध में उदयन की 'कुवलयमाला' का भी नाम लिया जा सकता है जो विक्रम की आठवीं शती की रचना है। अपभ्रंश-काल में भी इस प्रकार की धार्मिक कथाएँ लिखी जाती रही हैं। इनमें से कई कथाएँ पद्यबद्ध हैं, जैसे अपभ्रंश कवि धणवाल की भविसयत्तकहा। जैन महाराष्ट्री प्राकृत की रचनाएँ बहुत बाद तक लिखी जाती रही हैं। कथासाहित्य के अतिरिक्त जैन महाराष्ट्री का कुछ स्तुतिसाहित्य या स्तोत्रसाहित्य भी मिलता है। इनमें प्रमुख **महावीरस्तव** तथा षड्भाषाविभूषित **शांतिनाथस्तव** हैं। इनमें चित्रकाव्यों की शैली का प्रभाव पाया जाता है। महावीरस्तव में यमक का प्रचुर प्रयोग है तथा दूसरी कृति में भाषाश्लेष का चमत्कार पाया जाता है। इस संबंध में कालकाचार्य-कथानक का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा, जो स्तुति के रूप में जिनपूजा के बाद पढ़ा जाता है। इसके अतिरिक्त 'ऋषभपंचाशिका' तथा 'द्वारवतीकथा' भी जैन महाराष्ट्री के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

जैन शौरसेनी—जैन शौरसेनी में दिगंबर संप्रदाय के कुछ धार्मिक ग्रंथ मिलते हैं। इस भाषा में शौरसेनी की प्रमुख विशेषताएँ (यथा, संस्कृत के स्वरमध्यग दंत्य त, थ का सघोषीभूत, द ध रूप) मिलती हैं तथा इसके अतिरिक्त श्वेतांबर धार्मिक ग्रंथों की भाषा अर्धमागधी का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। इस भाषा में साहित्य पर्याप्त मात्रा में रहा होगा तथा यह गवेषणा के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस भाषा को दिगंबरी नाम भी दिया है किंतु यह नाम ऐतिहासिक, भौगोलिक या भाषावैज्ञानिक विशेषता का संकेत न करने के कारण उचित नहीं जान पड़ता।

जैन शौरसेनी की प्राचीनतम रचना कुंदकुंदाचार्य (विक्रम की प्रथम शताब्दी) का 'पवयणसार' है। कुंदकुंद के पश्चात् भी इसमें कई रचनाएँ हुई हैं, किंतु वे अब तक पूर्णतः प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। पिशेल तथा डब्ल्यू॰ डेनेक ने पवयणसार के अतिरिक्त जिन रचनाओं का उल्लेख किया है वे हैं—वट्टकेराचार्य का **मूलाचार**, कार्तिकेय स्वामी की **कत्तिगेयणुपेक्खा** और कुंदकुंदाचार्य का **छप्पाहुड**, **समयसार** तथा **पंचत्थिकाय**।

दिगंबर संप्रदाय के धार्मिक ग्रंथ, जो प्रधानतः जैन शौरसेनी में लिखे गए थे, विक्रम की प्रथम शताब्दी से ही लिखे जाते रहे होंगे किंतु जिस रूप में उनकी भाषा मिलती है वह इतनी पुरानी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की विशेषताओं का संकेत नहीं करती। साथ ही इस भाषा की सुसंपादित रचनाओं के अभाव में इस

[1] विंटरनित्स : हि० इं० लि०, भा० २, पृ० ५२२, पाद टि० १।

विभाषा का मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा में क्या स्थान है, यह कहना बहुत कठिन है। इस भाषा पर संस्कृत तथा अर्धमागधी का अत्यधिक प्रभाव देखा जाता है तथा अन्य प्राकृतों की अपेक्षा देशी तत्व कम पाए जाते हैं। जैन शौरसेनी का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :

> जावण वेदि विसेसं तरं तु आदासवाण दोह्नं पि ।
> अण्णाणी ताव दु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥
> कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
> जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥
> (समयसार, १. ७४–७५)

(जब तक जीव अपने तथा आस्रव दोनों के विशेष भेद को नहीं जान पाता तब तक वह अज्ञानी बना रहता है तथा क्रोधादि कषायों में लिप्त रहता है। क्रोधादि में लिप्त रहने के कारण उसमें कर्मों का संचय होता रहता है। इस प्रकार जीव बंध में (फँसता) रहता है, ऐसा सर्वदर्शी विद्वानों ने कहा है।)

(४) साहित्यिक या परिनिष्ठित प्राकृत

प्राकृत वैयाकरणों ने चार प्रमुख प्राकृतें मानी हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची। इनमें भी साहित्यिक प्राकृत महाराष्ट्री का परिनिष्ठित रूप ही मानी जाती रही है। महाराष्ट्री प्राकृत उस काल में समस्त आविंध्यहिमाचल भारत की राष्ट्रभाषा सी मानी जा सकती है। दंडी ने तो महाराष्ट्री को ही प्रकृष्ट प्राकृत कहा था। जब हम शुद्ध प्राकृत साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि प्रायः सब उपलब्ध कृतियाँ, जो (नाटकों की प्राकृत को छोड़कर) संख्या में आधे दर्जन से अधिक नहीं हैं महाराष्ट्री प्राकृत की ही हैं। शौरसेनी तथा मागधी की किसी स्वतंत्र शुद्ध साहित्यिक कृति का नाम नहीं सुना जाता। पैशाची में गुणाढ्य की 'वड्डकहा' का नाम बड़ा प्रसिद्ध है, किंतु वह ग्रंथ आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है, उसका संकेत भर अन्य ग्रंथों में मिलता है। फिर भी इतना निश्चित है कि पैशाची भी साहित्यिक प्राकृत के रूप में रही होगी। यहाँ हम महाराष्ट्री तथा पैशाची के शुद्ध साहित्य का संकेत करेंगे।

महाराष्ट्री की भाषावैज्ञानिक विशेषताओं का संकेत हम कर चुके हैं। विद्वानों का मत है कि महाराष्ट्री तथा शौरसेनी वस्तुतः दो भाषाएँ न होकर एक ही भाषा की दो शैलियाँ थीं। मध्यदेशीय प्राकृत की गद्यशैली शौरसेनी है, उसकी पद्यशैली महाराष्ट्री। नाटकों में हम देखते हैं कि पद्यभाग तथा गीतों की भाषा यही महाराष्ट्री होती है। महाराष्ट्री में मुक्तक कविताएँ तथा लोकगीत अत्यधिक प्रचलित थे तथा इन्हीं मुक्तकों में से कुछ का संग्रह हमें हाल की सत्तसई में मिलता है जो

महाराष्ट्री की प्राचीनतम कृति मानी जाती है। हाल के समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परंपरा के अनुसार ये वही शातवाहन हैं, जो विक्रम की प्रथम शती में आंध्र के राजा थे। हाल शातवाहन ने ही महाराष्ट्र में प्रचलित मुक्तकों का संग्रह सत्तसई में किया था। किंतु उपलब्ध गाथासप्तशती की भाषा का काल विक्रम की दूसरी शती से लेकर पाँचवी शती के बीच जान पड़ता है[1]। साथ ही गाथासप्तशती के काव्यमालावाले संस्करण में छठी शती तक के प्राकृत कवियों (उदाहरण के लिये भाषाकवि ईसान) की गाथाएँ पाई जाती हैं। गाथासप्तशती के जो संस्करण हैं उनमें भी सभी गाथाएँ समान नहीं हैं, केवल ४३० गाथाएँ समान हैं। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि शातवाहन ने गाथाकोष का संग्रह किया था जिसमें एक हजार के लगभग गाथाएँ थीं। प्रस्तुत गाथासप्तशती का संग्रह उसी के आधार पर मेवाड़ के गुहिलोतवंशी राजा नरवाहन के पुत्र शालिवाहन ने विक्रम की दसवीं शती में किया है[2]। हाल की सतसई की गाथाओं को लोकसाहित्य माना जाता है, किंतु डा० कीथ का मत भिन्न है। वे बताते हैं कि इसकी भाषा कृत्रिम है तथा जनभाषा का रूप इसमें नहीं मिलता[3]। इतना होते हुए भी भावना तथा कल्पना की दृष्टि से इसमें जन-जीवन का रंग दिखाई पड़ता है। गाथासप्तशती में ग्रामीण जीवन के सरस चित्र देखने को मिलते हैं। कृषक और कृषकवनिता, गोप और गोपियों का जीवन, खेतों की रखवाली करती शालिवधुएँ, धान कूटती हुई ग्रामीण नारी के चित्र लोकजीवन का वातावरण निर्मित कर देते हैं। किंतु इससे भी बढ़कर गाथासप्तशती की गाथाओं में प्रेम के विविध पक्षों के चित्र देखने को मिलते हैं। विवाहित दंपती के संयोग तथा वियोग के धूपछाहीं चित्रों के अलावा यहाँ उन्मुक्त प्रणय के चित्र भी मिलते हैं, जिनमें से कुछ में कहीं कहीं उच्छृंखलता भी दिखलाई पड़ती है। प्रकृतिवर्णन के परिवेश को लेकर तत्तत् गाथाकार ने नायक या नायिका के मनोभावों की अपूर्व व्यंजना की है। निम्नलिखित गाथा में नदी में कमलपत्र पर आराम करते बगुले के प्रकृति-सौंदर्य के माध्यम से स्वयंदूती की मनोभावना तथा संकेतस्थल की व्यंजना कराई गई है :

> उअ णिच्चलनिप्पंदा मिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
> णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥

[1] कीथ : हि० सं० लि०, पृ० २२४।
[2] इसके लिये देखिए—'गाथासप्तशती, उसका रचनाकाल और रचयिता' नामक लेख, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५६, अंक १–४, पृ० २५२–२८५।
[3] कीथ : हि० सं० लि०, पृ० २२४।

(देखो, उस कमलपत्र पर शांत भाव से बैठा बगुला कैसा सुंदर लग रहा है, जैसे मरकतमणि के पात्र पर शंख की शुक्ति पड़ी हो।)

'सत्तसई' के ही ढंग पर प्राकृत मुक्तक कविताओं का एक दूसरा संग्रह भी पाया जाता है। यह श्वेतांबर जैन जयवल्लभ का 'वज्जालग्ग' है। जयवल्लभ के काल का पता नहीं, पर इस संग्रह पर वि० सं० १३९३ (१३३६ ई०) में एक संस्कृत छाया लिखी गई थी। जयवल्लभ का काल विक्रम की बारहवीं शती के लगभग होना चाहिए। इस संग्रह में नीति, चरित्र, व्यवहार, प्रेम आदि से संबंध रखनेवाली गाथाएँ संगृहीत हैं। वज्जालग्ग में ७९५ छंद हैं जिनमें लगभग दो-तिहाई छंद प्रेमविषयक हैं। वज्जालग्ग की गाथाओं में कई पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखाई पड़ता है। वज्जालग्ग में भी प्रेम की विविध दशाओं का सुंदर वर्णन मिलता है। निम्नलिखित गाथा में प्रेम की दशा का मार्मिक वर्णन है :

आरंभो जस्स इमो आसन्नासाससोसियसरीरो।
परिणामो कह होसइ न याणिमो तस्स पेम्मस्स॥
(३३-१)

(कोई नवानुभूतप्रेमा नायिका सखी से कह रही है : हे सखि, जिस प्रेम का आरंभ ही इस प्रकार है कि निःश्वासों के कारण शरीर सूख गया है, उस प्रेम का परिणाम क्या होगा, यह नहीं जानते।)

मुक्तक कविताओं की भाँति महाराष्ट्री प्राकृत में महाकाव्यों की रचना भी हुई है। प्रवरसेन का 'रावणवहो' या 'सेतुबंध' काव्य प्रसिद्ध है। प्रवरसेन विक्रम की पाँचवीं शती में काश्मीर के राजा हो चुके हैं। 'सेतुबंध' का संकेत बाण के हर्षचरित तक में मिलता है[1]। कुछ किंवदंतियों के अनुसार 'सेतुबंध' कालिदास की रचना है जिसे उन्होंने प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। सेतुबंध के टीकाकार रामसिंह ने इस किंवदंती का संकेत किया है[2]। सेतुबंध की भाषा परिनिष्ठित महाराष्ट्री है। यह काव्य १५ आश्वासों (आश्वासकों) में विभक्त है। इसके प्रत्येक सर्ग में अंत के पद्य में 'अनुराग' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार यह 'अनुरागांक' (अणुराअंक) काव्य है[3]। सेतुबंध की शैली पर संस्कृत काव्यों की

[1] कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥ ह० च०, प्रथम उच्छ्वास।

[2] यं चक्रे कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनामप्रबन्धम्॥ सेतुबंधप्रदीप टीका, काव्यमाला, पृ० २।

[3] रावणवह त्ति कव्वं अणुराअंकं समत्थजणणिव्वेसम्॥ १५-९५।

कृत्रिम शैली का पर्याप्त प्रभाव है। प्रवरसेन को यमक का अत्यधिक मोह है। संस्कृत के समासांत पदों की भाँति कई स्थानों पर प्राकृत के समासांत पदों का प्रयोग भी इनमें मिलता है। सेतुबंध में वीर तथा शृंगार दोनों रसों की सुंदर अभिव्यंजना हुई है। इसका अंगी रस वीर है, किंतु अंग रूप में शृंगार का भी समावेश पाया जाता है। राक्षसों की सेना के सजने का वर्णन बारहवें आश्वासक में सुंदर हुआ है :

गुडिअगुडिज्जंतभडं सोहइ रणतुरिअजुत्तजुज्जंतरहम्।
घडिअघडेंतगअघडं चलिअचलंततुरअं णिसाअरसेणम्॥

(१२-८७)

(राक्षसों की वह सेना सुशोभित हो रही थी, जिसमें कुछ योद्धा कवचों से सन्नद्ध हो चुके थे, कुछ हो रहे थे, रण के लिये कुछ रथों को तेजी से जोता जा चुका था, कुछ को जोता जा रहा था, हाथी सजाए जा रहे थे और कुछ सज चुके थे, कुछ घोड़े रवाना हो चुके थे और कुछ चलने की तैयारी में थे।)

प्रथम आश्वासक में राम का विरहवर्णन तथा प्रकृतिवर्णन मार्मिक है। राम ने बड़ी कठिनता से वर्षा ऋतु व्यतीत की है, सीता के मिलन की आशा लेकर किसी प्रकार कदंब वायु को सहा, मेघाच्छन्न अंधकारपूर्ण आकाश को देखकर चित्त शात रखने की चेष्टा की, मेघों के गर्जन को सहन किया, फिर भी सीता के बिना अब जीवन कैसे रह सकेगा (आगामी शरत् ऋतु कैसे व्यतीत हो सकेगी), यह सोचकर राम ने जीवन की आशा ही छोड़ दी :

गमिआ कलंबवाआ दिट्ठं, मेहंधआरिअं गअणतलम्।
सहिओ गज्जिअसद्दो तह वि हु से णत्थि जीविए आसंघो॥

(१-१५)

दसवें आश्वासक में कवि ने निशाचर दंपतियों की प्रणयलीला का सरस वर्णन किया है। विश्रब्धनवोढा की निम्नोक्त प्रणयलीला सुंदर बन पड़ी है :

ण पिअइ दिण्णं पि मुहं ण पणामेइ अहरं ण मोएइ बला।
कह वि पडिवज्जइ रअं पढमसमागमपरम्मुहो जुवइजणो॥

(१०-७८)

(नायक के मुख देने पर भी वह चुंबन नहीं करती, न स्वयं अपना अधर ही झुकाती है, न बलपूर्वक हटाती ही है, प्रथम समागम के कारण पराङ्मुख नवोढ़ा बड़ी कठिनता से प्रणयलीला में प्रवृत्त होती है।)

प्रवरसेन की शैली अत्यधिक अलंकृत है। अर्थालंकारों की सुंदर योजना सेतुबंध में पाई जाती है। शरत् ऋतु तथा समुद्र की हलचल का प्रथम तथा द्वितीय आश्वासक में अलंकारों के सहारे सुंदर वर्णन किया गया है। शरत् ऋतु में विकसित कमलिनी का निम्नांकित वर्णन शृंगारी अप्रस्तुतविधान के कारण सुंदर हुआ है :

कण्टअइणूमिअंगी थोअत्थोओसरन्तमुद्धसहावा ।
रइअरचुंबिज्जंतं ण णिअत्तेइ णलिणी मुहं विअ कमलम् ॥
(१-३२)

(काँटों से रोमांचित, धीरे धीरे मुग्धभाव को छोड़ती हुई नलिनी सूर्य की किरणों के द्वारा चुंबित मुख के समान कमल को दूर नहीं हटाती ।)

सेतुबंध में प्रायः सभी वृत्त प्राकृत के शुद्ध मात्रिक वृत्त हैं । काव्य में गाथा-वर्ग के आर्या, गीति, गाहिणी, सिंहिनी, स्कंधक आदि छंदों का प्रयोग मिलता है । सेतुबंध का विशिष्ट छंद स्कंधक है ।

महाराष्ट्री प्राकृत का दूसरा काव्य वप्पइराअ (वाक्पतिराज) का 'गउडवहो' है । वप्पइराअ कन्नौज के राजा यशोवर्मा का राजकवि तथा भवभूति का समकालीन था । संभवतः वह भवभूति का शिष्य था । 'गउडवहो' सर्गबद्ध काव्य नहीं है । इसमें १२०६ आर्या छंद हैं । आरंभ में वप्पइराअ ने प्राचीन कवियों का उल्लेख किया है । वाक्पतिराज के एक दूसरे काव्य का भी पता चलता है, 'महुमहविअअ', जिसका उल्लेख आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया है । 'गउडवहो' की शैली भी संस्कृत की कृत्रिम काव्यशैली से प्रभावित जान पड़ती है ।

उदाहरण के लिये निम्नलिखित संध्यावर्णन को लिया जा सकता है :

जामवई-मुह-भरिए संज्झा-मइराइ दिणयराहारे ।
आयासकेसरं दंतुरेंति णक्खत्तकुसुमाइं ॥

(रात्रिरूपी नायिका के मुख में संध्या राग की मदिरा को भरकर सूर्यरूपी आलवाल को सींचने पर आकाशरूपी बकुल वृक्ष तारकपुष्पों से विकसित हो उठा ।)

यहाँ संस्कृत काव्यों की बकुलदोहद की प्रसिद्ध रूढ़ि के परिपार्श्व में कवि ने संध्या के बाद आकाश में छिटकते तारों का सुंदर वर्णन किया है । अलंकार-ग्रंथों में आनंदवर्धन की 'विषमबाणलीला' तथा अज्ञात कवि के 'हरविजय' से उद्धृत प्राकृत पद्य मिलते हैं । ये दोनों भी प्राकृत काव्य थे । हेमचंद्र ने 'कुमारपालचरित' के अंतिम आठ सर्गों में प्राकृत का प्रयोग किया है । कुमार-पालचरित का यह अंश प्राकृत व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिये संस्कृत के भट्टिकाव्य की तरह लिखा गया है । प्राकृत का एक अन्य काव्य रामपाणिवाद का 'कंसवहो' है जिसका प्रकाशन डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने १९४० ई० में किया है । कंसवहो में प्राकृत के मात्रिक वृत्तों के अतिरिक्त संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का भी प्रयोग मिलता है[१] । परवर्ती प्राकृत काव्यों या नाटकों की प्राकृत

[१] 'कंसवहो' की शैली के नमूने के लिये एक पद्य उद्धृत है :
रासक्कीलासु कीलाविअलवअलहूनेत्तकंदोट्टमाला

के पद्यों को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि कवि पहले संस्कृत में रचना करते थे, उसके बाद उसे प्राकृत व्याकरण के नियमों के अनुसार प्राकृत रूप दे देते थे।

वैसे तो राजशेखर की **कर्पूरमंजरी** का उल्लेख नाटकीय प्राकृत के संबंध में किया जा सकता है, पर उसके पूर्णतः प्राकृत रचना होने के कारण उसका संकेत हम यहीं करना उचित समझते हैं। राजशेखर की कर्पूरमंजरी हर्ष की नाटिका के ढंग पर लिखा हुआ प्राकृत सट्टक है। कर्पूरमंजरी के सभी पात्र प्राकृत बोलते हैं। इस सट्टक में राजा चंद्रपाल तथा कुंतल देश की राजकुमारी कर्पूरमंजरी के प्रणय की कहानी है। एक तांत्रिक साधु, भैरवानंद अपने योग बल से कर्पूरमंजरी को कुंतल देश से ले आते हैं। नायक और नायिका एक दूसरे को देखकर आसक्त हो जाते हैं। वे गुप्त रूप से मिलते हैं पर महारानी विघ्न उपस्थित कर देती है। इस प्रणय-लीला में विदूषक कपिंजल तथा कुरंगिका (कर्पूरमंजरी की सखी) नायक नायिका का मिलन कराने में सहायता करती हैं। कर्पूरमंजरी के बाद 'नयसुंदरी' नामक एक और सट्टक मिलता है जिसे अकबर के शासनकाल में एक जैन कवि ने लिखा है।

पैशाची—पैशाची की केवल एक ही कृति का पता चलता है; वह है गुणाढ्य की बृहत्कथा। दुर्भाग्य से यह ग्रंथ नहीं मिलता। इसके आधार पर रचित क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर उपलब्ध हैं। संघदास कृत प्राकृत कथा 'वासुदेवहिंडी' के आधार पर यह पता चलता है कि संघदास को बृहत्कथा का पता था। दंडी के दशकुमारचरित पर भी बृहत्कथा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। गुणाढ्य का समय निश्चित नहीं है। किंवदंतियाँ उसे आंध्रराज शातवाहन का समसामयिक (विक्रम की प्रथम शती) मानती हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा की भाषा पैशाची मानी जाती है। वररुचि के प्राकृतप्रकाश की भामह कृत मनोरमा व्याख्या में दशम परिच्छेद के चौथे तथा चौदहवें सूत्र के

पालंबालंकिदंगो मउहसिअसुहासित्तवत्तेंदुबिंबो।
संगाअंतो णडंतो सरसअरमिअं संचरंतो सअंतो
सव्वासु दिक्खु दिविखज्जइ सअलअणाणंदणो णंदणो दे॥
(४-४१)
(रासक्रीडासु क्रीडाविकलव्रजवधूनेत्रनीलाब्जमाला
प्रालंबालंकृतांगो मृदुहसितसुधासिक्तवक्त्रेंदुबिम्बः।
संगायन् नटन् सरसतरमयं संचरन् शयानः
सर्वासु दिक्षु दृश्यते सकलजनानन्दनो नन्दनस्ते॥)

संबंध में उदाहृत 'कमलं पिव मुखे' तथा 'हितश्रकं हरसि मे तञ्जनि' गुणाढ्य की बृहत्कथा के ही वाक्य हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा गद्यमय थी या पद्यमय, इसमें भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। संभवतः यह पद्यबद्ध रचना थी।

(५) नाटकीय प्राकृत—संस्कृत नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृतों का भी प्रयोग मिलता है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में पात्रभेद के अनुसार भाषाभेद का संकेत किया था। संस्कृत नाटकों की प्रमुख प्राकृतें महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी हैं। महाराष्ट्री का प्रयोग केवल पद्यों तथा गीतों में मिलता है। नाटकों की प्राकृतो में प्रमुख स्थान शौरसेनी का है। स्त्रियाँ, बच्चे, तथा अन्य मध्य वर्ग के पात्र शौरसेनी में बोलते हैं। मागधी का प्रयोग शौरसेनी की अपेक्षा कम पाया जाता है। इसे निकृष्ट कोटि के पात्र बोलते हैं। शाकुंतल में इसे मछुआ तथा राजसेवक बोलते हैं। मृच्छकटिक में स्थावरक, कुंभीलक, वर्धमानक, रोहसेन तथा चांडाल इसका प्रयोग करते हैं। शकारी तथा चाडाली आदि मागधी की ही विभाषाएँ हैं। शकारी का प्रयोग मृच्छकटिक में पाया जाता है; राजश्याल संस्थानक शकारी बोलता है।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत के प्रयोग की परंपरा अश्वघोष के तूर्फान से मिले 'शारिपुत्रप्रकरण' तथा 'गणिकारूपकों' में पाई जाती है। प्रो० ल्यूडर्स के मतानुसार इन नाटकों के खलपात्र प्राचीन मागधी का, गणिका तथा विदूषक प्राचीन शौरसेनी का तथा तापस प्राचीन अर्धमागधी का प्रयोग करते हैं[१]। अश्वघोष के बाद भास की नाटकीय प्राकृत आती है। इसमें प्रायः शौरसेनी का प्रयोग हुआ है। मागधी का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा, चारुदत्त तथा बालचरित में एवं अर्धमागधी का प्रयोग कर्णभार में हुआ है[२]। कालिदास के नाटकों में शौरसेनी तथा मागधी का प्रयोग हुआ है, गीतों में महाराष्ट्री भी पाई जाती है। प्राकृत की दृष्टि से शूद्रक के मृच्छकटिक का अत्यधिक महत्व है। मृच्छकटिक में शौरसेनी तथा मागधी के शुद्ध रूप के अतिरिक्त कई विभाषाएँ मिलती हैं। शौरसेनी की दो विभाषाएँ प्राच्य तथा आवंती का प्रयोग क्रमशः विदूषक तथा वीरक करते हैं। पिशेल के मतानुसार चंदनक दाक्षिणात्य का प्रयोग करता है। संस्थानक शकारी बोलता है तथा माथुर ढक्की या टक्की बोलता है। अपभ्रंश का प्रयोग विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में मिलता है, जिसका संकेत हम अगले अध्याय में करेंगे। अश्वघोष, भास, शूद्रक तथा कालिदास के बाद के नाटकों की प्राकृत अत्यधिक कृत्रिम है। भट्टनारायण, भवभूति,

[१] कीथ : सं० ड्रा०, पृ० ८६-८७।
[२] वही, पृ० १२२।

मुरारि आदि कवियों के नाटकों की प्राकृत संस्कृत के आधार पर वैयाकरणों के नियमों को ध्यान में रखकर बनाई गई कृत्रिम प्राकृत प्रतीत होती है।

(६) **वैयाकरणों की प्राकृत**—प्राकृत भाषा के प्राचीनतम वैयाकरण वररुचि हैं। उन्होंने अपने 'प्राकृतप्रकाश' में चार प्राकृतों का उल्लेख किया है—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। आचार्य हेमचंद्र ने इनके साथ चूलिका पैशाची, अपभ्रंश तथा आर्ष (अर्धमागधी) को भी माना है तथा शब्दानुशासन के अष्टम अध्याय में इनका उल्लेख किया है। त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज, नरसिंह तथा अन्य वैयाकरणों ने हेमचंद्र के ही विभाजन को माना है, वैसे ये वैयाकरण आर्ष या अर्धमागधी का समावेश नहीं करते। इन्हीं छः भाषाओं को षड्भाषा के नाम से पुकारा जाता है। मार्कंडेय से पूर्व के वैयाकरणों ने इन्हीं छः प्राकृतों का उल्लेख किया है। मार्कंडेय ने प्राकृत को सर्वप्रथम चार वर्गों में बाँटा है—(१) भाषा, (२) विभाषा, (३) अपभ्रंश तथा (४) पैशाच। मार्कंडेय ने भाषा प्राकृतों में महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवंती, मागधी (अर्धमागधी को छोड़कर) दाक्षिणात्या तथा बाह्लीकी का समावेश किया है। विभाषा प्राकृतों में चांडाली, शाबरी, आभीरी, शक्की को माना है। उसने अपभ्रंश के २७ भेद माने हैं तथा उन्हें तीन प्रमुख वर्गों में बाँटा है—नागर, उपनागर तथा व्राचड़। पैशाची के ग्यारह भेदों का उल्लेख किया गया है जिनमें से मुख्य तीन हैं—कैकय, शौरसेन तथा पाचाल। मार्कंडेय का वर्गीकरण प्राच्य प्राकृत वैयाकरण रामतर्कवागीश तथा पुरुषोत्तम से मिलता है। प्रायः सभी वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को प्रमुख मानकर उसका विस्तार से वर्णन किया है। इसके बाद महाराष्ट्री तथा तत्तत् प्राकृत के भेदों का संकेत किया गया है।

प्राकृत व्याकरणों में प्राचीनतम कृति वररुचि का 'प्राकृतप्रकाश' है, जिसपर भामह की मनोरमा टीका प्रसिद्ध है। मनोरमा के अतिरिक्त इसकी तीन टीकाएँ (एक पद्यमय और दो गद्यमय) और हैं। चंड का 'प्राकृतलक्षण' भी प्राचीन है। इसमें महाराष्ट्री तथा जैन प्राकृत (आर्ष, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी) का विवरण है। प्राकृत व्याकरणों में हेमचंद्र के शब्दानुशासन का अष्टम अध्याय महत्वपूर्ण है। इसमें छः भाषाओं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश का विवरण है। इसपर स्वयं हेमचंद्र की ही वृत्ति है। हेमचंद्र के व्याकरण पर 'व्युत्पत्तिवाद' तथा 'प्राकृतप्रबोध' के नाम से दो टीकाएँ और हैं। क्रमदीश्वर के संस्कृत व्याकरण 'संक्षिप्तसार' का अष्टम अध्याय भी प्राकृतों का विवरण देता है। तथाकथित प्राच्य प्राकृत वैयाकरणों में पुरुषोत्तम, रामतर्कवागीश तथा मार्कंडेय हैं। पुरुषोत्तम का 'प्राकृतलक्षण' केवल नेपाल लाइब्रेरी के एक हस्तलेख के रूप में उपलब्ध है जो वि० सं० १३१२ का लिखा है। रामतर्क-

वागीश का 'प्राकृतकल्पतरु' विक्रम की १८वीं शती की रचना है। मार्कंडेय का प्राकृतसर्वस्व उड़ीसा में मुकुंददेव के शासनकाल में लिखा गया था। यह विक्रम की १७वीं शती की रचना है। प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों में वाल्मीकि का भी नाम लिया जाता है जो आदिकवि वाल्मीकि से भिन्न हैं। किसी रावण की लिखी हुई 'प्राकृतकामधेनु' का भी उल्लेख प्रो० मिश्र की हस्तलेखसूची (केटेलॉग) में मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र में प्राकृतों की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। प्राकृत शब्दसमूह के अध्ययन के लिये धनपाल की 'पाइअलच्छी' तथा हेमचंद्र की 'देशीनाममाला' का उल्लेख किया जा सकता है।

(७) **मिश्र या गाथा संस्कृत**—मिश्र या गाथा संस्कृत, संस्कृत का वह रूप है जो पाणिनि के नियमों के अनुसार नहीं चलता तथा प्राकृत व्याकरण के रूपों एवं शब्दसमूह से यत्रतत्र प्रभावित मिलता है। यही कारण है कि भाषावैज्ञानिकों ने इसे संस्कृत का रूप न मानकर **मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा** का एक रूप माना है। यह मिश्र संस्कृत दो कारणों से उत्पन्न हुई जान पड़ती है—(१) कुछ लेखकों ने किसी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा को संस्कृत या साहित्यिक रूप देने की चेष्टा की हो तथा उसमें संस्कृत तत्वों की बहुलता भर दी हो, (२) संस्कृत में कई अपाणिनीय देशी प्रयोग स्वाभाविक रूप से मिल गए तथा उसका यह रूप पाणिनिसंमत न होने के कारण मिश्र संस्कृत बन गया। उदाहरण के लिये बौद्ध मिश्र संस्कृत में हमें 'भिक्षुस्य' जैसे रूप मिलते हैं। यह रूप अपाणिनीय है क्योंकि 'भिक्षु' शब्द के षष्ठी एकवचन में 'भिक्षोः' रूप होना चाहिए। संभवतः यह रूप रामस्य, देवस्य आदि के सादृश्य पर बना लिया गया है। अकारांत शब्दों में संस्कृत विभक्तिचिह्न 'स्य' है, किंतु इकारांत, उकारांत में यह 'अस्' (कवेः, विष्णोः, भिक्षोः) है। भिक्षु शब्द के साथ यह अकारांत शब्दों का षष्ठी एकवचन का विभक्तिचिह्न 'स्य' जोड़कर 'भिक्षुस्य' रूप बना दिया गया। ऐसा भी हो सकता है कि प्राकृत रूप 'भिक्खुस्स' का संस्कृतीभूत रूप (भिक्षुस्य) रहा हो। प्राकृत में भिक्षु शब्द के षष्ठी एकवचन में 'भिक्खुनो, भिक्खुस्स' ये दोनों वैकल्पिक रूप पाए जाते हैं। इस प्रकार प्राकृत के प्रभाव पर बनाए गए संस्कृत रूपों की प्रचुरता इस मिश्र संस्कृत को जन्म देती है। इसके अतिरिक्त प्राकृत शब्दों तथा प्राकृत मुहावरों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। इस भाषा के तीन रूप पाए जाते हैं—बौद्ध मिश्र संस्कृत या बौद्ध संकर संस्कृत (बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत), जैन मिश्र संस्कृत तथा हिंदू मिश्र संस्कृत।

(१) **बौद्ध मिश्र संस्कृत**—बौद्धों के महायान संप्रदाय का साहित्य प्रायः संस्कृत भाषा में निबद्ध है, किंतु इसकी संस्कृत शुद्ध पाणिनीय संस्कृत नहीं है। महावस्तु, सद्धर्मपुंडरीक, ललितविस्तर, जातकमाला, अवदानशतक आदि ग्रंथों की संस्कृत

इसीलिये विद्वानों के, विशेषकर भाषावैज्ञानिकों के, आकर्षण का विषय रही है। यद्यपि इस भाषा का प्रायः सारा साहित्य महायान शाखा का है तथापि कुछ ग्रंथ हीनयान शाखा के भी मिलते हैं जिनमें प्रमुख महावस्तु है। आरंभ में इस भाषा को 'गाथा विभाषा' कहा जाता था किंतु फ्रेंच विद्वान् सेनार्त ने, जिसने वि० सं० १९३६–१९४८ में महावस्तु का तीन भागों में संपादन किया, इसे 'मिश्र संस्कृत' नाम देना अधिक उपयुक्त समझा[1]। अमरीकी विद्वान् फ्रैंक्लिन एजर्टन इसे 'बौद्ध संकर संस्कृत' नाम देना विशेष वैज्ञानिक समझते हैं तथा उन्होने इस भाषा का भाषावैज्ञानिक विवरणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस संबंध में उनकी 'बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर तथा डिक्शनरी', जो दो भागों में प्रकाशित हुई है, तथा 'बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत रीडर' का संकेत किया जा सकता है[2]। यहाँ इस विभाषा के विषय में प्रो० एजर्टन का संक्षिप्त मत दिया जाता है :

इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आरंभ से ही इसमें संस्कृतीभाव की प्रवृत्ति पाई जाती है और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है, किंतु फिर भी इसमें मध्यभारतीय आर्यभाषा के तत्व सुरक्षित रह पाए हैं। यह संमिश्रण काव्यभाषा के रूप में कभी प्रचलित न रहा होगा तथापि यह भाषा शतियों तक धार्मिक भाषा रहने के अतिरिक्त उत्तरभारत के बौद्धों के धार्मिक कार्यकलाप की प्रचलित भाषा रही है। इस भाषा में संस्कृतीकरण अलग अलग काल की रचनाओं में अलग अलग अनुपात में मिलता है। प्रायः सभी बौद्ध संकर संस्कृत रचनाएँ गद्य तथा पद्य की मिश्रित शैली में लिखी गई हैं। इनमें महावस्तु संभवतः सबसे पुरानी रचना है तथा उसमें संस्कृतीकरण अपेक्षाकृत कम पाया जाता है। सद्धर्मपुंडरीक, ललितविस्तर, सुवर्णभासोत्तमसूत्र में पद्यभाग अपेक्षाकृत मध्यभारतीय आर्यभाषा के तत्वों से अधिक अनुस्यूत है तथा महावस्तु की शैली के समान है, किंतु गद्यभाग आपाततः अधिक संस्कृतीकृत है तथा यह ध्वन्यात्मक और पदरचनात्मक दृष्टि से परिनिष्ठित संस्कृत सा लगता है। पर गद्यभाग में कई जगह असंस्कृत रूप आ जाते हैं। इसी तरह अनेक शब्द ऐसे मिलते हैं जो संस्कृत के नहीं है या संस्कृत में उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होते[3]।

कुछ विद्वान् इस भाषा को केवल 'संस्कृत' मानते हैं। लुई रेनू ने अपनी 'ग्रामेर सॉस्क्रीत' में इसे संस्कृत ही माना है, पर वे भी इस बात को मानते हैं कि

[1] विंतरनित्स : हि० इं० लि०, भा० २, पृ० २२६।

[2] ये दोनों पुस्तकें येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवन से वि० सं० २०१० (१९५३ ई०) में प्रकाशित हुई है।

[3] फ्रैंक्लिन एजर्टन : बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर, भा० १, पृ० ५, § १.१४–१.३७।

यह विशेष प्रकार की संस्कृत है। महाभारत की संस्कृत भी पूरी तरह पाणिनीय नहीं है, पर उसे 'संस्कृत' का विशेष प्रकार नहीं माना जाता। यदि शेष बौद्ध संकर संस्कृत साहित्य भी महावस्तु की ही शैली में होता तो इसे संस्कृत कभी न कहा जाता। वस्तुतः इस बात का निर्णय करते समय कि यह संस्कृत ही है, हम केवल गद्यभाग की ही भाषा को ध्यान में रखते हैं तथा पद्यभाग की भाषा की अवहेलना करते हैं[1]। विद्वानों ने 'मिश्र संस्कृत' (बौ० सं० सं०) की आधारभूत प्राकृत को भी ढूँढ़ने की चेष्टा की है। ल्यूडर्स तथा हार्नली ने सद्धर्मपुंडरीक की मूल विभाषा मागधी मानी है। इसका एकमात्र प्रमाण यह है कि इसमें संबंध बहुवचन में आहो-वाले रूप मिलते हैं। एजर्टन के मत से इसकी मूल विभाषा पूर्वी विभाषा नहीं जान पड़ती। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि अनेक काल के भाषारूपों के कारण इस भाषा को किसी निश्चित भौगोलिक प्रदेश की विभाषा से संबद्ध नहीं किया जा सकता।

इस भाषा के दो प्रमुख ग्रंथ महावस्तु तथा ललितविस्तर हैं। महावस्तु या महावस्तु-अवदान हीनयान शाखा का प्रसिद्ध ग्रंथ है। महावस्तु में भगवान् बुद्ध का जीवनचरित है। इसमें भगवान् बुद्ध की कथा निदानकथा की भाँति तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में बुद्ध दीपंकर के समय में बोधिसत्व के जीवन की कथा है। द्वितीय भाग में बोधिसत्व तुषित देवताओं के स्वर्ग में हैं तथा माया के गर्भ में जन्म लेना चाहते हैं। यह भाग मारविजय तथा बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्वप्राप्ति की कथा तक चलता है। तीसरे भाग में संघ के उदय तथा विकास की कथा है। भगवान् बुद्ध की कथा के बीच बीच में महावस्तु में जातको तथा अवदानों एवं कई धार्मिक सूत्रों का भी समावेश पाया जाता है। ललितविस्तर महायान शाखा का प्रमुख धार्मिक ग्रंथ है। जैसा कि इस ग्रंथ का शीर्षक ही बताता है, इसमें भगवान् बुद्ध की 'लीला' (ललित) का विस्तृत वर्णन है। महायान शाखा के अनुसार भगवान् बुद्ध एक महान् अलौकिक सत्ता के रूप में चित्रित किए गए हैं। ललित विस्तर के आरंभ में ही बुद्ध की अलौकिकता का संकेत मिलता है। यह वह सबसे प्रमुख विंदु है, जो महायान को हीनयान से अलग करता है। महायान शाखा के वैपुल्यसूत्र की तरह ललितविस्तर के बुद्ध भी १२००० भिक्षु तथा ३२,००० बोधि-सत्वों से सेवित रहते हैं, वे समाधिमग्न रहते हैं, उनके मस्तक से एक तेज निकलकर समस्त स्वर्ग में व्याप्त होकर देवताओं को आनंदमग्न कर देता है। यहाँ भगवान् बुद्ध को ईश्वर तथा अन्य देवताओं से बड़ा बताया गया है[2]। ललितविस्तर में

[1] वही, १.७६–१.७७, पृ० ११।

[2] विंतरनित्स, हिं० इं० लि०, भा० २, पृ० २४६।

भी बुद्ध का विस्तृत जीवनचरित है जो तुषित देवों के स्वर्ग में स्थित बोधिसत्व की घटना से प्रारंभ होता है। बीच बीच में बुद्ध की अलौकिकता सिद्ध करने के लिये कई घटनाएँ तथा संवाद हैं। एक ऐसा ही संवाद सप्तम अध्याय में बुद्ध तथा आनंद का है, जिसमें बुद्ध को परात्परसत्ता का रूप बताया गया है। ललितविस्तर की रचना का वास्तविक काल हमें ज्ञात नहीं। सुना जाता है कि विक्रम की प्रथम शती में इसका चीनी अनुवाद हो चुका था, पर विंतरनित्स ने इस मत का खंडन किया है। इसका प्रामाणिक अनुवाद तो तिब्बती भाषा में है जो विक्रम की नवीं शती का है। सेनार्त ने संपूर्ण ललितविस्तर को बौद्ध धर्म की जानकारी के लिये प्राचीन स्रोत माना है किंतु विंतरनित्स के मत से इसका सभी अंश प्राचीन नहीं जान पड़ता[1]।

महायान शाखा में बौद्ध संकर संस्कृत के अपने सिद्धांतग्रंथ भी हैं जिनमें सद्धर्मपुंडरीक प्रमुख है। कहा जाता है कि महायान संप्रदाय के सिद्धांतों को जानने के लिये सद्धर्मपुंडरीक सर्वप्रामाणिक ग्रंथ है[2]। सद्धर्मपुंडरीक में बीच बीच में कहानियों आदि को अनुस्यूत कर सद्धर्मसिद्धांतों का पल्लवन किया गया है। सद्धर्मपुंडरीक की तिथि का निश्चय करना कठिन है, क्योंकि इसमें अनेक कालों के अंश पाए जाते हैं। इसका गद्य परिनिष्ठित संस्कृत के अत्यधिक समीप है, किंतु गाथाएँ अधिक मिश्रित रूप व्यक्त करती हैं। फिर भी इसका मूल रूप विक्रम की प्रथम शती का रहा होगा, क्योंकि विक्रम की दूसरी शती में नागार्जुन ने इसका उल्लेख किया है। परवर्ती महायानसूत्रों में 'समाधिराज' का नाम उल्लेखनीय है। इसमें भगवान् बुद्ध तथा चंद्रापीड़ (चंद्रप्रभ) के संवाद के माध्यम से बोधिसत्व समाधि के द्वारा किस प्रकार बुद्धत्व को प्राप्त करते हैं, इसका संकेत है, इसका संकेत करते हुए 'समाधि' की योगदशा का विवरण मिलता है।

(२) **जैन मिश्र संस्कृत**—अमेरिकी विद्वान् मारिस ब्लूमफील्ड ने जैन मिश्र संस्कृत का संकेत अपने एक लेख में किया था जो वाकेरनागेल के अभिनंदन में प्रकाशित ग्रंथ में छपा था। तब से विद्वानों का ध्यान इधर आकृष्ट होने लगा। वैसे इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि जैन किसी भी भाषा को शुद्ध एवं परिनिष्ठित रूप में लिखने के लिये बड़े प्रसिद्ध हैं। जैनियों ने जहाँ कहीं संस्कृत में रचनाएँ की हैं, प्रायः वे सब शुद्ध पाणिनीय हैं। इसी तरह परिनिष्ठित प्राकृत तथा परिनिष्ठित अपभ्रंश के लिये भी जैन लेखक तथा कवि सदा आदर्श रहे हैं। पर जैन विद्वानों के दो तीन ग्रंथ ऐसे

[1] वही, पृ० २२५।
[2] वही, पृ० २६५।

मिलते हैं जहाँ संस्कृत में मध्यभारतीय आर्षभाषा के तत्व घुलेमिले मिलते हैं। डा० उपाध्ये ने जटासिंह नंदी के वरांगचरित का संपादन करते हुए इसमें उपलब्ध असंस्कृत तत्वों का संकेत किया है[१]। यहाँ उन्होंने अपाणिनीय रूपों, यथा बलिनः (बलेः), स्वसारः (स्वसुः), गतीषु (गतिषु), संस्कृत के लिंगविधान का उल्लंघन, यथा गेह, क्रोधोत्थान, जात का पुल्लिंग में प्रयोग तथा वृत्तांत का नपुंसक लिंग में प्रयोग, करवामहे (शु० रू० करवामहै), ससर्जुः (शु० रू० ससृजुः), जुहुः (शु० रू० जुहुवुः) जैसे रूपों का संकेत किया है। इसी में सुक्षेत्रयज्ञः (सुक्षेत्रे + अज्ञः), ग्रामैकरात्रं (ग्रामे+एकरात्रं) जैसे गलत संधिगत रूप मिलते हैं। प्रो० उपाध्ये ने ऐसे अनेक असंस्कृत तत्वों का संकेत किया है। वरांगचरित संस्कृत महाकाव्यों के ढंग पर ३१ सर्गों में निबद्ध है। इसमें विनीतदेश के राजकुमार वराग की कथा है जो अंत में जैन धर्म में दीक्षित हो जाता है। कथा में लोककथा की रूढ़ियों (मोटिफ) का प्रयोग मिलता है। काव्य में प्रायः सभी मुख्य संस्कृत छंदों का उपयोग किया गया है। दूसरा ग्रंथ बुद्धविजय का 'चित्रसेनपद्मावतीचरित्र' है। यह भी एक लोककथा के आधार पर निर्मित धर्मकथा है। यह कथा ५६४ छंदों में है तथा पुराणों के ढंग पर अनुष्टुप् छंद में लिखी गई है। इसके संपादक मूलराज जैन ने इसकी भाषा में भी कई असंस्कृत तत्व ढूँढ़े हैं[२]। इसी का अध्ययन ब्लूमफील्ड ने प्रस्तुत किया था। इस कविता में भी लोककथा की कई रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है[३]। असंस्कृत तत्व 'प्रबंधचिंतामणि' में भी देखे जा सकते हैं।

(३) **ब्राह्मण मिश्र संस्कृत**—कुछ विद्वान् महाभारत, रामायण तथा पुराणों की भाषा में कई अपाणिनीय या आर्ष प्रयोग देखकर उसे मिश्र संस्कृत कह बैठते हैं। पूना से प्रकाशित महाभारत के सुसंपादित संस्करण के आधार पर विद्वानों का कहना है कि महाभारत की भाषा भी मिश्र संस्कृत है तथा महाभारत की संस्कृत-धारा के नीचे कोई मध्य भारतीय आर्यभाषा प्रवाहित जान पड़ती है। किंतु महाभारत की भाषा को मिश्र संस्कृत मानना ठीक नहीं जान पड़ता। महाभारत का मूल रूप कुछ भी रहा हो, उपलब्ध रूप में आर्ष रूपों के होने पर भी उसे संस्कृत ही मानना ठीक होगा, उसके साथ 'मिश्र' विशेषण का प्रयोग दुराग्रह मात्र है।

[१] वरांगचरित, प्रो० उपाध्ये द्वारा संपादित, वि० सं० १९९५ (१९३८ ई०), अँगरेजी भूमिका, पृ० ४२-४८।

[२] चित्रसेनपद्मावतीचरित्र, मूलराज जैन द्वारा संपादित, वि० सं० १९९९ (१९४२ ई०), अँगरेजी भूमिका, पृ० २३-३०।

[३] देखिए—वही, पृ० १-२०।

१०. प्राकृत साहित्य की परंपरा

हम देखते हैं कि प्राकृत भाषा का साहित्य अत्यधिक समृद्ध है तथा वह विविध स्रोतो में उपलब्ध होता है। इसमें जहाँ एक ओर शुद्ध साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध हैं, वहाँ दूसरी ओर धार्मिक साहित्य भी उपलब्ध होता है। जैन तथा बौद्ध धर्म लोकजीवन को अपना ध्येय बनाकर चले थे, फलतः इन्होंने साधारण लोकसमाज की भाषा को ही अपने प्रचार का माध्यम चुना। भगवान् सुगत और भगवान् महावीर के शिष्यों ने भी उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही आश्रय लिया तथा जनता से सीधा संपर्क स्थापित करने के लिये अपने सैद्धातिक तथा सिद्धातेतर साहित्य को जनता की बोली में ही लिखा। धार्मिक साहित्य की यह परंपरा प्राकृत से ही अपभ्रंश में आई और प्राकृत का स्वरूप परिवर्तन हो जाने पर बाद के जैनों ने तत्कालीन जनभाषा अपभ्रंश में अपने धार्मिक साहित्य की रचना की। इसी तरह अपभ्रंश काल में बौद्ध सिद्धो ने भी इस परंपरा को कायम रखा। यह परंपरा प्राकृत की ही देन थी, जो आगे अपभ्रंश के बाद भी संतो के द्वारा अपनी जनभाषा की 'बानियों' में अक्षुण्ण बनी रही। बौद्धो तथा जैनों ने दो प्रकार का धार्मिक साहित्य प्राकृत को दिया है—एक सैद्धातिक, दूसरा सिद्धांतेतर। सिद्धातेतर साहित्य का शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। सच तो यह है कि इन दोनो धर्मों के सिद्धांतेतर साहित्य के आधार पर ही आज हमारा प्राकृत साहित्य समृद्ध है, अन्यथा प्राकृत में शुद्ध साहित्यिक कृतियाँ गिनती में बहुत कम हैं। प्राकृत के धार्मिक सैद्धातिक साहित्य को छोड़ देने के बाद जो साहित्य बचा रहता है उसमें हम कई शैलियाँ देखते हैं। इस साहित्य को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—(१) प्रबंध काव्य, (२) मुक्तक काव्य, (३) कथासाहित्य, (४) नाटक।

(१) प्रबंधकाव्य—प्राकृत में प्रबंध काव्यों की परंपरा इतनी समृद्ध नहीं दिखाई देती। 'पउमचरिअ' पुराणों के ढंग पर लिखा हुआ प्रबंध काव्य है, और उसकी शैली भी पौराणिक सरलता का परिचय देती है। पर 'पउमचरिअ' ने प्राकृत साहित्य में जिस परंपरा को जन्म दिया वह प्राकृत से अपभ्रंश में आकर स्वयंभू की 'रामायण', 'हरिवंशपुराण' तथा पुष्पदंत के 'महापुराण' एवं अन्य जैन कवियों के धार्मिक चरितकाव्यों एवं पुराणकाव्यों के रूप में प्रकट हुई है। इस परंपरा ने गौण रूप से हिंदी साहित्य के आदिकालीन चरितकाव्यों को प्रभावित किया है। प्रवरसेन का 'सेतुबंध' प्राकृतकालीन महाकाव्यपरंपरा का सच्चा प्रतिनिधि कहा जा सकता है। आलंकारिकों का कहना है कि प्राकृत के महाकाव्य सर्गों के स्थान पर आश्वासकों में विभक्त रहते हैं (सर्गा आश्वासकाभिधाः)। जहाँ तक महाकाव्यों के अन्य लक्षणों का प्रश्न है, वे ठीक वैसे ही होते हैं जैसे संस्कृत महाकाव्यों में। 'सेतुबंध' का पर्यालोचन करने पर पता चलता है कि सेतुबंध

कालिदासोत्तर संस्कृत महाकाव्यों की कृत्रिम शैली का परिचय देता है। उसका प्रमुख रस वीर होते हुए भी उसमें शृंगार के विलासादि का वर्णन पाया जाता है। जलक्रीड़ा, वनविहार, रतिक्रीड़ा आदि वर्णनों की शास्त्रीय परंपरा का पालन 'सेतुबंध' में देखा जा सकता है। दूसरी ओर शैली की दृष्टि से जहाँ 'पउमचरिअ' प्राकृत की स्वाभाविक शैली का आश्रय लेता है, वहाँ 'सेतुबंध' कृत्रिम अलंकृत शैली का प्रयोग करता है। यहाँ समासांत पदावली, श्लेष तथा यमक की अभिरुचि, अर्थालंकारों का प्राचुर्य दिखाई पड़ता है, जो 'पउमचरिअ' में नहीं है। 'सेतुबंध' की इस शैलीगत विशेषता ने निःसंदेह भावी प्रबंधकाव्यों की परंपरा को प्रभावित किया है। जैन अपभ्रंश पुराणों एवं चरितकाव्यों में जहाँ विषय की दृष्टि से 'पउमचरिअ' का प्रभाव पड़ा है, शैली की दृष्टि से 'सेतुबंध' का प्रभाव कहा जा सकता है। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि की कृतियों में इसी तरह की कृत्रिम अलंकृत शैली पाई जाती है। महाकाव्यों की तत्तत् वर्णनरूढ़ियाँ भी अपभ्रंश प्रबंधकाव्यों में प्रयुक्त हुई हैं और वहीं से ये रूढ़ियाँ हिंदी के आदिकालीन प्रबंधकाव्यों में आ गई हैं। वाक्पतिराज का 'गउडवहो' प्रबंधकाव्य की एक तीसरी शैली का परिचायक है—चरितकाव्यों की शैली। हम देखते हैं कि आश्रयदाता राजाओं के चरित को लेकर काव्य लिखने की प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य में बाद में आई है, लेकिन दसवीं-ग्यारहवीं शती के बाद संस्कृत में यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई कि संस्कृत महाकाव्य राजाओं के जीवनचरित को लेकर ही लिखे गए। वैसे इसका पहला रूप हमें संस्कृत में ही बाण के 'हर्षचरित' के रूप में मिलता है, किंतु पद्य में चरितकाव्यों का प्रणयन प्राकृत से शुरू हुआ कहा जा सकता है। वाक्पतिराज का 'गउडवहो' पहला चरितकाव्य है, जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता राजा के शौर्य को काव्य का विषय बनाया है। 'गउडवहो' का ही प्रभाव एक ओर संस्कृत चरितकाव्यों—विक्रमांकदेवचरित, नवसाहसांकचरित आदि—पर, दूसरी ओर गौण रूप से हिंदी के चरितकाव्यों पर पड़ा है। इतना होते हुए भी हिंदी के आदिकालीन प्रबंधकाव्यों पर प्राकृत प्रबंधकाव्यों का जो भी प्रभाव पड़ा है वह साक्षात् रूप से न होकर या तो अपभ्रंश चरितकाव्यों के माध्यम से या फिर संस्कृत महाकाव्यों और चरितकाव्यों के द्वारा आया हुआ है।

(२) मुक्तक काव्य—प्राकृत का मुक्तक-काव्य-साहित्य अत्यधिक समृद्ध रहा है, और ऐसा अनुमान होता है कि प्राकृत का जितना मुक्तक-काव्य साहित्य हमें मिला है, वह उस महान् मुक्तक-काव्य-साहित्य का बहुत थोड़ा अंश है जो प्राकृत में रहा होगा। मुक्तक-काव्य-परंपरा को सर्वप्रथम विषय की दृष्टि से दो धाराओं में विभक्त किया जा सकता है—(१) उपदेशात्मक, (२) शुद्ध साहित्यिक। उपदेशात्मक मुक्तकों में हम धार्मिक एवं नीति संबंधी मुक्तकों को लेते हैं। इनका प्रारंभिक रूप

हम धम्मपद के बुद्धवचनों में ही ढूँढ़ सकते हैं जिनमें धार्मिक तथा नैतिक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। जैन प्राकृत साहित्य में भी हम 'समयसार' जैसी रचनाओं को इसी कोटि की मानते हैं। जातककथाओं तथा जैन निज्जुत्तियों में भी यत्रतत्र ऐसे नीतिपरक मुक्तक अनुस्यूत पाए जाते हैं जो मूलतः प्राकृत मुक्तक हैं। जैन प्राकृत स्तोत्र साहित्य भी धार्मिक मुक्तक-काव्यों का ही एक अंग है जिसे संस्कृत स्तोत्र-काव्य-परंपरा का प्रभाव कहा जा सकता है। प्राकृत की शुद्ध मुक्तक-काव्य-परंपरा की सच्ची वाहक वैसे तो गाथासप्तशती तथा वज्जालग्ग की गाथाएँ हैं किंतु इससे भी पहले हम बौद्ध थेरगाथा तथा थेरीगाथा के भावप्रवण मुक्तकों को भी इसमें समाविष्ट कर सकते हैं। बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के मुक्तक काव्यों में प्रकृति का अनाविल सौंदर्य तथा भावों की स्वाभाविक विवृति उनके शुद्ध साहित्यत्व को प्रतिष्ठापित करने में अलम् हैं। गाथासप्तशती तथा वज्जालग्ग की गाथाओं में हमें दो तरह के मुक्तक काव्य मिलते हैं, एक नीतिपरक, दूसरे शृंगारपरक। यद्यपि गाथासप्तशती के टीकाकारों ने नीतिपरक पद्यों को भी शृंगार के परिपार्श्व में ही रखकर व्याख्या की है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि ये पद्य पूर्णतः नीतिसंबंधी हैं, वैसे गाथासप्तशती की अधिकांश गाथाएँ शृंगारपरक ही हैं। इन शृंगारी मुक्तकों का मूलस्रोत चाहे लोकसाहित्य रहा हो किंतु जिस रूप में ये मिले हैं उस रूप में वे शुद्ध लोकसाहित्य नहीं माने जा सकते। गाथासप्तशती के शृंगारी मुक्तक काव्यों की परंपरा लोकसाहित्य तथा शुद्ध साहित्य के अंतर्गत प्रवाहित होती रही है। लोकसाहित्य में यही परंपरा छनती हुई हेमचंद्र के अपभ्रंश दोहों में प्रकट होती जान पड़ती है। शुद्ध साहित्य में यह परंपरा संस्कृत तक में पहुँच गई है और यदि भर्तृहरि, अमरुक, शीला भट्टारिका, विज्जिका, विकटनितंबा जैसी शृंगारी मुक्तक कवि-कवयित्रियों पर साक्षात् या गौण रूप से प्राकृत गाथाओं का प्रभाव माना जाय तो अनुचित न होगा। गोवर्धन की **आर्यासप्तशती** पर तो हाल की गाथासप्तशती का इतना स्पष्ट प्रभाव है कि यदि गोवर्धन की आर्यासप्तशती को हाल की गाथाओं की ही संस्कृतछाया कहा जाय तो अधिक ठीक होगा। प्राकृत शृंगारी मुक्तकों के प्रभाव से जयदेव का गीतगोविंद भी नहीं बच पाया है। केवल संस्कृत साहित्य ही नहीं, संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास में भी प्राकृत मुक्तक-काव्यों ने अभूतपूर्व योग दिया है। साहित्यशास्त्र के ग्रंथों का पर्यालोचन करने पर पता चलता है कि अलंकारशास्त्रियों ने तत्तत् साहित्यशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रतिपादन करते समय प्राकृत गाथाओं को उदाहरणों के रूप में उपन्यस्त किया है। ध्वनिसंप्रदाय के आविर्भाव ने इन प्राकृत मुक्तकों के मूल्यांकन में विशेष हाथ बँटाया है। ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य, शृंगार रस तथा उसके तत्तत् नायक-नायिका-भेद के समुचित उदाहरणों के लिये आनंदवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ या बाद के आलंकारिकों ने प्राकृत मुक्तकों की ही शरण ली है। इससे स्पष्ट है कि ध्वनि, वक्रोक्ति, भाषा की समासशक्ति तथा शृंगार की तत्तत् प्रक्रिया के लिये जितने

उपयुक्त उदाहरण प्राकृत मुक्तकों से मिल सके थे उतने संस्कृत में भी नहीं थे। प्राकृत शृंगारी मुक्तकों की यही परंपरा संस्कृत के माध्यम से हिंदी में आई है। रीतिकालीन मुक्तक काव्यों में, विशेषतः बिहारी, मतिराम और रसलीन के दोहों में, यही धारा बहती दिखाई देती है।

(३) **कथासाहित्य**—प्राकृत का कथासाहित्य लोककथाओं का विशाल समुद्र है। ब्राह्मण, महाभारत तथा पुराणसाहित्य में लोककथाओं और आख्यानों की जो परंपरा प्रवहमान है, वही बौद्ध निदान-साहित्य तथा जातककथाओं एवं जैन निज्जुत्तियों में दिखाई पड़ती है। इसी प्राकृत कथासाहित्य का एक संस्कृत रूप हमें 'पंचतंत्र' की कथाओं में मिलता है जो भारत में ही नहीं, मध्य एशिया होता हुआ यूरोप तक पहुँच गया है। बौद्ध जातक कथाएँ तथा जैन निज्जुत्तियाँ वे लोककथाएँ हैं जो जनसाहित्य के रूप में प्रचलित रही हैं। ये कथाएँ ही विक्रम की प्रथम शती के आसपास गुणाढ्य नामक विद्वान् के द्वारा बृहत्कथा के रूप में संगृहीत की गई थीं। बृहत्कथा वस्तुतः 'लोक कथाओं का विश्वकोश' था। इसकी हानि भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी हानि है। प्राकृत के लोककथा साहित्य ने एक ओर संस्कृत गद्यकाव्यों—वासवदत्ता, दशकुमारचरित, कादंबरी—को प्रभावित किया, दूसरी ओर जैन प्राकृत तथा अपभ्रंश की धार्मिक आख्यायिकाओं—समराइच्चकहा, तरंगवती, कुवलयमाला, वासुदेवहिंडी, भविसयत्तकहा आदि—को विषयगत तथा शैलीगत प्रेरणा दी। धीरे धीरे ये लोककथाएँ प्रबंधकाव्यों में भी समाविष्ट हो गईं और जैन चरितकाव्यों में इनका प्रधान या अवांतर कथाओं के रूप में प्रयोग होने लगा। भविसयत्तकहा, सिरिपंचमीकहा, करकंडचरिउ जैसे अपभ्रंश प्रबंधकाव्यों में इनका अस्तित्व देखा जा सकता है। अपभ्रंश तथा प्रारंभिक हिंदी के प्रबंधकाव्यों में प्रयुक्त कई लोककथात्मक रूढ़ियों का आदिस्रोत प्राकृत कथासाहित्य ही रहा है। पृथ्वीराजरासो आदि आदिकालीन हिंदी काव्यों में ही नहीं, बाद के सूफी प्रेमाख्यान काव्यों में भी ये लोककथात्मक रूढ़ियाँ व्यवहृत हुई हैं तथा इन कथाओं का मूल स्रोत किसी न किसी रूप में प्राकृत कथासाहित्य में विद्यमान है।

(४) **नाटक**—प्राकृत में अपना अलग से नाटकसाहित्य नहीं मिलता। वैसे कर्पूरमंजरी सट्टक जैसी दो एक नाटकीय कृतियाँ शुद्ध प्राकृत में मिलती हैं, किंतु उनका ढर्रा संस्कृत नाटक साहित्य का ही है। सट्टक उपरूपकों में ऐसी कोई विशेषता नहीं जिसके लिये उन्हें संस्कृत नाटिकाओं से सर्वथा भिन्न सिद्ध किया जा सके। अंकों के स्थान पर 'जवनिकांतर' की स्थापना तथा सर्वत्र प्राकृत का प्रयोग सट्टक की ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें नाटिकाओं से भिन्न सिद्ध करती हैं। सट्टक की

एक विशेषता यह भी है कि उसमें प्रवेशक तथा विष्कंभक नहीं होते, वैसे नाटिका के बाकी सभी लक्षण सट्टक में पाए जाते हैं[1]।

यद्यपि उपलब्ध प्राकृतसाहित्य में नाटकसाहित्य का अभाव-सा है, तथापि अनुमान होता है कि प्राकृतकाल में जनता का अपना लोकमंच रहा होगा और उसी ने अवहट्टकालीन 'रासक' परंपरा को जन्म दिया होगा। साहित्यिक नाटकों की धारा प्राकृत में ही सूख गई, इसीलिये अपभ्रंश तथा हिंदी में इस परंपरा का अभाव मिलता है। नव्य हिंदी में नाटकों का आविर्भाव पारंपरिक न होकर संस्कृत या पाश्चात्य नाटक साहित्य का प्रभाव है।

(५) प्राकृत छंदःपरंपरा—प्राकृत साहित्य ने अपनी अलग से छंदःपरंपरा का उदय किया। हम देख चुके हैं कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य की छंदःपरंपरा वर्णिक छंदो की परंपरा है। संस्कृत छंदो की परंपरा मूलतः मात्रिक छंदों की नहीं है। प्राकृत साहित्य अपना विकास लोकजीवन की भित्ति पर कर रहा था, फलतः उसने नृत्य तथा संगीत के आधार पर छंदोविधान का आरंभ किया। प्राकृत में ही सर्वप्रथम मात्राच्छंदों या तालच्छंदों (ध्रुवाओं) का विवरण उपन्यस्त किया गया है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वैदिक छंद या संस्कृत वर्णिक छंद प्राकृत में सर्वथा लुप्त हो गए थे। भरत के नाट्यशास्त्र में हमें प्राकृत भाषा में निबद्ध गायत्री, उष्णिक्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती के उदाहरण मिलते हैं[2]। इतना होने पर भी यह तो निश्चित है कि धीरे धीरे इनका प्रयोग कम हो चला है। प्राकृत की छंदःपरंपरा के लिये हमें 'स्वयम्भूछंद', हेमचंद्र का 'छंदोनुशासन' तथा 'प्राकृतपैंगलम्' से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। तालछंदो या मात्राछंदों में गणों या वर्णों का उतना ध्यान नहीं रखा जाता जितना प्रत्येक चरण, अर्धाली, या समग्र छंद की मात्रात्मक संख्या का। प्राकृत में इस प्रकार के छंदों का अधिक प्रचार है, ये छंद संस्कृत वर्णिक छंदों की ही भाँति

[1] सो सट्टओत्ति भरोइ दूरं जो णाडिआइं अणुहरइ।
किं उण एत्थ पवेसअविक्कंभाइं ण केवलं होंति॥ राजशेखर : कर्पूरमंजरी।

[2] भरत ने नाट्यशास्त्र के बत्तीसवें अध्याय में प्राकृत भाषा के वैदिक छंदों के उदाहरण दिए हैं। गायत्री का उदाहरण निम्नांकित है :
मेहरवाउलं कन्दरवसामिअदिवाअरं।
रूअदि विअ णहअलम्॥ (गायत्री)
(मेघरवाकुलं कंदराविश्रामितदिवाकरं।
रोदिति इव नमस्तलम्॥), यह १६ वर्णवाली गायत्री (स्वराट् गायत्री) का उदाहरण है।

अतुकांत होते हैं। छंदों के चरणों के अंत में तुक मिलाने की शैली का प्रचलन अपभ्रंश काल में चला है तथा तुकांत छंद अपभ्रंश छंदःपरंपरा के प्रतीक हैं। जिस प्रकार संस्कृत की छंदःपरंपरा का प्रतीक अनुष्टुप् है तथा अपभ्रंश छंदःपरंपरा का प्रतीक दोहा, वैसे ही प्राकृत छंदःपरंपरा का प्रतीक गाहा (गाथा) छंद है। यही गाहा छंद प्राकृत के अधिकांश मात्रिक छंदों का मूलस्रोत है। प्राकृत के प्रमुख छंदों में गाहा, गाहू, विगाथा, उद्गाथा, गाहिनी, सिंहिनी, तथा स्कंधक छंद हैं। इनमें से 'गाहा' छंद अपने भेदोपभेदों के साथ आर्या के रूप में संस्कृत छंदों में भी समाविष्ट हो गया है। अपभ्रंश के तुकात छंदों के विकास के कारण छंदों में संगीतात्मकता का अधिक समावेश हो गया, फलतः आगे चलकर शुद्ध प्राकृत छंदों का प्रचलन कम हो गया, अपभ्रंश कवियों ने प्रायः तुकांत अपभ्रंश छंदों को ही अपनाया है। किंतु प्राकृत का गाथा छंद फिर भी प्रयुक्त होता रहा और 'रासो' में चंदबरदाई तक ने इसका प्रयोग किया। प्राकृत साहित्य में संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का भी प्रयोग मिलता है। प्रवरसेन तथा वाक्पतिराज ने शुद्ध प्राकृत छंदों का ही प्रयोग किया किंतु राजशेखर ने कर्पूरमंजरी में कई संस्कृत वर्णिक वृत्तों को लिया है। प्राकृत पद्य शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, मालिनी, इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा आदि छंदों में मिलते हैं। शार्दूलविक्रीडित छंद ही सट्टक के नाम से पृथ्वीराजरासो तक में प्रयुक्त हुआ है। अन्य संस्कृत वर्णिक वृत्त भी प्राकृत में प्रयुक्त होते रहे होंगे, जिनमें भुजंगप्रयात का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। भुजंगप्रयात का प्रयोग रासो तथा कीर्तिलता में अधिक पाया जाता है। रामपाणिवाद ने भी 'कंसवहो' में संस्कृत वर्णिक वृत्तों को ही चुना है। प्राकृत साहित्य में प्रचलित मात्राछंदों की परंपरा आज हिंदी में भी पाई जाती है। नव्य हिंदी में प्राकृत छंदों का प्रयोग भले ही न पाया जाता हो, किंतु मात्रावृत्तों की परंपरा आज भी अक्षुण्ण बनी है।

तृतीय अध्याय

अपभ्रंश

१. अपभ्रंश भाषा का उदय

विक्रम की पहली शती से ही प्राकृत भाषा साहित्यिक स्वरूप धारण करने लग गई थी। ज्यों ज्यों साहित्यिक भाषा परिनिष्ठित स्वरूप का आश्रय लेने लगी त्यों त्यों देशी भाषा के स्वरूप से दूर हटती गई और जब देशी भाषा तथा प्राकृत में अधिक भेद दिखाई देने लगा तब उसे अलग संज्ञा देनी पड़ी। प्राकृतकाल के बाद की भाषाविकासवाली सीढ़ी, जो प्राकृत तथा नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है, यही 'देशी भाषा' है जिसे उन वैयाकरणों ने, जो भाषा के शुद्ध व्याकरणसंमत रूप को ही संमान की दृष्टि से देखते थे, 'अपभ्रंश' अथवा 'अपभ्रष्ट' (बिगड़ी हुई, अशुद्ध) नाम दिया। इसी शब्द के प्राकृत रूप 'अवहंस' 'अवब्भंस', 'अवहट्ट', 'अवहत्थ' आदि भी मिलते हैं। देशी भाषा के लिये इस प्रकार की तुच्छ संज्ञा का प्रयोग असंस्कृत एवं अव्याकरणसंमत भाषारूपों के प्रति विद्वान् वैयाकरणों के अनादर का संकेत करता है। 'अपभ्रंश' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है, किंतु वहाँ यह शब्द भाषा-वैज्ञानिक अर्थ में प्रयुक्त न होकर अपाणिनीय देशी शब्दों के लिये प्रयुक्त हुआ है[1]। पतंजलि के समय तक अपभ्रंश भाषा की प्रवृत्तियाँ देश्यभाषाओं में नहीं आई थीं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्राकृत पाठ्य का संकेत करते समय 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है[2]। पर भरत का यह प्रयोग भाषा के लिये न होकर उस कोटि के शब्दों के लिये हुआ है जिन्हें हम 'तद्भव' कहते हैं। भरत ने प्राकृत शब्द तीन तरह के माने हैं। समान शब्द (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) तथा देशीगत। पर अपभ्रंश का भाषा के रूप में संकेत न मिलने पर भी भरत में 'उ'कारबहुला विभाषा का संकेत मिलता है जो अपभ्रंश की विशेषताओं में से ही एक है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के पूर्व ही हिमालय के पार्वत्य प्रदेश, सिंधु, सौवीर जैसे

[1] एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलि केत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। महाभाष्य, १. १. १।

[2] त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च॥ ना० शा०, १८. ३।

प्रदेशों के रहनेवाले लोगों की विभाषा की खास विशेषता उकार-बहुलत्व हो चली थी[१]। भरत का समय विक्रम की पहली या दूसरी शती माना जा सकता है। ऐसा हो सकता है कि ये वही आभीर रहे हों जो आरंभ में सीमाप्रांत (स्वात) के पास रहते थे तथा विक्रम की पाँचवीं-छठी शती में राजस्थान, गुजरात और मालवा में फैल गए थे[२]। इन्हीं लोगों के संपर्क में आकर शौरसेनी प्राकृत ने नई भूमिका धारण की हो, और वह अपभ्रंश की स्थिति की ओर बढ़ चली हो। स्वातप्रदेश से आनेवाले इन गुर्जरों ने, जिन्हें ग्रियर्सन ने 'खश' भी कहा है[३], शौरसेनी को निजी शब्दसंपत्ति भी दी होगी। पर अपभ्रंश भाषा में पाई जानेवाली प्रवृत्तियों का विद्वानों ने तृतीय शती के प्राकृत काव्य विमलसूरिकृत 'पउमचरिअ' तथा बौद्ध गाथा साहित्य तक में संकेत किया है[४]।

२. अपभ्रंश का साहित्यिक रूपधारण

भामह तथा दंडी के समय तक अपभ्रंश भाषा साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थी। भामह के मतानुसार अपभ्रंश काव्य की भाषाशैलियों में से एक है,[५] तथा दंडी के मत से काव्य में प्रयुक्त आभीरादि की विभाषा अपभ्रंश है[६]। दंडी के समय (सातवीं शती) में आकर अपभ्रंश का अर्थ आभीरों की बोली लिया जाने लगा था। पर इस समय तक यह अशिष्टों की ही बोली समझी जाती थी। शिष्टसमाज या तो संस्कृत का व्यवहार करता था, या प्राकृत का। आठवीं शती के अंत में कुवलयमालाकार उद्योतन ने उस काल की एक काव्यशैली के कुछ नमूने दिए हैं जिन्हें वह 'अपभ्रंश' (अवब्भंस) कहता है। इसके मतानुसार अपभ्रंश काव्य की वह शैली है जिसमें प्राकृत तथा संस्कृत दोनों की मिश्रित शैली पाई जाती है, जिसमें संस्कृत और प्राकृत संस्कृत पदों की तरंगों का रिंगण हो, जो प्रणयकोप से युक्त कामिनी के आलाप की तरह मनोहर हो[७]। इसी समय स्वयंभू ने भी अपभ्रंश-काव्य-रचना की तुलना एक नदी से की, जो संस्कृत और प्राकृत

[१] हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां नियोजयेत्॥ वही, १८. ४८।

[२] ग्रियर्सन : दि पहाड़ी लैंग्वेजेज, इंडियन एंटिक्वेरी, १९१४, पृ० १५०।

[३] देखिए—वही लेख, पृ० १४८-९।

[४] टगारे, हि० ग्रा० अ०, भूमिका, पृ० १।

[५] का० अ० १. १६. २८।

[६] आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। का० आ०, १. ३६।

[७] ता किं अवहंसं होहइ तं सक्कय पाय उभय सुद्धासुद्ध पय सम तरंग रंगंत वग्गिरं...पणय कुविय पिय माणिणि समुल्लाव सरिसं मणोहरम्। कुवलयमाला।

के दोनों तटों का स्पर्श करती, घनपद-संघटना की चट्टानों से टकराती बहा करती है[1]।

३. आलंकारिकों द्वारा मान्यता

आगे जाकर संस्कृत के आलंकारिक अपभ्रंश भाषा का भी उल्लेख करने लगे। रुद्रट (९वीं शती) ने अपभ्रंश को छः भाषाभेदों में से एक माना है[2]। राजशेखर ने अपभ्रंश कवियों का वर्णन संस्कृत, प्राकृत तथा पैशाची कवियों के साथ किया है और यह बतलाया है कि अपभ्रंश देवी सरस्वती का जघन है तथा राजसभा में अपभ्रंश कवि को पश्चिम दिशा में बैठना चाहिए[3]। नवीं शती के बाद अपभ्रंश को साहित्यिक समादर मिल चुका था, और इसीलिये यह शिष्टों की भाषा समझी जाने लगी। पुरुषोत्तम (११वीं शती) ने अपभ्रंश को शिष्टप्रयोग की भाषा माना[4] और नमिसाधु ने प्राकृत तथा अपभ्रंश में अभेद घोषित किया[5]। इन्होंने काव्यालंकार की टीका में लिखा है कि अपभ्रंश में शौरसेनी, मागधी तथा महाराष्ट्री प्राकृतों का मिश्रण पाया जाता है। इसके बाद भी कई लेखकों ने अपभ्रंश का उल्लेख किया है। हेमचंद्र ने अपने शब्दानुशासन के अष्टम अध्याय में प्राकृतों का व्याकरण निबद्ध करते समय ३२९वें सूत्र से लेकर ४४८वें सूत्र तक अपभ्रंश का व्याकरण निबद्ध किया। हेमचंद्र के समय तक अपभ्रंश का साहित्य इतना समृद्ध हो चुका था कि उन्होंने इसको परिनिष्ठित व्याकरणसंमत रूप देना चाहा। हेमचंद्र ने अपने पूर्व प्रचलित अपभ्रंश कृतियों का अध्ययन कर इन नियमों का आलेखन किया है। उन्होंने अपने व्याकरण में पूर्ववर्ती काव्यों के उद्धरण भी दिए हैं[6]। हेमचंद्र के पश्चात् पर्याप्त समय तक अपभ्रंश साहित्य की भाषा बनी

[1] सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय, देसी-भासा उभय-तडुज्जल, कवि-दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल। स्वयंभू : पउमचरिउ।

[2] षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः। का० अ०, २. १२।

[3] जघनमपभ्रंशः, (तृतीय अध्याय, पृ० ६); पश्चिमेनापभ्रंशकवयः (दशम अध्याय, पृ० ५५) का० मी०।

[4] शेषं शिष्टप्रयोगात्। पुरुषोत्तम, १७. ६१।

[5] तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। का० अ०, टीका, २. १२।

[6] हेमचंद्र के द्वारा शब्दानुशासन में उद्धृत अपभ्रंश पद्यों को सर्वप्रथम पिशेल ने प्रकाशित किया था। 'प्राकृत स्प्राखेन' के परिशिष्ट रूप में स्वतंत्रतः प्रकाशित ग्रंथ 'मातेरियाल्येन त्सुर केन्तिनस् देस अपभ्रंश' (बर्लिन, १९०२) के ४५ पृष्ठों में हेमचंद्रवाले दोहों को जर्मन अनुवाद तथा भाषावैज्ञानिक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया गया है। शेष भाग में चंड, ध्वन्यालोक, सरस्वतीकंठाभरण तथा विक्रमोर्वशीय के अपभ्रंश पद्य हैं। पिशेल का यह ग्रंथ अपभ्रंश के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

रही। प्रारंभिक हिंदी की रचनाएँ भी अपभ्रंशाभास का रूप लेकर आती देखी जाती हैं।

संस्कृत को शुद्ध 'देवी वाक्' माननेवाले वैयाकरण देशी भाषा को 'भ्रष्ट', 'अपभ्रष्ट', 'बिगड़ैल' इत्यादि कहते रहे। उक्तिव्यक्तिप्रकरण के लेखक दामोदर पंडित (१२वीं शती) तक ने उस काल की 'अवहट्ठ' भाषा को 'पतिता ब्राह्मणी' कहा था[१]। पर भला देशी भाषा के उपासक अपनी माँ भारती की यह उपेक्षा कैसे सह सकते थे, फलतः वे इसे अपभ्रंश या अपभ्रष्ट न कहकर देसी भाषा कहना ठीक समझते थे। डा० हीरालाल जैन ने रामसिंह कृत 'पाहुडदोहा' की भूमिका में इस बात को सोदाहरण पुष्ट किया है। स्वयंभू, पद्मदेव, लक्ष्मणदेव, पादलिप्त सभी इसे 'देसी' कहते हैं[२]। बाद में भी विद्यापति ने कीर्तिलता में 'देसिल वअना' को मीठा कहा है :

सक्कय वाणी बहुअ (न) भावइ। पाअउ रस को मरम न पावइ ॥
देसिल वअना सब सन मिट्ठा। तं तैसन जम्पिअ अवहट्ठा ॥
(पृ० ६)

संस्कृत वाणी बहुतों को अच्छी नहीं लगती। प्राकृत रसप्रवण नहीं होती, रस का मर्म नहीं प्राप्त करती। देसी वचन सबसे मीठे होते हैं। इसलिये मैं उसी अपभ्रंश (अवहट्ठ) में कथा कहता हूँ।

१ पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चिता ब्राह्मणीत्वमिति चेति। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, कारिका ६ की वृत्ति, पृ० ३।

२ डा० जैन ने इन कवियों की वे पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जहाँ अपभ्रंश के लिये 'देसी' का प्रयोग किया गया है :

(१) देसी-भासा उभय-तडुज्जल।
कविदुक्कर घणसद्दसिलायल। स्वयंभू : पउमचरिउ।

(२) वायरणु देसिसद्दत्थगाढ।
छंदालंकारविलास पोढ ॥
ससमय परसमय वियारसहिय।
अवसद्दवाय दूरेण रहिय ॥ पद्मदेव : पासणाहचरिउ।

(३) ण समाणमि छंदु ण बंधभेउ,
णउ हीणाहिउ मत्तासमेउ।
णउ सक्कउ पाउअ देस-भास,
णउ सद्दु वण्णु जाणमि समास ॥ लक्ष्मणदेव : णेमिणाहचरिउ।

(४) पालित्तएण रइया वित्थरओ तह व देसिवयणेहिं।
णामेण तरंगवइ कहा विचित्ता य विउला य ॥ पादलिप्त : तरंगवतीकथा, 'पाहुड दोहा' की भूमिका, पृ० ४१-४२।

४. अपभ्रंश के प्रकार

प्राकृतकाल में हम मोटे तौर पर महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची इन चार प्राकृतों का संकेत पाते हैं। पालि, अर्धमागधी (जैन मागधी), तथा जैन महाराष्ट्री का इन्हीं में अंतर्भाव मानना उचित होगा। प्रत्येक प्राकृत को नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में परिवर्तित होने के पहले निश्चित रूप से अपभ्रंश की स्थिति से गुजरना पड़ा होगा, किंतु वैयाकरणों ने कहीं भी महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची अपभ्रंश का उल्लेख नहीं किया है। वैयाकरणों ने केवल तीन अपभ्रंशों का उल्लेख किया है—नागर, व्राचड, तथा उपनागर[1]। पर इसी संबंध में मार्कंडेय ने यह भी बतलाया है कि कुछ विद्वान् देशभेद के आधार पर अपभ्रंश के २७ भेद मानते थे। डा० याकोबी ने सनत्कुमारचरित की भूमिका में अपभ्रंश का विभाजन उत्तरी, पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिणी, इस प्रकार किया है। याकोबी के इस मत का खंडन डा० टगारे ने अपने 'अपभ्रंश भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण' में किया है।[2] डा० टगारे के मत से अपभ्रंश भाषा का वर्गीकरण निम्नोक्त तीन भेदों में किया जा सकता है[3] :

१. पूर्वी अपभ्रंश : सरह तथा कह्न के दोहाकोश और चर्यापदों की भाषा।

२. दक्षिणी अपभ्रंश : पुष्पदंतकृत महापुराण, नेमिकुमारचरित (णेमिकुमारचरिउ) तथा यशोधरचरित (जसहरचरिउ), एवं मुनि कनकामरके करकंडचरित (करकंडुचरिउ) की भाषा।

३. पश्चिमी अपभ्रंश : कालिदास, जोइंदु, रामसिंह, धनपाल, हेमचंद्र आदि की अपभ्रंश भाषा, जिसका रूप विक्रमोर्वशीय, सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, भविसयत्तकहा एवं हैम व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश दोहों आदि में पाया जाता है।

(१) पूर्वी अपभ्रंश

कह्न (कृष्णाचार्य) तथा सरह (शरहस्तपाद) के दोहाकोश एवं चर्यापदों की भाषा के विषय में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इन्हें पूर्वी अपभ्रंश माना है। डा० शहीदुल्ला ने अपने ग्रंथ 'ले शाँ मिस्तीके' की भूमिका में इस बात पर जोर दिया है कि कह्न तथा सरह की भाषा हेमचंद्र के अपभ्रंश व्याकरण के नियमों

[1] नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः।
अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथक् मताः॥ प्राकृतसर्वस्व, ७।

[2] टगारे : हि० ग्रा० अ०, पृ० १६।

[3] वही, पृ० १६, १८, २०।

का संकेत न कर, मार्कंडेय, रामतर्कवागीश, तथा क्रमदीश्वर के अपभ्रंश के चिह्नों को विशेष व्यक्त करती है[१]। इसी भूमिका में वे दोहाकोश की भाषा को पूर्वी अपभ्रंश घोषित करते हैं तथा तिब्बती परंपरा के आधार पर इसे बौद्ध अपभ्रंश कहना ठीक समझते हैं[२]। उनके मत से सरह के दोहाकोश की भाषा में बँगला की शब्दसंपत्ति तथा मुहावरों से समानता देखी जाती है[३]। कण्ह तथा सरह की भाषा को एक ओर बँगला का पूर्वज माना गया है, दूसरी ओर मैथिली का[४] और तीसरी ओर भोजपुरी का। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि दोहाकोश तथा चर्या की भाषा में ऐसी कोई विशेषता नहीं पाई जाती जो उसे स्पष्टतः मागधी प्राकृत की पुत्री सिद्ध कर सके। इनकी भाषा में शौरसेनी के परवर्ती लक्षण अधिक देखे जाते हैं और यह भाषा शौरसेनी अपभ्रंश (पाश्चात्य अपभ्रंश) के विशेष समीप है। डा० चाटुर्ज्या ने इस बात पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है : 'अपभ्रंशकाल में पूर्व के कवियों ने शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया है और अपनी विभाषा का बहिष्कार किया है। पश्चिमी अपभ्रंश में साहित्यिक रचना करने की परंपरा पूर्व में बहुत बाद तक चलती रही है तथा यह पूर्वी भाषा के उदित होने पर भी पाई जाती रही है[५]।' आगे चलकर डा० चाटुर्ज्या ने विद्यापति की 'अवहट्ठ' तक में पश्चिमी अपभ्रंश का प्रभाव माना है। डा० चाटुर्ज्या का मत मान्य है[६]। कण्ह तथा सरह की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही है, जिसमें पूर्वी वैभाषिक प्रवृत्तियों के कुछ चिह्न भी देखे जा सकते हैं क्योंकि दोहाकोश एवं चर्यापदों की

[१] डा० शहीदुल्ला : ले शाँ द मिस्तीके, पृ० ४५।

[२] इन तथ्यों से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि 'दोहाकोश' की भाषा पूर्वी अपभ्रंश है। उसे हम तिब्बती परंपरा के आधार पर बौद्ध अपभ्रंश कह सकते हैं। वही, पृ० ५५।

[३] सरह के दोहाकोश में प्रयुक्त शब्द तथा मुहावरे बँगला के शब्दों तथा मुहावरों से संबद्ध हैं। वही, पृ० ५५।

[४] चर्यापदों की भाषा चौका-चौकी क्षेत्र की प्राचीन मैथिली विभाषा का प्रतिनिधित्व करती है, जो परिनिष्ठित मैथिली तथा परिनिष्ठित बँगला की मध्यवर्तिनी है, जो अन्य मागधी विभाषाओं के समान कतिपय (मुख्यतः प्राचीन) विशेषताएँ रखती है। डा० मिश्र : मैथिली लिटरेचर, पृ० ११०।

[५] अपभ्रंश काल में, पूर्वी कवियों ने, अपनी निजी विभाषा का बहिष्कार कर पाश्चात्य या शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रयोग किया। पाश्चात्य शौरसेनी साहित्यिक विभाषा में काव्य निबद्ध करने की यह परंपरा उस समय के बाद तक भी चलती रहती, जब पूर्वी भाषाएँ स्वयं भी समृद्ध हो चुकी थीं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : ओ० डे० बैं० लैं०, भूमिका, पृ० ११।

[६] वही, भूमिका, पृ० ११४।

रचना पूरब में हुई है। कुछ लोगों ने यह भी संकेत किया है कि दोहाकोश की भाषा अधिक पश्चिमीपन लिए है, चर्यापदों की भाषा में पूरबीपन अधिक है[1]। पर यह भेद अनुमान पर अधिक आश्रित है, तथ्यों पर कम तथा इसके लिये भाषा-वैज्ञानिक प्रमाणों का सोदाहरण उपन्यास नहीं किया जाता। वस्तुतः हेमचंद्र, पुष्पदंत तथा दोहाकोश-चर्यापद का अपभ्रंश एक ही अपभ्रंश है[2]।

(२) **दक्षिणी अपभ्रंश**—टगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश की कल्पना की है और बरार में लिखी गई अपभ्रंश रचनाओं को इस कोटि में माना है। पर यह कल्पना भी ठोस भाषावैज्ञानिक भित्ति पर आधृत नहीं है। जब विद्वान् भाषावैज्ञानिक गवेषणाओं में भी तथ्यों को छोड़कर अनुमान और कल्पना के आधार पर नई स्थापनाएँ करते देखे जाते हैं तो बड़ा दुःख होता है। स्वयं टगारे ने ही इस भेद के लिये कोई भाषावैज्ञानिक प्रमाण नहीं दिए हैं। पुष्पदंत (पुष्फयंत) और मुनि कनकामर की भाषा निश्चित रूप से परिनिष्ठित (पश्चिमी) अपभ्रंश है। इसकी पुष्टि उन एक दो उदाहरणों से हो जायगी, जिन्हें हम इन कवियों की काव्यकला के संबंध में आगे उद्धृत करेंगे। यह निश्चित है कि १२वीं शती तक साहित्य में केवल एक ही भाषा का माध्यम चुना जाता रहा है, वह थी शौरसेनी (या नागर) अपभ्रंश। गुजरात से लेकर बंगाल तक, शूरसेन प्रदेश से लेकर बरार तक इसी साहित्यिक शैली का एकच्छत्र साम्राज्य था। पश्चिमी (शौरसेनी) अपभ्रंश उस काल की साहित्यिक भाषा थी, ठीक उसी तरह जैसे उसकी साक्षात् पुत्री हिंदी आज समस्त भारत की राष्ट्रभाषा तथा भारत के अधिकांश भाग की साहित्यिक भाषा है।

(३) **पश्चिमी अपभ्रंश**—अखिल उत्तरी भारत की तत्कालीन साहित्यिक भाषा पश्चिमी अपभ्रंश मूलतः शौरसेनी का वह परवर्ती रूप है जो गुजरात और राजस्थान में बोली जानेवाली बोलियों से मिश्रित हो गया था[3]। इसी को वैयाकरणों ने नागर अपभ्रंश के नाम से अभिहित किया है। यदि इसका आदिम साहित्यिक रूप विक्रमोर्वशीय के अपभ्रंश पद्यों में मिलता है तो परिनिष्ठित रूप हेमचंद्र के द्वारा उदाहृत दोहों में। अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) के संदेशरासक की भाषा में कुछ परवर्ती देशज प्रयोग होते हुए भी परिनिष्ठित रूपों के प्रति उन्मुखता

[1] नामवरसिंह : हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ४१, ४२।

[2] हेमचंद्रनुं अपभ्रंश, पुष्पदंतनुं अपभ्रंश अने दोहाकोशनुं अपभ्रंश एक ज अपभ्रंश छे। मोदी : अपभ्रंशपाठावली, भूमिका, पृ० १८।

[3] डा० चाटुर्ज्या : ओ० डे० बैं० लैं०, भूमिका, पृ० १६१।

देखी जा सकती है[१]। यही कारण है कि हम संदेशरासक को अपभ्रंश की कृति मानने के पक्ष में अधिक हैं, प्रारंभिक हिंदी की रचना मानने के पक्ष में नहीं। पर यह ऐसी कड़ी है जो दोनों को जोड़ती है तथा दोनों का इसपर समान अधिकार है। शौरसेनी या नागर अपभ्रंश की भी कई बोलियाँ रही होंगी जिन्हें मोटे तौर पर गुर्जर, आवंत्य तथा शौरसेनी इन तीन भेदों में बाँटा जा सकता है। गुर्जर बोली का ही परवर्ती रूप हम तेस्सितोरी की 'जूनी गुजराती' या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में देखते हैं। आवंत्य बोली से मालवी बोली का विकास हुआ है। शौरसेनी विभाषा पूर्वी राजस्थान, व्रज तथा दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर आदि की बोली रही है। प्राकृतपैंगलम् के पद्यों की भाषा अधिकांश इसी बोली का संकेत करती है। कुछ विद्वान् खड़ी बोली हिंदी को शौरसेनी बोली की पुत्री न मानकर एक भिन्न बोली की कल्पना करते हैं[२] जो भाषावैज्ञानिक दृष्टि नहीं कही जा सकती[३]। ऐसा करने पर तो हर पाँचवें या दसवें कोस पर नई बोली की कल्पना करनी पड़ेगी।

५. अपभ्रंश की विशेषताएँ

नागर अपभ्रंश या पश्चिमी अपभ्रंश की भाषावैज्ञानिक विशेषताएँ जो उसे प्राकृत से भिन्न सिद्ध करती हैं, निम्नलिखित हैं :

(१) **स्वर और ध्वनियाँ**—अपभ्रंश में प्रायः वे सभी स्वर और व्यंजन-ध्वनियाँ पाई जाती हैं, जो महाराष्ट्री प्राकृत में उपलब्ध होती हैं। प्राकृत की भाँति ही यहाँ भी ह्रस्व ए, और ह्रस्व ओ पाए जाते हैं। पिशेल ने बताया है कि उन संस्कृत शब्दों में जिनमें ए-ऐ तथा ओ-औ ध्वनियाँ और उनके पश्चात् संयुक्त व्यंजन आवें, ये स्वर क्रमशः ह्रस्व ए (=अ̆) ओ (=आ̆) हो जाते हैं[४]। उदाहरण के लिये

[१] प्रो० हरिवल्लभ भायाणी ने संदेशरासक की भूमिका पृ० ४७, ४८ में हेमचंद्र के दोहों तथा संदेशरासक की भाषा का भेद बताया है। वे इसकी भाषा को श्वेतांबर या गुर्जर अपभ्रंश मानते हैं पर वे भी इसे प्राकृतपैंगलम् की 'अवहट्ठ' से सर्वथा भिन्न प्रकृति की मानते हैं। वैसे यह तो स्पष्ट है कि संदेशरासक की भाषा पूर्णतः परिनिष्ठित अपभ्रंश नहीं है।

[२] श्री किशोरीदास वाजपेयी खड़ी बोली हिंदी को शौरसेनी बोली से उत्पन्न न मानकर एक नई बोली की कल्पना करते हैं पर उनके पास कोई ठोस भाषाशास्त्रीय प्रमाण नहीं है।

[३] डा० चाटुर्ज्या ने हरियानी बागरू, देशज 'हिंदुस्तानी' (खड़ी बोली), तथा व्रजभाखा, कनौजी, बुंदेली को एक ही बोली पछांही या पश्चिमी के अंतर्गत समाविष्ट किया है। दे० डा० चाटुर्ज्या : भा० आ० हिं०, पृ० १८३।

[४] पिशेल : प्रा० प्रा० व्या०, § ८५, पृ० ७३।

पक्ख (प्रेक्ष), सोक्ख, जोव्वण में प्रथम स्वर ह्रस्व (एकमात्रिक) है। वैयाकरणों ने यह बताया है कि अपभ्रंश में 'ऋ' स्वर सुरक्षित रहता है। हेमचंद्र ने इसके उदाहरण तृणु, सुकृदु दिए हैं[1]। किंतु काव्यों में प्रायः 'ऋ' स्वर का अस्तित्व नहीं मिलता। प्राकृत की भाँति उसका, अ, इ, या उ रूप दृष्टिगोचर होता है। अपभ्रंशकाल में आकर संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रति विशेष रुचि देखी जाती है। संभव है, इन शब्दों के लिखने में 'ऋ' ध्वनि के प्रतीक को अक्षुण्ण बनाए रखा हो। साथ ही कई स्थानों पर यह 'रि' के रूप में भी मिलता है।

अपभ्रंश की दूसरी ध्वन्यात्मक विशेषता 'य' श्रुति का प्रयोग है। हम देखते हैं कि संस्कृत में एक साथ दो स्वर ध्वनियाँ नहीं मिलतीं, उनमें संधि हो जाती है। प्राकृत में यह बात नहीं है। प्राकृत में एक साथ एक से अधिक स्वर ध्वनियाँ रह सकती हैं और उनमें संधि नहीं होती। वे अलग अलग अक्षर-प्रक्रिया (सिलेबिक फंक्शन) का संपादन करती देखी जाती हैं। उदाहरण के लिये संस्कृत मयूख, आतप, आकाश, जाया, वादयति के प्राकृत रूप मऊह, आअव, आआस, जाआ, वाएइ होते हैं। अपभ्रंशकाल के पूर्व ही प्राकृतकाल में कुछ ऐसी वैभाषिक प्रवृत्तियाँ रही होंगी जो इन स्वर ध्वनियो में संधि न होने देने के लिये दोनों के उच्चारण के बीच 'य' श्रुति (ग्लाइड) का प्रयोग करती थीं। विद्वानों ने जैन महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्री से थोड़ा भिन्न मानते हुए उसकी विशेषता यही मानी है कि उसमें 'य' श्रुति पाई जाती है। पश्चिमी अपभ्रंश में आकर यह 'य' श्रुति सर्वत्र प्रयुक्त होने लगी, उदाहरण के लिये, णायदत्त, जुयल आदि। पर 'य' श्रुति का पता मागधी तक में मिलता है। संस्कृत 'योजनम्' का मागधी रूप 'योयणं' मिलता है। यहाँ हार्नली ने 'ज' को 'य' के रूप में परिवर्तित माना है, किंतु 'ज' स्वतः 'य' नहीं हुआ है। 'योजनं' पहले 'योअणं' फिर 'यो (य) अणं (योयणं) हुआ है। प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी के मध्यग 'ज' को 'य' के रूप में परिवर्तित माना है। किंतु वास्तविकता ठीक यही नहीं है, वस्तुतः 'य' यहाँ श्रुत्यात्मक ही है। अपभ्रंश में य-श्रुति उसकी खास विशेषता बन बैठी है।[2] वैसे

[1] सिद्ध हेमचंद्र, ८. ४. ३२९।

[2] हेमचंद्र ने बताया है कि प्राकृत में कहीं कहीं व्यंजन ध्वनि का लोप हो जाने पर बचे अ अथवा आ के पहले 'य' श्रुति का प्रयोग देखा जाता है। इसका संकेत वे 'अवर्णो यश्रुतिः' (८।१।१८०) सूत्र की टीका में करते हैं। इसका प्रयोग उद्वृत्त स्वरों की विच्छित्ति रोकने के लिये किया जाता है। उदाहरण के लिये संस्कृत उदय, मकर, कृत, केदार, कलकल, प्राकृत में ही विकल्प से उअअ-उयय, मअर-मयर, किअ-किय, केआर-केयार, कलअल-कलयल पाए जाते हैं। मार्कंडेय ने भी इस विशेषता का संकेत किया है। उसमें तो

अपभ्रंश में कुछ उदाहरण 'व' श्रुति के भी पाए जाते हैं, जैसे रुवंति, सुहव, (रुदंति, सुभग)।

(२) व्यंजन ध्वनि—व्यंजन ध्वनियों में भी प्रायः सभी प्राकृत ध्वनियाँ पाई जाती हैं। व्यंजन ध्वनियों में प्राकृतभाषा वाली विशेषताओं के अतिरिक्त अपभ्रंश की कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं। अपभ्रंश में आकर स्वरमध्यग क्, त्, प् का ग्, द्, ब् हो जाता है, तथा ख्, थ्, फ् का घ्, ध्, भ्।[1] उदाहरण के लिये मदकल, विप्रियकारक, सापराध, क्रमशः मयगल, विप्पियगारउ, सावराह हो जाते हैं। किंतु इस नियम का अपभ्रंश में पूरी तरह पालन नहीं किया जाता। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार संयुक्त ध्वनियों में 'र' सुरक्षित रहता है, किंतु अपभ्रंश में सर्वत्र ऐसा नहीं होता है। अपभ्रंश में पद के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं रहता, इसलिये इसकी क्षतिपूर्ति के लिये वैयाकरणों ने 'रेफ' का आगम माना है। हेमचंद्र ने बताया है कि अपभ्रंश में केवल ग्ह, म्ह, ल्ह संयुक्त ध्वनियाँ ही आदि में आ सकती हैं, अन्य नहीं[2]। यही कारण है कि यहाँ व्यास, दृष्टि जैसे रूप क्रमशः व्रासु, द्रेह्नि हो जाते हैं। पर अपभ्रंश साहित्य में यह प्रवृत्ति भी बहुत कम पाई जाती है। वैसे आगे चलकर अपभ्रंशोत्तर काल की रचनाओं में यह प्रवृत्ति विशेष पाई जाने लगी है और यह डिंगल की विशेषताओं में से एक है। व्यंजन परिवर्तन में एक और महत्वपूर्ण विशेषता मध्यग 'म' का 'वँ' रूप है। प्रायः तत्सम शब्दों में 'न' सुरक्षित रहता था, किंतु तद्भव रूपों में एक साथ 'म', 'वँ' दोनों रूप मिलते हैं। हमें गाम-गाँव, सामल-सावँल, पमाण-पवाँण जैसे वैकल्पिक रूप दिखाई पड़ते हैं[3]। फिर भी 'म' का 'वँ' रूप अपभ्रंश की अपनी विशेषता है। अन्य परिवर्तन ठीक वे ही हैं जो प्राकृत में भी पाए जाते हैं।

(३) पदरचना—अपभ्रंश की निजी विशेषता, जो उसे एक ओर प्राकृत से तथा दूसरी ओर प्रारंभिक हिंदी से अलग करती है, उसकी पदरचना है।

बताया है कि अनादि अकार और इकार यकारयुक्त पढ़े जाते हैं—अनादावदितौ वर्णौ पठितव्यौ यकारवत् पाठशिक्षा।
य तथा व श्रुति के विशेष परिचय के लिये देखिए मेरा लेख : अंतस्थ ध्वनियाँ, शोध पत्रिका, २००९।

[1] अनादौ स्वरसंयुक्तानां कखतथपफां गघदधबभाः। सि० हे०, ८।४।३९६।
(और वृत्ति) अपभ्रंशेऽपदादौ वर्तमानानां स्वरात्परेषां असंयुक्तानां कखतथपफां स्थाने गघदधबभाः प्रायो भवन्ति।

[2] सि० हे०, ८।४.३९८-३९९।

[3] टगारे : हि० प्रा० अ०, पृ० ८३-८४, § ५८।

संस्कृत में हम अजंत तथा हलंत दो तरह के शब्द देखते हैं। अपभ्रंश में व्यंजनांत (हलंत) शब्द नहीं मिलते। संस्कृत हलंत शब्दो की अंतिम व्यंजन ध्वनि या तो लुप्त हो जाती है या 'अ' जोड़कर अकारांत बना दी जाती है; यथा, मण (मनस्), जग (जगत्), आउस (आयुष्), अप्पण (आत्मन्)। अपभ्रंश के सभी शब्द इसीलिये स्वरात होते हैं तथा उनके अंत में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, स्वरध्वनियों में से कोई एक ध्वनि पाई जाती है[1]। अपभ्रंश में तीन लिंग होते हैं। अ, इ, उ स्वरध्वनियो के अंतवाले शब्द तीनों लिंगों में होते हैं, आ, ई, ऊ अंतवाले शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। किंतु इतना होते हुए भी अपभ्रंश में लिंग की कोई व्यवस्था नहीं दिखाई देती। हेमचंद्र ने अपभ्रंश में लिंग को अतंत्र (अनियमित) कहा है[2]। पिशेल ने बताया है कि अपभ्रंश में लिंग व्यवस्था अन्य विभाषाओं की अपेक्षा अधिक बदलती है, पर उसे हेमचंद्र की भाँति सर्वथा अतंत्र घोषित नहीं किया जा सकता। पिशेल ने लिंगभेद के उदाहरणों में मत्ताइं (मात्राः), रेहाइं (रेखाः), विक्कमं (विक्रमः), कुंभाइं (कुम्भान्), अंत्रडी (अंत्रम्) दिए हैं[3]। प्राकृत की भाँति ही अपभ्रंश में भी केवल दो ही वचन होते हैं।

(४) **विभक्तियाँ**—संस्कृत विभक्तियों की संख्या प्राकृत में ही कम हो गई थी। प्राकृत में चतुर्थी तथा षष्ठी में अभेद स्थापित हो गया था। अपभ्रंश में आकर कभी कभी द्वितीया और चतुर्थी का भी भेद नष्ट हो जाता है। सप्तमी और तृतीया के एकवचन एवं बहुवचन रूप कई स्थानो पर एक से दिखाई पड़ते हैं। पंचमी तथा षष्ठी के एकवचन रूप एक से हो गए हैं तथा प्रथमा एवं द्वितीया का भेद भी नष्ट हो गया है।[4]

अपभ्रंश के शब्दरूपों में कई तरह के वैकल्पिक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिये प्रथमा एकवचन में एक ओर प्राकृत का 'ओ' वाला रूप 'पुत्तो' मिलता है तो दूसरी ओर 'उ' वाला रूप मिलता हैं। इस 'उ' वाले रूप के भी कई वैकल्पिक रूप मिलते हैं पुत्तु, पुत्तउ, पुत्तुउ जिनमें अंतिम दो को तो एक ही रूप माना जा सकता है। पुत्तु में प्रातिपादिक के 'अ' का लोप कर 'उ' विभक्ति-चिह्न जोड़ दिया गया है, पुत्तउ में प्रातिपादिक के 'अ' का लोप नहीं किया गया

[1] वही, § ७५, पृ० १०४।

[2] लिंगमतंत्रम्, सि० है०, ८. ४. ४४५, (तथा वृत्ति) अपभ्रंशे लिंगमतंत्रं व्यभिचारि प्रायो भवति।

[3] पिशेल : ग्रा० प्रा० स्पा०, ३५६, § पृ० २४५।

[4] वही, § ७६ पृ० १०५।

है। इन दो तरह के रूपों के अतिरिक्त अपभ्रंश में शुद्ध प्रातिपादिक रूप भी चल पड़े हैं, जिन्हें हम शून्यविभक्तिवाले रूप कह सकते हैं, यथा 'पुत्त'। इन्हीं शून्य विभक्तिवाले रूपों का प्रचार प्रारंभिक हिंदी में अत्यधिक बढ़ गया जो आज के शुद्ध प्रातिपादिक रूपों के विकास की पहली सीढ़ी है। अपभ्रंश का निजी रूप 'उ' विभक्तिचिह्नवाला ही है। अकारांत शब्दों के प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन में अपभ्रंश में यही विभक्तिचिह्न अधिक मिलता है। वैसे द्वितीया एकवचन में प्राकृत के 'अं'वाले रूप 'पुत्तं' तथा शुद्ध प्रातिपादिक रूप (पुत्त) भी मिलते हैं। प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन रूपों में 'आ'वाले रूप 'पुत्ता' तथा शून्य या निर्विभक्तिक रूप (पुत्त) मिलते हैं।

तृतीया तथा सप्तमी एकवचन के कई रूप अपभ्रंश में घुले मिले दिखाई देते हैं। इसमें प्राकृत 'एण' वाले रूपों के अतिरिक्त 'इ' (पुत्ति), ए (पुत्ते), तथा इं (पुत्तइं) वाले रूप भी मिलते हैं। पंचमी, चतुर्थी तथा षष्ठी के रूप 'हु' या 'हो' चिह्नवाले 'पुत्तहु' 'पुत्तहो' मिलते हैं जिनके साथ प्राकृतरूप 'पुत्तस्स' भी देखा जाता है। तृतीया एवं सप्तमी बहुवचन में 'हिं' वाले रूप अधिक पाए जाते हैं पुत्तहिं (पुत्तहि)। तृतीया में 'एहिं' वाले रूप भी मिलते हैं—'पुत्तेहिं', जो प्राकृत का प्रभाव है। पंचमी और षष्ठी बहुवचन में पुत्तह, पुत्तहं, जैसे रूप मिलते हैं। इस विवेचन से हम अपभ्रंश की निजी विभक्तियों को, जो अधिकतर इसमें पाई जाती हैं, यों मान सकते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	उ, शून्य (०)	शून्य, दीर्घ रूप (आ, ई, ऊ)
द्वितीया	उ, शून्य (०)	शून्य, दीर्घ रूप
तृतीया, सप्तमी	इ-इं-ए,	हिं-हि
पंचमी, चतुर्थी, षष्ठी	हु, हो	ह-हे
संबोधन	शून्यरूप, दीर्घ	हो, हु

इस तालिका में हमने उन रूपों को नहीं दिया है जो प्राकृत के विभक्तिचिह्न हैं और अपभ्रंश में पाए जाते हैं। इस संबंध में एक बात की ओर और ध्यान दिला जाय कि नपुंसक लिंग के प्रथमा एवं द्वितीया बहुवचन में 'इ-ईं' (फलाइ-फलाइं) वाले रूप होते हैं, जो संस्कृत फलानि, प्राकृत फलाइं का ही रूप है। अपभ्रंश में नपुंसक लिंग धीरे धीरे लुप्त होता देखा जाता है[१]।

[१] वही, पृ० १०५, § ७६।

(५) **सर्वनाम**—सर्वनाम रूपों में अस्मत् शब्द के प्रथमा एकवचन में 'हउं', 'मइ-मइं' रूप देखे जाते हैं, बहुवचन में अम्हें, अम्हइ। इसके अन्य रूपों में (द्वितीया), मए—मइ (तृतीया, सप्तमी), महु-मज्झु (पंचमी, षष्ठी) पाए जाते हैं। युष्मत् शब्द में प्रथमा के रूप तुहु-तुहुं होते हैं, द्वितीया-तृतीया के पइ-पइं, तइं, पंचमी-षष्ठी में तुह, तुज्झ, तुज्झु, रूप पाए जाते हैं। तत् यथा यत् के अपभ्रंश रूप सो, जो मिलते हैं।

(६) **धातुरूप**—संस्कृत के धातुरूप प्राकृत में आकर संकुचित हो गए हैं। प्राकृत में ही संस्कृत के आत्मनेपदी रूप लुप्त होते देखे जाते हैं। अपभ्रंश में आत्मनेपद रूप सर्वथा लुप्त हो गए हैं, पर कभी कभी संस्कृत के प्रभाव से ऐसे रूप मिल जाते हैं। संस्कृत के विभिन्न दसों गणों का भेद अपभ्रंश में नष्ट हो गया है, यहाँ आकर सभी धातु भ्वादिगण के धातुओं की तरह चलते दिखाई देते हैं[1]। संस्कृत के अनेक लकार भी यहाँ लुप्त हो गए हैं। भूतकाल के तीनों लकार नष्ट हो गए हैं तथा हेतुहेतुमद्भूत भी नहीं दिखाई देता। इनके स्थान पर भूतकालिक कृदंत (संस्कृत के निष्ठा प्रत्यय से विकसित) रूपों का प्रयोग पाया जाता है। हिंदी के भूतकालिक क्रियारूप इन्हीं कृदंत रूपों से विकसित हुए हैं। कर्मणिभूत कृदंतों से विकसित होने के कारण ही हिंदी में सकर्मक क्रिया के कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग होता है जो संस्कृत के तृतीयांत कर्ता का संकेत करता है—'उसने रोटी खाई' (तेन रोटिका खादिता)।

अपभ्रंश धातुओं में णिजंत रूप, नामधातु, च्वि रूप तथा अनुकरणात्मक क्रियारूप भी पाए जाते हैं[2]। धातुरूपों में भी प्राकृतकाल की कई विभक्तियाँ बची रहीं, पर अपभ्रंशकाल में आकर कई नई विभक्तियों का विकास हुआ है, जो हिंदी-रूपों के विकास के बीज हैं। वर्तमान काल के उत्तम पुरुष एकवचन में 'उं' वाले रूपों (करउँ) का विकास, हिंदी रूप करूँ, व्रजरूप करौं की आरंभिक स्थिति का संकेत करता है। बहुवचन में प्राकृत 'मो' वाले रूपों के अतिरिक्त 'हुं' वाले रूप भी पाए जाते हैं। मध्यमपुरुष के एकवचन और बहुवचन में क्रमशः सि-हि, तथा हु वाले रूप मिलते हैं। अन्यपुरुष एकवचन में इ—एइ (करइ, करेइ) और बहुवचन में न्ति-हिं (करंति, करहिं) विभक्तिचिह्न पाए जाते हैं। आज्ञार्थक क्रियारूपों में उत्तमपुरुष के रूप नहीं मिलते। मध्यमपुरुष एकवचन में कई तरह के रूप पाए जाते हैं, शून्यरूप या धातुरूप (कर) उ, इ, ए, हि वाले रूप (करि, करु, करइ,

[1] वही, पृ० २८२, § १३२।
[2] वही, पृ० २८३, § १३३।

करहि, करिहि), बहुवचन में ह, हु, हो वाले रूप (करह, करहु, करहो) पाए जाते हैं। इन्हीं से हिंदी के एकवचन के शून्यरूप 'कर' तथा बहुवचन रूप 'करो' का विकास हुआ है। अन्यपुरुष एकवचन में 'उ' चिह्न (करउ) पाया जाता है। विध्यर्थ में 'ज' का प्रयोग मिलता है, जैसे—करिजउ, किज्जउ, करिजहि, करिजहु आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि 'ज' के साथ आज्ञार्थक प्रत्ययों को मिलाकर विध्यर्थक प्रत्ययों का विकास हुआ है। भविष्यकाल के रूप वर्तमानकालिक रूपों पर आधृत हैं। इन रूपों में बीच में 'स' 'ह' का प्रयोग होता है। 'स' वाले रूप प्राकृत के ही अवशेष हैं। अपभ्रंशकाल में आकर यह 'स' 'ह' के रूप में विकसित हो गया है, और अपभ्रंशकाल के भविष्यत् क्रियारूपों की विशेषता 'ह' चिह्न है, जिसके साथ वर्तमानकालिक तिङ् प्रत्ययों का ही प्रयोग देखा जाता है। भूतकाल के बोध के लिये निष्ठाप्रत्यय से विकसित कृदंत रूप, कअ, कहिअ, हुव आदि[१] चल पड़े हैं। अपभ्रंश के कर्मणि प्रयोगों में 'इज्ज' (गणिजइ, गहाइजइ) के साथ अन्य तिङ् प्रत्ययों को जोड़ दिया जाता है।

(७) परसर्गों का उदय—अपभ्रंश की अपनी प्रमुख विशेषता परसर्गों का उदय है। यद्यपि परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंश में अत्यधिक नहीं पाया जाता, किंतु अपभ्रंश में परसर्गों का प्रयोग चल पड़ा है जो प्रारंभिक हिंदी में अधिक से अधिक बढ़ता गया है। अपभ्रंश के प्रमुख परसर्ग होन्त-होन्तउ-होन्ति, ठिउ, केरअ-केर और तण हैं[२]। परसर्गों का प्रयोग हेमचंद्र से भी बहुत पहले चल पड़ा था। भविसयत्तकहा में 'होन्तउ' का प्रयोग मिलता है :

तावसु पुब्व जम्मि हउ होन्तओ।
कोसिउ नामें नयरि वसन्तो॥
(भविसयत्तकहा, ८८–८)

इसका विकास संस्कृत भू (हू) धातु के वर्तमानकालिक कृदंत रूप से माना गया है[३]। दूसरा परसर्ग 'ठिउ' है जिसका विकास संस्कृत स्था धातु से हुआ है। सप्तमीवाले रूप के साथ इसका प्रयोग होने पर यह पंचम्यर्थ की प्रतीति कराता है। 'केर' या 'केरअ' परसर्ग का प्रयोग किसी वस्तु से संबद्ध होने के अर्थ में पाया जाता है[४]। पर षष्ठी विभक्ति के परसर्ग के रूप में इसका प्रयोग अपभ्रंश की ही विशेषता

[१] वही, § १४८, पृ० ३१६।
[२] वही, § १०१-१०४, पृ० १६२–१६६।
[३] वही, § १०२, पृ० १६३।
[४] पिशेल : ग्रा० प्रा० स्प्रा०, § १७६, ४३४।

है। डा० टगारे ने बताया है कि पूर्वी अपभ्रंश में १००० वि० तक इसका कोई संकेत नहीं मिलता[१]। पश्चिमी अपभ्रंश में इसका चलन पुराना है। जसहरचरिउ तथा महापुराण में इसका प्रयोग मिलता है—रायहो केरी (जसहर० १. ६. २), रावण रामहु केरउ (महा० ६६. २. ११)। 'तण' का प्रयोग हेमचंद्र के दोहों में षष्ठीवाले रूपों के साथ मिलता है, बहुत्तणहो तणेण (हे० ८. ४. ४२५)। इसी के तणउं, तणा रूप भी मिलते हैं। बाद में जाकर इसका प्रयोग तृतीया विभक्ति के साथ भी होने लगा। इसी से मारवाड़ी के तणा-तणी का विकास हुआ है। प्रत्ययों में अपभ्रंश का विशिष्ट प्रत्यय स्वार्थे 'ड' है।

दोहाकोश की भाषा में भी प्रायः उपर्युक्त सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। 'य' श्रुति के अतिरिक्त 'व' श्रुति के कई उदाहरण दोहाकोश की भाषा में मिलते इसमें व–ब का भेद नहीं दिखाई देता। यही कारण है कि 'व' श्रुति को 'ब' के द्वारा लिखा जाता है—मेबु, बुत्तबौ, उबेस (मेवु, वुत्तवौ, उवेस)[२]। इनके अतिरिक्त बाहीय, बिम्बिय, कियइ, हियरा जैसे 'य' श्रुतिवाले रूप भी मिलते हैं। पाश्चात्य अपभ्रंश की ही तरह दोहाकोश की भाषा में भी श तथा ष का स के रूप में परिवर्तन मिलता है[३], जबकि मागधी प्राकृत की विशेषता इससे सर्वथा भिन्न रही है। प्रथमा-द्वितीया-विभक्ति एकवचन में दोहाकोश की भाषा में प्रायः सभी तरह के वैकल्पिक रूप पाए जाते हैं जिनमें मागधी प्राकृतवाले ए (नरे) रूप भी मिलते हैं, जिनके वैकल्पिक रूप नरे, नरएँ, नरये भी पाए जाते हैं। पर दोहाकोश की भाषा में अधिकतर निर्विभक्तिक रूप ही पाए जाते हैं[४]। अन्य विभक्तियों के रूप उपर्युक्त रूपों जैसे ही हैं। 'अस्मत्' शब्द के हउं, मइ, महु तथा 'युष्मत्' के तुहु, तो रूप पाए जाते हैं। दोहाकोश की भाषा में कुछ ऐसी भी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो हेमचंद्र के नियमों का पालन करती नहीं देखी जातीं। शहीदुल्ला ने हेमचंद्र के नियमों के विरुद्ध पाई जानेवाली दोहाकोश की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है, पर उनकी सबसे बड़ी भ्रांति यह रही है कि इनके आधार पर उन्होंने दोहाकोश की भाषा को ही भिन्न अपभ्रंश सिद्ध कर दिया है। यदि हेमचंद्र के नियमों को लेकर ठीक तौर पर मिलाने की चेष्टा की जायगी, तो उससे कई विरुद्ध रूप स्वयंभू तथा पुष्पदंत की भाषा में भी मिलेंगे। हेमचंद्र के नियमों के अनुसार ढली हुई भाषा केवल उसके व्याकरण में उद्धृत दोहों में ही मिल

१ टगारे : हि० ग्रा० अ०, § १०३, पृ० १६६।
२ शहीदुल्ला : ले शाँ द मिस्तीके, पृ० ३१।
३ वही, पृ० ३७।
४ वही, पृ० ३८।

सकेगी। हेमचंद्र के दोहों के बारे में भी लोगों का ऐसा मत है कि वैयाकरण हेमचंद्र ने उन्हें खराद तराशकर व्याकरण के साँचे में ढाल रखा है। मूल रूप में इन दोहों की भाषा शत प्रति शत ठीक यही नहीं रही होगी।

(८) **वाक्यरचना**—वाक्यरचना की दृष्टि से अपभ्रंश ठीक संस्कृत की तरह नहीं है। हेमचंद्र ने बताया है कि प्राकृत में आकर संस्कृत का कारकविधान कुछ शिथिल हो गया है। कारक-विभक्तियाँ एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होने लगी हैं। इनमें भी षष्ठी का प्रयोग बहुत चल पड़ा है; वह कर्म, करण, संप्रदान, संबंध, अधिकरण सभी के लिये प्रयुक्त होने लगी है। इसी तरह सप्तमी का प्रयोग भी कर्म तथा करण के लिये पाया जाता है और पंचमी विभक्ति का प्रयोग करण कारक के लिये तथा द्वितीया का प्रयोग अधिकरण के लिये देखा जाता है[१]। अपभ्रंश में भी प्राकृत की कारक-व्यत्यय की ये विशेषताएँ मिलती हैं। अपभ्रंश में निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग के कारण वाक्यरचना निश्चित सी हो चली है, पर वाक्यरचना का जो निश्चित रूप हिंदी में मिलता है, उसके चिह्न प्रारंभिक हिंदी में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, अपभ्रंश में विभक्तियों के किसी तरह बचे रहने के कारण वे इतने स्पष्ट नहीं मिलते। अपभ्रंश का शब्दकोश तीन तरह के शब्दों से बना है—(१) तत्सम, जिनका प्रयोग अपभ्रंश में बहुत कम पाया जाता है, (२) तद्भव, संस्कृत शब्दों के प्राकृत रूप तथा (३) देशज। अंतिम कोटि में वे शब्द आते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं है। हेमचंद्र ने देशीनाममाला में ऐसे शब्दों की तालिका देकर उनका अर्थ दिया है। डा० वैद्य का कहना है कि हेमचंद्र के इन देशी शब्दों में से कई तद्भव हैं, किंतु हेमचंद्र को इनकी व्युत्पत्ति का पता न था। अपभ्रंश में विदेशी शब्द प्रायः नहीं मिलते, जबकि प्रारंभिक हिंदी में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग चल पड़ा है।

हिंदी का अपभ्रंश से घनिष्ठ संबंध है। हिंदी की साहित्यिक परंपरा भले ही पाणिनीय संस्कृत से अधिक प्रभावित हो, किंतु हिंदी का ढाँचा अपभ्रंश की देन है। अपभ्रंश की पदसंघटना समझे बिना हिंदी की पदरचना का ज्ञान नहीं हो सकता। हिंदी का परसर्गप्रयोग, निर्विभक्तिक रूपों की बहुलता, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य प्रणाली के बीज अपभ्रंश में ही देखे जा सकते हैं। भाषा ही नहीं अपभ्रंशकालीन साहित्य से भी हिंदी को साहित्यिक विरासत प्राप्त हुई है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, हिंदी के आदिकालीन साहित्य की कई धाराएँ अपभ्रंश साहित्य की परंपरा की साक्षात् उत्तराधिकारिणी हैं। काव्य की टेकनीक की दृष्टि से काव्यरूढ़ियों और छंदोविधान में हिंदी को अपभ्रंश से बहुत कुछ मिला है।

[१] सिद्ध हेमचंद्र, ३.१३१, ३.१३४-१३७।

६. अपभ्रंश साहित्य का उदय और विकास

आज से ३० वर्ष पूर्व तक अपभ्रंश साहित्य के रत्न जैनभांडारों के अँधेरे में दबे पड़े थे। अपभ्रंश साहित्य की जो भी जानकारी मिली है, वह इन्हीं दिनों की है जिसका श्रेय याकोबी तथा अल्सडोर्फ जैसे पाश्चात्य विद्वान् और श्री दलाल, डा० गुणे, डा० वैद्य, डा० हीरालाल जैन और श्री नाथूराम प्रेमी जैसे भारतीय विद्वानों को है। प्राकृत व्याकरण लिखते समय (वि० सं० १६४६, १८८६ ई०) पिशेल के पास अपभ्रंश की जो सामग्री थी, वह अत्यल्प थी। हेमचंद्र के व्याकरण के प्राकृतभाग में अपभ्रंश की विशेषताओं के संबंध में उदाहृत दोहों के अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं था। किंतु उतनी ही सामग्री के आधार पर, जिसमें कालिदास के विक्रमोर्वशीय के कुछ अपभ्रंश पद्य, चंड के प्राकृतव्याकरण में उद्धृत एक अपभ्रंश पद्य तथा ध्वन्यालोक, दशरूपक और सरस्वतीकंठाभरण में उदाहृत अपभ्रंश पद्य लिए जा सकते हैं, पिशेल का जो भी कार्य है, वह स्तुत्य है। पिशेल प्राकृत भाषा के पाणिनि थे। प्राकृत का जो व्यवस्थित व्याकरण उन्होंने दिया वह आज भी प्रामाणिक माना जा सकता है। पिशेल ने ही प्राकृतव्याकरण के परिशिष्ट रूप में उस समय तक उपलब्ध अपभ्रंश सामग्री को वि० सं० १६५६ (१९०२ ई०) में 'मातेरियाल्यन केन्त्निस् त्सूर् अपभ्रंश' के नाम से अनुवाद तथा भाषावैज्ञानिक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया। पिशेल के बाद सबसे पहला कार्य इस क्षेत्र में याकोबी ने 'भविसयत्तकहा' का प्रकाशन कर वि० सं० १६७५ (सन् १६१८) में किया। इसके बाद 'भविसयत्तकहा' का दूसरा प्रामाणिक संपादन श्री दलाल ने आरंभ किया, जिसे उनकी मृत्यु के बाद डा० गुणे ने सन् १६२३ में पूरा किया था, श्री दलाल ने ही हमें जैन भांडारों में छिपे पड़े बहुमूल्य अपभ्रंश साहित्य से परिचित कराया था। श्री दलाल तथा मुनि जिनविजय जी ने इन अपभ्रंश ग्रंथों का उद्धार करने का कार्य किया। डा० हीरालाल ने बरार के जैनभांडारों से पुष्पदंत, कनकामर, जोइंदु (योगींदु) तथा रामसिंह के अपभ्रंश साहित्य को प्रकाशित किया। इस क्षेत्र में डा० वैद्य तथा डा० उपाध्ये ने भी प्रशंसनीय कार्य किया है। बौद्धों के अपभ्रंश साहित्य को प्रकाशित करने का श्रेय म० म० हरप्रसाद शास्त्री को है जिन्होंने बौद्ध गान ओ दोहा (वि० सं० १६७३, १६१६ ई०) के द्वारा बौद्धों के अपभ्रंश साहित्य का सर्वप्रथम परिचय दिया। डा० शहीदुल्ला तथा डा० बागची ने भी बौद्ध अपभ्रंश साहित्य के संपादन में महत्वपूर्ण कार्य किया है। अपभ्रंश की असंख्य पुस्तकें आज भी जैन भांडारों में भरी पड़ी है। 'जिनरत्नकोश' में प्रो० वेलणकर ने अपभ्रंश के प्रकाशित तथा अप्रकाशित प्रसिद्ध ग्रंथों की जो सूची दी है उनमें से अबतक २३-२४ ग्रंथ ही प्रकाशित हुए हैं। अपभ्रंश का साहित्य ज्यों ज्यों प्रकाश में आता रहेगा, हिंदी की भाषावैज्ञानिक तथा साहित्यिक गवेषणा में सहयोग मिलता रहेगा।

७. अपभ्रंशकाल

विक्रम की छठी शती से लेकर दसवीं शती तक मोटे तौर पर अपभ्रंशकाल माना जाता है, पर अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ इससे पहले भी मिलती हैं, और सोलहवीं शती तक की परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं का पता चलता है। भरत नाट्यशास्त्र के छंदःप्रकरण में उकारबहुला भाषा की विशेषता कई छंदों में देखी जा सकती है। विद्वानों ने बौद्ध गाथासाहित्य में भी उकारांत प्रवृत्ति देखी है, और डा० वैद्य ने तो इसके आधार पर यह भी घोषित किया कि उकारबहुलत्व अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। अपभ्रंश के स्पष्ट चिह्न कालिदास के विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक की पुरुरवा की उन्मादोक्तियों में देखे जाते हैं जिन्हें हम अपभ्रंश साहित्य का आदि रूप मान सकते हैं। कालिदास के इन अपभ्रंश पद्यों के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वान् इन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं, कुछ इन्हें कालिदास की ही रचना मानते हैं। एक तीसरा मत, जिसके प्रवर्तक डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य हैं, यह है कि ये गीत वस्तुतः उस काल के लोकसाहित्य में प्रचलित रहे होंगे और कालिदास ने इनका प्रयोग नाटक में कर दिया है। विक्रमोर्वशीय के इन अपभ्रंश पद्यों में न केवल उकारबहुलता ही पाई जाती है, अपितु अपभ्रंश की छंदःप्रणाली भी है। संस्कृत तथा प्राकृत के छंद तुकांत नहीं होते, जबकि अपभ्रंश में तुकांत छंद पाए जाते हैं, दूसरे, विक्रमोर्वशीय में दोहा भी मिलता है, जो अपभ्रंश का अपना छंद है, ठीक वैसे ही जैसे 'गाथा' छंद प्राकृत का। विक्रमोर्वशीय की अपभ्रंश काव्यशैली का उदाहरण यों दिया जा सकता है :

> मइँ जाणिउं मिअलोयणि णिसियरु कोइ हरेइ।
> जाव ण णव तडिसामलो धाराहरु वरिसेइ॥
>
> (चतुर्थ अंक)

'मैंने तो समझा था कि मृगलोचनी उर्वशी को कोई राक्षस हरण कर ले जा रहा है। पर मेरी यह धारणा भ्रांत थी। मुझे अपनी भ्रांति का पता तब तक न चला जब तक नवीन विद्युत् से सुशोभित श्यामल मेघ न बरसने लगा।'

कालिदास के समय ही लोकभाषाओं में अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ जड़ पकड़ चुकीं थीं पर साहित्य में बद्धमूल होने के लिये उसे कुछ शतियों तक प्रतीक्षा करनी थी। दंडी के समय (विक्रम की ७वीं शती) अपभ्रंश का साहित्य पल्लवित हो चुका था। आठवीं शती के उत्तरार्ध में रचित उद्योतनसूरि की कुवलयमाला में तो अपभ्रंश का उल्लेख ही नहीं, अपभ्रंश गद्य-पद्य का स्वरूप भी दिखाई पड़ता है। उद्योतन ने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश इन तीन साहित्य-भाषाओं का संकेत किया और अपभ्रंश को संस्कृत तथा प्राकृत के शुद्धाशुद्ध प्रयोगों से युक्त माना है। इन

तीन भाषाओं के अतिरिक्त उद्योतन ने चौथी भाषा पैशाची का भी उल्लेख किया है। देशी भाषाओं का स्वरूप जानने के लिये कुवलयमाला का अत्यधिक महत्व है। कुवलयमाला में आरंभिक अपभ्रंश के गद्यांश मिलते हैं जैसे—

'सो च दुज्जणु कइसउ। हूँ, सुणउ जइसउ, पढमदंसणे च्चिय भसणसीलो पट्ठि-मांसासउ व्व।'''होउ काएण सरिसु णिच्च करयरणसीलो छिड्ड-पहारि व्व।' (कुवलयमाला)।

'वह दुर्जन कैसा होता है। हूं, सुनो, जैसा वह है, पहले दर्शन में ही वह चिल्लाता है और पीठ का मांस खानेवाला (पीठ पीछे निंदा करनेवाला) है।·· कौए की तरह प्रतिदिन कलकल करनेवाला और छिद्रप्रहारी होता है।

कुवलयमाला में कुछ अपभ्रंश पद्य भी मिलते हैं। ग्रामनटी तथा गुर्जर पथिक द्वारा गाए गए दोहे संभवतः लोकसाहित्य से उद्धृत किए गए हैं। ग्रामनटी के द्वारा गाया गया दोहा निम्नलिखित है :

ताव इमं गीययं गीयं गामनडीए,
जो जसु माणुसु वल्लहउ तंजइ अणु रमेइ।
जइ सो जाणइ जीवइ वि तो तहु पाण लएइ॥
(कुवलयमाला)

'ग्रामनटी ने यह गीत गाया। यदि कोई अन्य व्यक्ति किसी व्यक्ति के प्रिय मनुष्य के साथ रमण करता है और यदि वह इसे जान जाता है और वह व्यक्ति जीवित हो, तो वह उस अन्य व्यक्ति के प्राणों का अपहरण कर ले।'

पौराणिक वर्णाश्रम धर्म के पोषक पंडितों तथा कवियों ने देश्य भाषाओं को विशेष प्रश्रय नहीं दिया, वे जो कुछ रचना करते थे उससे संस्कृत साहित्य ही समृद्ध होता था। ब्राह्मण पंडितों तथा कवियों ने अपभ्रंश को उपेक्षित समझा। पिछले दिनों में प्राकृत में साहित्यिक रचनाएँ होने लगी थीं और नाटकों में स्त्री पात्रों और हीन वर्ग के पात्रों के लिये प्राकृतों का प्रयोग किया जाता था। अपभ्रंशकाल में भी प्राकृत की रचनाएँ होती रहीं। बहुत पहले से नाटकों में शूद्रक (?) जैसे नाटककार परंपरागत शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं मागधी के अतिरिक्त हीन पात्रों के लिये देशी विभाषाओं का भी प्रयोग करने लगे थे। शूद्रक (?) के मृच्छकटिक में अपभ्रंश के भी चिह्न मिलते हैं। माथुर की उक्ति, जिसे पृथ्वीधर ने ढक्की (टक्की) बताया है, उकारबहुला है। पर बहुत बाद तक अपभ्रंश हीनभाषा (अशिष्टों की भाषा) ही समझी जाती रही होगी, यद्यपि राजशेखर के समय में उसमें साहित्यिक रचनाएँ होने लग गई थीं। जहाँ अपभ्रंश को पौराणिक ब्राह्मण धर्म के पोषक राजाओं और ब्राह्मणों से प्रश्रय नहीं प्राप्त हुआ, वहाँ देश्य भाषाओं को जनता की बोली में धर्मप्रचार करनेवाले जैनों और

बौद्धों ने अपनाया। भगवान् सुगत और भगवान् महावीर ने भी अपने समय की जनभाषा में सद्धर्म का उपदेश दिया था। इसी प्रकार उनके शिष्य भी जनभाषा में ही अपने उपदेश देते थे। उपदेश को सरल बनाने के लिये जनभाषा का प्रयोग अनिवार्य था। जैनों ने तो फिर भी संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि की, संस्कृत में कई काव्य एवं गद्य रचनाएँ कीं, किंतु परवर्ती काल के बौद्धों ने जनभाषा को ही अपनाया। जैनों ने भी संस्कृत के साथ ही साथ देश्य भाषा की संपदा को बढ़ाया, और अपभ्रंश को अपूर्व साहित्यिक कृतियाँ दीं। यद्यपि अपभ्रंश को जैन मुनियों और बौद्ध भिक्षुओं का बल मिला, फिर भी अपभ्रंश की साहित्यिक उन्नति होने के लिये किसी प्रबल राजाश्रय की आवश्यकता थी। इसके मिलते ही अपभ्रंश साहित्य तेजी से प्रदीप्त हो उठा। हर्ष के बाद उत्तरी भारत में कान्यकुब्ज साहित्य का केंद्र रहा है, किंतु कान्यकुब्जाधीश अधिकतर पक्के ब्राह्मणधर्मानुयायी रहे हैं। फलतः कान्यकुब्जाधीशों से अपभ्रंश को कोई संमान न मिल सका। ग्यारहवीं-बारहवीं शती में भी गहड़वाल ब्राह्मण धर्म के पक्के अनुयायी थे और श्रीहर्ष जैसे वेदांती पंडित और कवि को उनके यहाँ आश्रय प्राप्त था। सुना जाता है कि गोविंदचंद्र की तीसरी रानी स्वयं जैन थी, और उसने काशी में जैन मुनियों के लिये एक उपासना-गृह भी बनवाया था। अनुमान यहाँ तक किया जाता है कि 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' के लेखक दामोदर भी जैन पंडित थे और इसी रानी के आश्रित थे। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि उस समय भी जब अपभ्रंश भाषा और साहित्य पूर्णतः समृद्ध हो चुके थे और उनकी कोख से हिंदी साहित्य और हिंदी भाषा जन्म ले रही थी, गहड़वाल संस्कृत को ही आदर की दृष्टि से देख रहे थे। सारांश यह कि मध्यदेश या अंतर्वेद में अपभ्रंश को ठीक वही संमान न मिला जो बंगाल, बरार या गुजरात में। यही कारण है कि अपभ्रंश की रचनाएँ प्रायः इन्हीं तीन प्रदेशों में हुई।

८. अपभ्रंश को राजाश्रय

अपभ्रंश को मान्यखेट (बरार), गुजरात और बंगाल में राजाश्रय प्राप्त हुआ। मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा स्वयं जैन नहीं थे, वे वैष्णव थे। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि मुरारि, त्रिविक्रम भट्ट, सोमदेवसूरि, हलायुध मान्यखेट के राजाओं के आश्रित थे। इन्हीं राष्ट्रकूट राजाओं के मंत्री जैन थे, और उन्होंने कई जैन साधुओं और कवियों को आश्रय दिया था। चउमुहु सयंभू (चतुर्मुख स्वयंभू) राष्ट्रकूट राजा ध्रुव (वि० सं० ८३७-८५१) के अमात्य रयडा धनंजय के आश्रित थे, तथा पुष्पदंत कृष्ण तृतीय (वि० सं० ९९६-१०२५) के मंत्री भरत के। बरार उस समय जैन वैश्यों का केंद्र था और बरार, गुजरात, मालव आदि प्रदेशों का पूरा वाणिज्य व्यवसाय इन्हीं के हाथ में था। जैन वैश्यों

ने संस्कृत की अपेक्षा अपनी देश्य भाषा को प्रश्रय दिया और इन्हीं के सहयोग से अपभ्रंश राष्ट्रीय भाषा के रूप में पल्लवित होने लगी। १० वीं शती में राष्ट्रकूट का पतन हो गया और बरार का केंद्र हटकर गुजरात में आ गया। ग्यारहवीं शती में गुजरात के सोलंकी राजाओं ने भी अपभ्रंश के साहित्यिक उत्थान में पर्याप्त सहायता दी। सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल के समय गुजरात में जैन धर्म और अपभ्रंश साहित्य की उन्नति हुई। कुमारपाल ने तो स्वयं आचार्य हेमचंद्र सूरि के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जैन धर्म को अंगीकार कर लिया था। उधर बंगाल में पालवंश के राज्यकाल में अपभ्रंश को उचित संमान प्राप्त हुआ। बंगाल दीर्घकाल तक बौद्धों का केंद्र रहा है। इस काल में बंगाल बौद्ध तांत्रिकों का केंद्र था। पालवंश के राजा स्वयं बौद्ध थे, अतः बौद्ध तांत्रिकों के अपभ्रंश साहित्य के उन्नयन में उनका काफी हाथ रहा है। किंतु पालों के बाद बंगाल का शासन ब्राह्मण-धर्मानुयायियों के हाथ मे आ गया। सेनवंश के राजा ब्राह्मणधर्मानुयायी थे। इनके समय में अपभ्रंश फिर अपने पद से च्युत कर दी गई। किंतु बौद्धों की तांत्रिक परंपरा ने ब्राह्मणधर्म को प्रभावित कर बंगाल में नये धार्मिक अंकुरों को उत्पन्न किया। शैव-शाक्त-तंत्र तथा राधाकृष्ण की शृंगारी भक्ति के विकास में बौद्ध तांत्रिकों का ही हाथ है। सेनों के समय पुनः संस्कृत साहित्य के उदय ने उस धारा को उस स्थिति पर नहीं बहने दिया, फलतः अपभ्रंश की वह धारा देश्य भाषाओं का सहारा लेकर किसी तरह नाथपंथी सिद्धों की वाणियों में जीवित रही। पर इतना होते हुए भी उसने उस काल की समृद्ध साहित्यिक धारा को भी प्रभावित किया। कुछ विद्वानों के मत से जयदेव के पद अपभ्रंश से प्रभावित हैं। हमारा अनुमान तो यहाँ तक है कि जयदेव ने इन पद्यों को पहले अपभ्रंश में लिखा, बाद मे संस्कृत में अनूदित किया। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि बौद्ध सिद्धों की वाणियों के बाद भी यह परंपरा पूर्णतया सूखी नहीं थी और अंतःसलिला की तरह कहीं कुछ प्रकट होती, कहीं छिपती, अखंड रूप से बहती रही है और कबीर में आकर उसका प्रबलतम उत्स परिलक्षित होता है।

६. अपभ्रंश साहित्य की शैलियाँ, विषयविवेचन आदि

अपभ्रंश साहित्य को मोटे तौर पर सर्वप्रथम दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) जैन अपभ्रंश साहित्य, (२) जैनेतर अपभ्रंश साहित्य। साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से समस्त अपभ्रंश साहित्य को हम चार कोटियों में बाँट सकते हैं : (१) जैन प्रबंध काव्य, जिसके अंतर्गत पुनः दो कोटियाँ मानी जा सकती हैं, पुराण, चरित-साहित्य तथा कथा-साहित्य, (२) जैन आध्यात्मिक काव्य, जिन्हें कुछ विद्वान् जैन रहस्यवादी काव्य कहना ठीक समझते हैं, (३) बौद्ध दोहा एवं चर्यापद, (४) अपभ्रंश के शौर्य एवं प्रणय संबंधी मुक्तक काव्य। अपभ्रंश

साहित्य इन्हीं बहुमुखी धाराओं में बहता दिखाई पड़ता है और यद्यपि अपभ्रंश के कवियों में अधिकतर जैन कवि रहे हैं, तथापि जैनेतर कवियों ने भी अपनी प्रतिभा और कल्पना का योग देकर इसको समृद्ध किया है। पिछले दिनों अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) जैसे मुसलमान कवि ने भी भारत की इस जनभारती की अर्चना की थी।

(१) जैन प्रबंध साहित्य—(अ) पुराण—जैन प्रबंधसाहित्य प्रायः धार्मिक है। ब्राह्मण धर्म की भाँति जैनों ने भी अपने पुराणों की रचना की है और राम, कृष्ण, पांडव आदि की कथाओं को अपनी जैन मान्यताओं के अनुरूप ढाला है। ब्राह्मणों के रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों और पुराणों ने ही जैन पुराणों की रचना में प्रेरणा दी है किंतु जैनियों ने ब्राह्मणपुराणों की मान्यता को हूबहू नहीं लिया है। रामकथा का जो रूप हमें रामायण में मिलता है उसका ठीक वही रूप हमें जैन पुराणों में नहीं मिलता। रावण उनके यहाँ जिन का परम भक्त है, स्वयंभू के महापुराणु में वह जिन की पूजा तक करता बताया गया है। रावण को जैन धर्म इतना पवित्रात्मा समझता है कि अगले कल्प में वह तीर्थंकर बननेवाला है। इसी तरह सीता के विषय में जैन धर्म की यह मान्यता है कि वह रावण की पुत्री थी, जिसे अनिष्ट की आशंका से रावण ने जन्म होते ही वन में छोड़ दिया था। कृष्ण के विषय में भी जैन धर्म की मान्यता भिन्न है तथा वे इस समय कृष्ण को नरक मे कर्मभोग भोगते मानते हैं। जैन पुराणों के राम और सीता दोनों अंत में जैन धर्म का अंगीकार करते बताए गए हैं। इतना होते हुए भी इन आवश्यक परिवर्तनो के अतिरिक्त जैन पुराणों की कथाएँ ब्राह्मण पुराणों की कथाओं की नकल ही कही जा सकती हैं।

जैन पुराण जैन शास्त्रों का एक अंग है। जैन शास्त्रों को ४ भागों में बाँटा जा सकता है : (१) प्रथमानुयोग—इसके अंतर्गत तीर्थंकरों तथा अन्य महापुरुषों के चरितसंबंधी कथासाहित्य का समावेश होता है, (२) करणानुयोग—विश्व का भौगोलिक वर्णन, (३) चरणानुयोग—साधुओं और श्रावकों के लिये अनुशासन, (४) द्रव्यानुयोग—तत्वज्ञान संबंधी विचार। इस प्रकार महापुराणों का धार्मिक कथासाहित्य प्रथमानुयोग के अंतर्गत आता है[१]। जैन महापुराण परंपरा विक्रम की तीसरी शती के लगभग से मानी जा सकती है। इस ढंग का सर्वप्रथम काव्य

[१] विमलदेव सूरि के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। जैन परंपरा उसे वि० सं० ६० के लगभग मानती है (दे० प्रेमी : जैन साहित्य का इतिहास, पृ० २७२)। अन्य विद्वान् विमलदेव सूरि का समय विक्रम की तीसरी शती मानते हैं। इनमें डा० कीथ, डा० वुलनर आदि प्रमुख हैं (दे० वही, पृ० २७६)।

विमलदेवसूरिकृत 'पउमचरिश्र' (पद्मचरित) है, जो प्राकृत की रचना है। इसमें पद्मप्रभ या रामचंद्र की कथा वर्णित है। इसे महापुराण तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महापुराण के पूरे लक्षण 'पउमचरिय' पर घटित न हो सकेंगे पर यह पौराणिक इतिवृत्त से, एक तीर्थंकर के चरित्र से, संबद्ध काव्य है। महापुराण का लक्षण यह माना गया है कि उसमें ६३ महापुरुषों (२४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों ९ वासुदेवों, ६ बलदेवों, तथा ६ प्रतिवासुदेवों) की कथा रहती है। इस तरह के महापुराण संस्कृत में भी लिखे गए हैं, जिनमें जिनसेन (६००-६२५ वि० सं०) का श्रादिपुराण श्रौर हेमचंद्र का त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र उल्लेखनीय हैं[1]। श्रपभ्रंश में इस तरह की कृतियों में स्वयंभू का 'पउमचरिउ' (पद्मचरित), श्रौर हरिवंशपुराणु, पुष्पदंत का 'महापुराणु' यशःकीर्ति का पाडवपुराण तथा रइधू का पद्मपुराण श्रौर हरिवंशपुराण प्रसिद्ध हैं। यशःकीर्ति तथा रइधू के ग्रंथ प्रकाश में नहीं श्रा पाए हैं। ये दोनों कवि १६वीं शती के पूर्वार्ध में रहे होंगे। ऐसा सुना जाता है कि स्वयंभू के हरिवंशपुराण की १०२ संधि के बाद की संधियाँ इन्हीं यशःकीर्ति ने १६वीं शती में पूरी की है। इस प्रकार पुराणकाव्यों में हमें स्वयंभू, उसके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू तथा पुष्पदंत की कृतियाँ ही उपलब्ध हैं।

स्वयंभू[2] स्वयं कोसल के निवासी थे, जिन्हें उत्तरी भारत के श्राक्रमण के समय राष्ट्रकूट राजा ध्रुव (वि० सं० ८३७—८५१) का मंत्री रयडा धनंजय मान्यखेट ले गया था। स्वयंभू को दंडी तथा भामह का पता था। स्वयंभू की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं—पउमचरिय श्रौर हरिवंशपुराण। पउमचरिय ९० संधियों का काव्य है। स्वयंभू ने इस काव्य को श्रधूरा ही छोड़ दिया था श्रौर काव्य के शेष श्रंश को उसके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू (तिहुश्रण सयंभू) ने पूरा किया था। इसी तरह स्वयंभू श्रपनी दूसरी कृति को भी पूरा न कर पाए श्रौर हरिवंशपुराण (रिट्ठणेमिचरिउ) की ९९ संधि तक ही उनकी रचना मानी जाती है[3]। १०६ से ११२ तक

[1] डा० वैद्य : पुष्पदंतकृत महापुराण, प्रथम सं०, अँगरेजी भूमिका, पृ० ३४।

[2] प्रेमी जी के मतानुसार स्वयंभू कवि चतुर्मुख से भिन्न हैं जिन्हें मधुसूदन मोदी ने एक ही मान लिया है। उन्होंने सप्रमाण मोदी के मत का खंडन किया है। प्रो० हीरालाल तथा प्रो० वेलणकर ने भी चतुर्मुख श्रौर स्वयभू को एक नहीं माना है। दे० नाथूराम प्रेमी: जै० सा० इ०, पृ० ३७३।

[3] प्रेमी जी के मतानुसार स्वयंभू ने श्रपनी श्रोर से पउमचरिय श्रौर रिट्ठणेमिचरिउ दोनों काव्यों को संपूर्ण कर दिया था। त्रिभुवन स्वयभू ने उनमें नए भागों को जोड़ा है, श्रधूरे को पूरा नहीं किया। प्रेमी जी ने सप्रमाण इस मत की पुष्टि की है। वे स्वयंभू की एक तीसरी कृति का भी उल्लेख करते हैं—पंचमीचरिउ। संभवतः इस काव्य में पुष्पदंत के णायकुमारचरिउ की तरह 'श्रुतपंचमी' की कथा रही होगी। प्रेमी जी हरिवंश की

की संधियाँ उसके पुत्र त्रिभुवन की रचना हैं, शेष १६ वीं शती में यशःकीर्ति ने जोड़ दी हैं। पउमचरिय में स्वयंभू ने रामकथा को चुना है, हरिवंशपुराण में महाभारत तथा कृष्ण की कथा को। यद्यपि चतुर्मुख स्वयं अपने मुँह से यह कहते हैं कि वे पिंगलशास्त्र, भामह, दंडी आदि के द्वारा प्रदर्शित अलंकारशास्त्र नहीं जानते और काव्य करने के अभ्यस्त भी नहीं, केवल रयडा के कहने से ही काव्य की रचना कर रहे हैं,[1] तथापि स्वयंभू की लेखनी कवित्व का परिचय देती है, एक ऐसे कवि का जिसे पिंगल, अलंकार तथा पुरानी काव्यपरंपरा की पूरी जानकारी थी। चाहे उसने कालिदास की कोमल गिरा एवं बाण और ईशान की काव्यकृतियों को न देखने की नम्रता बताई हो, पर कवि निःसंदेह संस्कृत की काव्यपरंपरा से प्रभावित है। संस्कृत की जलविहार, वनवर्णन, सूर्योदय-सूर्यास्त, नदी आदि के वर्णन की रूढ़िगत शैली का स्पष्ट प्रतिबिंब स्वयंभू में मिलता है। स्वयंभू ही नहीं प्रायः सभी जैन कवि अपने चरितकाव्यों में संस्कृत की महाकाव्य परंपरा के ऋणी हैं तथा भारवि और माघवाली वर्णनशैली की तरह यहाँ भी कई स्थलों पर इतिवृत्त को गौण बनाकर वर्णन पर जोर देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। स्वयंभू की उपमाएँ अधिकतर परंपराभुक्त हैं। यत्र तत्र मौलिक उपमाएँ भी आ जाती हैं पर उन्हें अपभ्रंश काव्य की निजी विशेषता नहीं माना जा सकता। जैन पंडितों ने स्वयंभू को जल-विहार-वर्णन में सिद्धहस्त माना है और यह घोषणा की है कि अन्य कवि स्वयंभू को जल-विहार-वर्णन में नहीं पा सकते[2]। वसंत ऋतु का सरस अलंकृत वर्णन करने में भी स्वयंभू की लेखनी दक्ष है। उसका वसंत राजा बनकर प्रकृति के प्रांगण में आता है। उसने कमल का मुख धारण कर रखा है, कुवलय के नेत्र विकसित हो रहे हैं, केतकी के केसर का सिर पर सेहरा बाँध रखा है, पल्लवों के कोमल करतल सुशोभित हो रहे हैं, और फूलों के उज्वल नाखून दमक रहे हैं :

पंकय वयणउ कुवलय णयणउ केयइ केसर सिर सेहरु।
पल्लव-कर-यलु-कुसुम-णहुज्जलु पइसरइ वसंत णरेसरु॥

(पउमचरिय १४. १)

९९ संधि स्वयंभू की रचना मानते हैं, मोदी जी केवल ९२। दे० प्रेमी : जै० सा० इ०, पृ० ३८०, ८२ तथा पृ० ३७३, पाद टि० २; तथा मोदी : अपभ्रंश पाठावली, टिप्पणी, पृ० २३।

१ णउ बुज्झिउ पिंगलपत्थारु। णउ भम्महदंडियलकारु॥
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वरि रयडा वुत्तु कव्वु करमि॥ पउमचरिय।

२ जलकीलाए स्वयंभू चउमुह पवंग गोगाहकहाए।
भद्दं च मच्छवेहें अज्ज वि कइणो न पावंति॥

(अपभ्रंशपाठमाला में उद्धृत, पृ० १६)

इसी संधि में रेवा नदी का वर्णन भी मनोहर है, जहाँ कवि ने रेवा को समुद्ररूपी प्रिय के पास जाती हुई नायिका माना है, जो सजधज कर तेजी से जा रही है, जिसका घर घर शब्द करता हुआ जल ही नूपुररव है, दोनों तट ही ऊपर के वस्त्र हैं, और इधर उधर हिलता डुलता जल ही करधनी की भ्राति उत्पन्न कर देता है :

"णम्मयाइ मयरहरहो जंतिए। णाइ पसाहणु लइउ तुरंतीए॥
घवघवंति जे जल पब्भारा। ते जि णाइ णेउरझंकारा॥
पुलिणइ बे वि जासु सच्छायइं। ताइं जि ऊढणाइ णं जायइं॥
जं जलु खलइ बलइ उल्लोलइ। रसणादाम-भ्रंति णं घोलइ॥
(वही १४. ३)

पद्मचरित में स्वयंभू ने राम को मानवी रूप में चित्रित किया है। राम का चरित्र एक ओर मानव की शक्ति से समन्वित है तो दूसरी ओर मानवी दुर्बलताओं से भी युक्त है। सीता को स्वीकार करते समय वे शंकितहृदय होकर सीता के सच्चरित्र पर संदेह करते हैं। सीता की अग्निशुद्धि का प्रसंग जैन कवियो ने अधिक प्रबलता और सशक्तता से चित्रित किया है। पउमचरिउ की ८३वीं संधि में सीता एक सगर्व नारी के रूप में दिखाई देती है जो उसके चरित्र पर शंका करते राम को व्यंग्योक्तियाँ सुनाती है। सीता के वचन एक ओर उसकी पवित्रता और नारी की विवशता का, दूसरी ओर पुरुष के स्वभाव का परिचय देते हैं जो गुणवान् होते हुए भी कठोर होता है और मरती हुई स्त्री पर भी विश्वास नहीं करता[1]। सीता अपनी परीक्षा देती है, और अग्नि में तपकर खरा सोना सिद्ध होती है, वह अपने सतीत्व की पताका (सइवडाय) को संसार में फहरा देती है। पउमचरिय में कई भावतरल स्थल हैं, जिनमें एक ओर रामवनगमन, लक्ष्मणमूर्च्छा आदि के स्थल करुण रस मे आप्लावित हैं, तो दूसरी ओर जलविहार आदि सरस शृंगारी चित्र भी हैं। पउमचरिय का शेष अंश, जो त्रिभुवन का लिखा हुआ है, काव्य की दृष्टि से उतना उत्कृष्ट नहीं है जितना स्वयंभूवाला अंश। स्वयंभू में भावुक कवि का हृदय है तो त्रिभुवन में पांडित्य। पर फिर भी त्रिभुवन ने पउमचरिय को पूर्ण कर अपूर्व कार्य किया है। जैन परंपरा के अनुसार यदि त्रिभुवन न होता तो स्वयंभू के काव्य का उद्धार कौन करता। स्वयंभू का पउमचरिय आगे आनेवाली जैन रामकथाओं का दीपस्तंभ है, पर वह स्वयं भी किसी न किसी रूप में विमलदेवसूरि से प्रभावित रहा है।

[1] पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि।
तियहे ण पत्तिज्जंति मरंत वि॥ पउमचरिय ८३, ८।

स्वयंभू की शैली जहाँ कथासूत्र को लेकर आगे बढ़ती है वहाँ अवश्य सरलता और सादगी का निर्वाह करती है, किंतु जहाँ वह प्रकृतिचित्रण करने बैठता है, उसकी तूली एक से एक अलंकृत संविधान का आश्रय लेने लगती है। उसे कभी गोदावरी पृथ्वीरूपी नायिका की फेनावलि के वलय से अलंकृत बाँह सी दिखाई देती है, जिसे उसने वक्ष पर मुक्ताहार धारण करनेवाले प्रिय के गले में डाल रखा है, तो कभी वृक्षपंक्तियाँ वसुधा की रोमराजि जैसी दिखाई देती हैं। स्वयंभू की अभिव्यंजना शैली संस्कृत के परवर्ती ह्रासोन्मुख कवियों से प्रभावित होने पर भी उनकी तरह विकृत नहीं हो पाती, यह बहुत बड़ी बात है। इसका एकमात्र कारण संभवतः यही था कि कवि यह समझ रहा था कि उसे अपनी कृति पंडितों के लिये न लिखकर 'गामेल्लभास' जाननेवालों के लिये लिखना है। पर इतना होने पर भी स्वयंभू की कृति में ऐसे अपूर्व गुण हैं कि भाषा की दृष्टि से चाहे वह उस काल की 'गामेल्लभास' में लिखी गई हो, भावपक्ष और कलापक्ष के समृद्ध वातावरण की दृष्टि से अत्यधिक सुसंस्कृत तथा कलापूर्ण कलाकार का परिचय देती है।

स्वयंभू की दूसरी कृति हरिवंशपुराण है, इसमें महाभारत और कृष्ण से संबद्ध कथा है। पउमचरिय रामकाव्य है, तो हरिवंश कृष्णकाव्य। हरिवंश की २८वीं संधि का पांडवों के अज्ञातवासवाला प्रसंग एक ओर द्रौपदी की अपमानजनित करुण अवस्था, दूसरी ओर भीम के क्रोध का चित्र हमारे सामने रखता है। द्रौपदी के अपमान से क्रुद्ध भीम और कीचक के परस्पर बाहुयुद्ध का वर्णन सजीव है :

तो भिडिय परोप्परु रणकुसल। विण्णि वि णव-णाय-सहास-बल ॥
विण्णि वि गिरि-तुंग-सिंग-सिहर। विण्णि वि जल-हर-रव-गहिर-गिर ॥
विण्णि वि दट्ठोट्ठ-रुट्ठ-वयण। विण्णि वि गुंजा-हल-समणयण ॥
विण्णि वि णह-यल-णिह-वच्छ-यल। विण्णि वि परिहोवम-भुज-जुयल ॥

'रणकुशल भीम और कीचक दोनों एक दूसरे से भिड़ गए। दोनों ही हजारों युवा हाथियों के समान बलवाले थे, दोनों ही पहाड़ के बड़े शिखर के समान लंबे थे, दोनों ही मेघ के समान गंभीर गर्जनवाले थे। दोनों ने अपने ओठ काट रखे थे, उनके मुख क्रोध से तमतमा रहे थे, नेत्र घुँघची के समान लाल हो गए थे। दोनों के वक्षःस्थल आकाश के समान विशाल थे, और भुजदंड परिघ के समान प्रचंड।'

परंपराभुक्त उपमानों के द्वारा भीम और कीचक के विशाल बलशाली शरीर का वातावरण और उनके परस्पर संमर्द का चित्र खींचने में कवि निःसंदेह सफल हुआ है।

स्वयंभू के बाद दूसरे कवि पुष्पदंत हैं। पुष्पदंत काश्यप गोत्र के ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम केशव तथा माता का मुग्धादेवी था। पुष्पदंत के माता पिता जैन हो गए थे। पुष्पदंत आरंभ में अनादृत रहे, पर बाद में मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (६६६-१०२५) के मंत्री भरत के साथ वे मान्यखेट आ गए। यहीं भरत के कहने पर पुष्पदंत ने महापुराण की रचना की थी। महापुराण में ६६वीं संधि से लेकर ७९वीं संधि तक रामकथा वर्णित है। पुष्पदंत की दो अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध हैं—जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ।

डा० भायाणी ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास कहा है, तो पुष्पदंत को भवभूति। स्वयंभू को अपने जीवन में सुख एवं समृद्धि का उपभोग मिला था, वे जीवन के अभावों और संघर्षों से अपरिचित से थे, जबकि पुष्पदंत (पुप्फयंत) को भवभूति की तरह उपेक्षा और तिरस्कार का पात्र बनना पड़ा था। स्वयंभू स्वभाव से शांत थे, पुष्पदंत अक्खड़। यही कारण है कि स्वयंभू की प्रकृति धार्मिक सहिष्णुता से समवेत है, जबकि पुष्पदंत का स्वभाव इस उदारता से रहित है[1]। पुष्पदंत की कविता स्वयंभू से अधिक अलंकृत परिवेश में सजकर आती है और संस्कृत महाकाव्य-परंपरा की रूढ़ियों का प्रभाव पुष्पदंत पर कहीं ज्यादा है।

पुष्पदंत का महापुराण १२० संधियों में विभक्त है। प्रत्येक संधि कड़वकों में विभाजित है। इस समस्त काव्य में ६३ महापुरुषों के जीवन का वर्णन है। पुष्पदंत के महापुराण को जैन ठीक उसी आदर की दृष्टि से देखते हैं, जिस दृष्टि से ब्राह्मण धर्मानुयायी महाभारत को देखते हैं। महापुराण के प्रथम अंश (३७ संधियाँ) में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा है। प्रथम दो संधियों में आत्मनिवेदन, विनय-प्रदर्शन, आश्रयदाता की प्रशस्ति, दुर्जननिंदा, सज्जनप्रशंसा आदि की परंपरागत परिपाटी का पालन करने के बाद काव्य आरंभ होता है। ऋषभ के जन्म, विवाह, पुत्रोत्पत्ति आदि के बाद उनके संन्यास का वर्णन है। इधर उनके पुत्र भरत और बाहुबलि में किसी कारण अनबन हो जाती है और युद्ध होता है। हारकर बाहुबलि राज्य छोड़ देते हैं और जैन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं। ऋषभ के महानिर्वाण के साथ यह 'आदिपुराण' वाला अंश समाप्त होता है। पुष्पदंत ने राम पर केवल ११ संधियाँ लिखी हैं, कृष्ण पर १२, जबकि ऋषभदेव के लिये उन्होंने ३७ संधियों की रचना की है। यही कारण है कि पुष्पदंत का कवित्व आदि-

[1] पुष्पदंत अभिमानी व्यक्ति थे, और अभिमानमेरु, अभिमानचिह्न, काव्यरत्नाकर, कविपिशाच जैसी विचित्र पदवियों से विभूषित थे। इनके स्वभाव के विषय में देखिए—प्रेमी : जै० सा० इ०, पृ० ३०७-३१२।

पुराण से ही पूरी तरह प्रकट होता है। अयोध्यापुरी का वर्णन, चंद्रोदय, विवाह, अप्सराओं के नृत्य आदि प्रसंगों में कवि ने अपनी प्रतिभा का पूरा परिचय दिया है। चतुर्थ संधि में चंद्रोदय का वर्णन परंपरागत उपमानों से अलंकृत होते हुए भी सुंदर बन पड़ा है :

ता उइउ चंदु सुरवइदिसाइ । सिरिकलसु व पइसारिउ णिसाइ ॥
सइं भवणालउं पइसंतियाइ । तारादंतुरउ हसंतियाइ ॥
णं पोमा करयलल्हसिउ पोमु । णं तिहुयणसिरि लायण्णधामु ॥
सुरउब्भवविसमसमावहारु । तरुणीथणविलुलिय सेदहारु ॥
(४. १६. ७. १०)

"इसी समय पूर्व दिशा में चंद्रमा उदित हुआ। वह उस रात्रिरूपिणी नायिका के श्रीकलश (स्तन) के समान था जो तारागणों के दाँतों की हँसी से खिलखिलाती अपने घर में प्रविष्ट हो रही थी। चंद्रमा, मानो सरोवर में कमल पर बैठी कमला हो, मानों तीनों लोक की शोभा और सुंदरता का तेजःपुंज हो, अथवा तरुणीजन के स्तनों से विलुलित, सुरतखेद का अपहरण करनेवाला स्वेदहार हो।"

रामकथा में पुष्पदंत का जितना ध्यान कथा पर रहा है, उतना वर्णन विस्तार पर नहीं, जैसा कि आदिपुराण में पाया जाता है। स्वयंभू तथा पुष्पदंत की रामकथा में कुछ भेद है। स्वयंभू ने विमलदेव सूरि की रामकथा को अपनाया, किंतु पुष्पदंत ने दूसरी परंपरा ली[१]। पुष्पदंत ने गुणभद्र के उत्तरपुराणवाली परंपरा की रामकथा को अपनाया है। पुष्पदंत के मतानुसार राम की माता का नाम सुबला था, कौशल्या नहीं। लक्ष्मण सुमित्रा के पुत्र न होकर कैकेयी के पुत्र थे। राम श्यामवर्ण के न होकर पद्मवर्ण के थे, लक्ष्मण श्यामवर्ण के। सीता का अपहरण रावण ने नारद के उकसाने पर किया था, और सीता मंदोदरी के गर्भ से उत्पन्न रावण की पुत्री थी, जिसे अनिष्ट होने के

१ प्रेमी जी ने जैन पुराणों में रामकथा के दो रूपों का संकेत किया है। एक परंपरा विमलदेव सूरि के पउमचरिउ, तथा रविषेण कृत पद्मचरित में पाई जाती है। स्वयंभू ने भी इसी परंपरा को अपनाया है। दूसरी परंपरा गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण में मिलती है। कुछ लोगों के मतानुसार यह दूसरी परंपरा श्वेतांबर संप्रदाय में प्रचलित है। प्रेमी जी ने इस मत का खंडन किया है। वे कहते हैं कि श्वेतांबर संप्रदाय के आचार्य हेमचंद्र ने भी पहली परंपरा को अपने त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित में अपनाया है। उत्तरपुराणवाली रामकथा किसी संप्रदाय विशेष की नहीं है, अपितु वह अधिक मान्य नहीं है। वैसे कई कवियों ने उसे भी आदर्श माना है। पुष्पदंत ने अपनी रामकथा गुणभद्र की ही अनुकृति पर पल्लवित की है। दे० प्रेमी : जै० सा० इ०, पृ० २७७–२८१।

कारण रावण ने वन में छोड़ दिया था और जनक के द्वारा वह पाली गई थी। दशरथ की मृत्यु राम के लंका से लौटने पर हुई। इस प्रकार पुष्पदंत की रामकथा एक दूसरे ही रूप का परिचय देती है। स्वयंभू और पुष्पदंत में दूसरा भेद धार्मिक भावना का है। स्वयंभू ब्राह्मणविरोधी कम हैं, वे कहीं भी ब्राह्मणविरोधी बातों पर जोर नहीं देते; ऐसे प्रसंगों को वे या तो छोड़ देते हैं या फिर दो चार पंक्तियों में चलते ढंग से कह जाते हैं, पर पुष्पदंत ऐसे स्थलों पर जैनधर्म की विशिष्टता बताने के लिये ब्राह्मणधर्मविरोधी बातों पर विशेष जोर देते हैं[1]।

पुष्पदंत ने कृष्णचरित्र का भी वर्णन किया है। उनकी कृष्णकथा जिनसेन के हरिवंशपुराण की परंपरा से प्रभावित है। कृष्णकथा के संबंध में पुष्पदंत ने अपनी कल्पना को अधिक उन्मुक्त रूप दिया है। रामकथा की अपेक्षा कृष्णकथा के चित्रण में कवि का विशेष मनोयोग रहा है। गोकुल की कृष्णलीलाओं के अंतर्गत गोपिकाओं के साथ की गई छेड़खानी, दही और माखन की चोरी, कालियदमन और गोवर्द्धनधारण जैसी विविध लीलाओं का सुंदर वर्णन उन्होंने किया है। हरिवंशपुराण में भी कवि की पांडित्यपूर्ण प्रतिभा अलंकारों के परिवेश का सहारा लेकर आती है। कहीं कहीं तो पुष्पदंत संस्कृत काव्यों की कोरी श्लेषच्छटा का मोह दिखाने लगते हैं। उन्हें विजयनगर का नंदनवन कभी रामायण के समान दिखाई पड़ता है, कभी महाभारत के समान। नंदनवन में राक्षस हैं, बगुले शब्द करते हैं, शीतल पवन चलता है, और वानर वानरियों के साथ घूमते हैं। रामायण में राक्षस हैं, लक्ष्मण का स्वर सुनाई देता है, सीता का विरह है, और राम के साथ हनुमान सुशोभित हैं। महाभारत की तरह उस उपवन में नीलकंठ (शिव, मोर) नाचते हैं, द्रोण (घड़े) के द्वारा अर्जुन (वृक्षविशेष) को सींचा जा रहा है। वह अर्जुन नकुल से युक्त है, अर्जुन के वृक्ष के पास नेवले विचरते हैं :

दिट्ठहु णंदणवणु तहिं केहउ। महुं भावइ रामायणु जेहउ।
जहि चरंति मीयर रमणीयर। चउदिसि उच्छलंति लक्खणसर।
सीय विरहिं संकमइ णंहंतरु। घोलिर पुच्छउ सरामउ वाणरु।
णीलकंठु णच्चइ रोमंचिउ। अज्जुणु जाहिं दोहें संसिंचिउ।
णउलें सो जिज णिरारिउ सेविउ। मायरु किंण ठ कासु वि भाविउ।

(८१. ८. २–६)

[1] स्वयंभू यापनीय पंथ के जैन थे जो अपनी धार्मिक उदारता के लिये प्रसिद्ध रहा है। पुष्पदंत दिगंबर जैन थे।

यह उदाहरण देने का तात्पर्य यह था कि पुष्पदंत शब्दालंकार और अर्थालंकार के फेर में स्वयंभू से कहीं अधिक फँस गए हैं। स्वयंभू तथा पुष्पदंत के समय को देखते हुए इस भेद का कारण समझा जा सकता है। पुष्पदंत के पहले ही राष्ट्रकूट राजाओं के आश्रय में कई संस्कृत कवि हो चुके थे, जो ह्रासोन्मुख काल की अलंकारप्रियता का संकेत करते हैं। पुष्पदंत से ५०-६० वर्ष पूर्व ही मान्यखेट में संस्कृत का एक बहुत बड़ा कवि हो गया था, जिसे पंडितों ने बाण के बाद गद्य का सबसे बड़ा कवि माना है। त्रिविक्रम भट्ट श्लेष तथा दूरारूढ़ कल्पनाओं के बड़े प्रेमी थे। पुष्पदंत पर त्रिविक्रम का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। स्वयंभू मूलतः हृदय के कवि हैं, पुष्पदंत बुद्धि के। स्वयंभू और पुष्पदंत की तुलना कालिदास और भवभूति से न कर यदि उन्हें अपभ्रंश का कालिदास और माघ माना जाय तो ठीक होगा। कालिदास की भाँति स्वयंभू का अभिव्यंजनापक्ष सदा अभिव्यंग्य का उपस्कारक बनकर आता है, माघ की तरह पुष्पदंत शब्द और अर्थ की रमणीयता पर, उनकी अलंकृत चारुता पर अधिक जोर देते हैं जिससे पांडित्य के आलवाल में फँसकर भाव दब उठता है। पर पुष्पदंत में भावपक्ष सर्वथा नगण्य है, यह कहना ठीक न होगा, माघ की भाँति पुष्पदंत कविहृदय अवश्य हैं, पर माघ की तरह पुष्पदंत काव्य की विद्यमान परंपरा का ही आश्रय लेकर उसी में बाजी मार ले जाना चाहते हैं। यही कारण है कि पुष्पदंत ह्रासोन्मुखी संस्कृत कवियों के मार्ग पर, ब्राह्मणधर्म के विरोधी होते हुए भी, चलते दिखाई पड़ते हैं। स्वयंभू तथा पुष्पदंत के अतिरिक्त अन्य पुराणरचनाएँ भी अपभ्रंश में हुई होंगी। यशःकीर्त्ति और रइधू की रचनाओं का पता चलता है, पर वे हमें उपलब्ध नहीं हैं।

(**ख**) **चरित और कथासाहित्य**—पुराणसाहित्य के बाद जैन प्रबंधकाव्य में एक ओर चरितसाहित्य, दूसरी ओर कथासाहित्य भी मिलता है। चरितकाव्यों की रचना तीर्थंकरों या अन्य महापुरुषों की जीवनकथा को लेकर की गई थी। चरितकाव्यों में पुष्पदंत की ही दो कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित) में जैन व्रतादि के संबंध में 'श्रुतपंचमी' का माहात्म्य बताते हुए नागकुमार नामक मगधदेश के राजपुत्र की कथा निबद्ध की गई है। नागकुमारचरित की कथा में एक ओर लोककथाओं की सौतोंवाली कहानी का वातावरण, दूसरी ओर अलौकिक शक्तियों के जीवन में हाथ बँटाने की धारणा का संकेत पाया जाता है। पुष्पदंत की दूसरी कृति 'जसहरचरिउ' (यशोधरचरित) में कापालिक शैव मत पर जैन धर्म की विजय बताने के लिये चार संधियों के छोटे से खंडकाव्य की रचना की गई है। णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ दोनों ही काव्य पुष्पदंत की अपूर्व वर्णनशक्ति का परिचय देते हैं जिसका एक रूप हमें महापुराण मिलता है। इसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं।

चरितकाव्यों की परंपरा में ही मुनि कनकामर (११२२ वि० सं०) के 'करकंडचरिउ' का नाम लिया जा सकता है, जो काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की कृति न होते हुए भी कथानकरूढ़ियों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसमें करकंड के जीवन की कथा वर्णित है। करकंड अपने समय के 'प्रत्येकबुद्ध' महात्मा थे। बौद्ध तथा जैन दोनों उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। करकंडचरिउ काव्य १० परिच्छेदों (परिच्छेउ) में विभक्त है, प्रत्येक परिच्छेद कडवकों में विभक्त है। करकंड की कथा के साथ ही साथ इस काव्य में नौ अवांतर कथाएँ भी हैं जो बीच बीच में आती रहती हैं। इन्हीं में से एक कथा बृहत्कथा-वाले नरवाहनदत्त तथा मदनमंजूषा की है, जो इस काव्य के छठे परिच्छेद (संधि) में पाई जाती है। आठवें परिच्छेद में एक सुए की भी कहानी है जो विद्याधर था किंतु सुए का रूप धारण कर उज्जैन के पास पर्वत पर रहता था। यह सुआ विद्वान् है, सेठ को कुट्टिनी के फंदे से छुड़ाता है, और राजदरबार में आकर राजा को आशीर्वाद देता है। करकंडचरित का सुआ कादंबरी के वैशंपायन की याद दिलाता है। वैशंपायन की भाँति इसने भी तपस्वियों के आश्रम में निवास किया है। करकंडचरित में पंचकल्याण विधान नामक व्रतोपवास की महत्ता बताई गई है। काव्यसौंदर्य साधारण कोटि का है और कनकामर न स्वयंभू की तरह अंतस् से कवि ही जान पड़ते हैं, न पुष्पदंत की तरह पंडित ही। करकंडचरित का एक अलंकृत वर्णन यह है :

तणु रूव रिद्धि एह अइविहाइ । णहरुवइं रविससि सरिय णाइ ।
सारउ सरीरु इच्छंतियाए । इह सारिउ जंघउ कयलियाए ।।
करिराएँ मण्णेवि करुण चंगु । णं सेविउ मेरुहि आहि तुंगु ।
सुरगिरिणा गणियउ कठिण एह । अणुसरिय णियवहो लब्धियदेह ।।

(१. १-६)

उसकी रूपसंपत्ति अत्यधिक समृद्ध है। सूर्यचंद्र उसके नख के रूप में विद्यमान हैं। उसकी दोनों जाँघें कदली हैं, जो उसके शरीर को चंचल बनाए हैं। (उसकी जाँघों को देखकर) अपनी सूँड को असुंदर पाकर ऐरावत सुमेरु के उत्तुंग शिखर पर छिप गया है। सुमेरु पर्वत ने और अधिक कठिनता प्राप्त करने के लिये उसके नितंबों का अनुसरण कर लिया है।

बारहवीं शती के कुछ अन्य चरितकाव्य भी मिलते हैं। इनमें सबसे पुराना नयनंदि मुनि (११५० वि० सं०) का सुदंसणचरिउ है[1]। इसमें पंच नमस्कार

[1] नयनंदि मुनि के 'सुदंसणचरिउ' के लिये दे० रामसिंह तोमर का लेख 'सुदंसणचरिउ', (विश्वभारती, खंड ४, अंक ४, पृ० २६२-२६६)।

के माहात्म्य की कथा है। काव्यशैली सुंदर है। हरिभद्र सूरि (१२१६ वि० सं०) का नेमिनाथचरित (णेमिणाहचरिउ) सात संधियों का काव्य है, जिसमें नेमिनाथ स्वामी की कथा है। हरिभद्र सूरि की शैली अत्यधिक अलंकृत तथा समासात पदावलीवाली है। दूसरा काव्य विनयचंद्र सूरि (१२५० वि० सं०) की 'नेमिनाथ चउपइ' है जिसका इतिवृत्त नेमिनाथ के जीवन से संबद्ध है। विनयचंद्र सूरि की शैली हरिभद्र सूरि से सर्वथा भिन्न है। इस काव्य की शैली बोलचाल की देश्य भाषा के विशेष समीप है। लोगों का अनुमान है कि संभवतः इसकी रचना बहुत बाद की है। 'नेमिनाथचउपइ' में 'बारहमासा' मिलता है। नेमिनाथ के वैराग्य ले लेने पर राजमती विलाप करती हैं और उसी के उद्दीपन रूप में बारहों महीने की प्रकृति का वर्णन किया गया है। बारहमासे की पद्धति संस्कृत तथा प्राकृत में नहीं पाई जाती, हिंदी में मिलती है। जायसी के नागमती के विरह-वर्णन में बारहमासा है। विनयचंद्र की सरल सरस भाषा में बारहमासे का कुछ नमूना देखिए :

> वइसाहह विहसिय वणराइ । मयणमित्तु मलयानिलु वाइ ॥
> फुट्टिरि हियडा माझि वसंतु । विलपइ राजल पिकपखड-कंतु ॥
> सखी दुक्ख वीसरिवा मणइ । संभलि भमरउ किम रुणझुणइ ॥
> दीस पंचधिरु जोवणु होइ । खाउ पियउ विलसउ सहु कोइ ॥

बारहवीं शती में ही रास या रासक नामक काव्यविधा का भी उदय दिखाई देता है। इसका प्रथम रूप हमें शालिभद्रसूरि (वि० १२४१) के भरतबाहुबलिरास में मिलता है। रासकाव्यों के विषय में अगले अध्याय में कुछ विस्तार से संकेत किया जायगा। भरतबाहुबलिरास वीररस का काव्य है जिसमें भरत तथा बाहुबलि (ऋषभ के पुत्रों) के परस्पर युद्ध का वर्णन है। इस काव्य में हमें उस रूढ़ युद्ध-वर्णन-शैली का रूप मिलता है जो बाद के वीरगाथाकाव्यों की विशेषता बन गई है :

> चल चमाल करिमाल कुंत कबतल कोदंड (उ)
> झलकहिं सावल सबल-सेलहल मसल पभंड (उ)
> सिंगिणि गुण टंकार सहित बाणावलि ताणहिं ।
> परशु उलालहिं करि धरहिं भाला उलालहिं ॥

जैन प्रबंध काव्यों के प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व धणयाल[1] (धनपाल)

[1] धनपाल नाम के तीन जैन कवि हो चुके हैं। भविष्यदत्तकथा के रचयिता संस्कृत गद्यकाव्य तिलकमंजरी के रचयिता धनपाल से भिन्न हैं। अपभ्रंश कवि धणवाल (धनपाल)

की भविसयत्तकहा (भविष्यदत्तकथा) का उल्लेख करना आवश्यक होगा[1]। यह २२ संधियों का काव्य है। इसमें भविष्यदत्त की कथा है। गजपुर के नगरसेठ धनपति ने हरिबल सेठ की पुत्री कमलश्री से विवाह किया, जिससे भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पूर्वजन्म के किसी कर्म से धनपति का प्रेम कमलश्री से हट गया। उसने एक दिन कमलश्री को पुत्र के साथ घर से निकाल दिया। वह पीहर चली गई। इधर धनपति ने अन्य सेठ की पुत्री सरूपा से विवाह कर लिया जिससे उसके बंधुदत्त नामक पुत्र हुआ। बड़ा होने पर बंधुदत्त व्यापार के लिये निकला तो माता के मना करने पर भी भविष्यदत्त उसके साथ हो लिया। तिलकद्वीप में पहुँचने पर भविष्यदत्त को वहीं छोड़कर जहाज चल दिया। बंधुदत्त ने अपने सौतेले भाई को धोखा दिया। तिलकद्वीप में ही घूमते घूमते भविष्यदत्त का विवाह एक राक्षस ने एक सुंदरी से करा दिया। बारह वर्ष तक तिलकद्वीप में रहकर विपुल धनसंपत्ति के साथ भविष्यदत्त घर चलने को तैयार हुआ तो बंधुदत्त आ पहुँचा। उसने भविष्यदत्त को विश्वास में डालकर, जब वह जिन मंदिर में प्रणाम करने गया तो उसकी धनसंपत्ति और पत्नी का अपहरण कर लिया। घर आकर उसने उसे अपनी ही पत्नी बताया। भविष्यदत्त की माँ ने इधर 'श्रुतपंचमी' (सुयपंचमी) का व्रत किया। व्रत के प्रभाव से एक देव ने भविष्यदत्त की सहायता की और उसे घर पहुँचा दिया। भविष्यदत्त ने राजा के पास जाकर बंधुदत्त की नीचता का भंडाफोड़ किया और अपनी पत्नी और संपत्ति दिलाने की प्रार्थना की। राजा ने बंधुदत्त को दंड दिया। भविष्यदत्त ने कुरुराज की युद्ध में सहायता की जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने उसे आधा राज्य और पुत्री दे दी। अंत में भविष्यदत्त के पूर्वजन्म की कथाओं का वर्णन है और भविष्यदत्त अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य देकर बन को चला जाता है। करकंडचरिउ की तरह भविसयत्त-कहा भी लोककथानकों की रूढ़ि के लिये महत्वपूर्ण है। करकंडचरिउ की अपेक्षा

का समय विक्रम की ११वीं शती है, तिलकमंजरीकार धनपाल का १२वीं शती। तिलकमंजरीकार की ही अन्य कृतियाँ ऋषभपंचाशिका और पाइअलच्छी नाममाला है। भविष्यदत्तकथा के रचयिता धनपाल धक्कडवंशी दिगंबर जैन थे। इनकी माता का नाम धनश्री था (धक्कडवणिवंसि माएसरहो समुब्भविअ। धणसिरिदेविसुएण विरइउ सरसइसंभविण।) धनपाल की भाषा बोलचाल की अपभ्रंश के विशेष नजदीक मानी जाती है। दे० प्रेमी : जै० सा० इ०, पृ० ४६७-६८।

[1] भविसयत्तकहा की पहली चार संधियों का प्रकाशन डा० याकोबी के संपादकत्व में जर्मनी (वि० सं० १९७५ सन् १९१८) से हुआ था। बाद से स्व० दलाल और डा० गुणे के संपादकत्व में गायकवाड ओरियंटल सिरीज से वि० सं० १९८० (सन् १९२३) में पूरी भविसयत्तकहा प्रकाशित हुई।

भविसयत्तकहा अधिक साहित्यिक कृति है। इसके कई स्थलों पर धनपाल की काव्यप्रतिभा का पता चलता है। चतुर्थ संधि का वह स्थल जहाँ बंधुदत्त भविष्यदत्त को अकेला छोड़कर भाग जाता है और वह तिलकद्वीप में घूमता हुआ उजाड़ नगरी में पहुँचता है, अत्यधिक मार्मिक बन पड़ा है। संध्या तथा रात्रि के आगमन का वर्णन सुंदर किया गया है :

कर चरण धुणवि वर कुसुम लेवि। जिणु सुमिरिवि पुप्फंजलि खिवेवि ॥
फासुय सुयंध रस परिमलाइं। अहिलसिरि असेसइं तलहलाइं ॥
थिउ दीसवंतु खणु इक्कु जाम। दिनमणि अत्थ वणहु झुक्कु ताम ॥
हुअ संझ तेय तंबिर सराय। रत्तंबरु णं पंगुरिवि आय ॥
पहि पहिय थक्क विहडिय रहंग। णिय णिय आवासहो गय विहंग ॥
मउलिय रविंद वम्महु वितट्टु। उप्पन्न बाल मिहुणह मरट्टु ॥
परिगलिय संझ नं णिएवि राइ। असइ व संकेयहो चुक्क णाइ ॥
हुअ कसण सवत्ति अ मच्छरेण। सिरि पहय णाइं मसि खप्परेण ॥
हुअ रयणि बहल कज्जल समील। जगु गिलिवि णाइं थिय विसम सील ॥

"किरण रूपी पैरों से दौड़कर, सुंदर फूलों को चुनकर, जिन को नमस्कार कर, उनके चरणों पर पुष्पांजलि बिखेर, निखिल अभीष्ट फलों को प्राप्त करता हुआ सूर्य एक क्षण अस्ताचल पर विश्राम कर अस्त हो गया। प्रेम से भरी (ललाई से युक्त, सराग), तेज से प्रदीप्त संध्या, लाल रंग की साड़ी (रक्तांबर=लाल आकाश) को धारण करती आई। राहगीर रास्ते में ठहर गए। चक्रवाक के जोड़े बिछुड़ गए। पक्षी अपने अपने घोंसले में चले गए। कमल बंद हो गए, कामदेव का प्रसार होने लगा और नए मिथुनों में गर्व उत्पन्न होने लगा। इसे देखकर विप्रलब्धा (संकेतच्युत) नायिका के समान प्रेम से भरी (ललाई से युक्त) कुलटा संध्या चली गई। वह सौत की तरह डाह से काली हो गई, जैसे किसी ने उसके सिर पर काजल का खप्पर मार दिया हो। वह सघन कज्जल के समान काले रंग की रात्रि बन गई और जैसे तैसे विषम स्वभाव को धारण करती हुई संसार में फैल गई।"

धनपाल की तूलिका ने एकसाथ सूर्य के अस्त होने से लेकर सघन अंधकार के फैलने तक के चित्र को कुछ अलंकृत रेखाओं में चित्रित कर वातावरण की अपूर्व सृष्टि की है। संध्या के मस्तक पर कज्जल के खप्पर को मार देने की कल्पना अनूठी है। 'सरागा' (सराय), 'रक्तांबर (रत्तंबरु) जैसे श्लेष स्वतः आ गए हैं, कवि ने उन्हें बलपूर्वक नहीं खींचा है, फलतः वे अप्रस्तुत के चित्र को स्पष्ट करने में पूर्णतः सशक्त हैं, कोरी शब्दक्रीड़ा नहीं।

कुल मिलाकर जैन प्रबंध साहित्य ने अपभ्रंश की साहित्यभी को पल्लवित किया है। स्वयंभू, पुष्पदंत और धनपाल का नाम अपभ्रंश साहित्य में गर्व के साथ

लिया जा सकता है। इन कवियों ने काव्यपरिवेश के संबंध में प्रायः संस्कृत काव्यों की परंपरा को ही अपनाया है, परंतु छंदोविधान आदि की दृष्टि से अवश्य कुछ नई परंपरा को जन्म दिया है जिसका संकेत हम आगे करेंगे।

(२) जैन अध्यात्मवादी (रहस्यवादी) काव्य—अपभ्रंश में जैन कवियों के कुछ अध्यात्मपरक रहस्यवादी दोहों के संग्रह भी मिलते हैं। इनमें सबसे प्राचीन योगींद्र या जोइंदु के परमात्मप्रकाश, योगसार तथा सावयधम्मदोहा हैं। इनमें अंतिम रचना तो गृहस्थ श्रावकों के लिये लिखी गई है, बाकी दो जैन साधुओं के लिये आध्यात्मिक उपदेश हैं। योगींद्र के समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, पर वे ११वीं शती से पुराने अवश्य हैं[1]। जैन दर्शन अनेकांतवाद पर विश्वास करता है, पर जोइंदु के परमात्मप्रकाश पर उपनिषद् तथा भगवद्गीता के परब्रह्मवाद का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। परमात्मप्रकाश के ३३७ छंदों में प्रथम आत्मा, परमात्मा, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व का, फिर मोक्ष के स्वरूप एवं समाधि का विवेचन है। परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि वह वेद, शास्त्र, इंद्रिय आदि से नहीं जाना जा सकता, वह अनादि है और केवल निर्मल ध्यान का विषय है :

वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं जो जिय मुणहु ण जाइ।
णिम्मलझाणहं जो विसउ सो परमप्पु अणाइ[2] ॥
(परमात्मप्रकाश)

"हे योगी, जीव न तो उत्पन्न ही होता है, न मरता ही है, न वह बंधमोक्ष को ही बनाता है। जिन का यह आदेश है कि जीव सदा परमार्थ रूप है।"

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउ भणेइ[3] ॥
(परमात्मप्रकाश)

[1] पं० ला० म० गांधी 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' की भूमिका में जोइंदु को प्राकृत वैयाकरण चंड से भी पुराना सिद्ध करते हैं। इस प्रकार वे इसका समय विक्रम की छठी शती मानते जान पड़ते हैं। श्री मधुसूदन मोदी ने इस मत का सप्रमाण खंडन कर जोइंदु का समय १०वीं–११वीं शती माना है। देखिए—ला० म० गांधी : अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० १०२–१०३ तथा मोदी : अपभ्रंशपाठावली, टिप्पणी, पृ० ७७, ७६।

[2] मिलाइए—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठवल्ली)

[3] मिलाइए—न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (गीता)

योगींद्र ने जीव की परमार्थता के लिये 'शिव' शब्द का भी प्रयोग किया है। वह शैव साधकों का प्रभाव जान पड़ता है। समाधि की दशा के अनुपम आनंद का वर्णन करते हुए योगींद्र कहते हैं : जो सुख ध्यान करते समय शिव के दर्शन में मिलता है, वह सुख अनंत देव (शिव) को छोड़कर संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिल पाता :

जं सिव दंसणि परम सुहु पावहि झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि ण वि मेल्लिवि देवअणंतु ॥
(परमात्मप्रकाश)

परमात्मप्रकाश में इसी प्रसंग में मन की चंचलता तथा इंद्रियों की राग-लोलुपता का संकेत कर योगी को उसके निग्रह की शिक्षा दी गई है। परमात्मप्रकाश का विषय दार्शनिक होने के कारण शैली सरल होते हुए भी जटिल दिखाई पड़ती है। योगसार तथा सावयधम्मदोहा इससे अधिक सुबोध हैं।

योगींद्र के बाद जैन रहस्यवाद (?) की दूसरी कृति मुनि रामसिंह का 'पाहुड-दोहा' है[1]। पाहुड (प्राभृत) शब्द का अर्थ बताते हुए प्रो० हीरालाल जैन ने लिखा है कि 'पाहुड' का अर्थ अधिकार है और इस शब्द का प्रयोग समस्त श्रुत ज्ञान (धार्मिक सिद्धांत संग्रह) के लिये पाया जाता है[2]। पाहुडदोहा भी परमात्मप्रकाश की भाँति अध्यात्मपरक काव्य है। प्रो० जैन इसे रहस्यवादी काव्य मानते हैं। पर योगींद्र तथा रामसिंह की रचनाओं को रहस्यवाद कहने के पहले हमें रहस्यवाद के अर्थ को परिवर्तित करना होगा। अच्छा हो हम इन्हें अध्यात्मवादी या अध्यात्मपरक काव्य ही कहें। परमात्मप्रकाश की ही भाँति पाहुडदोहा की शैली पर भी योग और तांत्रिक पद्धति का प्रभाव है। चित्-अचित्, शिव-शक्ति, सगुण-निर्गुण, अक्षर, रवि-शशि, आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग

[1] पाहुडदोहा मुनि रामसिंह की रचना के नाम से प्रसिद्ध है। इसके संपादक प्रो० हीरालाल जैन भी इसे रामसिंह की ही रचना मानते हैं। दे० पाहुडदोहा, भूमिका, कारंजा, वि० १९९० (१९३३ ई०)। रामसिंह का समय वे १०५० वि० के लगभग मानते हैं, क्योंकि उनके कुछ दोहे हेमचंद्र में मिलते हैं। दे० वही, भूमिका, पृ० २१।

श्री मधुसूदन मोदी पाहुडदोहा को रामसिंह की कृति नहीं मानते। उनके मत से यह रचना भी जोइंदु की ही है। जोइंदु के परमात्मप्रकाश के कई दोहे ज्यों के त्यों पाहुडदोहा में मिलते हैं। उन्होंने बताया है कि कोल्हापुरवाली हस्तलिखित प्रति में पाहुडदोहा को जोइंदु की ही रचना माना गया है। श्री मोदी प्रो० जैन के मत का खंडन कर इसे रामसिंह की कृति नहीं मानते। दे० मोदी : अपभ्रंशपाठावली, टिप्पणी, पृ० ८१।

[2] प्रो० जैन द्वारा संपादित पाहुडदोहा, भूमिका, पृ० १३।

मिलता है, जो जैन परंपरा के शब्द नहीं हैं। इन दोनों पर बौद्ध तांत्रिकों तथा शाक्त योगियों का स्पष्ट प्रभाव है। यह दूसरी बात है कि जैन कवियों के इन दोहों में बौद्धों या नाथसिद्धों जैसा तीव्र विध्वंसात्मक रूप नहीं पाया जाता पर रामसिंह ने कई स्थान पर पाखंड की निंदा की है, यद्यपि वे कराह या सरह की भाँति अपने विरोधी को जोर की फटकार नहीं बताते :

> बहुयह पढियइं मूढ पर तालू सुक्खइ जेण ।
> एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥
> (पाउडदोहा, ९७)

'अरे मूढ तूने बहुत पढ़ा, जिससे तेरा तालु सूख गया। अरे तू उस एक अक्षर को क्यों नहीं पढ़ता, जिसके अनुशीलन से व्यक्ति मोक्ष (शिवपुरी) प्राप्त करता है।'

शैव और शाक्त तांत्रिकों की तरह रामसिंह भी शिवशक्ति की अविच्छेद्य स्थिति का संकेत करते हैं। उनके मत से सारा संसार शिवशक्ति रूप है तथा मोहविलीन संसार का रूप दोनों के स्वरूप को जानने पर ही जाना जा सकता है। अतः दोनों के संमिलित रूप को समझने पर ही साधक को वास्तविकता का पता चल सकता है :

> सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु ।
> दोहिं मि जाणहि सयलु जगु बुज्झइ मोह विलीणु ॥
> (दोहा १५)

(३) **बौद्ध दोहा एवं चर्यापद**—अपभ्रंश साहित्य की तीसरी महत्वपूर्ण विधा बौद्ध दोहा एवं चर्यापद हैं। सर्वप्रथम म० म० हरप्रसाद शास्त्री के श्लाघ्य प्रयत्नों से हमें कराह या कान्हपा (कृष्णपाद) तथा सरहपा (शरहस्तपाद) के दोहों एवं पदों का परिचय प्राप्त हुआ। इन्हीं को आधार बनाकर डा० शहीदुल्ला तथा डा० बागची ने इन बौद्ध संतों के महत्वपूर्ण अपभ्रंश साहित्य की खोज की है[१]।

[१] म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने वि० सं० १९७० (१९१६ ई०) में 'बौद्ध गान ओ दोहा' के नाम से कराह तथा सरह की कुछ अपभ्रंश रचनाएँ प्रकाशित कीं। बाद में डा० प्रबोधचंद्र बागची ने वि० सं० १९७५ (१९१८ ई०) में कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल आव् डिपार्टमेंट आव् लेटर्स में कुछ और बौद्ध सिद्धों के गान प्रकाशित किए, जो पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो गए हैं। डा० शहीदुल्ला ने कराह तथा सरह के दोहों एवं चर्यापदों को विस्तृत फ्रेंच भूमिका तथा फ्रेंच अनुवाद के साथ 'ले शाँ द मिस्तीके द कान्ह ए सरह', वि० सं० १९८५, के नाम से प्रकाशित कराया, जिसके साथ तिब्बती टिप्पणियाँ भी प्रकाशित हैं।

जैन साहित्य तथा बौद्ध संतों के साहित्य में एक महत्वपूर्ण भेद है। जैन साहित्य में इस परंपरा का निर्वाह अधिक देखते हैं। उनके प्रबंध काव्य वर्णनशैली, अप्रस्तुत प्रयोग, काव्यरूढ़ियों का विधान, आदि की दृष्टि से संस्कृत परंपरा के ही पोषक दिखाई पड़ते हैं। उनके संत कवियों के आध्यात्मिक मुक्तक भी अधिकतर परंपरागत दार्शनिक शैली का प्रयोग करते हैं, उलटवासियों की 'संध्या भाषा' का प्रचुर व्यवहार नहीं करते। यद्यपि जैन कवि भी ब्राह्मण धर्म के विरोधी हैं पर उनका विरोध उतना उग्र रूप लेकर नहीं आता। बौद्ध अपभ्रंश साहित्य की शैली कुछ भिन्न प्रकार की है। इस ओर का सारा साहित्य, जो बहुत कम उपलब्ध होता है, मुक्तक है। इस साहित्य में हम दो रूप पाते हैं, एक वह जिसमें बौद्ध संतों ने परमानंद की स्थिति का, उस मार्ग की साधना का, योगपरक वर्णन प्रतीकात्मक भाषा में किया है तथा दूसरी वह शैली जहाँ वे तत्कालीन समाज की कुरीतियों एवं नैतिक और सामाजिक रूढ़ियों की निंदा करते तथा ब्राह्मण धर्म के पाखंड का भंडाफोड़ करते हैं। उनकी पहले ढंग की रचनाएँ प्रतीकात्मक 'संध्या भाषा' की शैली में लिखी गई, दूसरे ढंग की रचनाएँ साक्षात् अभिधात्मक शैली में होते हुए भी व्यंग्य की अपूर्व क्षमता रखती हैं। इस शैलीगत दृष्टि से कण्ह तथा सरह दोनों की रचनाओं में समान गुण परिलक्षित होते हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, कण्ह तथा सरह की रचनाओं के उपलब्ध भाषारूप को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसका अवयवसंस्थान, उसकी हड्डी का ढाँचा, पश्चिमी अपभ्रंश का ही जान पड़ता है जिसकी धमनियों में निःसंदेह यत्रतत्र पूरब की तत्कालीन बोली का रक्तसंचार भी देखा जा सकता है।

कण्ह तथा सरह पर विचार करते समय बौद्ध तांत्रिक पद्धति पर दो शब्द कह दिए जायँ। पूरब में बुद्ध के पहले से ही कई अनार्य जातियाँ—किरात, यक्ष, गंधर्व आदि—रहती थीं, जो अत्यधिक विलासी थीं। ये जातियाँ कामदेव, वरुण और वृक्षों की उपासना करती थीं। इन्हीं के एक देवता वज्रपाणि थे। यही यक्षपरंपरा भारतीय संस्कृति को प्रभावित कर एक ओर पुराणों में घुस पड़ी, दूसरी ओर इसने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया[१]। इनके देवता वज्रपाणि बोधिसत्व मान लिए गए। आगे जाकर इनके विलासमय जीवन, मदिरापान आदि ने बौद्ध धर्म में तांत्रिक साधना को जन्म दिया जिसमें स्त्रीसंग और मदिरा आवश्यक अंग बन गई[२]। बौद्ध तांत्रिकों से होती हुई यह परंपरा शैव और शाक्त साधना के 'पंच मकार' का रूप पल्लवित करने में समर्थ हुई। ईसा की सातवीं और आठवीं शती में बिहार और बंगाल

[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हि० सा० भू०, पृ० २२८–२११।
[२] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : ना० सं०, पृ० ८२-८३।

बौद्ध तांत्रिकों के केंद्र थे। वज्रयान शाखा का नाम भी संभवतः वज्र देवता वज्रपाणि से ही संबद्ध है। एक ओर इस तांत्रिक साधना का प्रभाव बौद्ध संतों की रचनाओं में पाया जाता है जहाँ उन्होंने अपनी रहस्यात्मक मान्यताओं को स्त्रीसंग संबंधी प्रतीकों से व्यक्त किया है, दूसरी ओर विद्वानों ने इस तरह की प्रतीक रचना में यह भी कारण ढूँढ़ा है कि वे ब्राह्मण धर्मानुयायी पंडितों को चिढ़ाने के लिये ऐसी वस्तुओं को विहित घोषित करते थे जिन्हें ब्राह्मण धर्म निषिद्ध मानता था। इस प्रकार जो वस्तु ब्राह्मण धर्म में बुरी समझी जाती है वह हमारे लिये अच्छी है, जो उनके लिये अच्छी है वह हमारे लिये बुरी, इस तरह की धारणा इन बौद्ध संतों में पाई जाती है, जिसकी परंपरा नाथ सिद्धों को भी प्राप्त हुई है। यही कारण है कि बालरंडा, डोंबी, चांडाली, रजकी आदि के साथ भोग करना उन्होंने विहित समझा। पर इसमें भी आंतरिक तत्व कुछ और था। योगसंबंधी स्थिति का वर्णन करने के लिये वे इन अश्लील प्रतीकों को चुनते थे परंतु इनका अभिप्रेत अर्थ भिन्न था। बालरंडा के साथ संभोग करने का अर्थ वे कुंडलिनी को सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरंध्र में ले जाना मानते थे। इसी तरह शून्य के लिये वे वज्र या लिंग का प्रयोग करते हैं, उष्णीश कमल (सहस्रार चक्र) के लिये कमल, पद्म या भग का। इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों के लिये बौद्ध तांत्रिक परंपरा में प्रतीकों का प्रयोग मिलता है : इन्हें क्रमशः ललना तथा रसना कहा जाता है[1]। आगे चलकर नाथ-सिद्धों की परंपरा में इन्हें गंगा, यमुना भी कहा जाता है और कबीर ने अधिकतर इन्हीं प्रतीकों का प्रयोग किया है[2]। कण्ह तथा सरह में इस तरह के तांत्रिक परंपरागत प्रतीकों का प्रयोग बहुत हुआ है। कण्ह तथा सरह की धार्मिक पद्धति के विषय में संकेत करते समय डा० शहीदुल्ला ने उसे महायान शाखा के योगतंत्र के अंतर्गत माना है[3]।

किंवदंतियों के अनुसार कण्ह, कान्ह या कृष्णपाद, मत्स्येंद्रनाथ और तंतिपा के गुरुभाई थे और ये घंटापाद के शिष्य कूर्मपाद की संगति में आकर उनके शिष्य हो गए थे[4]। कण्ह के समय के विषय में विभिन्न मत हैं, पर संभवतः कण्ह का

[1] बौद्ध तंत्रों के कुछ प्रतीकों के लिये देखिए : दोहाकोश के धार्मिक विचार, अध्याय १। शहीदुल्ला : ले शाँ द मिस्तीके, पृ० १७।

[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ८३-८४।

[3] शहीदुल्ला : ले शाँ द मिस्तीके, पृ० १७।

[4] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : ना० सं०, पृ० ७७।

समय १० वीं शती है[1]। कण्ह कापालिक मत के माननेवाले थे। कण्ह के दोहे तथा चर्यापद प्राप्त हुए हैं। इनमें अधिकतर दोहों का विषय बौद्धतंत्र तथा योग है। लेखक ने गुह्य पारिभाषिक शब्दों या प्रतीकों का प्रयोग कर योगसाधना की कई बातें कही हैं। शांत निश्चल समाधिदशा के आनंद का वर्णन करते हुए कण्ह ने कमल-मकरंद की उपमा दी है। सहस्रार कमल में महामुद्रा धारण कर सुरतवीर (योगी) आनंद का अनुभव उसी तरह करता है जैसे भौंरा पराग को सूँघता है :

एवंकार बीअ लइअ कुसुमिअउ अरविंदए।
महुअर रूएं सुरअवीर जिंघइ मअरन्दए॥

कण्ह ने महामुद्रा के लिये गृहिणी तथा तरुणी जैसे प्रतीकों का प्रयोग करते हुए बताया है कि गृहिणी या तरुणी के साथ निरंतर स्नेह तथा केलि किए बिना ज्ञान (बोधि) प्राप्त नहीं होता। परमसुख की प्राप्ति चाहनेवाले व्यक्ति को मंत्रतंत्र करने की आवश्यकता नहीं, अपनी गृहिणी के साथ केलि करे, गृहिणी के बिना पंचवर्ण (पंचेंद्रियों) में विहार करना व्यर्थ है[2]। यदि साधक समरसता को प्राप्त करना चाहता है तो अपने चित्त को गृहिणी (महामुद्रा) में इसी तरह घुला मिला दे जैसे पानी में नमक घुल जाता है :

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणे जइ पुणु ते सम चित्त॥
(दोहा, ३२)

दूसरे बौद्ध सिद्ध सरह या शरहस्तपाद हैं। ये नालंदा विश्वविद्यालय में भी रहे। सरह का समय १०वीं शती माना जाता है[3]। इनका नाम शरहस्तपाद इसलिये पड़ा कि वे बाण (शर) बनानेवाली एक नीच जाति की स्त्री के साथ रहते थे। सरह की उक्तियाँ कण्ह की अपेक्षा अधिक तीखी हैं। वे भस्म लगाते

[1] शहीदुल्ला बौद्ध परंपरा के आधार पर कण्ह का समय ७६० वि० म० मानते हैं। देखिए—ले शाँ द मिस्तीकं, पृ० २८।
डा० चाटुर्ज्या इनका समय १२वीं शती मानते हैं। ओ० डे० लैं०, पृ० १२२।

[2] एक्कुंण किज्जइ मंत ण तंत णिअ घरिणी लइ केलि करंत।
णिअ घरे घरिणी जाव ण मज्जइ ताव कि पंचवण्ण विहरिज्जइ॥
(दोहा २८)।
कण्ह तथा सरह के दोहे, शहीदुल्लावाले संस्करण से उद्धृत किए गए हैं; दोहों की क्रमसंख्या उन्हीं के अनुसार दी गई है।

[3] ले शाँ द मिस्तीके, पृ० ११।

आचार्य, दीपक जलाते और घंटा बजाते ब्राह्मण उपासक, जैन क्षपणक, रंडा को उपदेश देते साधु संन्यासियों, सभी को एक साथ लपेटते हैं और उनकी सटीक निंदा करते हैं। क्षपणकों की निंदा करते हुए सरह उनके लोमोत्पाटन, पिंछिकाग्रहण, उच्छभोजन सभी की भर्त्सना करते हैं और यह घोषणा करते हैं कि क्षपणकों का मोक्ष उन्हें पसंद नहीं है। क्षपणकों का शरीर तत्व से रहित होता है और तत्वरहित शरीर परमपद की साधना नहीं कर पाता :

जइ नग्गा विअ होइ मत्ति ता शणह (सुणह) शियालह (सियालह) ॥
लोमोप्पाट्टेण अत्थि सिद्धि ता जुवइ-णितंबह ॥
पिंछीगाहणे दिट्ठ मोक्ख ता [मोरह चमरह] ।
उञ्छ भोअणें होइ जाण ता करिह तुरंगह ॥
एव सरह भणइ खवणाण मोक्ष (मोक्ख) महु किम्पि न भावइ ।
तत्त रहिअ काया ण ताव पर केवल साहइ[1] ॥

(सरह ७, ८)

और उस 'मूर्ख' पंडित की अज्ञता का प्रदर्शन करने में सरह ने कोई कसर नहीं रखी है जो सारे शास्त्रों की व्याख्या करने का दावा करता है, पर अपने ही शरीर में स्थित आत्मा (बुद्ध) को नहीं जानता। उसने अपने 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' को भी नहीं रोका है, पर निर्लज्ज इतना होने पर भी घमंड करता है और अपने आपको पंडित घोषित करता है :

पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणइ
देहहि बुद्ध बसंत ण जाणइ ।
गमणागमण ण तेण विखंडिअ
तोवि णिलज्ज भणइ हउं पंडिअ ॥

(सरह ७०)

समाधि में अनुभूत परम ज्योति का उदय होने पर सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। आत्मसाक्षात्कार का 'परमाणु' उसी तरह समस्त दुरितों का हरण कर लेता है, जैसे चंद्रकांत मणि (अथवा चंद्रमा रूपी मणि) सघन अंधकार में प्रकाश को प्रसारित करता है :

[1] सरह का यह उदाहरण शहीदुल्लावाले संस्करण से दिया गया है। शहीदुल्ला ने अपने संस्करण में 'व' ब का भेद नहीं किया है, साथ ही 'शुणह' 'शियालह' में 'श' का प्रयोग मिलता है। इसी तरह 'मोक्ष' जैसे तत्सम शब्द का प्रयोग मिलता है। मैंने छोटे कोष्ठक ( ) में अपने पाठ दे दिए हैं। व-ब वाले अभेद को रहने दिया है। बड़े कोष्ठक [ ] में शहीदुल्ला का ही पाठ है। देखिए—ले शाँ द मिस्तीके, पृ० १२७–२८।

घोरं घोरं चन्द्रमणि जिम उज्जोअ करेइ ।
परम महासुख एखु (एक्कु) खण दुरि आसेस हरेइ ॥
(सरह ९९)

दोहों के अतिरिक्त कराह तथा सरह के पद (चर्या) भी मिलते हैं। ये पद भैरवी, पटमंजरी, कामोद जैसी राग-रागिनियों में निबद्ध हैं। इन चर्यापदो में भी दोनों तरह के पद मिलते हैं, कुछ में योगसाधना की स्थिति का वर्णन है, कुछ में पाखंडों की कटु आलोचना। कराह का एक प्रसिद्ध रहस्यवादी पद वह है जिसमें 'डोंबी' के प्रतीक द्वारा कराह ने सुषुम्ना नाड़ी के मूलाधार में स्थित कुंडलिनी का वर्णन किया है। वह शहर से बाहर एक कुटिया में रहती है और कराह परमसुख की प्राप्ति के निमित्त उसे संग के लिये आमंत्रित करते हैं :

नगर बाहिरि रे डोम्बि । तोहिरि कुडिआ
छोइ छोइ जासि बाम्ह नाडिआ ।
आलो डोम्बि । तोए सम करब म संग
निघिण काण्ह कपालि जोइ लांग ॥
एक सो पदमा चउशठि (चउसठि) पाखुडि
तहिं चडि नाचअ डोंबी बापुडि ॥
(कण्ह, चर्यापद १)

कराह तथा सरह के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण बौद्ध सिद्ध के पद मिलते हैं। ये हैं भुसुक्कपाद, जो नालंदा विश्वविद्यालय के प्रमुख विद्वानों में थे। इनके लगभग ८ पद उपलब्ध हैं। भुसुक्क के अतिरिक्त कक्कुरि, लुइ, शबर, शांति, कंबलांबरपाद आदि अन्यान्य सिद्धों के बौद्ध चर्यापद भी उपलब्ध हुए हैं जो विषय तथा शैली की दृष्टि से कराह तथा सरह का ही अनुगमन करते हैं[१]।

(४) **अपभ्रंश का शौर्य एवं प्रणय संबंधी मुक्तक काव्य**—अपभ्रंश के प्रणय संबंधी मुक्तक काव्यों का पहला रूप हम कालिदास (४०० वि०) के विक्रमोर्वशीय की उन्मादोक्तियों में देख सकते हैं जो नवीन मान्यता के अनुसार उस काल के लोकसाहित्य की देन है। विक्रमोर्वशीय की इन उक्तियों में अपभ्रंश काव्यपरंपरा के बीज स्पष्ट रूप में पल्लवित दिखाई पड़ते हैं। जैसा कि हम आगे बताएँगे, इनमें अपभ्रंश की छंदःपरंपरा का रूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। कालिदास के द्वारा प्रयुक्त (अथवा विरचित) इन अपभ्रंश पद्यों में विरह की मार्मिक दशा का चित्रण मिलता है। पुरूरवा देखता है, सामने कोई हंस मंद गति

[१] इनमें से कुछ के लिये देखिए—डा० बागची द्वारा संपादित बौद्ध चर्यापदों का संग्रह।

से चला जा रहा है। हंस को यह अलस गति मिली कहाँ से ? आखिर यह तो उसे 'जघनभरालस' उर्वशी ही सिखा सकती है। उसे वह अवश्य मिली है। और वह छिपने की चेष्टा करते हंस से कह उठता है :

रे रे हंसा किं गोविज्जइ । गइ अणुसारं मइं लक्खिज्जइ ॥
कइं पइं सिक्खिउ ए गइ लालस । सा पइ दिट्ठी जहण भरालस ॥
(अंक ४)

और वह हंसयुवा को हंसिनी के साथ गुरुतर प्रेमरस से क्रीड़ा करते देखता है। उर्वशी का विरह हृदय में टीस पैदा कर देता है। काश, वह भी हंस की तरह प्रिया के साथ होता :

एक्ककम वड्ढिउ गुरुअर पेम्म रसे ।
सरि हंस जुवाणउ कीलइ कामरसे ॥
(अंक ४)

ध्यान देने की बात तो यह है कि इन पद्यों की अभिव्यंजना शैली लोकगीतों के विशेष निकट है। ऊपरवाले पद्य का छंद अडिल्ल है जो अपभ्रंश का अपना छंद है तथा सबसे पहले यहीं मिलता है। इसी से हिंदी की चौपाई का विकास माना जाता है।

कालिदास के प्रणयमुक्तकों के बाद दूसरी मोतियों की लड़ी हमें हेमचंद्र के व्याकरण में उद्धृत पद्यों (दोहों) में इतस्ततः विकीर्ण मिलती है। पुरूरवा के मुक्तकों में टीस, वेदना और पीड़ा की कसक है, हेमचंद्रवाले दोहों में शौर्य का ज्वलंत तेज, हँसीखुशी मिलते युवक प्रेमियों का उल्लास, एक दूसरे से बिछुड़ते प्रणयियों की वेदना के विविध चित्र हैं। हेमचंद्र के इन दोहों में, जिन्हें व्याकरण की शाण पर खराद तराशकर उन्होंने हमारे सामने रखा है, हमें हेमचंद्र के पूर्व के गुजरात और राजस्थान का लोकजीवन तरलित मिलता है। इनमें एक ओर वहाँ के जीवन का वीरतापूर्ण चित्र मिलता है, दूसरी ओर लोकजीवन की सरस शृंगारी झाँकी। इनमें प्रणय के भोलेपन और शौर्य की प्रौढ़ि की द्वाभा दिखाई देती है। हेमचंद्र द्वारा पालिश किए हुए इन रत्नों का पानिप अनूठा है, पर कल्पना करना असंगत न होगा कि लोकजीवन के कलकंठ की खान से निकली इन मणियों का असली लावण्य कैसा रहा होगा, उनमें चाहे खुरदरा सौंदर्य ही रहा हो, पर उसमें भी अनूठी विशेषता रही होगी। जो भी हो, हेमचंद्र के द्वारा उदाहृत दोहे हेमचंद्र से कई शतियों पूर्व से लोकगीतों या लोकसाहित्य के रूप में प्रचलित रहे होंगे। आज भी गुजरात और राजस्थान की कामिनियाँ अपने लोकगीतों के बीच बीच में इस प्रकार के दोहों का प्रयोग करती हैं। ये दोहे परंपरा से चले आए हैं, इनमें से अनेक ढोला मारू रा दोहा जैसे संग्रहों में भी संग्रहीत हो गए हैं।

हेमचंद्र के दोहे भी इसी तरह परंपरा से पीढ़ी दर पीढ़ी जनजीवन में गुजरते हुए उसके एक अंग बन गए होंगे। इन दोहों में गुर्जर जाति की भावनाओं का प्रतिबिंब देखने की चेष्टा की जाती है जो साहसपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी, और साहसपूर्ण जीवन की कठोर भूमि पर जीवन की सरसता का अनुभव मजे से किया करती थी। कुछ भी हो, काव्य की दृष्टि से ये मुक्तक अपूर्व हैं। इन दोहों में रमणी का केवल विरह में कुम्हलानेवाला, या संयोग की कसौटी पर कनकरेखा की तरह दिखाई देनेवाला[1] रूप ही नहीं मिलता, उसका वह सगर्व रूप भी दिखाई देता है जहाँ वह प्रिय की वीरता से हर्षित होती चित्रित की जाती है। उसको इस बात की चिंता नहीं कि प्रिय युद्ध से जीतकर अवश्य आए। हाँ, यदि वह हार जाता है तो अच्छा हो कि वहीं लड़कर कट मरे, उसे अपनी सखियों के सामने लज्जित तो न होना पड़े :

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥
(३५१)[2]

हेमचंद्रवाले दोहों के बाद प्रबंधचिंतामणि में मुंज के कुछ दोहे मिलते हैं। ये दोहे मुंज की ही रचनाएँ हैं, या मुंज के जीवन से संबद्ध लोकसाहित्य के रूप, अथवा किसी प्रबंध काव्य के, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इन दोहों में मुक्तक की प्रकृति स्पष्ट परिलक्षित होती है :

मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि ।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि ।

मुंज कहता है, मृणालवति, गए हुए यौवन को न पछता। यदि शर्करा सौ खंड हो जाय तो भी वह चूरी हुई ऐसी ही मीठी रहेगी :

एउ जम्मु नग्गुहं गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खाँ तुरिय न माणियाँ, गोरी गली न लग्गु ॥

यह जन्म व्यर्थ गया। न सुभटों के सिर पर खड्ग टूटा, न तेज घोड़े सजाए, न गोरी के गले लगा।

[1] ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णी ।
णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी ॥ (३३०)

[2] हेमचंद्र के दोहे पिशेल के मातेरियालेन वाले संस्करण से उद्धृत हैं। दोहों की संख्या उसी के अनुसार है।

यह पद्य अपभ्रंश के मुक्तक दोहों की भावव्यंजना का संकेत करता है, जिसमें घोड़े की पीठ पर बैठकर खड्ग से सुभटों के सिर को खंडित करनेवाला वीर्यदर्प, और सुंदरी के आलिंगन के धूपछाहीं चित्रों की रंगीन आभा दिखाई पड़ती है।

अपभ्रंश के पिछले दिनों के साहित्य में एक महत्वपूर्ण शृंगारी गीतिकाव्य उपलब्ध होता है। अद्दहमाण का 'संदेशरासक' अपभ्रंश के काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस काव्य का रचयिता जाति से मुसलमान होते हुए भी संस्कृत तथा प्राकृत काव्यपरंपरा का पूरा जानकार दिखाई पड़ता है। परंपरागत काव्यरूढ़ियों का जो प्रयोग संदेशरासक में मिलता है, वह इसका प्रमाण है। अब्दुर्रहमान १२वीं शती के उत्तरार्ध में रहे होंगे और संदेशरासक इसी काल की रचना मानी जा सकती है[1]। संदेशरासक की भाषा यद्यपि पूर्णतः परिनिष्ठित अपभ्रंश नहीं कही जा सकती, तथा यह उस काल की रचना है जब नव्य भाषाओं का उदय होने लग गया था,[2] तथापि संदेशरासक की भाषा में नव्य भाषाओं का आदि रूप इतना स्पष्ट नहीं हुआ है। संदेशरासक की भाषा उस स्थिति का संकेत करती है जब उसमें आगे बढ़ने की लालसा तो है, पर रह रहकर पुरातन का प्रेम उसे पीछे खींचे लिए जा रहा है। संदेशरासक को हम मेघदूत के ढंग का गीतिकाव्य कह सकते हैं। मेघदूत में प्रिया से वियुक्त यक्ष की विरहवेदना है, संदेशरासक में खंभाइत्त (खंभात) गए प्रिय के विरह में दुर्बल एक प्रोषित-पतिका की टीस भरी करुण पुकार। एक में अचेतन मेघ संदेश का वाहक बनता है, दूसरे में राह चलते किसी पथिक से संदेश ले जाने की प्रार्थना की जाती है। संदेशरासक तीन प्रक्रमों में विभक्त है। प्रथम प्रक्रम में कविपरिचय तथा आत्मनिवेदन है, शेष दो प्रक्रमों में संदेशरासक का वास्तविक कलेवर निबद्ध है। द्वितीय प्रक्रम में वियोगिनी नायिका खंभात जानेवाले मार्ग पर खड़ी होकर पति को सँदेसा पहुँचाने के लिये कई पथिकों से प्रार्थना करती है। कोई पथिक उसकी ओर ध्यान ही नहीं देता। आखिर एक दयालु उसका संदेश सुनने को राजी हो जाता है। द्वितीय प्रक्रम में नायिका अपने विरह का दुखड़ा सुनाती है। वह अपनी विरहदशा का वर्णन करते करते ही इतनी व्यथित हो जाती है कि संदेश नहीं कह पाती और पथिक से प्रार्थना करती है कि वह उसके प्रिय से उसकी विरहावस्था का सारा वर्णन कर दे। कामदेव के बाणों से वह इतनी जर्जर हो गई है कि संदेश कहा ही नहीं जा सकता। 'उससे इतना भर अवश्य कह देना कि उसके विरह

[1] संदेशरासक, सिंघी जैन ग्रंथमाला, मुनि जिनविजय की अँगरेजी भूमिका, पृ० ११।

[2] वही, भूमिका, पृ० १५।

के कारण अंग टूट रहे हैं, अत्यधिक पीड़ा और दुःख उसे सताते हैं, रात में जागरण किया करती है और आलस्य के कारण मार्ग में चलने पर उसकी गति लड़खड़ाती है':

कहि ण सक्कियइ सक्कउ मयणाउहवहिय
इय अवत्थ अम्हारिय कंतह सिव कहिय।
अंगभंगि णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि
विहलंघल गय मग्गि चलंतिहि आलसिहि॥ (२. १०५)

तीसरे प्रक्रम के अंतर्गत षड्ऋतु वर्णन है। ग्रीष्म के ताप को सहन करने के बाद वर्षा ऋतु आती है, चारों दिशाओं में सघन अंधकार प्रसारित कर मेघ गंभीर गर्जन करता है। हाय, इस समय भी धृष्ट प्रिय न आया :

इम तवियउ बहु गिंभु कह वि मइ बोलियउ
पहिय पत्तु पुण पाउसु धिट्ठु ण पत्तु पिउ।
चउदिसि घोरंधारु पयडउ गल्यमरु
गयणि गुहिरु घुरहुरइ सरोसउ अंबुहरु॥ (३. १२९)

संदेश के समाप्त होते होते नायिका का प्रिय आता दिखाई देता है और विरह का विषादपूर्ण वातावरण हर्ष में बदल जाता है।

१०. अपभ्रंश साहित्य की परंपरा

(१) हिंदी को रिक्थ—अपभ्रंश भाषा और साहित्य हिंदी भाषा और साहित्य के साक्षात् पूर्वज हैं। इसलिये हिंदी को इनका रिक्थ मिलना आवश्यक है। अपभ्रंश भाषा ने हिंदी के कलेवर की रचना में पूरा योग दिया है। ठीक इसी तरह अपभ्रंश साहित्य भी हिंदी साहित्य के विकास में कुछ योग देता अवश्य देखा जाता है। किसी भी साहित्य की परंपरा को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक विवेच्य विषयवाली परंपरा, दूसरी काव्य परिवेश की परंपरा।

(अ) विषयगत—हम देख चुके हैं कि विषय की दृष्टि से मोटे तौर पर अपभ्रंश में हम तीन परंपरा मान सकते हैं। जैन पौराणिक विषय, शृंगार तथा वीररस के भावात्मक चित्र और आध्यात्मिक या रहस्यवादी परंपरा, जिसका एक रूप बाह्याडंबर का विरोधवाला भी है। जैन पौराणिक विषयों की परंपरा का निर्वाह हम हिंदी साहित्य में नहीं पाते। इसके दो कारण हैं, प्रथम तो बाद के जैन कवियों ने परिनिष्ठित अपभ्रंश में ही काव्यरचना करते रहना अपना आदर्श समझा, क्योंकि अपभ्रंश उनके लिये धार्मिक और पूज्य भाषा थी और हिंदी में पौराणिक प्रबंध-काव्यों की रचना करना उन्होंने ठीक नहीं समझा। दूसरे इसका कारण यह भी हो सकता है कि हिंदी का विकास भक्तिकालीन आंदोलन से अधिक प्रभावित रहा है, जो

ब्राह्मण धर्म का आंदोलन था और जिसका जैन कवियों पर प्रभाव नहीं पड़ा। तीसरे, हिंदी के प्रबंधकवियों ने भी, जिनमें राजकवि, सूफी या सगुण भक्त थे, इस परंपरा को नहीं अपनाया।

(आ) काव्य परिवेश—अपभ्रंश में ब्राह्मण धर्म की परंपरा के प्रबंध काव्य *लिखे गए या नहीं, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, किंतु उपलब्ध सामग्री की* जितनी जानकारी मिलती है, उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि ऐसे प्रबंध काव्य नहीं लिखे गए थे। इसका कारण स्पष्ट है, संस्कृत ब्राह्मण धर्म की मान्य भाषा थी, और इस धर्म के पोषक जो कुछ लिखते थे, संस्कृत में ही लिखते थे। मुक्तकों की वीर तथा शृंगारवाली परंपरा का विकास अवश्य हुआ। वीररसात्मक मुक्तकों का विकास प्राकृतपैंगलम् के मुक्तक 'बैलेड्स' में मिलता है, जिसने उस काल में लिखे गए वीर प्रबंध काव्यों को भी प्रभावित किया है। शृंगारी मुक्तकों का पहला विकास हमें **'ढोला मारू रा दोहा'** में मिलता है। बिहारी के दोहों पर अपभ्रंश की शृंगारी मुक्तकों की परंपरा का सीधा प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। बिहारी पर यदि कोई अपभ्रंश प्रभाव माना जा सकता है तो वह छंदोविधान का है। जहाँ तक बिहारी के भावपक्ष का प्रश्न है, उनमें गाथा-सप्तशती, अमरुक, तथा गोवर्धन की आर्यासप्तशती की परंपरा अधिक दिखाई पड़ती है। अपभ्रंशवाली शृंगारी परंपरा का शौर्यमिश्रित रूप यदि कहीं मिलेगा, तो वह डिंगल के दूहों में देखा जा सकता है और इसका अंतिम रूप हमें बहुत बाद में, सूर्यमल्ल के 'वीरसतसई' वाले दोहों में मिल सकता है। बौद्ध सिद्धों की काव्यपरंपरा फिर भी अखंड रूप में बहती रही है। यह परंपरा नाथसिद्धों की टूटी फूटी वाणियों से होती हुई कबीर और अन्य निर्गुण संतों के काव्यों में फूट पड़ी है। पर कबीर में जो भक्त रूप दिखाई पड़ता है वह सिद्धों की परंपरा नहीं है।

(इ) *अभिव्यंजना*—अपभ्रंश की अभिव्यंजना शैली ने निस्संदेह हिंदी को नई परंपरा दी है। अपभ्रंश में हमें कुछ कथानकरूढ़ियों का प्रयोग मिलता है। णेमिणाहचरिउ, करकंडुचरिउ और भविसयत्तकहा में ऐसी कई कथानकरूढ़ियाँ मिलती हैं जिनका मूल उत्स लोककथाओं में रहा है। करकंडुचरिउ में चित्रदर्शन या गुणश्रवण से प्रणयोद्बोध होता है[१]। वहीं सुएवाली कथा का प्रयोग है, जो लोककथाओं का विशिष्ट पात्र रहा है। सुएवाली कथानकरूढ़ि तो हमें सुबंधु की वासवदत्ता और बाण की कादंबरी में भी मिलती है। इसी सुएवाली परंपरा

[१] देखिए—करकंडुचरिउ, परिच्छेद ३।

को पृथ्वीराजरासो और जायसी के पद्मावत में भी देखा जा सकता है। तीसरी रूढ़ि सिंहलद्वीप से संबद्ध है। धणवाल की भविसयत्तकहा का द्वीप, जहाँ भविष्यदत्त को सुंदरी पत्नी और अतुल संपत्ति मिलती है, तिलकद्वीप है, पर करकंडुचरिउ में तो करकंडु सिंहलद्वीप ही जाते हैं। वहाँ जाकर वे राजकुमारी रतिवेगा से विवाह करते हैं। जहाज से लौटकर आते समय ही नायक-नायिका का वियोग हो जाता है[1]। करकंडु को एक विद्याधरी उड़ा ले जाती है। जायसी के पद्मावत में भी रत्नसेन और पद्मावती का वियोग समुद्रयात्रा के समय ही होता है, यहाँ तूफान के कारण जहाज टूट जाता है। दोनों में अलौकिक शक्तियों की कृपा से नायक-नायिका का मिलन होता है। इस विवेचन का अभिप्राय उन कथानकरूढ़ियों की ओर संकेत करना था, जो लोकसाहित्य से अपभ्रंश और हिंदी साहित्य दोनों को प्राप्त हुई हैं।

जहाँ तक कविसमयोक्तियों, अप्रस्तुतों और अन्य वर्णनों का प्रश्न है, जैन प्रबंध काव्य संस्कृत की ही परंपरा के पथिक हैं तथा हिंदी को भी यह परंपरा सीधे संस्कृत से प्राप्त हुई है। अपभ्रंश की बौद्ध सिद्धोंवाली परंपरा ने कुछ नए प्रतीकों, नई वर्णनशैली को जन्म दिया है, और यह शैली हिंदी के निर्गुण संतों को परंपरागत दाय के रूप में अवश्य प्राप्त हुई है। अभिव्यंजना पक्ष की दृष्टि से अपभ्रंश की जो सबसे बड़ी देन हिंदी को प्राप्त हुई है वह उसकी छंदःसंपत्ति है, अतः अपभ्रंश के इस महत्वपूर्ण दाय पर कुछ विशेष विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा।

(ई) छंदःसंपत्ति—संस्कृत प्रबंध काव्यों का अंगसंस्थान अपभ्रंश प्रबंधकाव्यों के अंगसंस्थान से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के महाकाव्य कई सर्गों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक सर्ग में प्रायः एक ही छंद प्रयुक्त होता है, सर्ग के अंत में छंद बदलता है। कभी कभी कोई सर्ग अनेक छंदों का भी हो सकता है।[2] अपभ्रंश ने इस विधान में परिवर्तन किया है। प्राकृत का सेतुबंध महाकाव्य संस्कृत परंपरा का ही निर्वाह करता देखा जाता है, वैसे प्राकृत के सर्ग 'आश्वास' कहलाते हैं। पर अपभ्रंश के जैन प्रबंध-काव्य सर्गों में विभक्त नहीं होते। आलंकारिकों का कहना है कि अपभ्रंश महाकाव्यों के सर्ग 'कडवक' कहलाते हैं (सर्गाः कडवकाभिधाः)। पर इस संबंध में एक प्रश्न उठना संभव है। जैन अपभ्रंश प्रबंध काव्यों को देखने पर पता चलता है कि

[1] देखिए—करकंडुचरिउ, परिच्छेद ७।

[2] देखिए—र० वं०, नवम सर्ग; किरातार्जुनीय, चतुर्थ सर्ग; शि० व०, चतुर्थ सर्ग; नै० च०, द्वादश सर्ग।

वे सर्वप्रथम संधियों में विभक्त होते हैं। महापुराणु, पउमचरिय, रिट्ठणेमिचरिउ, भविसयत्तकहा आदि संधियों में ही विभक्त हैं। करकंडुचरिउ की संधियाँ इस नाम से न पुकारी जाकर 'परिच्छेउ' (परिच्छेद) कही गई हैं। प्रत्येक संधि पुनः कडवकों में (तथाकथित सर्गों में) विभक्त है। कडवकों का छंद कभी कभी सारी संधि में एक ही होता है, कभी कभी बदल भी दिया जाता है। प्रत्येक कडवक के अंत में 'घत्ता' पाया जाता है, जिसके लिये यह आवश्यक नहीं कि सदा यह 'घत्ता' नामक छंद में ही रचित हो। कोई कोई कवि कडवक के आरंभ में इसी तरह के किसी छंद का प्रयोग करता है। पुष्पदंत के महापुराण में कुछ स्थानों पर ऐसा प्रयोग देखा जा सकता है। पुष्पदंत के महापुराण के प्रथम खंड में चौथी से दसवीं संधि तक कवि ने कडवक के आरंभ में प्रत्येक संधि में क्रमशः जंभेटिया (प्रत्येक चरण में ८ मात्रा), रचिता (पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में २८ मात्रा), मलयविलयसिया (प्रत्येक चरण में ८ मात्रा), खंडयं (प्रत्येक चरण में १३ मात्रा), आवली (प्रत्येक चरण में २० मात्रा), हेला (प्रत्येक अर्धाली में २२ मात्रा), दुवई (प्रत्येक अर्धाली में २८ मात्रा) का प्रयोग किया है, तब कडवक का विशिष्ट छंद है, फिर घत्ता। पुष्पदंत में कडवक के खास छंद के पदों की कोई निश्चित संख्या नहीं पाई जाती। महापुराण में कई संधियों में नौ अर्धालियों के कडवक हैं, कई में १०, ११, १२, या १३ अर्धालियों तक के कडवक हैं। कभी कभी तो एक ही संधि के अलग अलग कडवकों की अर्धालियों की संख्या भिन्न २ होती है; जैसे, पुष्पदंत के हरिवंश की ८३वीं संधि के १५ वें कडवक में १० अर्धालियों (२० चरणों) के बाद घत्ता है, उसी संधि के १६वें कडवक में १२ अर्धालियों (२४ चरणों) के बाद घत्ता है। स्वयंभू ने प्रायः ८ अर्धालियों (१६ चरणों) के बाद घत्ता का प्रयोग किया है और इसी पद्धति का पालन उसके पुत्र त्रिभुवन ने किया है। अपभ्रंश के कडवकों को सर्ग मानने में हमें एक आपत्ति है। महाकाव्य में सर्ग का ठीक वही महत्व है, जो नाटक में अंक का। नाटक का अंक कथा के किसी निश्चित विंदु पर समाप्त होता है, कहीं भी समाप्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वह एक अवांतर कार्य की परिसमाप्ति की सूचना देता है। ठीक यही काम सर्ग करता है। इस दृष्टि से देखने पर अपभ्रंश कवियों के कडवक इतने छोटे होते हैं कि वे इस शर्त को पूरा नहीं कर पाते, जब कि संधि (या परिच्छेउ) में यह बात पाई जाती है। अतः संस्कृत के सर्गों के साथ हम अपभ्रंश की संधियों की ही तुलना कर सकते हैं, कडवकों की नहीं। कडवकों के अंत में घत्ता देने की प्रथा को देखकर इसे ही सर्ग मानने की धारणा चल पड़ी है, जो ठीक नहीं जँचती। वस्तुतः घत्ता तो विश्राम है और पाठक को एक ही छंद को पढ़ने की ऊब से बचाने का नुस्खा। संभवतः कुछ लोग इसमें गायक की सुविधा को भी कारण मानें, जो घत्ता के द्वारा प्रभावोत्पादकता का समा बाँध सकता है।

अपभ्रंश की इस परंपरा को हम भक्तिकालीन सूफी प्रबंधों तथा तुलसी के मानस में देख सकते हैं। हम देखते हैं कि पिछले दिनों प्रबंध काव्यों में चौपाई का कडवक बनाकर उसके बाद दोहे का घत्ता देने की परंपरा चल पड़ी। इस परंपरा की लाग लपेट से 'ढोला मारू रा दूहा' भी नहीं बच पाया और कुशललाभ (१७वीं शती पूर्वार्ध) ने 'ढोला मारू रा दूहा' में बीच बीच में चौपाई के कडवक डालकर इसे पूरे प्रबंध काव्य का रूप दे दिया। कुतबन, मंझन, जायसी, शेख नबी आदि सूफी कवियों ने चौपाई और दोहे का कडवक बनाया है। इसी पद्धति को तुलसी ने भी अपनाया। जायसी तथा तुलसी के कडवकों की अर्धालियों की संख्या में भेद है। जायसी ने प्रत्येक कडवक में ७ अर्धालियाँ रखी हैं, तुलसी ने प्रायः ८। बाद में जाकर नूर मुहम्मद (१८५०-१६०० वि०) ने तो अपनी अनुरागबाँसुरी में दोहे के स्थान पर 'बरवै' छंद का घत्ता भी दिया है। इस संबंध में एक बात और कह दी जाय कि अपभ्रंश साहित्य में दोहे का घत्ता प्रायः नहीं मिलता, केवल जिनपद्मसूरि के थूलिभद्दफागु में ही उसका घत्ता मिलता है। दोहा वहाँ मुक्तक काव्य का छंद रहा है, प्रबंध काव्य का नहीं। *हिंदी साहित्य में आकर दोहे ने प्रबंध और मुक्तक दोनों क्षेत्रों में समान रूप से* आधिपत्य जमा लिया जिसका एक रूप जायसी और तुलसी में है, दूसरा बिहारी और मतिराम के दोहों में। दोहा डिंगल साहित्य में भी प्रविष्ट हुआ पर उसमें यह मुक्तकवाले रूप में प्रयुक्त होता रहा।

दोहा अपभ्रंश का विशेष छंद है। अपभ्रंश साहित्य के निजी व्यक्तित्व को यह ठीक उसी तरह सामने ले आता है जैसे 'गाहा' छंद प्राकृत साहित्य के व्यक्तित्व को। हम देख चुके हैं कि संस्कृत के छंद वर्णिक वृत्त हैं। मात्रिक छंदों का प्रयोग सर्वप्रथम प्राकृत की देन है और इसके प्रभाव से संस्कृत छंदोरचना भी अछूती नहीं रह सकी है। मात्रिक छंदों का बीज लोकगीतों की मात्रिक गेय प्रणाली में देखा जा सकता है। वैसे तो खोज करने पर संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का मूल भी मात्रिक वृत्तों में ही मिलेगा, किंतु गणों के विधान ने संस्कृत के वृत्तों को वर्णों के शिकंजे में जकड़ दिया है। प्राकृत के मात्रिक छंदों में गणों की संख्या नियत नहीं है, गण या वर्ण जितने भी हों, मात्रा की संख्या ठीक बैठनी चाहिए। अपभ्रंश ने भी इस मात्रिक वृत्त परंपरा को अपनाया। पर अपभ्रंश यहीं नहीं ठहरा। उसने देखा, छंद को संगीत की रागिनी देने के लिये एक कमी है। यदि चरणों के अंत में तुक मिले, तो यह संगीत की तान छंद में जान फूँक दे। उसने कभी सम (२, ४) और कभी विषम-सम (१, २) चरणों में तुक मिलाने की पद्धति को जन्म दिया। दोहा में यह तुक सम (२, ४) चरणों में मिलता है, अडिल्ल जैसे छंद में पहले-दूसरे, तथा तीसरे-चौथे चरणों में। छंदोविधान का यह नया प्रयोग हमें भरत में ही मिल सकता है। भरत ने

नाट्यशास्त्र में ध्रुवा का विवेचन करते समय ध्रुवा के कई भेदों का संकेत किया है। यहाँ पर हमें कुछ ध्रुवा भेदों में तुक मिलती दिखाई पड़ती है[1]। अपभ्रंश छंदोविधान का स्पष्ट रूप हमें कालिदास के विक्रमोर्वशीय में मिलता है। उपर्युक्त 'मई जाणइ'······' आदि दोहा है, 'रे रे हंसा······' आदि पद्य अडिल्ल। यही नहीं, कालिदास में चर्चरी (२० मात्रा), पारणक (१५ मात्रा) तथा शशांकवदना (१० मात्रा) छंद भी मिलते हैं जिनका मूल लोकगीतों में ही ढूँढना होगा। अपभ्रंश में पद्धडिया, द्विपदी, रोलउ, उल्लालउ, तथा राढउ, छप्पउ (या वत्थु) जैसे मिश्रित छंद भी चल पड़े हैं। अपभ्रंश के दो और प्रसिद्ध छंद हैं, एक घत्ता जो ६२ मात्रा का छंद होता है, जिसमें हर अर्धाली में १०, ८, १३ मात्रा पर यति होती है, दूसरा रासा (रासक) या आहाणय छंद, जिसके प्रत्येक चरण में २१ मात्रा होती है, और अंतिम मात्रा सदा लघु होती है। रासक काव्यों में भी प्रायः यही छंद प्रयुक्त होता होगा। पर इस नियम की पूरी पाबंदी नहीं देखी जाती। अपभ्रंश में संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। संदेशरासक में मानिनी, नंदिनी तथा भ्रमरावलि का प्रयोग हुआ है[2]। अपभ्रंश साहित्य में अपनी छंदःपरंपरा का पालन करने की प्रवृत्ति इतनी अधिक पाई जाती है कि प्राकृत के गाथा कोटि के छंद (गाहिनी, सिंहिनी, खंधक आदि) तथा संस्कृत वर्णिक वृत्त बहुत कम मिलते हैं।

बौद्ध सिद्ध कवियों ने अपभ्रंश के विशिष्ट छंद दोहा को तो चुना ही, पर उन्होंने दोहा के उलटे सोरठा, पादाकुलक, अडिल्ल, द्विपदी, उल्लाला, रोला, आदि का भी प्रयोग किया है[3]। इसके अतिरिक्त बौद्ध सिद्धों ने दूसरी छंदःपरंपरा पदों की दी है। पदों की परंपरा का मूल लोकगीत ही हैं। साहित्य में पदों का सर्वप्रथम प्रयोग करनेवाले, जहाँ तक हमारी जानकारी है, बौद्ध सिद्ध ही हैं। बौद्धों की इस छंदःपरंपरा ने संस्कृत साहित्य को भी प्रभावित किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जयदेव के गीतगोविंद में इस प्रभाव को ढूँढा जा सकता है। बाद में तो यह परंपरा एक ओर विद्यापति, चंडीदास, तथा हिंदी के सूर आदि कृष्णभक्त कवियों में आई, दूसरी ओर नाथसिद्धों के पदों से गुजरती कबीर के पदों में प्रकट हुई।

हिंदी भाषा की मूल प्रकृति को समझने के लिये अपभ्रंश भाषा की भाषावैज्ञानिक प्रकृति समझना अत्यधिक आवश्यक है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से

[1] देखिए—भरत : ना० शा०, अध्याय ३२, पृ० ३८८, ४०६।
[2] देखिए—संदेशरासक, अँगरेजी भूमिका, पृ० ७?।
[3] ले शाँ द मिस्तीके, दोहाकोश के छंद तथा छंदःपरंपरा, पृ० ६३-६५।

अपभ्रंश हिंदी के जितनी समीप है, उतनी संस्कृत नहीं। यह दूसरी बात है कि प्रारंभिक हिंदी में हम संस्कृत तत्सम शब्दसंपत्ति की ओर हिंदी की उन्मुखता देखते हैं जो वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता आदि की भाषा में पाई जाती है और भक्तिकालीन हिंदी साहित्य में अत्यधिक बढ़ गई है। पर भाषा का सच्चा स्वरूप तो उसकी पदरचनात्मक संघटना (मॉरफॉलॉजिकल स्ट्रक्चर) है, और हिंदी की पदरचनात्मक संघटना, साथ ही ध्वनियाँ भी अपभ्रंश का साक्षात् विकास है। हिंदी साहित्य की विपुल धाराओं में अपभ्रंश ने अपने झरनों को आकर मिलाया है और इसकी साहित्य तरंगिणी को जीवन दान दिया है। हिंदी साहित्य की आधारभित्ति का अध्ययन करने के लिये अपभ्रंश साहित्य का भी कम महत्व नहीं है और उसकी ओर से आँख मूँद लेने पर हम हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक सर्वेक्षण करने में समर्थ न होंगे।

चतुर्थ अध्याय

प्रारंभिक हिंदी

१. भाषा का संक्रमण और विकास

हेमचंद्र से लगभग सौ वर्ष पूर्व से ही अपभ्रंश भाषा नवीन भूमिका में अवतरित होने की तैयारी कर रही थी। उसे अब बिलकुल नए रूप रंग में आना था, नई आवश्यकताओं के अनुरूप, नए परिधान और नए पात्र का रूप धारण कर के। हेमचंद्र के समय की बोलचाल की अपभ्रंश ठीक वही नहीं थी जो हमें शब्दानुशासन के अष्टम अध्याय के 'दूहों' में उपलब्ध होती है। उस समय की बोलचाल की भाषा का व्यवहृत रूप न लेकर हेमचंद्र ने अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप का ही व्याकरण उपस्थित किया है। पर वैयाकरणों के बाँध बाँध देने पर भी जनभाषा की स्वाभाविक निःसरणशीलता अपने लिये उचित परीवाह मार्ग ढूँढ ही लेती है। उसे तो निरंतर बहते रहना है। परिवर्तनशीलता में, गति में ही उसका जीवन है। व्याकरण के नियमों की संकीर्ण सीमा में रहना उसकी स्वतंत्रता कभी सहन नहीं करती। उसे तो जनजीवन के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते रहना है, गति की स्थिरता उसका हनन कर देगी, नियमों की चहारदीवारी में बँध कर वह भी 'मृत भाषा' हो जायगी, चाहे वैयाकरण उसे परिष्कृत ही क्यों न कहें। परिनिष्ठित अपभ्रंश की स्थिति को छोड़ देने पर वह आगे बढ़ी। उसने अपने को शाखा, प्रशाखा में विभक्त कर जनजीवन की भाषा-भूमि को उर्वर कर दिया, पर फिर भी वह बहती रही। उसने संस्कृत और प्राकृत की जटिल पार्वत्य पद्धति छोड़ी। अपभ्रंश में उसे स्वतंत्र समतल भूमि के कुछ कुछ दर्शन होने लगे पर उसके बाद तो उसे ऐसे चौरस मैदान में पहुँचना था जहाँ वक्र गति की अपेक्षा सरल गति अधिक हो।

संस्कृत की सुप् तथा तिङ् विभक्तियाँ प्राकृत में सरल हुईं, द्विवचन इतना घिसा कि उसका चिह्न ही मिट गया और परस्मैपद-आत्मनेपद का भेद जाता रहा। उच्चारण सौकर्य के कारण वैदिक संस्कृत की जटिल ध्वनियाँ प्राकृत के साँचे में ढलकर बिलकुल नए रूप की हो गईं। सोना वही था, पर उसे गलाकर नया रूप दे दिया गया। वैदिक संस्कृत के अनेक लकार सिमटकर केवल वर्तमान, भविष्यत्, आज्ञा, तथा विधि ही रह गए। भूत के लिये निष्ठा प्रत्यय के विकसित रूपों का प्रयोग चल पड़ा। अपभ्रंश में आकर ध्वनियों में विशेष परिवर्तन नहीं

हुआ पर सुप् तथा तिङ् विभक्तियाँ बदलकर नए रूप में आई और नपुंसक लिंग अपने भावी लोप के संकेत देने लगा। अपभ्रंश में नपुंसक लिंग था पर उसका प्रयोग कम होने लग गया था। इतना ही नहीं, अपभ्रंश ने ही वैदिक संस्कृत से चली आती हुई सुप् प्रत्ययों की परंपरा को भी पहली बार झकझोर डाला। यद्यपि उसने स्वयं उस परंपरा को पूरी तरह समाप्त नहीं किया, फिर भी वह परसर्गों के प्रयोग के वे पदचिह्न छोड़ गई जिनपर चलकर उसकी अगली पीढ़ी ने सुप् विभक्तियों के जुए को अपने कंधे से उतार फेंका और उन्मुक्त वातावरण की साँस ली। ठेठ प्रातिपदिक रूपों का प्रयोग धड़ल्ले से चल पड़ा और उनके साथ ही परसर्गों की संपत्ति ऋद्ध से ऋद्धतर होने लगी जो किन्हीं सुप् चिह्नों के अवशेष, क्रियाविशेषणीभूत अव्यय, संबंधबोधक अव्यय या संस्कृत के कर्मप्रवचनीय अथवा उपसर्गों या अन्य नामशब्दों का आधार लेकर आने लगे। परसर्गों के प्रयोग और शुद्ध प्रातिपादिक रूपों के प्रचलन के कारण नव्य भाषाओं की वाक्यरचना एक निश्चित पद्धति को अपनाने के लिये बाध्य की गई, उसमें संस्कृत की सी वाक्यरचनात्मक स्वतंत्रता नहीं रह सकी।

२. प्रारंभिक हिंदी—अवहट्ट

हेमचंद्रोत्तर काल की अपभ्रंश जिसे परिनिष्ठित अपभ्रंश से अलग करने के लिये 'अवहट्ट' नाम देना अधिक ठीक होगा, मोटे तौर पर ११वीं शती से विकसित मानी जा सकती है। हेमचंद्र के समय अपभ्रंश भी साहित्यिक भाषा हो चुकी थी। उस काल में उसमें साहित्यिक कृतियों का प्रचुर प्रणयन होने लग गया था जो बाद तक चलता रहा। हेमचंद्र के द्वारा शब्दानुशासन में अपभ्रंश का व्याकरण निबद्ध करना[1] उसकी परिनिष्ठित प्रवृत्ति का ही द्योतक है। कथ्य भाषा अपना रूप बदलती रही और हिंदी साहित्य के मध्यकाल की विकसित दशा तक आने के पहले उसे कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ी होंगी। इसी सोपानपरंपरा को हम प्रारंभिक हिंदी के नाम से पुकारते हैं जिसके प्रारंभिक रूप को 'अवहट्ट' भी कहा जा सकता है। यद्यपि सभी नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के आद्य रूप का पता पूरी तरह नहीं चल पाया है तथापि कुछ ग्रंथों के प्रकाशन के कारण उस काल की भाषाशास्त्रीय कड़ी जोड़ दी गई है। बौद्धचर्यापदों तथा हेमचंद्र या प्रबंधचिंतामणि में उदाहृत पद्यों और कबीर या विद्यापति के बीच की भाषावैज्ञानिक कड़ी का पता विद्वानों को पिछले १५-२० वर्षों से ही स्पष्ट रूप में लग पाया है। और यद्यपि इस दृष्टि से पश्चिमी अवहट्ट की स्थिति का संकेत करने के लिये हमारे पास 'प्राकृतपैंगलम्' था किंतु

[1] देखिए—हेमचंद्र : शब्दानुशासन, ८. ४. ३६८ से ८. ४. ४४८ तक।

खेद है कि अभी तक भी 'प्राकृतपैंगलम्' का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित नहीं हो सका है। वैसे डा० चाटुर्ज्या ने प्राकृतपैंगलम् की भाषा पर कुछ संकेत 'बँगला भाषा का उद्भव और विकास'[1] नामक प्रबंध में दिया है। प्राकृतपैंगलम् का उपयोग आद्य हिंदी की साहित्यिक प्रवृत्तियों का संकेत करने के लिये आचार्य शुक्ल[2] तथा डा० द्विवेदी[3] ने अवश्य किया किंतु जो कुछ हुआ वह पथप्रदर्शक होने पर भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रारंभिक हिंदी की आद्य स्थिति का संकेत देने में प्राकृतपैंगलम्, उक्तिव्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर तथा कीर्तिलता[4] का अत्यधिक महत्व है। इन चारों ग्रंथों में भी उक्तिव्यक्तिप्रकरण का अधिक महत्व है जिसमें पूर्वी हिंदी के आद्य रूप की प्रकृति का विशेष स्पष्ट रूप मिलता है। इस ग्रंथ का महत्व इसलिये भी है कि यह ग्रंथ तिथि की दृष्टि से इन चारों ग्रंथों में सबसे पुराना है। प्राकृतपैंगलम्, पश्चिमी अवहट्ट या आद्य पश्चिमी

१ डा० चाटुर्ज्या : ओ० डे० बें० लैं०, भाग १।

२ आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हि० सा० इ०, पृ० २४-२६।

३ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हि० सा० आ०, पृ० ४४-४७ तथा हि० सा०, पृ० ७३।

४ प्राकृतपैंगलम् के रचयिता का पता नहीं। इसका रचनाकाल (संग्रहकाल) भी अनिश्चित है, संभवतः १४वीं शती का अंत या १५वीं शती का आरंभ है। डा० चाटुर्ज्या इसे १५वीं शती के अंत की रचना मानते हैं। प्राकृतपैंगलम् में अनेक काल का आद्य पश्चिमी हिंदी रूप मिलता है। वर्णरत्नाकर का रचनाकाल चौदहवीं शती निश्चित है। इसके रचयिता ज्योतिरीश्वर ठक्कुर हैं। यह ग्रंथ आद्य मैथिली का संकेत करता है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण गहड़वाल राजा गोविंदचंद्र (११७१-१२१२ वि०) के सभापंडित दामोदर की रचना है जिसमें उस काल की कथ्य भाषा के द्वारा राजकुमारादि को संस्कृत सिखाने का ढंग अपनाया गया है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा आद्य अवधी (या आद्य कोसली, पुरानी अवधी-भोजपुरी) है। कीर्तिलता विद्यापति का प्रसिद्ध अवहट्ट चरितकाव्य है, जो विद्यापति के काल की साहित्यिक अवहट्ट का संकेत करता है। इन सभी ग्रंथों में उक्तिव्यक्तिप्रकरण ही एक ऐसा ग्रंथ है जो कथ्य भाषा का रूप पूरी तरह देने में समर्थ है और वह भी १२वीं शती की कथ्य भाषा का। प्राकृतपैंगलम् के दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, एक बिब्लोथेका इंडिका में प्रकाशित है, दूसरा 'पिंगलसूत्रार्थि' के नाम से म० म० पं० शिवदत्त दाधीच द्वारा संपादित। उक्तिव्यक्तिप्रकरण डा० चाटुर्ज्या की भाषाशास्त्रीय भूमिका के साथ वि० सं० २०१० में सिंघी जैन ग्रंथमाला (सं० ३६) में प्रकाशित हुआ है, तो वर्णरत्नाकर वि० सं० १९९८ में इन्हीं विद्वान् के भाषाशास्त्रीय प्रास्ताविक के साथ बिब्लोथेका इंडिका में संपादित हुआ है। कीर्तिलता डा० बाबूराम सक्सेना के संपादन में नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई है जिसका प्रथम संस्करण १९८६ वि० में छपा था, दूसरा संस्करण भाषावैज्ञानिक भूमिका के साथ २०१० वि० में छपा है।

हिंदी का रूप देने में समर्थ है, तो शेष आद्य पूर्वी हिंदी का। इन ग्रंथों का हिंदी की आद्य प्रकृति के जानने के लिये ठीक वही महत्व है जो मराठी के आद्य रूप को जानने के लिये 'ज्ञानेश्वरी' का या बँगला के आद्य रूप को जानने के लिये चंडीदास के 'श्रीकृष्णसंकीर्तन' का। इसके अतिरिक्त आद्य पश्चिमी राजस्थानी के जैन हस्तलिखित ग्रंथ भी इस स्थिति का कुछ संकेत करते हैं, किंतु वे हिंदी के विकास के लिये कोई विशेष महत्व नहीं रखते। डा० तेस्सितोरी ने इन जैन ग्रंथों के आधार पर हमें जूनी गुजराती या पुरानी पश्चिमी राजस्थानी का भाषाशास्त्रीय विवरण दिया था[1]।

प्राकृतपैंगलम् की भाषा में हमें शौरसेनी अवहट्ट या पूर्वी राजस्थानी, ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के आदि रूप मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् के एक दो छंदों में कुछ पूरबी प्रयोगों के बीज देखकर इस भ्रांति में नहीं फँसना चाहिए कि प्राकृतपैंगलम् पूर्वी हिंदी की प्रकृति का प्रतिनिधित्व करता है। इसके दो कारण हैं; प्रथम तो प्राकृतपैंगलम् की भाषा एक काल की नहीं है। यह ग्रंथ एक कवि की कृति न होकर संग्रह है। दूसरे, भाषा का जो निर्बंध रूप हमें उक्तिव्यक्तिप्रकरण तथा वर्णरत्नाकर के गद्य में दिखाई पड़ता है, वह 'प्राकृतपैंगलम्' में छंदोबद्ध होने के कारण नहीं मिलता। प्रथम दो ग्रंथ पूर्वी हिंदी की प्रकृति को जितना सामने रखते हैं उतना 'प्राकृतपैंगलम्' पश्चिमी हिंदी की आद्य प्रकृति को नहीं रख पाता। साथ ही यह भी माना जा सकता है कि बब्बर, जज्जल जैसे दो एक कवियों के पद्य, जिनकी भाषा में पूर्वी प्रवृत्ति बताई जाती है, छंदों के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त करने के लिये संग्राहक ने ले लिए हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा को ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि वहाँ केवल आद्य हिंदी ही नहीं परिनिष्ठित प्राकृत तथा परिनिष्ठित अपभ्रंश के भी पद्य मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा की प्रकृति के अध्ययन में हमें इन्हें नहीं लेना होगा। उदाहरण के लिये, सेतुबंध (१. ६३) तथा कर्पूरमंजरी (जिसके चार पद्य प्राकृतपैंगलम् में हैं) तथा बाद के लिखे गए दो तीन प्राकृत पद्य (यथा, १. ६२ 'मुंचहि सुंदरि पाअं' आदि गाथिनी छंद का उदाहरण) परिनिष्ठित महाराष्ट्री प्राकृत का संकेत करते हैं जो भाषाशास्त्री के लिये विशेष महत्व के नहीं जान पड़ते। इतना ही नहीं, प्राकृतपैंगलम् की भाषा में कई स्थान पर कृत्रिमता के चिह्न अधिक मिलते हैं, वर्णों की द्वित्व-प्रवृत्ति, जो अपभ्रंश में थी, बहुत पीछे तक कविता में चलती रही, यद्यपि कथ्य भाषा में द्वित्व वर्णवाले अक्षर के पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ बनाकर उसे सरल कर दिया गया था। यह प्रवृत्ति चंद की भाषा, रणमल्लछंद की भाषा आदि में ही नहीं, रीतिकाल में भी थोड़ी बहुत

[1] डा० तेस्सितोरी : नोट्स आन ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी, इं० एं०, सन् १९१४, १५. १६। (इसका हिंदी अनुवाद ना० प्र० सभा, काशी से प्रकाशित हो चुका है।)

भूषण तथा सूदन की भाषा में देखी जा सकती है। राजस्थानी की कृत्रिम साहित्यिक भाषा में तो यह इतनी घुसी कि डिंगल की खास विशेषताओं में यह भी एक विशेषता मानी जाने लगी।

३. प्राचीन हिंदी पदरचना

सुप् तथा तिङ् रूपों में भी प्राकृतपैंगलम् में कुछ पुराने प्रयोग मिलते हैं जो निश्चित रूप से ११वीं और १४वीं शती के बीच की कथ्य भाषा में रहे होंगे। प्राकृतपैंगलम् में कुछ (यद्यपि बहुत कम) नपुंसक रूप मिल जाते हैं यथा—मत्ताइं (१. ८३), कुसुमाइं (१. ६०), अट्ठाइं (१. ८३), गामाइं (१. ५३) जो कथ्य भाषा में लुप्त हो चुके थे। साथ ही कई छंदों में एक साथ कहीं कुछ सुप् विभक्तियाँ बची रह गई हैं, तो कुछ लुप्त भी हो गई हैं। प्राकृत-पैंगलम् की यह प्रकृति संक्रांतिकालीन भाषा का संकेत अवश्य करती है। अपभ्रंश का 'उ' विभक्तिचिह्न प्राकृतपैंगलम् में पाया जाता है। यद्यपि शुद्ध प्रातिपदिक रूप भी बहुत चल पड़े हैं पर ऐसा अनुमान होता है कि अकारांत प्रातिपदिक रूप स्वरांत उच्चरित होते थे, खड़ी बोली हिंदी की तरह हलंत नहीं। अपभ्रंश का 'घोडउ' प्राकृतपैंगलम् की भाषा में 'घोड' (२. २०३) भी मिलता है। प्राकृत पैंगलम् में कर्ता कारक एकवचन में तीन तरह के रूप मिलते हैं—(१) ओ-रूप, (२) उ-रूप एवं (३) शून्य रूप या शुद्ध प्रातिपदिक रूप। इनमें प्रथम प्राकृत रूप है (यथा वुड्ढओ, वृद्ध-कः), दूसरा अपभ्रंश रूप (यथा, हअगअबलु, हयगजबलं १. ७२) तथा तीसरा रूप हमें प्रारंभिक पश्चिमी हिंदी की प्रकृति का संकेत देता है (यथा, जक्खण वीर हमीर चले, यस्मिन् क्षणे वीरो हमीरश्चलितः १. १४२)। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि 'चले' (चलितः—चलिओ—चलिउ—चलिअ—चला) शुद्ध प्रातिपदिक न होकर 'चला' का तिर्यक् रूप है जो आदरार्थ माना जा सकता है। यह 'ए' प्राकृतपैंगलम् की भाषा में कर्ता कारक बहुवचन का चिह्न है (दे० १. ११६)। कर्म एकवचन में शून्य रूप, उ-रूप तथा अनुस्वार (पुरदहणं १. १४६) रूप मिलते हैं। इनमें भी अंतिम दो रूप क्रमशः अपभ्रंश तथा प्राकृत के परिनिष्ठित प्रयोग हैं। कर्म बहुवचन में शून्य रूप का प्रयोग मिलता है और इस तरह प्राकृतपैंगलम् में कर्मकारक बहुवचन में भी शुद्ध प्रातिपदिक प्रयोग मिलते हैं—यथा जहण (स्तनौ जघनान् १. १४३)। करण एकवचन में शून्य रूप के साथ अपभ्रंश कालीन ए, एं भी पाए जाते हैं तथा बहुवचन का सुप् चिह्न—हि (गअहि तुरगहि १. १४५) है। संबंध में प्राकृत का 'स्स' भी देखा जाता है पर इस काल की भाषा का सुप् चिह्न 'ह' है। अधिकरण में (१) ए (जीवहरे १. ११६) तथा (२) शून्य रूप (महि १. १२३, पअ पअ १. ११२) मिलते हैं। परसर्गों में सउ (सउं) (१. ४२), सह २. १६१), उवरि

(१. ७२), महं (मंहं) (तणमंहं, सिरमंहं) (१. ८६), ढिल्लिमहं (१. ११७) रणमहं (१. १२०), क (गाइ क चित्ता २. ९४) (साथ ही इसका स्त्रीलिंग रूप भी 'जाकी पिअला—यस्य प्रिय २. ९८), कए (तुम्ह कए १. ७०) प्रमुख हैं। प्राकृतपैंगलम् में सर्वनाम रूपों के प्रयोग भी हिंदी के प्रारंभिक रूप की सूचना देते हैं।

प्राकृतपैंगलम् के तिङंत रूपों में वर्तमान, भविष्यत्, आज्ञा तथा विधि रूप मिलते हैं। आज्ञारूप केवल मध्यम तथा अन्य पुरुष में ही मिलते हैं—देउ (१.१५५), सुमरु (१. १२४) देऊ (२. ५), तथा बहुवचन रूप करेहु, कहेहु (२. १२२)। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा में आज्ञा बहुवचन के 'हु' रूप नहीं मिलते, केवल एकवचन वाले 'उ' रूप ही मिलते हैं—करउ, करु[1]। वर्णरत्नाकर की भाषा में 'ह' रूप मिलते हैं—लेह, देह, तोरह[2]। प्राकृतपैंगलम् के हु वाले रूप का विकास वस्तुतः संस्कृत के आत्मनेपदी लोट् रूपों के मध्यम-पुरुष एकवचन से माना जा सकता है। कुरुष्व-कुरुस्स-करहु—करेहु (हि० रा०कर)। खड़ी बोली हिंदी का 'ओ' रूप भी प्राकृतपैंगलम् की भाषा में देखा जा सकता है—रक्खो (१. १३६)। इसके अतिरिक्त 'उ' का लोप होकर आज्ञा में केवल धातु रूप भी चल पड़े हैं (२. १८०)। विधि में 'ज्ज—इज्ज' वाले रूप (करिज्जइ १. ३६) मिलते हैं। वर्तमान के रूपों में एक खास विशेषता प्राकृतपैंगलम् की भाषा का संकेत देती है। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में अपभ्रंश वर्तमानकालिक तिङ् प्रत्ययो के अतिरिक्त कोरे शून्य रूप भी पाए जाते हैं जो अन्य पुरुष, उत्तम पुरुष तथा बहुवचन के साथ एक से हैं—वह (१. १२७), बरस जल (१. १२६), सह (मैं सहता हूँ, २. १२७), भम भमरा (भौंरे घूमते हैं)। उक्तिव्यक्ति-प्रकरण में अन्य पुरुष एकवचन में 'करइ' प्रयोग कम मिलता है 'कर' अधिक,[3] जब कि वर्णरत्नाकर की भाषा में 'ह' वाले रूप अधिक मिलते हैं[4]। भविष्यत् के प्रयोग में कोई नई बात नहीं पाई जाती, सभी में 'ह' या 'हि' वाले रूप मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् में 'हि' वाले रूप मिलते हैं—जाइहि (२. १६२), उक्तिव्यक्ति में 'ह' वाले—करिह (पृ० ५८)। भूतकाल में सभी परिनिष्ठित रूप चल पड़े हैं, चलिअ (प्रा० पैं० १. ७२) पहिरिअ (प्रा० पैं० १. ८१), उड्डाविअ (प्रा० पैं० १. १४८)। प्राकृतपैंगलम् के इन रूपों में प्राकृताभासत्व अधिक है, पु० हिंदी रूप चला, पहिरा, उडावा (उड़ाया) होना

[1] डा० चाटुर्ज्या : उ० व्य० प्र०, भूमिका, § ७४, पृ० ५८।
[2] डा० चाटुर्ज्या : व० र०, भूमिका, § ४८, पृ० ५४।
[3] डा० चाटुर्ज्या : उ० व्य० प्र०, भूमिका, § ७१, पृ० ५६।
[4] डा० चाटुर्ज्या : व० र०, भूमिका, § ४७, पृ० ४४।

चाहिए। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा में यह प्रकृति स्पष्ट मिलती है। वहाँ गा, बदा, जैसे रूप मिलते हैं जिनके स्त्रीलिंग में 'बढी' जैसे ईकारान्त रूप होते हैं। पुंलिंग में बहुवचन 'ए' रूप (गए, भए) होते हैं, स्त्रीलिंग में अपरिवर्तित रहते हैं[1]। वर्णरत्नाकर के भूतकालिक रूपों में ये 'उ' रूप में मिलते हैं–पटिआ एक विथरु (२४ ब), और इनके अतिरिक्त 'अल' प्रत्यय भी मिलता है, जो मैथिली की निजी विशेषता है—भमर पुष्पोद्देशे चलल (२६ ब), पथिकजने मार्गानुसंधान करल (३० अ) राजधरम चलल (३६ब)[2]। इस तरह के रूप विद्यापति में भी मिलते हैं—करल माधव हमें अकाज[3]। यह –अल प्रत्यय वस्तुतः मध्यकालीन भारतीय आर्य प्रत्यय –ल्ल का ही विकसित रूप है—गतः-गत-गद–गअ+अल्ल–इल्ल, गअल्ल (गयल्ल), गअइल्ल-गइल्ल–गेल। पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी के आद्य रूपों के भाषावैज्ञानिक संस्थान पर विशेष विवेचन इतिहास के द्वितीय भाग का विषय है, अतः यहाँ इतना संकेत पर्याप्त है।

इन भाषाओं की वाक्यरचना परसर्गों के प्रयोगों तथा प्रातिपदिक रूपों के विशेष प्रचलन से निश्चित सी हो चली है। प्राकृतपैंगलम् मे छंदोबंधन के कारण वाक्यरचना में कुछ हेर फेर मिलता है, पर उक्तिव्यक्तिप्रकरण तथा वर्णरत्नाकर की भाषा इसका संकेत देती है जो नव्य भाषाओं की आधुनिक वाक्यरचना को स्पष्ट करते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर वाक्यरचना प्रायः कर्ता + कर्म + क्रिया है।

उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा में विदेशी शब्द अधिक नहीं हैं[4]। प्राकृतपैंगलम् में देशज तथा विदेशी शब्दों की गवेषणा करने की आवश्यकता है[5]।

यद्यपि प्रारंभिक हिंदी की साहित्यिक रचनाओं में खुमाणरासो, बीसलदेवरासो, चंद का पृथ्वीराजरासो, खुसरो की मुकरियाँ, विद्यापति की कीर्तिलता तथा पद, नाथसिद्धों और रामानंद के नाम से प्रसिद्ध पद तथा रचनाएँ और कबीर के पद लिए जा सकते हैं, पर इनमें केवल कीर्तिलता ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसकी भाषा हमें अविकृत रूप में मिली है। रासो काव्यों की भाषा इतनी विकृत हो गई है कि

[1] डा० चाटुर्ज्या : उ० व्य० प्र०, भूमिका, § ७५ (२) (ई), पृ० ५९–६०।

[2] डा० चाटुर्ज्या : व० र०, भूमिका, § ४१ (बी), पृ० ५५।

[3] डा० सुभद्र झा : विद्यापति, भूमिका, पृ० १६८।

[4] देखिए—उ० व्य०, भूमिका, § ४८, पृ० २२–२३।

[5] प्राकृतपैंगलम् के शब्दकोश में कुछ नए शब्द ये हैं—पक्खर (२. २०५), मण्डा (१. १०४) (रा० मडक्यो = रोटी या मालपुआ), खेह (२. ११२), टोप्पर (२. २७७) (हिं० टोप, शिरस्त्राण), छोडो (२. १८८) (दे० रा० छोडो, लकड़ी का ऊपरी छिलका), छल्ला (२. ६८) (रा० छाल) (प्रा० पैंग० पछल्ला-बाघ का चमड़ा)।

उनके मूल रूप तक का पता नहीं चलता और कभी कभी तो इन कृतियों की प्रामाणिकता पर संदेह होता है। खुसरो की मुकरियाँ भी अनाविल भाषास्वरूप लेकर नहीं आ सकी हैं। नाथसिद्ध, रामानंद और कबीर की भाषा को मौखिक परंपरा ने विकृत किया है तो विद्यापति के पदों में भी, उनका लोकगीतों के रूप में प्रचलन होने से, भाषासंबंधी परिवर्तन हो गया है[१]। कीर्तिलता की भाषा को हम मैथिली 'अवहट्ट' कहेंगे। विद्यापति के पदों की भाषा से इसकी भाषा में बहुत अंतर है। यह दूसरी बात है कि कीर्तिलता में ही कई स्थानों पर कथ्य रूप के प्रयोग मिल जाते हैं पर कीर्तिलता की भाषा कृत्रिम साहित्यिक रूप का प्रदर्शन विशेष करती है और इस दृष्टि से वह उक्तिव्यक्ति की भाषा से भी अधिक कृत्रिम है जो विद्यापति से लगभग २००-२५० वर्ष पूर्व की कथ्य भाषा है। कीर्तिलता के कई पद्यभाग अपभ्रंश की द्वित्व-प्रवृत्ति से प्रभावित हैं, साथ ही उसका गद्यभाग कई स्थानों पर कृत्रिम तथा संस्कृत शैलीमय है। इतना होते हुए भी कीर्तिलता की भाषा कुछ कारणों से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कीर्तिलता में परसर्गों का प्रयोग प्राकृतपैंगलम् की भाषा से अधिक मिलता है[२]। कीर्तिलता का महत्व शब्दकोश की दृष्टि से भी है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण में विदेशी शब्द बहुत कम हैं, प्राकृतपैंगलम् में अधिक हैं, किंतु कीर्तिलता में उससे भी अधिक हैं। अरबी और फारसी के कई शब्द कीर्तिलता में पाए जाते हैं जो तद्भव तथा तत्सम शब्दों की ही भाँति प्रत्ययादि का ग्रहण करते हैं[३]।

इनके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण प्रारंभिक भाषारूप का पता चला है जो पंद्रहवीं शती के बाद का होते हुए भी पश्चिमी हिंदी की उस भाषा का आदि रूप है जो आज भारत की राष्ट्रभाषा का पद अलंकृत करती है। यह है दक्खिनी या दक्खिनी हिंदी। दक्खिनी हिंदी की भाषाप्रकृति तथा साहित्य का संकेत हम इसी अध्याय में उपसंहार के रूप में करेंगे।

भाषारूप की इसी अव्यवस्था के कारण चंद बरदाई का काव्य आज भी समस्या बना हुआ है; उसके आगे के प्रश्नचिह्न को पूरी तरह कोई नहीं सुलझा पाया है। कुछ लोग उसे 'अवहट्ट' की रचना मानते हैं कुछ डिंगल की या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की, कुछ पिंगल की। ऐसा अनुमान होता है कि चंद बरदाई

[१] विद्यापति के पदों का प्रामाणिक संस्करण डा० सुभद्र झा ने थोड़े दिन पहले नेपाल की प्रति के आधार पर प्रकाशित किया है। इसके साथ भाषावैज्ञानिक भूमिका संलग्न है। विद्यापति के काल की कथ्यभाषा का रूप देने में यह संस्करण बेनीपुरी, मजूमदार, माथुर आदि के संस्करणों की अपेक्षा वैज्ञानिक है।

[२] देखिए—कीर्तिलता, डा० सक्सेना की भूमिका, पृ० ४३-४५।

[३] देखिए—वही, पृ० २५-२६।

(या चंद बलदिय) का काव्य पूर्वी राजस्थानी-व्रजभाषा (जो आरंभ में एक ही भाषा थी, दो नहीं) की आद्य स्थिति में रहा होगा और उसकी भाषा उसके समय की कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी, कथ्यभाषा नहीं। मुनि जिनविजय जी को मिले छप्पय छंद रासो के आरंभिक रूप का संकेत देने में समर्थ हैं, पर वे पश्चिमी राजस्थानी के रूप न होकर पूर्वी राजस्थानी (ब्रजभाषा, पिंगल) के रूप का संकेत देते हैं, इसे भूलना नहीं होगा। जिनविजय जी को मिले छप्पयों की भाषा अपभ्रंश की विशेषता अधिक लिए है, जो साहित्यिक प्रवृत्ति का संकेत करती है—दे० एक्कु बाणु (परवर्ती रूप, एक बाण)। डा० मेनारिया का यह मत कि चंद की रचना जालसाजी है और १३वीं शती की रचना न होकर १६वीं शती में मेवाड़ में लिखी गई थी, ठीक नहीं जान पड़ता। हाँ, संप्रति उपलब्ध रासो के रूप में अनेक अंश प्रक्षिप्त हैं जो १६वीं शती के या और भी बाद के प्रक्षेप जान पड़ते हैं। डा० मेनारिया का मत इस अंश में ठीक माना जा सकता है। पर इससे बहुत पहले ही चंद का काव्य किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान था जो साहित्य तथा भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों के लिये अभी तक अंधकार का विषय बना है। नाथसिद्धो और कबीर की पचमेल भाषा दूसरी समस्या है। क्या नाथसिद्धों और रामानंद की भाषा का सच्चा रूप वही रहा होगा[१] जो आज हमें उपलब्ध होता है ? निःसंदेह नाथसिद्धों की या रामानंद की भाषा अविकृत नहीं है। यही बात कबीर पर लागू होती है। क्या कबीर ने अपनी रचना आद्य अवधी या आद्य काशिका (भोजपुरी) में लिखी थी ? कबीर की प्राचीनतम प्रति की भाषा पर भी, जिसका उपयोग डा० श्यामसुंदरदास ने अपने संपादन में किया है, पंजाबी और राजस्थानी का कम प्रभाव नहीं मिलता[२]। मीरा की भाषा भी इसी कोटि की है जिसके शुद्ध रूप का पता नहीं चलता। मीरा की भाषा में गुजराती, पश्चिमी राजस्थानी तथा ब्रजभाषा की प्रवृत्तियों का संमिश्रण मिलता है। यह तो निश्चित है कि मीरा की भाषा का आदि रूप गुजराती नहीं रहा होगा। मीरा की भाषा का आदि रूप पूर्वी राजस्थानी तथा ब्रजभाषा का ही कोई वैभाषिक भेद था जिस-पर पश्चिमी राजस्थानी का भी प्रभाव था (भूलना न होगा, मीरा का जन्म पश्चिमी राजस्थानी भाषा-भाषी प्रांत में हुआ था), यह अनुमान सत्य से विशेष दूर नहीं जान पड़ता। कालनिर्धारण की वैज्ञानिक दृष्टि से रामानंद, कबीर तथा मीरा को पुरानी हिंदी में मानना ठीक नहीं होगा किंतु प्राचीन काव्यों की भाषासंबंधी

[१] रामानंद की हिंदी कविता, स्व० डा० बड़थ्वाल द्वारा संपादित, ना० प्र० सभा। तथा नाथसिद्धों की बानी, संपादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, ना० प्र० सभा।

[२] ढोला मारू रा दूहा, ना० प्र० सभा, भूमिका, पृ० १३१-१३६।

समस्या में इनकी भाषा भी जटिल प्रश्न बनी हुई है, अतः यहाँ इसी दृष्टि से उसका उल्लेख कर दिया गया है। कालक्रम या साहित्यिक युग की दृष्टि से ये तीनों कवि भक्तिकाल से संबंध रखते हैं। प्रारंभिक हिंदी का युग तो उसी दिन समाप्त हो जाता है जिस दिन रामानंद ने अवतार ग्रहण किया। यही कारण है कि रामानंद तथा कबीर के साहित्यिकत्व पर इस अध्याय में विवेचन नहीं किया जा रहा है; हाँ, यत्रतत्र संकेत मिल सकता है।

४. प्रारंभिक हिंदी का साहित्य

प्रारंभिक हिंदी के अंतर्गत हम उन रचनाओं का समावेश करते हैं जो हिंदी साहित्य के आदिकाल की रचनाएँ हैं। जहाँ तक हिंदी साहित्य के इस काल के नामकरण का प्रश्न है, विद्वानों में परस्पर मतभेद पाया जाता है। अपने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी के आदिकाल को 'वीरगाथाकाल' नाम दिया है। उन्होंने बताया है कि उक्त काल की उपलब्ध रचनाएँ दो तरह की हैं—प्रथम, अपभ्रंश की रचनाएँ, दूसरी, देशभाषा की रचनाएँ। इनमें अपभ्रंश की रचनाएँ अधिकतर जैन धार्मिक ग्रंथ हैं, जिनमें जैन धर्मनिरूपण पाया जाता है तथा ये साहित्य कोटि में नहीं आतीं। केवल चार अपभ्रंश कृतियाँ ऐसी हैं जो साहित्यिक कोटि की हैं—(१) विजयपालरासो, (२) हम्मीररासो, (३) कीर्तिलता तथा (४) कीर्तिपताका। इनके अतिरिक्त शुक्ल जी ने इस काल की देशभाषा की आठ काव्यकृतियों का संकेत दिया है। इस प्रकार शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से शुक्ल जी १२ ग्रंथों का समावेश हिंदी के आदिकालीन साहित्य में करते हैं तथा इस काल का नामकरण एवं लक्षण तदनुसार ही निबद्ध करना चाहते हैं। शुक्ल जी का मत है कि इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक ही हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथाकाल' ही रखा जा सकता है[1]।

इसी प्रसंग में आचार्य शुक्ल ने मिश्रबंधुओं द्वारा इस काल के साहित्य में निर्दिष्ट १० पुस्तकों को साहित्यिक कृतियाँ मानने का खंडन किया है। वे बताते हैं कि इन १० कृतियों में से कुछ तो जैनधर्म के तत्वनिरूपण से संबद्ध हैं, कुछ बाद की रचनाएँ हैं, और कुछ कृतियाँ नोटिस मात्र हैं। इस प्रकार शुक्ल जी ने इस बात को पुष्ट किया है कि इस काल की अधिकांश कृतियाँ वीरगाथात्मक होने के कारण इसे वीरगाथाकाल कहना अधिक ठीक है, मिश्रबंधुओं की तरह कोरा 'आदिकाल' कहना ठीक नहीं[2]।

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिं० सा० इ०, प्र० सं०, वक्तव्य, पृ० ३–४।

[2] वही, पृ० ५।

शुक्ल जी का यह मत कि इस काल की अधिकांश साहित्यिक कृतियाँ वीरगाथात्मक ही हैं, धीरे धीरे एकांगी प्रमाणित होता जा रहा है। इधर कई ऐसी जैन कृतियाँ उपलब्ध हो रही हैं जिन्हें शुक्ल जी के मतानुसार केवल धर्म निरूपण-संबंधी घोषित करना अन्याय होगा। यह माना जा सकता है कि जैन कवियों द्वारा लिखे गए 'रास', 'फाग' या अन्य प्रकार के काव्यों पर उनकी धार्मिक मान्यता का प्रभाव पाया जाता है किंतु उनमें साहित्यिकता का अभाव नहीं। डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—'धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।'

शुक्ल जी के बाद हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल को अन्य विद्वानों ने भी नया नाम देने की चेष्टा की है। राहुल जी ने इसे 'सिद्ध-सामंत-युग' नाम दिया है तथा इस युग में उन्होंने न केवल १०५० वि॰ सं॰ से लेकर १३७५ वि॰ सं॰ तक की कृतियों का ही समावेश किया है अपितु वे अपभ्रंश की कृतियों का भी समावेश कर सिद्ध-सामंत-युग का विस्तार सरहपा से आरंभ कर राजशेखर सूरि तक मानते हैं। इस प्रकार राहुल जी ने ८१७ वि॰ सं॰ (७६० ई॰) से १३५७ वि॰ सं॰ (१३०० ई॰) तक सिद्ध-सामंत-युग की अवधि मानी है[1]। इस दृष्टि से राहुल जी की परिभाषा में वे सारी कृतियाँ समाविष्ट हो जाती हैं जिनका उल्लेख हम अपभ्रंशवाले अध्याय में कर चुके हैं। अपनी 'हिंदी काव्यधारा' में राहुल जी ने इसी विशाल दृष्टिकोण से सरहपा, स्वयंभू, कण्हपा, पुष्पदंत, जोइंदु, कनकामर, हेमचंद्र आदि को भी हिंदी के प्राचीन कवियों में माना है। चूँकि इस काल में दो तरह की विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं[2]। एक ओर बौद्ध सिद्धों तथा जैन साधुओं का साहित्य है, दूसरी ओर सामंती वीररसात्मक या शृंगारी साहित्य है। इन्हीं दो विरोधी गुणों के कारण राहुल जी ने इसे सिद्ध-सामंत-युग नाम दिया है।

डा॰ रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में इस काल को एक दूसरा नाम देने की चेष्टा की है—'चारण काल'। वर्मा जी का यह नामकरण संभवतः इस भ्रांत धारणा पर आश्रित है कि वीरगाथा काव्यों के रचयिता प्रायः चारण थे। वस्तुतः वीरगाथा काव्यों के रचयिता भट्ट (ब्रह्मभट्ट) थे, चारण नहीं। चंद, भट्ट केदार और जगनिक चारण न होकर भाट थे। चारण तथा भाट भिन्न भिन्न जातियाँ हैं। चारणों की साहित्यिक कृतियाँ, जो प्रायः डिंगल में उपलब्ध होती हैं (पिंगल में बहुत कम), १५वीं

[1] राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, अवतरणिका, पृ॰ १।

[2] वही : अवतरणिका, पृ॰ ४७-५०।

शती से पूर्व की नहीं हैं। चारण कवियों के डिंगल गीत इससे पुराने नहीं मिलते तथा राजस्थान के राजाओं के साथ चारणों का गठबंधन १५वीं शती के पूर्व का नहीं है। कहना न होगा, चारण जाति सर्वप्रथम चौदहवीं शती के अंत में सिंध से राजस्थान की ओर आई थी।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस काल के नामकरण के प्रश्न को फिर से अपने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में उठाकर मिश्रबंधुओं द्वारा दिए गए नाम—आदिकाल—के ही पक्ष में अपना मत दिया है। अपने प्रथम व्याख्यान में डा० द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल के मत का खंडन करते हुए बताया है कि शुक्ल जी द्वारा जिन १२ ग्रंथों के आधार पर इस काल को वीरगाथाकाल नाम दिया गया है, उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं, कई नोटिस मात्र हैं और कई के संबंध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था[१]। आगे जाकर उन्होंने बताया है कि खुमाणरासो, विजयपालरासो तथा बीसलदेवरासो बहुत पीछे की रचनाएँ हैं।[१] हम्मीररासो, जयचंदप्रकाश, जयमयंकजसचंद्रिका, परमालरासो (आल्हा का मूल रूप) नोटिस मात्र हैं तथा पृथ्वीराजरासो का वास्तविक मूल रूप क्या था इसका पता आज भी नहीं चल सका है। अतः द्विवेदी जी के शब्दों में, 'राजपूताने में प्राप्त कुछ काव्यग्रंथों के आधार पर इस काल का नामकरण उचित नहीं है।'[२]

आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाकाल के साहित्य में निम्नलिखित १२ कृतियों का समावेश किया है, जिनमें प्रथम चार को वे अपभ्रंश की कृतियाँ मानते हैं, शेष ८ को देश्यभाषा की। अपने इतिहास के द्वितीय प्रकरण में उन्होंने विजयपाल-रासो को छोड़कर शेष तीन अपभ्रंश कृतियों का संकेत किया है तथा तृतीय एवं चतुर्थ प्रकरण में शेष ८ देश्यभाषा कृतियों का विवरण दिया है। ये कृतियाँ हैं :

(१) विजयपालरासो, (२) हम्मीररासो, (३) कीर्तिलता, (४) कीर्तिपताका, (५) खुमाणरासो, (६) बीसलदेवरासो, (७) पृथ्वीराजरासो, (८) जयचंदप्रकाश, (९) जयमयंकजसचंद्रिका, (१०) परमालरासो (आल्हा का मूल रूप), (११) खुसरो की पहेलियाँ आदि, (१२) विद्यापति पदावली।

इनके अतिरिक्त प्राकृतपैंगलम् के पद्य, नाथसिद्धों की रचनाएँ, ढोला मारू रा दोहा, तथा जैन कवियों के रास, फाग आदि काव्य, उक्तिव्यक्तिप्रकरण एवं

[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिं० सा० आ०, प्रथम व्याख्यान, पृ० ११।

[२] वही, पृ० १७।

वर्णरत्नाकर का समावेश भी इस काल की रचनाओं में किया जा सकता है, यद्यपि उक्तिव्यक्ति तथा वर्णरत्नाकर शुद्ध साहित्यिक कृतियाँ नहीं हैं। अपने 'हिंदी साहित्य' में डा० द्विवेदी ने अद्दहमाण या अब्दुर्रहमान के 'संदेशरासक' को भी हिंदी की प्रारंभिक कृतियों में ही गिना है[1]। ऐसा जान पड़ता है, वे 'संदेशरासक' जैसे सुंदर काव्य को हिंदी की निधि स्वीकार करने का मोह संवरण नहीं कर सके। किंतु, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, कालक्रम की दृष्टि से हिंदी के आदिकाल की रचना होने पर भी संदेशरासक परिनिष्ठित अपभ्रंश के ही पदचिह्नों पर विशेषतः चलता दिखाई देता है।

प्रारंभिक हिंदी की उक्त कृतियों का साहित्यिक पर्यालोचन नीचे दिया जा रहा है :

(१) **खुमानरासो**—खुमानरासो का सर्वप्रथम संकेत शिवसिंहसरोज में मिलता है। इसमें इसे किसी अज्ञातनामा भाट की रचना माना गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में बताया है कि चित्तौड़ में तीन खुमान (खुमाण) हो चुके हैं और खुमानरासो संभवतः दूसरे खुमाण (राज्यकाल वि० सं० ८७०-६००)से संबद्ध है। इसमें खुमाण तथा खलीफा अलमायूँ (राज्यकाल वि० सं० ८७०-८६०) के युद्ध का वर्णन है। खुमानरासो के रचयिता का नाम 'दलपतविजय' है। प्रस्तुत खुमाणरासो की प्रति में, जो हमें आज उपलब्ध है, कितना अंश पुराना है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वैसे इस प्रति में महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित न होगा कि यह ग्रंथ जिस रूप में आज उपलब्ध है, वह विक्रम की सत्रहवीं शती से प्राचीन नहीं है[2]। साथ ही, दलपतविजय वास्तविक ग्रंथ का रचयिता था या परिशिष्टांश का, यह भी कहना कठिन है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में इस बात का संकेत किया है कि खुमानरासो की सरस्वती भंडार, उदयपुर, में सुरक्षित प्रति में राणा राजसिंह तक का वर्णन मिलता है जो महाराणा प्रतापसिंह के भी दो पीढ़ी बाद के हैं। मेनारिया जी ने इस ग्रंथ को वीरगाथाकालीन मानने से इन्कार किया है तथा इसकी रचना विक्रम की १८वीं शती के पूर्वार्ध की मानी है। वे लिखते हैं :

ये (दलपत) तपागच्छीय जैन साधु शांतिविजय के शिष्य थे। इनका असली नाम दलपत था, पर दीक्षा के बाद बदलकर दौलतविजय रख दिया गया था। हिंदी

[1] डा० द्विवेदी : हि० सा०, पृ० ७१।

[2] आचार्य शुक्ल : हि० सा० इ०, पृ० ३३।

के विद्वानों ने इन्हें मेवाड़ के रावल खुमाण (सं० ८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल सं० १७३० से लेकर १७६० के मध्य तक है[१]।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि खुमानरासो, जिसे गलती से पुराने विद्वानों ने हिंदी साहित्य के आदिकाल की रचना मान लिया था, इस काल की रचना सिद्ध नहीं होता।

(२) **बीसलदेवरासो**—बीसलदेवरासो नरपति नाल्ह की रचना है। आचार्य शुक्ल ने इस ग्रंथ के अधोलिखित निर्माणकाल का संकेत दिया है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १२१२ में हुई थी :

> **बारह सै बहोत्तरां मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि ॥**
> **नाल्ह रसायण आरंभइ। सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि ॥**

इस ग्रंथ में सर्वत्र वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग मिलता है, अतः इसके संपादक श्री सत्यजीवन वर्मा ने इसे बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का समसामयिक माना है। विग्रहराज चतुर्थ का समय विक्रम की तेरहवीं शती का प्रथम चरण (१२००-१२२५ वि० सं०) है। इस प्रकार श्री वर्मा के मत से नरपति नाल्ह का भी समय तेरहवीं शती का पूर्वार्ध है[२]। प्रस्तुत काव्य में विग्रहराज (बीसलदेव) तथा उसकी रानी राजमती की प्रणयगाथा है। इसमें चार खंड हैं। प्रथम खंड में मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से साँभर के बीसलदेव का विवाह वर्णित है। द्वितीय खंड में बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा चला जाना तथा वहाँ एक वर्ष तक रहना वर्णित है। तृतीय खंड में राजमती का विरहवर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से वापस लौटने का वर्णन है। चतुर्थ खंड में भोज का अपनी पुत्री राजमती को अपने घर लिवा जाना और बीसलदेव का उसे फिर चित्तौड़ लौटा लाने का प्रसंग पाया जाता है। इस विवरण से विग्रहराज चतुर्थ परमार राजा भोज का समसामयिक सिद्ध होता है जो इतिहासविरुद्ध है, क्योंकि इन दोनों के राज्यकाल में लगभग १००-११० वर्ष का अंतर पड़ता है। आचार्य शुक्ल ने इस विरोध को किसी तरह समाहित करने की चेष्टा की है। उनके मत से ऐसा हो सकता है कि धार के परमारों की उपाधि ही भोज रही हो अथवा बीसलदेव की रानी परमारवंश की होने के कारण उसे भोज की पुत्री मान लिया गया हो। ऐसा भी हो सकता है कि भोज का नाम बाद में कहीं पीछे न

[१] मेनारिया, रा० भा० सा०, पृ० १०६।

[२] बीसलदेवरासो, सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित, पृ० ५-७।

मिलाया गया हो। आचार्य शुक्ल ने दो उद्धरण ऐसे दिए हैं जो राजमती (राजल) को जैसलमेर के किसी परमार सरदार की कन्या होना भी सिद्ध कर सकते हैं : 'जनमी गोरी तू जैसलमेर', 'गोरड़ी जैसलमेर की[१]।'

बीसलदेवरासो के रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आचार्य शुक्ल इसे बीसलदेव का ही समसामयिक मानने के पक्ष में हैं। डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा के मत से यह बीसलदेव की समसामयिक रचना तो नहीं है किंतु हम्मीर के समय की रचना अवश्य है[२]। इस प्रकार डा० ओझा के मत से यह चौदहवीं शती विक्रम की रचना जान पड़ती है। एक तीसरा मत डा० मोतीलाल मेनारिया का है। वे इसे प्राचीन हिंदी की प्रामाणिक कृति मानने के विपक्ष में हैं। उनका कहना है कि पुस्तक की सबसे प्राचीन प्रति वि० सं० १६६९ की है तथा ऐसा जान पड़ता है कि यह १५वीं शती विक्रम से पूर्व की रचना नहीं है। मेनारिया जी ने नरपति नाल्ह को गुजराती कवि नरपति से अभिन्न माना है। वे बीसलदेवरासो की भाषा में गुजराती से अत्यधिक साम्य पाकर इस बात से पूर्णतः सहमत हैं कि बीसलदेवरासो इसी गुजराती कवि नरपति की रचना है। उनके मत से इसका रचनाकाल १५४५-६० विक्रम के आसपास माना जा सकता है[३]। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का बीसलदेवरासो के विषय में कोई अपना निजी मत नहीं है, वे मेनारिया जी की ही बात मानने के पक्ष में हैं।

बीसलदेवरासो की भाषा प्राचीन हिंदी का वह रूप कही जा सकती है, जिसमें राजस्थानी विभाषा का पुट है। इसमें कई ऐसे प्रयोग पाए जाते हैं जो राजस्थानी-गुजराती के अपने प्रयोग हैं, यथा 'सूकई छै', 'पाटण थीं', 'भोज तणा', 'खंड खंडरा'। इसमें यत्रतत्र कई अरबी फारसी के शब्द भी मिलते हैं, जिनके विषय में शुक्ल जी का मत है कि 'ये शब्द पीछे से मिले हुए भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी।'

विषयवस्तु की दृष्टि से बीसलदेवरासो पृथ्वीराजरासो जैसी कृति नहीं है। पृथ्वीराजरासो शौर्य तथा शृंगार दोनों रसों का भावप्रवण काव्य है, जबकि बीसलदेवरासो आमूलचूल शृंगार का काव्य है। विग्रहराज चतुर्थ का जो रूप इतिहास में प्रसिद्ध है, वह रूप इस काव्य में नहीं मिलता। यहाँ बीसलदेव एक शृंगारी नायक के रूप में चित्रित है। शास्त्रीय शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि बीसलदेव का धीरोदात्तत्व यहाँ नहीं पाया जाता, काव्य में उसका धीरललितत्व ही

[१] आचार्य शुक्ल : हि० सा० इ०, पृ० ३५-३७।
[२] डा० ओझा : राजपूताने का इतिहास, भूमिका, पृ० १६।
[३] मेनारिया : रा० भा० सा०, पृ० ११६।

परिस्फुट होता है। संभवतः इसीलिये 'रासो' शब्द का 'वीररसात्मक काव्य' मात्र अर्थ समझकर आचार्य शुक्ल ने बड़े खेद के साथ कहा था 'अतः इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है[१]।' किंतु, जैसा कि हम आगे बताएँगे, रास या रासो शब्द का प्रयोग केवल वीररसात्मक काव्यों के लिये ही नहीं होता था (यह दूसरी बात है कि बाद में यह भ्रांति से इस अर्थ में रूढ़ माना जाने लगा हो)। रास या रासो (रासक) वस्तुतः किसी गेय काव्य का वाचक है जो मधुर (ललित) या उद्धत किसी भी ढंग का हो सकता है। बीसलदेवरासो वस्तुतः संदेशरासक की भाँति मधुर शैली का 'रासो' (रासक) है जबकि पृथ्वीराजरासो मधुर तथा उद्धत दोनों शैलियों का मिश्रित 'रासो' है।

बीसलदेवरासो वस्तुतः एक प्रेमगीत है जो गाने के लिये रचा गया है। बीसलदेवरासो प्रमुखरूपेण विरह या विप्रलंभ शृंगार का काव्य है, यद्यपि इसमें आरंभ में बीसलदेव तथा राजमती के विवाह एवं अंत में पुनर्मिलन के संयोगपरक चित्र भी हैं, तथापि काव्य का सच्चा सौंदर्य इसके विरहसंबंधी भावप्रवण स्थलों में ही है। एक बार राजमती के कटु शब्दों को सुनकर बीसलदेव रुष्ट हो जाता है और यहीं काव्य के विरहवर्णन का बीज निक्षिप्त होता है। राजा अपने आपको समस्त भूपालों का शिरोमणि कहता है, राजमती इसे नहीं सह पाती तथा उससे कहती है कि 'उड़ीसा का राजा तुमसे भी अधिक समृद्धिशाली है। तेरे यहाँ जितनी नमक की खान है उतनी उसके यहाँ हीरे की खान है' :

> गरिब न बोलो हो सांभरयाराव। तो सरीखा घणा आर भुवाल ॥
> ए उडीसा को धणी। वचन हमारइ तू मानि जु मानि ॥
> ज्यूँ थारइ सांभर उग्गाहइ। राजा उणि घरि उग्गाहइ हीरा-खान ॥

बीसलदेव को बुरा लगता है, वह राजमती की कड़वी बात नहीं सुन सकता। यदि राजल कड़वी बात कहेगी तो वह उसे चित्त से उतार देगा। बात से बात नहीं छिप सकती। दावाग्नि से जले वृक्ष में कोपल फिर भी लग सकती है, पर जीभ से जले हृदय में फिर अनुराग नहीं उत्पन्न होता :

> कडुवा बोल न बोलिस नारि। तू मो मेल्हसी चित्त बिसारि।
> जीभ न जीभ बिगोयनो। दव का दाधा कुपली मेल्हइ ॥
> जीभ का दाधा न पांगुरइ। नाल्ह कहइ सुणजइ सब कोइ ॥

और यहाँ कवि ने बड़े सुंदर ढंग से दावाग्नि से दग्ध तथा जिह्वा (कटु वचन)

१ आचार्य शुक्ल : हिं० सा० इ०, पृ० ३९।

से दग्ध वस्तुओं का व्यतिरेक स्पष्ट किया है। स्वाभाविक रीति से नियोजित व्यतिरेक अलंकार का यह एक सुंदर निदर्शन है।

फलतः कटूक्ति से दग्धहृदय बीसलदेव रानी को छोड़कर उड़ीसा चला जाता है। पति के वियोग में प्रोषितपतिका राजमती की अवस्था अत्यंत शोचनीय है। राजमहल के अंतःपुर में बंदिनी की तरह दिन व्यतीत करती राजमती प्रिय के वियोग में अपनी परतंत्रता का और अधिक अनुभव करती है। काश, वह स्वतंत्र होती, भले ही वह पशु या पक्षी की योनि में ही क्यों न जनमती, भले ही वह धौरी गाय या कोयल ही क्यों न होती, उसे वन उपवन में विचरण करने की स्वच्छंदता तो होती :

> धणइ न सिरजीय धउलीय गाइ।
> वनषंड काली कोइली ॥

राजमती के विरहवर्णन के प्रसंग में ही कवि ने एक बारहमासे की योजना की है[1]। बारहमासा कार्तिकमास से आरंभ होकर आश्विन में समाप्त होता है। इसमें विप्रलंभ शृंगार की उद्दीपनविभावगत प्रकृति का सुंदर चित्रण पाया जाता है :

> धुरि असाढ़ घडुकया मेह।
> खलहल्या षल्या, बहि गई खेह ॥
> अजी न आसाढ़ां बाहुड्या।
> कोइल कुरलइ अंब की डाल ॥
> मोर टहूकई सिखर थी।
> माता पइगल ज्युं पग देई ॥
> सदी मतवांला ज्युं घलाई।
> तिणि घरी ओलगी कांई करेस्यत ? (३. १७)

काव्य में विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत नायिका की तत्तत् मानसिक दशाओं तथा संचारी भावों की भी सुंदर योजना पाई जाती है :

> आज सखी सपनतर दीठ।
> राग चूरे राजा पल्यंगे बईस।
> ईसो हो झंझारो मइ झंबीयो।

[1] बारहमासे की परंपरा हिंदी में सर्वप्रथम यहीं परिलक्षित होती है। वैसे, विनयचंद्रसूरि कृत 'नेमिनाथचउपई' (रचनाकाल १३वीं शती विक्रम) में भी इसका समावेश पाया जाता है। आगे तो जायसी के पद्मावत में भी इसकी योजना है।

जो हूँ सोणीहइं जाणती सांच ॥
हठि कर जातो राखती ।
अब जागुं जीव पडी गयो दाह ॥ (३. ४)

प्रोषितपतिका राजमती को स्वप्न में अपने प्रिय की मूर्ति दिखाई देती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे अनुराग से भरा प्रिय पलंग पर बैठा है। पर हाय, वह तो स्वप्न था। यदि उसे यह भी पता होता कि पति का वियोग उसे इतना दुःखद होगा तो क्या वह पति को जाने देती। स्वप्न में तो प्रिय का मिलन उसे सुखद प्रतीत हुआ, किंतु जगने पर तो जैसे हृदय में ज्वाला लग गई। राजमती की इस उक्ति में एक साथ औत्सुक्य, चिंता, दैन्य आदि संचारी भावों की व्यंजना पाई जाती है।

(३-४) जयचंद्रप्रकाश तथा जयमयंकजसचंद्रिका—ये दोनों ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। शुक्ल जी ने शिवसिंहसरोज के आधार पर इन्हें क्रमशः भट्टकेदार तथा मधुकर कवि की रचनाएँ माना है तथा इनका काल संवत् १२२४ तथा संवत् १२४३ के बीच माना है। भट्टकेदार तथा मधुकर कवि दोनों को वे जयचंद्र का समसामयिक मानते हैं, परंतु टिप्पणी में इस बात का भी संकेत करते हैं कि भट्टभणंत के आधार पर भट्टकेदार जयचंद के कवि न होकर शहाबुद्दीन गोरी के दरबारी कवि थे[1]। भट्टकेदार ने 'जयचंद्रप्रकाश' नामक महाकाव्य की रचना की थी जो आज उपलब्ध नहीं है। इस काव्य में कन्नौज के राजा जयचंद का गुणगान किया गया होगा। मधुकर भट्ट के नाम पर शुक्ल जी ने 'जयमयंकजसचंद्रिका' नामक काव्य का उल्लेख किया है जिसका विषय भी जयचंद से ही संबद्ध रहा होगा। द्विवेदी जी ने मधुकर भट्ट को माघो भाट से अभिन्न माना है जो शहाबुद्दीन का राजकवि तथा विश्वासपात्र गुप्तचर था। इस संबंध में द्विवेदी जी ने एक दूसरा भट्टभणंत उद्धृत किया है :

[1] भट्टभणंत का आधार निम्नांकित कवित्त है जो शिवसिंहसरोज में उद्धृत है :

प्रथम विधाता तें प्रगट भए बंदीजन,
पुनि प्रथुजग्य तें प्रकास सरसान है।
माने सूत सौनकन बांचक पुरान रहे,
जस को बखाने महासुख सरसान है॥
चंद चौहान के, केदार गोरी साह जू के,
गंग अकबर के बखाने गुन गान है।
काव्य कैसे मांस अजनास धन भांटन को,
लूटि धरै ताको खुरा खोजि मिटि जान है॥

हिंदू हिंदुअं वचने रचने मेच्छाय मेच्छयं वचनं ।
जं जं जेम समुज्झं तं तं समुझाय माधवं भट्टं ॥

यह संभव है कि शहाबुद्दीन गोरी से कुछ भट्ट कवियों का संबंध रहा हो, संभवतः ये कवि या तो महमूद से पहले के गजनी के हिंदू राजाओं के बंदीजनों के वंशज हो जिन्हें शहाबुद्दीन के समय तक संरक्षण मिलता रहा हो, अथवा ये जयचंद के कवि हों और इन्होंने गोरी का भी संरक्षण प्राप्त कर लिया हो। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि रासो में भी इन दोनों कवियों का नाम मिलता है तथा चंद और भट्टकेदार के एक संवाद का भी उल्लेख एक स्थान पर पाया जाता है। इतना होते हुए भी इन कवियों के अस्तित्व या नास्तित्व का हमारे लिये कोई महत्व इसलिये नहीं है कि जब तक इनकी तत्तत् काव्यकृतियाँ उपलब्ध नहीं होतीं, तबतक इनके विषय में कुछ भी कहना संभव नहीं। द्विवेदी जी के शब्दों में दोनों कृतियाँ 'नोटिस मात्र' हैं।

(५) **हम्मीररासो**—शार्ङ्गधर का हम्मीररासो भी ऐसा ही नोटिस मात्र है। ये वही शार्ङ्गधर माने जाते हैं जिनका आयुर्वेद का ग्रंथ प्रसिद्ध है तथा इसके अतिरिक्त 'शार्ङ्गधरपद्धति' के नाम से सुभाषित-पद्यसंग्रह भी उपलब्ध है। शिवसिंह सरोज में लिखा है कि चंद के वंशज शार्ङ्गधर ने हम्मीररासो और 'हम्मीरकाव्य' की रचना की थी। शुक्ल जी ने इसी को आधार मानकर 'प्राकृतपैंगलम्' में उपलब्ध हम्मीरविषयक पद्यों को 'हम्मीररासो' का ही अंश घोषित किया है। वे लिखते हैं : 'प्राकृतपिंगलसूत्र' उलटते पलटते मुझे हम्मीर की चढ़ाई, वीरगाथा आदि के कई पद्य छंदों के उदाहरणों में मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीररासो' के ही हैं[1]।' इस प्रकार शुक्ल जी के मत में हम्मीररासो हम्मीर की समसामयिक (वि० सं० १३५० के लगभग) रचना रही होगी। 'प्राकृतपैंगलम्' के जिन हम्मीरविषयक पद्यों को शुक्ल जी ने शार्ङ्गधररचित 'हम्मीररासो' का अंश बताया है, उनमें एक प्रसिद्ध पद्य यह है :

पिंधउ दिढ सन्नाह, बाह उप्परि पक्खर दइ ।
बंधु समदि रण धंसउ सामि हम्मीर वअण लइ ॥
उड्डल णहपह भमउं, खग्ग रिपु-सीसहि झल्लउं ।
पक्खर पक्खर पेल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउं ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मह मइ जलउं ।
सुलितान-सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउं ॥

[1] आचार्य शुक्ल : हिं० सा० इ०, पृ० २५।

(दृढ़ कवच पहन लूँ, वाहनों के ऊपर पक्खर डाल लूँ, स्वामी हम्मीर का वचन लेकर मैं बांधवों से विदा होकर रण में घुसूँ, आकाश में उड़कर घूमूँ (अथवा आकाश के तारों को घुमा दूँ), शत्रु के सिर पर तलवार जड़ दूँ, पक्खर-पक्खर को ठेल ठालकर मैं पर्वतों को हिला दूँ। जज्जल कहता है कि हम्मीर के कार्य के लिये मैं क्रोध से जल रहा हूँ। सुलतान के सिर पर तलवार जड़कर मैं शरीर छोड़कर स्वर्ग चला जाऊँ।)

इस पद्य के विषय में दो मत हैं। शुक्ल जी इसे 'हम्मीररासो' का अंश मानकर शार्ङ्गधर की कृति घोषित करते हैं। इस प्रकार उनके मत से यह जज्जल नामक किसी वीर (पात्रविशेष) की उक्ति है। राहुल जी इसे जज्जल कवि की कृति मानते हैं तथा वे हम्मीरविषयक प्रायः समस्त पद्यों को जज्जल की ही कृतियाँ कहते हैं[१]। वैसे राहुल जी ने इस बात का भी संकेत किया है कि 'जिन कविताओं में जज्जल का नाम नहीं है, उनके बारे में संदेह है कि इसी कवि की कृतियाँ हैं।' अतः प्रथम तो इसी बात में संदेह है कि उक्त पद्य में जज्जल पात्र है या कवि। यदि किसी तरह उसे पात्र की ही उक्ति मान भी लिया जाय तो भी यह शार्ङ्गधर-रचित अनुपलब्ध 'हम्मीररासो' का ही उद्धरण है, यह कैसे सिद्ध होगा ?

शार्ङ्गधर पद्धति में संस्कृत-देशभाषा की खिचड़ी में रचित पद्य, शाबर मंत्र आदि अवश्य मिलते हैं। उदाहरण के लिये श्रीमल्लदेव की प्रशंसा में रचित श्रीकंठ पंडित का निम्नलिखित पद्य लिया जा सकता है :

> नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः।
> शत्रुं पाडि लुटालि तोडि हनिसों एवं भणन्त्युद्भटाः।
> झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कंत मेरे कहे।
> कंठे पाग निवेश जाइ शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्॥

(६) **विजयपालरासो**—नल्लसिंह की कृति विजयपालरासो भी इसी काल की रचना मानी जाती है। मिश्रबंधुओं ने इसका समावेश आदिकाल की काव्यकृतियों में किया है। मिश्रबंधुओं के मतानुसार नल्लसिंह ने विजयपालसिंह तथा बंगराजा की लड़ाई का वर्णन इस काव्य में किया है जो वि० सं० १०९३ में हुई थी। नल्लसिंह को मिश्रबंधुओं ने विजयपाल का समसामयिक नहीं माना है तथा इसका रचनाकाल वि० सं० १३५५ के लगभग माना है[२]। विजयपालरासो का नायक विजयपाल संभवतः विश्वामित्रगोत्रीय गुहिलवंशीय राजा विजयपाल से

१ देखिए—राहुल : हिंदी काव्यधारा, पृ० ४५२–४५५।
२ मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग, पृ० २०७।

भिन्न है, जिसने 'काई' नामक वीर को हराया था तथा जिसके प्रपौत्र विजयसिंह का एक हिंदी शिलालेख दमोह से प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख की भाषा उस काल की प्राचीन हिंदी की पद्यशैली का अनाविल रूप रखने में समर्थ है तथा इस बात का संकेत करती है कि उस काल के देशभाषा के कवियों ने अपभ्रंश के मार्ग को नहीं-छोड़ा था :

बिसमित्त गोत्त उत्तिम चरित विमल पवित्तो गाण।
अरधइ धड़णो संसिजय द्रवडो भूवाण ॥
द्रवडो पटि परिठियउं खत्तिय विज्जयपालु।
जोगे काइउ रणि विजिणिउ तह सुअ भुवण पालु ॥

× × ×

खेदिअ गुजर गौदहइ की अ अधिअं भारि।
विजयसीह कित संहलहु पौरिस वह संसारि ॥
भुंभुक देवह पअ पणवि पअडिअकित्त समव्व।
विजयसीह दिढ़ चित्तु करि आरंभिअ सुख सव्व[१] ॥

श्रीमल्लदेव-कृत विजयपालरासो को हिंदी साहित्य के आदिकाल की प्रामाणिक कृति मानने में बाधा है। द्विवेदी जी के मतानुसार इसकी भाषा और शैली पर विचार करने से मालूम होता है कि इसकी रचना बहुत बाद में हुई होगी[२]। शुक्ल जी ने विजयपालरासो को अपभ्रंश की शैली में रचित माना है, किंतु यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। विजयपालरासो की शैली को भी देशभाषात्मक ही मानना ठीक होगा, वैसे इसमें भी भाषा का अनाविल रूप उपलब्ध नहीं होता। विजयपालरासो की काव्यशैली का एक नमूना यह है :

जुरे जुध यादव पंग मरद्द गही कर तेग चढ्यो रणभद्द।
हंकारिख जुद्द दुहूं दल सूर, मनौ गिरि सीर जलध्धरि पूर ॥
हलौ हिल हांक बजी दल मध्धि, भई दिन ऊगत कूक प्रसिध्धि।
परस्पर तोप बहैं विकराल, गजैं सुर भुम्मि सरग्ग पताल ॥

(७) पृथ्वीराजरासो—पृथ्वीराज चौहान के मित्र कवि चंदबरदाई को हिंदी के महाकवियों में तिथिक्रम की दृष्टि से प्रथम स्थान दिया जाता है। इन्हीं

[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिं० सा० इ०, पृ० २२ (ना० प्र० प०, भाग ६, अंक ४ से उद्धृत)।
[२] द्विवेदी : हि० सा०, पृ० ५५।
साथ ही देखिए—मेनारिया : डिंगल में वीररस, पृ० ३७।

महाकवि चंद की रचना पृथ्वीराजरासो है। महाकवि चंद ने पृथ्वीराज के ही राज्यकाल में अपने मित्र एवं आश्रयदाता के विषय में शृंगारवीर रसपरक चरितकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' की रचना की थी तथा पृथ्वीराज के गोरी द्वारा बंदी बनाकर गजनी ले जाए जाने के बाद 'रासो' का शेषांश उसके पुत्र जल्हण ने ठीक उसी तरह पूरा किया था जैसे भूषण ने बाण की अधूरी कादंबरी के उत्तरार्ध की रचना की थी। इस विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज।

× × ×

रघुनाथचरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चंद कृत चंद-नंद उद्धरिय तिमि॥

उपर्युक्त भट्टभणंत में अक्षरशः विश्वास करनेवाले विद्वानों के अनुसार चंद पृथ्वीराज के समसामयिक (संवत् १२२५-१२४६ के लगभग) थे तथा उपलब्ध पृथ्वीराजरासो इन्हीं की कृति है जिसका विस्तार 'सत सहस' (एक लाख) श्लोकों का है। उपलब्ध पृथ्वीराजरासो की घटनाओं, तिथियों और नामों की ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यालोचना करने पर कुछ विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता के विषय में शंका की है तथा इसे बहुत बाद का (विक्रम की १६वीं-१७वीं शती का) जाली ग्रंथ ठहराया है। एक तीसरा मत मध्यमार्ग का अनुसरण करता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि चंद नाम का कोई कवि पृथ्वीराज का मित्र अवश्य रहा है तथा 'रासो' का मूल रूप उसकी कृति अवश्य है किंतु उपलब्ध पृथ्वीराजरासो पूरा का पूरा उसी की कृति नहीं है, इसमें अधिकांश प्रक्षिप्त है। तथापि इसमें चंद की वास्तविक कृति भी है, पर आज उसको खोज निकालना कठिन हो गया है। हम इन तीनों मतों को संक्षेपतः यहाँ दे रहे हैं :

(अ) प्रथम मत के माननेवालों में पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, रासो के लाहौर वाले संस्करण के संपादक पं० मथुराप्रसाद दीक्षित तथा डा० श्यामसुंदरदास हैं जो रासो को पूर्णतः प्रामाणिक मानते हैं। पंड्या जी ने तो रासो को इतिहाससंमत सिद्ध करने के लिये, इसकी तिथियों की संगति बिठाने के लिये, 'अनंद संवत्' की कल्पना की थी। दीक्षित जी के अनुसार रासो की पद्यसंख्या केवल 'सत्त सहस' सात हजार श्लोक है तथा उन्होंने ओरियंटल कालेज, लाहौर, की प्रति को रासो का प्रामाणिक रूप माना है। यह प्रति रासो का लघु रूपांतर है। रासो के ऐसे ही लघु रूपांतर और भी मिले हैं, इनकी एक प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में है। एक प्रति अगरचंद नाहटा जी के पास भी है। इनमें कोई भी प्रति १७वीं शताब्दी के पहले की नहीं है।

(आ) रासो को सर्वथा जाली ग्रंथ माननेवालों में डा० बूल्हर, डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी देवीप्रसाद तथा कविराज श्यामलदास हैं। ओझा जी के ही पदचिह्नों पर चलकर डा० मोतीलाल मेनारिया ने भी रासो को जाली ग्रंथ घोषित किया है। ओझा जी के मतानुसार रासो में वर्णित नाम, घटनाएँ तथा संवत् भाटों की कल्पनाएँ (गपोड़ें) हैं। उन्होंने काश्मीरी कवि जयानक रचित 'पृथ्वीराजविजय' काव्य तथा तत्कालीन शिलालेखों के आधार पर रासो की अप्रामाणिकता सिद्ध की है। पृथ्वीराजविजय तथा शिलालेखों के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर तथा कर्पूरदेवी के पुत्र थे तथा कर्पूरदेवी चेदिराज की पुत्री थी। रासो में पृथ्वीराज को अनंदपाल का दौहित्र बताया है। साथ ही पृथ्वीराज तथा गोरी के युद्धों की तिथि में भी प्रामाणिकता नहीं है। ओझा जी के मत का साराश यह है कि 'कुछ सुनी सुनाई बातों के आधार पर उक्त बृहत् काव्य की रचना की गई है। यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असंभव था। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं प्रतीत होता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं कहीं प्राचीनता का आभास होता है, वह तो डिंगल की विशेषता ही है। ··· वस्तुतः पृथ्वीराजरासो वि० सं० १६०० के आसपास लिखा गया है।'

(इ) तीसरा मत वह है, जो रासो के कुछ न कुछ अंश को उस काल की रचना मानता है। यद्यपि इस मत के माननेवाले विद्वानों में भी परस्पर भाषा संबंधी मतभेद पाया जाता है तथा इसके मूल रूप की वास्तविकता पर कोई भी विद्वान् अंतिम रूप से कुछ नहीं कह सका है। मुनि जिनविजय जी ने पुरातन-प्रबंध-संग्रह में चंद के नाम से ४ छंद दिए हैं। इन छप्पयों की भाषा अपभ्रंश है तथा परिनिष्ठित अपभ्रंश के कुछ आगे की भाषा-स्थिति का संकेत देती है। इनके आधार पर मुनि जी ने इस मत का प्रकाशन किया है कि ये मूल रासो के ही छप्पय हैं तथा इससे यह सिद्ध होता है कि मूल रासो अपभ्रंश की रचना है। इन चार छप्पयों में से तीन छप्पय तो वर्तमान रासो में मिलते भी हैं। आजकल हिंदी के अधिकांश विद्वान् इसी मत को मानते हैं तथा उनके मत से रासो की भाषा डिंगल या पिंगल न होकर अपभ्रंश थी। इस प्रकार ये रासो की मूल भाषा को पश्चिमी अपभ्रंश का परवर्ती रूप मानते हैं। इस संबंध में इतना कह दिया जाय कि रासो की 'अवहट्ट' या प्रारंभिक हिंदी ठीक वही रही होगी जिसका एक रूप हमें 'प्राकृतपैंगलम्' के उदाहरणों की भाषा में मिलता है। इस प्रकार रासो प्राचीन पूर्वी राजस्थानी ब्रजभाषा (जो आरंभ में एक ही भाषा थी) का ग्रंथ रहा होगा, जिसपर बाद में पश्चिमी राजस्थानी तथा डिंगल का पर्याप्त प्रभाव

पढ़ने से उसका रूप विकृत हो गया है। मुनि जी के द्वारा जिन छप्पयों का प्रकाशन किया गया है उनकी भाषा का नमूना निम्नलिखित छप्पय से मिल सकता है :

इक्कु बाणु पहुवीसु जु पइं कइंबासह मुक्कओ ॥
उर भितरी खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ ॥
बीअं करि संधीउं भमइ सूमेसर नंदण ।
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरिवणु ॥
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह ।
न जाणउं चंदबलद्दिउं किं न वि छुट्टइ इहफलह[1] ॥

इधर हाल में ही उदयपुर से कवि राव मोहनसिंह जी ने रासो का प्रथम खंड प्रकाशित किया है। इसमें इन्होंने रासो को प्रामाणिक रचना माना है। इनके मतानुसार रासो पिंगल की रचना है तथा इसमें रासो का प्रामाणिक अंश वही है जो कवित्त (छप्पय), साटक (शार्दूल विक्रीडित), गाहा (गाथा) तथा दोहा छंद में निबद्ध है। इस मत की पुष्टि में कविराज जी ने रासो का यह पद्य उद्धृत किया है :

छंद, प्रबंध कवित्त मति, साटक, गाह, दुहत्थ ।
लघु गुरु मंडित खंडि यह पिंगल अमर भरत्थ ॥

कविराज जी ने यह भी बताया है कि इन छंदों से इतर छंदों को प्रक्षेप मानकर निकाल देने पर भी काव्य की प्रबंधात्मकता में कोई विशृंखलता नहीं आती, साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से जितनी विरोधी बातें हैं वे भी इन्हीं प्रक्षिप्त स्थलों में पाई जाती हैं[2]।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी रासो के कतिपय अंश को प्रामाणिक मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने विस्तृत विवेचन कर मुनि जी के मत की संपुष्टि की है। द्विवेदी जी ने अपने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' के तृतीय और चतुर्थ व्याख्यान में रासो पर विस्तार से विचार किया है तथा रासो की इतिहासविरुद्धता के मसले को सुलझाने के लिये भारतीय चरितकाव्यपरंपरा का पर्यालोचन करते हुए बताया है कि 'रासो चरितकाव्य है, इतिहासग्रंथ नहीं, अतः सभी ऐतिहासिक कहे जानेवाले

[1] पुरातनप्रबंधसंग्रह, पद्य सं०, २७५, २७६, २८७ पर इन छप्पयों का संग्रह पाया जाता है।

[2] राजस्थान भारती (पत्रिका), भाग १, अंक, २-३, १९४६, में 'पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता पर पुनर्विचार' नामक लेख।

काव्यों के समान इसमें भी इतिहास और कल्पना का तथ्य तथा गल्प का मिश्रण है। सभी ऐतिहासिक मानी जानेवाली रचनाओं के समान, इसमें भी काव्यगत और कथानकप्रथित रूढ़ियों का सहारा लिया गया है[1]।'

द्विवेदी जी ने इससे भी आगे बढ़ कर पृथ्वीराजरासो के मूल रूप के विषय में कुछ कल्पनाओं का सहारा लिया है। उनके मत का सारांश यह है—

(१) पृथ्वीराजरासो गेय 'रासक' काव्यशैली में निबद्ध था।

(२) इसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण है।

(३) रासो भी कीर्तिलता की भाँति संवाद रूप में निबद्ध रहा होगा, यह संवाद कवि तथा कविप्रिया में तथा शुक शुकी में कल्पित किया गया है। साथ ही हो सकता है कि कीर्तिलता की तरह रासो में भी बीच बीच में वार्तापरक गद्य रहा हो।

(४) रासो में कई कथानक रूढ़ियों का व्यवहार हुआ है। द्विवेदी जी ने २०-२१ कथानक-रूढ़ियों की तालिका भी दी है।

(५) मूल रासो के प्रामाणिक अंशों में निम्नलिखित अंश माने जा सकते हैं—(१) आरंभिक अंश, (२) इंछिनी विवाह, (३) शशिव्रता का गंधर्व विवाह, (४) तोमल पाहार द्वारा शहाबुद्दीन का पकड़ना, (५) संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इंछिनी और संयोगिता की 'प्रतिद्वंद्विता और समझौता।' द्विवेदी जी ने बताया है कि इन अंशों की भाषा तथा शैली बताती है कि यहाँ कवित्व का सहज प्रवाह है तथा बेडौल और बेमेल ठूँस ठाँस नहीं है[2]।

इन्हीं काल्पनिक निष्कर्षों के आधार पर द्विवेदी जी ने रासो का एक संक्षिप्त संस्करण भी संपादित किया है[3] जो मूल रासो के स्वरूप का कुछ आभास देता माना जा सकता है।

पृथ्वीराजरासो अर्द्ध ऐतिहासिक चरित काव्य है। प्राचीन तथाकथित ऐतिहासिक संस्कृत चरितकाव्यों की भाँति 'रासो' भी शुद्ध ऐतिहासिक काव्य नहीं माना जाना चाहिए। हमने संस्कृत साहित्यवाले अध्याय में इस बात का संकेत किया था कि बाण का हर्षचरित, विह्लण का विक्रमांकदेवचरित तथा पद्मगुप्त का नवसाहसांकचरित एवं अन्य परवर्ती ऐतिहासिक काव्यों में तथ्यों की ओर कवि का ध्यान

[1] डा० द्विवेदी : हि० सा० आ०, पृ० ८६।
[2] वही, पृ० ४६–८६।
[3] डा० द्विवेदी द्वारा संपादित 'संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो', काशिका समिति, काशी, १९५२

कम रहा है। कवि तो कल्पना का पुजारी है, अतः उसने ऐतिहासिक व्यक्तित्व को भी कल्पना से अनुरंजित करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि तथ्यों की अपेक्षा वहाँ संभावनाओं का अधिक प्रयोग पाया जाता है। फलतः इन काव्यों में तथ्य तथा कल्पना का मिश्रण पाया जाता है। 'रासो' भी इसी तरह ऐतिहासिक अंश तथा कविकल्पित अंश की मिश्रित उत्पत्ति है। डा० द्विवेदी ने अपने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' के तृतीय व्याख्यान में इस बात को पूरी तरह सिद्ध किया है कि 'रासो' की परंपरा ठीक वही है, जो रुद्रट तथा हेमचंद्र के द्वारा 'कथा'—साहित्य की परंपरा बताई गई है[1]। संस्कृत तथा अपभ्रंश की कथा-आख्यायिका शैली में ही 'रासो' की रचना हुई है। 'रासो' की कथावस्तु की मिश्रित प्रकृति की दृष्टि से ही नहीं, अपितु इसके 'ढाँचे' की दृष्टि से भी यह कथा-शैली का ही परिचय देता है। द्विवेदी जी ने विस्तार से बताया है कि प्राचीन साहित्य की कथाएँ वक्तृ-श्रोतृ-पद्धति को लेकर लिखी जाती थीं। इस पद्धति का संकेत हमें बृहत्कथा, कादंबरी, पंचतंत्र आदि संस्कृत रोमानी एवं नीतिपरक दोनों ढंग की कथाओं में मिलता है। यहाँ तक कि इस पद्धति का ही एक दूसरा रूप दंडी के दशकुमार-चरित में देखा जा सकता है जहाँ पृथक् पृथक् कथाओं के वक्ता स्वयं तत्तत् कथा के भिन्न भिन्न नायक हैं। इस पद्धति का प्रयोग वैतालपंचविंशति तथा शुकसप्तति में किया गया है। 'रासो' भी इसी तरह की पद्धति में निबद्ध किया गया था। चंद के बाद विद्यापति ने कीर्तिलता की कहानी को भृंग भृंगी के संवाद रूप में निबद्ध किया था। रासो कवि तथा कविप्रिया एवं शुक तथा शुकी के संवाद के रूप में नियोजित किया गया है। द्विवेदी जी ने 'रासो' के कई समयों से उद्धरण देकर इस मत की पुष्टि की है, जहाँ शुक कथा का वक्ता तथा शुकी श्रोता के रूप पाई जाती है। इतना ही नहीं, संयोगिता के प्रसंग में तो शुक-शुकी कथा के केवल वक्ता या श्रोता नहीं रह जाते, बल्कि पद्मावत के हीरामन सुए की तरह पृथ्वीराज तथा संयोगिता की प्रेमोत्पत्ति में सक्रिय सहयोग देते दिखाई पड़ते। इसी आधार को लेकर द्विवेदी जी ने 'रासो' के उन्हीं स्थलों की प्रामाणिकता अनुमित की है जिनमें शुक शुकी के वक्तृ-श्रोतृत्व का संकेत मिलता है। वे स्पष्ट कहते हैं—'यह बात मेरे मन में समाई हुई है कि चंद का मूल ग्रंथ शुक-शुकी-संवाद के रूप में लिखा गया था और जितना अंश इस संवाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है[2]।' डा० द्विवेदी का यह मत केवल कल्पना कहकर उड़ा देने

[1] डा० द्विवेदी : हिं० सा० आ०, पृ० ६५।

[2] वही, पृ० ६३।

योग्य नहीं है, बल्कि रासो के अनुशीलन करनेवालों को एक महत्वपूर्ण दीपस्तंभ का काम दे सकता है।

इतना ही नहीं, द्विवेदी जी का मत एक और अभिनव विचार प्रकट करता है। अब तक हम रासो को वीररस-प्रधान काव्य समझते थे, जिसका अंगी रस वीर है, शृंगार केवल अंग रस के रूप में निबद्ध किया गया है। साथ ही रासो एक दुःखांत काव्य है। द्विवेदी जी के मत से इन धारणाओं में भी परिवर्तन करना होगा। वे इसे सुखांत काव्य मानते हैं तथा संयोगिताहरण के बाद की प्रेमलीला के साथ काव्य की सुखमय परिसमाप्ति मानते हैं[1]। इस तरह तो 'रासो' का अंगी रस शृंगार सिद्ध होता है और वीर रस अंग बन जाता है[2]। द्विवेदी जी ने इंछिनी, शशिव्रता तथा संयोगिता से संबद्ध प्रेमकथाओं को रासो का प्रामाणिक अंश माना है। रासो के प्रसिद्ध पद्मावती समय को वे स्पष्टतः प्रक्षिप्त अंश घोषित करते हैं तथा इसे १६वीं शती के बाद का प्रक्षेप मानते हैं[3]। रासो की कथा में कई कथानकरूढ़ियाँ पाई जाती हैं जिनका कुछ संकेत द्विवेदी जी ने किया है। इसकी प्रमुख कथानकरूढ़ि यह है कि शशिव्रता तथा संयोगिता दोनों को कवि ने मुनिशप्त अप्सराओं का अवतार माना है। शशिव्रता चित्ररथा अप्सरा का अवतार है, संयोगिता मंजुघोषा अप्सरा का। साथ ही कथानकरूढ़ियों के रूप में पृथ्वीराज तथा शशिव्रता का समागम कराने में एक गंधर्व सचेष्ट पाया जाता है जो हंस का रूप धारण कर दोनों के हृदय में प्रेमांकुर पल्लवित करता है। इसी तरह संयोगिता के साथ पृथ्वीराज का समागम कराने में शुक तथा शुकी व्यस्त देखे जाते हैं। पुरानी कथाओं की तरह ये भी मानव की भाषा बोलनेवाले पक्षी हैं।

'रासो' रसप्रवण अलंकृत काव्य है। संस्कृत तथा अपभ्रंश काव्यों की काव्यपरंपरा का चंद ने पूरी तरह प्रयोग किया है। शृंगार के विविध पात्रों का चित्रण, युद्ध की गंभीरता का आलेखन तथा अलंकारों की रेखाभंगी की योजना में चंद की तूलिका अतिपटु है। इससे भी बढ़कर बात यह है कि शब्दों को तोड़ मरोड़कर अपने भाव के अनुरूप नाद सौंदर्य की सृष्टि करने में चंद अपना सानी नहीं रखता। व्याकरण या भाषाशास्त्र की दृष्टि से चंद की भाषा भलेही अशुद्ध, कृत्रिम या विकृत घोषित की जाय, किंतु तत्तत् भाव का वहन करने में वह इतनी सशक्त है कि उस भाव की व्यंजना अन्य रीति से कराना असंभव जान पड़ता है।

[1] वही, पृ० ८८-८९।
[2] वही, पृ० ६७।
[3] वही, पृ० ७७।

इस दृष्टि से चंद का भाषा पर पूर्ण अधिकार माना जा सकता है। चंद की काव्य-कला की उदात्तता निम्नलिखित उदाहरणों से व्यक्त की जा सकती है :

कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर दोय पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुम्भय।
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोदंड संघ कंद्रप्प वयट्ठौ॥
अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जरयौ।
सुर भुवन छंडि कवि चंद कहि तिहि धौखै राजन परयौ॥

यहाँ संयोगिता के नखशिख का वर्णन है, जो शृंगार रस का आलंबन विभाव है। संयोगिता की गति (चरणों) से लेकर उसके केशपाश तक का, तत्तत् अंग का वर्णन अध्यवसायमूला अतिशयोक्ति के द्वारा किया गया है। यहाँ गति, कटि, कुच आदि उपमेयों का प्रयोग न कर चमत्कार सृष्टि के लिये कुंजर, सिंघ, पव्वय (पर्वत) आदि तत्तत् उपमानों का निगरणपरक प्रयोग किया गया है, अतः भेदे अभेदमूला अतिशयोक्ति (रूपकातिशयोक्ति) अलंकार पाया जाता है।

शृंगार रस के उद्दीपन के रूप में निम्नलिखित वसंतवर्णन उद्धृत किया जा सकता है :

मवरि अंब फुल्लिग कदंब रमनी विय दीसं।
भंवर भाव भुल्लै भमंत मकरंद बरीसं॥
बहत बात उज्जलति मौर अति बिरह अगिनि किय।
कुहु कुहंत कलकंठ पत्र-राषस अति अग्गिय।
पय लग्गि प्रानपति बीनवौं नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन-दिन अवद्धि जुब्बन घटय कंत वसंत न गम करहु॥

चंद के अधोलिखित युद्ध वर्णन को वीर रस के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया जा सकता है :

मचे हूकहूकं बहे सारधारं। चमक्कें चमक्कें करारं करारं॥
भभक्कै भभक्कै बहै रत्तधारं। सनक्कै सनक्कै बहै बानभारं॥
हबक्कै हबक्कै बहै सेल मेलं। कुकें कूक फूटी सुरत्तान ढालं॥
बकी जोगमाया सुरं अप्पयानं। बहै चट्ट-पट्टं उघट्टं उलट्टं॥
कुलट्ठा धरै अप्प-अप्पं डहट्ठं। दडक्कं बजे सेन सेना सुघट्टं॥

छंदःप्रयोग की दृष्टि से चंद अपने पूर्व की समस्त छंदःपरंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे एक ओर जहाँ श्लोक (अनुष्टुप्) तथा साटक (शार्दूलविक्रीडित), भुजंगप्रयात आदि वर्णिक वृत्तों के द्वारा संस्कृत की वर्णिक छंदःपरंपरा के वाहक हैं, वहाँ गाहा के द्वारा प्राकृत परंपरा को भी अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। इसके साथ ही

दोहा तथा पद्धरी का प्रयोग अपभ्रंश छंदःपरंपरा का संकेत करता है, तो रोला और उल्लाला के मिश्रण से बना छप्पय एक नई देशभाषा की छंदःपरंपरा का संकेत करता है। चंद प्रायः इन सभी छंदों के कुशल प्रयोक्ता हैं, पर जैसे कालिदास का अपना विशिष्ट छंद मंदाक्रांता रहा है, चंद की आत्मा छप्पय में ही पूर्णतः प्रतिबिंबित जान पड़ती है। क्या शृंगार, क्या वीर दोनों रसों में चद ने छप्पय का सफल प्रयोग किया है। चंद को इसीलिये 'छप्पयों का राजा' कहा जाता है। संभवतः रासो के मूलरूप में छप्पयों की संख्या सर्वाधिक रही होगी।

(८) **परमालरासो**—पृथ्वीराजरासो की भाँति ही जगनिक कवि रचित परमालरासो भी अर्धप्रामाणिक रचना है। सुना जाता है कि कालिंजर के राजा परमाल (परमर्दिदेव) के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट कवि थे। इन्हीं जगनिक ने महोबे के दो वीर युवकों–आल्हा तथा ऊदल–के चरित्र पर एक वीरकाव्य की रचना की थी। यह वीरगाथात्मक काव्य लोकगीत के रूप में प्रायः सारे उत्तरी भारत में लोकप्रिय हो गया। गाँवों में आज भी आल्हा समय समय पर वर्षा ऋतु में गाया जाता है। चार्ल्स इलियट ने लोकगीतों के आधार पर ही 'आल्हाखंड' का संग्रह प्रकाशित किया था। जगनिक के मूल ग्रंथ का क्या रूप था, यह कहना कठिन है। आचार्य शुक्ल ने तो इस काव्य को साहित्यिक प्रबंधपद्धति पर न लिखा मानते हुए कहा है : 'यदि यह ग्रंथ साहित्यिक प्रबंधपद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती'[१]। वस्तुतः आल्हा या परमालरासो की रचना गाने के लिये की गई थी। यह भी प्रश्न हो सकता है कि क्या जगनिक परमाल के समसामयिक (१२५० वि० सं०) थे तथा क्या यह उन्हीं की रचना है? यदि ऐसा है तो जगनिक का काव्य बहुत दिनों तक बुंदेलखंड से बाहर प्रचार न पा सका होगा। अन्यथा यह बहुत बाद की रचना है। अनुमान होता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी को इस काव्य का पता न था क्योंकि यदि उन्हें इस काव्यशैली का पता होता तो वे इस शैली में भी रामकथा अवश्य निबद्ध करते।

परमालरासो या आल्हा की भाषा मूलरूप में बैसवाड़ी मानी जा सकती है, क्योंकि इसका मूल केंद्र बैसवाड़ा ही है, वैसे गेय रूप में प्रचलित होने के कारण इसका कलेवर बदलता गया है। काव्य की भाषा तथा विषयवस्तु दोनों में परिवर्तन हो जाना असंभव नहीं है। इसमें कई ऐसे विदेशी शब्द भी मिलते हैं जैसे बंदूक, किरिच, फिरंगी आदि जो या तो बाद में इसकी भाषा में घुलमिल गए हैं, या

[१] आचार्य शुक्ल : हिं० सा० इ०, पृ० ५१।

इसके बाद की रचना होने का संकेत करते हैं। आल्हा की शैली अलंकृत या शुद्ध साहित्यिक नहीं कही जा सकती। इसमें 'वीर' छंद का प्रयोग हुआ है जो आल्हा छंद के नाम से भी प्रसिद्ध है।

(९-१०-११) **विद्यापति ठक्कुर तथा उनकी तीन कृतियाँ**—हिंदी साहित्य के आदिकाल में अकेले विद्यापति ठक्कुर ही ऐसे कवि हैं जिनके विषय में हमें पूरी जानकारी है तथा जिनकी कृतियाँ प्रामाणिक रूप में हमें उपलब्ध होती हैं। विद्यापति की पदावली की भाषा की प्रामाणिकता के विषय में चाहे संदेह हो, किंतु वे विद्यापति की ही रचना हैं, इस अंश में उनकी प्रामाणिकता क्षुण्ण नहीं होती। विद्यापति ठक्कुर मिथिला के बिसपी ग्राम के निवासी थे तथा हिंदी साहित्य के आदिकाल एवं भक्तिकाल की संधि में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्म विक्रम की १४वीं शती के अंतिम दिनों में हुआ था तथा विक्रम की १५वीं शती में इनकी साहित्यिक रचनाएँ पल्लवित हुई थीं। इस प्रकार यद्यपि इनका रचनाकाल मोटे तौर पर आदिकाल की सीमा (१००० वि० सं० १४०० वि० सं०) से बाहर जा पड़ा है, तथापि विद्यापति आदिकाल की उत्पत्ति हैं तथा आदिकालीन काव्यपरंपरा के लक्षण उनकी 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' में स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं, यह नहीं भूलना चाहिए। 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' विद्यापति ठक्कुर की अवहट्ट रचनाएँ हैं, पदावली उस काल की बोलचाल की देशभाषा में लिखे गए पदों का संग्रह। कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका दोनों ही कृतियों में विद्यापति ने अपने आश्रयदाता तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की वीरता, उदारता, गुणग्राहिता आदि का वर्णन किया है। इन दोनों ग्रंथों में अबतक केवल 'कीर्तिलता' ही प्रकाश में आई है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने विद्यापति की इन दोनों रचनाओं का संकेत किया था, किंतु 'कीर्तिलता' का सर्वप्रथम प्रकाशन म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल के राजकीय पुस्तकालय की एक प्रति के आधार पर किया। शास्त्री जी ने नेपाल पुस्तकालय में 'कीर्तिपताका' की एक हस्तलिखित प्रति के होने का भी उल्लेख किया है[1]। कीर्तिलता का एक संस्करण डा० बाबूराम सक्सेना के संपादन में वि० सं० १९८६ (१९२९ ई०) में नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ था जिसका द्वितीय संस्करण भी भाषानुवाद तथा भूमिकासहित वि० सं० २०१३ में निकल चुका है।

'कीर्तिलता' ऐतिहासिक चरितकाव्यों की शैली का काव्य है जो तत्कालीन साहित्यिक शैली में लिखा गया है। जैसा कि हम देखते हैं, उस काल की साहित्यिक

[1] म० म० हरप्रसाद शास्त्री : नेपाल दरबार लाइब्रेरी के तालपत्र तथा अन्य ग्रंथों का सूचीपत्र, १९०५ ई०।

शैली अपभ्रंशाभास से अत्यधिक प्रभावित थी। यही कारण है कि कीर्तिलता की शैली भी अपभ्रंशात्मक है। [illegible] होते हुए भी कीर्तिलता एक दृष्टि से अन्य तथाकथित ऐतिहासिक [illegible] मौलिक है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों या घटनाओं को विकृत नहीं किया गया है प्रत्युत काव्य के नायक कीर्तिसिंह का चरित स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है। इसके साथ ही उस काल के हिंदू मुसलमान, सामंत और साधारण नागरिक, सैनिकों आदि का वर्णन यथार्थ है। इसका कारण यह है कि कवि ने स्वयं देखे हुए वृत्त का ज्यों का त्यों वर्णन किया है। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवंत रूप है। इसलिये चरितकाव्य होते हुए भी कीर्तिलता मे वे कथानकरूढ़ियाँ बहुत कम पाई जाती हैं जो तत्कालीन अन्य चरितकाव्यों में प्रचुरता से भरी पड़ी हैं तथा उनमें तथ्य की अपेक्षा कल्पना की अतिरंजना का अधिक समावेश कर देती हैं।

विद्यापति ने अपनी रचना की भाषा को 'अवहट्ट' कहा है[1]। कीर्तिलता की भाषा पूर्वी अवहट्ट कही जा सकती है। यत्रतत्र इसमे पुरानी मैथिली के भी चिह्न पाए जाते हैं। कीर्तिलता की शैली बहुत कुछ वैसी ही है जैसी रासो की शैली रही होगी। आरंभ में भृंग और भृंगी के संवाद द्वारा कवि ने कीर्तिसिंह के चरित का गान किया है[2]। कीर्तिलता चार पल्लवों में विभक्त काव्य है। कवि ने प्रत्येक पल्लव के आरंभ में भृंगी के प्रश्न तथा भृंग के उत्तर का उपन्यास करते हुए कथा का निर्वाह किया है। कीर्तिलता का विषय बड़ा संक्षिप्त है। मलिक असलान नामक मुसलमान सामंत ने काव्य के नायक के पिता का वध कर तिरहुत पर अधिकार जमा लिया। कीर्तिसिंह तथा वीरसिंह असलान को दंड देने के लिये जौनपुर के बादशाह इब्राहिमशाह के पास गए। द्वितीय पल्लव में जौनपुर नगर की समृद्धि का वर्णन पाया जाता है। इसी पल्लव में जौनपुर के हिंदू मुसलमानों का रहन सहन भी वर्णित है। तृतीय पल्लव में दोनों भाई बादशाह के पास पहुँचते हैं। बादशाह प्रसन्न होकर असलान को दंड देने के लिये एक सेना कीर्तिसिंह तथा वीरसिंह के साथ कर देते हैं। चतुर्थ पल्लव में सेनाप्रयाण का वर्णन है। बादशाह की फौज असलान पर आक्रमण करने जाती है। युद्ध होता है और कीर्तिसिंह असलान का वध कर अपने पिता का बदला चुकाते हैं।

कीर्तिलता का काव्यसौंदर्य उदात्त है। इसका अंगीरस वीर है। किंतु

[1] सक्कअ वाणी बहुअ न भावइ। पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब सन मिट्ठा। तं तैसन जंपिअ अवहट्ठा॥ (प्रथम पल्लव)।

[2] भृंगी पुच्छइ भिंग सुन की संसारहि सार।
मानिनि जीवन मानओ वीर पुरुस अवतार॥ (प्रथम पल्लव)।

द्वितीय पल्लव के नगर वर्णन में वेश्याओं के बाजार का वर्णन करते समय शृंगार का आभास भी पाया जाता है। वेश्याओं का वर्णन कवि की रसिक प्रकृति का संकेत करता है तथा संस्कृत शृंगारी काव्यपरंपरा से प्रभावित है।

वेश्याओं का निम्नांकित गद्यमय वर्णन इसका प्रमाण है :

तन्हि केस कुसुम वस, मान्यजनक लज्जावलंबित मुखचंद्रचंद्रिका करी अधओगति देखि अंधकार हस। नयनांचल संचारो भूलता भंग, जनु कज्जलकल्लोलिनी करी वीचिविवर्त्त बड़ी बड़ी शफरी तरंग। अति सूक्ष्म सिंदूर रेखा निंदंते पाप, जनु पंचशर करो पहिल प्रताप। (द्वितीय पल्लव, पृ० ३६)।

नगर की सुंदरता तथा समृद्धि का एक वर्णन निम्नोक्त है :

चकवार साकम बोध पधरि नीक नीक निकेतना।
अति बहुत भाँति विवट्ट वट्टहिं भुलेओ बड्डेओ चेतना॥
सोपान तोरण यंत्र जोलन जाल जालओ षंडिआ।
धव धवल हरघर सहस पेक्खिअ कनक कलशहिं मंडिआ॥
(द्वितीय पल्लव, पृ० २६)

कीर्तिलता के चतुर्थ पल्लव में वीररस का सुंदर परिपाक पाया जाता है। सेना प्रयाण तथा युद्ध का वर्णन वीर तथा बीभत्स की व्यंजना करता है :

दुहुँ दिस पाखर ऊंट मोझ संग्राम भेट हो।
खग्गे खग्गे संचलिअ फुलुग उप्फलइ अग्गि को॥
अस्सवार असिधार तुरअ राउत सओ टुट्टइ।
वेल्लक वज्ज बिघात काअ कवयहु सओ फुट्टइ॥
अरि कुंजर पंजर सल्लि रह रुहिर धार गअ गगण भर।
रा कित्तिसिंह को कज्ज रसें बीरसिंह संगाम कर॥
(चतुर्थ पल्लव, पृ० १०४)

कीर्तिलता में विद्यापति ने दोहा, गीतिका, छप्पय, भुजंगप्रयात, रड्डा, आदि छंदों का प्रयोग किया है। इसके साथ ही वार्तापरक गद्य भी पाया जाता है। कीर्तिलता के गद्य पर संस्कृत गद्य की समासांत शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है।

विद्यापति की पदावली का विषय प्रमुखतः राधाकृष्ण की प्रेमलीला है। यद्यपि विद्यापति के शिव एवं देवी की भक्ति से संबद्ध पद भी मिलते हैं, तथापि वे संख्या में कम हैं। कुछ पद शिवसिंह के वर्णन में भी हैं। विद्यापति भक्त कवि हैं या शृंगारी कवि, इस संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद पाया जाता है। जहाँ तक विद्यापति के राधाकृष्ण-परक शृंगारी पदों का प्रश्न है, इनमें विद्यापति का

शृंगारी कवित्व ही झाँकता नजर आता है, भक्त कवित्व नहीं। जयदेव की भाँति विद्यापति भी कोरे शृंगारी कवि हैं तथा उन्हें सूर के समान कृष्णभक्त कवि मानना भ्रांति है। विद्यापति शिव के भक्त अवश्य थे किंतु उनका शिवभक्त रूप इस विषय में गौण है। जयदेव के गीतगोविंद से प्रभावित होकर ही विद्यापति ने राधाकृष्णपरक शृंगारी पदों की रचना की है। संभव है, राजदरबार का विलासी वातावरण भी इसमें सहायक हुआ हो। इस दृष्टि से विद्यापति को हम उस परंपरा का पहला कवि कह सकते हैं जो रीतिकाल में निरर्गल रूप में प्रवाहित हुई है। विद्यापति के शृंगारी पदों में कृष्ण एक उपपति के रूप में तथा राधा परकीया नायिका के रूप में चित्रित पाई जाती हैं। राधा का नखशिख वर्णन, सद्यःस्नाता का वर्णन आदि स्थलों में नायिका रूप आलंबन विभाव की सुंदर व्यंजना पाई जाती है। इसके अतिरिक्त दूती-संप्रेषण, मान, ईर्ष्या, मिलन तथा रतिक्रीड़ा आदि संयोग शृंगार के तत्तत् अंगों का भी सुंदर रसमय परिपाक देखा जाता है। विद्यापति भी जयदेव की भाँति मूलतः शृंगार के संयोग पक्ष के ही कवि हैं तथा यत्रतत्र जो विप्रलंभ शृंगार के पद मिलते हैं, उनमें विद्यापति का कवित्व इतना प्रौढ़ नहीं कहा जा सकता। विप्रलंभ शृंगार के वर्णन में विद्यापति ने प्रायः रूढ़ प्रणाली का ही अधिक आश्रय लिया है। शृंगार के उद्दीपन विभाव के रूप में विद्यापति ने वसंत, वर्षा आदि ऋतुओं का प्रकृतिवर्णन भी उपस्थित किया है किंतु वह भी परवर्ती संस्कृत काव्यों की रूढ़ प्रणाली का ही अनुसरण करता है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसीलिये विद्यापति के पदों की आलोचना करते समय कहा था कि विद्यापति के पदों में किसी नवीन मौलिकता का पता नहीं चलता। उन्होंने जयदेव की ही भाँति पुराने संस्कृत कवियों के भाव, कल्पना, अलंकार एवं रूढ़ियों को ज्यों का त्यों अपना लिया है। इतना होने पर भी विद्यापति के पदों में एक बहुत बड़ी विशेषता है। जिस तरह जयदेव ने काव्य और संगीत का समन्वय कर अपने काव्य को एक नई जान दे दी है, वैसे ही विद्यापति ने अपने पदों को तत्तत् रागरागिनी के आधार पर निबद्ध कर उनके लिये विशाल क्षेत्र खोल दिया है। विद्यापति के पदों की सबके बड़ी विशेषता यह है कि वे जनता की भाषा में लिखे गए हैं, परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा में नहीं। यही कारण है कि विद्यापति के पद मिथिला में आज भी लोकगीतों के रूप में प्रचलित हैं।

विद्यापति के पदों की रसप्रवणता तथा अलंकारगरिमा का संकेत निम्नलिखित पद से मिल सकता है:

> **आलसे अरुण लोचन तोर, अमिये मातल चंद चकोर ।।१।।**
> **निचल भौंहें न छे (अ) बिसराम, रण जीनि धनु तेजल (अनि) काम ।।२।।**
> **एरे राधे न कर लथा, उकुतिगुपुत वेकत कथा ।।३।।**

कुच सिरीफल सहज सिरी, केसु विकसित कनक गिरी ॥४॥
अलक बहल उवसु केस, हरि पलिछल कामे संदेस[1] ॥५॥

उपर्युक्त पद में रतिचिह्निता नायिका का वर्णन है। इसके साथ ही 'रणु'''काम' में उत्प्रेक्षा तथा 'कुच''गिरि' में उपमा अलंकार का चमत्कार पाया जाता है।

(१२) खुसरो—अमीर खुसरो प्रसिद्ध मुसलमान कवि एवं विद्वान् हो चुके हैं। ये अलाउद्दीन खिलजी के समसामयिक थे। इस तरह खुसरो का समय विक्रम की १४वीं शती का उत्तरार्ध माना जा सकता है। शुक्ल जी के मतानुसार इनका रचनाकाल वि० सं० १३४० से १३८१ तक रहा है। इनके कई दोहे, तुकबंदियाँ और पहेलियाँ मिलती हैं। इनकी रचनाओं में उस काल की दिल्ली की बोली का प्रयोग रहा होगा किंतु जिस रूप में वे आज उपलब्ध हैं, उनकी भाषा इतनी प्राचीन नहीं मानी जा सकती। साथ ही खुसरो के नाम से उपलब्ध कृतियों में कई कृतियाँ बाद की जान पड़ती हैं और आज यह कहना बहुत कठिन है कि इनमें खुसरो की वास्तविक कविताएँ कौन सी हैं। खुसरो की पहेलियों या तुकबंदियों के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं जिनसे स्पष्ट है कि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से खुसरो की इन कविताओं को उदात्त कोटि का नहीं माना जा सकता। खुसरो का वास्तविक लक्ष्य भी बोलचाल की भाषा में ही कुछ चुभती हुई विनोदपूर्ण सूक्तियों का निबंधन रहा होगा :

एक नार ने अचरज किया। साँप मारि पिंजड़े में दिया ॥
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए ॥
(दियाबत्ती)

खुसरो की भावात्मक कविताओं में अवश्य कुछ उदात्त काव्यत्व का आभास मिलता है :

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल। कैसे गर दीनी बकस मोरी माल ॥
सूनी सेज डरावन लागे। बिरहा-अगिन मोहि डस डस जाय ॥

इनके अतिरिक्त शुक्ल जी ने 'आदिकाल' में श्रीधर कवि के 'रणमल्लछंद' का भी उल्लेख किया है जो संवत् १४५४ की रचना है। इस दृष्टि से इस काव्य का समावेश आदिकाल (१०००-१४०० वि० सं०) के अंतर्गत करना अनुचित होगा।

[1] डा० सुभद्र झा द्वारा संपादित विद्यापति पदावली, पद सं० १६०, पृ० १६० ।

ऊपर हमने उन बारह कृतियों का पर्यालोचन किया जिनके आधार पर आचार्य शुक्ल ने अपने वीरगाथाकाल का प्रासाद खड़ा किया है। हम देख चुके हैं कि इनमें से केवल विद्यापति की कृतियों को छोड़कर बाकी सभी कृतियाँ अप्रामाणिक या अर्द्धप्रामाणिक हैं। इन कृतियों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का प्रश्न हिंदी साहित्य के इतिहास के लिये एक समस्या बना हुआ है। संभवतः इसीलिये डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी को झुँझलाकर यह कहना पड़ा था कि 'इस प्रकार साहित्यिक कोटि में आनेवाले ये ग्रंथ बहुत संदिग्ध हैं। कुछ तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं, कुछ के अस्तित्व का ही ठिकाना नहीं और कुछ का अस्तित्व केवल अनुमान से मान लिया गया है। आदिकाल के इतिहास-लेखकों ने इन ग्रंथों की ऐतिहासिकता के पक्ष-विपक्ष में बहुत सी व्यर्थ की दलीलें पेश की हैं जो निरर्थक ही नहीं हैं साहित्य के विद्यार्थी के ऊपर बोझ के समान हैं और शुद्ध साहित्यिक आलोचना की गति को रुद्ध करने का कार्य करती हैं'।[1]

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं इन कृतियों से इतर कई कृतियाँ ऐसी हैं, जो इस काल की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जानी चाहिएँ। इन कृतियों में एक ओर जैन कवियों के चर्चरी, रास तथा फाग काव्य हैं, दूसरी ओर प्राकृतपैंगलम् के फुटकर मुक्तक पद्य। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कृतियाँ हैं जो भाषा की दृष्टि से चाहे प्रामाणिक न भी हों, विषय की दृष्टि से निःसंदेह प्रामाणिक हैं। इनमें एक ओर ढोला मारू रा दोहा की शृंगारी काव्यपरंपरा है, दूसरी ओर नाथसिद्धों की काव्यपरंपरा। इनके अतिरिक्त प्रारंभिक हिंदी के गद्य का स्वरूप जानने के लिये हम उक्तिव्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर तथा श्री अगरचंद नाहटा द्वारा संकेतित जैन लेखकों के गद्य को ले सकते हैं।

५. जैन काव्य

हिंदी साहित्य के आदिकाल की कई जैन काव्यकृतियाँ क्रमशः प्रकाश में आती जा रही हैं। यद्यपि ये कृतियाँ जैन धर्मोपदेश की प्रवृत्ति से संवलित हैं तथापि यह तथ्य इनके काव्यत्व को क्षुएण नहीं करता। इस काल में दो प्रकार की जैन काव्यकृतियाँ पाई जाती हैं—कुछ ऐसी हैं जो परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखी गई हैं और अन्य ऐसी जिनमें यद्यपि अपभ्रंशाभास पाया जाता है तथापि कवि ने देश-भाषा के समीप की काव्यशैली अपनाई है। इस काल में लिखे गए पुराणों एवं चरितकाव्यों की शैली प्रायः शुद्ध परिनिष्ठित अपभ्रंश है; किंतु चर्चरी, रास तथा फागु काव्यों की भाषा में इस परिनिष्ठितता की पाबंदी नहीं पाई जाती। इसका कारण

[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हि० सा०, पृ० ५५-५६।

यह जान पड़ता है कि जैन मंदिरों या उपासकों में श्रावकों के गाने के लिये जिन काव्यों का निर्बंधन किया जाता था उनकी भाषा यथासंभव जनता की भाषा के समीप रखी जाती थी। यह दूसरी बात है कि पद्यबद्ध होने के कारण उसमें कृत्रिमता का आ जाना स्वाभाविक था। चर्चरी, रास तथा फागु काव्य श्रावकों के गाने के लिये ही निबद्ध किए जाते थे। ये जैन काव्य पश्चिमी अवहट्ट में लिखे गए हैं तथा हिंदी, राजस्थानी एवं गुजराती तीनों भाषाओं के आदि रूप की कृतियाँ कहे जा सकते हैं। इन कृतियों को हम अपभ्रंश तथा हिंदी की संधिगत कृतियाँ कह सकते हैं। यही कारण है कि इनका समावेश जहाँ एक ओर अपभ्रंश के साहित्य में किया जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर ये प्रारंभिक हिंदी की कृतियाँ भी मानी जा सकती हैं। इनमें प्राचीनतम काव्य शालिभद्र सूरि का बाहुबलिरास है, जिसका संकेत हम अपभ्रंशवाले अध्याय के अंतिम अंश में कर चुके हैं। रास काव्यों की परंपरा के प्रतिनिधि रूप में हम कई अप्रकाशित रास काव्यों का नाम ले सकते हैं, यथा, जंबुस्वामिरास (रचनाकाल वि० सं० १२६६), रेवंतगिरिरास (वि० सं० १२८८), कछूलीरास (वि० सं० १३६३), गौतमरास (वि० सं० १४१२) आदि। इन रास काव्यों की भाषा प्रारंभिक हिंदी है। उदाहरण के लिये जंबुस्वामिरास का निम्नलिखित पद्य देखिए :

जंबुदीव भरह खित्ति तिहिं नयर पहाणउ।
राजगृह नामेण नयर पहुवि बक्खाणउ॥
राज करइ सेणिय नरिंद नरवरहं जु सारो।
तासु तणइ पुत्त बुद्धिमंत मंति अभयकुमारो॥

रास काव्यों में जैन पुराणों या चरितकाव्यों की किसी कथा को आधार बनाया जाता है। इन्हें हम प्रबंध काव्य भी कह सकते हैं। रास काव्यों के अतिरिक्त प्रबंध काव्यों में चरित्र तथा संधि नामक कृतियाँ भी मिलती हैं। चरितकाव्यों में अधिकतर त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों में से किसी उदात्त पुरुष का या किसी अन्य जैन महापुरुष, गुरु आदि का चरित वर्णित किया जाता है। संधिकाव्यों में अन्य प्रकार की कथा होती है जिसका लक्ष्य किसी धार्मिक सिद्धांत का उपदेश देना होता है। चरित्र-संधि-काव्यों तथा रास-फागु-काव्यों में शैलीगत भेद स्पष्ट है। एक तो चरित्र-संधि-काव्य पाठ्य काव्य जान पड़ते हैं और रास-फागु-काव्य गेय हैं। यह भी संभव है कि रास काव्यों में आरंभ में 'रासक' छंद का प्रचुर प्रयोग होता हो, धीरे धीरे अन्य छंद भी चल पड़े हों और बाद में 'रासक' छंद का प्रयोग भी गौण हो गया हो। दूसरे इनमें भाषागत भेद भी जान पड़ता है जो तत्कालीन दोनों प्रकार की रचनाओं की तुलना से व्यक्त हो सकता है। इस काल के जैन चरितकाव्यों में पउमसिरिचरिउ (रचनाकाल संभवतः ११०० वि० सं०),

जंबुचरित्र (१२६६ वि० सं०), सुकोशलचरित्र (१३०२ वि० सं०), वयरस्वामिचरित्र (१३१६ वि० सं०), गौतमस्वामिचरित्र (१३५८ वि० सं०) का पता चलता है। संधिकाव्यों में मदनरेखासंधि (वि० सं० १२६७) तथा नर्मदासुंदरीसंधि (१३२८ वि० सं०) का पता चलता है। रास-फागु-काव्यों की अपेक्षा इनकी शैली किस प्रकार परिनिष्ठित अपभ्रंश की ओर पीछे देखती है, इसका प्रमाण इन उद्धरणों के रूप में दिया जा सकता है जो उपरिनिर्दिष्ट जंबुस्वामिरास के भी बाद की रचनाएँ हैं :

तेरहुरुत्तरवरिसे सिरिवीरजिणिंदमोक्खकल्लाणे ।
कल्लाणं कुणइ सया पढंत गुणंताण भव्वाण ।।
(सुकोशलचरित्र)

सोहग्गमहानिहिणो सिरिवयरसामिणो चरियं ।
तेरहसोलुत्तरए रइयं सुहकारणं जयउ ।।
(वयरस्वामिचरित्र)

बारहसत्ताणउए वरिसे आसो असुद्धछट्ठीए ।
सिरिसंघपत्थणाए एवं लिहियं सुयामिहियं ।।
(मदनरेखासंधि)

तेरसय अडवीसे वरिसे सिरिजिणपहुपसाएण ।
एसा संधी विहिया जिणिंदवयणाणुसारेण ।।
(नर्मदासुंदरीसंधि)

इस भाषाशैली का विवेचन करने से पता चलता है कि ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक दोनों दृष्टियों से यह भाषा विक्रम की १३वीं-१४वीं शती की नहीं बल्कि परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जबकि रास या फागु काव्यों की भाषा इससे कहीं विकसित भाषा मालूम होती है।

इस काल की फागु-काव्य-कृतियों में दो कृतियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं— जिनपद्मसूरि कृत[१] थूलिभद्दफागु (१२५७ वि०) तथा राजशेखरसूरिकृत नेमिनाथ-फागु (१३७० वि० सं०)। संभवतः इनके अतिरिक्त और फागु-काव्यों की रचना भी हुई होगी। थूलिभद्दफागु अबतक प्राप्त फागु काव्यों में सबसे प्राचीन है, वैसे इससे भी लगभग ५० वर्ष प्राचीन एक और फागु काव्य की प्रति जैसलमेर के

[१] थूलिभद्दफागु का रचनाकाल राहुल जी के मतानुसार १२०० ई० (१२५७ वि० सं०) के लगभग है जबकि अगरचंद शर्मा ने इसे १४वीं शती के उत्तरार्ध की रचना माना है। दे०—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५६, अंक १, में शर्मा जी का लेख—सिरिथूलिभद्द फागु पर्यालोचन।

जैन भांडार में बताई जाती है जिसका नाम है 'जिनचंद्रसूरिफाग'। फाग काव्यों की परंपरा संस्कृत में नहीं मिलती और इनका प्रचलन सबसे पहले हिंदी के आदिकाल में ही हुआ है। ऐसा जान पड़ता है, वसंत ऋतु में गाए जानेवाले लोक-गीतों से इन काव्यों की रचनाशैली को प्रेरणा मिली है, ठीक वैसे ही जैसे रास काव्यों को लोकनृत्यमिश्रित लोकगीतों से प्रेरणा मिली जान पड़ती है। इतना ही नहीं, फागु काव्य की एक और विशेषता है जो उसके काव्यमय रूप में पाई जाती है। यह है फागु काव्य में अलंकृत शैली का प्रयोग। फागु काव्य वस्तुतः अनुप्रास तथा यमकबंध वाली शैली में निबद्ध पाए जाते हैं, किंतु यह विशेषता फागुकाव्य का लक्षण नहीं है। हम देखते हैं कि थूलिभद्दफागु तथा नेमिनाथफागु में इस अनु-प्रास-यमक-बंध का मोह नहीं पाया जाता। वस्तुतः फागु काव्यों में वसंतवर्णन की प्रधानता होती है। 'उनमें किसी कथा का आश्रय लेने के कारण प्रबंधात्मकता भी होती है। ये काव्य वस्तुतः खंड काव्य की कोटि के इतिवृत्तात्मक गेय काव्य कहे जा सकते हैं। जिस तरह संस्कृत काव्य सर्गों में विभक्त होते हैं तथा अपभ्रंश काव्य संधियों में वैसे ही कई फागु काव्यों का विभाजन 'भासों' में पाया जाता है। किंतु भासों का होना आवश्यक नहीं है। थूलिभद्दुफागु ७ भासों में निबद्ध है तो नेमिनाथफागु में ऐसा विभाजन नहीं पाया जाता।

थूलिभद्दफागु में मुनि स्थूलभद्र (थूलिभद्द) की चारित्रिक उदात्तता की कथा वर्णित है कि किस प्रकार कोशा वेश्या उन्हें वश में करने के लिये अनेक प्रयत्न करती है, पर वे अटल रहते हैं। इस प्रकार शृंगार, नखशिखवर्णन, उद्दीपक-प्रकृति-वर्णन के परिपार्श्व को लेकर ब्रह्मचर्य तथा चारित्रिक संयम की विजयपताका फहराना ही हरिभद्रसूरि का लक्ष्य है। काव्य का समस्त शृंगारवर्णन शांत रस में पर्यवसित हो जाता है। काव्य में कोशा वेश्या के नखशिख का वर्णन मनोहर बन पड़ा है :

> मयण-खग्ग जिम लहलहंत जसु वेणीदंडो।
> सरलउ तरलउ श्यामलउ रोमावलिदंडो ॥
> तुंग पयोहर उल्लसइ सिंगार थवक्का।
> कुसुमबाणि निय अमिय-कुंभ किरथापणि मुक्का ॥
> काजल अंजिवि नयणजुय, सिरि संथउ फाडेई।
> बोरियावडि कंचुलिय पुण उरमंडलि ताडेई ॥ (४।१०)

(कोशा की काली वेणी कामदेव के श्याम खड्‌ग की तरह लहलहा रही थी। उसकी सरल तरल श्यामल रोमावलि सुशोभित हो रही थी। उत्तुंग पयोधर ऐसे उल्लसित हो रहे थे जैसे शृंगार (रूपी पुष्पों) के स्तवक हों अथवा मानो कामदेव ने अपने अमृत के दो घड़ों को रख दिया हो। दोनों नेत्रों में काजल आँजकर,

सिर में माँग निकालकर, ललाट में बोरिया तथा पट्टी (राखडी तथा पट्टी) देकर उसने वक्षःस्थल में कंचुकी धारण की।)

इस पद्यांश में शृंगाररस के आलंबन विभाव का सुंदर वर्णन किया गया है। वेणी को कामदेव के खड्ग के समान बताकर उपमा तथा तुंग पयोधरों को कामदेव के अमृतकुंभ बताकर उत्प्रेक्षा अलंकार की रुचिर योजना की गई है। थूलिभद्दफागु का प्रकृतिवर्णन सुंदर है तथा नादसौंदर्य का वहन करता है। शृंगार की उद्दीपक प्रकृति के रूप में निम्नोक्त वर्षावर्णन को उपन्यस्त किया जा सकता है :

झिरमिर झिरमिर झिरमिर ए मेहा वरिसंति।
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंति।
झबझब झबझब झबझब ए बीजुलिय झबक्कइ।
थरहर थरहर थरहर ए, विरहिणि मन कंपइ।
महुर गंभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजंते।
पंच बाण नियकुसुमबाण तिम तिम साजंते।
जिम जिम केतकि महमहंत परिमल विहसावइ।
तिम तिम कामिय चरण लागि निज रमणि मनावइ॥ (४।६-७)

(ये बादल झिरमिर झिरमिर बरस रहे हैं। ये नाले खलखल शब्द करते बह रहे हैं। बिजली झबझब झबझब चमक रही है और विरहिणी का मन थरहर थरहर काँप रहा है। ज्यों ज्यों बादल मधुर गंभीर स्वर में गर्जना करता है, त्यों त्यों कामदेव अपने बाणों को सजा रहा है। ज्यों ज्यों केतकी विकसित होकर अपनी सुगंध को दिग्दिगंत में फैलाती है त्यों त्यों कामी जन अपनी रमणियों के चरणों में गिर-गिरकर उन्हें मना रहे हैं।)

राजशेखरसूरिकृत नेमिनाथफागु भी काव्यसौंदर्य की दृष्टि से मनोहर काव्य है। इसमें नेमिनाथ तथा राजमती की कथा निबद्ध है। काव्य में राजमती के नखशिख वर्णन तथा *शृंगार सजा* का रुचिर उपन्यास किया गया है, साथ ही उत्तरार्ध में राजमती का विरहवर्णन भी अत्यधिक मार्मिक है। इस काव्य का शृंगार भी शांत रस में ही पर्यवसित होकर तीर्थंकर नेमिनाथ की चारित्रिक निष्ठा तथा संयम की व्यंजना में सहायक होता है। काव्य की शैली का संकेत राजमती की *शृंगार-सजा* के निम्नलिखित वर्णन से दिया जा सकता है :

तरलिय कज्जल रेह नयणि मुंहकमलि तंबोलो।
नागोदर कंठलउ कंठ अनुहार विरोलो।
मरगद आदर कंचुयउ फुड फुल्लह माला।
करहीं कंकण-मणिवलय चूड खडकावइ बाला॥

रुणुझुणु रुणुझुणु रुणझुणु एं कडि घाघरियाली।
रिमझिमि रिमझिमि रिमझिम एं पय नेउर जुयाली॥
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुअ-किमिसि।
अंखडियाली रायमई प्रिउ जोअइ मनरसि॥

(उसने आँखों में कज्जल की रेखा दी और मुख में तांबूल लिया, उसके कंठ में तदनुरूप नागोदर कंठुला (हार) सुशोभित हो रहा था। रेशमी जरी के वस्त्र तथा कंचुकी पहन, फूलों की माला धारण कर वह बाला राजमती हाथों में मणि के कड़े, कंकण तथा चूड़े को खड़का रही थी। उसकी कमर में करधनी झण-झणायित हो रही थी तथा दोनों पैरों में नूपुर झंकृत हो रहे थे। उसके नखों की श्वेत कांति से मिश्रित आलक्तक जगमगा रहा था। इस प्रकार सज-धजकर राजमती मन में रस लिए (अनुरागपूर्वक) आँखों से अपने प्रिय की बाट देख रही थी।)

फागु काव्यों की परंपरा बाद में भी चलती रही है तथा हमें बाद की कृतियों में हलराजकृत स्थूलिभद्रफाग (१४०६ वि०), राजकृत तक विरह-देसातुरी-फाग-वसंत तथा राजहर्षकृत नेमिफाग (विक्रम की १७वीं शती) का पता चलता है। यह परंपरा गुजराती के प्राचीन साहित्य में पाई जाती है। रास काव्यों की परंपरा भी गुजराती में अक्षुण्ण बनी रही है तथा १४०० वि० सं० के बाद की कई रासकृतियाँ गुजराती में पाई जाती हैं; यथा, गौतमरास, विद्याविलासरास, दशार्णभद्ररास, वस्तुपाल-तेजपालरास, श्रेणिकरास, पेथडुरास, संघपति-समरसिंहरास, सागरदत्तरास, आदि। रास काव्यों की यह परंपरा ही हिंदी की आदिकालीन कृति बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो, परमालरासो में मानी जा सकती है, इसका संकेत हम आगे 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते समय करेंगे।

६. मुक्तक कविताएँ

प्रारंभिक हिंदी की मुक्तक कविताओं का एक संकलन हमें प्राकृतपैंगलम् में मिलता है। इसमें जज्जल, बब्बर, विद्याधर, हरिब्रह्म आदि कवियों की रचनाएँ हैं। इनमें कई पद्यों में रचयिता का नाम मिलता है, कई में नहीं। ये दूसरी कोटि की रचनाएँ किनकी हैं, यह कहना कठिन है, इनमें से कई को राहुल जी ने उपर्युक्त चार कवियों की ही मानकर संकलित किया है। कालक्रम की दृष्टि से इनमें बब्बर सबसे पुराने हैं जो कलचुरिनरेश कर्ण के राजकवि (११०७ वि० सं० के लगभग) थे। बब्बर के नाम से कुछ पद्य प्राकृतपैंगलम् में हैं, यथा :

चक गुज्जर कुंजर तेज्जि मही। तुअ बब्बर जीवण अज्जु णही।
जइ कुप्पिअ कण्ण-णरेंदवरा। रण को हरि को हर वज्जहरा॥

(हे गुर्जरेश, हाथी को छोड़कर जमीन पर भग, आज तेरा जीवन नहीं है।

यदि राजा कर्ण कुपित हो जाय तो युद्ध में विष्णु कौन हैं, शिव तथा इंद्र भी कौन हैं ?)

इनके बाद कालक्रम की दृष्टि से विद्याधर आते हैं जो काशीनरेश जयचंद गहड़वाल (१२५० वि०) के महामंत्री थे। इनकी कई फुटकर कविताएँ भी वहीं पाई जाती हैं। निम्नलिखित पद्य मुख्य है, जिसमें विद्याधर ने काशिराज की प्रशंसा की है :

> भअ भंजिअ वंगा भग्गु कलिंगा, तेलंगा रण मुक्कि चले ।
> मरहट्ठा ढिट्ठा लग्गिय कट्ठा, सोरट्ठा भअ पाअ पले ।।
> चंपारण कंपा पव्वअ झंपा, ओत्था ओत्थी जीवहरे ।
> कासीसर राआ किअउ पआणा, विज्जाहर भण मंतिवरे ।।

(विद्याधर मंत्रिवर कहते हैं कि जब काशीश्वर ने युद्ध के लिये प्रस्थान किया तो बंगाल का राजा भय से आतंकित हो गया, कलिंगराज भग गया, तैलंगराज युद्ध छोड़कर चला गया, मरहठे कष्ट से युक्त दिखाई देने लगे, सोरठ (गुजरात) के राजा भय से पैरों पर गिर पड़े, चंपारन का राजा काँपने लगा तथा पर्वत में जा छिपा।)

इनके अतिरिक्त अन्य कवियों की भी रचनाएँ प्राकृतपैंगलम् में संगृहीत हैं। विषय की दृष्टि से 'प्राकृतपैंगलम्' में संगृहीत मुक्तक कविताएँ सर्वप्रथम दो तरह की मानी जा सकती हैं—भक्तिमय स्तुतियाँ, तथा इतर। स्तुतिपरक मुक्तकों में विष्णु, शिव, शक्ति तथा दशावतार की स्तुतियाँ हैं। इतर मुक्तकों में एक ओर अधिक संख्या राजप्रशस्तिपरक मुक्तकों की है, दूसरी ओर शृंगारमय मुक्तकों की जिनके अंगरूप में ही ऋतुवर्णन से संबद्ध मुक्तक पद्यों को लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ नीतिपरक सूक्तिमुक्तक भी पाए जाते हैं। वर्णनशैली की दृष्टि से इनपर संस्कृत साहित्य के स्तोत्रकाव्य, राजप्रशस्तिकाव्य तथा शृंगारी एवं नीतिसंबंधी मुक्तकों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इसी काल की रचना 'ढोला मारू रा दोहा' नामक प्रसिद्ध प्रेमगाथात्मक लोकगीत है। यद्यपि इसकी भाषा लोकगीत के रूप में प्रचलित होने के कारण परिवर्तित रूप में मिलती है तथापि यह विषयवस्तु की दृष्टि से हिंदी साहित्य के आदिकाल की रचना है। इसका रचनाकाल विक्रम की १३वीं-१४वीं शती माना जा सकता है। ढोला मारू रा दोहा प्रेमगाथा होते हुए भी मुक्तक काव्य के विशेष समीप है तथा मूलतः ढोला द्वारा परित्यक्त मारवणी का विरहगीत है। ढोला तथा मारवणी से संबद्ध इस विरहगीत में कई कथाओं को ऊपर से जोड़कर इसे प्रबंध काव्य का रूप देने की कई परवर्ती लेखकों ने चेष्टा की है। इस प्रकार का प्रथम प्रयत्न जैसलमेर-निवासी वाचक कुशललाभ

द्वारा १७वीं शती के पूर्वार्ध में किया गया था। कुशललाभ ने चौपाइयों में आख्यान का निबंधन कर 'ढोला मारू दोहा' को बीच बीच में ऐसा सजा दिया है कि वह एक प्रबंध काव्य बन गया है। 'ढोला मारू' से संबद्ध दोहे राजस्थान तथा पश्चिमी प्रदेश में विशेष प्रचलित रहे होंगे। कबीर की साखियों में कई दोहे 'ढोला मारू' से संबद्ध दोहों के ही उलथे जान पड़ते हैं[1]। लोकगीतों की शैली में निबद्ध होने के कारण 'ढोला मारू रा दोहा' सरल होते हुए भी अत्यधिक मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक है। मारवणी के विरह से संबद्ध दोहे अत्यधिक भावगर्भित हैं। इनके अतिरिक्त ऋतुवर्णन, विशेषतः पावस का वर्णन, नखशिखवर्णन तथा संयोग के चित्र भी सुंदर बन पड़े हैं। 'ढोला मारू रा दोहा' की कलात्मकता का दिङ्मात्र संकेत निम्नांकित दोहों से मिल सकता है:

जिणि देसे सज्जण वसइ तिणि दिसि वज्जइ वाउ।
उआं लगे मो लग्गसी, ऊही लाख पसाउ॥ (७४)
बीजुलियाँ चहला रहलि आभइ आभइ च्यारि।
कद रे मिलउं ली सज्जना लांबी बाँह पसारि॥ (४५)
पावस मास, विदेस प्रिय, घरि तरुणी कुल सुध्ध।
सारंग सिखर निसइ करि मरइस कोमलमुध्ध॥ (१७४)

नखशिख वर्णन तथा संयोग शृंगार का एक नमूना यह है:

गति गयंद, जंघ केलि ग्रभ, केहरि जिम कहि लंक।
हीर डसण, विद्रम अधर, मारू भ्रकुटि मयंक॥ (४५४)
कंठ विलग्गी मारुवी करि कंचूवा दूर।
चकवी मनि आणंद हुवउ, किरण पसारया सूर॥ (५५१)

यहाँ ढोला जैसे लोकगीत में अलंकारों का रमणीय विधान देखा जा सकता है। प्रथम पद्य में परंपरागत उपमानों का प्रयोग कर मारवणी के तत्तत् अंग के सौंदर्य की व्यंजना की गई है। प्रथम पद्य में उपमालंकार है। द्वितीय पद्य में प्रतिवस्तूपमा का चमत्कार पाया जाता है, जहाँ मारवणी तथा चकवी के 'आनंदित होने' रूप समान धर्म का पृथक् पृथक् वाक्यों में उपादान किया गया है।

७. नाथपंथी साहित्य

इस काल की कई नाथपंथी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। स्वयं गोरखनाथ के ही नाम से ४० पुस्तकें प्रचलित हैं जिनका संकेत डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने

[1] ढोला मारू रा दोहा, भूमिका, पृ० १३२-१३४, ना० प्र० सभा, सं० २०११।

किया है। इस काल के नाथसिद्धों के साहित्य में प्राचीनतम साहित्यिक व्यक्तित्व गोरखनाथ का है। गोरखनाथ के काल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। ये मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य थे। राहुल जी के मतानुसार इनका समय वि० सं० ६०२ (८४५ ई०) के आसपास माना जा सकता है। इस प्रकार गोरखनाथ विक्रम की १०वीं शती में रहे होंगे[१]। आचार्य शुक्ल को राहुल जी के मत में संदेह है तथा वे स्पष्ट कहते हैं : 'अतः गोरखनाथ का समय निश्चित रूप से विक्रम की १०वीं शताब्दी मानते नहीं बनता[२]।' आचार्य शुक्ल संभवतः गोरखनाथ को विक्रम की १३वीं शती में मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का समय विक्रम की ११वीं शती मानते हैं[३]। द्विवेदी जी गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं के विषय में यह मत प्रकट करते हैं कि चाहे ये कृतियाँ ठीक इसी रूप में उस समय की न हों, परंतु इनमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ११वीं शती ही में हुआ हो[४]।

नाथपंथ की सैद्धांतिक मान्यताओं का संकेत करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। हमें यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि अपभ्रंश साहित्य में बौद्ध सिद्धों की जो साहित्यिक परंपरा पाई जाती है उसी की क्रमिक धारा नाथपंथी सिद्धों का साहित्य है। इनके साहित्य में जहाँ एक ओर उलटवाँसियों की शैली में रहस्यात्मक साधना की व्यंजना पाई जाती है, वहाँ दूसरी ओर साधारण जनता की बोली में पंडितों का पाखंड, ढोंग, जातिप्रथा, रूढ़िवादिता आदि की कटु आलोचना भी है। गोरखनाथ की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं जो विषय की दृष्टि से आदिकालीन हिंदी सिद्धकाव्य का संकेत करते हैं। जहाँ तक इनकी भाषा का प्रश्न है, वह इस रूप में तो १५वीं शती से पुरानी नहीं जान पड़ती।

(१) सिष्टि-उतपती बेली प्रकास, मूल न थी, चढ़ी आकास।
ऊरध गौद कियो विसतर, जाणनै जोसी करै बिचार ॥ (११९।१)

(२) दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा सुरति लुकाइबा कानं।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निर्वानं ॥ (२७।७५)

(३) अबूझि बूझि लै हो पंडिता अकथ कथिलै कहाणी।
सीस नवावत सतगुरु मिलिया जागत रैण विहाणी ॥ (७२।२२२)

[१] राहुल : हिंदी काव्यधारा, पृ० १५६।
[२] आचार्य शुक्ल : हिं० सा० इ०, पृ० १४।
[३] डा० द्विवेदी : ना० सं०, पृ० १०२।
[४] वही, पृ० १०२।

गोरखनाथ की रचनाओं का एक संग्रह डा० बड़थ्वाल ने हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग से सं० १९९६ में प्रकाशित किया था। डा० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ की 'सबदी' को सबसे अधिक प्रामाणिक रचना माना है। गोरखनाथ की एक अन्य रचना 'गोरखबोध' भी विशेष प्रसिद्ध है तथा अधिक परिचित ग्रंथ है। गोरखनाथ के नाम से उपलब्ध ४० हिंदी रचनाओं में डा० बड़थ्वाल ने १४ रचनाओं को निःसंदेह प्राचीन माना है। नाथ साधुओं की परंपरा से हमें गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य प्राचीन नाथसिद्धों की फुटकर रचनाओं का भी पता चलता है। इनकी प्रामाणिकता के विषय में भी निश्चयपूर्वक कोई बात कहना असंभव है। कबीर से पूर्व के इन नाथसिद्धों में जिनकी रचनाओं का पता चलता है, उल्लेखनीय व्यक्तित्व ये हैं—चौरंगीनाथ, गोपीचंद, चुणकरनाथ, भरथरी तथा जलंध्रीपाव। नाथसिद्धों के इन फुटकर पद्यों का संग्रह डा० द्विवेदी के संपादकत्व में 'नाथसिद्धों की बानी' के नाम से प्रकाशित हो रहा है।

जहाँ तक नाथसिद्धों की इन कृतियों की साहित्यिक महत्ता का प्रश्न है, शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य के आदिकाल में इनका संग्रह करने में अरुचि दिखाई है। वे कहते हैं : 'उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते[1]।' डा० द्विवेदी ने इन रचनाओं को महत्वपूर्ण बताया है। वे कहते हैं : 'इस काल में साहित्यिक क्षेत्र को यथासंभव व्यापक बनाकर देखना चाहिए। यहाँ तक कि इस काल में उत्पन्न महात्माओं और कवियों के नाम पर चलनेवाली और परवर्ती काल में निरंतर प्रक्षेप से स्फीत होती रहनेवाली पुस्तकों का भी यदि धैर्यपूर्वक परीक्षण किया जाय तो कुछ न कुछ उपयोगी बात अवश्य हाथ लगेगी।...'इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी न किसी महत्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की संभावना होती ही है।'[2]

८. हिंदी गद्य का उन्मेष

हिंदी साहित्य का सर्वेक्षण करने पर हमें पता चलता है कि हिंदी गद्य-साहित्य का विकास बहुत बाद की घटना है। आधुनिक काल के पूर्व जो कुछ

[1] आचार्य शुक्ल : हिं० सा० इ०, पृ० २१।

[2] डा० द्विवेदी : हिं० सा० आ०, पृ० २४–२५।

गद्यरूप का पता चलता है, वह ब्रजभाषा का वार्तापरक, टीकापरक या एक आध शुद्ध साहित्यिक कृति का गद्य है। यह गद्य साहित्य भी हमारे लिये महत्वपूर्ण वस्तु है। हिंदी के आदिकाल में गद्य की क्या दशा थी, इसका हमें कुछ भी पता न था, इधर उक्तिव्यक्तिप्रकरण तथा वर्णरत्नाकर के प्रकाशन से प्राचीन हिंदी गद्य का कुछ आभास मिलता है, साथ ही तेस्सितोरी के 'नोट्स आन ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी' के परिशिष्ट तथा नाहटा जी के द्वारा निर्दिष्ट जैन गद्य साहित्य[१] में भी इसका एक स्वरूप देखा जा सकता है। इस प्रकार हमें एक ओर उक्तिव्यक्ति तथा वर्णरत्नाकर में पूर्वी हिंदी के गद्य का नमूना मिलता है तो दूसरी ओर जैन गद्य में पश्चिमी हिंदी के गद्य का नमूना। विद्यापति की कीर्तिलता में भी हमें गद्यांश मिलते हैं, पर जैसा कि हम बता चुके हैं, वह संस्कृत गद्य से पूर्णतः प्रभावित शैली का होने के कारण तत्कालीन हिंदी गद्य का वास्तविक स्वरूप नहीं प्रकट करता। हम यहाँ तीनों प्रकार के गद्य का थोड़ा थोड़ा अंश उद्धृत कर रहे हैं :

(१) जस जस धर्मु बाढ, तस तस पापु घाट।...याकर धर्मु उसस, ताकर पापु ओरुस।...जब पूतु पाउ पखाल, तब पितरन्हु सर्गु देखाल। जेत जेत परा धनु चोराअ, तेत तेत आपण पूनु हरावी, जेंम जेंम मा पूतुहि बुलाल, तेम तेम दूजणकर हिअ जाल। (उक्तिव्यक्तिप्रकरण, पृ० ३३, ३८)।

(२) कागजरक भीति तेलें सिचलि आइसनि रात्रि पछेयांकां वेगे काजरक मोंट फुजल आइसन मेघ निविल मांसल अंधकार देपु मेघपूरित आकाश भए गेल अछ विद्युल्लताक तरंग तें पथदिशज्ञान होंते अछ लोचनक व्यापार निष्फल हाइतें छ।(वर्णरत्नाकर, पृ० १६)।

(३) (पश्चिमी हिंदी-राजस्थानी गद्य का निदर्शन)

तुरुमिणी नगरीइँ दत्त ब्राह्मणि महुन्तइ राज्य आपणइ वसि करी आगिलु जितशत्रुराजा काढी आपणइ राज्य अधिष्ठिउँ। धर्म्म नी बुद्धिइँ घणा माग मजिया। एक पारदत्त ना माउला कालिकाचार्य खुरु भाणेज राजा भणी तीणइँ नगरी आविया। मामउ भणी दत्त गुरु कन्हइ गिउ। याग नुँ फल पूछवा लागु। (तेस्सितोरी द्वारा परिशिष्ट ५ में धर्मदासकृत उपदेशमाला, गाथा १०५ की सोमसुंदरसूरिकृत टीका से)।

[१] अगरचंद नाहटा : वीरगाथाकाल का जैन साहित्य, ना० प्र० प०, वर्ष ४६, अंक ३, वि० सं० १९९८।

९. दक्खिनी हिंदी या खड़ी बोली का प्रारंभिक रूप

अमीर खुसरो ने अपनी हिंदी रचनाओं में जिस भाषाशैली को अपनाया या वह दिल्ली के आसपास की बोली—खड़ी बोली का प्राचीनतम रूप—मानी जाती है। खुसरो के बाद खड़ी बोली का प्राचीनतम रूप हमें दक्खिनी शिया राज्यों में लिखे गए दक्खिनी हिंदी के साहित्य में मिलता है। विक्रम की १४वीं शती के उत्तरार्ध तथा १५वीं शती के पूर्वार्ध में उत्तरी भारत से कई मुसलमान दक्षिण (दक्खिन) में जाकर बस गए। ये अपने साथ दिल्ली के आसपास की बोली ले गए थे। धीरे धीरे यह दक्खिन के मुसलमानों की अपनी 'जबान' हो गई और इसमें साहित्यरचना भी होने लगी। इस भाषा का जो भी साहित्य हमें उपलब्ध होता है, वह कुछ अरबी फारसी शब्दों की छौंक के अतिरिक्त व्याकरण तथा शब्दकोश दोनों दृष्टियों से हिंदी का ही साहित्य है। अंतर केवल यह है कि इनके लिये देवनागरी लिपि के स्थान पर फारसी लिपि का प्रयोग किया गया है। उर्दू साहित्य के इतिहासलेखक इन्हीं को उर्दू की प्राचीनतम कृतियाँ मानते हैं। यह तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि उर्दू वस्तुतः अलग न होकर मूलतः हिंदी ही रही जो धीरे धीरे धार्मिक संकीर्णता के कारण अपनी वास्तविकता से दूर हटती गई। दक्खिनी हिंदी के साहित्य का हिंदी साहित्य के इतिहास में कई दृष्टियों से बड़ा महत्व है। पहले तो यह भारत की राष्ट्रभाषा—खड़ी बोली हिंदी—की प्राचीनतम साहित्यिक निधि का संकेत करता है, दूसरी ओर इसमें पद्य ही नहीं प्राचीन गद्यसाहित्य भी उपलब्ध होता है, तीसरे इस साहित्य का इसलिये भी महत्व है कि इसके लेखक सभी मुसलमान हैं, तथा उनकी ये कृतियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि उर्दू का उदय बहुत बाद की चीज है। विषय की दृष्टि से ये साहित्यिक कृतियाँ या तो इस्लाम धर्म के प्रचार से संबद्ध हैं या कथासाहित्य हैं। तसव्वुफ (सूफी मत) से संबद्ध पद्य साहित्य में मसनवियों की प्रधानता है। दक्खिनी का अधिकांश साहित्य सूफी मत से प्रभावित है।

दक्खिनी हिंदी के सर्वप्रथम लेखक ख्वाजा बंदानवाज गेसूदराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (१३७५ वि० सं०—१४७६ वि० सं०) माने जाते हैं जो एक प्रसिद्ध फकीर थे। इनकी छोटी छोटी गद्यकृतियाँ मिलती हैं जिनमें इस्लाम धर्म के प्रचार की चेष्टा पाई जाती है। दक्खिनी का सर्वप्रथम कवि निजामी (१५१७ वि० सं०) था। इसने 'कदम राव व पदम' नामक मसनवी की रचना की थी। इसकी भाषा शुद्ध हिंदी ही है, जिसमें अरबी फारसीपन बहुत कम है। जैसा कि 'दकिन में उर्दू' के लेखक श्री नसीरुद्दीन हाशिमी लिखते हैं—'इस्व रवाज कदीम इसमें अरबी और फारसी के बजाय हिंदी अल्फाज ज्यादा हैं।' प्रस्तुत पुस्तक अभी अप्रकाशित है। इसके बाद तो दक्खिनी हिंदी में कई मसनवियाँ

लिखी गईं, जिनके लेखकों में वजही, गवासी, इब्न निशाती प्रसिद्ध हैं। इनकी कृतियाँ क्रमशः कुतुबमुश्तरी, सैफुल्लमलूक, बवदीउज्जमाल, तथा फूलबन हैं। ये तीनों हिंदी शैली में लिखी प्रेमकथाएँ हैं तथा इन सभी का रचनाकाल विक्रम की १७वीं शती रहा है। इनके बाद भी हिंदी साहित्य के भक्तिकाल तथा रीतिकाल की कई मुसलमान कवियों की दक्खिनी हिंदी की रचनाएँ मिलती हैं जिनकी भाषा हिंदीपन लिए है तथा जिन्होंने न केवल फारसी शैली पर मसनवी, गजल, रुबाई, मर्सिया आदि ही लिखे हैं बल्कि भारतीय परंपरा के अनुसार नायिकावर्णन तथा ऋतुवर्णन पर रचनाएँ की हैं और भारतीय छंदःपरंपरा को भी अपनाया है। डा० सक्सेना के शब्दों में '(इन मुसलमान लेखकों ने) भाषा में बहुत हद तक भारतीयता निभाई और भावों में भी कुछ हद तक देशीपन कायम रखा'।[1]

१०. परंपरा और प्रगति

प्रारंभिक हिंदी का साहित्य उस काल का साहित्य है, जब भारतीय जनजीवन संक्रांतिकाल से गुजर रहा था। यही कारण है, इस काल का साहित्य भी संक्रांतिकालीन लक्षणों से युक्त है। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् समस्त उत्तरी भारत—विशेषतः मध्यदेश—कई छोटे छोटे राज्यों में बँट गया था। इन राज्यों के राजा परस्पर लड़ा करते थे। शौर्य और विलासिता इनके जीवन के अंग थे, यही कारण है कि इस काल के एक कोटि के साहित्य में सामंती शौर्य और विलासिता की प्रचुर व्यंजना पाई जाती है। यह वह काल है जब हिंदू सामंतवाद धीरे धीरे मरणासन्न स्थिति की ओर बढ़ रहा था और एक नया विदेशी सामंतवाद भारत की भूमि पर उदित हो रहा था। इस सामंती रंग में रँगे हुए साहित्य से इतर साहित्य ऐसा भी है जो उस काल की सामान्य जनजीवन की वैचारिक क्रांति का वहन करता है। बौद्ध तथा जैन धर्म ने, प्रमुखतः बौद्ध धर्म ने, जिस वैचारिक क्रांति को जन्म दिया था उसी का एक रूप हम बौद्ध सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य में देख चुके हैं। यह साहित्य वस्तुतः सामान्य जनता का सामंती समाज के प्रति आंदोलन व्यक्त करता है। अपभ्रंश साहित्य की यह धारा आगे भी चलती रहती है जो नाथसिद्धों के साहित्य में देखी जा सकती है। इन दोनों साहित्यिक धाराओं में हम दो विरोधी बातें पाते हैं। एक धारा परंपरा, रूढ़ियों और गतानुगतिकता की पाबंदी करती है। यही कारण है कि यह धारा अपनी साहित्यिक प्रेरणा के लिये संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के राजस्तुतिपरक वीरगाथाओं, शृंगारी काव्यों या नीति संबंधी रचनाओं का मुँह जोहती हैं। इनका विषय भी इन्हीं

[1] डा० सक्सेना : दक्खिनी हिंदी, पृ० ६१।

तक सीमित रहा है। दूसरी धारा परंपरा, रूढ़ियों और गतानुगतिकताओं को छोड़कर चलनेवाली है। इस धारा के कवियों ने बौद्ध सिद्धों द्वारा खोदकर उर्वर बनाई हुई नई साहित्यिक भूमि में बीज डाले हैं। इन्होंने धार्मिक रूढ़ियों, बाह्याडंबरों आदि का खंडन किया है, जातिप्रथा की कटु आलोचना की है। इसके साथ ही भगवत्प्रेम की निश्छल व्यंजना भी इस धारा की प्रमुख विशेषता है। संभवतः इसीलिये शुक्ल जी ने इस काल को 'अनिर्दिष्ट लोकप्रवृत्ति' का युग तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'स्वतोव्याघातों' का युग कहा है।

(१) दो धाराएँ—अपनी 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में द्विवेदी जी ने आदिकाल की इन दोनों धाराओं का संकेत करते हुए लिखा है : हिंदी में दो प्रकार की भिन्न जातियों की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई हैं : (१) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनाएँ और लोकप्रचलित कथानक। (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुनिया संतों की शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़फटकार, अक्खड़पन, सहजशून्य की साधना, योगपद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ।''[१] आदिकाल से भारतीय जीवन में इस प्रकार की दो धाराएँ—रूढ़िवादी तथा रूढ़िविरोधी धाराएँ—बहती मिलती हैं। कुछ विद्वान् इन दो धाराओं को दो जातियों—आर्य तथा आर्येतर—(कुछ के मत में व्रात्य) की प्रतिनिधि विचारधाराएँ मानते हैं, किंतु यह समीचीन नहीं है। वस्तुतः ये दोनों एक ही जाति की दो प्रवृत्तियों तथा स्तरों की विचारसरणियाँ हैं। रूढ़िवादी धारा सामंतवादी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, रूढ़िविरोधी धारा जनसामान्य की स्वतंत्र भावना की प्रतीक है।

(२) काव्यशैलियाँ—अपभ्रंश में हम तीन प्रकार की काव्यशैलियाँ देख चुके हैं—(१) प्रबंध काव्यों की शैली, (२) मुक्तक काव्यों की शैली तथा (३) गीतों की शैली। इन्हीं को क्रमशः पद्धडियाबंध, दोहाबंध तथा गेयपदबंध भी कहा जाता है। प्रबंध काव्यों की शैली को पद्धडियाबंध इसलिये कहा जाता है कि ये प्रायः पद्धडिया या पद्धरी छंद के कडवकों में निबद्ध होते थे जिनमें प्रत्येक कडवक के बाद घत्ता का प्रयोग किया जाता था। धीरे धीरे प्रबंध काव्यों में इस नियम की शिथिलता पाई जाने लगी कि उसका छंद पद्धरी ही हो, वह १६ मात्रा का कोई भी छंद, अडिल्ला या पद्धरी में से कोई एक,

[१] द्विवेदी : हि० सा० भू०, पृ० २६।

हो सकता था। पृथ्वीराजरासो, कीर्तिलता आदि चरितकाव्य होने के कारण यद्यपि इसी पद्धडियाबंध के वाहक कहे जा सकते हैं तथापि इन्होंने इस छंदःपद्धति को बहुत कम अपनाया है। प्रबंधकोटि की आदियुगीन रचनाओं में रासो प्रमुख है और तथाकथित ऐतिहासिक चरितकाव्य होने के कारण इसमें प्रायः उन सभी कथानकरूढ़ियों का प्रयोग पाया जाता है जो लोककथासाहित्य की विशेषता रही हैं। बृहत्कथा जैसे प्राकृत कथासाहित्य में तथा संस्कृत के गद्यकाव्यों में हम इन कथानकरूढ़ियों का प्रचुर प्रयोग देखते हैं। वहीं से ये अपभ्रंश चरितकाव्यों में आ गई हैं। करकंडुचरिउ आदि की आलोचना करते समय हम इन रूढ़ियों का संकेत कर चुके हैं। पृथ्वीराजरासो इन रूढ़ियों से अत्यधिक समृद्ध है। अपभ्रंश से आई हुई ये ही कथानकरूढ़ियाँ भक्तिकालीन सूफी प्रेमाख्यानकाव्यों में भी प्रचुर रूप में पाई जाती हैं। आदिकालीन प्रबंधकाव्यों की परंपरा का गौण रूप से सूफी प्रेमाख्यान काव्यों पर भले ही प्रभाव पड़ा हो किंतु कोई विशेष नहीं जान पड़ता। इसी तरह गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस' को भी इनकी अविच्छिन्न परंपरा में रखना ठीक नहीं होगा। वस्तुतः जैसा कि हम अनुपद में ही संकेत करेंगे भक्तिकाल का साहित्य हमारे लिये इतने नवीन रूप में प्रकट होता है कि वह आदिकाल से विच्छिन्न सा जान पड़ता है। पद्धरीबंध का जो रूप हमें आदिकाल में मिलता है वह भक्तिकाल में नहीं पाया जाता। यहाँ चौपाई तथा दोहे के कडवक का प्रयोग हुआ है। चौपाई तथा दोहे के कडवक का प्रबंध काव्य के लिये प्रयोग भक्तिकालीन प्रबंध काव्यों की ही विशेषता है। वैसे चौपाई छंद का प्रयोग अपभ्रंश में सरह ने किया था तथा दोहा तो अपभ्रंश मुक्तक काव्य का प्रमुख वाहन रहा है।

अपभ्रंश मुक्तक काव्यों की परंपरा का संकेत हम कर चुके हैं। हिंदी के आदिकाल में इनकी परंपरा शृंगारी मुक्तकों, राजप्रशस्तिपरक मुक्तकों तथा नीति एवं भक्तिपरक मुक्तकों के रूप में पाई जाती है। इनके अतिरिक्त मुक्तक काव्य की ही एक परंपरा निर्गुणप्रधान तथा धार्मिक उपदेशमूलक फुटकल पद्यों की है। अपभ्रंश में मुक्तक काव्यों का प्रधान प्रतीक दोहा रहा है। वीररसपरक तथा शृंगाररसपरक दोहों का पता हेमचंद्राचार्य के व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश दोहों से लगता है। यहीं अपभ्रंश के नीतिपरक मुक्तकों का भी पता चलता है। दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों के दोहे हैं। आदिकाल की हिंदी मुक्तक रचनाओं में दोहा के अतिरिक्त अन्य छंदों की भी तत्तद्विषयक फुटकर रचनाएँ मिलती हैं, जैसे प्राकृतपैंगलम् के मुक्तक पद्यों में, तथापि दोहा इस काल का भी प्रमुख छंद रहा है। इसका शृंगारी मुक्तक रूप हम ढोला मारू रा दोहा में पाते हैं। इस काल में दोहा का प्रवेश प्रबंध काव्य में भी होने लगा था। पृथ्वीराजरासो में चंद ने दोहा छंद का प्रयोग किया है। इस प्रकार भक्तिकालीन हिंदी साहित्य को दोहा प्रबंध काव्य तथा मुक्तक काव्य दोनों स्रोतों से मिला है। इसका प्रबंधकाव्यगत प्रयोग हम जायसी आदि सूफी कवियों के तत्तत्

काव्यों में तथा तुलसी के रामचरितमानस में देख सकते हैं। दोहा छंद का मुक्तकगत प्रयोग हमें बिहारी, मतिराम, रसलीन, मुबारक अली आदि के शृंगारी मुक्तकों में तथा रहीम, तुलसी, वृंद आदि के नीतिपरक मुक्तकों में मिलता है। दोहे का वीररसविषयक प्रयोग डिंगल साहित्य में प्रचलित रहा है तथा बाँकीदास एवं सूर्यमल्ल में उसे देखा जा सकता है। बौद्ध सिद्धों की परंपरा से दोहे का प्रयोग नाथसिद्धों को मिला जान पड़ता है। आदिकाल के नाथसिद्धों ने भी दोहे का प्रचुर प्रयोग किया होगा। वहीं से यह परंपरा कबीर, दादू आदि ज्ञानाश्रयी धारा के निर्गुण संतों को मिली है।

अपभ्रंश में मुक्तकों की एक अलग शैली गेयपदबंधों की है जिसका पहला रूप बौद्ध सिद्धों के अपभ्रंश पदों में मिलता है। इसी परंपरा के दो रूप हमें आदिकाल में मिलते हैं एक ओर विद्यापति के पद, दूसरी ओर गोरखनाथ आदि नाथपंथियों के पद। भक्तिकाल में भी पदों की यह परंपरा अक्षुण्ण बनी रही है, जिसको सगुण एवं निर्गुण दोनों धाराओं के कवियों ने समान रूप से अपनाया है। तुलसी, सूर आदि रामभक्त एवं कृष्णभक्त कवियों ने पदों का प्रयोग किया है। इधर कबीर, रैदास, दादू आदि संतों ने भी इस शैली को चुना है।

इनके अतिरिक्त 'रासक', 'फागु' जैसे गीतिनाट्यों की शैली भी आदिकाल में पाई जाती हैं, पर इसकी परंपरा हिंदी में नहीं मिलती। 'रासक' शैली का सर्वप्रथम काव्य अपभ्रंश का 'संदेशरासक' है। इसी परंपरा में जैन रासक या रासकाव्य आते हैं। हिंदी के वीरगाथाकालीन 'रासो' काव्यों के संबंध में 'रासो' शब्द ने विद्वानों का ध्यान अपनी ओर विशेषतः आकृष्ट किया है। इस शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ की गई हैं। इन अप्रासंगिक व्युत्पत्तियों की मीमांसा में जाना यहाँ अनावश्यक होगा। यहाँ इस संबंध में नवीन एवं संप्रति प्रामाणिक मानी जानेवाली व्युत्पत्ति का ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा। इस मत के अनुसार 'रासो' शब्द वस्तुतः ठीक उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिस अर्थ में 'रासक' या 'रास' शब्दों का प्रयोग 'संदेशरासक' तथा अन्य जैन रासकाव्यों में पाया जाता है। इस प्रकार इस शब्द का संबंध हम संस्कृत के १८ उपरूपकों की तालिका में निर्दिष्ट 'रासक' तथा 'रासिका' से जोड़ सकते हैं। 'रासक' वस्तुतः हल्लीश, श्रीगदित आदि की तरह नृत्यप्रधान गीतिनाट्य है। इसका मूल उद्‌गम शुद्ध साहित्यिक न होकर लोकनृत्य से संबंध रखता है। इस तरह इस शब्द का संबंध कृष्ण और गोपिकाओं के 'रास' से भी जोड़ा जा सकता है। श्रीमद्‌भागवत में ही इस नृत्य के लिये 'रास' शब्द का प्रयोग पाया जाता है[१]। आदिकाल

[१] कर्णोत्पलालकविटंककपोलघर्मवक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः।
गोप्यःसमं भगवता ननृतुः स्वकेशस्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्॥ (भागवत, दशम स्कंध)

में 'रास' काव्य की तीन प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं—(१) लास्य या मृदुल रास, (२) उद्धत रास तथा (३) मिश्रित रास। प्रथम शृंगाररसपरक होते हैं, द्वितीय वीररसपरक, तृतीय शृंगारवीरमिश्रित। संदेशरासक तथा बीसलदेवरासो एवं अधिकतर जैन रासकाव्यों को हम कोमल शैली के रासकाव्य मानते हैं। बाहुबलिरास, जो जैन रासकाव्य है, कोरी उद्धत शैली का रास है, जिसमें भरत तथा बाहुबलि (तीर्थंकर ऋषभ के दो पुत्रों) का युद्ध वर्णित है। पृथ्वीराजरासो मिश्रित शैली का 'रास' काव्य है। कहना न होगा, संस्कृत 'रास' या 'रासक' शब्द से ही एक ओर जैन काव्यों का 'रास' शब्द बना है, दूसरी ओर रासक > रासअ > रासउ > रासो के क्रम से 'रासो' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'रासक' का गीतिनाट्यों से संबंध जोड़ने से कुछ भ्रांति भी फैल गई है। कुछ विद्वान् 'संदेशरासक' को हिंदी का प्राचीनतम (पहला) नाटक मान बैठे हैं। ऐसा मत-प्रकाशन वैचारिक अपरिपक्वता का द्योतक है। वस्तुतः इस भ्रांत धारणा का आधार संदेशरासक के ४३वें पद्य की 'कह बहुरुवि णिबद्धउ रासउ भासियइ' इस पंक्ति के 'रासउ भासियइ' का डा० भायाणी द्वारा प्रस्तुत अँगरेजी अनुवाद है, जिसका आशय है—'(इस सामोर नगर में) रासक बहुरूपियों के द्वारा अभिनीत होता है'। संस्कृत टीकाकार 'भासियइ' का संस्कृत रूपांतर 'भाष्यते' लिखता है, जो स्पष्टतः 'रासक पढ़ा जाता है' इस मत की पुष्टि करता है। उपर्युक्त हिंदी लेखकों की भ्रांत धारणा भायाणी जी के अँगरेजी अनुवाद के कारण है। वस्तुतः भाँड़ों के द्वारा नौटंकियों में गाए जानेवाले गीतों के लिये 'रासक' शब्द प्रयुक्त हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे बनारस की कजली। कजली को हम 'नाटक' का रूप मान सकें तो 'रासक' भी नाटक कहा जा सकता है। 'संदेशरासक' न तो नाटक ही है, न नाटकपरंपरा का किंचिन्मात्र भी वाहक कहा जा सकता है। इस विवेचन से हमारा तात्पर्य उस मत की अवैज्ञानिकता सिद्ध करना है जो हिंदी नाटकों का उद्गम खोजते खोजते हिंदी के आदिकाल तक जा पहुँचता है। यह दूसरी बात है कि आदिकालीन गीतिनाट्यों को गौण रूप से आज के लोकनाट्य—भंडैती, नौटंकी आदि—से जोड़ा जा सकता है पर यह हिंदी की साहित्यिक नाटकपरंपरा के लिये अप्रासंगिक जान पड़ता है।

हिंदी साहित्य के आदिकाल से भक्तिकाल की ओर बढ़ते ही हमें पता चलता है कि जैसे हम किसी नई भाषा का नया साहित्य अथवा नई परंपरा का साहित्य पढ़ने जा रहे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अपभ्रंश की काव्यपरंपरा हिंदी साहित्य के आदिकाल में भी चलती रही है और उसकी पूर्ण परिसमाप्ति की सूचना हमें भक्तिकाल के आविर्भाव से मिलती है। वस्तुतः अपभ्रंश साहित्य का मात्रात्मक परिवर्तन आदिकालीन साहित्य में मिलता है जब कि भक्तिकालीन साहित्य में आकर उसमें पूर्णतः गुणात्मक परिवर्तन हो गया है। सर्वप्रथम हम भाषा को ही ले लें। प्राकृत तथा अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर पाया जाता है। आदिकाल

में संस्कृत शब्दों का प्रचार बढ़ चला है। तद्भव शब्दों के साथ ही साथ तत्सम तथा अर्द्धतत्सम रूप अधिक पाए जाते हैं। भक्तिकाल में आकर तत्सम शब्दों का प्रयोग और अधिक बढ़ गया है। विद्वानों ने इस प्रवृत्ति का मूल कारण वैष्णव एवं भागवत धर्म के प्रचार, तथा भक्ति के आंदोलन में ढूँढ़ा है। विषय की दृष्टि से भक्तिकाल में जो राम तथा कृष्णसंबंधी काव्यपरंपरा पाई जाती है उसे जैन अपभ्रंश राम-कृष्ण-काव्यों की परंपरा में रखना अवैज्ञानिक होगा। वस्तुतः यह परंपरा भक्तिकाल की परिस्थितियों की अपनी उपज है। तुलसी या दूसरे रामभक्त कवियों की परंपरा पर वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण या राम संबंधी संस्कृत नाटकों का प्रभाव है, तो कृष्णभक्त कवियों पर श्रीमद्भागवत तथा गीतगोविंद की परंपरा का। आदिकाल में विद्यापति का ही एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसकी शृंगारीपद परंपरा का प्रभाव कृष्णभक्त कवियों पर पाया जाता है। नाथसिद्धों के फुटकर पद्यों की निर्गुनिया 'बानी' वाली परंपरा कबीर तथा अन्य निर्गुण संतों के काव्यों में देखी जा सकती है, किंतु कबीर को पूर्णतः उसी परंपरा की उत्पत्ति नहीं कहा जा सकता। कबीर में हठयोग, सहजयोग, रूढ़िवाद का खंडन आदि उस परंपरा की देन भले ही हो, उनकी कविताओं में कबीर की अपनी विशेषता है जो भक्तिकाल की ही परिस्थितियों की देन है। यह है कबीर का भावयोग, कबीर का भक्तरूप। भूलना न होगा, बौद्ध सिद्ध या नाथसिद्धों को हम भक्त नहीं कह सकते। हिंदी साहित्य में भक्तिकाल के आविर्भाव के कारणों में प्रमुख कारण वैष्णव धर्म एवं पाचरात्र संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार है। शंकराचार्य के 'ब्रह्मविवर्तवाद' के विरोध में जो भक्तिसंबंधी आंदोलन दक्षिण में आरंभ में रामानुज, मध्व या निंबार्क के द्वारा तथा बाद में उत्तरी भारत में भी गौडीय वैष्णव तथा वल्लभाचार्य के द्वारा विकसित किया गया उसी की लहर उत्तरी भारत में फैल गई। उसने उत्तरी भारत की उर्वर साहित्यिक भूमि में सूखे पड़े कमलबीजों को फिर अंकुरित किया और भक्तिकाल का साहित्यसरोवर अनेक शतदलों से मंडित हो समस्त भावी साहित्य को सौंदर्यप्रेम की प्रेरणा देता सहृदयों के मानस को सुरभि से भरने लगा।

तृतीय खंड

धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा

लेखक

पंडित बलदेव उपाध्याय

प्रथम अध्याय

वैदिक धर्म

१. अर्थ और महत्त्व

भारतीय साहित्य के इतिहास में वेदों का स्थान गौरवपूर्ण है। श्रुति की आधारशिला पर भारतीय संस्कृति का प्रासाद प्रतिष्ठित है। प्रातिभ ज्ञान के सहारे मंत्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा अनुभूत आध्यात्मिक तत्त्वों की विशाल राशि का ही नाम 'वेद' है। वेद का मौलिक तात्पर्य अध्यात्मशास्त्र की समस्याओं का सुलझाना है। सायण के शब्दों में वेद का वेदत्व यही है कि वह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा अगम्य अथवा अबोध्य तत्त्वों का सुगमता से बोध कराता है। वेद का प्रामाण्य यही है कि वह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान न हो सके उसका भी ज्ञान कराता है :

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
> एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता[1] ॥

भारतीय विचार, भावना, विश्वास और उसको अभिव्यक्त करनेवाले साहित्य को भली भाँति समझने के लिये वेद एक मौलिक साधन हैं। मनु के कथनानुसार वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन, सर्वदा विद्यमान रहनेवाला चक्षु है[2]। लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिये जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है, उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों के रहस्य जानने के लिये वेद की प्रकृष्ट उपयोगिता है। इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टनिवारण के अलौकिक उपाय को बतलानेवाला एकमात्र ग्रंथ वेद ही है। ज्योतिष्टोम याग के संपादन से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और इसलिये वह ग्राह्य है। कलंज-भक्षण से अनिष्ट की उपलब्धि होती है, अतएव वह परिहार्य है। इसका ज्ञान सहस्रों तर्कों और अनुमानों की सहायता से भी नहीं हो सकता। प्रबल तर्क के बल पर विपक्षियों की युक्तियों को छिन्न भिन्न कर देनेवाले तर्ककुशल आचार्यों के सामने यदि स्वल्प वेदविरोध की छाया भी दृष्टिगोचर होती है तो उनका मस्तक स्वतः नत हो जाता है। हम ईश्वरविरोध भी सहन कर सकते हैं,

[1] तैत्तिरीय संहिता का भाष्योपोद्घात, पृष्ठ २। (आनंदाश्रम संस्कृत ग्रंथमाला, पूना)

[2] पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ॥

परंतु वेद का आंशिक विरोध भी मुख्य भारतीय परंपरा के लिये असह्य है। 'आस्तिकता' की स्पष्ट पहिचान है वेद की सत्यता तथा प्रामाणिकता में अखंड विश्वास। वेद का निंदक ही 'नास्तिक' कहलाता है, **नास्तिको वेदनिन्दकः**[1]। विद्वान् के लिये 'स्वाध्याय' (वेद के अध्ययन) की महत्ता का रहस्य इस तत्त्व में अंतर्निहित है[2]।

इस धर्मभूमि भारत में जितने धर्म कालांतर में उत्पन्न हुए, विकसित हुए तथा आज भी वर्तमान हैं, उनका मूल स्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। वेद ज्ञान के वे मानसरोवर हैं जहाँ से ज्ञान की अजस्र धाराएँ उत्पन्न होकर अनेक मार्गों से विभिन्न रूपों में प्रवाहित होती रहती हैं। आर्यों की प्राचीनतम सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशा का ज्ञान हमें वेद की सहायता से ही हो सकता है। उनका धार्मिक तथा दार्शनिक महत्त्व सर्वतोभावेन महनीय तथा अक्षुण्ण है। उपनिषदों में भारत के समस्त आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के तत्त्वों की उपलब्धि बीजरूपेण होती है। वेदांत के नाना मतों—अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि—के मूल रूप तथा विकास को समझने के लिये उपनिषदों का ज्ञान नितात अपेक्षित है। वेद से बढ़कर प्राचीनतम ग्रंथ की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। अतः भारत के धार्मिक सिद्धांतों के उदय तथा विकास की समीक्षा के लिये वेद ही प्राचीनतम साधन हैं।

२. धर्मभावना का विकास

वैदिक आर्य ओजस्वी तथा आशावादी प्राणी थे। वे प्रकृति की विचित्र लीलाओं को आनंद एवं आश्चर्य भरी दृष्टि से देखते थे और उनकी ओर उनका स्वाभाविक आकर्षण था। प्रातःकाल प्राची में किरणजालों को छिटकाकर भूमितल को कांचनरंजित बनानेवाला अग्निमय सूर्य का बिंब तथा रजनी में रजतरश्मियों को बिखेरकर जगतीतल को शीतलता के समुद्र में गोता लगानेवाले सुधाकर का बिंब किस मानव के हृदय में कौतुक तथा विस्मय को जन्म नहीं देते? प्राचीन आर्यों के हृदय पर इनका नवीनतम गहरा प्रभाव था। वैदिक आर्यों ने प्रकृति की इन लीलाओं को सीधे तौर पर समझाने के लिये नाना देवताओं की कल्पनाएँ की हैं। उन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्यजात संचालित होता है तथा भिन्न

[1] म० स्मृ० २।११ (निर्णयसागर प्रेस, बंबई)

[2] यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ शत० ब्रा० ११।५।६।१ (अच्युत ग्रंथमाला, काशी)

भिन्न प्राकृतिक घटनाएँ इन्हीं के कारण संघटित होती हैं। पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता के अनुसार ये देवता भौतिक जगत् के प्राकृतिक दृश्यों के अधिष्ठाता हैं अर्थात् भौतिक घटनाओं की उपपत्ति के लिये ही आर्यों ने देवता की कल्पना की है। ऋग्वेद में नाना देवों की सत्ता होने के कारण विद्वान् तत्कालीन धर्म को बहुदेववाद (पॉलीथीज्म) के नाम से पुकारते हैं। कालांतर में धार्मिक भावना का विकास होने पर आर्यों ने इन बहुदेवों के अधिपति या प्रधान की खोज प्रारंभ की। डा० मैक्समुलर के अनुसार स्तुतिकाल में प्रत्येक वैदिक देवता सबसे बड़ा, सबका स्रष्टा तथा जगत् का नियामक माना जाता है जिससे अन्य समग्र देवों की उत्पत्ति होती है। इस विशिष्टता के कारण वे वैदिक धर्म को 'हेनोथीज्म' नाम देते हैं। एक स्थायी देवविशेष की कल्पना आगे चलकर की गई जो 'प्रजापति' या 'पुरुष' नाम से अभिहित किया जाता था। धर्म के इस विकसित रूप का अभिधान है एकेश्वरवाद (मोनोथीज्म) जो और आगे चलकर सर्वेश्वरवाद (पैन्थीज्म) के रूप में परिणत हो गया। पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।६०) इसी सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादक प्रधान सूक्त है : पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्[1]। और इसी कारण दशतयी के सूक्तों में यह अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है। इससे भी ऊँची कल्पना अद्वैतवाद (मोनीज्म) की हुई जो 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' आदि सूक्तियों से स्पष्ट है।

पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा उद्भावित वैदिक धर्म के विकास की यह एक पद्धति है, परंतु भारतीय विचारकों की दृष्टि से यह पूर्णभावेन मान्यता नहीं रखती। यास्क तथा शौनक की संमति में इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति वर्तमान है जो माहाभाग्य से, महनीय ऐश्वर्य से संपन्न होने के कारण 'ईश्वर' या 'परमात्मा' नाम से अभिहित होती है। समस्त देव एक ही आत्मा के प्रत्यंग रूप होते हैं और उसी आत्मा की नाना प्रकार से स्तुति की जाती है :

> माहाभाग्याद् देवताया: एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
> एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति[2]।

सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता (कारण सत्ता) कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न भिन्न आकारों में परिलक्षित हो रही है[3]। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में, अध्वर्यु लोग

[1] पुरुषसूक्त, मंत्र २। (ऋ० वे० १०।६०।२ स्वाध्याय मण्डल, औंध)

[2] निरुक्त, ७।४।८,६ (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)

[3] बृहद्देवता, अध्याय १, श्लोक ६१, ६५। (हारवर्ड ओरियंटल सीरीज, हारवर्ड)

'अग्नि' में तथा सामवेदी लोग 'महाव्रत' नामक याग में किया करते हैं[१]। ऋग्वेद का प्रचुर प्रमाण इसी सिद्धांत का पोषक है।

ऋग्वेद की दृष्टि में देवगण अविनश्वर शक्तिमात्र हैं। वे आतस्थिवांसः (स्थिर रहनेवाले), अनंतासः (अनंत), अजिरासः, उरवः, विश्वतस्परि (संसार से ऊपर रहनेवाले) कहे गए हैं[२]। देवों का महत् सामर्थ्य एक ही है—महद् देवानामसुरत्वमेकम्। देवताओं के त्रिविधरूप का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। उनका जो रूप हमारे नेत्रों के सामने आता है, वह उनका स्थूल रूप या आधिभौतिक रूप होता है। जो रूप भौतिक इंद्रियों से अग्राह्य तथा अतीत है, वह उनका गूढ़ सूक्ष्म रूप या आधिदैविक रूप है। इन दोनों से अतिरिक्त उनका एक तृतीय रूप—आध्यात्मिक रूप—भी मंत्रों में प्रतिपादित है। सूर्य के ये तीनों रूप एक ही मंत्र में उत्, उत्तर तथा उत्तम रूप से क्रमशः वर्णित हैं :

उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्[३]॥

'ऋत' की दार्शनिक कल्पना भी इस सिद्धांत को पुष्ट करती है। 'ऋत' का अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्व 'ऋत' ही है। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न तथा वर्धित होता है[४]। सूर्य ऋत का ही विस्तार करता है तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं[५]। ऋत का मूलभूत अर्थ है कारणसत्ता, सत्यभूत ब्रह्म। ऋग्वेद के इस सुप्रसिद्ध मंत्र में मूल सत्ता की एकता तथा देवताओं की उसकी नानात्मक अभिव्यक्ति का तथ्य बड़े सुंदर तथा स्पष्ट शब्दों में वर्णित है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

निष्कर्ष यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के नियामक अनुपम शक्तिसंपन्न नियंता के एकत्व से परिचित है तथा वह विभिन्न देवों को उसी की नाना शक्तियों का

१ ऐ० आ० १।२।३।१२। (आनंदाश्रम, पूना)
२ ऋ० वे० ५।४७।२।
३ वही, १।२०।१०।
४ वही, ६।१०८।८।
५ वही, १।१०५।१५।

प्रतिनिधि बताता है। वैदिक धर्म तथा देवतावाद अद्वैत तत्व के ऊपर आश्रित हैं। नाना में एकता की, भिन्नता में अभिन्नता की कल्पना आर्ष चक्षुःसंपन्न वैदिक ऋषियों की महती देन है। दार्शनिक जगत् में 'ब्रह्म' की संज्ञा से जो अद्वैत तत्व प्रतिपादित है, धार्मिक जगत् में 'पुरुष', 'हिरण्यगर्भ', 'प्रजापति', 'उच्छिष्ट', 'स्कम्भ' आदि नाना अभिधानों से वही तत्व वर्णित है। देवगण उसी मूलभूत अद्वैततत्त्व परमात्मा की नाना शक्तियों के अभिव्यंजक रूप हैं।

३. देवमंडल

वैदिक देवमंडल में विविध देवताओं का समावेश है। उनका वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। स्थानभेद से त्रिविध लोक के निवासी देवों के तीन प्रकार हैं—(१) द्युस्थानीय, (२) **अंतरिक्षस्थानीय**, (३) **पृथिवीस्थानीय**। द्युस्थानीय देवों में वरुण, पूषा, मित्र, सविता, सूर्य, विष्णु, अश्विन् तथा उषा मुख्य हैं। अंतरिक्षस्थानीय देवों में इंद्र, अपा नपात्, पर्जन्य तथा रुद्र की मुख्यता है तथा पृथिवीस्थानीय देवों में अग्नि, बृहस्पति तथा सोम प्रधान हैं। इन देवों में वरुण नितांत उदात्त, जगत् के नैतिक नियंता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इंद्र दस्युओं के विजेता पराक्रमशाली आर्यों के बलिष्ठ तथा ओजिष्ठ देवता हैं जिनकी स्तुति में सबसे अधिक सूक्तों की सत्ता उनके प्राधान्य तथा महत्व की परिचायिका है। 'अग्नि' का स्थान इंद्र से ही किंचिन्न्यून है। सबसे अधिक कमनीय स्तुतियाँ, जिनमें सौंदर्यभावना तथा सौकुमार्य कल्पना का स्निग्ध मिश्रण है, उषा देवी के विषय में प्रस्तुत की गई हैं। लौकिक व्यवहार तथा जीवननिर्वाह का संपादक प्रकाशमय 'अग्नि' याज्ञिक वैदिक समाज का मान्य देव है। वह प्राणियो का सबसे अधिक हितकारक देवता है जिसकी अनुकंपा तथा प्रसाद से ही प्राणी दिन प्रति दिन धन, पुत्र, पौत्र आदि संपत्ति को प्राप्त करता है। इंद्र वीर योद्धाओं को समरांगण में विजय प्रदान करनेवाला तथा शत्रुओं को पर्वत की गुफाओं में खदेड़नेवाला बलिष्ठ देव है[२]। इंद्र का प्रधान अस्त्र वज्र है जिसकी सहायता से वह शंबर, वृत्र आदि अनेक दानवों को मार भगाता है तथा शत्रुओं के दुर्गबद्ध पुरों को छिन्न भिन्न कर डालता है (पुरंदर)। उसका सबसे अधिक महत्वशाली शौर्य वृत्र (दुर्भिक्ष तथा अकाल का दानव) की पराजय है। इंद्र अपने वज्र से वृत्र (अथवा अहि-सर्प) को, जो जल को सर्वतः व्याप्त कर उसे गिरने तथा बहने से रोकता है, ध्वस्त कर देता है (अप्सुजित्=जल में विजयी)। उसके बुरे प्रभावों से नदियों का प्रवाह

[१] ऋ० वे०, १।१६४।४६।

[२] यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। ऋ० वे० २।१२।४।

रुक गया था। सप्तसिंधु प्रदेश की सातों नदियों की जलधारा रुक गई थी, परंतु वृत्र का वध होने पर वे धाराएँ बह निकलती हैं। सूर्य का उदय होता है। प्रकाश की रश्मियाँ जगत् को प्रसन्न कर देती हैं। इंद्र-वृत्र के युद्ध का वर्णन वीररस का उत्पादक है जो नितांत सुंदर प्रतिभा के सहारे वर्णित है। वृत्र अवर्षण का असुर है तथा इंद्र वृष्टि के देवता हैं।

द्युस्थान सौर देवताओं में पूषा, मित्र, सूर्य तथा सविता सूर्य के ही नाना गुणों के प्रतिनिधि देव हैं। गायत्री मंत्र के देवता यही **सविता** हैं जिनसे अपनी बुद्धि को शोभन कार्यों में प्रेरणा देने को प्रार्थना संध्यावंदन के समय नित्य की जाती है। विष्णु आकाशगामी सतत क्रियाशील सूर्य के ही प्रतीक हैं। 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' शब्दों से मंडित विष्णु ने तीन ही डगों में इस विशाल विश्व को माप डाला है (एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः[1]): विष्णु के तीन डगों (त्रिविक्रम) का संबंध तीनों लोकों से क्रमशः है। इसीलिये विष्णु के उच्चतम लोक में शीघ्रगामिनी भूरिश्रृंग गायों (किरणों) का निवास है जहाँ मधु का उत्स (निर्झर) भक्तों की कामना पूरा करता हुआ लहराता है[2]। विष्णु के इस वैदिक रूप के अनुरूप ही उनके वामनावतार की कल्पना पुराणों ने की है। वामन के लिये 'त्रिविक्रम', 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' शब्दों का प्रयोग इसी स्वारस्य से है। भक्तिग्रंथों में 'गोलोक' की मंजुल कल्पना का आधार भी स्पष्टतः वैदिक है। पूषन् देव भूले भटकों को राह लगाते हैं। उनका रथ बकरों के द्वारा खींचा जाता है जिन्हें चलाने के लिये उनके हाथ में चाबुक रहता है। वह मृत प्राणियों को पितरों के पास ले जाते हैं। व्रज (चरागाह) में जानेवाले पशुओं के वे प्रधान रक्षक हैं तथा इधर उधर भूल जानेवाली गायों को घर में सकुशल लाने की प्रार्थना इसीलिये उनसे की जाती है। **मित्र** मानवसमाज का हितसाधन करते हैं। **वरुण** का उदात्त रूप विश्व के नैतिक नियामक के स्वरूप का चरम उत्कर्ष है। वह विश्वतश्चक्षुः (सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला), धृतव्रत (नियमों का धर्ता), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादक) तथा सम्राट् (सम्यक् प्रकाशनशील तथा शासक) है। सर्वज्ञता से मंडित वरुण अंतरिक्ष में उड़नेवाले पक्षियों तथा समुद्र में चलनेवाली नावों के मार्ग को भली भाँति जानता है। वह प्राणिमात्र के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा तत्तत् फलों का दाता माना गया है। वह स्पशों (सूर्य किरणों तथा गुप्तचरों) से सदा घिरा रहता है जो प्राणियों के हृदय में भी किए गए कार्यों की सूचना देते रहते हैं। वरुण

[1] ऋ० वे० १।१५४।३।

[2] ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः॥ ऋ० वे० १।१५४।६।

का यह महनीय उदात्त रूप अवांतर काल में सिमिटकर केवल उसके 'जलदेवता' के रूप में शेष रह गया।

रुद्र त्रिदेवों में अन्यतम देव होने से पुराणों में सातिशय श्रद्धा तथा आदरणीय उपासना का पात्र है। उसके वैदिक रूप के विषय में आलोचकों में गहरा मतभेद है[१]। अनेक आलोचक रुद्र (शिव) को मूलतः द्रविड देवता मानते हैं जिसे आर्यों ने अपने देवमंडल में पीछे ग्रहण कर लिया। परंतु वैदिक ग्रंथों की आलोचना से यह पुष्ट तथा प्रमाणित नहीं होता। रुद्र अग्नि के ही वस्तुतः प्रतीक हैं। रुद्र के ज्योतिर्लिंग की कल्पना, जलधारी के बीच उनकी स्थापना, जल से अभिषेक, शिवभक्तों के भस्मधारण की प्रथा ये सब तथ्य इसी प्रतीक के पोषक हैं। ऋग्वेद[२], अथर्व[३] तथा शतपथ[४] में इस एकीकरण का स्पष्ट उल्लेख है। अग्नि अपनी घोरा तनु से संसार का संहार करने में समर्थ तथा वही अपनी अघोरा तनु से संसार के पालन में प्रवृत्त होता है। संहारकारिणी विद्युत् भूतल पर प्रभूत जल के वर्षण का कारण बनती है। उसी प्रकार उग्ररूप के हेतु जो देव 'रुद्र' हैं, वही जगत् के मंगलसाधन के कारण 'शिव' हैं। रुद्र-शिव की अभिन्नता की प्रथम सूचना ऋग्वेद[५] में ही उपलब्ध होती है। इस प्रकार रुद्र शिव को आर्य वैदिक देवता मानना ही सर्वथा उचित है।

वैदिक देवियों में 'उषा' की कल्पना बड़ी ही मनोहारिणी है। नर्तकी के समान चमकीले वस्त्रों से सज्जित, आलोकपुंज से आवृत उषा जब प्राची क्षितिज पर उदय होती है तब वह रजनी के घोर अंधकार को सिले हुए वस्त्र के समान दूर फेंक देती है। वह हिरण्यवर्णा है जिसके सौवर्ण रथ को लाल रंगवाले बलशाली घोड़े (किरणें) खींचकर आकाश में लाते हैं। वह प्राचीन होकर भी नित्य नूतन है और इसीलिये 'पुराणी युवतिः' शब्द का प्रयोग उषा के लिये होता है।

इन प्रधान देवों के अतिरिक्त कालांतर में मन्यु, श्रद्धा आदि अमूर्त गुणों की प्रतीकरूपिणी नवीन देवताओं की भी कल्पना की गई है तथा प्राचीन देवों के रूपों में भी यथास्थान परिवर्तन लक्षित होते हैं[६]।

१ देखिए—बलदेव उपाध्याय : धर्म और दर्शन, पृ० १७–२१। (शारदा मंदिर, काशी)
२ त्वमग्ने रुद्रो। ऋ० वे० २।१।६।
३ तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये। अ० वे० ७।८३।
४ अग्निर्वै रुद्रः। श० ब्रा० ३।१।३।
५ ऋ० वे० २।३३।७।
६ वैदिक देवमंडल के विस्तृत स्वरूपवर्णन के निमित्त द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ४८४–५२०।

४. पूजापद्धति

(१) प्रार्थना—सबसे सरल और प्राचीन पूजापद्धति प्रार्थना थी जो सबके लिये सुलभ थी। वेदों के सूक्त और उनके मंत्र वास्तव में प्रार्थनाओं के ही संग्रह हैं। सूक्ति, स्तुति, स्तवन, आशंसा आदि से देवताओं को प्रसन्न किया जाता था और पार्थिव सुखों की प्राप्ति की आशा उनसे की जाती थी।

(२) यज्ञ—यज्ञ वैदिक धर्म का प्रतीक है। अग्नि में नाना देवताओं के उद्देश्य से हविष्य अथवा सोमरस का हवन 'यज्ञ' के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञसंस्था का प्राधान्य है। वैदिक आर्य अग्नि के उपासक थे। अग्नि के मुख्यतया दो प्रकार हैं[1]—(१) स्मार्ताग्नि, जिसका स्थापन प्रत्येक गृहस्थ अर्थात् विवाहित व्यक्ति के लिये नितांत आवश्यक है, जिसमें गृह्याग्नि में क्रियमाण यज्ञ 'पाकयज्ञ' के नाम से अभिहित होता है; (२) श्रौताग्नि, जिसमें श्रौत यज्ञों का विधान होता है। इसके भी चार अवातर प्रकार हैं—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि तथा सभ्याग्नि। स्मार्त तथा श्रौत कर्मों की संमिलित गणना इक्कीस मानी जाती है—सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ, सात सोमसंस्था। 'अग्न्याधान' करनेवाला व्यक्ति ही इन यज्ञों के सपादन का अधिकारी होता है। अग्नि के आधान का पचीस के ऊपर तथा चालीस वर्ष से पूर्व वयवाले सपत्नीक व्यक्ति को अधिकार है तथा स्थापन के अनंतर यावज्जीवन अग्नि की उपासना करते रहना अनिवार्य होता है। अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रातः तथा सायंकाल अग्नि की उपासना है जिसमें मुख्यतः गोदुग्ध की तथा गौणतः यवागु, तंडुल, दधि तथा घृत की आहुति दी जाती है। दर्शपौर्णमास याग क्रमशः प्रति अमावस्या तथा प्रति पूर्णिमा को संपादित होता है। आग्रायण इष्टि नवीन उत्पन्न द्रव्यों, जैसे धान और जव, से शरद् और वसंत में विहित है। चातुर्मास्य प्रति चार मासों में अनुष्ठेय विशिष्ट याग की संज्ञा है। निरूढपशु प्रतिवत्सर वर्षा ऋतु में विहित है जिसमें छाग (बकरा) के हृदय, वक्ष, यकृत् आदि नाना अंगों का होम इंद्राग्नी, सूर्य अथवा प्रजापति के उद्देश्य से अग्नि में विहित है। सौत्रामणि भी पशुयाग का ही एक प्रकारांतर है जिसमें अश्विनी, सरस्वती तथा इंद्र के निमित्त अज, मेष तथा वृषभ की बलि का क्रमशः विधान है। 'सौत्रामण्यां सुराग्रहः' सौत्रामणी याग में सुरा का पीना एकात नियम नहीं है। आपस्तंब श्रौत सूत्र (१९।२।२३) के अनुसार दुग्धपान भी वैकल्पिक नियम है।

[1] द्रष्टव्य—वही, पृ० ५२१-५२८।

सोमयाग वैदिक आर्यों में ही नहीं प्रत्युत पारसी लोगों में भी बहुशः प्रचलित याग है जिसमें सोम (अवस्ता 'हओम') के रस को चुलाकर अग्नि में हवन का विधान है। 'मूंजवान्' नामक पर्वत के ऊपर उगनेवाली सोमलता को पत्थरों से कूटकर, पवित्र से द्रोणकलश में छानकर तथा गोदुग्ध मिलाकर नाना देवताओं के उद्देश्य से अग्नि में प्रक्षेप का विधान इस याग की विशेषता है। इसके सात प्रकारों में 'अग्निष्टोम' ही प्रकृतियाग है। 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' (साम सं० ३५) ऋक् पर सामगान से समाप्ति इस याग के नामकरण का कारण है। यह पाँच दिनों में समाप्त होता है जिनमें बारह 'शस्त्रों' का प्रयोग होता है। उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र को पूर्वयाग से संमिलित कर 'ज्योतिष्टोम' के नाम से पुकारते हैं। अत्यग्निष्टोम, आप्तोर्याम तथा वाजपेय भी पूर्वोक्त ज्योतिष्टोमों में आवापोद्वाप से निष्पन्न नवीन संस्थाएँ हैं। सोम का 'त्रिषवण' होता है अर्थात् तीन बार प्रातः, मध्यंदिन तथा सायं उसका रस चुलाया जाता है। सवनकर्म की ही अपर संज्ञा 'सुत्या' है।

इन यागो के अतिरिक्त 'गवामयन', 'वाजपेय', 'राजसूय' तथा 'अश्वमेध' नामक यज्ञों का भी विधान भिन्न भिन्न अधिकारियों के उपयोग के लिये किया गया है। ये समस्त यज्ञ दीर्घकालव्यापी होते हैं। 'राजसूय' यज्ञ का अधिकारी अभिषिक्त क्षत्रिय राजा ही होता है। ब्राह्मण तथा वैश्य का इसमें अधिकार नहीं होता। 'अश्वमेध' सोमयाग का ही एक प्रकार है परंतु अश्व के सवनीय पशु होने के कारण यह इस विशिष्ट नाम से पुकारा जाता है। इसका अधिकारी अभिषिक्त सार्वभौम राजा ही होता है। यह भी दीर्घकालव्यापी यज्ञ होता है जिसमें एक विशिष्ट प्रकार का अश्व एक सौ अन्य अश्वों के संग में चार सौ रक्षियों की संरक्षता में विभिन्न दिशाओं के प्रांतों से निर्विघ्न लौट आता था, तब उसके अंगो का अग्नि में हवन किया जाता था। यह यज्ञसंस्था संहिताकाल में विद्यमान थी, परंतु इसका परिबृंहित रूप ब्राह्मण युग की निजी विशिष्टता थी[1]।

(३) मंदिर और मूर्तिपूजा का अभाव—वैदिककाल में मंदिरो और मूर्तिपूजा का प्रायः अभाव था। मनुष्य प्राकृतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का साक्षात् दर्शन और अनुभव करता था, अतः उसे मूर्ति जैसे प्रतीक और उसके संस्थान मंदिर की आवश्यकता न थी। संभवतः देवताओं की दारुनिर्मित प्रतिकृतियाँ यज्ञीय अवसरों पर बनती थीं।

[1] यज्ञसंस्था के विशेष ज्ञान के लिये पठनीय ग्रंथ—म० म० विद्याधर अग्निहोत्री रचित 'कातीय श्रौत सूत्र' की सरलावृत्ति की भूमिका, पृ० ४२–७५, (काशी)। चित्रस्वामी रचित 'यज्ञप्रकाश' (कलकत्ता)। रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी रचित 'यज्ञकथा' (बँगला, कलकत्ता)। आर्य विद्यासुधाकर (मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर)।

(४) **शिश्नपूजा (?)**—यह पूजा पद्धति भी वैदिक आर्यों में प्रचलित न थी। उनके शत्रुओं के विशेषणों में 'शिश्नदेवाः' (शिश्न = पुरुषेंद्रिय को देवता माननेवाले) भी कहा गया है। परंतु इसका दूसरा अर्थ 'कामुक' भी है। परवर्ती लिंगपूजा शिश्नपूजा से भिन्न है और इसका विकास आगे चलकर हुआ।

५. नीति

वैदिक समाज में चतुर्वर्ण्य की संगठित व्यवस्था थी। वैदिक यज्ञ का संपादक और निर्वाहक होने के कारण ब्राह्मण चारों वर्णों में अग्रतम था। वेद शास्त्र का अध्येता ब्राह्मण 'मनुष्यदेव' के महनीय अभिधान से मंडित था[१]। ब्राह्मण का बल उसके मुख में, भाषण में, वाक्शक्ति में ही माना जाता था, क्योंकि उसकी सृष्टि विराट् पुरुष के मुख से हुई थी[२]। ऐसे अनूचान ब्राह्मण के वश में क्षत्रिय के रहने पर ही राष्ट्र का मंगल तथा वीर पुरुषों का उदय माना जाता था[३]। क्षत्रिय राष्ट्र का रक्षक, वैश्य उसका वर्धक तथा शूद्र उसका सेवक समझा जाता था। फलतः उस युग में सामाजिक सहयोग, पारस्परिक सहानुभूति तथा अंतरंग सामंजस्य के ऊपर समाज व्यवस्थित था। नैतिक जीवन के ऊपर सर्वत्र आग्रह था। सत्यभाषण, शोभन, सदाचार, विशुद्ध व्यवहार समाज का मेरुदंड था। तांड्य ब्राह्मण में असत्य भाषण वाणी का छिद्र माना गया है[४] अर्थात् जिस प्रकार छेद के भीतर से सब वस्तुएँ गिर जाती हैं, उसी प्रकार अनृतभाषी की वाणी में से उसका सब सार गिर जाता है। शतपथ के अनुसार सत्य का भाषण अग्नि का घृत से अभिषेक है अर्थात् उद्दीप्त करना है। अनृत जलते हुए अग्नि पर जल का अभिषेक है[५]। श्रद्धा तथा सत्य ही उत्तम मिथुन है[६], जिसकी सहायता से यजमान स्वर्ग लोक को जीतने में समर्थ होता है। समाज में दान तथा आतिथ्य की प्रतिष्ठा थी। जो मनुष्य न देवों को, न पितरों को और न अतिथियों को दान से तृप्त करता है, वह 'अनद्धा' (अनृत) कहलाता है[७]। सायंकाल में आए हुए अतिथि का किसी प्रकार निराकरण

[१] ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः। श० ब्रा० २।२।२।६।

[२] तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति। मुखतो हि सृष्टः। तां० ब्रा० ६।१।६।

[३] तद् यत्र ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद् राष्ट्रं समृद्धं तद् वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते। ऐ० ब्रा० ८।९।

[४] तद् वाचश्छिद्रं यदनृतम्। तां० ब्रा० ८।६।१२ (चौखंभा संस्कृत सीरीज, काशी)

[५] श० ब्रा० २।२।२।१९।

[६] ऐ० ब्रा० ७।१० (आनंदाश्रम, पूना)

[७] वही, ७।९

न करना चाहिए[१] । आतिथ्य (अतिथि सत्कार) यज्ञ का शिर माना जाता था और इसीलिये अतिथि का पूजन यज्ञ के मस्तक के पूजन के समान पवित्र तथा शोभन माना जाता था :

शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम्[२] ॥

'पत्नी' शब्द भी समाज में स्त्री के महत्त्वपूर्ण स्थान का किंचित् परिचय देता है। पत्नी शरीर का आधा भाग मानी जाती थी[३] और इसीलिये पत्नी से विहीन पुरुष यज्ञ करने का कथमपि अधिकारी नहीं होता था[४] । यज्ञ में यजमान की सहधर्मचारिणी होने के कारण ही पत्नी का पत्नीत्व है । पति पत्नी का संबंध केवल भौतिक न होकर धार्मिक तथा आध्यात्मिक था । ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र की भव्य प्रशंसा समाज में वीर संतान का मूल्यांकन करने में पर्याप्त मानी जा सकती है । पुत्र आत्मा से जन्म लेनेवाला स्वयं आत्मा ही होता है । वह अन्न से भरी वह नौका है जो इस संसृतिसरित् को पार करने मे नितांत समर्थ होती है । 'ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्', 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' आदि श्रुतिवाक्य पुत्र के सामाजिक मूल्य की कल्पना के कतिपय निदर्शन मात्र हैं[५] । नारी का परम धर्म पातिव्रत धर्म का पालन था । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो स्त्री एक की होती हुई दूसरे के साथ संगति करती है वह वरुण संबंधी (वरुण्य पाप) कार्य को करती है अर्थात् नितांत पाप का भाजन बनती है[६] । वैदिक काल में समाज के लिये जो सदाचार का आदर्श स्थापित किया गया, उसी का प्रामाण्य भारतीय समाज ने अपने आचरण में माना तथा हमारे धर्मशास्त्रों एवं स्मृतिग्रंथों में उसी का विश्लेषण तथा परिवर्धन भिन्न भिन्न समयों मे नाना रूपो में किया गया ।

६. औपनिषद तत्त्वज्ञान

छंदस् और वैदिक संहिताओं का तत्त्वज्ञान उपनिषदों में अधिक स्पष्ट और विकसित हुआ । अतः उपनिषदें प्रस्थानत्रयी के अंतर्गत प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत की गईं । उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ है (उप+नि+सद्) रहस्यज्ञान के

१ तस्मादाहुर्न सायमतिथिरपरुध्य. । ऐ० ब्रा० ५।३० ।

२ ऐ० ब्रा० १।१५ ।

३ अधा अर्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी । तै० ब्रा० ३।३।३।५ (आनंदाश्रम, पूना)

४ अयज्ञो वा एष यदपत्नीकः । तै० ब्रा० २।२।२।६ ।

५ द्रष्टव्य—ऐ० ब्रा०, सप्तम पञ्चिका, तृतीय अध्याय ।

६ वरुण्यं वा एतत् स्त्री करोति यदन्यस्य सती अन्येन चरति । वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति । (श० ब्रा० १२।७।२।१७)

लिये गुरु के पास बैठना। किंतु 'उपनिषद्' का मुख्य अर्थ है अध्यात्म विद्या जो ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति) तथा जिसके अनुशीलन से अविद्या का नाश (विशरण) और गर्भवासादि दुःखवृंदों का सर्वदा शिथिलीकरण (अवसादन) सिद्ध हो जाता है। तदनंतर अध्यात्म के प्रतिपादक ग्रंथों के लिये भी इसका व्यवहार होता है[१]।

भारत के अध्यात्म शास्त्रों की मूल भित्ति, दृढ़ आधारशिला, होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। भारतवर्ष की धार्मिक तथा दार्शनिक चिंताधाराएँ यहीं से प्रवाहित होकर सर्वत्र आप्लावित होती हैं। उपनिषदों का केवल इतना ही महत्त्व नहीं है, पश्चिम के महान् तत्त्ववेत्ताओं के ऊपर भी इसका प्रभाव अक्षुण्ण रहा है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक पाइथेगोरस, मध्ययुगी दर्शन निओ-प्लेटोनिज्म तथा जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपेनहावेर के सिद्धांतों पर उपनिषदों की अमिट छाप तथा व्यापक प्रभाव की मान्यता सर्वत्र अंगीकृत है। कुरान में जिस गुह्य पुस्तक (किताबे मकनून) का उल्लेख किया गया है वह दाराशिकोह की व्याख्या के अनुसार उपनिषद् ही है[२]। पश्चिमी विद्वानों का यह आग्रह कि ज्ञानकांड का प्रथम उदय कर्मकांड के विरोध में उपनिषदों में ही सर्वप्रथम हुआ दुराग्रहमात्र है। उपनिषदों के मूल स्रोत का पता स्वयं उन्हीं के प्रमाण पर संहिता में मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (२।५) मधुविद्या के सांगोपाग विवेचन के अनंतर स्वयं मधुविद्या को दध्यङ् आथर्वण ऋषि के द्वारा उद्भावित बतलाती है तथा ऋग्वेद के मंत्रों को उद्धृत करती है[३]। द्वैतवाद का प्रधान उद्बोधक मंत्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया[४]' ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में उभयत्र प्राप्त होता है। संहिता के मंत्रों में उद्भावित तत्त्वज्ञान का ही विकसित रूप उपनिषदों का वैभव है। भारतीय तत्त्वज्ञान की विकासधारा के प्रवाह का यही निश्चित तथा सुव्यवस्थित क्रम है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९०), अदिति सूक्त (१।१६) तथा हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) और अथर्ववेद के स्कंभ सूक्त (१० कांड, ७-८ सूक्त) तथा उच्छिष्ट सूक्त (११।६) संहिताओं में उन्मीलित तत्त्वचिंतन के कतिपय संकेतमात्र हैं।

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (१०।१२६) अपनी आध्यात्मिक चिंतना के कारण नितांत गौरवपूर्ण सूक्त है। सृष्टि के आदिकाल की मीमांसा करता हुआ यह

[१] द्रष्टव्य—कठ तथा तैत्तिरीय उपनिषदों के शांकर भाष्य का उपोद्घात। (आनंदाश्रम, पूना)

[२] द्रष्टव्य—दाराशिकोह रचित 'रिसाल-ए-हकनुमा' नामक फारसी ग्रंथ का श्रीशचंद्र बसु द्वारा अँगरेजी अनुवाद (थियोसाफिकल सोसाइटी, काशी)

[३] ऋ० वे० १।११६।१२।

[४] मुं० उ० ३।१; ऋ० वे० १।१६४।२० तथा अ० वे० ९।९।२०।

ऋषि अद्वैत तत्त्व के निर्धारण में समर्थ होता है। उस समय न तो मृत्यु थी, न अमरत्व था, उस समय रात्रि तथा दिन का अभी पार्थक्य नहीं था। उस समय केवल एक ही था जो वायु के बिना भी अपने सामर्थ्य से साँस ले रहा था और उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं :

न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास[1] ॥

यह है नितांत उदात्त एकत्व धारणा तदेकम् (वह एक) और भारतीय दर्शन का यही मूल मंत्र है जिससे आज भी भारतीय संस्कृति अनुस्यूत, अनुप्राणित तथा परिपोषित है। इसी अभिन्नता तथा तात्त्विक एकता का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान विषय है।

(१) ब्रह्म—उपनिषदों में आपाततः विरोधी सिद्धांतों का भी दर्शन स्थान स्थान पर होता है, परंतु उनकी यथार्थ मीमांसा हमें एक ही तथ्य पर पहुँचाती है— ब्रह्म तथा आत्मा का अभिन्नत्व। उपनिषदों में परमतत्त्व 'ब्रह्म' के व्यापक अभिधान से संकेतित है जिसके दो रूप हैं : सविशेष अथवा सगुण रूप (अपर ब्रह्म), निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप (परब्रह्म)। इन दोनों में निर्विशेष ब्रह्म ही श्रेष्ठ माना जाता है। निर्विशेष ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण अथवा लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता। सविशेष भाव में गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती है। सविशेष ब्रह्म सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगंधः तथा सर्वरसः आदि शब्दों के द्वारा पुल्लिंग में ही वर्णित किया जाता है। इसके विपरीत निर्विशेष ब्रह्म अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् आदि नपुंसक पदों के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है[2]। सगुण तथा निर्गुण, सोपाधि तथा निरुपाधि आदि शब्द एक ही ब्रह्मतत्त्व के निर्देशक हैं। ब्रह्म, सत्य, ज्ञान तथा अनंत रूप है[3]। वह विज्ञान तथा आनंद रूप है[4]। छांदोग्य उपनिषद् केवल एक ही 'तज्जलान्' शब्द से उसके तटस्थ लक्षण का प्रतिपादन करता है। यह जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन

[1] ऋ० वे० १०।१२९।

[2] संति उभयलिंगाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। सर्वकर्मेत्याद्याः सविशेष लिंगाः, अस्थूलमनणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेष लिंगाः। शांकरभाष्य (निर्णयसागर प्रेस, बंबई)

[3] सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म। तै० उ० २।१ (आनंदाश्रम, पूना)

[4] विज्ञानमानंदं ब्रह्म। बृ० उ० ३।९।२८।

होता है (तज्ज) तथा उसी के कारण स्थितिकाल में प्राण धारण करता है[१]। (तदन्) तैत्तिरीय उपनिषद् इसी सिद्धांत का प्रतिपादन सुंदर शब्दों में करता है[२]। निर्गुण ब्रह्म का निर्देश निषेधमुखेन ही किया जा सकता है, भावमुखेन नहीं। इसी रूप की परिचायिका श्रुति है[3] :

स एव नेति नेति आत्मा । अथात आदेशो भवति नेति नेति । नह्येतस्मात् अन्यत् परमस्ति ।

'नेति नेति' (यह नहीं, यह नहीं) ही परब्रह्म का यथार्थ परिचय है। वह देश, काल तथा निमित्त रूपी उपाधियों से विरहित होने के कारण निरुपाधि कहलाता है। केनोपनिषद् (१।५) में इस निष्प्रपंच ब्रह्म का बड़ा ही हृदयंगम रूप वर्णित है। ब्रह्म इस सृष्टि का समभावेन उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही है।

(२) **आत्मा**—मांडूक्य उपनिषद् में आत्मा का शुद्ध रूप 'तुरीय' के नाम से विख्यात है। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति उसी आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इन दशाओं से पृथक् तथा अंतरंग दशा शुद्ध आत्मा की 'तुरीय' दशा है जिसमें आत्मा अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अचिंतनीय, अव्यपदेश्य (नामरहित), प्रपंचोपशम, शात, शिव अद्वैत कहलाता है[४]। ओंकार की तुरीय अर्धमात्रा शुद्ध आत्मा की इसी दशा की परिचायिका है। शुद्ध आत्मा तथा ब्रह्म में वस्तुतः अभिन्नता है। जो मनुष्य इस जगत् में अनेकत्व को देखता है वह मृत्यु के अनंतर मृत्यु को प्राप्त करता है[५]। इस जगत् में सर्वत्र व्यापक इस एकता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर 'सद्योमुक्ति' को एक ही जीवन में प्राप्त कर सकता है।

आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति ही उपनिषदों का चरम लक्ष्य है[६]। '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती) भारतीय तत्त्वज्ञान का डिंडिमनाद है। 'स्व' रूप का बिना साक्षात्कार किए शास्त्र का कोरा मंथन (चर्वित चर्वण) व्यर्थ है। आचार्य शंकर ने शुष्क ज्ञान की निंदा बड़े ही स्मरणीय शब्दों में की है। वागवैखरी, शब्दझरी (शब्दों की झड़ी) शास्त्र तथा विज्ञान का

१ तज्जलानिति शात उपासीत। छा० उ० ३।१४।१।

२ तै० उ० ३।१।

3 बृ० उ० ४।४।२२।

४ माण्डूक्य उपनिषद्।

५ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। कठ० ४।११।

६ तमेव विदित्वा ति मृत्युमेति
नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ॥ श्वे० उ० ३।८।

कौशल, विद्वानों की वैदुषी सब भुक्ति के साधन हैं, मुक्ति के नहीं[१]। परमतत्त्व के ज्ञान के अभाव में शास्त्र का अध्ययन निष्फल होता है। अतः उपनिषदों ने ध्यानयोग तथा तत्त्वज्ञान के बल पर परमतत्त्व की उपलब्धि को ही जीवन का ध्येय माना है।

(३) उपासना—ओंकार की उपासना का इसी प्रसंग में विशेष महत्त्व वर्णित है। 'ओंकार' स्वयं परमतत्त्व का अक्षरमय विग्रह है जिसका निरंतर ध्यान करने से निगूढ़ देव का भी दर्शन किया जा सकता है[२]। वास्तव में आनंद की प्राप्ति उस 'भूमा' के दर्शन में ही है। आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति करनेवाला जीव अपने आत्मा से प्रेम करता है (आत्मरतिः), अपने आत्मा से क्रीड़ा करता है (आत्मक्रीडः), अपने आत्मा के संग का अनुभव करता है (आत्ममिथुनः) तथा अपने आत्मा में निरतिशय आनंद प्राप्त करता है (आत्मानंदः)। स्वोपलब्धि का तात्पर्य ही है अपने विशुद्ध आनंदमय रूप में अखंड विहार। उपनिषदों में इस आनंददशा की तुलना भौतिक जगत् में प्रिया-प्रियतम के मिलन से की गई है[३]। प्रिया से आलिंगन किए जाने पर पुरुष न तो किसी बाहरी वस्तु को जानता है, न भीतरी को। उसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा से संपरिष्वक्त पुरुष न बाह्य को जानता है, न अंतर को। वही उसका आप्तकाम, आत्मकाम तथा अकाम रूप होता है। उस समय वाणी का व्यापार बंद हो जाता है। केवल 'शिवः केवलोऽहम्' की अपूर्व उपलब्धि होती है। यह स्थिति स्वानुभूत्येक-गम्य है, अपनी ही अनुभूति यथार्थ निरूपक है। परानुभूति तो उसकी फीकी झलक है। यही अपरोक्षानुभूति वैदिक तत्त्वज्ञान का हृदय है तथा भारतीय रहस्यवाद का मूल मंत्र है। औपनिषद तत्त्वज्ञान का यही चूड़ांत सिद्धांत है।

७. हिंदी साहित्य में वैदिक परंपरा

वैदिक धर्म तथा वैदिक दर्शन के सिद्धांतों की परंपरा का निर्वाह करने का प्रयास हिंदी साहित्य में भी किया गया है। मध्ययुग में भक्ति साहित्य के उदयकाल में यह परंपरा अवश्यमेव प्रच्छन्न लगती है, परंतु वीरगाथाकाल के रासो ग्रंथों तथा मध्ययुगीन प्रबंध काव्यों में, विशेषतः रामकथा तथा महाभारत कथा से संबद्ध काव्यों में, इस परंपरा की झाँकी स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

[१] वागवैखरी शब्दझरी शास्त्र-विज्ञान-कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये॥ विवेक चूडामणि (पूना)।

[२] श्वे० उ०, १।१४।

[३] बृ० उ०, ४।३।२१।

वीरगाथाकाल के अनेक रासो ग्रंथों में अर्बुद पर्वत के शिखर पर एक विशिष्ट यागविधान का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है जिससे राजपूतों के विशिष्ट कुलों की उत्पत्ति बतलाई जाती है। ये राजपूत लोग 'अग्निवंशीय' नाम से इतिहास ग्रंथों में उल्लिखित किए जाते हैं। इस यज्ञ के ऐतिहासिक महत्त्व के विषय में मान्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कोई इसे अनार्यों के आर्यीकरण का प्रतीक मानता है, तो कोई सूर्यवंशी तथा चंद्रवंशी क्षत्रियों से पृथक् राजपूतवंशों की एकात्मक सत्ता तथा उत्पत्ति का आध्यात्मिक प्रयास मानता है। कारण के विषय में मतभेद भले ही हो, परंतु वैदिक यज्ञविधान की परंपरा का यह पूर्ण निर्वाह आश्चर्यजनक नहीं है। हम्मीररासो के आरंभ में ही अर्बुद पर्वत (आधुनिक आबू पहाड़) के शिखर पर यज्ञ का विस्तृत वर्णन मिलता है जिसमें यज्ञ की सामग्री, ऋषियों का विवरण, यज्ञ की प्रक्रिया का विधान आदि विषयों का रोचक वर्णन है। इसी प्रकार पृथ्वीराजरासो के भी ४८वें तथा ४९वें समयों में राजा जयचंद के द्वारा विहित राजसूय यज्ञ का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है[1]। मंत्री ने राजा को बहुत ही समझाया कि इस कलियुग में अर्जुन तथा भीम के समान प्रतापी राजाओं का सर्वथा अभाव है और इसलिये राजसूय का विधान सर्वथा वर्ज्य है परंतु जयचंद ने इन शब्दों पर कान नहीं दिया। राजाओं को निमंत्रण दिया गया तथा यज्ञ का आरंभ बड़े ही उत्साह तथा उल्लास के साथ किया गया। यह यज्ञ सोलह दिनों में समाप्त होने को था। इसका आरंभ हुआ था माघ कृष्ण पंचमी को और केवल आठ ही दिन बीते थे कि बालुकाराय की मृत्यु के कारण रंग में भंग हो गया[2]। इस अवसर पर कन्नौज नगर (जयचंद की राजधानी) की शोभा तथा सजावट का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन रासो में मिलता है[3]। इस अघटित अमंगल की घटना के कारण यज्ञ का विध्वंस होता है और पृथ्वीराज से वैर निर्यातन की भावना का वह उग्र रूप दृष्टिगोचर होता है जो हिंदू साम्राज्य के लिये यवनिका-पतन है।

राजसूय तथा अश्वमेध का विधान मूर्धाभिषिक्त सम्राटों के लिये मान्य तथा उपादेय बतलाया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (सप्तम पंचिका) तथा शतपथ ब्राह्मण में इन यज्ञों का सांगोपांग विधान ही निर्णीत नहीं हुआ है, प्रत्युत उन विशिष्ट सम्राटों के नाम तथा काम का भी पूरा विवरण यहाँ मिलता है जिन्होंने इन यागों

[1] द्रष्टव्य—पृथ्वीराज रासो के ४८२वें तथा ४९वें समय, विशेषतः पृष्ठ १२९३, १२९७ तथा पृष्ठ १३२१, १३२३ (नागरीप्रचारिणी सभा का संस्करण, भाग ३, सन् १९०७)।

[2] जग्य उजाये अट्ठ दिन। अठ्ठ रहे दिन अग्ग।
तेरसि माघह पुब्ब पष। सुंदर पुकारह जग्य॥ पृथ्वीराज रासो, ४९ समय, प्रथम दूहा॥

[3] रासो, पृ० १३११-१३१२।

का विधिवत् संपादन कर एकछत्र साम्राज्य भोगने का विरल गौरव प्राप्त किया था। ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र दो बार अश्वमेध यज्ञ का संपादन कर वैदिकत्व के अपने प्रकृष्ट अभिमान का परिचय देता है तथा जयचंद का यह रासोनिर्दिष्ट राजसूय भी इसी परंपरा की एक शृंखला है।

रामायण की कथा में यज्ञ का दो बार प्रसंग आता है—एक बार बालकांड में 'पुत्रेष्टि' यज्ञ के अवसर पर तथा लंकाविजय के अनंतर 'रामाश्वमेध' के अवसर पर। रामकथा के विषय में लिखित हिंदी प्रबंध काव्यों में इन दोनों यज्ञों का वर्णन यथास्थान उपलब्ध होता है, किसी में कम और किसी में अधिक। पुत्रेष्टि यज्ञ का वर्णन स्वतंत्र काव्य के रूप में नहीं मिलता, परंतु रामाश्वमेध हिंदी कवियों के लिये नितांत रोचक विषय रहा है और इसीलिये इस विषय में अनेक स्वतंत्र काव्यों की रचनाएँ दोहा चौपाई शैली में उपलब्ध होती हैं। इनमें प्राचीनतम रामाश्वमेध है मस्तराम विरचित। कविवर मस्तराम का व्यक्तित्व तथा कवित्व आलोचकों की दृष्टि से अभी तक इसीलिये ओझल है कि उन्होंने खोज-विवरणिका[1] को छोड़ अभी तक हिंदी साहित्य के किसी इतिहास के पृष्ठों में पदार्पण नहीं किया है। ये मस्तराम जी अपने को गोसाईं तुलसीदास का शिष्य बतलाते हैं जिनकी आज्ञा पाकर ही उन्होंने इस 'रामाश्वमेध' की रचना रामचरितमानस की शैली पर की और अपने गुरु के अनेक छंदों को अपने ग्रंथ में संमिलित कर उसे गौरवशाली बनाया। ग्रंथ का निर्माणकाल उल्लिखित नहीं है, परंतु पूर्वोक्त विवरण की सत्यता में अश्रद्धा करने का कारण भी हमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

केशवदास का रामाश्वमेध वर्णन कल्पक्रम से इसके अनंतर आता है। रामचंद्रिका के तीन प्रकाशों (सर्ग, ३५-३८ प्रकाश) में इस अश्वमेध का विस्तृत वर्णन नाना छंदों में रोचक ढंग से किया गया है। केशवदास संस्कृत साहित्य के प्रकृष्ट पंडित थे। फलतः उन्होंने यहाँ अश्व के स्वरूप तथा गुण का, साथ में रक्षक चतुरंगिणी सेना का तथा लव कुश के युद्ध आदि विषयों का साहित्यिक विवरण प्रस्तुत कर अपनी साहित्यमर्मज्ञता तथा पांडित्य का सुंदर परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त जिन कवियों ने इस विषय को स्वतंत्र काव्य के रूप में बाँधा है उनका

[1] द्रष्टव्य—हिंदी ग्रंथों की खोज, १५वीं खोज-विवरणिका, नं० १४१।

[2] तुलसी गुरु विमल कर आज्ञा सिस्यहि दीन।
मस्तराम अस नाम तिहि यथाबुद्धि समकीन।
तुलसीदास कर प्रेरऊ, ताते कहा बुझाय।
भूल चूक सज्जन सकल, सोधि लेहु मिटाय॥ पूर्वोक्त विवरण में उद्धृत।

रचनाकाल के साथ निर्देशमात्र ही पर्याप्त होगा[1]। १. महुअरिदास (रचनाकाल सं० १८३२–३६), २. मोहनदास (र० का० सं० १८३९), ३. हरिसहाय गिरि (र० का० सं० १८५६), ४. नाथगुलाम त्रिपाठी (र० का० सं० १८६२), ५. जन हरिदेव (र० का० सं० १६१६), ६. गंगाप्रसाद माथुर (समय अज्ञात), ७. गुरुदीन (समय अज्ञात)।

महाभारत की कथा से संबद्ध **जैमिनीय अश्वमेध** का विषय तो रामाश्वमेध की अपेक्षा हिंदी कवियों के लिये बड़ा ही रोचक तथा लोकप्रिय रहा है। इसका वर्णन महाभारत के आश्वमेधिक पर्व तथा स्वतंत्र जैमिनि पुराण में विस्तार के साथ मिलता है। अहिंदी कवियों के लिये भी यह विषय कम रोचक नहीं रहा है[2], परंतु हिंदी में इस विषय पर निबद्ध स्वतंत्र प्रबंधकाव्यों की रचना सबसे अधिक है। इनमें प्राचीनतम **'जैमिनि अश्वमेध'** को पुरुषोत्तमदास कवि ने १५५८ विक्रमी में दोहा चौपाइयों की शैली में रचा जो रामचरितमानस से भी ७३ वर्ष पूर्व लिखा गया। ये कवि अयोध्या के पास ही किसी ग्राम के निवासी थे। ग्रंथ की अनुष्टुप संख्या ३८४० है जो इसके विस्तार का परिचायक है। **रतिमान** कवि कालपी के पास इटौरा के निवासी थे तथा प्रणाम पंथानुयायी किसी परशुराम के शिष्य थे। इनका जैमिनि पुराण सं० १६८८ (१६३१ ई०) की रचना है। पूरन कवि का जैमिनि पुराण (र० का० १६७६) भी विस्तार में काफी बड़ा तथा साहित्यिक दृष्टि से रोचक है।

अश्वमेध संबंधी ग्रंथों की सूची

क्र० सं०	ग्रंथ	ग्रंथकार	र० काल	लि० काल
१.	जैमिनि अश्वमेध	पुरुषोत्तमदास	सं० १५५८ वि०	१८५२ वि०
२.	जैमिनि पुराण	परमदास	सं० १६४६ वि०	१७६३ वि०
३.	जैमिनि पुराण	रतिमान	सं० १६६८ वि०	१८४४ वि०
४.	जैमिनि पुराण	पूरन कवि	सं० १६७६ वि०	१६०० वि०
५.	जैमिनि पुराण	सेवादास	सं० १७०० वि०	१८५२ वि०

[1] इन अप्रकाशित ग्रंथों का विवरण भिन्न भिन्न खोज विवरणों में मिलता है और वहीं से ये यहाँ संगृहीत हैं।

[2] कन्नड साहित्य के महाकवि लक्ष्मीश (१७वीं शती का उत्तरार्ध) का 'जैमिनि भारत' कर्णाटक प्रांत में सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय काव्य है, ठीक तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के समान। द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : 'भागवत संप्रदाय' नामक ग्रंथ, पृ० ४२, ४३। (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१०)

६.	जैमिनि अश्वमेध	सुवंशराय	सं० १७४६ वि०	१७८२ वि०
७.	जैमिनि कथा	केशवराय	सं० १७५३ वि०	१८५८ वि०
८.	जैमिनि पुराण	जगतमणि	सं० १७५४ वि०	...
६.	जैमिनि अश्वमेध	रामपुरी	सं० १७५४ वि०	...
१०.	जैमिनि अश्वमेध	भगवानदास 'निरंजनी'	सं० १७५५ वि०	...
११.	जैमिनि पुराण	प्राननाथ	सं० १७५७ वि०	१६४२ वि०
१२.	जैमिनि पुराण	पीतांबर	सं० १८०१ वि०	१८२६ वि०
१३.	जैमिनि पुराण	रामप्रसाद	सं० १८०५ वि०	१८८५ वि०
१४.	जैमिनि पुराण	सरयूराम पंडित	सं० १८०५ वि०	...
१५.	जैमिनि अश्वमेध	कूर कवि	सं० १८०७ वि०	१६२६ वि०
१६.	जैमिनि अश्वमेध	खंडन कवि	सं० १८१६ वि०	१८७७ वि०
१७.	जैमिनि पुराण	नंदलाल	...	१८८२ वि०
१८.	जैमिनि पुराण	प्रेमदास	...	...

जैमिनि अश्वमेध के विषय में प्रणीत इन काव्यों की आलोचना इस वैदिक विषय की लोकप्रियता का पर्याप्त परिचायक है। कालक्रम से अश्वमेध के अव्यवहार्य होने पर भी इतने ग्रंथो की निर्मिति वैदिक परंपरा के निर्वाह का सुंदर संकेत मानी जा सकती है।

वर्तमान हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ छायावादी महाकाव्य 'कामायनी' आधुनिक काल में वैदिक परंपरा के निर्वाह का सर्वोत्तम दृष्टांत है। इसके प्रणेता महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' ने शतपथ आदि अनेक ब्राह्मणों तथा भागवत आदि पुराणों में वर्णित जलप्लावन, मनु के द्वारा यागविधान तथा तदनंतर उत्पन्न सृष्टि का बड़ा ही प्रतिभासंपन्न सरस विवरण प्रस्तुत किया है।

उपनिषदों के सिद्धांतों की महत्ता की ओर भी मध्ययुगीन कवियों, संतों तथा ग्रंथकारों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। ऊपर उपनिषदों के प्रथम भाषातंर का उल्लेख किया गया है जिसे दाराशिकोह ने काशी के पंडितों तथा संन्यासियों की सहायता से सं० १७१४ वि० (१६५७ ई०) में विशुद्ध फारसी भाषा में किया था। इसमें ५० उपनिषदों के अनुवाद 'सिर्र ए अकबर'(महान रहस्य)के नाम से प्रकाशित हुए थे[१]। इसी फारसी अनुवाद का गद्यात्मक अनुवाद पुरानी ब्रजमिश्रित हिंदी में सं० १७७६ (१७२० ई०) में 'उपनिषद् भाष्य' के नाम से किया गया। लेखक के नाम का पता नहीं चलता। भाषा कुछ दुरूह सी अवश्य है, परंतु विषय को समझाने का

[१] विशेष के लिये द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २५१–५२।

प्रयत्न श्लाघनीय है। लेखक ने स्वयं लिखा है कि दारा शिकोह के १७१२ सं० में रचित उपनिषदों के 'यामनी भाषा' अनुवाद का यह हिंदी रूपांतर है जो दिल्ली में किया गया था। इसका रचनाकाल फारसी अनुवाद से ६४ वर्ष अनंतर है[1]। चरणदासी संप्रदाय के मूल प्रवर्तक चरणदास (१७६० सं०–१८३८ सं०) का ध्यान भी उपनिषदों की ओर विशेष आकृष्ट हुआ था। उनके संतमत में योग विद्या का महनीय स्थान होने के कारण उनका योगविषयक उपनिषदों की ओर आकर्षण होना बोधगम्य है। उन्होंने पाँच योग उपनिषदों—हंसनाद, तेजोबिंदु, योगशिला, सर्वोपनिषद् तथा तत्त्वयोग—का पद्यानुवाद सरल हिंदी में किया[2]। पद्य साफ तथा सरल हैं और मूल ग्रंथों के समझने में सहायक हैं। उपनिषदों के अन्य अनुवाद भी मिलते हैं।

यह स्वल्प समीक्षा इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि वैदिक कर्मकांड तथा तत्त्वज्ञान के मूल विषयो की ओर से हिंदी कवि पराङ्मुख नहीं थे। इन विषयों की परंपरा हिंदी साहित्य में जागरूक है।

[1] द्रष्टव्य—हिंदी खोज विवरण, सन् १६०१, ग्रं० ३३।

[2] विशेष वर्णन के लिये द्रष्टव्य—हिंदी खोज विवरण, वर्ष १६०३ ई०।

द्वितीय अध्याय

जैन धर्म

१. उदय

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि कर्मप्रधान वैदिक संस्कृति के समानांतर रूप से निवृत्तिमार्गी श्रमण संस्कृति की धारा प्रवाहित हुई थी। मध्ययुगीन जैनपुराणों में इसकी पर्याप्त चर्चा है। श्रमण संस्कृति की आधार शिला अहिंसा, तपस्या, योगचर्या आदि धार्मिक आचारों पर अत्यधिक आग्रह माना जाता है। इस संस्कृति का प्राचीनतम संदेशवाहक जैन धर्म तथा जैन दर्शन है। इस धर्म के उदय के विषय में भी मतभेद के लिये स्थान है। जैन परंपरा के अनुसार आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव ही इस मत के संस्थापक हैं। श्रीमद्भागवत में इनका चरित्र तथा उदात्त उपदेश संकलित है जिसे जैन धर्म के मूल उपदेशों का आधार माना जा सकता है। ऐतिहासिक अनुशीलन के आधार पर इस धर्म का उदय विक्रम पूर्व अष्टम शतक अवश्यमेव माना जा सकता है जब अंतिम तीर्थंकर से पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ का आविर्भावकाल अंगीकृत किया जाता है। उपनिषद् युग के पीछे की शताब्दियों में वैदिक कर्मकांड तथा ज्ञानकांड के प्रति तीव्र विरोध की भावना जाग्रत हुई। दार्शनिक क्षेत्र में संदेहवाद का इतना प्रबल साम्राज्य स्थापित हो गया कि इस काल में उत्पन्न नाना मतों का अपना कोई निश्चित सिद्धांत न होकर वितंडावाद (परमत का खंडन) ही जीवन का उद्देश्य था। उस युग की तीव्र प्रवृत्ति 'अक्रियावाद' की थी जिसके अनुसार न तो कोई कर्म है, न तो कोई क्रिया है और न कोई प्रयत्न है[1]। इसके उत्तर में जैन धर्म ने 'क्रियावाद' का जोर से समर्थन किया और यह घोषणा की कि कर्म, उत्थान (उद्योग), बल तथा वीर्य सबकी सत्ता है[2]। इस प्रकार दार्शनिक अव्यवस्था के भीतर व्यवस्था की तथा धार्मिक संदेहवाद के भीतर श्रद्धा की प्रकृष्ट प्रतिष्ठा करने के कारण जैन तथा बौद्ध धर्म जनता के प्रियपात्र बने, परंतु अन्य मत युक्तिविहीन तथा तर्करहित होने के कारण अकाल में ही कालकवलित हो गए।

[1] नत्थि कम्मं नत्थि किरियं, नत्थि विरियं।

[2] अत्थि उत्थानेति वा कम्मेति वा, बलेति वा, विरियेति वा।

२. ज्ञानमीमांसा : अनेकांतवाद

जैन दर्शन का मेरुदंड है **अनेकांतवाद** अथवा **सप्तभंगीनय**। किसी भी पदार्थ को यथार्थतः समझने के लिये अनेक दृष्टियों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक पदार्थ की सापेक्षिकी सत्ता होती है अर्थात् किसी अपेक्षा से ही उसे 'सत्' कह सकते हैं, परंतु वही उसका एकांत रूप नहीं है। क्योंकि अन्य की अपेक्षा से उसे 'असत्' भी मानना पड़ता है। मेरे हाथ की लेखनी लेखनी की अपेक्षा से अवश्य विद्यमान है, परंतु मसीपात्र की अपेक्षा से वह उसी काल में 'असत्' है। अतः जैनियों की दृष्टि में दृष्टिभेद ही पदार्थों की सत्ता तथा असत्ता का मूल पार्थक्य हेतु है। फलतः कोई भी वस्तुतः एकांततः सत्य नहीं है। संसार में जो कुछ 'है', वह किसी अपेक्षा से 'नहीं' भी है। सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श से पहिले उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के विचार से 'स्यात्' विशेषण का जोड़ना आवश्यक होता है। 'स्यात्' (कथंचित्, किसी अपेक्षा से) शब्द अस् धातु के विधि लिंग का तिङंतप्रतिरूपक अव्यय है। पुरोवर्ती घट के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति' (कथंचित् विद्यमान है) ही हो सकता है, क्योंकि वर्तमान काल तथा देश की दृष्टि से विद्यमान रहने पर भी यह सत्ता त्रैकालिक नहीं, अपि तु सापेक्षिकी है। प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में या प्रत्येक दशा में हमारा घटज्ञान एकाकार नहीं हो सकता। पट की दृष्टि से घट की सत्ता अविद्यमान है। 'सप्तभंगी नय' इसी अनेकांतवाद का विस्पष्ट परिचायक है।

'*सप्तभंगी नय*' के सात रूप होते हैं :

१. स्यात् अस्ति=कथंचित् है।
२. स्यान्नास्ति=कथंचित् नहीं है।
३. स्यादस्ति च नास्ति च=कथंचित् है और कथंचित् नहीं है।
४. स्याद् अवक्तव्यम्=कथंचित् वर्णनातीत है।
५. स्यादस्ति च अवक्तव्यं च (प्रथम तथा चतुर्थ का मिश्रण)।
६. स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च (द्वितीय तथा चतुर्थ का मिश्रण)।
७. स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च (तृतीय तथा चतुर्थ का मिश्रण)।

किसी भी पदार्थ के विषय में ये सातों भंग यथार्थ हैं तथा प्रत्येक पदार्थ को अनैकांतिक सिद्ध कर रहे हैं। अनैकांतिक तत्त्व न संदेहवाद का नाम है और न

अनिश्चयवाद का अभिधान, प्रत्युत सापेक्षवाद का ही नामांतर है जो आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी समर्थित हो रहा है[१]।

३. तत्त्वमीमांसा

वस्तु अनंतधर्मात्मक होती है[२]। किसी मनुष्य के स्वरूपज्ञान के लिये उसके देश, काल, जाति, जन्म, धर्म, वर्ण, समाज आदि का ही ज्ञान अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत उन निषेधात्मक धर्मों का भी ज्ञान आवश्यक है जो उसे अन्य तत्सदृश वस्तुओं से पृथक् किया करते हैं। इनमें सत्तात्मक धर्मों का नाम है स्वपर्याय तथा निषेधात्मक धर्मों का अभिधान है परपर्याय। प्रत्येक वस्तु स्वपर्याय तथा परपर्याय का समुच्चयमात्र होती है। 'देवदत्त' के विषय में इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि वह भारतवासी, गौर वर्ण, हिंदू तथा ब्राह्मण कुलोत्पन्न है (स्वपर्याय), प्रत्युत वह न यूरोपियन है, न चीनी, न श्वेत और न पीत, इन निषेधात्मक गुणों की भी जानकारी विशेष जरूरी है। इसी प्रसंग में 'द्रव्य' की भी जैन कल्पना जान लेनी चाहिए। द्रव्य त्रयात्मक होता है। वह उत्पाद (उत्पत्ति), लय (विनाश) तथा ध्रौव्य (ध्रुवता, निश्चितता) से सतत संवलित होता है। सोने के घड़े को फोड़कर मुकुट बनाने के दृष्टांत पर विचार कीजिए। मुकुट की उत्पत्ति, घड़े का नाश तथा दोनों दशाओं में सुवर्ण की स्थिति नितांत स्पष्ट है जिससे मुकुट पहनने के इच्छुक राजपुत्र को हर्ष, सुवर्ण घट चाहनेवाली राजपुत्री को शोक तथा केवल सोना चाहनेवाले राजा को उदासीनता (माध्यस्थ्य) होना स्वाभाविक है। आचार्य सामंतभद्र का यह दृष्टांत बड़ा ही रोचक तथा बोधक है[४] :

> घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।
> शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के दो अंश होते हैं—शाश्वत अंश तथा अशाश्वत अंश। शाश्वत अंश के कारण वस्तु ध्रौव्यात्मक (नित्य) होती है तथा अशाश्वत अंश के कारण वस्तु उत्पाद-व्ययात्मक (उत्पत्ति विनाशशाली अर्थात् अनित्य) होती है। अपरिणामशील धर्म का नाम है 'गुण' तथा देशकाल अन्य परिणाम

[१] द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० १७२–१७३। (शारदा मंदिर, काशी)

[२] अनंतधर्मात्मकमेव तत्त्वम्।

[३] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र ५।२९। (रामचंद्र जैन शास्त्रमाला, बंबई)

[४] आप्तमीमांसा १, श्लोक ५९। (आगमोदय समिति, सूरत)

शाली धर्म का नाम है 'पर्याय'। गुण तथा पर्याय से विशिष्ट वस्तु को 'द्रव्य' कहते हैं[1]। इस प्रकार गुणदृष्टि से द्रव्य नित्य होता है और पर्याय दृष्टि से अनित्य।

द्रव्य के दो प्रधान भेद होते हैं—(१) एकदेशव्यापी ('काल' ही ऐसा एकमात्र द्रव्य है) तथा (२) बहुप्रदेशव्यापी। काल को छोड़कर जगत् के समस्त द्रव्यों में विस्तार उपलब्ध होता है और इसलिये उनकी संज्ञा है अस्तिकाय। अस्ति (सत्ताशील) तथा काय (शरीरवत् विस्तारशाली[2])। ऐसे अस्तिकायों की संख्या ५ है—(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) आकाश, (४) धर्म तथा (५) अधर्म।

(१) **जीव**—चैतन्य जीव का विशिष्ट लक्षण है। प्रत्येक जीव अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन तथा अनंत सामर्थ्य आदि गुणों से संपन्न माना जाता है, परंतु आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय जीवों में होता नहीं। नित्य होने पर भी जीव परिणामशील है। जीव शरीर से भिन्न होता है और उसकी सत्ता का प्रबल प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। आत्मा को विभु माननेवाले वेदांतियों तथा अणु माननेवाले वैष्णवों के उभय अंतों को छोड़कर मध्यममार्गी जैन दर्शन जीव को मध्यम-परिमाण-विशिष्ट मानता है अर्थात् जीव शरीरावच्छिन्न होता है। जितनी बड़ी देह उतना बड़ा जीव। प्रदीप के समान वह संकोच तथा विकाशशाली होता है। वह कर्ता, भोक्ता, स्वप्रकाश्य तथा प्रकाशक होता है। वह स्वयं अनंत है[3]।

(२) **पुद्गल**—पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचयरूप से शरीर का निष्पादन करनेवाले होते हैं और प्रचय का नाश होने पर स्वतः छिन्न भिन्न हो जाते हैं। अतएव 'पुद्गल' की निरुक्ति यथार्थ है : पूरयंति गलंति च[4] (अर्थात् किसी को पूर्ण कर देता है और पश्चात् स्वयं गल जाता है)। रूप, रस, गंध तथा स्पर्श गुणों को धारण करनेवाला चेतनाहीन मूर्त पदार्थ 'पुद्गल' कहलाता है। जैन दर्शन पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणुओं में कोई भी भेद नहीं मानता। भेद केवल परिणमन में है। अतः नैयायिकों के समान पृथ्वी आदि महाभूत चार पदार्थ न होकर एक ही द्रव्य होते हैं[5]।

[1] गुण पर्यायवद् द्रव्यम्। तत्त्वार्थ सूत्र ५।३७।

[2] संति जदो तनेरे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया च अत्थिकाया य। द्रव्यसंग्रह, गाथा २५।

[3] द्रष्टव्य—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।१६।

[4] सर्वदर्शन संग्रह : जैन धर्म का वर्णन। (आनंदाश्रम, पूना)

[5] तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२३. ५।२५।

(३) आकाश—इसकी सत्ता आनुमानिक है अर्थात् जीव, पुद्गल आदि बहुप्रदेशव्यापी द्रव्यों के विस्तार की सिद्धि के लिये प्रदेश पर्यायवाले 'आकाश' की सत्ता मानना न्यायसंगत है। आकाश के द्विविध भेदों में लोकाकाश में द्रव्यों की स्थिति है तथा अलोकाकाश लोक से उपरितन प्रदेश की संज्ञा है।

(४) धर्म—जीव तथा पुद्गल की गति में सहायता देनेवाले द्रव्यविशेष की संज्ञा 'धर्म' है। धर्म जीव को गति प्रदान करने में स्वयं असमर्थ है, परंतु उसकी गति के लिये सहायता मात्र प्रदान करता है, ठीक जल के समान, जो मछली को गति में प्रेरणा न देकर केवल सहायता देता है।

(५) अधर्म—स्थिति का तत्त्व अधर्म है। इस तत्त्व के अभाव में जीवों में केवल निरंतर गति ही विद्यमान रहती है। जिस प्रकार श्रांत पथिक के ठहरने के लिये वृक्षों की छाया सहायक होती है, उसी भाँति अधर्म जीव की स्थिति के लिये सहायक द्रव्य है।

(६) काल—वर्तना (स्थिति), परिणाम (पक जाना), क्रिया, परत्व (ज्येष्ठता) तथा अपरत्व (कनिष्ठता) इन पाँच वस्तुओं की उपपत्ति के लिये काल की सिद्धि अनुमान से व्यवहार के निमित्त मानी जाती है। काल का विस्तार नहीं होता इसलिये वह पूर्वोक्त पाँचो 'अस्तिकाय' द्रव्यों से भिन्न होता है।

इनके अतिरिक्त सप्तविध पदार्थों का भी वर्गीकरण जैन मत में मिलता है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पूर्ववर्णित जीव तथा अजीव पदार्थों के साथ मिलकर संख्या में सात होते हैं। जैन मत में आत्मा के प्रदेशों में जब कंपन होता है, तब पुद्गल (भूत चतुष्टय) का परमाणुपुंज आकृष्ट होकर आत्मा के साथ मिल जाता है। इसी से 'कर्म' कहते हैं। जीवों के साथ कर्म के संबंध को आस्रव कहते हैं। बंध तो स्पष्टतः कर्मजन्य बंधन है। आगे आनेवाले कर्मों का मार्ग सर्वथा बंद कर देना 'संवर' माना जाता है। साधक के लिये संवर के अनंतर 'निर्जरा' की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा संपादित तथा संचित कर्मों को इतना निर्वीर्य तथा क्षीण बना दिया जाता है जिससे वे फल के लिये जागरूक नहीं होते। समस्त कर्मों के क्षय का ही अभिधान मोक्ष है[1]। मुक्त जीवों में 'अनंत चतुष्टय', अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य, अनंत श्रद्धा तथा अनंत शांति की उत्पत्ति स्वतःसंपन्न हो जाती है तथा वे जीव समाज के मंगलसाधन में निरंतर लगे रहते हैं।

४. आचार मीमांसा

जैन धर्म का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'आचार मीमांसा' है। मोक्ष के त्रिविध साधनों में सम्यग् दर्शन (जैन दर्शन के सिद्धांतों में गहरी श्रद्धा), सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र

[1] बन्ध हेत्वभाव निर्जराभ्याम्। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। तत्त्वार्थ सूत्र १०।२३।

त्रिरत्न के नाम से प्रख्यात है। सम्यक् चरित्र की आराधना से ही मानव क्लेशों से तथा अशोभन कर्मों से नितांत पार्थक्य प्राप्त कर लेता है। 'केवली' इस धर्म का अंतिम पर्यवसान है। श्रावक तथा यति की दैनंदिनी चर्या का विधान बड़े विस्तार के साथ धर्मग्रंथों में किया गया है तथा उनका पालन भी उतने ही आग्रह तथा श्रद्धा के साथ आज भी आवश्यक समझा जाता है। पार्श्वनाथ ने पहले चार महाव्रतों— अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह—का उपदेश किया था। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने इनके साथ ब्रह्मचर्य भी जोड़ दिया। जैन धर्म में ये ही पंच महाव्रत कहलाते हैं। 'अहिंसा' तो जैनाचार का प्राण है तथा अन्य सदाचार के नियम उसी को केंद्रित कर जागरूक होते हैं। आज भारत में जैनधर्म एक सजीव प्रबल धर्म है जिसके अनुयायियों में धर्म, आचार तथा नैष्ठिक जीवन के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा है। व्रतों तथा तीर्थों के द्वारा यह धर्म जनता के ऊपर अपना प्रभूत प्रभाव बनाए हुए है।

५. देवमंडल : पूजापद्धति

जैन धर्म में मंदिर तथा मूर्ति का बड़ा महत्त्व है। इनके निर्माण में जैन कला का उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। जैन धर्म के चौबीसों तीर्थंकर—आदिनाथ (ऋषभनाथ) से लेकर महावीर स्वामी तक—उपासना के विषय हैं। जैनियों में शक्ति-पूजा का भी प्रचलन है। धर्मध्यान के अंतर्गत 'पदस्थ' नामक ध्यान में हिंदुओं के षट्चक्रवेध की पद्धति के अनुसार वर्णमयी देवता का चिंतन किया जाता है[1]। जैन मंत्रों में प्रणव (ऊंकार), माया (ह्रीं) आदि बीज अक्षर शाक्त तंत्रों के अनुरूप ही होते हैं। केवल मुख्य देवतारूप में 'अरिहंताणम्' यह जैन पंचाक्षरी ली गई है। श्वेतांबर मत में प्रत्येक तीर्थंकर की शासन देवता चक्रेश्वरी, अजितबला, दुरितारी, कालिका, महाकाली आदि मानी जाती है। जैन कविगण शाक्त संप्रदाय के 'सारस्वत कल्प' को मानते हैं और रोहिणी, प्रज्ञप्ति, शृंखला आदि सरस्वती के षोडश विद्याव्यूह की मान्यता जैन धर्म में है[2]। फलतः शक्ति की उपासना जैन धर्म में अभीष्ट है। लक्ष्मीधर ने तांत्रिक दिगंबरों की गणना कापालिकों के साथ की है[3]।

६. हिंदी साहित्य में जैन परंपरा

हिंदी साहित्य में जैन कवियों तथा लेखकों ने अपना व्यक्तित्व तथा प्रभाव अक्षुण्ण रखा है। अपभ्रंश साहित्य का विकास तथा संवर्धन तो जैन लेखकों की ही

[1] द्रष्टव्य—हेमचंद्र : योगशास्त्र, ७ तथा प्रकाश।

[2] कल्याण, शक्त्यंक, पृष्ठ ५४४–५४६।

[3] सौंदर्यलहरी की व्याख्या : श्लोक ३१। (मैसूर ओरियंटल सीरीज, बंगलोर से प्रकाशित)

बहुमूल्य देन है। बहुत से जैन पंडितों ने उच्च कोटि के दार्शनिक ग्रंथों का हिंदी गद्य में अनुवाद प्रस्तुत किया है। प्राचीन जैन कवियों ने 'रासा' नामक काव्यों की सृष्टि की है जिनमें तीर्थंकरों तथा तत्कालीन अन्य मान्य संतों का आध्यात्मिक जीवन-चरित बड़े ही उत्साह से जनता को शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखा गया है। श्री महेंद्रसूरि के शिष्य धर्मसूरि का 'जंबूस्वामी रासा' इस प्रकार के काव्य का प्राचीन उदाहरण है (रचनाकाल सं० १२६६)। श्री अंबदेव कृत 'संघपति समरा रास' भी इस कोटि के चरितकाव्य का नमूना है। जैन कवियों की कविता में आध्यात्मिक तत्वों का विवेचन है जिसमें शांत रस का पूर्ण वैभव उपलब्ध होता है। १७वीं तथा १८वीं शती के कवियों ने स्वतंत्र रूप से उपदेशप्रद कथानकों तथा जैन-सिद्धांत-मंडित काव्यों का प्रणयन कर जैन तत्वों को कविता के रोचक माध्यम के द्वारा जनता के हृदय तक पहुँचाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। पद्यबद्ध आध्यात्मिक कथानकों के लिखने में जैन कवि निःसंदेह सिद्धहस्त हैं। दोहा चौपाईवाली काव्य पद्धति का उपयोग जैन काव्यों में विशेषतः मिलता है। जैन कवियों में बनारसीदास (१७वीं शती विक्रमी) तथा भैया भगवतीदास (१८वीं शती विक्रमी) प्रतिभाशाली आध्यात्मिक कवि थे जिन्होंने जनता के हृदय को अध्यात्म की ओर आकृष्ट करने के लिये सुंदर, सरस तथा सुबोध काव्यों का निर्माण किया है। जैन काव्य प्रांगण की यह समुज्वल निर्मलता और पवित्रता उसके आलोक को लोक के लिये स्वास्थ्यकर और विवेक-वर्धक सिद्ध करती आई है[1]। जैन कवि की यह कविता भाषा तथा भाव दोनों दृष्टियों से निःसंदेह श्लाघ्य है :

राग उदै जग अंध भयै, सहजैं सन लोगन लाज गँवाई।
सीस बिना नर सीख रहै, बिसनादिक सेवन की सुधराई।
तापर और रचैं रस काव्य, कहा कहिए तिनकी निठुराई।
अंध असूझन की अँखियान में, झोंकत हैं रज रामदुहाई॥

[1] जैन कवियों की हिंदी कविता के लिये द्रष्टव्य—नाथूराम प्रेमी : जै० सा० इ०, बंबई, १९१७। कामताप्रसाद जैन : हिंदी जैन साहित्य, काशी, १९३७।

तृतीय अध्याय

बौद्ध धर्म

१. उदय

ऐतिहासिक गवेषणा बौद्ध धर्म को जैन धर्म की परवर्तिनी चिंताधारा के रूप में प्रमाणित करती है। बौद्ध 'निकायों' में अंतिम जैन तीर्थंकर नाटपुत्त (महावीर स्वामी) के नाम, सिद्धांत तथा मृत्यु का स्पष्ट उल्लेख और जैन 'अंगों' में बुद्ध धर्म का विस्पष्ट अनुल्लेख इस ऐतिहासिक तथ्य की आधारशिला है। इस धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध संसार की एक दिव्य विभूति थे तथा अपने युग की परिस्थिति के अनुरूप उन्होंने जिस धर्म का चक्रप्रवर्तन किया वह इतना सजीव, इतना व्यावहारिक तथा इतना मंगलमय है कि उसकी शीतल छाया में करोड़ों प्राणी आज भी भवसंताप से मुक्ति पाते हैं, अपने जीवन को कल्याणमय बनाते हैं तथा मानव-जीवन की कृतकृत्यता प्राप्त करते हैं। इसके दो रूप इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं— शुद्ध धार्मिक रूप, जिसमें आध्यात्मिक ग्रंथियों को बिना खोले हुए जीवननिर्वाह तथा व्यवहार के निमित्त आचार का सरल प्रदिपादन है तथा दार्शनिक रूप, जिसमें प्रकांड बौद्ध पंडितों ने बुद्ध के आचारप्रधान उपदेशों की आध्यात्मिक व्याख्या कर शुद्ध तर्क के बल पर तत्वों का गंभीर अन्वेषण किया है।

२. आचारमीमांसा

जैन तथा बौद्ध धर्म वैदिक कर्मकांड के परिबृंहण के प्रति आचारमार्ग की प्रतिक्रियाएँ हैं। यज्ञयाग उपासना के प्रतीकात्मक रूप हैं जिनका उपयोग अध्यात्म मार्ग के पथिकों का उपादेय संबल था, परंतु अंतरंग तत्वज्ञान के ह्रास और बहिरंग दृष्टि के विस्तार के कारण उनका शुद्ध प्रतीक रूप साधकों से दूर हटता गया और उनके स्थान पर बच गया केवल विधिविधानों का एक विराट् विषम स्तूप, जिसके भीतर प्रवेश करना साधारण जीव के लिये एक दुरूह व्यापार था। युग के भौतिक तथा संदेहवादी वातावरण ने इस प्रवृत्ति को और भी अग्रसर किया। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सिद्धांत के उग्र विरोध का लोकप्रिय रूप था जैन तथा बौद्ध धर्म का उदय तथा अभ्युदय, उत्पत्ति तथा विकास। ये दोनों धर्म मूलतः आचारप्रधान थे। मानवसमाज के शिथिल तथा विशृंखल आचरण को सुधारना तथा व्यवहार और

अध्यात्म उभय दृष्टियों से स्वस्थ तथा जागरूक समाज का निर्माण करना दोनों का यही भौतिक ध्येय तथा लक्ष्य था।

इस संसार में दुःख की सत्ता इतनी व्यापक, इतनी प्रभावशाली, इतनी वास्तव है कि उसका अपलाप कोई भी धर्मोपदेशक और चिंतक कर ही नहीं सकता। दुःख की सत्ता सिद्ध होने पर उसके उदय, निषेध तथा निरोधक मार्ग की मीमांसा प्रत्येक तत्त्वचिंतक का कर्तव्य होता है। तथागत ने विषयासक्ति के एक अंत तथा विषयप्रहाण के दूसरे अंत को नितांत दुष्ट बतलाकर दोनों के बीच में प्रवाहित होनेवाले मार्ग मध्यममार्ग को ही मानवों का कल्याणसाधक बतलाया है। बुद्ध धर्म के 'मध्यम मार्ग' का रहस्य इसी गंभीर तत्त्व पर आश्रित है। गौतम ने एक ओर विशाल साम्राज्य, अटूट वैभव तथा वैयक्तिक सौख्य को लात मारा तथा दूसरी ओर घोर तपस्या, शारीरिक क्लेशदायक साधना को तिलांजलि दी तथा दोनों के मध्यस्थ मार्ग का उपदेश अपने उदात्त प्रवचनों के द्वारा किया। बुद्ध के द्वारा उन्मीलित तत्त्व सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव (जीविका), सम्यक् व्यायाम (उद्योग), सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि तथागत शिक्षा की अष्टपदी है। इन आठों का संक्षेप इस आचारमार्गी सूत्र में किया गया है।

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।

समस्त पापों का न करना, पुण्य का संचय तथा अपने चित्त की परिशुद्धि (पर्यवदापन) बुद्ध का यही अनुशासन है। तत्त्वज्ञान विषयक प्रश्नो के उत्तर देने में बुद्ध का मौनावलंबन उनके तद्विषयक ज्ञानाभाव का सूचक न होकर उन प्रश्नों की व्यर्थता का परिचायक है। आग लगे घर में रहनेवाले व्यक्ति का काम आग बुझाना ही होता है, आग लगने के कारण और प्रकार का ढूँढ़ना नहीं। फलतः क्लेशबहुल संसार के प्राणी को आचारमार्ग का अनुशीलन कर अपना परम कल्याण संपादन करने की आवश्यकता है। उस दुःख के कारणों की तात्त्विक समीक्षा करना तथा आध्यात्मिक रहस्यों की छानबीन करना उसके लिये नितांत अनुपयुक्त, एकदम व्यर्थ तथा बिल्कुल बेकाम है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध की शिक्षा की एकमात्र दिशा है चित्त परिशोधन की तथा सम्यक् आचरण की। आरंभिक आचार-प्रधान बौद्ध धर्म की यही शिक्षा आधारशिला है।

३. हीनयान का दार्शनिक तथ्य

बुद्ध की इन आचारप्रधान शिक्षाओं के आधार रूप दो दार्शनिक तथ्य विशेष रूप से विचारणीय हैं—(१) नैरात्म्यवाद (संघातवाद) तथा (२)

परिणामवाद (संतानवाद)। बुद्ध की मान्यता से सकल दुष्कर्मों, पापों तथा दुष्प्रवृत्तियों के मूल में उपनिषदों का आत्मवाद है जिसके अनुसार शरीर, मन तथा इंद्रियों से पृथक् आत्मरूपी स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत की जाती है। तथागत आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के प्रबल विरोधी हैं तथा वे आत्मा को प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का, आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के समान, पुंज या संघात मात्र मानते हैं। **पंचस्कंधों** के अतिरिक्त बौद्ध मत में आत्मा नामक कोई पृथक् स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। पंच स्कंधों के अंतर्गत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान की गणना है। 'रूप' से तात्पर्य पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु रूप चतुर्भूत तथा तज्जन्य शरीर से है। भूत तथा भौतिक पदार्थ (शरीर) को **'रूप'**, किसी वस्तु के साक्षात्कार को **'संज्ञा'**, तज्जन्य सुख, दुःख तथा उदासीनता के भाव को **'वेदना'**, अतीत अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को **'संस्कार'**, तथा चैतन्य को **'विज्ञान'** के नाम से पुकारते हैं। व्यक्ति के इन्हीं पंच स्कंधों का संघात होने से यह सिद्धात **संघातवाद** या **नैरात्म्यवाद** के नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार रस्सी, लगाम, चाबुक, दंड आदि अवयवों के संघात से पृथक् 'रथ' नामक पदार्थ असिद्ध[1] है, उसी प्रकार इन संघातों से व्यतिरिक्त 'आत्मा' नामक द्रव्य असिद्ध है। त्रिपिटकों के अनुसार आत्मा तथा जगत् अनित्य है। इनका कालिक संबंध दो क्षण तक भी नहीं रहता। बुद्धमत में इस विश्व में परिणाम ही सत्य है, परंतु इस परिणाम के भीतर विद्यमान किसी परिणामी पदार्थ का अस्तित्व सत्य नहीं है। परिणामशाली जगत् में एकत्व तथा अभिन्नता का आभास उसी प्रकार प्रतीत होता है, जिस प्रकार दीपशिखा तथा जलप्रवाह में। दीपक में क्षण क्षण भर में एक लौ निकलकर अस्त हो जाती है और दूसरी लौ के उत्पन्न होने का कारण बनती है, तथापि दीपशिखा के प्रभापुंज में एकत्व की हानि नहीं होती। जलप्रवाह में भी प्रतिक्षण पुराने जल का गमन तथा नवीन जल का आगमन होता रहता है परंतु सामान्य दृष्टि इस पार्थक्य तथा परिणाम का अनुभव नहीं करती। ये ही दोनों सिद्धांत—**नैरात्म्यवाद** तथा **परिणामवाद**—तथागत की आचारशिक्षा के आधार तत्त्व हैं। परिणामवाद बुद्ध की दार्शनिक जगत् को एक बहुमूल्य देन है जिसके अनुरूप ही 'परिणामवाद' के व्याख्याता यूनानी हिरेक्लिटस तथा फ्रेंच तत्त्वज्ञ बर्गसों ने पश्चिमी जगत् में विपुल कीर्ति अर्जित की है।

४. बौद्ध धर्म का सांप्रदायिक विकास

बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्षों के भीतर द्वितीय संगीति (३२६ वि० पू०) में

[1] द्रष्टव्य मिलिंद प्रश्न, हिंदी अनुवाद, पृ० ३०-३३। (महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ)
दीघनिकाय, पोठ्ठपाद सुत्त, पृ० ७३। ” ”

वात्सीपुत्रीय (वज्जिपुत्रीय) भिक्खुओं ने आचार तथा अध्यात्म के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों के विरोध में अपना विद्रोही झंडा ऊँचा किया। तभी से इस मत में दो वादों का जन्म हुआ—स्थविरवादी (थेरवादी) जो प्राचीन विनयों में रंचक मात्र भी संशोधन के प्रतिकूल थे तथा महासंघिक (कठोर नियमों में देशकालानुसार परिवर्तन तथा संशोधनवादी)। इसी संगीति के लगभग सौ वर्ष बाद अठारह संप्रदाय छोटी छोटी आचारसंबंधी बातों को लेकर उठ खड़े हुए जो 'निकाय' के नाम से प्रसिद्ध हैं[1]। अट्ठकथा के अनुसार महासंघिकों के अवांतर निकायों के नाम ये हैं—गोकुलिक, एकव्यावहारिक, प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक तथा चैत्यवादी। स्थविरवादी निकायों की संज्ञाएँ निम्नलिखित थीं—महीशासक (अवांतर निकाय सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, सांक्रांतिक, सौत्रांतिक तथा धर्मगुप्तिक) तथा वृज्जिपुत्रक या वात्सीपुत्रीय (अवांतर निकाय धर्मोत्तरीय, भद्रयाणिक, षाण्णागरिक तथा साम्मितीय)। अशोक के काल के अनंतर इनमें अन्य अनेक अवांतर भेद नवीन सिद्धांतों के रूप में उत्पन्न हो गए। इनमें से प्राचीनता के पक्षपाती थेरवाद को ही हीनयान के नाम से पुकारते हैं तथा महासंघिकों से ही अवांतर परिवर्तनों के बाद महायान का उदय संपन्न हुआ। महासंघिक[2], सर्वास्तिवादी, साम्मितीय[3] तथा वैपुल्यवादियों[4] के विशिष्ट सिद्धांतों का ब्राह्मण दार्शनिकों द्वारा उल्लेख तथा खंडन उनकी महत्ता के पर्याप्त सूचक हैं।

बौद्ध ग्रंथों में निर्दिष्ट त्रिविध यान का परिचय पूर्वोक्त संप्रदायों के कई सिद्धांतों के संकेत के लिये पर्याप्त होगा। यान तीन हैं तथा प्रत्येक यान में जीवन्मुक्ति या बोधि की कल्पना एक दूसरे से नितांत विलक्षण है।

(१) श्रावकयान के अनुसार श्रावकबोधि का आदर्श 'हीनयान' को अभीष्ट है। 'श्रावक' का अर्थ है बुद्ध के पास धर्म सीखनेवाला व्यक्ति। वह स्वावलंबन से अष्टांगिक मार्ग का यथावत् अनुसरण कर रागद्वेषमयी विषयवागुरा से मुक्ति पा सकता है। श्रावक के अवस्थाचतुष्टय में 'अर्हत्' ही सर्वश्रेष्ठ दशा है जिसमें

[1] आचार्य वसुमित्र ने अपने 'अष्टादश निकाय शास्त्र' में इन निकायों का विस्तृत विवरण दिया है जो आचार्य भव्य, दीपवंस तथा महावत्थु की अट्ठकथा (व्याख्या) में निर्दिष्ट वर्णनों से अनेक अंश में भिन्न है। इनके मतों का निर्देश महावत्थु की अट्ठकथा में विस्तार से है। द्रष्टव्य—महावत्थु के अँगरेजी अनुवाद की भूमिका, पाली टेक्स्ट सोसाइटी स०, लंदन।

[2] महासंघिकों के विशिष्ट मत के लिये द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : बौ० द० मी०, नवीन संस्करण, पृ० १००–१०२ (चौखंभा विद्याभवन, काशी)

[3] द्रष्टव्य—वही, पृ० १०३–१०४।

[4] द्रष्टव्य—वही।

साधक अपने पराक्रम तथा तपःसाधना से 'निर्वाण' प्राप्त कर दुःखों से मुक्त हो जाता है।

(२) प्रत्येक बुद्ध द्वितीय यान का आदर्श है। जिस व्यक्ति को बिना गुरु के उपदेश से, स्वस्फुरणा से ही, बुद्धत्व लाभ हो जाता है उसे कहते हैं 'प्रत्येक बुद्ध'। वह द्वंद्वमय जगत् से पृथक् हटकर निर्जन स्थान में एकांतवास करता हुआ विमुक्ति सुख का स्वयं अनुभव करता अवश्य है, परंतु उसे दूसरे का उद्धार करने की शक्ति नहीं रहती।

(३) बोधिसत्त्व तृतीय यान महायान का चरम लक्ष्य होता है। बोधिसत्त्व का महायानी आदर्श बड़ा ही ऊँचा, उदात्त तथा गौरवशाली होता है। महामैत्री तथा महाकरुणा से संपन्न बोधिसत्त्व दया का इतना बड़ा अवतार होता है कि इस विश्व में चींटी से लेकर हाथी तक एक भी प्राणी के दुःखी होने तक वह अपनी मुक्ति चाहता ही नहीं। उसका लक्ष्य बहुत ही बड़ा होता है। अपनी दया तथा मध्यस्थता के कारण मुच्यमान जीवों के हृदय में हिलोरें मारनेवाले आनंद में ही वह अपने सुख का अनुभव करता है। रसहीन शुष्क मोक्ष की उसे तनिक भी चिंता नहीं रहती[1]।

५. महायान की धार्मिक विशिष्टता

पूर्वोल्लिखित बोधिसत्त्वयान की ही अपर संज्ञा है महायान। इसकी उदात्त आदर्श भावना, व्यापक महाकरुणा तथा साधना की भक्तिप्रवणता के परिचय के लिये उसकी प्रमुख विशिष्टता का ज्ञान नितांत आवश्यक है।

(१) **बोधिसत्त्व का उन्नततम आदर्श**—अर्हत् तथा बोधिसत्त्व का आदर्श परस्पर नितांत भिन्न, स्वतंत्र तथा विस्पष्ट है। अपने ही क्लेशसमुच्चय का विनाश, स्वार्थमयी निर्वाण की उपलब्धि तथा विश्व की मंगलभावना से एकदम औदासीन्य अर्हत् के प्रमुख परिचायक गुण हैं, परंतु बोधिसत्त्व का जीवन ही परोपकार, प्राणियों के दुःखोपशमन की वेदी पर अर्पित रहता है। अर्हत् में बुद्धत्व का परिणमन कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धत्व गुरुत्व का प्रतीक है। शास्ता (मार्गदर्शक गुरु)

[1] एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मया साधितं शुभम्।
तेन स्या सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशांतिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥ बोधिचर्यावतार, तृतीय परिच्छेद (बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता)।

होने के लिये प्रज्ञा के उदय के साथ साथ महाकरुणा का उदय नितांत अपेक्षित है। यह मौलिक तत्त्व बोधिसत्त्व का जीवनाधायक है। स्वार्थपरायण अर्हत् में महाकरुणा के उदय का अभाव ही उनके शास्ता होने में महान् बाधक होता है। बोधिसत्त्व में ही पाँचों पारमिताओं (पूर्णताओं) का उदय होना भी एक महती विशिष्टता है। दान, शील, क्षांति, वीर्य तथा प्रज्ञा पारमिता[1] का सर्वोत्कर्ष रूप से आविर्भाव बोधिसत्त्व को बुद्धत्व की ओर अग्रसर करने का मुख्य कारण बनता है।

(२) त्रिकाय की कल्पना—निर्माणकाय, संभोगकाय तथा धर्मकाय—इस त्रिकाय की कल्पना महायान की आध्यात्मिकता तथा उदात्तता का एक विशिष्ट चिह्न है। शिल्प, जन्म, महाबोधि तथा निर्वाण की शिक्षा देकर जगत् के कल्याणार्थ निर्मित काय ही निर्माणकाय[2] का अभिधान प्राप्त करता है। यह अनंत होता है। संभोगकाय निर्माणकाय की अपेक्षा नितांत सूक्ष्म होता है और इन तीनों में सूक्ष्मतम धर्मकाय सब बुद्धों के लिये एकरूप, सूक्ष्म, उभय कार्यों से संबद्ध, संभोग तथा विभुता का कारण रूप होने से शब्दतः अनिर्वचनीय तथा स्वयंवेद्य होता है[3]। हीनयान अंतिम दोनों कार्यों को जानता ही नहीं है। ब्राह्मण दर्शन के तारतम्य पर धर्मकाय ब्रह्म का, संभोगकाय ईश्वर का तथा निर्माणकाय अवतार विग्रह का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

(३) निर्वाण की कल्पना—हीनयानी निर्वाण क्लेशावरण के अपनयन से ही सिद्ध होता है, परंतु महायानी निर्वाण ज्ञेयावरण के भी अपनयन पर आश्रित रहता है। प्रथम यदि केवल दुःखाभाव रूप है तो दूसरा निःसंदेह आनंद रूप है। निर्वाण अद्वैतरूप है जिसमें ज्ञाता ज्ञेय, विषय विषयी, विधि निषेध का द्वैत कथमपि विद्यमान नहीं रहता।

(४) भक्ति की प्रयोजनीयता—हीनयान बिल्कुल ज्ञानप्रधान मार्ग है जिसका चरम लक्ष्य अष्टांगिक मार्ग का विधिवत् परिशीलन तथा अनुगमन है। परंतु महायान निर्वाण की उपलब्धि में भक्ति की प्रयोजनीयता तथा उपादेयता को प्रमुख स्थान देता है। लोकोत्तर पुरुष होने से बुद्ध की भक्ति ही अब एकमात्र साधिका अंगीकृत की गई। महायान काल में बौद्धकला के अभ्युदय का रहस्य इसी भक्तिवाद के प्रचुर प्रचार के भीतर अंतर्निहित है।

[1] द्रष्टव्य—प्रज्ञा पारमिता तथा बोधिचर्यावतार में बोधिसत्त्व का चर्याविधान।

[2] द्रष्टव्य—असंग-महायानसूत्रालंकार, ९।६४ (पेरिस से प्रकाशित)

[3] निर्वाण के लिये द्रष्टव्य—डा० नलिनाक्षदत्त : ऐसपेक्ट्स ऑव् महायान बुद्धिज्म, पृ० १२६-२०४ (कलकत्ता); शेरबात्स्की : सेंट्रल कॉन्सेप्शन ऑव् निर्वाण; बलदेव उपाध्याय : बौ० द० मी०, पृ० १४३-१५७।

(५) दशभूमि की कल्पना—हीनयान अर्हत् पद की प्राप्ति तक केवल भूमिचतुष्टय का ही पोषक है, परंतु महायान मुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधमती तथा धर्ममेघ—इन दशभूमियों की विशिष्ट कल्पना, उनका वैलक्षण्य तथा आध्यात्मिकता भारतीय धर्म तथा दर्शन के विकास में विशेष अध्ययन की वस्तु है।

६. बौद्ध धर्म के दार्शनिक संप्रदाय

तत्वचिंतन की विविध धाराओं में चार धाराएँ मुख्य मानी गई हैं। सत्ता की मीमांसा करने के लिये चार संप्रदायों ने अपने विशिष्ट मतों का प्रतिपादन किया है। वैभाषिक बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद का समर्थक है, क्योंकि उसकी दृष्टि में बाह्यार्थ प्रत्यक्षरूपेण सत्य हैं। सौत्रांतिक बाह्यार्थानुमेयवाद का प्रतिपादक है, क्योंकि यह हमारे मानस पटल पर अंकित चित्रों के आधार पर ही उन्हें अंकित करनेवाले बाह्य अर्थों की सत्ता मानता है, प्रत्यक्षरूप से नहीं। योगाचार विज्ञान (मन में उत्पन्न होनेवाले विचार) को ही एकमात्र सत्ता मानकर 'विज्ञानवाद' के अन्वर्थ नाम से प्रसिद्ध है, परंतु सत्तापरीक्षा का अवसान होता है माध्यमिक में जो विज्ञान को प्रमाणतः ध्वस्त कर 'शून्य' को ही अद्वैत सत्ता सिद्ध करता है। इन चारों मतों का स्पष्ट परिचायक यह पद्य इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है :

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचार मते हि संति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रांतिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते[१] ॥

इन चारों में वैभाषिक का संबंध हीनयान से तथा अन्य तीनों का संबंध महायान से अद्वयवज्र ने माना है। तत्वसमीक्षा की दृष्टि से वैभाषिक एक छोर पर है, तो योगाचार माध्यमिक दूसरी छोर पर। सौत्रांतिक दोनों की मेलक शृंखला है।

(१) वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद)—वैभाषिकों के अनुसार यह नानात्मक जगत् वस्तुतः सत्य है और इसकी स्वतंत्र सत्ता का अनुभव हमें प्रत्यक्ष ज्ञान के ही सहारे होता है। ये भौतिक (बाह्य) तथा मानसिक (आभ्यंतर) दोनों जगतों को परस्पर निरपेक्ष तथा स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। ये प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ को 'धर्म' नाम से पुकारते हैं जो सास्रव (मल सहित) तथा अनास्रव (मल रहित, अतएव विशुद्ध) भेद से दो प्रकार का होता है। हेतु तथा प्रत्यय से

[१] मानमेयोदय में उद्धृत पद्य (अड्यार संस्करण)।

अनित्य होने के कारण सास्रव पदार्थ (या 'संस्कृत' धर्म[1]) क्षणिक माने जाते हैं और संख्या में ७२ प्रकार के अंगीकृत हैं। अनास्रव (अथवा असंस्कृत धर्म) केवल तीन नहीं हैं—आकाश, प्रतिसंख्या निरोध तथा अप्रतिसंख्या निरोध। वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण धातु भी दो प्रकार का होता है—सोपधिशेष तथा निरुपधि शेष। आस्रव के क्षीण होने पर अर्हतों की दशा का नाम है—सोपधिशेष निर्वाण, परंतु शरीरपात होने पर समस्त उपाधियों के अभाव में जो निर्वाण सिद्ध होता है उसका नाम 'निरुपधिशेष' निर्वाण है। 'वैभाषिक' नामकरण कनिष्क के द्वारा आहूत चतुर्थ बौद्ध संगीति के आचार्यों द्वारा लिखित भाष्यग्रंथों (विभाषा) में पूर्ण आस्था तथा मान्यता के कारण है।

(२) सौत्रांतिक (बाह्यार्थानुमेयवाद)—यह मत वैभाषिकों के सिद्धांतों की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ जिसके आद्य आचार्य कुमारलात (या *कुमारलब्ध*) आचार्य *नागार्जुन* के समकालीन उपदेशक थे। ये *तथागत* के सच्चे उपदेशों को उपलब्ध अभिधम्म या विभाषा के भीतर न पाकर पिटकसुत्त के सूत्रों में ही प्राप्त करते हैं। इनके नामकरण का यही रहस्य है।

(३) योगाचार (विज्ञानवाद)—योगाचार अथवा विज्ञानवाद की उत्पत्ति माध्यमिकों के शून्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुई है। बाह्यार्थ की सत्ता का अनुमान ज्ञान के द्वारा ही होता है। अतः इस संप्रदाय के अनुसार ज्ञान, विज्ञान, चित्त ही वास्तव सत्ता है। जगत् के पदार्थ भी वस्तुतः मायामरीचिका के समान निःस्वभाव तथा स्वप्न के सदृश निरुपाख्य हैं। विज्ञान को ही एकमात्र सत्ता मानने के कारण यह संप्रदाय दार्शनिक जगत् में 'विज्ञानवाद' के नाम से तथा योग और आचार पर विशेष आग्रह के कारण 'योगाचार' की संज्ञा से विख्यात है। विज्ञान वस्तुतः अद्वैत रूप है, परंतु अवस्थाभेद से वह आठ प्रकार का होता है जिनमें 'आलय विज्ञान' शीर्षस्थानीय होता है। यही विज्ञान सब धर्मों का कारण होता है जिनमें कारण रूप से अनुस्यूत होने के हेतु यह 'आलय' कहा जाता है। इसी से जगत् के समस्त धर्म (पदार्थ) उत्पन्न होते हैं तथा इसी में लीन हो जाते हैं (आलय = लय होने का स्थान)। 'आलय विज्ञान' की कल्पना 'आत्मा' की कल्पना के सदृश होने से बौद्धों के तीव्र प्रतिवादों का विषय बनी हुई है।

[1] सर्वधर्मा हि भालीना विज्ञाने तेषु तत्तथा।
अन्योन्यफलभावेन हेतु भावेन सर्नदा॥ स्थिरमति : मध्यांतविभाग, पृ० २८ (कलकत्ता संस्कृत सीरीज)

योगाचार मत में सत्ता दो प्रकार की होती है—व्यावहारिक तथा पारमार्थिक। प्रथम सत्ता के दो अवांतर भेद होते हैं परिकल्पित सत्ता तथा परतंत्र सत्ता। रज्जु में सर्प का आरोप होता है। इसमें सर्प की भ्रांति का ज्ञान परिकल्पित सत्ता का और रज्जु की सत्ता परतंत्र सत्ता का उदाहरण है। पारमार्थिक सत्ता इन दोनों से भिन्न अथच त्रिकाल में एकाकार रहनेवाली होती है जिसे योगाचार मत 'परिनिष्पन्न' सत्ता की संज्ञा देता है। साधनापक्ष में यह संप्रदाय योग तथा आचार का समधिक पक्षपाती है।

(४) माध्यमिक (शून्यवाद)—शून्यवाद बौद्ध तत्वसमीक्षा का चरम उत्कर्ष माना जाता है। 'शून्य' के यथार्थ स्वरूप के विषय में विपुल विभिन्नता के कारण भी यह एक जटिल सिद्धांत बन गया है। किसी भी पदार्थ का स्वरूप निर्णय करने में चार ही कोटियों का प्रयोग किया जा सकता है—अस्ति (है), नास्ति (नहीं है), तदुभयं (अस्ति और नास्ति) तथा नोभयं (न अस्ति, न च नास्ति) परंतु परमतत्त्व का निर्णय इन कोटियों की सहायता से कथमपि नहीं किया जा सकता[1]। वह मनोवाणी से अगोचर होने के कारण नितरां अनिर्वचनीय है। इसी अनिर्वचनीयता के कारण ही 'शून्य' का प्रयोग परमार्थ के लिये किया जाता है। मध्यम प्रतिपदा के उपासक माध्यमिकों की दृष्टि में वस्तु न तो ऐकांतिक सत् है और न ऐकांतिक असत्, प्रत्युत उसका स्वरूप सत् और असत् दोनों के मध्य बिंदु पर ही निर्णीत हो सकता है जो शून्य रूप ही होगा[2]। 'शून्य' अभाव से नितांत भिन्न है। अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है, परंतु शून्य निरपेक्ष परम तत्त्व का सूचक है। यह शून्य ही अपरोक्ष अद्वैत तत्त्व है। यह समस्त नानात्मक प्रपंच शून्य का ही विवर्त (अतात्विक अन्यथा प्रथा) माना जाता है।

माध्यमिक आचार्य नागार्जुन के अनुसार सत्य दो प्रकार का होता है पारमार्थिक तथा सांवृतिक। संवृति (माया अथवा अविद्या) का कार्यभूत होने से जगत् की सत्ता सांवृतिक या व्यावहारिक है। अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत आदि निषेधपरक विशेषणों से वर्णित तथा बुद्धगोचर शून्य ही पारमार्थिक

[1] न सन् नासन् सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ माध्यमिक कारिका, १।७ (लेनिनग्राड, रूस)

[2] अस्तीति नास्तीति उभे पि अन्ता
शुद्धी अशुद्धीति इमे पि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पंडितः॥ समाधिराज।

सत्य है। वस्तु का अकृत्रिम रूप ही परमार्थ है जिसके ज्ञान से संवृतिजन्य समस्त क्लेशों का अपहरण संपन्न हो जाता है। परमार्थ है धर्मनैरात्म्य अर्थात् सब धर्मों (पदार्थों) की निःस्वभावता। शून्यता, तथता (तथा का भाव, वैसा ही होना), भूत कोटि (अंत्य अवसान), और धर्मधातु (वस्तुओं की समग्रता) इसी के पर्याय हैं। परमार्थ सत्य न तो वाक् का विषय है और न चित्त का गोचर है, प्रत्युत वह प्रत्यात्मवेदनीय तत्व है। नागार्जुन के शब्द में शून्यता का परिनिष्ठित रूप यह है:

> अपर-प्रत्ययं शांतं प्रपंचैरप्रपंचितम्।
> निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥

इस प्रकार 'शून्य' तत्त्व परम भावरूप तत्त्व है, अभावरूप नहीं। उसका अभावात्मक रूप मानकर उसकी समीक्षा करनेवाले तत्त्ववेत्ता स्वयं अभ्रांत नहीं माने जा सकते[२]।

इस प्रकार महायान संप्रदाय ने निरीश्वरवादी निवृत्तिप्रधान हीनयान की कायापलट कर उसे प्रवृत्तिप्रधान तथा भक्तिभावान्वित बनाकर मानवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाया। हीनयान शुष्कज्ञानमूलक निवृत्तिप्रधान मार्ग है, परंतु महायान भक्तिमूलक प्रवृत्तिप्रधान पंथ है। आगे चलकर महायान में मंत्रतंत्रों के विधान ने इस धर्म का पर्याप्त रूपातर कर डाला। भोट ग्रंथों के अनुसार 'धान्यकटक' तथा 'श्रीपर्वत' के प्रांत में महायान का यह तात्रिक रूप संपन्न हुआ।

मंत्रयान > वज्रयान > सहजयान > कालचक्रयान यही तांत्रिक बौद्ध धर्म के विकास की क्रमिक शृंखला है जिसका प्रचार, प्रसार तथा प्रभाव तिब्बत जैसे देशों में आज भी विद्यमान है।

७. वज्रयानी साधना

वज्रयान की तात्रिक उपासना को यथार्थतः समझने से उसके उदात्त रूप का परिचय प्रत्येक आलोचक को हो सकता है। शून्यवादियों का शून्य तत्त्व ही वज्रयानियों का 'वज्र' तत्त्व है। वज्र, दृढ़, सार, कभी शीर्ण न होनेवाला, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाही तथा अविनाशी होने के कारण ही शून्यता का प्रतीक माना गया है[३]। यह शून्य 'निरात्मा' है अर्थात् देवी रूप है जिसके गाढ़ आलिंगन में बोधि-

[१] माध्यमिक कारिका १८।६।

[२] शून्यवाद के विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य—बौ० द० मी०, पृ० २६६, ३१३।

[३] दृढं सारमसौशीर्यम् अच्छेद्यामेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥ वज्रशेखर : अद्वयवज्र संग्रह, पृ० २३।
(गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा)

चित्त सदा बद्ध रहता है तथा यह युगल मिलन सब काल के लिये सुख तथा आनंद उत्पन्न करता है। इस प्रकार 'शून्यता' तथा 'करुणा' का वज्रयानी प्रतीक 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' अथवा पद्म तथा वज्र माना जाता है जिनके युगल मिलन की कल्पना शैवों के शिवशक्ति के मिलन के समान ही की गई है। वज्रयानी हठयोग के एकांत उपासक हैं। फलतः प्राण और अपान की समता, इडा तथा पिंगला की समता, पूरक और रेचक का समभाव (कुंभक), सुषुम्ना के द्वार का उन्मोचन एक ही पदार्थ के विभिन्न अभिधान हैं। सुषुम्ना के मार्ग को ही मध्यम मार्ग, शून्य पदवी अथवा ब्रह्मवादी कहते हैं। सूर्य और चंद्र को यदि पुरुष तथा प्रकृति का प्रतीक मान लें तो हम कह सकते हैं कि प्रकृति पुरुष के आलिंगन बिना मध्य मार्ग का उद्घाटन होता ही नहीं। इडा तथा पिंगला का समीकरण करने से कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होती है। जब षट्चक्र का भेदन कर आज्ञाचक्र के ऊपर साधक की स्थिति होती है, तब कुंडलिनी शनैः शनैः ऊपर चढ़कर सहस्रार चक्र में स्थित परम शिव के साथ आलिंगन में बद्ध हो जाती है। इसी दशा का नाम 'युगल रूप' है। इसी आनंदमयी दशा का नाम है सहजदशा जिसके निर्वाण, महासुख, सुखराज, महामुद्रा साक्षात्कार आदि अनेक अन्वर्थक अभिधान हैं। इस दशा में वायु का निरोध हो जाने से मन भी स्वयमेव निरुद्ध हो जाता है और मन के स्वभावतः लय हो जाने से इस दशा का सहजिया संकेत है उन्मनीभाव। इस समय साधक अपने निजस्वभाव अर्थात् अपने सच्चे रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही है आनंद का अगाध वारिधि अर्थात् महासुख जो प्रत्येक साधक के लिये अंतर्वर्ती होने से 'सहज' नाम से संकेतित होता है।

८. अवधूती मार्ग

वज्र गुरु की कृपा से ही साधक को मध्यममार्ग का दुर्लभ आश्रय प्राप्त होता है। तांत्रिक संकेत के अनुसार ललना, चंद्र तथा प्रज्ञा वामशक्ति के द्योतक तथा रसना, सूर्य और उपाय दक्षिण शक्ति के बोधक हैं। इन दोनों के बीच में चलनेवाली शक्ति की संज्ञा है 'अवधूती' (पापों का अनायास अवधूनन करनेवाली) तांत्रिक साधन के फलरूप उभय शक्तियों की विशुद्धि होने पर ही 'अवधूती' मार्ग का उन्मीलन होता है जो अंत में शून्यमय अद्वैतमार्ग का प्रतीक है। महासुख की प्राप्ति का यही एकमात्र मार्ग है। सहजमार्ग रागमार्ग है, प्रवृत्तिमार्ग है, वैराग्य या निवृत्ति मार्ग नहीं। राग की विचित्र महिमा है। राग से ही बंधन होता है और राग से ही मुक्ति होती है। शुद्धाशुद्ध राग का रूप ही इस विषम परिणाम का प्रापक होता है। चित्त को निर्विषय बनाना ही साधना का चरम लक्ष्य है। विषयासक्त चित्त बंधन का हेतु उसी प्रकार होता है जैसे निर्विषय चित्त मोक्ष

का। इसीलिये महासुख की उपलब्धि के लिये शुद्ध विषयरस के सेवन की कथा शास्त्रों में निर्दिष्ट है[१]।

सहजिया ग्रंथों में शक्ति की विशुद्धि या मलिनता के कारण उसके तीन रूपों का परिचय कराया जाता है—अवधूती, चांडाली तथा बंगाली (या डोंबी)। अवधूती में द्वैत का, चांडाली में द्वैताद्वैत का तथा बंगाली में अद्वैतभाव का निवास रहता है। सिद्धाचार्यों का ऋजु वाट[२] (ऋजु वर्त्म=सीधा मार्ग) यही है जिसमें साधक वाम तथा दक्षिण के टेढ़े मार्ग को छोड़कर मध्य मार्ग से प्रस्थान करता है[३]। इस मार्ग के अवलंबन से अंतिम क्षण में रागाग्नि आप से आप शांत हो जाती है जिससे उत्पन्न आनंद का नाम है **विरमानंद**। यही सर्वोच्च दशा साधना की है जिसमें मन तथा वायु की, चंद्र तथा सूर्य की गति स्तंभित हो जाती है और साधक अद्वैत आनंद में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस महासुख की प्राप्ति का संकेतमंत्र 'एवं' है जो सहजिया संप्रदाय का एक अतीव गंभीर आध्यात्मिक रहस्य है[४]।

६. देवमंडल

बौद्धधर्म में देवमंडल का उदय वज्रयान की महती देन है। हीनयान में बुद्ध के मानव तथा ऐतिहासिक रूप के ऊपर विशेष आग्रह होने से तथा निवृत्ति की प्रधानता होने से देवों की कल्पना का अवसर ही प्राप्त नहीं था। महायान के भक्तिप्रधान तथा प्रवृत्तिपरायण होने के हेतु बुद्ध की देवरूप में कल्पना अवश्य हुई, परंतु अन्य देवों के विकास का सर्वथा अभाव था। कालक्रम से तांत्रिक बौद्ध धर्म अर्थात् वज्रयान और सहजयान के उदय के साथ साथ बौद्ध देवमंडली का विस्तृत विकास संभव हुआ। उपासक की 'भावना' के अनुरूप ही शून्य तत्व की अभिव्यक्ति नाना रूपों में होती है। तांत्रिक बौद्ध धर्म में प्रधान देवता पाँच हैं जो पंचध्यानी बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो पंच स्कंधों के ही मूर्त प्रतीक माने जाते हैं। इन पाँचों के नाम हैं—अक्षोभ्य, वैरोचन, अमिताभ, रत्नसंभव तथा अमोघसिद्धि। चक्रपूजा में इनकी विशिष्ट दिशाएँ, मुद्रा, वर्ण तथा वाहन

१ 'आजु भुसुकु बंगाली भइली' भुसुक पाद की इस नितांत प्रसिद्ध उक्ति का तात्पर्य इसी शक्तिसिद्धि से है, उनके बंगदेशीय बंगाली होने से नहीं है।

२ ऋजु रे ऋजु छाड़ि ना ले रे बंक।
निअहि बोहिया जाहु रे लाँक ॥ सरहपाद।

३ एष मार्गवरः श्रेष्ठो महायान-महोदयः।
येन यूयं गमिष्यन्तो भविष्यथ तथागताः ॥ तंत्रवचन।

४ द्रष्टव्य—गोपीनाथ कविराज जी का अनुशीलन। बलदेव उपाध्याय : बौ० द० मी०, पृ० ३७६।२।

स्थायी रूप से निर्णीत हैं जिनकी सहायता से उनके विशिष्ट नाम तथा रूप का भी परिचय मिल सकता है :

सं०	ध्यानी बुद्ध	दिशा	मुद्रा	वर्ण	वाहन
१	अक्षोभ्य	पूर्व	भूस्पर्श	नील	हस्ती
२	वैरोचन	मध्य	धर्मचक्र	उज्ज्वल	सर्प
३	अमिताभ	पश्चिम	समाधि	लाल	मयूर
४	रत्नसंभव	दक्षिण	वरद	पीत	अश्व
५	अमोघसिद्धि	उत्तर	अभय	हरित	गरुड़

इन्हीं ध्यानी बुद्धों से देवता के पाँच कुल क्रमशः उत्पन्न होते हैं—(१) द्वेष, (२) मोह, (३) राग, (४) चिंतामणि, (५) समय। इन कुलों में अनेक देवता अंतर्भुक्त होते हैं जो 'कुलेश' (कुल के स्वामी) मूल देव के समान ही दिशा, मुद्रा, आदि धारण करते हैं। यह 'गुह्यसमाज' तंत्र की मान्यता के अनुरूप है। 'निष्पन्न योगावली' में इन विषयों में बहुत ही उपयोगी तथ्यों का उपादेय संकलन किया गया है। उदाहरणार्थ 'धर्मधातु वागीश्वर' मंडल में पूर्व दिशा स्थित देवों के कुलेश 'अक्षोभ्य' हैं, दक्षिण दिशावाले देवों के कुलेश 'रत्नसंभव', पश्चिम दिशावाले देवों के कुलेश 'अमिताभ' तथा उत्तर दिशावाले देवों के कुलेश 'अमोघसिद्धि' हैं। इसी प्रकार अवांतर दिशाओं में स्थित देवों के भी कुलेश, वर्ण आदि के वर्णन मिलते हैं।

१०. हिंदी साहित्य में बौद्ध परंपरा

हिंदी साहित्य में प्राचीन बौद्ध धर्म की परंपरा की उपलब्धि समय के विपर्यय के कारण स्वतः असिद्ध है। इसीलिये यहाँ न हीनयानी तथ्यों की कहीं झलक है और न महायानी सिद्धांतों की। वज्रयान का उद्भव तथा विकास, उदय तथा अभ्युदय हिंदी के उदय का समकालीन माना जाता है और इसीलिये हिंदी की प्राचीनतम कविता की भव्य झाँकी हमें सिद्धों के दोहे तथा गीतिकाव्यों में पूर्ण रूप से मिलती है। चौरासी सिद्धों की लंबी परंपरा अष्टम शतक से आरंभ कर द्वादश शतक तक फैली हुई है, परंतु इन सिद्धों में सहजयानी सिद्धों के साथ नाथपंथी सिद्धों का भी गंगाजमुनी मेल आध्यात्मिक पारखियों की समन्वयबुद्धि का सूचक है। सहजयानी सिद्धों की जो कविता मूल रूप में कम, परंतु तिब्बती तंजूर में तिब्बती रूप में विशेष रूप से उपलब्ध होती है वह प्राचीन हिंदी काव्य तथा अपभ्रंश के बीच की एक आवश्यक शृंखला है जिसको पकड़कर हम हिंदी साहित्य के आदिम युग के रूप तथा संपत्ति का भरपूर आभास पाते हैं। तथ्य यह है कि हिंदी काव्य का प्राचीनतम रूप हमें इन पहुँचे हुए सिद्धों की लोकप्रिय गीतिकाओं में मिलता है जिसका प्रणयन लोकहृदय के आवर्जन को दृष्टि में रखकर किया गया है। जनता का हृदय अपनी बोली में लिखे गए काव्यों से ही

पिघलता है। उनका आवर्जन तथा आकर्षण जनता की सहज बोली ही पर्याप्त रूप में करती है। इसी हेतु सिद्धों ने अपने उच्च तांत्रिक सिद्धांतों को जनता की बोली में परिचित घरेलू दृष्टांत, उपमा तथा रूपक की सहायता से अभिव्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है।

सहजयानी सिद्धों की काव्यभाषा की पहचान के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इन काव्यों को 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से ही प्रकाशित नहीं किया था, प्रत्युत उनकी दृष्टि में इनकी भाषा प्राचीन बँगला ही है[1]। परंतु इनकी तात्त्विक समीक्षा इसे प्राचीन हिंदी (या मागधी) का निःसंदिग्ध रूप मानने के लिये आलोचकों को बाध्य करती है[2]। दोहा छंद बंगभाषा की प्रकृति के ही विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत वह हिंदी का अपना चिर अभ्यस्त छंद है। तथ्य तो यह है कि सिद्धों की काव्यभाषा उस युग की भाषा है जब प्रांतीय बोलियों ने प्राचीन सार्वभौम मागध अपभ्रंश से पृथक् होकर अपने संकीर्ण रूप को प्राप्त नहीं किया था। फिर भी उनकी भाषा में अधिकांश शब्दरूप उन काव्यों को हिंदी के पास पहुँचाते हैं। सिद्धों का गढ़ था बिहार प्रांत—मगध प्रदेश, जहाँ की बोली में उन्होंने अपने हृदय के आध्यात्मिक उद्‌गारों को प्रकट किया। इसीलिये सिद्धों के काव्यों में हम हिंदी काव्य की प्राचीनतम झलक पाते हैं।

प्राचीनतम सिद्धों की गुरुशिष्य परंपरा—

सरोजवज्र
(प्रसिद्ध नाम सरहपाद)
├── शबरपा
│   └── लूइपा
│   ├── दारिकपा
│   │   ├── सहजयोगिनी चिंता
│   │   └── वज्रघंटापाद
│   └── डेंगीपा
└── सिद्ध नागार्जुन
    └── कणारीपा (या आर्यदेव)

१ द्रष्टव्य—हरप्रसाद शास्त्री : 'बौद्ध गान ओ दोहा' (बंगला ग्रंथ), भूमिका। बंगीय साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता।

२ राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबंधावली, इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९३७, पृ० १६०–२०४।

इन सिद्धों में प्राचीनतम पुरुष सरोजवज्र ही हैं जो पूर्व दिशा में किसी राज्ञी नामक नगर में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। किसी बाण बनानेवाली कन्या को 'महामुद्रा' बनाने के कारण ही ये 'सरहपाद' (शर = बाण) के नाम से विख्यात हुए। पालवंशी नरेश धर्मपाल (७६० ई०—८०६ ई०) के समकालीन होने से इनका समय आठवीं शती का मध्यकाल है। इनके प्रथम शिष्य के शिष्य लुइपा धर्मपाल के कायस्थ (लेखक) थे। सिद्धाचार्यों की सूची में इनकी प्रथम गणना इनके आध्यात्मिक गौरव की परिचायिका मानी जा सकती है। लुइपा के दोनों शिष्यों में दारिकपा उत्कल के राजा तथा डेंगीपा उन्हीं के महामात्य थे जो अपने अतुल वैभव को लात मारकर आध्यात्मिक पंथ के पथिक बने तथा इस नाम से प्रसिद्ध हुए। सरोजवज्र के द्वितीय शिष्य सिद्ध नागार्जुन को हमें शून्यवाद के प्रतिष्ठाता माध्यमिक नागार्जुन से पृथक् करना होगा। दोनों की विभिन्नता मानने में सिद्धांतों का पार्थक्य ही कारण नहीं है, प्रत्युत समय का विपर्यय भी। इनके शिष्य कर्णरीपा भी माध्यमिक आर्यदेव से सर्वथा विभिन्न व्यक्ति हैं। दारिकपाद के दो शिष्य हुए जिनमें सहजयोगिनी चिंता शिष्या थीं तथा वज्रघंटापाद शिष्यों में प्रधान थे। नवीं शती के मध्यकाल में 'कराहपा' (या कृष्णपाद) एक प्रसिद्ध सिद्ध हुए जो महाराज देवपाल (८०६-८४६ ई०) के समसामयिक कर्णाटकदेशीय भिक्षु थे। इन सब महनीय सिद्धों ने मागधी भाषा में अपने काव्यों का प्रणयन किया। चौरासी सिद्धों में कवित्व और विद्या, दोनों दृष्टियों से ये सबसे बड़े सिद्धों में से हैं। इनके सात शिष्यों तथा शिष्याओं की चौरासी सिद्धों में स्थान-प्राप्ति भी इनकी आध्यात्मिक महनीयता का संकेत करती है। इस विशाल गीतिसाहित्य का गंभीर अनुशीलन[1] अभी अपेक्षित है।

एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होगा। सरहपाद के दो प्रख्यात दोहों के भाषा तथा भावगत सौंदर्य को परखिए :

जह मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ॥
घोरे न्धारें चंद्रमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एक्कुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ ॥

सिद्ध भूसुकु की यह गीति दार्शनिक तत्त्व की प्रौढ़ परिचायिका है—

[1] इन सिद्धों की कविता तथा उनके उदाहरण के लिये द्रष्टव्य—राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबंधावली, पृ० १६०–२०१।

अधराति भर कमल विकसउ ।
बतिस ओह्णी तसु अंग उह्लासिउ ॥
कमलिनी कमल बहइ पणालें ।
'भूसुकु' भणइ भइ बूझिअ मेलें
सहजानंद महासुख लोलें ॥

चतुर्थ अध्याय

दर्शन

१. प्रस्ताविक

भारतवर्ष स्वभाव से ही विचारप्रधान देश है। अन्य देशों से इसकी तुलना इस विषय में नहीं की जा सकती। पश्चिमी देशों में जीवनसंग्राम इतना भीषण है तथा व्यावहारिक जीवन की समस्याएँ इतनी उलझी हुई हैं कि वहाँ के निवासियों का जीवन इन्हीं के सुलझाने में व्यतीत हुआ करता है और आध्यात्मिक तत्वों की छानबीन करना उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएँ हैं। परंतु प्रकृति ने इस भारत-भूमि को जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर यहाँ के निवासियो को ऐहिक चिंता से मुक्त कर पारलौकिक चिंतन की ओर स्वतः अग्रसर कर रखा है। इसलिये भारतवासी निसर्गतः विचारप्रधान होते हैं। अध्यात्मविद्या अर्थात् दर्शनशास्त्र भारत की समग्र विद्याओं में श्रेष्ठ समझी जाती है। इसीलिये मुंडक उपनिषद् ब्रह्मविद्या को सब विद्याओं की प्रतिष्ठा (सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा) मानता[१] है तथा श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अध्यात्म विद्या को अपनी विभूतियों में अन्यतम मानते हैं[२]। अर्थशास्त्र के कर्ता कौटिल्य की दृष्टि में आन्वीक्षिकी विद्या (दर्शन शास्त्र) सब विषयों को प्रकाशित करने के कारण दीपक-स्थानीय है तथा सब कर्मों के अनुष्ठान का उपाय है और सब धर्मों का आश्रय है[३]। तथ्य यह है कि दर्शन-शास्त्र को जो महत्ता तथा स्वतंत्रता इस भारतवर्ष में प्राप्त हुई है वैसी इसे अन्य किसी भी देश में प्राप्त नहीं हुई।

(१) दर्शन की महत्ता—भारतवर्ष में दर्शन का महत्त्व बहुत ही अधिक है। यह हमारे जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं के साथ घनिष्ठ संबंध रखता है। पाश्चात्य देशों में भी तत्वज्ञान की छानबीन प्राचीन काल से होती आई है, परंतु उसका उद्देश्य कुछ दूसरा ही रहा है। 'फिलासफी' शब्द का अर्थ ही है—विद्या

[१] मुंडक उपनिषद्, १।१ (निर्णय सागर संस्करण)

[२] अध्यात्मविद्या विद्यानाम्—गीता १०।३२

[३] प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ अर्थशास्त्र १।२

का अनुराग (फिल = प्रेम, सोफिया = विद्या)। प्लेटो (अफलातून) के अनुसार फिलासफी का उदय आश्चर्यभरी घटनाओं की व्याख्या में होता है (फिलासफी बिगिन्स इन वंडर)। विश्व के भीतर आश्चर्य से पूर्ण नाना घटनाएँ प्रतिदिन हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं और इन्हीं की यथावत् आलोचना के लिये पश्चिमी तत्त्वज्ञान का आरंभ होता है। अतएव पश्चिमी जगत् में तत्त्वज्ञान विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधन मात्र है, परंतु भारतवर्ष में इसका मूल्य नितांत व्यावहारिक है। भारत में तत्त्वज्ञान का आरंभ एक बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या को सुलझाने के लिये होता है और वह समस्या है त्रिविध ताप से संतप्त जनता के क्लेशों की आत्यंतिक निवृत्ति। दिन प्रतिदिन दुःखों की एक विशाल राशि प्राणियों को सतत व्याकुल और बेचैन बनाए रहती है। इससे छुटकारा पाने के उपायों को बतलाना तत्त्वज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। इसीलिये दर्शन का धर्म के साथ भारत भूमि पर इतना घनिष्ठ मेल मिलाप है। विचार तथा आचार का गंभीर संपर्क भारतवर्ष में सदैव दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक विचार की आधारशिला के बिना धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है और धार्मिक आचार के रूप में कार्यान्वित किए बिना दर्शन की स्थिति निष्फल है। इस प्रकार धर्म के साथ सामंजस्य रखना भारतीय दर्शन की महती विशिष्टता है। पश्चिमी जगत् में ईसाई धर्म तथा तत्त्वज्ञान के बीच जो विषम कटुता वर्तमान रही है वह भारतवर्ष में कभी नहीं रही। यहाँ तो धर्म तथा दर्शन दोनों के बीच मंजुल सामरस्य विद्यमान रहा है और आज भी है।

(२) **मुख्य संप्रदाय**—भारतीय दर्शन की जैन तथा बौद्ध विचारधारा का संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। यहाँ षड्दर्शन के विचारों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। भारतीय दर्शन की आस्तिक धारा के अंतर्गत छः दर्शनों को मुख्यता प्राप्त है जिनके नाम हैं—(१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) कर्ममीमांसा तथा (६) वेदांत। अधिकारीभेद से इन दर्शनों की भिन्नता है, परंतु कतिपय ऐसे सामान्य सिद्धांत हैं जिन्हें प्रत्येक दर्शन समानभावेन स्वीकार करता है तथा अपने विचारों के लिये उन्हें आधारपीठ मानता है। इन दर्शनों के उदय का संबंध उपनिषदों के अनंतर प्रचलित युग के साथ है। उपनिषत्कालीन तत्त्वज्ञान का महनीय मंत्र है 'तत्त्वमसि' महावाक्य। इस वाक्य के द्वारा ऋषि लोग डंके की चोट प्रतिपादित करते हैं कि त्वम् (= जीव) तथा तत् (= ब्रह्म) पदार्थों में नितांत एकता है। इस महावाक्य की मीमांसा करने के लिये अवांतर दर्शनों की उत्पत्ति हुई। कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि जीव तथा जगत् (पुरुष तथा प्रकृति) के परस्पर विभिन्न गुणों को न जानने से संसार है और प्रकृति-पुरुष के स्वरूप को भली भाँति जानने पर ही तत् और त्वम् की एकता सिद्ध हो सकती है। इस ज्ञान का नाम है—सम्यक्ख्याति (= विवेक ज्ञान या सांख्य)। इस प्रकार सांख्य दर्शन का उदय सर्वप्रथम हुआ और उसके पुरस्कर्ता कपिल-

मुनि इसीलिये 'आदि विद्वान्' के नाम से दर्शन ग्रंथों में अभिहित किए गए हैं।[1] यह तो हुआ अलौकिक साक्षात्कार, परंतु इतने से कार्य की सिद्धि न होते देखकर व्यावहारिक साक्षात्कार की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसके लिये योग का उदय हुआ। 'सांख्य योग' एक ही तात्त्विक विचारधारा के दो रूप होते हैं—सिद्धांतपक्ष का नाम है सांख्य और व्यवहारपक्ष का नाम है योग। अन्य दार्शनिकों ने जीव और जगत् के गुणों (विशेष) की छानबीन करना आवश्यक समझा। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा के गुणों की विवेचना करने से 'वैशेषिक' दर्शन की उत्पत्ति हुई। ज्ञान की प्राप्ति के लिये तर्क की भी एक निश्चित प्रणाली की आवश्यकता होती है और इसकी पूर्ति करने के लिये 'न्याय दर्शन' का उदय हुआ। परंतु न्याय में तर्क के ऊपर इतना आग्रह है कि विचारकों को यह धारणा जमाते देर न लगी कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो नहीं सकता। अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी तथा प्रथमतः वैदिक कर्मकांड की विवेचना आरंभ कर दी जिसका फल हुआ कर्ममीमांसा का उदय। परंतु मानवों की आध्यात्मिक भावना केवल कर्म के अनुष्ठान से तृप्त न हो सकी और इसीलिये वेदों के ज्ञानकांड की भी मीमांसा होने लगी जिससे वेदांत का जन्म हुआ। इस प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिये षड्दर्शनों की उत्पत्ति उक्त क्रम से निष्पन्न हुई।

(३) **सामान्य सिद्धांत**—इन प्रसिद्ध षड्दर्शनों में आपाततः भेद भले ही प्रतीत हो, परंतु इनके भीतर कतिपय मान्य सिद्धांतों को स्वीकार करने में एक ऐकमत्य उपलब्ध होता है जिसका संक्षेप रूप से यहाँ निर्देश किया जाता है :

(क) **नैतिक व्यवस्था में विश्वास**—भारतीय दर्शन आशावादी है। क्रांतदर्शी ऋषियों ने खोज निकाला था कि इस आपाततः अव्यवस्थित प्रतीत होनेवाले जगत् के भीतर व्यवस्था का पूर्ण साम्राज्य है। वैदिक ऋषियों ने इस अपरिवर्तनशील नैतिक व्यवस्था को 'ऋत' की संज्ञा दी है। इस जगत् में सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला तत्त्व यही 'ऋत' है और ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र में सत्य के उदय से पहिले 'ऋत' की उत्पत्ति का निर्देश है[2]। भारतीय दार्शनिकों ने 'ऋत' के सिद्धांत को भिन्न भिन्न रूपों में अपनाया है। न्याय-वैशेषिक में 'अदृष्ट'

[1] 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' (श्वेताश्वतर उप० ५,२) में कपिल शब्द कपिल मुनि का वाचक सर्वत्र स्वीकृत नहीं किया जाता। परंतु व्यास भाष्य में परमर्षि कपिल 'आदि विद्वान्' की उपाधि से मंडित हैं। द्रष्टव्य—'व्यासभाष्य' (आनंदाश्रम संस्करण, पूना), सूत्र १।२५

[2] ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—ऋग्वेद १०।१९०।१।

की तथा कर्ममीमांसा में 'अपूर्व' की दार्शनिक कल्पना का आधारभूत तत्त्व यही 'ऋत' है।

(ख) **कर्म सिद्धांत**—जगत् की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण कर्म का सिद्धांत है। वर्तमान दशा के लिये हम स्वयं उत्तरदायी हैं। जो कुछ कर्म हम करते हैं उसका फल अवश्यमेव हमें भोगना पड़ता है। कर्म तथा फल–दोनों का कार्य–कारण–संबंध अकाट्य रूप से निश्चित है। कर्मसिद्धांत का यही तात्पर्य है कि इस विश्व में यदृच्छा के लिये कोई स्थान नहीं है और न हमें अपनी वर्तमान दशा के लिये किसी दूसरे पर दोषारोपण करना है।

(ग) **बंधन का कारण**—संसार के समस्त बंधनों का एकमात्र कारण है—**अविद्या**। अविद्या से ही इस जगत् में प्राणिमात्र का जन्म मरण हुआ करता है। अविद्या के रूप के विषय में दार्शनिकों में मतभेद नहीं है। योगसूत्रों के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या है[1]। यह अविद्या ही अन्य समस्त क्लेशों अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश का कारण है।

(घ) **मोक्ष**—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—मानव के लिये चार पुरुषार्थ होते हैं जिसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य सर्वदा प्रयत्नशील रहता है। इन पुरुषार्थों में अंतिम पुरुषार्थ है मोक्ष जिसकी सत्ता में प्रत्येक दर्शन को विश्वास है। मोक्ष नितांत दूरस्थ आदर्श नहीं है जो इस जन्म में साध्य न हो सके। मानव जीवन का लक्ष्य परोक्ष में दुःख की निवृत्ति न होकर जीते जी इसी देह में उस आदर्श को सिद्ध करने में है। जीवन्मुक्ति का आदर्श उपनिषदों की बहुमूल्य देन है जिसे अद्वैत वेदांत पूर्णतया मानता है। कठोपनिषद् ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि जब हृदय में रहनेवाली समग्र कामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है और यहीं (अर्थात् इसी शरीर में) उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है[2]। वैष्णव दर्शनों को 'जीवन्मुक्ति' को छोड़कर 'विदेहमुक्ति' में आस्था है, तथापि उनके मत में भी ज्ञानी ऐसी उन्नत स्थिति पर पहुँच जाता है जिसमें जीवन का उद्देश्य ही साधारण कोटि से ऊपर उठकर उन्नत परमार्थ कोटि तक पहुँच जाता है।

[1] अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या
—योगसूत्र २.५ (आनंदाश्रम पूना)

[2] यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा यस्य हृदि स्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
कठ उपनिषद् २।३।१४

(ङ) मोक्ष का उपाय—भारतीय दर्शन का चरम सिद्धांत है—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र चरम साधन है। जब अविद्या ही बंधन का मूल कारण है, तब उसकी यथार्थ निवृत्ति विद्या या ज्ञान के अभाव में दूसरे साधन से हो नहीं सकती। इसलिये मोक्ष के इस उपाय में षड्दर्शनों की एकवाक्यता है। परंतु शुष्क ज्ञान से यह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान को अपने व्यवहार में लाने की परम आवश्यकता होती है। इसलिये भारतीय दर्शन की प्रत्येक धारा में आचार की मीमांसा प्रमुख स्थान रखती है। श्रवण तथा मनन के अनंतर निदिध्यासन आत्मसाधना का प्रमुख साधन है। श्रेय-मार्ग वास्तव में परम मंगल साधन करने का रास्ता है, परंतु इसपर चलने के लिये आत्मसंयम तथा चित्तशुद्धि की नितांत आवश्यकता होती है। फलतः योग के अष्टविध अंगों का उपयोग प्रत्येक भारतीय दर्शन करता है।

इस प्रकार अधिकारी भेद से इन दर्शनो में भेद होना स्वाभाविक है, परंतु पूर्वोक्त निर्दिष्ट सिद्धांतों के मानने में ये छहों दर्शन एकमत हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि इन दार्शनिक सांप्रदायों में एकता है, भिन्नता नहीं। इसमें सामरस्य है, विरोध नहीं। अपनी दृष्टि से परम तत्त्व का सुंदर विवेचन करने के कारण ये दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं।

(च) कार्य-कारण की मीमांसा—कार्यकारण के संबंध को लेकर इन दर्शनों का विशिष्ट विभाग प्रस्तुत किया जाता है। कतिपय दर्शनों के अनुसार कार्य कारण से भिन्न एक स्वतंत्र सत्ता है। कारणव्यापार के द्वारा कार्य उत्पन्न किया जाता है जो उसके जीवन में एक नई स्थिति का सूचक होता है। परमाणुओं से ही जगत् की उत्पत्ति होती है जिसमें ईश्वर की इच्छा प्रबल मानी जाती है। इस सिद्धात का नाम है **आरंभवाद** जिसके अनुसार कार्य कारण की अपेक्षा वस्तुतः नवीन पदार्थ होता है। इस सिद्धांत के माननेवाले दर्शन हैं - न्याय, वैशेषिक तथा कर्ममीमांसा। अन्य दर्शनों के अनुसार कार्य कारणव्यापार से पहिले ही कारण में विद्यमान रहता है। वह कारण में अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है और कारण व्यापार के द्वारा वही अव्यक्त रूप व्यक्त बनाया जाता है। घड़ा मिट्टी में स्वतः विद्यमान रहता है, परंतु वह अव्यक्त रूप में ही रहता है। कुम्हार अपने साधन तथा व्यापार से मिट्टी में अव्यक्त घड़े को व्यक्त बना देता है। इस सिद्धात का नाम है **परिणामवाद** और सांख्य तथा योग एवं रामानुज आदि वैष्णवदर्शनों का यही मान्य मत है। कार्य कारण के संबंध में एक तीसरा मत है जिसके अनुसार कारण ही वस्तुतः सत्य है और कार्य उसकी काल्पनिक तथा असत्य अभिव्यक्ति है। इस जगत् का कारणरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य पदार्थ है तथा उससे उत्पन्न यह

जगत् एकदम मिथ्या है तथा माया के द्वारा निर्मित होने से नितांत मायिक है। इस मत का नाम है—**विवर्तवाद** और अद्वैतवाद का यह विशिष्ट मत है। परिणाम तथा विवर्त का परस्पर भेद नितांत स्पष्ट है। तात्विक परिवर्तनों को **विकार** तथा अतात्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का विकार है, परंतु सर्प रज्जु का विवर्त है, क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है, परंतु रज्जु और सर्प की सत्ता भिन्न प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक[१] है, परंतु रज्जु की सत्ता वास्तविक है। 'विवर्त' को ही '**अध्यास**' कहते हैं।

इस सामान्य परिचय के अनंतर षड्दर्शनों का अलग अलग संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :

२. षडदर्शन परिचय

(१) **न्याय दर्शन**—न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं जिनके सूत्रों के ऊपर लिखा वात्स्यायन ने भाष्य, उद्योतकर ने लिखा भाष्य पर वार्तिक, वाचस्पति ने वार्तिक पर तात्पर्य टीका तथा उदयनाचार्य ने तात्पर्य टीका पर तात्पर्य-परिशुद्धि लिखकर न्याय दर्शन के मौलिक सिद्धांतों का बड़ा ही प्रामाणिक प्राजल तथा पाडित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। न्याय **वस्तुवादी** दर्शन है जो पदार्थों के ज्ञान के लिये चार प्रकार के प्रमाणों को प्रस्तुत करता है। ये प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। पदार्थों के साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं जिसकी उत्पत्ति पदार्थ तथा ज्ञानेंद्रिय के संयोग से होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा आंतर। बाहरी ज्ञानेंद्रियों (जैसे कान, नाक, आँख आदि) से उत्पन्न प्रत्यक्ष **बाह्य** कहलाता है तथा केवल (अंतरिंद्रिय) मन के संयोग द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष आंतर या **मानस** प्रत्यक्ष कहलाता है। अनुमान किसी ऐसे लिंग या साधन के ज्ञान पर निर्भर रहता है, जिसके अनुमित वस्तु (साध्य) का एक नियत संबंध रहता है। साधन (लिंग या हेतु) तथा साध्य (अनुमान की जानेवाली वस्तु) के इस नियम संबंध को **व्याप्ति** कहते हैं जैसे धूम का अग्नि के साथ संबंध। इसी व्याप्तिज्ञान के ऊपर अनुमान की सत्यता निर्भर रहती है। अनुमान में कम से कम तीन वाक्य होते हैं और अधिक से अधिक तीन पद होते हैं जिन्हें पक्ष, साध्य और हेतु कहते हैं। हेतु (लिंग) उसे कहते हैं जिसकी सहायता से अनुमान किया जाता है। पक्ष वह है जिसमें लिंग का अस्तित्व

१ सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥
वेदान्तसागर (निर्णयसागर), पृ० ८

मालूम है और साध्य का अस्तित्व सिद्ध करना है। साध्य वह है जिसका अस्तित्व पक्ष में सिद्ध करना होता है। उदाहरण के लिये अनुमान की इस प्रणाली पर ध्यान दीजिये—

यह पर्वत वह्निमान् है (प्रतिज्ञावाक्य)
क्योंकि यह धूमवान् है (हेतु वाक्य)
जो धूमवान् होता है वह वह्निमान् होता है (उदाहरण वाक्य)

इस अनुमान वाक्यों में पर्वत 'पक्ष' है, वह्नि 'साध्य' है तथा धूम 'साधन' (लिंग या हेतु) है।

संज्ञा (नाम) तथा संज्ञी (नामी) के संबंधज्ञान को उपमान कहते हैं और यह आधारित रहता है सादृश्यज्ञान के ऊपर। उदाहरणार्थ यदि हम जानते हैं कि 'गवय' (नील गाय) नामक पशु गाय के समान होता है, तो जंगल में जाने पर गो के समान किसी पशुविशेष को प्रथम बार देखते ही हम जान लेते हैं कि यही पशु 'गवय' नामधारी है। गवय में गौ की समानता देखते ही हम जान लेते हैं कि यही पशु 'गवय' पद का वाच्य है। फलतः यह ज्ञान उपमान कहलाता है।

आप्त (प्रामाणिक) पुरुषों के कथन से किसी अज्ञात पदार्थ के विषय में जो हमारा ज्ञान होता है वह 'शब्द' कहलाता है। किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन तथा कार्यकलाप का ज्ञान हमें प्रामाणिक लेखकों के कथन पर होता है तथा कर्म और कर्मफल के संबंध, आत्मा के अस्तित्व आदि विषयों का ज्ञान 'वेद' के द्वारा होता है। अतः ये शब्द प्रमाण के अंतर्गत हैं। नैयायिकों के अनुसार इन्हीं चारों प्रमाणों के अंतर्गत इतर प्रमाणों का भी सन्निवेश अभीष्ट है।

आत्मा—को सांसारिक बंधनों से मुक्त करना न्याय को उसी प्रकार अभीष्ट है जिस प्रकार अन्य दर्शनों को। आत्मा, शरीर, इंद्रिय तथा मन इन तीनों से भिन्न तथा पृथक् है। शरीर पृथ्वी जल तेज आदि भूतों की समष्टि से निर्मित एक भौतिक पदार्थ है। मन सूक्ष्म, नित्य तथा अणु है। चक्षु प्राण आदि बहिरिंद्रिय है, परंतु मन अंतरिंद्रिय (भीतरी इंद्रिय) है और वह आत्मा के लिये सुख तथा दुःख के अनुभव उत्पन्न करने का साधन है। जब आत्मा का मन के साथ संपर्क होता है, तब उसमें चैतन्य का संचार होता है। चैतन्य आत्मा का आगंतुक गुण है जो मन के साथ संयोग होने पर होता है और जो इसीलिये मुक्त दशा में आत्मा में विद्यमान नहीं रहता। मन के साथ संयोग का नाश होते ही वह नष्ट हो जाता है। आत्मा नित्य विभु तथा अनेक है। इसके विपरीत मन सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा अणु है। आत्मा कर्म करने में स्वाधीन है। वही अपने किए गए कर्मों के फलों को भोगता है। मिथ्या ज्ञान,

रागद्वेष तथा मोह से प्रेरित होने पर जीव नाना प्रवृत्तियों में उलझा रहता है और तत्त्वज्ञान होने पर ही आत्मा अपवर्ग को प्राप्त करता है। अपवर्ग का अर्थ है मुक्ति या मोक्ष। अन्य दार्शनिकों के विपरीत नैयायिकों की दृष्टि में अपवर्ग आनंदमय नहीं होता। कारण यह है कि आनंद या सुख की भावना दुःख के बिना हो नहीं सकती। फलतः सुखमयी दशा में भी दुःख की सत्ता वर्तमान रहती है। इसीलिये न्यायदर्शन मोक्ष में दुःख के समान सुख का भी नितांत अभाव मानता है। चैतन्य भी आत्मा का आगंतुक गुण ठहरा और फलतः मोक्ष दशा में चैतन्य की भी सत्ता नहीं रहती।

न्यायदर्शन परमात्मा या ईश्वर का अस्तित्व अनेक युक्तियों के सहारे सिद्ध करता है। उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमांजलि' ईश्वरसिद्धि के विषय में नितांत प्रौढ़ तथा पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन मानी जाती है। विश्व के समग्र मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, समुद्र आदि पदार्थ अवयवों या अंशों से युक्त हैं। (सावयव) तथा साथ ही साथ अवांतर परिमाण से मंडित हैं। संसार के ये पदार्थ परमाणुओं में विभाजित हो सकते हैं। परमाणु पदार्थों के सूक्ष्मतम अंश हैं जिनसे सूक्ष्म पदार्थ की कल्पना मानी नहीं जा सकती। इन परमाणुओ से ही वे समग्र पदार्थ निर्मित हैं। इनका निर्माता कौन हो सकता है ? मनुष्य की बुद्धि तथा शक्ति सीमित है और इसलिये वह परमाणुओं का संमिश्रण नहीं कर सकता जिससे भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति हो सके। फलतः इस विश्व का निर्माता कोई चेतन आत्मा है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा संसार की नैतिक व्यवस्था का संरक्षक है। और वही ईश्वर है। ईश्वर ने इस विश्व की रचना परमाणु, काल, दिक्, आकाश तथा मन आदि उपादानो से अपने किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये नहीं प्रत्युत प्राणियों के कल्याण के लिये की है। मनुष्य कर्म करने के लिये स्वतंत्र है। वह अच्छा या बुरा कर्म कर सकता है और तदनुसार सुख या दुःख भोगता है। परंतु ईश्वर की दया तथा मार्गप्रदर्शन से मनुष्य अपनी आत्मा तथा विश्व का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार वह अपने क्लेशों से मुक्ति पा सकता है। न्यायदर्शन का यही संक्षिप्त सिद्धांत है।

(२) **वैशेषिक दर्शन**—वैशेषिक दर्शन न्यायदर्शन के साथ अनेक सिद्धांतों में समानता रखने के कारण 'समानतंत्र' माना जाता है। इसमें सत्य की जो मीमांसा है वह भौतिक विज्ञान की दृष्टि को सामने रखकर की गई है। न्यायदर्शन का प्रधान लक्ष्य अंतर्जगत् तथा ज्ञान की मीमांसा है, वैशेषिक का मुख्य तात्पर्य बाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा है। वैशेषिक दर्शन बड़ा पुराना दर्शन है, इसके प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं जिनके सूत्र न्यायसूत्र से प्राचीन माने जाते हैं। वैशेषिकों पर बौद्धों की बड़ी आस्था तथा श्रद्धा थी। प्राचीन वैशेषिक लोग किसी समय प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानते थे। इसी कारण ये लोग आधे बौद्ध (अर्द्ध वैनाशिक) माने गए हैं। वैशेषिक ग्रंथकारों में प्रशस्तपाद भाष्यकार

के नाम से अभिहित किए जाते हैं जिनके वैशेषिक भाष्य 'पदार्थधर्मसंग्रह' पर कालांतर में बड़ी प्रौढ़ टीकाओं का निर्माण हुआ जिनमें व्योमशिवाचार्य की 'व्योमवती', उदयनाचार्य की 'किरणावली' तथा श्रीधर की न्यायकंदली, विशेष प्रख्यात तथा प्रौढ़ व्याख्याएँ हैं। विश्वनाथ न्यायपंचानन (१७वीं शती) की कृति 'मुक्तावली' तो इस दर्शन की नितांत लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध रचना मानी जाती है।

वैशेषिक दर्शन विश्व की समस्त वस्तुओं को सात पदार्थों के अंतर्गत विभक्त करता है। इन पदार्थों के नाम हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय तथा (७) अभाव।

(१) द्रव्य—गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य किसी भी कार्य का उपादान कारण होता है जिससे नई वस्तुएँ बनाई और गढ़ी जाती हैं और साथ ही साथ उसमें गुण तथा क्रिया भी रहती है। द्रव्य नौ प्रकार का होता है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें प्रथम पाँच महाभूत कहलाते हैं जिनके गुण क्रमशः हैं गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये चारों भूत चार प्रकारों के परमाणुओं से बने होते हैं। परमाणु की वैशेषिक धारणा तथा कल्पना वैज्ञानिकों के समान है। परमाणु पदार्थों के सूक्ष्मतम अवयव हैं जिनका न विभाजन हो सकता है और न नाश। ये नित्य हैं। इन्हीं नित्य परमाणुओं से सृष्टिव्यापार होता है। दो परमाणुओं के योग से बनते हैं द्व्यणुक और तीन द्व्यणुकों से योग से बनते हैं त्र्यणुक या त्रसरेणु और इसी प्रकार सूक्ष्म से स्थूल सृष्टि का निर्माण होता है। आकाश, काल तथा दिक् एक एक हैं, नित्य हैं और विभु हैं। मन नित्य है परंतु यह विभु न होकर अणु है। मन अंतरिंद्रिय है जो संकल्प आदि मानसिक क्रियाओं का सहायक होता है। परमाणु के समान अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण मन में एकसाथ एक ही अनुभूति हो सकती है। किसी वस्तु के प्रत्यक्षज्ञान के लिये आत्मा, इंद्रिय तथा विषय ही पर्याप्त साधन नहीं है, परंतु मन की भी सहायता सर्वदा अपेक्षित रहती है। आत्मा तथा मन का संयोग होने पर हमें किसी वस्तु का, जैसे बगीचे में गुलाब का, ज्ञान होता है, परंतु यदि हमारा मन दूसरी ओर लगा रहता है तो सुंदर गुलाब हमारे सामने पड़ा ही रह जाता है, उसका हमें तनिक भी ज्ञान नहीं होता। फलतः प्रत्येक ज्ञान का साधन होने के कारण मन की सत्ता सिद्ध होती है।

आत्मा—आत्मा शरीर, इंद्रिय तथा मन से भिन्न तथा स्वतंत्र एक पृथक् द्रव्य है। वैशेषिकों ने इसकी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियाँ दिखलाई हैं जिनमें से कतिपय नीचे दी जाती हैं :

(क) श्वासप्रश्वास से शरीर फूलता तथा संकुचित होता है। जैसे लोहार की भाथी का फूलना और संकुचित होना भाथी फूँकनेवाले प्राणी के व्यापार

से होता है, वैसे ही शरीर के ये व्यापार किसी चेतन पदार्थ के द्वारा ही संपन्न होते हैं (प्राणायाम)।

(ख) शरीर में घाव लगता है और फिर वह भर जाता है। यह शरीर के भीतर स्थित आत्मा के द्वारा ही हो सकता है, जैसे घर में रहनेवाला घर की मरम्मत करता है (जीवन)।

(ग) जैसे बालक अपनी इच्छा से गोली या गेंद इधर उधर फेंकता है वैसे ही आत्मा भी अपनी इच्छा के अनुसार मन को इधर उधर दौड़ाया करता है। फलतः मनोगति आत्मा के अस्तित्व की साधिका है (मनोगति)।

(घ) मीठे आम को देखकर मुँह में पानी भर आता है। उसका कारण क्या है ? रूपविशेष के साथ रसविशेष का अनुभव पहले हो चुका है और उसी का स्मरण वर्तमान दशा में हो रहा है। अनुभव तथा स्मरण का आश्रय एक ही होना चाहिए। सब इंद्रियों का अधिष्ठाता एक ही चेतन है और वही आत्मा है।

यह आत्मा एक न होकर अनेक है, इसका प्रधान कारण है—व्यवस्था। जगत् के प्राणियों पर दृष्टिपात करने से पद पद पर हमें भिन्नता मिलती है। कोई सुखी है तो कोई दुखी। कोई धनी है तो कोई गरीब। इससे सिद्ध होता है कि प्रति शरीर में आत्मा भिन्न है।

(२) गुण—गुण वह पदार्थ है जो किसी द्रव्य में रहता है परंतु स्वयं उसमें कोई गुण नहीं रहता। गुण में न कोई गुण रहता है और न कोई कर्म। द्रव्य निरपेक्ष है परंतु गुण को द्रव्य की अपेक्षा रहती है। कुल गुणों की संख्या २४ है—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग। (१०) परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, (२०) स्नेह, संस्कार, शब्द, धर्म और अधर्म। धर्म आत्मा का गुण है जिसके द्वारा कर्ता को सुख, प्रिय वस्तु तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। वही गुण धर्म है। यह अतींद्रिय है। अंतःकरण की शुद्धता तथा पवित्र संस्कारों के द्वारा यह उत्पन्न होता है तथा अंतिम सुख भोग लेने पर यह समाप्त हो जाता है। अधर्म धर्म का विरोधी गुण है जो कर्ता को अहित तथा दुःख की प्राप्ति करानेवाला होता है। अन्य गुण भी भिन्न भिन्न द्रव्यों में एक साथ अथवा अलग अलग रहते हैं।

(३) कर्म—गुण के समान ही कर्म द्रव्य में आश्रित रहनेवाला पदार्थ है। कर्म गुण से भी भिन्न होता है। गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है अर्थात् वह अपने

[1] द्रष्टव्य—वैशेषिक सूत्र, ३।२।४ तथा इसपर प्रशस्तपादभाष्य। (चौखंभा संस्कृत सीरीज, काशी)

स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, परंतु कर्म अभी सिद्धावस्था में होता है। कर्म की वृत्ति मूर्त द्रव्यों में ही रहती है। अल्प परिमाणवाले द्रव्य मूर्त कहलाते हैं। ये पाँच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन। कर्म की वृत्ति इन्हीं पाँचों द्रव्यों में होती है। कर्म पाँच प्रकार का होता है—उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अपक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुंचन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) तथा गमन (जाना)।

(४) सामान्य—स्वयं एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं में समवाय संबंध से रहनेवाला पदार्थ सामान्य कहलाता है। इसी का दूसरा नाम है जाति; जैसे गोत्व तथा मनुष्यत्व। गौ तथा मनुष्य अनेक हैं, परंतु उनमें रहनेवाली जाति एक ही है और वह नित्य है। इस प्रकार सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में अनुगत (अर्थात् समवाय संबंध से संबद्ध) रहता है। सभी गायों में एक समानता है जिसके कारण उन सबों की एक जाति होती है तथा उन्हें अन्य जातियों से पृथक समझा जाता है। इस सामान्य को 'गोत्व' कहते हैं जो न तो गाय के जन्म लेने पर उत्पन्न होता है और न जो गाय के नष्ट होने पर नष्ट होता है। अतः गोत्व नित्य है। व्यापकता की दृष्टि से सामान्य तीन प्रकार का होता है—(१) पर सामान्य—सबसे अधिक व्यक्तियों में रहनेवाली जाति (जिसका दूसरा नाम 'सत्ता' है), (२) 'अपर सामान्य'—सबसे कम व्यक्तियों में रहनेवाली जाति, जैसे गोत्व, मनुष्यत्व आदि, (३) परापर सामान्य—दोनों के बीच में रहनेवाली जाति जैसे द्रव्यत्व सामान्य जो 'सत्ता' की अपेक्षा छोटा है, परंतु गोत्व तथा मनुष्यत्व आदि जातियों की अपेक्षा कहीं बड़ा है। अतः द्रव्यत्व पर भी है तथा अपर भी।

(५) विशेष—नित्य द्रव्यों में पार्थक्य के मूल कारण को 'विशेष' कहते हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियों के एक श्रेणी में बद्ध होने का कारण यदि 'सामान्य' है तो ठीक इसके विपरीत एक श्रेणी के समान गुणवाले व्यक्तियों के पारस्परिक भेद को सिद्ध करनेवाला पदार्थ 'विशेष' है। एक ही जाति के दो घड़ों में परस्पर भेद उनके अवयवों को लेकर होता है। दोनों घड़ों के टुकड़े करते जाइए। ये टुकड़े आपस में भिन्न होते जाएँगे। विश्लेषण करते करते हम परमाणुओं तक जा पहुँचते हैं। घड़े के परमाणु तो एक ही प्रकार के होते हैं। ऐसी दशा में क तथा ख घड़ों के परमाणु एक समान होने के कारण दोनों में भेद क्योंकर होता है? इसका उत्तर है—'विशेष' के कारण। परमाणुओं में विशेष नामक पदार्थ रहता है जो उन्हें समान परमाणुओं से अलग करता है। इस प्रकार विशेष की स्थिति सावयव पदार्थों में न होकर निरवयव परमाणुओं में होती है। 'विशेष' नित्य द्रव्यों के ऊपर रहता है। 'विशेष' की कल्पना मानने के कारण ही यह दर्शन 'वैशेषिक' के नाम से प्रसिद्ध है।

(६) समवाय—स्थायी या नित्य संबंध को 'समवाय' कहते हैं। अंग-अंगी में, गुण-गुणवान् में, क्रिया-क्रियावान् में, जाति-व्यक्ति में तथा

विशेष नित्य द्रव्यों में जो नित्य संबंध रहता है वही 'समवाय' कहलाता है। वस्त्र का अस्तित्व उसके धागों में है क्योंकि धागों के बिना वस्त्र रह नहीं सकता। इसी प्रकार गुलाब की लालिमा गुलाब के फूल को, लेखनक्रिया लेखक को, मनुष्यत्व-जाति मनुष्य व्यक्तियों को तथा 'विशेष' आत्मा और परमाणु आदि नित्य द्रव्यों को छोड़कर अलग एक क्षण के लिये भी टिक नहीं सकता। इस प्रकार ये पदार्थ सर्वदा संलग्न रहते हैं। ऐसे 'अयुत सिद्ध' पदार्थों में रहनेवाला संबंध 'समवाय' कहलाता है।

(७) अभाव—पूर्वोक्त छहों पदार्थ भावात्मक होते हैं। अभाव अंतिम पदार्थ है। 'यहाँ कोई सर्प नहीं है', 'यह फूल लाल नहीं है', 'शुद्धजल में गंध नहीं होती'—ये वाक्य क्रमशः सर्प, लालरंग, और गंध का उपर्युक्त स्थानों में अभाव प्रकट करते हैं। अभाव मुख्यतया दो प्रकार का होता है—(क) संसर्गाभाव तथा (ख) अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव तथा (३) अत्यंताभाव। संसर्गाभाव दो वस्तुओं में होनेवाले संसर्ग या संबंध का अभाव है अर्थात् कोई वस्तु अन्य वस्तु में विद्यमान नहीं है। किसी वस्तु की उत्पत्ति के पहले उपादान में जो उसका अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। कुंभकार द्वारा बरतन बनाने के पहले मिट्टी में बरतन का अभाव रहता है—यही है प्रागभाव का दृष्टांत। किसी वस्तु का ध्वंस हो जाने के बाद उस वस्तु का जो अभाव हो जाता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं, जैसे घड़ा फूट जाने के बाद उसके टुकड़ों में घड़े का अभाव। दो वस्तुओं में भूत, वर्तमान तथा भविष्य अर्थात् सर्वदा के लिये जो संबंध का अभाव होता है उसे अत्यंताभाव कहते हैं, जैसे वायु में रूप का अभाव। जब दो वस्तुओं में पारस्परिक भेद रहता है तब उसे 'अन्योन्याभाव' कहते हैं, जैसे घट और पट दो भिन्न भिन्न द्रव्य हैं। फलतः घट पट नहीं है और न पट ही घट है। एक का दूसरा न होने का नाम 'अन्योन्याभाव' है।

ईश्वर तथा मोक्ष के विषय में वैशेषिकों की धारणा न्यायदर्शन के समान ही है। वैशेषिकों की आचारमीमांसा नैयायिकों के सिद्धांतों से बहुत दूर नहीं जाती। वैशेषिक दर्शन के प्रथम सूत्र से ही पता चलता है कि धर्म की व्याख्या करना महर्षि कणाद का प्रधान लक्ष्य है[१] :

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः

किरणावली तथा उपस्कार के व्याख्यान के अनुसार अभ्युदय का अर्थ है तत्वज्ञान तथा निःश्रेयस (परम कल्याण) से तात्पर्य है मोक्ष। अतः धर्म वही है

[१] वैशेषिक सूत्र १।१।२ (गुजराती प्रेस, बंबई)

जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान और मोक्ष की उपलब्धि हो या तत्त्वज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो। धर्म के साधक कर्म दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य कर्मों में अहिंसा, सत्यवचन, अस्तेय आदि की गणना है। विशेष धर्मों में वर्णाश्रम के कर्म संमिलित हैं। वैशेषिकों का आग्रह निष्काम कर्मों के ऊपर है। निष्काम कर्म का आचरण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की सिद्धि परंपरया कराता है। इस प्रकार वैशेषिक आचारमीमांसा की यह क्रमिक शृंखला है : निष्काम कर्म > सत्त्वशुद्धि > तत्त्वज्ञान का उदय > मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति > मोक्ष की प्राप्ति। इस प्रकार मोक्ष के उदय के प्रति तत्त्वज्ञान साक्षात्कारण है परंतु निष्काम कर्म परंपराकारण है। जाति, विशेष तथा परमाणु के समीक्षण में वैशेषिकों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का साक्षात्कार हमें होता है। न्याय तथा वैशेषिक के द्वारा मीमांसित तथ्यों को ग्रहण कर ही हम दार्शनिक तत्त्वचिंतन में अग्रसर हो सकते हैं। अतः आरंभवादी दृष्टिकोण से इन दोनों दर्शनों की विशेष उपयोगिता है।

(३) **सांख्यदर्शन**—सांख्यदर्शन द्वैतवादी दर्शन है। इसके प्रवर्तक कपिल मुनि माने जाते हैं। इसके मान्य तथ्यों का संकेत हमें उपनिषदों में मिलता है, विशेषकर कठोपनिषत् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में। साख्यदर्शन का मूल ग्रंथ सांख्यसूत्र है जो कपिल मुनि की रचना माना जाता है, परंतु यह उतना प्राचीन नहीं माना जाता। कपिल के साक्षात् शिष्य आसुरि थे जिनके शिष्य पंचशिख ने षष्टितंत्र नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ आजकल उपलब्ध नहीं है, परंतु इसके वर्ण्य विषयों का परिचय हमें अनेक ग्रंथों में मिलता है। पंचशिख के अनंतर शिष्यपरंपरा से यह दर्शन ईश्वरकृष्ण (विक्रमी तृतीय शती) को प्राप्त हुआ जिन्होंने सांख्य के सिद्धांतों का सारांश अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ साख्यकारिका में दिया है। इस ग्रंथ में केवल ७० कारिकाएँ हैं जिनमें इस दर्शन के समस्त सिद्धात बड़े ही संक्षेप में परंतु वैशद्य के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। इसपर अनेक प्रख्यात टीकाएँ हैं जिनमें माठर की वृत्ति, गौडपादाचार्य का भाष्य, वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी तथा अज्ञातनामा आचार्य की युक्तिदीपिका अत्यंत प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध हैं। इस साख्यकारिका का व्याख्या के साथ अनुवाद चीनी भाषा में परमार्थ ने छठी शती में किया था जिसमें इस ग्रंथ का नाम 'हिरण्यसप्तति' या 'सुवर्ण सप्तति' बतलाया गया है। साख्याचार्य विंध्यवासी के विलक्षण सिद्धांत इधर उधर बिखरे मिलते हैं, परंतु समग्र ग्रंथ का परिचय नहीं चलता। विज्ञानभिक्षु सांख्यदर्शन के इतिहास में एक महनीय आचार्य माने जाते हैं जिन्होंने सांख्यसूत्रों पर सांख्यप्रवचन भाष्य, व्यासभाष्य पर योगवार्तिक तथा ब्रह्मसूत्रों पर विज्ञानामृत भाष्य लिखकर सांख्य का वेदांत के साथ मंजुल समन्वय उपस्थित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। विज्ञानभिक्षु काशी में १६वीं शती के प्रथमार्ध में विद्यमान थे और उस युग के एक प्रख्यात संन्यासी थे, न कि बौद्ध, जैसा इनके नाम से भ्रम होने की संभावना है।

पुरुष—सांख्यदर्शन के अनुसार दो मौलिक तत्त्व हैं—पुरुष और प्रकृति। पुरुष और प्रकृति अपने अपने अस्तित्व के लिये परस्पर निरपेक्ष हैं। इन दोनों में पुरुष चेतन तत्त्व है और प्रकृति जड़ तत्त्व। चैतन्य पुरुष का गुण नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप ही है। पुरुष शरीर, इंद्रिय और मन से भिन्न है। वह असंग है और नित्य है। संसार में जितने परिवर्तन और व्यापार होते रहते हैं उन सबको पुरुष अलग से देखता है और इसीलिये वह द्रष्टा तथा उदासीन कहा जाता है। वह स्वयं कोई कार्य नहीं करता। वह तटस्थ रूप से रहता हुआ केवल द्रष्टा और साक्षी बना रहता है। प्रकृति की परिधि से बाहर होने के कारण पुरुष न सुख भोगता है और न दुःख। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं उत्पन्न होता। परिवर्तन तो प्रकृति के कार्यों में होता है। सच तो यह है कि पुरुष (चितिशक्ति) को छोड़कर संसार के सब भाव प्रतिक्षण में परिणामशाली हैं। वही एक ऐसा है जो इस परिणाम के चक्कर के बाहर है, इसलिये वह नित्य कूटस्थ माना जाता है।

जिस प्रकार संसार के पदार्थों—जैसे कुर्सी, टेबुल, पलँग आदि उपादेय वस्तुओं—का भोक्ता मनुष्य होता है, उसी प्रकार प्रकृति के परिणामों के उपभोग के लिये किसी उपभोक्ता की आवश्यकता बनी रहती है। यह उपभोक्ता पुरुष ही है। पुरुष प्रति शरीर में भिन्न भिन्न होता है। वह एक नहीं, अनेक होता है। पुरुष की अनेकता को सिद्ध करनेवाली बहुत सी युक्तियाँ हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियों के जनन-मरण में, ज्ञान तथा क्रिया में बड़ा अंतर होता है। एक ही समय में नाना प्रकार के जीव पाए जाते हैं। कोई प्राणी सुख से जीवन बिताता है तो उसी समय अन्य प्राणी दुःखों के मारे कष्टमय जीवन बिताता है। किसी का देहांत हो जाता है तो उसी समय अन्य प्राणी जीवित रहते हैं। प्रवृत्ति की भिन्नता तथा स्वभाव का पार्थक्य इस बात का प्रमाण है कि पुरुष एक न होकर अनेक हैं। इस प्रकार पुरुषबहुत्व का सिद्धांत सांख्य का अपना विशिष्ट मत है।

प्रकृति—प्रकृति एक नित्य और जड़ वस्तु है। यह सर्वदा परिवर्तनशील है। इस संसार का यह मूल कारण है और इसलिये यह 'मूल प्रकृति' भी कही जाती है। सत्त्व, रज, तथा तम—ये तीन प्रकृति के उपादान या गुण कहलाते हैं। ये तीनों स्वयं द्रव्य रूप हैं इसलिये उनका 'गुण' नाम एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार कोई तिगुनी रस्सी तीन डोरियों की बनी हुई होती है, उसी तरह प्रकृति भी इन तीन मौलिक उपादानों से बनी हुई है। इसीलिये इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति में तीन गुणों की सत्ता मानने के लिये यथेष्ट युक्तियाँ हैं। संसार के पदार्थों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक वस्तु में सत्त्व, रज तथा तम गुणों का मिश्रण सर्वदा

वर्तमान रहता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह का जनक है। उदाहरणार्थ पेड़ से एक मीठा आम गिरता है जिसे पाने के लिये दो लड़के दौड़ पड़ते हैं। आम पानेवाले को तो आनंद आता है परंतु न पानेवाले को उसी आम से दुःख होता है और इसे देखनेवाले एक तीसरे लड़के को केवल उदासीनता होती है—न सुख और न दुःख। एक ही आम ने तीन विभिन्न व्यक्तियों में तीन प्रकार की प्रतिक्रिया की। इसी प्रकार संगीत सबको एक समान आनंदित नहीं करता। वह रसिक को तो आनंद देता है परंतु बीमार को कष्ट पहुँचाता है और अन्य व्यक्ति को न सुख देता है न दुःख। तात्पर्य यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं। सांख्य के अनुसार जो कुछ कार्य में विद्यमान रहता है वह कारण में भी अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है। कार्य तथा कारण का नितांत घनिष्ठ संबंध होता है। फलतः कार्य में सत्त्व, रज तथा तम का अस्तित्व इसका प्रबल प्रमाण है कि प्रकृति में भी इन गुणों का अस्तित्व अवश्यमेव रहता है।

साख्यदर्शन का कार्यकारण के संबंध में एक विशिष्ट मत है। सांख्य कार्य तथा कारण को वस्तुतः एक मानता है। कार्य कारण का विकसित रूप है। कारण व्यापार होने से पूर्व ही मिट्टी में घड़ा तथा डोरे में कपड़ा वर्तमान है। अंतर इतना ही है कि तंतुओं में वस्त्र अव्यक्त रूप से रहता है और तुरी वेमा आदि साधनों से तंतुवाय उस वस्त्र को प्रकट कर दिखलाता है। दूध में यदि दही पहले ही वर्तमान नहीं होता तो लाख उद्योग करने पर भी वह पैदा नहीं किया जा सकता। सांख्य के इस सिद्धात का नाम है—**सत्कार्यवाद** (अर्थात् कारण में कार्य की सत्ता का सिद्धात)। इस सिद्धात के अनुसार सासारिक वस्तुओं के मूल कारण—प्रकृति या प्रधान—में सुख, दुःख तथा विषाद के कारण अवश्य होंगे। सुख, दुःख तथा विषाद का कारण क्रमशः सत्त्व, रज, तथा तम है। इसलिये प्रकृति में इन तीनों गुणो की समभावेन स्थिति अनिवार्य है। सत्त्व लघु तथा प्रकाशक होता है, रज चंचल तथा उपष्टंभक होता है और तम अचल तथा आवरणकारी होता है।

सृष्टिक्रम—पुरुष के संभोग से प्रकृति सृष्टि का आरंभ करती है। प्रकृति आरंभ में साम्यावस्था में वर्तमान रहती है, परंतु पुरुष का संयोग होते ही यह साम्यावस्था भग्न हो जाती है और गुणों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। कोई गुण अधिक हो जाता है तो कोई कम। इस प्रकार जगत् की सृष्टि आरंभ होती है। प्रथमतः प्रकृति से (१) 'महत्तत्त्व' की उत्पत्ति होती है जो इस विश्व के जमने के लिये महान् अंकुर के समान है। महत् तो स्वयं जड़ ही है, परंतु पुरुष का चैतन्य पड़ने से वह चेतन प्रतीत होता है। फलतः प्रकृति सुप्त अवस्था से मानो जाग्रत अवस्था में चली आती है और साथ ही साथ चिंतन का भी आरंभ होता है। इसीलिये महत्तत्त्व को बुद्धि भी कहते हैं। बुद्धि का रूपांतर (२) अहंकार में

होता है। अहंकार से तात्पर्य है अभिमान से जिसके संयोग से आत्मा कर्ता न होते हुए भी अपने को कर्ता मानने लगता है। अहंकार में जब सत्त्व गुण की प्रधानता होती है तब उससे पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, तथा मन की सृष्टि होती है। मन उभयेंद्रिय माना जाता है, क्योंकि वह ज्ञान तथा कर्म इंद्रियाँ, दोनों का चालक होता है। अहंकार में जब रज की प्रबलता होती है तब पंचतन्मात्रों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—की सृष्टि होती है। इन्हीं तन्मात्रों से पंचमहाभूत—आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी—की सृष्टि क्रमशः होती है। इस प्रकार सांख्य में सब मिलाकर २५ तत्त्व हैं जिनका वर्गीकरण इस प्रकार है :

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रकृति, प्रधान या अव्यक्त।
प्रकृति-विकृति	७	महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्र (५)
विकृति	१६	ज्ञानेंद्रिय (५), कर्मेंद्रिय (५), मन तथा महाभूत (५)
न प्रकृति—न विकृति	१	पुरुष
	२५	

'प्रकृति' का अर्थ है वह पदार्थ जो जगत् के प्रत्येक पदार्थ का कारण तो है परंतु उसका कोई कारण नहीं है। 'प्रकृति-विकृति' का अर्थ यह है कि ये पदार्थ स्वयं उत्पन्न हुए हैं और अन्य पदार्थों के उत्पादक भी हैं। 'विकृति' का अर्थ है परिणाम अर्थात् ये १६ पदार्थ अपने अपने कारणों के केवल परिणाम हैं तथा स्वयं किसी ऐसे परिणाम के कारण नहीं हैं जिनका स्वरूप इनसे भिन्न हो। ये चौबीस प्राकृतिक हैं। परंतु पुरुष न तो किसी का कारण है और न किसी का परिणाम ही और इसीलिये वह अलग स्वतंत्र है। वह न प्रकृति है और न विकृति।

कैवल्य—पुरुष वस्तुतः असंग, निरपेक्ष तथा अमर है, परंतु वह अपने आपको प्रकृति तथा प्राकृतिक परिणामों से भिन्न नहीं मानता। शरीर, इंद्रिय तथा मन से वस्तुतः भिन्न होने पर भी वह अपने को भिन्न नहीं समझता। इसी अविवेक के कारण हमारे नाना प्रकार के दुःखों का उद्भव होता है। यदि हमारा शरीर रोग से ग्रस्त हो जाता है, तो हम अपने को रोगी समझते हैं। यदि हमारे मन में सुख या दुःख विद्यमान रहते हैं, तो हम अपने को सुखी या दुःखी मानते हैं। इस प्रकार शरीर तथा मन के धर्मों का प्रभाव हमारी आत्मा के ऊपर पड़ता है अविवेक के कारण। परंतु ज्योंही हमारी आत्मा में विवेक का उदय हो जाता है और हम अपने को शरीरादिकों से भिन्न समझने लगते हैं त्योंही हमारे दुःख का अंत हो जाता है।

तब पुरुष का संसार के किसी पदार्थ से अनुराग नहीं होता और वह केवल द्रष्टा या साक्षीमात्र रह जाता है। इसी का नाम है कैवल्य या मुक्ति और यह जीवित रहते भी संभव होती है। परंतु ध्यान देने की बात है कि विवेक मात्र से आत्मज्ञान पूर्णतया संपन्न नहीं हो जाता, परंतु उसके लिये योगशास्त्र में निर्दिष्ट आध्यात्मिक अभ्यास की भी आवश्यकता होती है। विवेक ज्ञान होने पर हम पुरुष को विशुद्ध चैतन्य तथा देश-काल, कार्य-कारण आदि से पृथक् समझने लगते हैं। प्रकृति के प्रपंचों से पृथक् होने पर पुरुषों को सब दुःखों से मोक्ष प्राप्त हो जाता है और यही जीवन्मुक्ति की दशा है।

सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी है। उपनिषत् तथा पुराणों के युग में भी सांख्य, का अस्तित्व था, एवं वह उस समय ईश्वर की सत्ता मानता था परंतु सांख्यसूत्रों के उपदेशों पर आश्रित सांख्य ईश्वर को प्रमाणतः सिद्ध नहीं मानता। जगत् की सृष्टि के लिये प्रकृति स्वयं एकमात्र कारण है। सांख्य मत में कारण तथा परिणाम वस्तुतः अभिन्न होते हैं क्योंकि कारण ही परिणाम के रूप में परिणत हो जाता है। यदि ईश्वर को कारण माना जायगा तो वह भी परिणामी तथा परिवर्तनशील होने लगेगा जो उसके स्वभाव के नितांत विरुद्ध है। फलतः ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होगी। परंतु विज्ञानभिक्षु का मत इससे भिन्न है। 'सांख्यसूत्र' के 'सांख्यप्रवचन भाष्य' में उनका स्पष्ट मत है कि ईश्वर प्रकृति का स्रष्टा नहीं है, प्रत्युत द्रष्टा मात्र है। इस प्रकार वे साख्य को अन्य सेश्वर दर्शनों की कोटि में लाने का उद्योग करते हैं, परंतु अन्य साख्याचार्यों को यह मत अभीष्ट नहीं है।

(४) **योगदर्शन**—योगदर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि हैं। उनके सूत्र चार अध्यायो में विभक्त हैं तथा अन्य दर्शनसूत्रों की अपेक्षा संख्या में नितांत स्वल्प हैं। इन सूत्रो के ऊपर व्यासभाष्य नामक एक प्रख्यात प्रौढ़ भाष्य है जिसके रचयिता व्यास प्रसिद्ध महर्षि व्यासदेव से कोई भिन्न व्यक्ति हैं। योगदर्शन की तत्त्व-मीमांसा सांख्य के समान ही है। योग भी २५ तत्त्वों को मानता है, परंतु साख्य से विपरीत यह ईश्वर को भी एक नवीन तत्त्व के रूप में पूर्णतया अंगीकार करता है। सांख्य के अनुसार विवेकज्ञान मोक्षप्राप्ति का प्रमुख साधन है, परंतु इसकी उपलब्धि योगाभ्यास के द्वारा ही हो सकती है और इसी योगाभ्यास का वर्णन योगदर्शन करता है। फलतः योग साख्य का पूरक है और इसीलिये ये दोनों एकांततंत्र के रूप में स्वीकृत किए जाते हैं।

योगदर्शन चंचल मन को वश में करने के उपायों का वैज्ञानिक वर्णन करता है। आधुनिक मनोविज्ञान के विषयों का यहाँ विशेष ऊहापोह किया गया मिलता है। **योग** का अर्थ है—चित्तवृत्तियों का निरोध, रोकना, वश में करना। **योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः**—योग का यह सुप्रसिद्ध लक्षण है।

चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ हैं :

(१) **मूढ़**—इस भूमि में चित्त तमोगुण की अधिकता के कारण विवेक से शून्य रहता है और इसलिये अपने कार्य तथा अकार्य का निर्णय नहीं कर सकता।

(२) **क्षिप्त**—इस भूमि में चित्त सांसारिक विषयों में आसक्त बना रहता है।

(३) **विक्षिप्त**—इस भूमि में चित्त सत्त्व की अधिकता के कारण सुख के साधन शब्दादि विषयों में प्रवृत्त रहता है। क्षिप्त दशा में रजोगुण की अधिकता रहती है और इसलिये चित्त कभी स्थिर नहीं हो सकता। परंतु विक्षिप्त दशा में चित्त कभी कभी स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। 'क्षिप्त' के पहले रखा गया 'वि' उपसर्ग इसी विशिष्टता को सूचित करता है। इन तीनों दशाओं में चित्त समाधि के लिये उपयुक्त नहीं होता।

(४) **एकाग्र**—अंतिम दोनों भूमियों में चित्त समाधि के लिये अनुकूल होता है। बाहरी वृत्तियों के रोक देने पर जब चित्त एक ही विषय में एकाकार वृत्ति धारण करता है तब उसे 'एकाग्र' कहते हैं। यहाँ चित्त किसी एक विशिष्ट विषय के चिंतन में केंद्रीभूत रहता है।

(५) **निरुद्ध**—यहाँ चिंतन का ही अंत हो जाता है। सब वृत्तियों तथा संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त 'निरुद्ध' दशा में उपनीत होता है। पूर्वभूमि के समान यह भूमि भी समाधि के अनुकूल होती है।

योगांग—योगाभ्यास के आठ अंग होते हैं जो योग में उपयोगी होने से **योगांग** के नाम से पुकारे जाते हैं। इनके नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), व्यभिचार तथा परिग्रह (विषयों का अर्जन तथा रक्षण) से मन को नियंत्रित करने का नाम (१) **'यम'** है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय (वेद का अध्ययन) तथा ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर में भक्तिपूर्वक कार्यों का समर्पण) इन आचारों के अभ्यास का नाम है—(२) **नियम**। स्थिर तथा सुख देनेवाले बैठने के प्रकार को अथवा आनंदप्रद शारीरिक स्थिति को (३) **'आसन'** कहते हैं। नियंत्रित रूप से श्वास के ग्रहण, धारण तथा त्याग को (४) **'प्राणायाम'** कहते हैं। बाहरी वायु के ग्रहण अर्थात् श्वास के ग्रहण को 'पूरक' कहते हैं, श्वास के कतिपय क्षणों तक धारण रहने को कुंभक कहते हैं तथा धारण किए गए श्वास को धीरे धीरे छोड़ने को रेचक कहते हैं। इन तीनों में समय का नियमन रहता है। इंद्रियों को विषयों से हटाने का नाम (५) **'प्रत्याहार'** (या 'इंद्रियसंयम') है। 'प्रत्याहार' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—प्रति = प्रतिकूल, आहार = वृत्ति। बाहरी वृत्तिवाली इंद्रियों को बाहरी विषयों से खींचकर अंतर्मुखी बनाना 'प्रत्याहार' है। शरीर के भीतर की

जैसे हृदयकमल, नासिका का अग्र भाग आदि या बाहर की किसी वस्तु पर चित्त को लगाना (६) 'धारणा' कहलाता है। किसी वस्तु का सुदृढ़ या अविराम चिंतन ध्यान कहलाता है अर्थात् देशविशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार प्रवाहित होता है और उसे दबाने के लिये कोई दूसरा ज्ञान उपस्थित नहीं होता, तब उसे (७) ध्यान कहते हैं। (८) समाधि चित्त की वह दशा है जब ध्यानशील चित्त ध्येय वस्तु के चिंतन में तल्लीन होकर आत्मविस्मृत हो जाता है। 'समाधि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना जहाँ ध्यान ध्येय वस्तु से मिलकर अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है। समाधि दो प्रकार की होती है—(१) संप्रज्ञात तथा (२) असंप्रज्ञात। जब चित्त ध्येय विषय में पूर्णतया तन्मय हो जाता है जिससे चित्त को उस विषय का पूर्ण तथा स्पष्ट ज्ञान होता है तब इसे 'संप्रज्ञात' के नाम से पुकारते हैं। इसे ही सबीज समाधि कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में चित्त को समाहित वा एकाग्र होने के लिये कोई न कोई बीज या आलंबन बना रहता है। असंप्रज्ञात इससे आगे की दशा होती है जिसमें मन की सभी क्रियाओं का लोप हो जाता है तथा उसकी सब वृत्तियाँ निरुद्ध या बंद हो जाती हैं। प्रथम प्रकार की समाधि में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है, परंतु असंप्रज्ञात समाधि में ध्येय, ध्याता तथा ध्यान के एकाकार होने से ध्येय वस्तु (ध्यान किया जानेवाला पदार्थ) का पृथक् भान नहीं होता। इसी कारण इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं क्योंकि यह बीज या आलंबन से रहित होती है। अंतिम तीन योगांगो का नाम 'संयम' है। इन आठों साधनों के अभ्यास से चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तथा आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यही योग का अंतिम लक्ष्य है।

योग में ईश्वर—योगदर्शन ईश्वर की सत्ता मानता है। योग में ईश्वर की महती आवश्यकता है। योग के अनुसार चित्त की एकाग्रता के लिये तथा आत्मज्ञान के हेतु 'ईश्वर' ही ध्यान का सर्वोत्तम विषय है। जो पुरुष क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाक के अनुरूप संस्कार का उदय) से शून्य रहता है वह 'ईश्वर' कहलाता है[1]। ऐश्वर्य तथा ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। ईश्वर की सिद्धि में योग का तर्क यह है :

(क) जहाँ तारतम्य होता है वहाँ सर्वोच्च का होना नितांत आवश्यक होता है। ज्ञान में न्यूनाधिक्य है। अनेक शास्त्रों के वेत्ता व्यक्ति की अपेक्षा एक शास्त्र के

[1] क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। योगसूत्र १।२४ तथा यहाँ का व्यासभाष्य देखिए।

अभ्यासी पुरुष का ज्ञान अवश्य ही न्यून होता है। अतः पूर्ण ज्ञान तथा सर्वज्ञता का होना अनिवार्य है। जो पूर्ण ज्ञानी या सर्वज्ञ है वही ईश्वर है।

(ख) प्रकृति तथा पुरुष का संयोग एवं वियोग सिद्ध करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता है। प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से सृष्टि एवं वियोग से प्रलय होता है। यह संयोग वियोग होता क्योंकर है? यह स्वाभाविक नहीं हो सकता। ऐसे पुरुषविशेष की सत्ता आवश्यक है जो पुरुष के अनुसार प्रकृति—पुरुष के संयोग और वियोग की स्थापना करता है। फलतः वही ईश्वर है।

(ग) ईश्वर के प्रणिधान (भक्ति या कर्मफल-त्याग) से क्लेश क्षीण हो जाते हैं तथा समाधि की सिद्धि सुगमता से हो जाती है[1]।

इस प्रकार ईश्वर का योगशास्त्र में मौलिक उपयोग है। ईश्वर की कृपा से हमें आत्मसाक्षात्कार होता है जिससे हमारे क्लेश का सर्वथा नाश हो जाता है।

(५) मीमांसादर्शन—मीमांसा तथा वेदांतदर्शनों में वेद के ही सिद्धांतों का पुंखानुपुंख विवेचन है। वेद के दो कांड हैं—(१) कर्मकांड तथा (२) ज्ञानकांड जिनमें संहिता तथा ब्राह्मणों में प्रतिपादित होने के कारण कर्मकांड का निर्देश प्रथमतः किया गया है। उपनिषदों में ज्ञानकाड का प्रतिपादन है जो कर्मकांड के अनंतर आता है। कर्मकांड का प्रतिपादक होने के कारण ही यह दर्शन कर्ममीमासा, पूर्वमीमांसा या केवल मीमांसा के नाम से प्रख्यात है तथा ज्ञानकांड की विवेचना के कारण वेदांत उत्तरमीमांसा के नाम से प्रसिद्ध है।

मीमांसादर्शन के दो प्रधान विषय हैं—(क) वैदिक कर्मकांड की विधियों में जो परस्पर विरोध दिखलाई पड़ते हैं उनके परिहार के लिये व्याख्यापद्धति का आविष्कार करना। (ख) कर्मकांड के आधारभूत सिद्धांतों को युक्ति तथा तर्क के द्वारा व्यवस्थित तथा प्रतिष्ठित करना। मीमांसादर्शन में दोनों विषयों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। कर्मकांड के कतिपय मान्य सिद्धांतों का प्रतिपादन मीमांसा दर्शन इस प्रकार करता है :—

कर्मकांड का आधार वेद है। मीमांसा के अनुसार धर्म का लक्षण यही है—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः[2]। 'चोदना' के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। 'चोदना' का अर्थ है वेद का विधिवाक्य। अतएव वेद के विधिवाक्यों के द्वारा जिस अभिलषित वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है वही 'धर्म' है। कर्ममीमांसा का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्टसाधक

[1] समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र २।४५

[2] मीमांसासूत्र १।१।२ (आनंदाश्रम संस्कृत माला, पूना)

कार्यों में लगे और अपना वास्तव कल्याण संपादन करे। यज्ञ यागादि में किसी देवताविशेष (जैसे इंद्र, वरुण, विष्णु आदि) को लक्ष्य करके आहुति दी जाती है। मीमांसा के मत में देवता संप्रदानकारक-सूचक पदमात्र हैं। इससे बढ़कर उनकी स्थिति नहीं है। देवता मंत्रात्मक होते हैं और देवताओं की सत्ता उन मंत्रों को छोड़कर अलग नहीं होती जिनके द्वारा उनके लिये होम का विधान किया जाता है।

वेद प्रतिपादित कर्म तीन प्रकार के होते हैं :

(क) काम्य—किसी कामनाविशेष के लिये करणीय कर्म जैसे, 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्ग की कामना करनेवाला व्यक्ति यज्ञ का संपादन करे। यहाँ 'यज्ञ' कर्म काम्य कहलाएगा।

(ख) निषिद्ध—अनर्थ उत्पादन होने से न करने योग्य कर्म। जैसे 'कलंजं न भक्षयेत्' (= विषदग्ध शस्त्र के द्वारा मारे गए पशु का मांस नहीं खाना चाहिए)। यहाँ कलंज का भक्षण निषिद्ध कर्म है।

(ग) नित्य—अहेतुक करणीय कर्म। जैसे संध्यावंदन नित्य कर्म है। नित्य कर्मों के संपादन से सद्यः फल भले न हों, परंतु उनके न करने से कर्ता को प्रत्यवाय होता है। इसी के समान विशेष अवसरों पर किए जानेवाले कर्म नैमित्तिक कहलाते हैं; जैसे श्राद्ध आदि।

इन कर्मों में काम्य तथा नित्य का संपादन करना हमारा परम कर्तव्य है तथा उसी प्रकार निषिद्ध का वर्जन भी। इस प्रकार वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग धर्म कहलाता है।

विचारणीय प्रश्न है कि वैदिक कर्म का अनुष्ठान किसलिये करना चाहिए। सामान्य रीति से हम कह सकते हैं कि किसी विशेष कामना की सिद्धि के लिये ही इन कर्मों का पालन किया जाता है। परंतु मीमांसा का मान्य सिद्धांत यह है कि वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान किसी फल की आशा से कभी न करना चाहिए, प्रत्युत उन्हें वेद का आदेश समझकर ही करना चाहिए। ऋषियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा दृष्ट वैदिक मंत्रों में प्रतिपादित धर्म हमारे परम कल्याण के लिये ही होता है। अतः निष्काम भावना से कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए—मीमांसा का यही उद्देश्य है। नित्य कर्मों के निष्काम आचरण से पूर्वार्जित कर्मों का नाश हो जाता है और देहांत होने पर मुक्ति मिलती है। प्राचीन मीमांसा के अनुसार स्वर्ग तथा मुक्ति में अंतर नहीं है। उसके अनुसार स्वर्ग या विशुद्ध सुख की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ या मोक्ष है। परंतु आगे चलकर मोक्ष का पार्थक्य स्वर्ग से कर दिया गया है और मोक्ष से केवल जन्मनाश तथा दुःख का अंत समझा जाने लगा है।

अपूर्व का सिद्धांत—विचारणीय प्रश्न यह है कि कर्मों के द्वारा फल का उत्पादन किस प्रकार होता है। कर्म करते ही उसके फल की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत कालांतर में होती है। तब फलकाल में कर्म का नाश हो गया रहता है। अतएव फल उत्पन्न क्योंकर होता है? मीमांसा शक्ति को एक स्वतंत्र द्रव्य के रूप में मानती है। उसका उत्तर है कि 'अपूर्व' के द्वारा ही कर्म फल का जनक होता है। प्रत्येक कर्म में अपूर्व (= पुण्य तथा अपुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। कर्म से होता है अपूर्व और अपूर्व से होता है फल। कर्म > अपूर्व > कर्मफल। अतः अपूर्व कर्म तथा फल के बीच की दशा का द्योतक है। इसीलिये शंकराचार्य ने अपूर्व को कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है। अपूर्व की यह कल्पना मीमांसकों की कर्मविषयक मौलिक कल्पना मानी जाती है। शंकराचार्य का स्पष्ट कथन है कि बिना किसी अपूर्व को पैदा किए इस समय नष्ट होनेवाला कर्म कालांतर में फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः कर्म की जो सूक्ष्म उत्तर अवस्था है या फल की पूर्व अवस्था है वही अपूर्व कहलाती है[1]।

वेद की अपौरुषेयता—धर्म के लिये वेद का प्रामाण्य है, परंतु वेद के प्रामाण्य के लिये युक्ति कौन सी है? मीमांसा के अनुसार वेद स्वतःप्रमाण है। मीमांसा के मत में वेद मनुष्यरचित कृति नहीं है, प्रत्युत वेद नित्य, स्वयंभूत तथा अपौरुषेय है। ऋषियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा उद्भावित तथ्यों या अनुभूतियों की महनीय राशि का नाम ही वेद है। वेद की प्रामाणिकता के विषय में न्याय तथा मीमांसा में गहरा मतभेद है। न्याय वेद को परतः प्रमाण मानता है, परंतु मीमांसा वेद को स्वतः प्रमाण मानती है। इसे सिद्ध करने के लिये मीमांसकों ने बड़ी प्रौढ़ युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। वेद की नित्यता का सबसे पक्का प्रमाण है **शब्द की नित्यता का सिद्धांत**। शब्द स्वयं नित्य होता है। कानों में सुनाई पड़नेवाली ध्वनि अनित्य है, वह केवल शब्द के स्वरूप की सूचिका है। उच्चारण के द्वारा शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत उसके रूप का आविर्भाव होता है। अतएव उच्चारण के ऊपर अवलंबित न होने से शब्द नित्य है। शब्द का अर्थ के साथ संबंध भी स्वाभाविक तथा नित्य है। वेद नित्य शब्दों का समूह है और इसलिये वेद भी नित्य है। वेद मनुष्य की रचना नहीं है। फलतः वह निर्दोष है। वेद ईश्वर की भी रचना नहीं है, क्योंकि मीमांसा के मत में ईश्वर की सत्ता ही असिद्ध है। फलतः वेद अपौरुषेय है, नित्य है तथा स्वतः प्रमाण है। इसलिये वेद-प्रतिपादित धर्म की प्रामाणिकता के लिये हमें अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं रहती।

[1] द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र ३।२।४० पर शांकरभाष्य।

प्रमाण मीमांसा—मीमांसा की दो प्रधान शाखाएँ हैं। एक के प्रवर्तक का नाम है—प्रभाकर (गुरु मत) तथा दूसरी धारा के प्रवर्तक की संज्ञा है—कुमारिल (भट्ट मत) प्रभाकर के मत में पाँच प्रमाण होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। इनमें प्रथम चार न्यायदर्शन के समान ही होते हैं। मीमांसकों की उपमान-कल्पना नैयायिकों से किसी अंश में भिन्न है। जब हम किसी विरोधात्मक विषय की व्याख्या ठीक नहीं कर सकते, तब हम अर्थापत्ति का सहारा लेते हैं। यदि कोई व्यक्ति दिन में भोजन न करे और साथ ही मोटा होता जाय तो हमें मानना होगा कि वह रात में भोजन अवश्य करता है। यदि कोई मनुष्य जीवित हो और घर में नहीं दिखलाई पड़ता, तो अर्थापत्ति के द्वारा हमें मानना पड़ता है कि वह कहीं अन्यत्र है। कुमारिल अनुपलब्धि नामक षष्ठ प्रमाण भी मानते हैं। अभाव का ज्ञान हमें अनुपलब्धि के द्वारा होता है। हमारी इंद्रियाँ भावात्मक पदार्थों को ही बतला सकती है, अभाव को नहीं। अभाव तो नेत्रों के द्वारा कथमपि देखा नहीं जा सकता क्योंकि वह स्वयं अभावरूप ठहरा। अतः अभाव को बतलाने के लिये अनुपलब्धि की स्वतंत्र सत्ता है। किसी घर में प्रवेश करने पर इधर उधर देखकर यदि हम कहें कि वहाँ वस्त्राभाव है, तो यह प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। प्रत्यक्षज्ञान विषय का इंद्रियों से संयोग होने पर ही होता है। यहाँ विषय ही नहीं है। फलतः प्रत्यक्षज्ञान यहाँ हो नहीं सकता। 'अनुपलब्धि' से तात्पर्य है नहीं मिलने से। यदि वस्त्र होता, तो वह प्राप्त होता। परंतु ऐसा नहीं हो रहा है। फलतः इस घर में वस्त्र का अभाव प्रमाणित होता है।

मीमांसा बाह्यसत्तावादी है। वह भौतिक जगत् की सत्यता मानती है और इसके अतिरिक्त आत्माओं के अस्तित्व को भी मानती है। किंतु वह जगत् के स्रष्टा ईश्वर को नहीं मानती। मीमांसा कर्म की महनीय शक्ति को स्वीकार करती है। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्मा के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्वों से होता है। ईश्वर की आवश्यकता है न जगत् की सृष्टि के लिये और न कर्मों के फल देने के लिये। ईश्वर न जगत् का स्रष्टा है और न कर्म के फलों का दाता। कर्मफलों का संपादन तो 'अपूर्व' के द्वारा होता है। उसके लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं। नव्यमीमांसक लोग ईश्वर की सत्ता को प्रमाणों से सिद्ध मानते हैं। परंतु कर्म की महती प्रतिष्ठा करनेवाली मीमांसा वस्तुतः निरीश्वरवादी ही है।

हिंदी में दर्शनों का प्रभाव—प्रसिद्ध षड्दर्शनों में से प्रथम पाँच दर्शनों के सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। वेदांत का परिचय आगे दिया जायगा। इन दर्शनों की विचारधारा का प्रभाव हिंदी साहित्य के ऊपर कम नहीं पड़ा है—विशेषतः सांख्य, योग तथा कर्ममीमांसा का। कर्ममीमांसा ने वेद के स्वरूप के विषय में जो विचारधारा प्रवाहित की उसका व्यापक प्रभाव भारतीय

धर्म के अनुयायियों पर पड़ा। हिंदी साहित्य के लेखक तथा कविगण भी उसी विचारपद्धति के अनुयायी तथा समर्थक हैं। वैदिक कर्मकांड में पूर्ण आस्था तथा अटूट श्रद्धा का विकास हम हिंदी के प्राचीन प्रबंधकाव्यों में पाते हैं। वैदिक कर्मकांड का यथावत् पालन धर्म का विमल आदर्श है और उस कर्मकांड का ह्रास अधर्म की वृद्धि का गूढ़ संकेत है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में स्पष्टतः दिखलाया है कि जब रावण ऋषियों के तपश्चरण में विघ्न डालने लगा तथा उसने यज्ञयागादिकों के अनुष्ठान में विषम संकट उपस्थित कर दिया, तब सर्वसहा होने पर भी पृथ्वी व्याकुल हो उठी और अपने त्राता तथा संरक्षक की खोज में शेषशायी भगवान् के पास देवताओं के झुंड के साथ प्रार्थना करने के लिये गई। वेद सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगन्नियंता भगवान् की वाणी है जिसका स्वतः प्रामाण्य है। इस तथ्य को हिंदी के कवियों ने पूर्णतया अपनाया है। वे ईश्वर के अस्तित्व के विषय में नैयायिकों की विचारधारा से पूर्णतया अवगत भले ही न हों, परंतु ईश्वर इस विश्व का स्रष्टा, नियंता, पालनकर्ता तथा संहर्ता है—इस नैयायिक तथ्य को वे भली भाँति जानते हैं और अवसर आने पर इसका रुचिर उपयोग करने से वे कभी नहीं चूकते।

हिंदी के संत कवियों के ऊपर योगदर्शन का प्रभाव बहुत ही अधिक तथा व्यापक है। संत मत में हठयोग का विशेष तथा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पातंजल योग राजयोग का प्रतिपादन करता है। अनेक योगसंबंधी उपनिषदों में हठयोग की प्रक्रिया, पद्धति तथा सिद्धांतों का स्पष्ट वर्णन हठयोग की प्राचीनता का सूचक है। कबीर का योगमार्ग राजयोग और हठयोग का मंजुल समन्वय उपस्थित करता है। बहुत संभव है कि संत कवियों के योगमार्ग में अनेक तथ्य उनके वैयक्तिक अनुभूति के ऊपर भी आश्रित हों, परंतु भारतीय दर्शन का योगप्रवाह हिंदी साहित्य के आध्यात्मिक काव्यों के ऊपर अपना व्यापक प्रभाव डालने में समर्थ हुआ है। इस तथ्य का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इन दर्शनों का व्यापक प्रभाव हिंदी साहित्य को समृद्ध बनानेवाले कवियों के ऊपर विशेष रूप से पड़ा है—यह सिद्धांत उदाहरणों से भी पुष्ट कर दिखलाया जा सकता है, परंतु स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिखलाया जा रहा है।

पंचम अध्याय

पौराणिक धर्म

१. महत्त्व

भारतीय संस्कृति के प्रचार तथा प्रसार में पुराणों का महत्त्व सर्वमान्य है। हिंदू धर्म का विस्तृत विकास, भारत तथा भारतेतर प्रदेशों में उसका व्यापक प्रसार तथा लोकप्रियता का रहस्य पुराणों के गंभीर, सर्वांगीण धार्मिक विवेचन के ऊपर आश्रित है। एक समय था जब पुराणों के गंभीर तथ्यों की अवहेलना तथा तिरस्कार आलोचकों का प्रिय विषय था, परंतु आधुनिक गवेषणा ने उनके सिद्धांतों को स्पष्ट करने का तथा उनकी महर्घता सिद्ध करने का अमूल्य कार्य किया है। प्राचीन लक्षण के अनुसार 'पंचलक्षण पुराण' के अंतर्गत सर्ग (जगत् की सृष्टि), प्रतिसर्ग (सृष्टि का विस्तार, लोप तथा पुनःसृष्टि), वंश (राजाओं की वंशावली), मन्वंतर (भिन्न भिन्न मनुओं के समय में संपन्न महनीय घटनाएँ), तथा वंशानुचरित (अत्यंत गौरवपूर्ण राजवंशों का विस्तृत वर्णन)—ये पाँच विषय वर्णित हैं[1]। परंतु यह केवल उपलक्षणमात्र हैं। पुराणों को यदि ज्ञान-विज्ञान का, धर्म तथा इतिहास का 'विश्वकोश' या 'ज्ञानकोश' नाम दिया जाय, तो बहुत ही अन्वर्थक होगा।

इतिहास की भारतीय कल्पना राजनीतिक तथा घटनावर्णन-परक पाश्चात्य धारणा से नितांत भिन्न तथा स्वतंत्र है। पश्चिमी जगत् में कुछ समय पहले तक इतिहास विशेषकर राजनीतिक तथा सामाजिक संघर्षों, घटनाओं तथा तिथिक्रम का एक समुच्चयमात्र समझा जाता था परंतु भारतवर्षीय परंपरा के अनुसार वह पुरुषार्थ-चतुष्टय के उपदेशों से संवलित पूर्ववृत्त कथाओं का वर्णन है[2] जिसमें केवल राजाओं का ही चरित्र चित्रित नहीं है, प्रत्युत विद्वत्ता के जाज्वल्यमान प्रतिनिधि

[1] सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

[2] धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्त-कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥ म० भा०

महर्षियों का चरित्र तथा भविष्य में होनेवाली अद्भुत बातें और धर्म का भी वर्णन मार्मिकता के साथ किया जाता है[1]।

इतिहास की यह धारणा 'पुराण' का मेरुदंड है। किसी भी मानव समाज का इतिहास तब तक अपूर्ण ही रहता है, जब तक उसकी कहानी सृष्टि के आरंभ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप में वर्णित न हो। पंचलक्षण पुराण का यही आदर्श है कि वह सृष्टि से आरंभ कर प्रलय तक की कथा तथा मध्यकालीन मन्वंतरों तथा महनीय राजवंशों के उत्थान-पतन की कथा को धार्मिक पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर निबद्ध करता है। आधुनिक काल में सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् एच० जी० वेल्स ने अपने 'इतिहास की रूपरेखा' (आउटलाइन आफ् हिस्ट्री) नामक अँगरेजी ग्रंथ में इसी पौराणिक प्रणाली का मानवसमाज के इतिहास प्रणयन में अनुसरण कर विशेष गौरव प्राप्त किया है।

२. भ्रांति

पुराणों की वर्णनशैली का अज्ञान भी उनके प्रति अनेक भ्रांत धारणाओं का बीज बना हुआ है। भारतीय शास्त्रों में वस्तुकथन के तीन प्रकार मिलते हैं जिन्हें आलंकारिक रूप में स्वभावकथन, रूपककथन तथा अतिशयोक्ति-कथन के नाम से पुकार सकते हैं। स्वभावकथन वैज्ञानिकों का वर्णन प्रकार है। रूपककथन वैदिक उक्तियों का मूलाधार है जहाँ सूर्य की सप्तरंगी रश्मियाँ अश्व के रूप में कल्पित की जाती हैं। अतिशयोक्ति पौराणिक शैली का विशिष्ट आभूषण है जिसमें वस्तुओं के विस्तार तथा प्रसार का कमनीय वैभव विराजता है। इंद्र वृत्र का जो युद्ध ऋग्वेद में रूपक शैली से मेघ तथा अवर्षण के परस्पर संघर्ष के प्रतीक रूप में अनेकशः वर्णित है[2] वही पुराणों में एक विशाल भूमिपाल के निजी शत्रु के घनघोर संग्राम के रूप में अतिशयोक्ति पद्धति से उपन्यस्त है[3]। घटना तथा तात्पर्य एक ही है, परंतु कथन के प्रकारों में भिन्नता है। इस शैली के वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर पुराणों की मीमांसा प्राचीन इतिहास तथा समाजशास्त्र, धर्म तथा तत्वज्ञान के महनीय सिद्धांतों की उद्भावना में निःसंदेह समर्थ होगी।

[1] आर्यादिबहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मभाक्॥
—वि० पु० की श्रीधरी में उद्धृत। (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)

[2] द्रष्टव्य—ऋ० वे०, २।१२।११-१२

[3] द्रष्टव्य—भाग० पु०, स्कंध ६, अ० १२
(गीता प्रेस, गोरखपुर)

३. पुराण तथा वेद

वैदिक तत्वों के उन्मीलन के निमित्त ही अवांतर युग में पुराणों का आविर्भाव हुआ। वैदिक भाषा समझने की और वैदिक मंत्रों के तात्पर्य को हृदयंगम करने की योग्यता दीक्षा और उपनयन से विशिष्ट संस्कारों के ऊपर आश्रित रहती है। फलतः उनसे वंचित समाज के ज्ञानवर्धन तथा धर्मप्रवणता के लिये महर्षि वेदव्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने वेदरूपिणी सरस्वती को सामान्य जनता के पास पहुँचाने के लिये पुराणों का प्रणयन तथा प्रचारण किया। पुराणों ने अपनी सरल देववाणी के बल पर भारत तथा भारतेतर द्वीप-द्वीपांतरों में और देशा-देशांतरों में सनातन वैदिक विचारधारा, कर्मधारा और भावधारा को प्रवाहित किया। पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वेद ने जिस परम तत्त्व को ऋषियों के भी इंद्रिय, मन और बुद्धि से अगम्य देश में रख दिया था, पुराणों ने उसे सर्वसाधारण की इंद्रिय, मन और बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है। वेदों के सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म ने पुराणों में सौंदर्यमूर्ति तथा पतितपावन भगवान् के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेदों ने घोषणा की है—ब्रह्म सब प्रकार के नाम, रूप तथा भावों से परे है। पुराण कहते हैं—भगवान् सर्वनामी, सर्वरूपी तथा सर्वभावमय है। वेद कहते हैं—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। पुराण कहते हैं—एकं सत् प्रेम्णा बहुधा भवति। विभिन्न रूपों और नामों में, विचित्र शक्ति, सामर्थ्य तथा सौंदर्य को प्रकटकर जगत् में रमनेवाले भगवान् की ललित लीलाओं का प्रदर्शन पुराणों का वैशिष्ट्य है। इस प्रकार पुराणों ने सर्वातीत ब्रह्म को सबके बीच में लाकर, मनुष्य के भीतर देवत्व के बोध को, मानवता के भीतर भगवत्ता की अनुभूति को, जाग्रत कर सनातन धर्म को लोकप्रिय धर्म बनाने में नितांत स्तुत्य कार्य किया है।

वेद और पुराण की इस मौलिक एकता से अपरिचित व्यक्ति ही वैदिक तथा पौराणिक जैसे विभिन्न धर्मों की चर्चा करता है और दोनों में आभासमान पार्थक्य को महत्त्व प्रदान करता है। वेद में श्रद्धालु तथा पुराण में आस्थाहीन व्यक्ति हिंदुत्व के तथ्य से नितांत अनभिज्ञ है। वेद के ही महनीय तत्त्वों के बोधगम्य भाषा में सरल रीति से अभिव्यंजक ग्रंथों का ही नाम 'पुराण' है। पुराणों में भगवान् के प्रति अखंड अनुराग का, परा अनुरक्ति का, भूयसी भक्ति का विशाल साम्राज्य है, परंतु यह घटना कर्म तथा ज्ञान की उद्गमस्थली श्रुति से पुराणों की मौलिक एकता सिद्ध करने में व्यापक नहीं बन सकती। वेद जिस प्रकार कर्मकांड तथा ज्ञानकांड का उद्बोधक ग्रंथ है, उसी प्रकार वह भक्तितत्त्व के रहस्यों का भी उद्घाटन करता है। मंत्रों की अंतरंग परीक्षा से कोई भी निष्पक्ष आलोचक इस निष्कर्ष पर पहुँचे

बिना नहीं रह सकता है कि भक्ति का सिद्धांत वैदिक है[१]। ऋग्वेद के मंत्रों में और उपनिषदों में भक्ति के सामान्य रूप का ही संकेत न होकर उसके प्रख्यात नवधा प्रकारों का संशयहीन निर्देश है[२]। ऋग्वेद का एक महनीय ऋषि दीर्घतमा औचथ्य भगवान् विष्णु की स्तुति तथा नामस्मरण का संकेत करता है[३], तो दूसरे मंत्र में वही भगवान् के श्रवण, कीर्तन और समर्पण को साधक के जीवन का लक्ष्य बतला रहा है[४]। कठोपनिषद् स्पष्ट शब्दों में प्रसाद या अनुग्रह तत्त्व का संकेत करता हुआ कह रहा है कि यह आत्मा न प्रवचन से लभ्य है, न मेधाशक्ति से और न अधिक श्रवण तथा अध्ययन से, प्रत्युत यह आत्मा उसी साधक के द्वारा लभ्य होता है जिसके प्रति वह अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है[५]। वैष्णव धर्म का मूलाधारभूत 'प्रसाद' (दया, अनुग्रह) तत्त्व[६] उपनिषदों में नितांत स्पष्ट शब्दों में अपनी अभिव्यक्ति पाता है[७]। 'प्रपत्ति' (शरणागति) ही साधक को भगवान् के पास पहुँचाने में नियमतः जागरूक होती है—यह भक्ति का तत्त्व श्वेताश्वतर उपनिषद् में विशदतया प्रतिपादित है[८]। भक्तिशास्त्र में गुरु भगवत्स्वरूप ही अंगीकृत किया जाता है और इसीलिये उसकी कृपा के बिना भक्त उसी प्रकार संसार समुद्र में पड़कर सैकड़ों क्लेशों से व्याकुल रहता है जिस प्रकार जहाज से व्यापार करनेवाला बनिया (पोत-वणिक्) मल्लाह के बिना समुद्र में नाना प्रकार के दुःख पाता है[९]। श्रीमद्भागवत की उपनिषदों की रहस्यभूता वेदस्तुति में निबद्ध यह उक्ति निःसंदेह श्रुतिमूलक है[१०]। इस प्रकार अनुरागात्मिका भक्ति तथा शरणागतिभूता प्रपत्ति, भगवन्नाम का कीर्तन, स्मरण तथा मनन, गुरु की उपादेयता—आदि भक्तिशास्त्रीय तथ्यों का मंत्रों तथा

१ द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय, पृ० ६३–७५ (ना० प्र० सभा, काशी)

२ द्रष्टव्य—'भक्ति. प्रमेया श्रुतिभ्यः' (शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १।२।६) पर नारायण तीर्थ की 'भक्तिचन्द्रिका', पृ० ७७–८२ (सरस्वती भवन ग्रंथमाला, काशी)

३ ऋ० वे० १।१५६।३

४ वही १।१५६।२

५ कठोपनिषद् १।२।२३

६ पोषणं तदनुग्रहः। —भागवत २।१०।४

७ तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः। —कठ० १।२।२०

८ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ —श्वे० उ० ६।१८

९ भा० पु० १०।८७।३३

१० गुरुतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियों के लिये द्रष्टव्य—छां० उ० ६।१४।२, कठ० १।२।८, मुण्डक १।२।१२

उपनिषदों में विशद उल्लेख भक्ति के वैदिकत्व का स्पष्ट आधार अंगीकृत किया जा सकता है। इस परंपरा के भीतर अंतर्भुक्त होने के कारण पुराणों का धार्मिक पंथा वैदिक धर्म का ही विशिष्ट परिस्थिति में एक विकसित मार्ग है।

४. देवमंडल

पुराणों में प्रतिष्ठित देवमंडली में पंचदेव की उपासना मुख्य है। इन पंचदेवों में विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति तथा सूर्य की गणना सर्वत्र मान्य है। लेखक की दृष्टि में ये पाँचों ही वैदिक मंत्रों में निर्दिष्ट तथा बहुशः प्रशंसित वैदिक देवता हैं, परंतु इस युग में इन्हें जो प्रतिष्ठा तथा सत्कार प्राप्त है वह वैदिक युग में नगण्य ही था।

पौराणिक धर्म का पीठस्थान अवतारवाद है। *श्रीमद्भगवद्गीता* के विख्यात शब्दों में श्रीकृष्ण ने अपने अवतार का कारण धर्म की संस्थापना तथा अधर्म का विनाश बतलाया है। जगत् में विद्यमान नैतिक तथा धार्मिक व्यवस्था अनैतिकता तथा अधर्म के प्रबल आक्रमणों के कारण जब छिन्न भिन्न हो जाती है तथा आलोक के स्थान पर अंधकार का, ऋत के स्थान पर अनृत का, धर्म के स्थान पर अधर्म का साम्राज्य इस ब्रह्मांड में विराजने लगता है तब करुणा-वरुणालय भगवान् की शक्ति इस भूतल पर अवतीर्ण होती है। अवरोह तथा आरोह, उतार तथा चढ़ाव— इन उभयविध क्रियाप्रतिक्रिया की संपन्नता होने पर ही अवतार की चरितार्थता होती है। भक्तों की आर्ति के विनाश के लिये भगवत्शक्ति का अवतरण इस भूतल पर अवश्यमेव होता है, परंतु साथ ही साथ मानवता का ईश्वर तत्त्व में उत्तरण (ऊर्ध्वगमन) भी होता है। भागवत की स्पष्ट[१] उक्ति है कि यदि भगवान् अपने पूर्ण वैभव तथा विलास के साथ इस भूतल पर अवतीर्ण नहीं होते, तो अल्पज्ञ जीव उनके विलक्षण सौंदर्य, माधुर्य, गांभीर्य, औदार्य, कारुण्य आदि नाना दिव्य गुणों का ज्ञान ही किस प्रकार प्राप्त करता ? इसीलिये भगवान् की अभिव्यक्ति प्राणियों— स्थावर तथा जंगम जीवों—के निःश्रेयस या लीलानंद के निमित्त होती है। कृष्ण का अवतार होने पर ही भगवान् की निखिल लोकातिशायिनी रूपमाधुरी का परिचय जीव को प्राप्त हुआ था[२]।

यह अवतारवाद पौराणिक धर्म का मान्य आधार तत्त्व है। वेद में भी विष्णु के अनेक अवतारों की सूचनाएँ स्थान स्थान पर उपलब्ध होती हैं। मत्स्या-

[१] नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
—भा० पु०, १०।२६।१४

[२] भा० पु० १०।२१।४७

वतार का स्पष्ट निर्देश शतपथ ब्राह्मण के जलप्लावन की कथा में किया गया है[१]। ब्राह्मण ग्रंथों में सृष्टि की प्रारंभिक दशा में प्रजापति द्वारा जल के ऊपर कूर्म रूप धारण करने का संकेत है[२]। विष्णु के वराह रूप धारण करने की कथा से तैत्तिरीय संहिता[३] तथा शतपथ ब्राह्मण[४] ही नहीं, प्रत्युत ऋग्वेद[५] भी परिचय रखता है। तैत्तिरीय संहिता[६] में विस्तृतरूपेण वर्णित वामन की कथा ऋग्वेद में स्पष्टतः निर्दिष्ट है[७]। फलतः अवतारवाद का तथ्य वेदमूलक ही है।

(१) विष्णु—विष्णु की महत्ता का विकास ब्राह्मणयुग से होता हुआ पुराणों में अपनी चरम सीमा पर है। पुराणों की स्पष्ट उक्ति है—

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः।
हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः॥

हरि और जगत् में रंचकमात्र भी भेद नहीं है। यह विशाल विश्व उस ऐश्वर्यशाली विष्णु की ही शक्तियों की नाना अभिव्यक्ति है। भगवान् विष्णु के अवतारों की इयत्ता नहीं। भागवत के कथनानुसार जिस प्रकार न सूखनेवाले सरोवर से हजारों कुल्याएँ (छोटी नदियाँ) निकलती हैं, उसी प्रकार उस सत्त्वनिधि हरि से असंख्यों अवतारों का उदय होता है। तथापि अधिकतम संख्या अवतारों की २४ है[८] तथा न्यूनतम संख्या १० है। आज की गणना के अनुसार मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध तथा कल्की की दशावतारों में प्रतिष्ठा[९] है, परंतु प्राचीन ग्रंथों में, जैसे महाभारत के प्राचीन भागों में, बुद्ध का नाम न होकर हंसावतार का ही निर्भ्रांत निर्देश उपलब्ध होता है। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'[१०] उक्ति के अनुसार भगवत्ता के साक्षात् प्रतिनिधि होने के हेतु

१ श० ब्रा० २।८।१।१
२ वही ७।५।१।५ जैमिनीय ब्राह्मण ३.२७२ (नागपुर)
३ तै० सं० ७।१।५।१
४ श० ब्रा० १४।१।२।११
५ ऋ० वे० ८।७७।१०
६ तै० सं० २।१।३।१
७ ऋक्० १।१५४।१
८ अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः।
यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्यु सहस्रशः॥
—भा० पु० १।३।२६
९ द्रष्टव्य—भा० पु० १।३।६–२५, २।७।१–४५
१० द्रष्टव्य—भा० पु० १।३।२८

श्रीकृष्ण की गणना पूर्वोक्त दश अवतारों में नहीं की जाती। उनके साथ 'बलराम' की गणना अंगीकृत कर दश संख्या की पूर्ति पुराणों में की गई है[1]।

(२) शिव—शिव-रुद्र के वैदिक देवता होने का यथेष्ट प्रमाण पिछले प्रकरणों में किया गया है। विष्णु के अनंतर शिव की भूयसी महत्ता पुराणों में, विशेषतः शैव पुराणों में, उपलब्ध होती है। शिवपुराण के अनुसार शिव प्रकृति तथा पुरुष दोनो से परे एक परम तत्त्व है[2]। शिव की इच्छाशक्ति कार्य में दो रूप से कार्य करती है—मूल प्रकृति तथा दैवी प्रकृति जिनमें प्रथमा गीता के शब्दों में अपराप्रकृति तथा द्वितीया परा प्रकृति के रूप में गृहीत की गई है। शिव त्रिदेवों से पृथक् तथा स्वतंत्र है[3]। जगत् के विशिष्ट कार्यों के निमित्त ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र का आविर्भाव शिव से ही होता है। महेश्वर तो अनंत कोटि ब्रह्मांड के नायक हैं। गुणत्रय से अतीत भगवान् शिव चार व्यूहों में विभक्त हैं—ब्रह्मा, काल, रुद्र और विष्णु[4]। शिव सबसे परे, परात् पर, नित्य निष्कल, परमेश्वर हैं जिनके आधार के ऊपर ही यह जगत् भासित होता है। शिवलिंग चिन्मय होता है, स्थूल नहीं। शिवलिंग शिश्न नहीं, ज्योतिर्लिंग तथा ज्ञान का प्रतीक है। वैदिक काल में रुद्रयाग में प्रज्वलित अग्निशिखा ही आगे चलकर ज्योतिर्लिंग के रूप में प्रतिष्ठित हुई। पुराणों में शिव की पंचमूर्ति तथा अष्टमूर्ति का उल्लेख बहुशः मिलता है। वायवीय संहिता (चतुर्थ अध्याय) के अनुसार (१) ईशानमूर्ति साक्षात् प्रकृतिभोक्ता क्षेत्रज्ञ पुरुष में अधिष्ठित रहती है, (२) तत्पुरुष मूर्ति त्रिगुणमयी प्रकृति में अधिष्ठित है, (३) घोर मूर्ति धर्मादि अष्टांगसंयुक्त बुद्धि में अवस्थित रहती है, (४) वामदेव मूर्ति अहंकार की तथा (५) सद्योजात मूर्ति मन की अधिष्ठात्री है। आठ मूर्तियों की बहुल प्रसिद्धि कालिदास के काव्यग्रंथों में भी मिलती है। शिव की अर्धनारीश्वर मूर्ति शिव तथा शक्ति के मंजुल सामरस्य की प्रतिपादिका है तथा नटराज मूर्ति भगवान् शंकर के तांडव नृत्य का प्रदर्शन करती हुई सृष्टि तत्त्व की उद्भाविका है। पशुपति की प्राप्ति के निमित्त 'पाशुपत योग'[5] नामक एक विशिष्ट योगविधि है जिसके तथ्यों में पातंजल योग से पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

[1] द्रष्टव्य—जयदेव : गीतगोविंद, प्रथम सर्ग।

[2] वायवीय संहिता, २८।३३ (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)

[3] सृष्टिस्थितिलयाख्येषु कर्मसु त्रिषु हेतुताम्।
प्रभुत्वेन सहैतेषां प्रसीदति महेश्वरः॥ —वा० सं०, अ०, २

[4] द्रष्टव्य—शिवपुराण में एतत् प्रकरण। (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)

[5] द्रष्टव्य—शिवपुराण की सनत्कुमार संहिता, अ० ५६–५८ (वही)

वेदों में रुद्रविषयक सूक्त प्रायः सभी संहिताओं में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के तीन सूक्तों (१।११४, २।३३, ७।४६) में रुद्र की ही प्रशस्त स्तुति मिलती है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में रुद्र का स्थान वैदिक देवमंडली में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वशाली है। माध्यंदिन संहिता के १६वें अध्याय (रुद्राध्याय) में रुद्र के लिये शिव, गिरीश, पशुपति, नीलग्रीव, शितिकंठ, भव, शर्व, महादेव आदि नामों का प्रयोग अपना वैशिष्ट्य प्रकट कर रहा है। यही रुद्राध्याय तैत्तिरीय संहिता (कांड ४, प्रपाठक ५ और ७) में प्रायः उन्हीं शब्दों में उपलब्ध होता है। अथर्ववेद (११।२) में रुद्रदेव की स्तुति के प्रसंग में महादेव (९।७।७), भव तथा पशुपति अभिधान का प्रयोग रुद्र की महत्ता का स्पष्ट द्योतक है। मार्कंडेय पुराण तथा विष्णुपुराण की उपपत्ति शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।७–१६) तथा शांखायन ब्राह्मण (६।१।१–६) में वर्णित वृत्त से नितांत अभिन्नता रखती है।

(३) गणपति—गणपति के यथार्थ रूप के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। पाश्चात्य समीक्षकों तथा तदनुयायी भारतीय पंडितों की दृष्टि में गणपति द्रविड़ जाति के कोई विशिष्ट देवता थे जिन्हें आर्यों ने उपयोगी समझकर अपनी देवमंडली के भीतर अंतर्भुक्त कर लिया। परंतु प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में यह मत नितात भ्रात तथा अप्रामाणिक है। वेदों में अनेकशः उल्लिखित 'ब्रह्मणस्पति' ही गणपति के वैदिक प्रतिनिधि हैं। ब्रह्मणस्पति के अनेक मंत्रों में 'गणपति' शब्द विशेषण रूप से प्रयुक्त हुआ है[1] जो आगे चलकर विशेष्य के रूप में गृहीत कर लिया गया है। वेद के अनेक मंत्रों में[2] 'महाहस्ती', 'एकदंत' वक्रतुंड तथा दंती शब्दों के द्वारा निर्दिष्ट देवता गणपति से अभिन्न ही प्रतीत होते हैं।

गणपति के प्रचारक 'मौद्गल पुराण' के अनुसार 'ग' अक्षर मनोवाणीमय सकल दृश्यादृश्य विश्व का तथा 'ण' अक्षर मनोवाणीविहीन रूप का बोधक है और उसके पति होने से गणेश सर्वतोमहान् देव हैं[3]। गणपति के नाना रूपों—

[1] गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥
ऋ० वे० २।२३।१, तै० सं० २।३।१४।३

[2] आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं संगृभाय महाहस्ती दक्षिणेन।
—ऋ० ८।८१।१, साम० १६७, ७२८

एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥
—तै० आ० (आनंदाश्रम, पूना)

[3] गणपति के आध्यात्मिक रहस्य के लिये द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : धर्म और दर्शन, पृ० २३–२८ (शारदा मंदिर, काशी)

महागणपति, ऊर्ध्व गणपति, पिंगल गणपति आदि—की तांत्रिक उपासना से गाणपत्य पुराण भरा पड़ा है। प्राचीन काल में 'गाणपत्य' नामक एक स्वतंत्र धार्मिक संप्रदाय ही था जिसका कुछ आभास वर्तमानकाल में महाराष्ट्र में प्रचलित गणपति-महोत्सव में मिल सकता है।

आर्यों ने अपने नवीन उपनिवेशों में सर्वत्र गणेश के पूजन का प्रचार किया। तत्तत् देशों में गणपति का नाम तथा पूजासत्कार इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है। गणपति का तमिल में नाम है 'पिल्लैयर', भोट भाषा में 'सोग्स दाग', बरमी भाषा में 'महा पियेन्ने', मंगोलियन में 'त्वोतखारून खागान', कंबोज भाषा में 'प्राह केनीज', चीनी भाषा में 'कुआन-शी-तियेन', जापानी भाषा में 'कार्गी तेन'। बौद्ध देशों में गणपति का प्रचार बुद्ध धर्म के संग तथा प्रभाव से ही संपन्न हुआ क्योंकि महायान की तांत्रिक पूजा में 'वज्रधातु' और 'गर्भ धातु' के रूप में विनायक की पूजा का विपुल प्रचार दृष्टिगोचर होता है। इन सब के मूल गणपति की उपासना पूर्णतया वैदिक है[१]।

(४) सूर्य—सौर देवताओं में सूर्य जगत्—जंगम जीवों तथा तस्थुषः—स्थावर जीवों के आत्मा माने गए हैं। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[२]। प्रत्यक्ष देवता के रूप में सूर्य की उपासना आर्यधर्म का एक महनीय अंग है। प्रत्येक द्विज प्रातः तथा सायंकाल गायत्री मंत्र के जप द्वारा सूर्य से ही अपनी बुद्धि को शुभ अनुष्ठानों में प्रेरित करने की प्रार्थना किया करता है। पौराणिक युग में सूर्यपूजा में शाकद्वीपीय पूजापद्धति का मिश्रण पुराणों के आधार पर निर्दिष्ट किया गया है। कृष्ण के पुत्र सांब को कुष्ठ रोग से गरुड़ ने शाकद्वीपीय ब्राह्मणों को शाकद्वीप से लाकर सूर्यपूजा के द्वारा किस प्रकार मुक्ति प्रदान की। यह घटना गरुड़ पुराण में तथा अन्यत्र भी अनेकत्र उल्लिखित है।

(५) शक्ति—ऊपर वर्णित देवताओं के समान शक्ति की उपासना के बीज वैदिक मंत्रसंहिताओं में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के दशम मंडल का एक पूरा सूक्त ही शक्ति की उपासना का बोधक माना जाता है[३]। यह सूक्त 'देवीसूक्त' के नाम से तांत्रिकों में प्रख्यात है। महर्षि अंभृण की ब्रह्मवादिनी दुहिता का नाम 'वाक्' था। उसने देवी के साथ अभिन्नता प्राप्त कर ली थी और उसी के उद्गार इस सूक्त में मिलते हैं। वह कहती है—मैं संपूर्ण जगत् की अधीश्वरी हूँ। अपने

[१] विशेष द्रष्टव्य—ए० गेट्टी कृत 'गणेश' नामक अँगरेजी ग्रंथ, आक्सफोर्ड, १९३६ तथा श्री संपूर्णानंद : 'गणेश' (काशी विद्यापीठ, काशी)।

[२] ऋ० वे० १।१।५३

[३] ऋ० वे० १०।१२५ सूक्त।

उपासकों को धन की प्राप्ति करानेवाली, साक्षात्कार करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में जाननेवाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। मैं प्रपंच रूप से अनेक भावों में स्थित हूँ। संपूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहनेवाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिये करते हैं:

अहं राष्ट्री-संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्[1] ॥

यह मंत्र स्पष्टरूप से देवी की अद्वैतता सिद्ध कर रहा है। जगत् के उद्भव, पालन तथा संहार का कार्य शक्ति की ही लीला का विलास है। शक्ति का तत्त्व नितांत व्यापक है। वह पृथ्वी तथा आकाश दोनों से परे है—**परो दिवा पर एना पृथिव्या**। उपनिषदों में भी शक्ति की भावना विकसित रूप में दृष्टिगोचर होती है। केन उपनिषद् में उमा हैमवती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं और उनका प्रादुर्भाव देवताओं को यह शिक्षा देने के लिये होता है कि अपनी तुच्छ शक्ति के ऊपर उन्हें कभी गर्व तथा अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की ही शक्ति के वे प्रतीकमात्र हैं। उसी नियंता के शासन में रहकर ही वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, अन्यथा नहीं। शक्ति की उपासना के द्योतक अनेक उपनिषद् भी मिलते हैं जिनमें अनेक की प्राचीनता संदेहरहित है।

रामायण तथा महाभारत में शक्तिपूजा का अनेक अवसरों पर विस्तृत वर्णन है। पुराणों में शक्तिपूजा के प्रचारक अनेक स्वतंत्र पुराण भी हैं। मार्कंडेय पुराण में वर्णित **दुर्गासप्तशती** शक्ति की उपासना का एक महनीय ग्रंथ है जिसका प्रचार आज भी हमारे बीच उसी व्यापकता के साथ है। दुर्गासप्तशती में शक्ति के तीन रूप वर्णित हैं—(१) **महाकाली** (प्रथम अध्याय), (२) **महालक्ष्मी** (२ अध्याय से लेकर ४ अध्याय) तथा (३) **महासरस्वती** (५ अध्याय—१३ अध्याय)। इन तीनों रूपों में शक्ति का चरित्र वर्णित है। इस पुराण के अनुसार देवी ही सब प्राणियों में शक्ति, दया, शांति, क्षांति, तुष्टि, बुद्धि तथा माता आदि नाना रूपों में विराजमान हैं। शक्ति ही पृथ्वीरूप से जगत् की आधारस्थानीया है। जलरूप से स्थित होकर वह संपूर्ण विश्व को तृप्त करती है। वही बलसंपन्न वैष्णवी शक्ति है। इस विश्व की कारणभूता परा माया वही है। बंधन की तथा मोक्ष की

[1] ऋ० वे० १०।१२५।३

वह कारण है। संपूर्ण विद्याएँ उसी की स्वरूप हैं। जगत् की समस्त स्त्रियाँ उसी की मूर्तियाँ हैं। जगत् में वही एकमात्र व्यापक है तथा परा वाणी वही है[1]। स्पष्टतः यह पूर्ण अद्वैत भावना है और वह अद्वैत तत्त्व शक्ति से अभिन्न है।

४. पूजनपद्धति

(१) समवेत—उपरिवर्णित देवताओं का यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक भक्तिप्रवण हृदय से षोडश उपचारों के द्वारा पूजाविधान पौराणिक धर्म का मुख्य अंग है। सामान्यतः पुराण किसी एक ही देवता की उपासना प्राधान्य रूप से बतलाता है, परंतु वह किसी अन्य देवता के साथ संघर्ष अथवा विरोध का पक्षपाती कथमपि नहीं होता। पुराणों की धार्मिक सहिष्णुता के ऊपर ही हिंदू धर्म की धार्मिक समन्वयभावना का महान् प्रासाद प्रतिष्ठित है। वैष्णव पुराण शिव का विरोधी है तथा शैव पुराण विष्णु का, यह कथन नितात भ्रांत, निराधार और प्रमाणशून्य है। पुराणों का तात्पर्य ही समन्वयभावना में है। शिव तथा विष्णु एक ही परम तत्त्व के नाना अभिधान हैं। फलतः उन दोनों की अभिन्नता में ही पुराणों की आस्था है। भक्त की किसी एक देव में भक्तिनिष्ठा का आग्रही पुराण अन्य देव के साथ विरोध की भावना को कभी प्रश्रय दे सकता है? बृहन्नारदीय जैसा वैष्णव पुराण दोनों की अभिन्नता की घोषणा उच्च स्वर से कर रहा है :

> 'शिव एव हरिः साक्षाद् हरिरेव शिवः स्वयम्।
> द्वयोरन्तरदृग् याति नरकान् कोटिशः खलः ॥'

वर्णाश्रम धर्म पर पुराणों का आग्रह होना नैसर्गिक है, क्योंकि वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म की पूर्ण मान्यता भारतीय समाज का आधार है। भक्ति के साथ सदाचार पर सभी पुराणों का आग्रह है। धर्म का मुख्य लक्षण आचार ही है[2]। चरित्र ही संतों की कसौटी है। मनुस्मृति का यही परिनिष्ठित मत है कि मानवों के लिये पिता तथा पितामहों के द्वारा अनुष्ठित पंथा का आश्रय नितरां श्रेयस्कर होता है[3]। 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' यह उक्ति भारतीय धर्म में आचारहीनता के प्रश्रय का सर्वथा वारण करती है। अखिल-रसामृत-मूर्ति भगवान् के प्रति गाढ़ अनुराग के

[1] दुर्गासप्तशती ११।४-६

[2] आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतद् आचारलक्षणम् ॥

[3] येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गम्। (मनु०)

साथ दैनंदिन कार्यों का पूर्णतया निर्वाह तथा सदाचार का एकांतनिष्ठा से पालन भारतीय धर्म में मणिकांचन योग का एक नमूना है।

(२) मूर्तिपूजा—विविध देवताओं की मूर्तियों का पूजन पौराणिक धर्म की एक विशेषता है। सर्वसाधारण के लिये धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों को सुबोध बनाने में विग्रह तथा मूर्ति की उपयोगिता पर पुराण बहुत बल देते हैं। मंदिरों तथा मूर्तियों का निर्माण, स्थापना और पूजन पौराणिक धर्म में बहुत ही विस्तृत हुए।

(३) तीर्थयात्रा—तीर्थयात्रा पौराणिक धर्म का एक मान्य अंग है। तीर्थों की कल्पना धार्मिक होने के अतिरिक्त राष्ट्रीय ऐक्य की भी प्रतिपादिका है। भारतवर्ष के चारों कोनों में बिखरे हुए ये पवित्र तीर्थ इस तथ्य के प्रबल साक्षी हैं कि भारत की राष्ट्रीय अखंडता में पुराणों का अटूट विश्वास है। भागवत, विष्णु पुराण आदि अनेक पुराणों में भारतभूमि की भूयसी प्रशंसा भारतीयों के हृदय को उल्लसित करनेवाली राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। कर्मभूमि भारत में जन्म लेने के लिये स्वर्ग में अनुपम सौख्य भोगनेवाले देवता भी लालायित रहते हैं[1], मानवों की तो कथा ही न्यारी है। नाना अवतारों की उदयस्थली तथा लीलाभूमि होने के कारण ही तीर्थों का 'तीर्थत्व' है। नदियों की धार्मिक महत्ता भी इसी प्रसंग में अनुसंधेय है। ऋग्वेद के नदी सूक्त (१०।७५) में नदियों में अग्रगण्य सिंधु की स्तुति के समान ही पुराणों में गंगा, यमुना, कावेरी, गोदावरी, महानदी, नर्मदा आदि नदियों के विषय में केवल स्तुतिपरक उल्लास ही नहीं है, प्रत्युत इनका भौगोलिक वर्णन इतने विस्तार के साथ दिया गया है कि आज के सुलभ यातायात के युग में भी यह कम आश्चर्यकारी नहीं है। तीर्थों की महिमा का सूत्रपात तो महाभारत में ही दृष्टिगोचर होता है परंतु पुराणों का यह प्रधान विषय है। स्कंदपुराण के नाना खंडों में भारत के पवित्र भूमिखंडों या नगरों का भौगोलिक विवरण आज भी अपनी उपयोगिता से वंचित नहीं है। इस पुराण का 'काशी खंड' आधुनिक गवेषणा तथा अनुसंधान के लिये भी प्रचुर सामग्री से मंडित होने के कारण विशेष महत्त्वशाली, उपयोगी तथा उपादेय है। पुराणों में भारत के उत्तराखंड से लेकर सुदूर दक्षिण तक, तथा आसाम से लेकर बिलोचिस्तान तक भिन्न भिन्न तीर्थों की पुण्यमयी यात्रा का तत्तत् उपास्य देवता की पूजा के साथ वर्णन भारतीय धर्म की व्यापकता, सार्वभौमता तथा विशालता का एक ज्वलंत प्रतीक है।

[1] भाग० पु०, पंचम स्कंध।

(४) व्रत—व्रत तथा उपवास का अटूट संबंध है। कर्मसामान्य के अर्थ में 'व्रत' शब्द का प्रयोग बहुत ही प्राचीन है। पौराणिक अर्थ में भी व्रत का प्रयोग 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' जैसे वैदिक मंत्रों में उपलब्ध होता है। व्रत का प्रधान उद्देश्य आत्मशुद्धि तथा परमात्मचिंतन है। वेदोदित स्वकीय कर्म के अनुसार ही व्रतों[1] की चर्या पुराणों में सर्वत्र मान्य है। त्रिविध व्रतों में नित्यव्रत हमारे लिये नितांत आवश्यक होता है; जैसे एकादशी का विष्णुव्रत तथा शिवरात्रि का शिवव्रत। नैमित्तिक व्रत किसी निमित्त (कारण या अवसर) को लेकर प्रवृत्त होता है जैसे चांद्रायण व्रत। कामनाविशेष की सिद्धि के लिये प्रयुक्त काम्य व्रतों की महती संख्या है। व्रतों का संबंध ऋतुपरिवर्तन से भी विशेष रूप से होता है, यथा वसंत-पंचमी और होली। रामनवमी, जन्माष्टमी, परशुराम जयंती आदि व्रत भगवान् की किसी महनीय विभूति अथवा अवतार से संबंध रखने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व से विशेषतः मंडित हैं। मासों के साथ भी विशिष्ट देवों की पूजाअर्चा का अपूर्व संबंध पुराणों में प्रतिपादित है। वैशाख, कार्तिक तथा आग्रहायण विष्णु की अर्चा के लिये उपयुक्त माने जाते हैं। श्रावण का सोमवार भगवान् शंकर का मान्य व्रत है। व्रत मानव की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में एक उपादेय संबल है जो दीक्षा तथा श्रद्धा के साथ उसे 'सत्य' की उपलब्धि करा देता है :

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽप्नोति दक्षिणाम्।
श्रद्धां दक्षिणयाऽप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

व्रत के दिन किया गया उपवास शारीरिक शुद्धि का ही कारण न होकर मानसिक शुद्धि का भी प्रधान हेतु होता है। इष्ट देवता का चिंतन करते हुए उसमें तन्मयी भाव होना 'उपवास' (उप समीपे वासः) का वास्तविक तात्पर्य है[2]।

पुराण सगुण उपासना का प्रतिपादक है। फलतः भावमयी मूर्तियों के तथा विशाल कलात्मक मंदिरों के निर्माण की ओर भी उसका ध्यान आकृष्ट हुआ है। मध्ययुगीय मंदिरकला के अनुशीलन की प्रचुर सामग्री पुराणों में बिखरी पड़ी है। नाना प्रकार के समाजोपयोगी पुण्य कर्म—कुआँ या तालाब खोदवाना, धर्मशाला बनवाना, भगवान् के मंदिर का निर्माण, पूजा का विधिविधान आदि नाना कार्यों—

१ वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ म० स्मृ०।

२ व्रतों के लिये विशेष द्रष्टव्य—गौरीशंकर उपाध्याय : 'व्रतचंद्रिका'।
(१९५२, शारदामंदिर, काशी)

का (जिसके लिये 'पूर्त' शब्द का व्यवहार किया जाता है) विधान भी इस धर्म के अंतर्गत माना जाता है।

तथ्य यह है कि आजकल के हिंदू समाज के संचालन तथा नियमन, पूजा तथा उपासना, आचरण तथा व्यवहार का विधान पुराणों के अनुसार ही होता है। पुराणों से छनकर आया हुआ वैदिक धर्म ही वर्तमान काल का हिंदू धर्म है।

६. हिंदी साहित्य में पौराणिक विषय

हिंदी साहित्य के मध्ययुग से ही आस्तिक जनता की धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त पुराण से संबद्ध विषयों का वर्णन बहुशः उपलब्ध होता है। व्रत तथा तीर्थ के विषय को लेकर हिंदी कवियों ने नितांत सरल भाषा में, दोहा चौपाई की शैली में, अनेक ग्रंथों की रचना की है। इन ग्रंथों का मूल्य विशेषतः साहित्यिक न होकर धार्मिक है। इनमें कोमल कला की उपासना का भाव नहीं मिलेगा, परंतु सामान्य जनता के हृदय तक पहुँचनेवाले सरल भावों की अभिव्यक्ति अवश्यमेव विद्यमान है। अधिकांश ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित रूप में ही मिलते हैं जिनमें कतिपय मान्य ग्रंथों का ही परिचय यहाँ दिया जाता है :

व्रतों में एकादशी की महिमा सर्वातिशायिनी है। वैष्णव व्रतों में एकादशी का गौरव अतुलनीय है जिसका परिचय इस विषय पर निबद्ध नाना काव्यग्रंथों की प्राप्ति से मिलता है। रसिकदास[1] का एकादशी माहात्म्य ऐसे ग्रंथों में प्राचीनतम प्रतीत होता है, क्योंकि इसके हस्तलेख का काल १७७६ वि० (१७२२ ई०) है। 'एकादशी माहात्म्य' के अन्य रचयिताओं में कर्तानंद (रचनाकाल सं० १८३२), कृष्णदास (लि० का० सं० १८५०), प्रवीनराय (र० का० सं० १८८१), मननदास (लि० का० सं० १८८५) हैं। इन ग्रंथों में दोहा तथा चौपाई छंदों में लेखकों ने प्रायः चौबीसों एकादशी की कथा, फल तथा माहात्म्य का विशद विवरण प्रस्तुत किया है। रंगनाथ के 'व्रतमुष्टि' (लि० का० सं० १६०१) में तथा महेशदत्त त्रिपाठी के 'व्रतार्क भाषा' में अन्य व्रतों का भी उपादेय वर्णन क्रमशः पद्य तथा गद्य में किया गया है।

मासमाहात्म्य के प्रसंग में 'कार्तिक माहात्म्य' तथा 'वैशाख माहात्म्य' के विषय में अनेक काव्यों की दोहा चौपाइयों में उपलब्धि होती है। भगवानदास निरंजनी का तथा रामकृष्ण का 'कार्तिक माहात्म्य' प्रायः समकालीन हैं, क्योंकि इन्होंने १७४२ वि० (१६८५ ई०) में एक ही समय इसकी रचना की है। वसंतराम

[1] इन ग्रंथकारों के विशेष ग्रंथविवरण के लिये द्रष्टव्य—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के खोज विवरण (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)

का कार्तिक माहात्म्य अपेक्षाकृत नवीन है (रचनाकाल सं० १६२५ वि०=१८६८ ई०)। यह एक विस्तृत ग्रंथ है जिसका विस्तार बाईस सौ श्लोकों तक है। रामदास का 'तीर्थमाहात्म्य' (रचनाकाल १८३६ ई०) भी अपने विषय का उपादेय ग्रंथ है। आजकल प्रायः मूल संस्कृत ग्रंथों का हिंदी में गद्यात्मक अनुवाद ही बहुलता से उपलब्ध होता है, परंतु भारतेंदु के काल तक ऐसे विषयों को पद्य में बाँधने की प्रथा थी। भारतेंदु ने गद्यपद्य दोनों में अनेक मासों का–विशेषतः कार्तिक, अगहन, वैशाख का—वर्णन प्रस्तुत कर लोकरुचि का अनुवर्तन किया है। भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'कार्तिक स्नान' (रचनाकाल सं० १८३६=१८८२ ई०) बड़ा ही रुचिर तथा प्रतिभासंपन्न लघुकाव्य है जिसमें कार्तिक मास के व्रतों तथा उत्सवों का बड़ा ही सरल वर्णन मिलता है। दीवाली की शोभा का यह वर्णन देखिए—

आजु तरनि-तनया निकट परम परमा प्रगट,
ब्रज बधुन मिलि रची दीपमाला।
जोति जाल जगमगत दृष्टि थिर नहिं लगत,
छूट छबि को परत अति बिसाला।
खड़ी नवल बनिता बनी चारि दिसि,
छबि-सनी हँसहिं गावहिं विविध ख्याला।
निरखि सखी 'हरीचंद' अति चकित सी ह्वै,
कहत 'जयति राधे', 'जयति नंदलाला'॥

हरिश्चंद्र का दूसरा ग्रंथ 'वैशाख माहात्म्य' संवत् १६२६ (१८७२ ई०) की रचना है जिसमें वैशाख मास के महत्त्वपूर्ण उत्सवों तथा व्रतों का विवरण दोहों में दिया गया है।[1]

आधुनिक युग में महत्त्वपूर्ण पुराणों के अनुवाद हिंदी गद्य में अनेक स्थानों से प्रकाशित हुए हैं। इन पुराणों में गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण के अनुवाद अत्यंत प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हैं।

[1] भारतेंदु के ये दोनों ग्रंथ प्रकाशित हैं। द्रष्टव्य—भारतेंदु ग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ ७७-६७, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० १६६१।

षष्ठ अध्याय

तांत्रिक धर्म

१. भारतीय धर्म में स्थान

भारतीय संस्कृति निगमागममूलक है। निगम (नैसर्गिक अथवा प्रातिभ सहज साक्षात् ज्ञान) तथा आगम (तर्क पर आधारित अथवा नियोजित ज्ञान) उसकी स्थिति के लिये दो आधारस्तंभ हैं जिनमें 'निगम' वेद का सूचक है तथा 'आगम' तंत्र का द्योतक है। तंत्रों की साधनापद्धति नितांत रहस्यमयी तथा गूढ़ है। इसीलिये उनके प्रति जनसामान्य की उपेक्षा बनी हुई है। परंतु वस्तुतः ऐसी धारणा अज्ञानमूलक होने से नितांत भ्रांत तथा निराधार है। तंत्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त तथा प्रांजल हैं जितने षड्दर्शनों के तथा उनकी साधनापद्धति मूलतः उतनी ही पवित्र और उपादेय है जितनी वेदों की। 'तंत्र' शब्द का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धांत तथा अनुष्ठान है[1]। उनके 'आगम' कहलाने का भी यही कारण है कि उनके अनुशीलन से अभ्युदय (लौकिक कल्याण) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) के उपाय बुद्धि में आरूढ़ होते हैं[2]। परंतु संकीर्ण रूप में 'तंत्र' का एक विशिष्ट अर्थ है। वाराही तंत्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण) 'तंत्र' के प्रधान विषय हैं।

तंत्रों के भी दो प्रकार हैं—वेदानुकूल तथा वेदबाह्य; वेदबाह्य तंत्रों के ऊपर बौद्ध प्रभाव तिब्बत तथा भूटान की ओर से माना जाता है जिसका विशेष उग्र रूप वामाचार पूजा में दिखलाई पड़ता है। अधिकांश तंत्र वेदसंमत हैं तथा उनकी प्रामाणिकता—साधना तथा साध्य की दृष्टि से—अक्षुण्ण है। तंत्र की प्रामाणिकता के विषय में दो मत हैं—भास्कर राय और राघव की संमति में श्रुत्यनुगत होने से तंत्रों का परतःप्रामाण्य है, परंतु श्रीकंठाचार्य के मत में श्रुति के समान ही इनका

[1] तनोति विपुलानर्थान् तत्त्व-मन्त्र-समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्माद् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

[2] आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदय निश्श्रेयसोपायाः स आगमः। —वाचस्पति : तत्त्ववैशारदी (बंबई संस्कृत सीरीज, पूना)

स्वतःप्रामाण्य है। कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति (२।१) की व्याख्या में हारीत ऋषि का एक वाक्य उद्धृत किया है (श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तांत्रिकी च), जो तंत्र को वेद के समकक्ष ही स्वतःप्रमाण बतलाता है। श्रीकंठाचार्य ने भी तंत्र का वेदतुल्य अक्षुण्ण प्रामाण्य माना है[१]। इस प्रकार तंत्रों का विशेष प्रामाण्य भारतीय धर्म के सिद्धांतों के विकास में माना जाता है।

२. जीवनदर्शन

जीवन के प्रति तंत्र की एक विशिष्ट दृष्टि है। तंत्र मानव की संपूर्णता तथा समग्रता का पक्षपाती है। संसार के प्रपंचों में पड़नेवाला मानव अपनी इनी गिनी शक्तियों के विकास में ही कृतकार्य होता है। उसका चेतन मन कतिपय विचारों तथा आचारों को सुलझाने में ही व्यस्त रहता है। उसके अचेतन अथवा उपचेतन मन में अगाध, अपरिसीमित तथा अनुद्बुद्ध विचारधारा पड़ी हुई चेतन मन के स्तर पर आने के लिये अपने अवसर की प्रतीक्षा किया करती है। उन सबको उद्बुद्ध कर चेतन के स्तर पर लाने से ही मानव की समग्रता सिद्ध हो सकती है। मनुष्य स्वभावतः युगलरूप है। न पुरुष नारी (या शक्ति या मुद्रा) के बिना पूर्णता पा सकता है और न नारी पुरुष के बिना। इन दोनों का सामंजस्य आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के लिये तंत्रों को अभीष्ट है। तांत्रिक भाषा में इसका नाम है—युगनद्ध (अर्थात् संयोजन, ऐक्य)। तांत्रिक पूजा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आश्रित है और इसीलिये इस युग में वह बहुत ही समर्थ, उपादेय और उपयोगी मानी जाती है।

३. तंत्रभेद

भारतवर्ष के तीनों धर्मों में तांत्रिक आचार तथा पूजन का प्रचलन है। जैनियों में तंत्रों का प्रचार अपेक्षाकृत स्वल्प है, परंतु उसकी सत्ता अवश्य है। बौद्ध तंत्र का—वज्रयान का—संक्षिप्त परिचय भी उसकी व्यापकता का सूचक है। ब्राह्मण तंत्र उपास्य देवता के भेद से तीन प्रकार के हैं :

(१) वैष्णव आगम—पांचरात्र, वैखानस या भागवत
(२) शैव आगम—पाशुपत, सिद्धांती भेद से नाना प्रकार
(३) शाक्त आगम—त्रिपुरा तथा कौल।

दार्शनिक सिद्धांतों में भेद होने से भी आगमों में द्वैत प्रधान, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत भेद किए जा सकते हैं। रामानुज पांचरात्र तंत्र को विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक

[१] वेदांतसूत्र—श्रीकंठभाष्य, २।२।३८ (बंगलोर से प्रकाशित)

मानते हैं। शैव आगमों में तीनों मतों की उपलब्धि होती है। पाशुपत तथा सिद्धांती स्पष्टतः द्वैतवादी है, वीर शैव द्वैताद्वैती है तथा प्रत्यभिज्ञा पूर्णतः अद्वैतवादी है। शाक्त आगम में केवल अद्वैत मत की ही विस्तृत व्याख्या है। द्वैत को तो कहीं भी अवकाश नहीं है। इन तंत्रों का इसी क्रम से संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है :

पांचरात्र आगम में विष्णु की भक्ति का प्रधानतया वर्णन है। अतः आरंभ में इस विषय के ऐतिहासिक पक्ष का सामान्य वर्णन पूर्वपीठिका के रूप में किया जा रहा है :

(१) पांचरात्र आगम

(अ) विष्णुभक्ति की प्राचीनता—व्याकरण शास्त्र के प्राचीन ग्रंथ—महाभाष्य एवं अष्टाध्यायी तथा प्राचीन शिलालेखों के अनुशीलन से विष्णुभक्ति की प्राचीनता के निःसंदिग्ध प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पतंजलि (वि० पू० द्वितीय शतक) ने अपने महाभाष्य में विष्णु के नाना अवतारों के आधार पर रचित 'कंसवध' तथा 'बलिबंधन' नामक नाटकों का उल्लेख ही नहीं किया है, प्रत्युत 'भागवत' के सदृश एक 'शैव भागवत' नामक शैव संप्रदाय का भी उल्लेख किया है[१]। घोसूँडी (चित्तौड़गढ़) के समीपस्थ 'नगरी' के पास के शिलालेख (ई० पू० प्रथम शती) में कंकवंशी राजा सर्वतात के द्वारा निर्मित भगवान् संकर्षण तथा वासुदेव के उपासनामंदिर के लिये 'पूजा-शिला-प्राकार' का स्पष्ट उल्लेख है। महाक्षत्रप शोडाश (ई० पू० ८०—ई० पू० ५७) के समकालीन मथुरा शिलालेख का कहना है कि वसु नामक व्यक्ति ने महास्थान (जन्मस्थान) में भगवान् वासुदेव के एक चतुःशाला मंदिर, तोरण तथा वेदिका की स्थापना की थी। बेसनगर के शिलालेख (२०० ई० पू०) में यवन 'हेलियोडोरा' के द्वारा देवाधिदेव वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरुड़स्तंभ के निर्माण का निर्देश इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि उस युग में भागवत धर्म की महती प्रतिष्ठा थी जिसमें विदेशी धर्मावलंबियों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का अधिकार प्राप्त था। पाणिनि (वि० पू० छठी शती) का निर्देश प्राचीनतम है। पाणिनि ने 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (४।३।९८) सूत्र से वासुदेव की भक्ति करनेवाले व्यक्ति के अर्थ में वुन् प्रत्यय का विधान किया है। इस सूत्र के आधार पर वासुदेव की भक्ति करनेवाला पुरुष (वासुदेवः भक्तिरस्य) 'वासुदेवक' कहलाता है। इस सूत्र के महाभाष्य से नितांत स्फुट है[२] कि यहाँ

[१] अयः शूल दंडाजिनाभ्यां ठक्ठञौ (पा० ५।२।७६) पर महाभाष्य (निर्णयसागर, बंबई)

[२] इस विष्णु गायत्री में विष्णु की एकता नारायण तथा वासुदेव के साथ संपन्न की गई है।

पाणिनि का 'वासुदेव' शब्द से लक्ष्य यादववंशी किसी क्षत्रिय से न होकर भगवान् से ही है। फलतः पाणिनि के समय में 'वासुदेव' भगवान् विष्णु का ही अपर पर्याय माना जाता था तथा उसकी भक्ति का प्रचार जनता में था। इन अकाट्य प्रमाणों से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विष्णु की भक्ति का उद्‌गम भारतवर्ष में पाणिनि (वि० पू० ८वीं शती) से भी प्राचीन है। अतः क्राइस्ट की कतिपय जीवनघटनाओं का कृष्णचरित्र में आभास पाकर तथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के सिद्धांतों पर बाइबिल की समानता उपलब्ध कर कृष्णभक्ति का उद्‌गम ईसा के जन्म की अवांतरवर्तिनी घटना मानना नितात युक्तिविहीन, प्रमाणरहित तथा इतिहास-विरुद्ध सिद्धात है। भागवत संप्रदाय के उपास्य देव 'वासुदेव' का नाम पाणिनि से भी पहिले तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपाठक १०) में **विष्णु गायत्री** के प्रसंग में आया है :

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि
तंन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥

वैष्णव आगम का प्रचलित रूप आज 'पाचरात्र' में उपलब्ध होता है, परंतु उसका प्राचीन रूप 'वैखानस' के नाम से कभी विख्यात था। वैखानस पाचरात्र की अपेक्षा निःसंदेह प्राचीनतर है, परंतु श्री रामानुजाचार्य के प्रबल उद्योग तथा प्रकृष्ट प्रयास के कारण यद्यपि पाचरात्र का उत्कर्ष दक्षिण भारत में स्वीकृत कर लिया गया, तथापि आज भी वैखानस की पूजापद्धति का प्रचार 'तिरुपति' आदि कतिपय मान्य मंदिरों में विद्यमान है। वैखानस आगम का विशाल साहित्य आज लुप्तप्राय है, केवल मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम'[1] आज इस प्राचीन तंत्र का विशिष्ट प्रतिनिधि ग्रंथ है। वैखानसों का संबंध कृष्ण यजुर्वेद की **'औखेय शाखा'** के साथ है और इसीलिये अप्पय दीक्षित इसे विशुद्ध वैदिक तथा इसके सिद्धांतों को सर्वथा वेदानुकूल मानते हैं। परंतु पांचरात्रों के वैदिकत्व के विषय में प्राचीन आचार्यों में ऐकमत्य नहीं है। 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपति मतं वैष्णवमिति'[2] के अनुसार वैष्णव मतत्रयी से भिन्न तथा पृथक् सिद्ध होता है, परंतु श्रीवैष्णव आचार्यों की संमति में पाचरात्र मत में वेद से किंचिन्मात्र भी विरोध नहीं है[3]।

(आ) अर्थ—'पांचरात्र' शब्द की व्याख्या के विषय में आचार्यों में नाना मत मिलते हैं। नारद की संमति में परम तत्त्व, मुक्ति, युक्ति, योग तथा

[1] अनंतशयन ग्रंथमाला (ग्रं० सं० १२१) में प्रकाशित।
[2] महिम्नस्तोत्र, श्लोक ५।
[3] द्रष्टव्य—यामुनाचार्य : 'आगम प्रामाण्य' (वृंदावन); वेदांत देशिक : 'पांचरात्ररक्षा'; भट्टारक वेदोत्तम : 'तंत्रशुद्ध' नामक ग्रंथ (अनंतशयन ग्रंथमाला में प्रकाशित)

विषय (संसार)—इन पाँच पदार्थों के ज्ञान का प्रतिपादक होने के कारण यह नामकरण है :

रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविधं स्मृतम्[१] ।

महाभारत के अनुसार चारों वेदों तथा सांख्ययोग का समावेश होने के कारण[२] और 'विष्णु संहिता' के अनुसार पंच महाभूत अथवा पंच विषयों का प्रतिपादक होने के कारण अथवा उसके सामने पाँच अन्य शास्त्रों के रात्रि के समान मलिन पड़ जाने के कारण[3] अथवा शांडिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भारद्वाज नामक पाँच ऋषियों द्वारा उपदिष्ट तथा प्रचारित होने के कारण[४] इस आगम का नाम 'पांचरात्र' माना जाता है। नामनिरुक्ति की इस विभिन्नता से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'पांचरात्र' शब्द की उत्पत्ति किसी सुदूर प्राचीनकाल में हुई थी जिसकी परंपरा किसी कारण से अवांतर काल में धूमिल हो गई।

(इ) वेदमूलकता—'पांचरात्र' का संबंध शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में वर्णित 'पाञ्चरात्र सत्र' के साथ भी स्थापित किया गया है। नारायण ने समग्र प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिये इस तंत्र का विधान किया था। पांचरात्र आचार वैदिक आचार के ऊपर आश्रित है। इसीलिये महाभारत का कहना है कि चित्रशिखंडी नामक सप्तर्षियों ने वेदों का निष्कर्ष निकालकर इस नवीन शास्त्र का प्रणयन किया। राजा उपरिचर वसु ने बृहस्पति से पांचरात्र आगम का अध्ययन कर स्वयं वैदिक यज्ञ किया था जिसमें पशु के स्थान पर यव-तिल की बलि दी गई थी[५]। अतः यज्ञीय हिंसा के विषय में पांचरात्र सांख्ययोग का ही समकक्ष है, क्योंकि इन दोनों मतों में यज्ञ में पशुहिंसा अमान्य थी। पांचरात्र में वैदिक याग का आचरण तथा विधान सर्वथा मान्य था, इसकी सूचना हमें एक बात से और मिलती है। श्वेतद्वीप में नारद मुनि को इस तंत्र की शिक्षा देनेवाले भगवान् नारायण के हाथों में वेदि, कमंडलु, शुभ्र मणि, कुश, अजिन (मृग चर्म), दंडकाष्ठ तथा ज्वलित हुताशन के होने का उल्लेख मिलता है[६] जिससे पांचरात्रियों की वैदिक यज्ञयागों में पूर्ण आस्था प्रतीत होती है।

[१] नारद पांचरात्र १।४४।५२। (कलकत्ता)
[२] शांतिपर्व ३३६।११–१२।
[3] पाद्मतंत्र, श्लोक १।
[४] ईश्वरसंहिता, अध्याय २१।
[५] म० भा०, शां० प०, अध्याय ३३५।
[६] वही।

(ई) एकायन शाखा—पांचरात्र 'एकायन विद्या' का प्रतिपादक तंत्र माना जाता है। 'एकायन' का अर्थ है—(मोक्ष प्राप्ति का) एक अयन, केवल मार्ग, सर्वश्रेष्ठ साधन[१]। छांदोग्य उपनिषद् में भूमाविद्या के प्रसंग में नारद द्वारा अधीत विद्याओं के प्रसंग में 'एकायन' का स्पष्ट उल्लेख अवश्य मिलता है[२], परंतु व्याख्याकारों की व्याख्यायें इस विषय में एकरूप नहीं हैं[३]। ध्यान देने की बात है कि पांचरात्र तंत्र के महनीय आचार्य नारद इस उपनिषद् में एकायन विद्या के साथ विशेष रूपेण संबद्ध दिखलाई पड़ते हैं। इस संबंध-विशेष के कारण 'एकायन विद्या' का अर्थ भक्तिमार्गीय तंत्र मानना ही उचित प्रतीत होता है। नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रंथकार की सम्मति में शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा की ही अपरसंज्ञा 'एकायन शाखा' है[४]। प्रपत्तिशास्त्र में निष्णात औपगायन तथा कौशिक ऋषियों के काण्वशाखाध्यायी होने से भी यही तथ्य पुष्ट तथा समर्पित होता है[५]। उत्पलाचार्य (दशम शतक) ने 'पांचरात्र श्रुति' तथा 'पांचरात्र उपनिषद्' से जो अनेक उद्धरण अपनी 'स्पन्द-प्रदीपिका' में दिये हैं[६], उनका भी संबंध 'एकायन शाखा' से संभवतः प्रतीत होता है। उत्पल के इन निःसंदिग्ध निर्देशों से दशम शती तक इन ग्रंथों के अस्तित्व का अनुमान हम भली भाँति कर सकते हैं। पांचरात्रों का प्राचीनतम सिद्धांत-वर्णन महाभारत के 'नारायणीय उपाख्यान' (शांतिपर्व, अध्याय ३३४–३५१) में उपलब्ध होता है, परंतु गुप्तकाल में भागवत धर्म के उदयकाल में पाचरात्र विषयक संहिताओं का निर्माण प्रचुरता के साथ हुआ। इस पाचरात्र साहित्य की लोकप्रियता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि इसमें लगभग दो सौ संहिताओं का नामनिर्देश आज भी पाया जाता है, यद्यपि अहिर्बुध्न्य संहिता, ईश्वर संहिता, जयाख्य संहिता आदि लगभग एक दर्जन से अधिक संहिताओं को प्रकाशित होने का अभी तक सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है।

(उ) साध्य तत्त्व—ब्रह्म—पाचरात्र में ब्रह्म के उभय भाव—सगुण तथा निर्गुण—समभावेन स्वीकृत किए गए हैं। परब्रह्म अद्वितीय, दुःखरहित, निरवेद्य तथा

[१] मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

[२] छान्दोग्य उपनिषद् (सप्तम प्रपाठक, प्रथमखंड, द्वितीय अंश)

[३] शंकराचार्य के मत में 'एकायन' = नीतिशास्त्र, रंगरामानुज की संमति में एकायन = एकायन शाखा = पांचरात्र तन्त्र। (द्रष्टव्य तत्तद् भाष्य)।

[४] 'काण्वशाखा महिमसंग्रह' नामक हस्तलिखित ग्रंथ में। द्रष्टव्य—मद्रास गवर्नमेंट ओरियंटल लाइब्रेरी कैटेलाग, पृ० ३२६६।

[५] जयाख्य संहिता १।१०६।

[६] स्पन्द प्रदीपिका, पृ० २ तथा पृ० ४० (विजयनगरम् संस्कृत सीरीज, काशी)

निर्विकार है। बिना तरंगों के अक्षुब्ध प्रशांत महार्णव के समान ब्रह्म प्रशांत तथा महाविशाल है। वह प्राकृत गुणों के स्पर्श से हीन है, परंतु अप्राकृत गुणों का निकेतन है। वह इदंता (स्वरूप), ईदृक्ता (समानता) तथा इयत्ता (परिमाण)—इन तीनों व्यवच्छेदक पदार्थों से वह अवच्छिन्न नहीं होता। षड्गुणों से मंडित होने के कारण वह 'भगवान्' है, समस्त भूतवासी होने के कारण 'वासुदेव' तथा समस्त आत्माओं में श्रेष्ठ होने के कारण 'परमात्मा' कहलाता है[१] एवं नर समूहों (नार) की अंतिम गति (अयन) होने से उसे ही 'नारायण' के नाम से पुकारते हैं। वह निर्गुण होकर भी सगुण है। उसके अप्राकृत गुणों की इयत्ता नहीं है, तथापि वह छः[२] गुणों—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज—का मुख्यतया जगत् के उत्पादन तथा शिक्षण व्यापार के लिये आधार माना जाता है। ये छहों गुण उसके शरीर-स्थानीय है और इसीलिये नारायण 'षाड्गुण्य विग्रह' की संज्ञा से मंडित हैं।

भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम 'लक्ष्मी' है। भगवान् तथा लक्ष्मी में—शक्तिमान् तथा शक्ति में—परस्पर अद्वैत संबंध प्रतीत होता है, परंतु दोनों में वस्तुतः अद्वैत नहीं है। प्रलय दशा में प्रपंच के विलय होने पर लक्ष्मी तथा नारायण का नितांत ऐक्य नहीं होता। उस समय में भी नारायण तथा नारायणी शक्ति 'मानो' (वस्तुतः नहीं) एकत्व धारण किए हुए रहते हैं[३]। धर्म और धर्मी, चंद्र और चंद्रिका आदि के समान शक्ति और शक्तिमान् में 'अविनाभाव' संबंध अवश्यमेव स्वीकृत किया गया है, परंतु मूल में भेद रहता ही है[४]।

(ऊ) **सृष्टि तत्त्व**—भगवान् जगत् के परम मंगल के लिये स्वतः चार रूपों की सृष्टि करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अंतर्यामी। पूर्वकथित गुणों में से दो दो गुणों का प्राधान्य होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है। संकर्षण में रहता है ज्ञान तथा बल का आधिक्य, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य का एवं अनिरुद्ध में शक्ति तथा तेज का। इन व्यूहों के कार्य पृथक् विभक्त रहते हैं। संकर्षण का कार्य है जगत् की सृष्टि और ऐकांतिक (पांचरात्र) मार्ग का उपदेश। प्रद्युम्न का कार्य है तन्मार्गसंमत क्रिया की शिक्षा तथा अनिरुद्ध का कार्य है क्रियाफल—मोक्षतत्त्व का शिक्षण। वासुदेव को संमिलित कर ये 'चतुर्व्यूह' के नाम से वैदिक संप्रदाय में प्रख्यात हैं। ये चारो भगवान् के ही रूप हैं, परंतु शंकराचार्य के

१ द्रष्टव्य—अहिर्बुध्न्य संहिता, अध्याय २, श्लोक २२–२५। (अड्यार, मद्रास)

२ इनके अर्थ तथा स्वरूप के लिये द्रष्टव्य—वही, श्लोक ५५–६२ तथा पं० बलदेव उपाध्याय : भा० द०, पृ० ५३०–३१ (शारदा मंदिर, काशी)

३ व्यापकावति संश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ। —अहि० सं० ४।७८

४ देवाच्छक्तिमतो भिन्ना मन्मथःन परमेष्ठिनः। —वही ३।२५।२७

उल्लेखानुसार वासुदेव से उत्पत्तिक्रम यह है—वासुदेव (ब्रह्म)—संकर्षण (जीव)—प्रद्युम्न (मन)—अनिरुद्ध (अहंकार)। शंकरनिर्दिष्ट[1] यह प्रख्यात पांचरात्रीय सिद्धांत अनेक संहिताओं में उपलब्ध नहीं है, परंतु महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में, जो इस विषय का प्राचीनतम प्रमाण ग्रंथ माना जाता है, अवश्यमेव विद्यमान है[2]। 'विभव' का अर्थ है अवतार। अर्चावतार से तात्पर्य भगवान् की प्रस्तरादि मूर्तियों से है तथा सब प्राणियों के हृत्पुंडरीक में निवासी नियामक भगवान् का रूप अंतर्यामी के नाम से व्यवहृत होता है। पूर्वनिर्दिष्ट चारों तत्त्वों की सृष्टि 'शुद्ध सृष्टि' कहलाती है, इनके अतिरिक्त जगत् की औरसृष्टि 'शुद्धेतर सृष्टि' कहलाती है जो सांख्यों के प्रचलित मत से विशेष मिलती है।

जीव—भगवान् में मुख्यतया पाँच शक्तियों का निवास रहता है[3]—उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, निग्रहशक्ति (= माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरोधान शक्ति) और अनुग्रह शक्ति (= कृपा शक्ति)। जीव भगवान् के समान ही स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक और सर्वज्ञ होता है, परंतु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधान शक्ति जीव के विभुत्व, शक्तिमत्त्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है जिससे जीव क्रमशः अणु, किंचित्कर तथा किंचिज्ज्ञाता बन जाता है। इन्हें ही 'मल' के नाम से पुकारते हैं। जीवों की दीन हीन दशा के साक्षात्कार से भगवान् के हृदय में 'अनुग्रह शक्ति' का स्वतः आविर्भाव होता है जिसे आगम शास्त्र में 'शक्तिपात' कहते हैं।

(ए) साधन मार्ग—वैष्णव को चाहिए कि वह भगवान् की उपासना में अपने समय को निरंतर लगावे। इस उपासना विधान की संज्ञा है—पंचकाल[4] जो क्रमशः अभिगमन (अभिमुख होना), उपादान (पूजा सामग्री का संग्रह), इज्या (पूजा), अध्याय (वैष्णव ग्रंथों का मनन) तथा योग (अष्टांग योग) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके साथ ही प्रपत्ति या शरणागति (= न्यास) साधना का उत्कृष्ट साधन है। शरणागति का शास्त्रीय विभाजन ६ रूपों में है[5]—(१) आनुकूल्य का संकल्प, (२) प्रातिकूल्य का वर्जन, (३) रक्षा का पूर्ण विश्वास, (४) भगवान् को रक्षक मानना, (५) आत्मसमर्पण तथा (६) कार्पण्य (अत्यंत दीनता)।

[1] ब्रह्मसूत्र २।२।४२–४५ पर शांकर भाष्य। (निर्णय सागर, बंबई)
[2] द्रष्टव्य—म० भा०, शां० प०, अ० ३३६।४०–४२।
[3] अहि० सं० १४।१३–१४।
[4] जयाख्य संहिता २०।६५–७५।
[5] अहि० सं० ३७।३।

इस उपासना के बल पर 'ब्रह्मभावापत्ति' होना ही मोक्ष है[१]। पांचरात्र जीव तथा ब्रह्म के एकत्व का पक्षपाती दर्शन है, परंतु वह विवर्तवाद को न मानकर 'परिणाम वाद' का पक्षपाती है।

शैव तंत्र—शिव के वैदिक देवता होने का प्रमाण वैदिक देवताओं के वर्णनप्रसंग में पूर्व ही उपन्यस्त किया जा चुका है। शिव के तांत्रिक रूप का संकेत हमें वैदिक साहित्य में भी मिलता है। अथर्वशिरस् उपनिषद् में पशु, पाश, पाशुपत व्रत आदि तंत्र के पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि सर्वप्रथम होती है जिससे पाशुपत सिद्धांत की प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। महाभारत तथा पुराणों में शैव संप्रदायों के नाम तथा सिद्धांत का बहुशः विवरण उपलब्ध होता है। नामों के विषय में एकरूपता नहीं मिलती। सामान्यतः **माहेश्वर** संप्रदाय चार रूपों में विभक्त है—शैव, पाशुपत, कालामुख तथा कापालिक। इन्हीं मतों के मूल ग्रंथों को **शैवागम** के नाम से पुकारते हैं। भगवान् शंकर ने अपने भक्तों के उद्धार के लिये पाँच मुखों से २८ तंत्रों का आविर्भाव किया[२]। इनमें कामिक आगम प्रथम तथा वातुल आगम अंतिम है। इनमें १० तंत्र द्वैतमूलक हैं तथा १८ तंत्र द्वैताद्वैत प्रधान हैं जिनकी शिक्षा भिन्न भिन्न अधिकारियो को दी गई। इन आगमों के अनेक अंगभूत आगम भी हैं जो 'उपागम' के नाम से प्रख्यात हैं। 'कामिक' का उपागम 'मृगेंद्र' तंत्र नारायण कंठ की वृत्ति और अघोर शिवाचार्य की दीपिका के साथ प्रकाशित है।

कालामुख तथा कापालिक शैवों का संप्रदाय उच्छिन्नप्राय है। उनकी क्रियाओं की भीषणता तथा रौद्रता इसका कारण प्रतीत होती है। 'मालतीमाधव'[३] तथा 'शंकर दिग्विजय'[४] के अध्ययन से कापालिको की 'श्रीपर्वत' पर स्थिति, महा-मांस विक्रय आदि जघन्य कर्म, शंकराचार्य के हाथों इनके अध्यक्ष के पराजय की घटना का परिचय हमें मिलता है। परंतु इनका सिद्धांत आज लुप्तप्राय है। आज शव तंत्र के मानवीय पाँच संप्रदायों के सिद्धांतों के संक्षिप्त वर्णन से ही संतोष करना है। इन संप्रदायों के नाम हैं—(१) शैव सिद्धांत, (२) पाशुपत, (३) वीर शैव, (४) रसेश्वर तथा (५) प्रत्यभिज्ञा।

[१] जयाख्य सं० ४।१२१, १२३।

[२] इनके नाम के लिये द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भा० द०, पृ० ५५०–५१।

[३] द्रष्टव्य—'मालतीमाधव' का अंक ६, (बांबे संस्कृत सीरीज, पूना)

[४] द्रष्टव्य—शंकर दिग्विजय का लेखक द्वारा अनुवाद, पृ० ४८६–९२।
(प्रकाशक—श्रवणनाथ ज्ञानमंदिर, हरिद्वार)

(१) शैव सिद्धांत—इस मत का प्रचार दक्षिण भारत के तमिलनाड प्रांत में है तथा इस मत के मौलिक सिद्धांत ग्रंथ 'तमिल' भाषा में भी उपलब्ध होते हैं। यह 'सिद्धांत' मत के नाम से प्रख्यात संप्रदाय दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवादी है। इसके अनुसार तीन रत्न माने जाते हैं—शिव, शक्ति तथा बिंदु। शुद्ध जगत् के कर्ता शिव हैं, करण शक्ति है तथा उपादान बिंदु है। 'सिद्धांती' का यह बिंदु तत्त्व पांचरात्रों के 'विशुद्ध सत्त्व' के समकक्ष है। यही बिंदु शुद्ध ब्रह्म, कुंडलिनी, विद्या शक्ति के नाम से अभिहित होता हुआ योग्यरूप में परिणत होकर शुद्ध जगत् की सृष्टि करता है। इसी का अपर अभिधान 'महामाया' है। शिव की दो शक्तियाँ होती हैं—समवायिनी और परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा तथा अपरिणामिनी है जो 'शक्तितत्त्व' की आख्या से मंडित है। परिग्रहशक्ति अचेतन तथा परिणामशालिनी है जो 'बिंदु' के नाम से प्रख्यात है। बिंदु भी शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो प्रकार का होता है। शुद्ध बिंदु = महामाया और अशुद्ध बिंदु = माया। दोनों में अंतर यही है कि ये दोनों भिन्न भिन्न जगतों के उपादान कारण माने जाते हैं। महामाया उपादान कारण है सात्विक जगत् का, तो माया उपादान कारण है प्राकृत जगत् का। जब शिव अपनी समवायिनी शक्ति से बिंदु का आघात करते हैं, तब उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और शुद्ध जगत् की सृष्टि होती है। माया के क्षोभ से प्राकृत जगत् की सृष्टि होती है।

(अ) पति—शैव सिद्धांत के अनुसार तीन ही मुख्य पदार्थ होते हैं—(१) पति = शिव, (२) पशु = जीव, (३) पाश = मल, कर्म आदि। 'पति' से अभिप्राय है शिव से। शिव परम ऐश्वर्य से संपन्न, स्वतंत्र तथा सर्वज्ञ होता है। शिव नित्यमुक्त है। शिव में स्वभावसिद्ध नित्यनिर्मल निरतिशय अर्थज्ञान और क्रियाशक्ति का समुच्चय रहता है। उनका कर्मफल रूप शरीर नहीं है, उनका शरीर शक्ति (मंत्र) रूप है। पंचमंत्र तनु शिव का 'ईशान' मंत्र मस्तक है, 'तत्पुरुष' मुख है, 'घोर' हृदय, 'कामदेव' गुह्य अंग तथा 'सद्योजात' उनका पाद है। शिव इन पाँच कृत्यों का साक्षात् कर्ता है—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह। शिव की दो अवस्थाएँ होती हैं—लयावस्था तथा भोगावस्था। जिस समय शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर स्वरूप मात्र में अवस्थान करती है, तब यह होती है लयावस्था। जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त कर बिंदु को कार्य उत्पादन की ओर अग्रसर करती है और कार्य का उत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में अभिवृद्धि करती है, तब शिव की भोगावस्था होती है।

(आ) पशु—अणु, परिच्छिन्न, सीमित शक्ति से समन्वित, क्षेत्रज्ञ जीव को ही 'पशु' कहते हैं। जीव सांख्य पुरुष के समान 'अकर्ता' नहीं है, क्योंकि पाशों के दूर होने पर, शिव रूप होने पर, उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का

उदय होता है। अतः वह 'कर्ता' माना जाता है। पशु तीन प्रकार के होते हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल। यह भेद मलों के तारतम्य के कारण होता है। जिन पशुओं में विज्ञान, योग तथा सन्यास से अथवा भोगमात्र से कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा शरीरबंध की उत्पत्ति नहीं होती उन्हें 'विज्ञानाकल' कहते हैं। इनमें केवल आणवमल अवशिष्ट रहता है। प्रलयाकल जीव में प्रलय दशा में शरीरपात होने से 'मायीय' मल नहीं रहता, परंतु आणव मल तथा कार्मण मल की सत्ता बनी रहती है। 'सकल' जीवों में तीनों मलों का अस्तित्व विद्यमान रहता है। विज्ञानाकल पशु भी समाप्तकलुष तथा असमाप्तकलुष के भेद से दो प्रकार का होता है। जब इन जीवों का मल परिपक्व हो जाता है तब परम शिव अपनी अनुग्रह शक्ति से इन्हें 'विद्येश्वर' पद प्रदान करते हैं जो संख्या में आठ हैं—अनंत, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एक नेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकंठ तथा शिखंडी। अपक्वमल वाले जीवों को शिव दया से 'मंत्र' का रूप देते हैं जो संख्या में सात कोटि हैं और विद्या-तत्त्व के निवासी हैं। प्रलयाकल जीवों में यही दोनों भेद होते हैं जिनमें पक्वमल वाले इन जीवों को शिव मुक्ति प्रदान करते हैं और दूसरे इस संसार की नाना योनियों में भ्रमण किया करते हैं। सकल जीवों में भी पक्वमल वाले जीवों को शिव अपने शक्तिपात से 'मंत्रेश्वर' पद प्रदान करते हैं और दूसरे प्रकार के जीव संसार में नाना विषयों का भोग किया करते हैं।

(इ) पाश—'पाश' का अर्थ है बंधन जिसके द्वारा शिवरूप होने पर भी जीव को पशुत्व की प्राप्ति होती है। ये चार प्रकार के होते हैं—मल, कर्म, माया तथा रोधशक्ति। जो जीव की स्वाभाविक ज्ञान-क्रिया-शक्ति को तिरोहित करता है उसका नाम है—मल (या आणव मल, अणुता=परिच्छिन्नता)। फलार्थी जीवों के द्वारा क्रियमाण, बीज-अंकुर न्याय से अनादि, कार्यकलाप का नाम है कर्म (= धर्म या अधर्म)। प्रलयकाल में जीवों को अपने में लीन करनेवाली तथा सृष्टिकाल में उन्हें उत्पन्न करनेवाली 'माया' कहलाती है। रोधशक्ति के द्वारा शिव जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं और इसीलिये वह पाश रूप मानी जाती है।

(ई) साधन मार्ग—जीव वस्तुतः शिव रूप ही है, परंतु पूर्वोक्त पाशों के कारण वह अपने को बंधन में पाता है। मलों के दूर करने का उपाय न तो ज्ञान है और न कर्म, अपितु 'क्रिया' के द्वारा ही उसका अपसारण होता है। मलों का पाक होना नितांत आवश्यक होता है। मलापसारण का एकमात्र साधन है परम शिव की अनुग्रह-शक्ति जो 'शक्तिपात' के नाम से तंत्रों में अभिहित की गई है। इसी का व्यावहारिक रूप है दीक्षा। शिव ही आचार्य के रूप में शिष्य को दीक्षा प्रदान करते हैं तथा जगत् के प्रपंचों से उसको मुक्ति दिलाते हैं। तांत्रिकी मुक्ति की

विलक्षणता यही है कि उसमें ज्ञानशक्ति के साथ क्रियाशक्ति का उदय स्वतः आविर्भूत हो जाता है।

(२) पाशुपत मत—पाशुपत मत का मुख्य क्षेत्र राजस्थान तथा गुजरात रहा है। इसका दूसरा नाम नकुलीश पाशुपत भी है। इस मत के ऐतिहासिक संस्थापक कोई नकुलीश या लकुलीश नामक आचार्य थे जो शंकर के अठारह अवतारों में आद्य अवतार माने जाते हैं। इनकी मूर्तियाँ भी मिलती हैं जिनके बाएँ हाथ में लगुड या दंड रहता है तथा दाहिने हाथ में बीजपूर का फल तथा मस्तक केशों से ढका रहता है। लकुलीश का समय प्रथम शताब्दी के आसपास स्वीकार किया जाता है[१]। सामान्य दृष्टि से 'पाशुपत' 'शैव' के पर्यायवाची माने जाते हैं, परंतु वस्तुतः दोनों में भेद है। इसीलिये गुणरत्न ने नैयायिकों को 'शैव' तथा वैशेषिकों को 'पाशुपत' माना है। पाशुपतों का साहित्य आज अधूरा और अपूर्ण मिलता है। सर्वदर्शनसंग्रह में नकुलीश पाशुपत के नाम से, भासर्वज्ञ (अष्टम शती) की 'गणकारिका' में तथा महेश्वररचित 'पाशुपतसूत्र' में इस मत का प्रामाणिक विवरण इनके सिद्धांतों के ज्ञान के लिये एकमात्र साधन है।

पाशुपतों की दार्शनिक दृष्टि द्वैतवादी है। इसके अनुसार पाँच पदार्थ मुख्य माने गए हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखांत।

(अ) कार्य—कार्य उसे कहते हैं जिसमें स्वातंत्र्य शक्ति न हो। यह तीन प्रकार का होता है—विद्या, कला और पशु। जीव और जड़ दोनों का अंतर्भाव कार्य के भीतर होता है। विद्या जीव का गुण है जो दो प्रकार की है—बोध और अबोध। बोधस्वभाव विद्या का ही नाम चित्त है तथा जीव को पशुत्व की प्राप्ति करानेवाली धर्माधर्म से मुक्त विद्या अबोधरूपा है। चेतन के अधीन स्वयं अचेतन पदार्थ का नाम कला है। 'कला' दो प्रकार की होती है—कार्य तथा कारणरूपा। कार्यरूपा कला में पृथिवी आदि पाँचों तत्त्वों तथा गंधादि उनके विषयों का समावेश होता है। कारणरूपा कला में त्रयोदश इंद्रियों का अंतर्भाव होता है। पाशों के द्वारा बंधन पानेवाले 'पशु' जीव के प्रतीक हैं जो शरीर-इंद्रिय से संबद्ध होने पर 'सांजन' तथा शरीर-इंद्रिय से विरहित होने पर 'निरंजन' कहलाता है।

(आ) कारण—कारण का अर्थ है इस विश्व की सृष्टि आदि कार्यों का निर्वाहक-तत्त्व परमेश्वर या महेश्वर। महेश्वर अपरिमित ज्ञानशक्ति से जीवों का प्रत्यक्ष करते हैं और अपरिमित प्रभुशक्ति से जीवों का पालन करते हैं। अतः ज्ञानशक्ति तथा प्रभुशक्ति से समन्वित परम ऐश्वर्य से युक्त महेश्वर ही 'पति' नाम से

[१] द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय, भा० द०, पृ० ५४६-५०।

अभिहित किए गए हैं। वह परम स्वतंत्र, ऐश्वर्यवान्, आद्य, एक तथा कर्ता है। उसी की इच्छाशक्ति से जीवों को इष्ट, अनिष्ट, शरीर, विषय तथा इंद्रियों की प्राप्ति हुआ करती है। इसलिये वह स्वतंत्र कर्ता कहलाता है जिसमें स्वातंत्र्य शक्ति तथा कर्तृत्व शक्ति का पूर्ण सामंजस्य रहता है—स्वतंत्रः कर्ता[1]। वह अपनी क्रीड़ा या लीला के लिये जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव किया करता है। इसी कारण वह 'देव' तथा निरपेक्ष होने से 'सार्वकामिक' कहा जाता है।

(इ) योग—चित्त के द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के संबंध को 'योग' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—(१) क्रियात्मक (= जप, तप, ध्यान आदि), (२) क्रियोपरम (= क्रिया की निवृत्ति)। इस दूसरे प्रकार के अंतर्गत भगवान् में एकांतिकी भक्ति, ज्ञान तथा शरणागति की गणना की जाती है। पाशुपत योग का विस्तृत वर्णन शैवपुराणों में उपलब्ध होता है। पातंजल योग का फल कैवल्य की प्राप्ति होता है, परंतु पाशुपत योग का फल दुःख की निवृत्ति के साथ साथ परम ऐश्वर्य का लाभ भी होता है। उनमें और भी भेद होता है।

(ई) विधि—महेश्वर की प्राप्ति करनेवाला साधक-व्यापार विधि की संज्ञा पाता है। यह दो प्रकार का होता है—मुख्य तथा गौण। मुख्य विधि (चर्या) के दो मुख्य भेद हैं—व्रत तथा द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, जप, उपहार तथा प्रदक्षिणा—ये पंचविध व्रत कहलाते हैं। उपहार अथवा नियम छः प्रकार का होता है—हसित, गीत, नृत्य, हुड्डुकार, नमस्कार और जप्य जिनमें साधक को शिव की पूजा के समय क्रमशः हँसना, गाना, नाचना, बैल के समान शब्द करना, नमस्कार तथा जप का अनुष्ठान करना पड़ता है। द्वार के छः प्रकार हैं—(१) क्राथन=असुप्त पुरुष को सुप्त पुरुष के समान चिह्न धारण करना। (२) स्पंदन = शरीर के अंगों का कंपन, (३) मंदन = लँगड़ाते हुए चलना, (४) शृंगारण = कामिनी को देखकर कामुक के समान चेष्टा, (५) अवितत्करण = अविवेकी के समान निंदित कर्मों का आचरण, (६) अवितद्भाषण = अनर्गल ऊटपटाँग बोलना। ये सब व्रत और द्वार प्रधानविधि के अंतर्गत हैं। गौण विधि में अनुस्नान, भैक्ष्य, उच्छिष्ट, निर्माल्य धारण आदि चर्या के अनुग्राहक कर्मों की गणना की जाती है।

(उ) दुःखांत—'दुःखांत' का अर्थ है दुःखों की अत्यंत निवृत्तिरूपा मुक्ति। पाँच प्रकार के दोषों (अर्थात् मलों) के द्वारा पशु सदा बंधन में पड़ा रहता है जिनके नाम हैं—(१) मिथ्या ज्ञान, (२) अधर्म, (३) सक्तिहेतु (विषयों में

[1] पाशुपत सूत्र १।८। (अनंतशयन संस्कृत ग्रंथमाला, त्रिवेंद्रम्)

आसक्ति का कारण विषयों से संपर्क, (४) च्युति (रुद्रतत्त्व से चित्त का च्युत होना), (५) पशुत्व (अल्पज्ञत्व आदि पशुत्व के उत्पादक धर्म)। ऊपर वर्णित योग (आंतरिक साधना) और विधि (बाहरी साधना) के द्वारा मन का सर्वथा उपनयन किया जाता है। मोक्षलाभ में पंचविध उपायों में 'प्रपत्ति' अंतिम साधन है। प्रपत्ति के द्वारा शिव का चित्त साधकों के प्रति दयार्द्र हो जाता है और तब उनके अनुग्रह के कारण जीव को मुक्ति प्राप्त होती है।

दुःखांत के दो प्रकार होते हैं—(१) अनात्मक अर्थात् दुःखों की केवल निवृत्ति, (२) सात्मक जिसमें परमैश्वर्य का लाभ होता है तथा ज्ञानक्रिया शक्ति का उदय संपन्न होता है। मुक्त पुरुषों को विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे उन्हें पाँच प्रकार की ज्ञानशक्ति का लाभ हो जाता है—'दर्शन' (सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान), 'श्रवण' (सर्वविध शब्दों का ज्ञान), 'मनन' (समस्त चिंतित विषयों की सिद्धि), 'विज्ञान' (समग्र शास्त्रों का शब्दतः और अर्थतः ज्ञान), और सर्वज्ञत्व (समग्र पदार्थों का पूर्ण ज्ञान)। क्रियाशक्ति भी मुक्त पुरुषों में अद्भुत रूप से पैदा होती है। अन्य मतों से इस मत में अनेक विलक्षणताएँ स्वतः सिद्ध हैं। पाशुपत योग के फल का संकेत ऊपर किया जा चुका है। अन्य दर्शनों में 'विधि' का फल होता है पुनरावृत्ति के सहित स्वर्ग, परंतु पाशुपत विधि का फल है पुनरावृत्ति से रहित सामीप्य आदि। पाशुपत मुक्ति परमैश्वर्य की उपलब्धि रूप है। इस प्रकार पाशुपत मत का अपना वैशिष्ट्य स्पष्ट, विशद तथा सुबोध है।

(३) **वीर शैव मत**—'वीर शैव' लोग लिंगायत या जंगम के नाम से विख्यात हैं। यद्यपि इस मत के आद्य प्रचारक एक ब्राह्मण थे, तथापि ये लोग वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते और शिवलिंग को चाँदी के संपुट में रखकर हर समय अपने गले में लटकाए रहते हैं। इनकी मान्यता है कि पाँच महापुरुषों ने इस प्राचीन धर्म का भिन्न भिन्न समयों में उपदेश दिया जिनके नाम हैं—रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पंडिताराध्य और विश्वाराध्य। ये शिव के विशिष्ट लिंगों से आविर्भूत हुए थे तथा रंभापुरी (मैसूर), उज्जैन, ऊखीमठ (केदारनाथ), श्रीशैल और काशी में क्रमशः अपने विशिष्ट सिंहासनों की प्रतिष्ठा की थी। काशी में जंगमवाड़ी मुहल्ला जंगमों के ही नाम से प्रसिद्ध है जहाँ इनका एक प्रधान पीठ (विश्वाराध्य-महासंस्थान) आज भी जागरूक तथा क्रियाशील है। श्रीपति (१०६० ई०) ने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर 'श्रीकरभाष्य' लिखकर इस मत को उपनिषन्मूलक सिद्ध किया है। इसके आदिप्रचारक का नाम वसव है। ये कलचुरी नरेश विज्जल के मंत्री थे और इन्होंने अपने राजनीतिक अधिकार का सदुपयोग इस मत के

प्रचुर प्रचार के द्वारा किया। वसव को वीर शैव लोग अपने मत का आदिप्रचारक नहीं मानते, प्रत्युत उपबृंहणकर्ता ही मानते हैं।

वीर शैवों के द्वारा लिखित एक साहित्य है जो संस्कृत में न्यून परंतु कन्नड़ भाषा में बहुत ही अधिक है। कन्नड़ भाषा के मध्ययुग में वीर शैवी साहित्य का विपुल प्रचार था और इनके द्वारा कन्नड़ साहित्य की विशेष उन्नति हुई[१]। श्री शिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धांत शिखामणि' इस मत के सिद्धांत तथा साधना का परिचायक एक माननीय संस्कृत ग्रंथ है।

(अ) सिद्धांत—वीर शैव का दार्शनिक मत शक्तिविशिष्टाद्वैत है। शक्तिविशिष्ट जीव तथा शक्तिविशिष्ट शिव—इन दोनों का सामरस्य अर्थात् एकाकार है। शंकर का अद्वैत ज्ञानप्रधान है, परंतु यह मत कर्मप्रधान है। यह निष्काम कर्म का मार्ग प्रदर्शित करता है और इसीलिये इसे वीर धर्म या वीर मार्ग के नाम से पुकारते हैं।

(आ) शिव—परम तत्व एकमात्र शिव है जो पूर्ण अहंता रूप तथा पूर्ण स्वातंत्र्य रूप है। उसका पारिभाषिक अभिधान 'स्थल' है। इस नामकरण की सार्थकता भी है। यह चराचर जगत् शिव में स्थित रहता है (स्थ) तथा अंत में शिव में लय प्राप्त करता है (ल[२])। इसीलिये वह परमशिव 'स्थल' के नाम से प्रख्यात होता है। जब परम शिव में उपास्य और उपासक रूप से क्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब उनके सामरस्य का विभेद हो जाता है और 'स्थल' के द्विविध रूप हो जाते हैं जिनमें एक को 'अंगस्थल' और दूसरे को 'लिंगस्थल' कहते हैं। 'लिंगस्थल' उपास्य और शिव रूप है तथा 'अंगस्थल' उपासक तथा जीव है। शक्ति के भी इसी प्रकार दो रूप हो जाते हैं। लिंग (शिव) की शक्ति का नाम 'कला' है और अंग (जीव) की शक्ति का नाम 'भक्ति' है। कलाशक्ति के द्वारा जगत् परम शिव से उत्पन्न होता है (प्रवृत्ति) तथा भक्तिशक्ति के द्वारा जगत् शिव के साथ एकीकृत होता है (निवृत्ति)। कला के द्वारा जीव शिव से उत्पन्न होता है और भक्ति के द्वारा वह शिव के साथ एकाकार हो जाता है।

(इ) लिंग—लिंग के तीन रूप होते हैं—(१) भावलिंग, (२) प्राणलिंग और (३) इष्टलिंग। इनमें प्रथम प्रकार कलाविहीन, सत् रूप, काल तथा

[१] द्रष्टव्य—राइस : हिस्ट्री आफ् कनारीज लिटरेचर।
(हेरिटेज आफ् इंडिया सीरीज, कलकत्ता)

[२] स्थीयते लीयते यत्र जगदेतत् चराचरम्।
तद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः॥

दिक् से अपरिच्छिन्न तथा परात्पर है। प्राणलिंग कलाविहीन तथा कलायुक्त दोनों होता है। प्रथम का साक्षात्कार श्रद्धा के द्वारा होता है, तो इसका अवगमन बुद्धि के द्वारा। इष्टलिंग कलायुक्त है और चक्षु के द्वारा इसका दर्शन होता है। ये तीनों क्रमशः सत्, चित् तथा आनंदरूप होते हैं। भावलिंग परमतत्त्व है। प्राणलिंग उसका सूक्ष्म और इष्टलिंग स्थूल रूप है।

(ई) अंगस्थल—अंगस्थल अर्थात् जीव के भी तीन प्रकार होते हैं—

(१) योगांग—जीव शिव से योग अर्थात् एकीभाव प्राप्त कर आनंद की प्राप्ति करता है सुषुप्ति-चैतन्य के समान।

(२) भोगांग—जीव शिव के साथ ही साथ आनंद का उपभोग करता है। स्वप्न चैतन्य के समान दशा। सूक्ष्म शरीर तुल्य।

(३) त्यागांग—संसार को क्षणभंगुर तथा अनित्य मानकर उसका त्याग। स्थूल शरीर तथा जाग्रत चैतन्य के समान।

वेदांत के शब्दों में ये तीनों क्रमशः कारणरूप प्राज्ञ, सूक्ष्म रूप तैजस तथा स्थूलरूप विश्व के प्रतीक तथा प्रतिनिधि हैं। जीव शिव का अंशरूप है। जीव तथा शिव का पारमार्थिक भेदाभेद है वह्नि तथा वह्निकणों के समान। परम शिव से उत्पन्न जगत् भी मिथ्या नहीं, सत्य ही है।

शिव की कृपा से ही जीव को मुक्ति का लाभ होता है। गुरु के द्वारा दीक्षा का कार्य वीर शैवों में एक आवश्यक वस्तु माना जाता है। गुरु अपने शिष्य को पंचाक्षर मंत्र (ॐ नमः शिवाय) का उपदेश देता है तथा यज्ञोपवीत के स्थान पर शिवलिंग धारण करने का भी उपदेश करता है। दीक्षा प्राप्त कर लेने पर जीव शिव रूप बन जाता है। शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त होने पर जीव मुक्त हो जाता है। 'वीर' शब्द के प्रथम खंड 'वी' का अर्थ है जीव तथा शिव की ऐक्य-बोधिका विद्या एवं द्वितीय खंड का अर्थ है 'र'= रमण करनेवाला। अतः 'वीर शैव' का यथार्थ है—जीव तथा शिव की एकता में रमण करनेवाला व्यक्ति[१]। यह मत रामानुज के सिद्धांत के अधिक पास है। शक्तिविशिष्ट शिव ही परम तत्त्व है[२]।

[१] वी शब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते स्मृताः॥

[२] विशेष के लिये द्रष्टव्य—
काशीनाथ शास्त्री : शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धांत। (जंगमवाडी, काशी)
बलदेव उपाध्याय : भा० द०, पृ० ५७०–५७८।

(४) **रसेश्वर दर्शन**—इस मत में जीवन्मुक्ति ही वास्तव मुक्ति है और उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है स्थिर या दिव्य देह की प्राप्ति। मुक्ति ज्ञान के द्वारा प्राप्य है और ज्ञान योग के अभ्यास से; और यह तभी संभव है जब नाना प्रकार की सहज व्याधियों से मुक्त होकर देह स्थिर या वज्रमय हो जाय। इस सिद्धांत का नाम है—**पिंडस्थैर्य** (या शरीर की स्थिरता)। शरीर को स्थिर, दृढ़ तथा व्याधिविरहित बनाने के लौकिक उपायों में 'पारद' (पारा) के भस्म का सेवन सर्वोत्तम है। भारतीय चिकित्साशास्त्र में पारद भस्म की महिमा अतुलनीय है। सांसारिक दुःखों से मुक्ति देने तथा उस पार पहुँचा देने के कारण ही 'पारद' के नाम की ('पार' देनेवाला) सार्थकता है। वैद्यक के अनुसार 'पारद' की शक्ति विलक्षण होती है। पारद भगवान् शंकर का वीर्य माना जाता है तथा अभ्रक पार्वती का रज। इन दोनों के योग से उत्पन्न भस्म प्राणियों के शरीर को दिव्य बनाने में सर्वथा समर्थ होता है। इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसके साथ प्राणवायु का नियमन भी सर्वथा उपकारी होता है। इसलिये हठयोग के साथ साथ पारदभस्म के सेवन से दिव्य देह की प्राप्ति प्राचीन काल में सुनी जाती है।

'पारद' का ही नाम 'रस' है और यही 'रस' ईश्वर माना जाता है इस दर्शन में। स्वेदन, मर्दन आदि अठारह संस्कारों के द्वारा पारद सिद्ध किया जाता है और इस सिद्ध रस के द्वारा जरा तथा मरण का भय सदा के लिये छूट जाता है। भर्तृहरि ने इसी तथ्य की ओर इस प्रख्यात पद्य में संकेत किया है :

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥

पारद भस्म की यही पहचान है कि ताँबा पर रगड़ते ही वह सोना बन जाता है। यह बाहरी परीक्षा है। उसका सेवन करने से शरीर के परमाणु बदलकर नित्य तथा दृढ़ बन जाते हैं। इस मत में साधना का क्रमिक विकास है—पारद भस्म के प्रयोग से दिव्य शरीर बनाना—योगाभ्यास करना—तथा आत्मा का इसी शरीर में दर्शन। रस को ईश्वर मानने के कारण ही यह मत 'रसेश्वर' के नाम से अभिहित किया गया है। इस मत में 'जीवन्मुक्ति' ही वास्तव मुक्ति है। तैत्तिरीय उपनिषद् का यह महनीय मंत्र[1] इस दर्शन की आधारशिला है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।

इस दर्शन का भी एक साहित्य था जो प्राचीन काल में बहुत प्रसिद्ध था।

[1] तै० उ० २।७।१।

बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने 'रसरत्नाकर' लिखकर रसतत्त्व की बड़ी सुंदर मीमांसा की है। उन्हें रस सिद्ध था और इसीलिये वे 'सिद्ध नागार्जुन' के नाम से विख्यात थे। गोविंद भगवत्पाद ने 'रसहृदय' नामक ग्रंथ में रसशास्त्र का हृदय खोलकर रख दिया है। यह ग्रंथ किरातदेश के राजा मदनरथ के आग्रह पर संभवतः हिमालय के किसी प्रदेश में लिखा गया था। 'रसरत्नसमुच्चय' तेरहवीं शती का अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय (श्लोक २–७) में प्राचीनकाल के रससिद्धि के विशेषज्ञ २७ व्यक्तियों के नाम दिए गए हैं जिनमें नागार्जुन तथा गोविंद के अतिरिक्त चंद्रसेन, लंकेश, विशारद, मांडव्य, भास्कर, सुरानंद आदि के नाम उल्लिखित हैं। इसके लेखक वाग्भट प्रख्यात वाग्भट से भिन्न व्यक्ति हैं। रसशास्त्र का विशाल साहित्य धीरे धीरे प्रकाश में आ रहा है। इनका आयुर्वेदिक मूल्य के अतिरिक्त दार्शनिक महत्त्व भी कम नहीं है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में रसेश्वरदर्शन का संक्षिप्त परिचय मूल सिद्धांतों की जानकारी के लिये पर्याप्त है।

(५) **प्रत्यभिज्ञा दर्शन**—काश्मीर में प्रचलित शिवाद्वैत सिद्धांत को प्रत्यभिज्ञा, स्पंद अथवा त्रिक दर्शन के नाम से पुकारते हैं। स्पंद तथा त्रिक एक ही दर्शन की दो भिन्न भिन्न शाखाएँ हैं जिनमें आध्यात्मिक तत्त्वों का एक समान विवरण उपलब्ध होता है। 'त्रिक' नामकरण के अनेक कारण हैं। ९२ आगमों में सिद्धा, नामक तथा मालिनी इन तीन आगमों के प्रधानतया उपजीव्य होने के कारण अथवा पशु, पति तथा पाश इन त्रिविध विषयों की व्याख्या के हेतु यह दर्शन 'त्रिक' नाम से पुकारा जाता है। इस दर्शन की दार्शनिक दृष्टि पूर्ण अद्वैतवादी है तथा साधना-मार्ग में भक्ति तथा ज्ञान के पूर्ण सामंजस्य का यह पक्षपाती है। इस दर्शन के आधारपीठ केवल ७७ सूत्र हैं जिन्हें भगवान श्रीकंठ के स्वप्नादेश से आचार्य वसुगुप्त (८०० ई० के आसपास) ने महादेव गिरि के एक विशाल शिलाखंड पर उट्टंकित पाया तथा उद्धार किया। वसुगुप्त के दो पट्टशिष्य हुए—कल्लट तथा सोमानंद जिनमें प्रथम ने स्पंदसिद्धांत का प्रचार किया तथा दूसरे ने प्रत्यभिज्ञा (या त्रिक) मत का प्रसार किया 'शिवदृष्टि' नामक ग्रंथ में। सोमानंद के शिष्य हुए उत्पलाचार्य जिनकी 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' परपक्ष का खंडन कर अद्वैत का मंडन करनेवाला संप्रदाय का मननशास्त्र है। उत्पल के प्रशिष्य तथा लक्ष्मण गुप्त के शिष्य परममाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त इस संप्रदाय के शंकराचार्य हैं जिनके प्रौढ़ प्रतिपादन, दार्शनिक विश्लेषण तथा साधनापरक मीमांसन के कारण यह दर्शन अपने पूर्ण वैभव तथा उन्नति पर चढ़ा हुआ है। अभिनवगुप्त (९५० ई०–१००० ई०) के प्रौढ़तम ग्रंथ हैं—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी (उत्पल के ग्रंथ की व्याख्या), तंत्रालोक (तंत्र के दार्शनिक तथा उपासनापरक तथ्यों का विशाल विवेचन)। इनके शिष्य क्षेमराज (९७५ ई०–१०२५ ई०) ने प्राचीन तंत्रों

की सुलभ व्याख्या तथा गुरु के मान्य ग्रंथों पर भाष्य तथा 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' आदि मौलिक ग्रंथों का निर्माण कर इसे अत्यंत विस्तृत तथा व्यापक बनाया[१]।

(अ) परम तत्त्व—त्रिक दर्शन तथा शक्ति दर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि अद्वैतवाद की है क्योंकि दोनों के मत में एक ही अद्वय परमेश्वर परम तत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर तथा कामेश्वरी का सामरस्य रूप है। यह आत्मा चैतन्य-रूप है तथा स्वयं निर्विकार रूप से जगत् के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है। **चैतन्य, परा संवित्, अनुत्तर, परमेश्वर, स्पंद तथा परम शिव**—ये सब उस परम तत्त्व के भिन्न भिन्न अभिधान हैं। परमेश्वर के दो भाव होते हैं—'विश्वात्मक' तथा 'विश्वोत्तीर्ण'। विश्वात्मक रूप से वह जगत् के प्रत्येक वस्तु में व्यापक रहता है, परंतु व्यापक होकर भी वह अपने 'विश्वोत्तीर्ण' रूप से सब पदार्थों का अतिक्रमण करता है[२]। परम शिव इस विश्व का उन्मीलन स्वयं करते हैं। वह परम स्वतंत्र हैं। अतएव अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से संपन्न होकर परम शिव स्वेच्छया स्वभित्ति में अर्थात् अपने ही आधार में जगत् का उन्मीलन करते हैं[३]। जगत् की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत पूर्वस्थित जगत् का केवल प्रकटीकरण होता है। आचार्य वसुगुप्त द्वारा शिव तत्त्व का यह प्रतिपादन नितात प्रसिद्ध तथा विशद है—

निरुपादान-संभारमभित्तावेव तन्वते।
जगत्-चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

लौकिक चित्रकार सामग्री के बल पर भित्ति के ऊपर ही चित्र को बनाता है, परंतु परम शिव एक विलक्षण चित्रकार है जो बिना किसी सामग्री के ही और भित्ति (आधार) के बिना ही इस विशाल जगत् रूपी चित्र की रचना करता है। स्वातंत्र्य शक्ति या इच्छा शक्ति ही इस विलास का कारण है। परमेश्वर की पाँच ही शक्तियाँ मुख्य मानी जाती हैं—चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। इन शक्तियों की विस्तृत व्याख्या तंत्रग्रंथो में दी गई है[४]।

(आ) जगत् के साथ संबंध—परमेश्वर तथा जगत् का संबंध दर्पण-बिंबवत् माना गया है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर आदि प्रतिबिंबित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी दर्पण से और परस्पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं,

१ द्रष्टव्य—चैटर्जी : काश्मीर शैविजम (अं०) (श्रीनगर, काश्मीर)
बलदेव उपाध्याय : भा० द०, पृ० ५५३–५५।
२ प्रत्यभिज्ञाहृदय—सूत्र ३। (काश्मीर शैव ग्रंथमाला, श्रीनगर)
३ स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। —प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र २।
४ अभिनव गुप्त : तंत्रसार, आह्निक १। (श्रीनगर)

उसी प्रकार परमेश्वर में प्रतिबिंबित यह विश्व अभिन्न होने पर भी घटपटादि रूप से भिन्न अवभासित होता है[१]। द्वैत भावना कल्पित है। अद्वैत भावना वास्तव है। यह आभास या प्रतिबिंब तत्त्व मानने के कारण ही त्रिक दर्शन की दार्शनिक दृष्टि आभासवाद के नाम से विख्यात है। यह विश्व चिन्मयी शक्ति का स्फुरण है। अतः यह कथमपि असत्य नहीं हो सकता। परिणामवाद में वस्तु का स्वरूप तिरोहित होकर अन्य रूप धारण करता है, परंतु इस दर्शन के अनुसार तो शिव के प्रकाश के तिरोधान से यह जगत् ही अंधा हो जायगा। फलतः न यहाँ परिणामवाद अंगीकृत है और न विवर्तवाद, प्रत्युत **स्वातंत्र्यवाद** या **आभासवाद** ही केवल मान्य सिद्धांत है।

(इ) **छत्तीस तत्त्व**—शैव तथा शक्ति तंत्रों के अनुसार ३६ तत्त्व हैं जो तीन भागों में विभक्त होते हैं—

तत्त्व	संख्या	नाम
(क) शिवतत्त्व	(२)—	(१) शिव, (२) शक्ति।
(ख) विद्यातत्त्व	(३)—	(३) सदाशिव, (४) ईश्वर, (५) शुद्ध विद्या।
(ग) आत्मतत्त्व	(३१)—	(६) माया, (७) कला, (८) विद्या, (९) राग, (१०) काल, (११) नियति, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार, (१६) मन, (१७–२१) पंच ज्ञानेंद्रिय, (२२–२६) पंच कर्मेंद्रिय, (२७–३१) पंच विषय तथा (३२–३६) पंच महाभूत।
	तत्त्व ३६	

परमेश्वर के हृदय में विश्वसृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—शिवरूप तथा शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप है तथा शक्ति विमर्शरूपा है। 'विमर्श' का अर्थ है—पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। अहमंश ग्राहक शिव है तथा ग्राह्य इदमंश शक्ति है। जिस प्रकार बिना दर्पण के मुख का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार बिना विमर्श के प्रकाश के रूप की सिद्धि नहीं होती। मधु में मिठास तो है, परंतु वह स्वयं अपने मिठास का स्वाद नहीं ले सकता। उसी प्रकार शक्ति के

[१] अभिनव गुप्त : परमार्थसारकारिका १२, १३। (श्रीनगर)

बिना शिव को अपने प्रकाशस्वरूप का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है। शक्ति (बीज 'इ') के बिना शिव शव ही है। आचार्य शंकर का कथन इस विषय में यथार्थ है[1]। शिव तथा शक्ति का परस्पर संबंध अविनाभाव का है अर्थात् न तो शिव शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। चंद्र और चंद्रिका के समान दोनों में किंचिन्मात्र भी अंतर नहीं होता :

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किंचित् चन्द्र चन्द्रिकयोरिव ॥

शिव-शक्ति के अंतर उन्मेष को सदाशिव तथा बाह्य उन्मेष को ईश्वर कहते हैं। सदाशिव दशा में प्रमा का अहमंश इदमंश को आच्छादित कर वर्तमान रहता है। ईश्वर दशा में 'अहं' इदं (जगत्) का अनुभव आत्मा के अभिन्न रूप में ग्रहण करता है। 'सद् विद्या' ज्ञान की वह दशा है जिसमें अहं (विषयी) तथा इदं (विषय) का पूर्ण सामानाधिकरण्य रहता है अर्थात् दोनों की स्थिति समान-रूपेण रहती है। अब माया का कार्य आरंभ होता है जो अहं तथा इदं को पृथक् पृथक् कर देती है। अहमंश हो जाता है पुरुष तथा इदमंश होती है प्रकृति। माया शिव की पुरुष रूप में परिणति के निमित्त पाँच उपाधियों (या कंचुकों) की सृष्टि करती है।

(ई) पंचकंचुक—जीव के सर्वकर्तृत्व को संकुचित करनेवाला तत्त्व कला है जिसके कारण वह किंचित् कर्तृत्व की शक्ति से युक्त होता है। सर्वज्ञता का संकोचक तत्त्व विद्या है तथा नित्य तृप्तित्व गुण का संकोचक तत्त्व राग है जिसके कारण जीव विषयों से प्रेम करने लगता है। नित्यत्व को संकुचित करनेवाला तत्त्व 'काल' तथा जीव की स्वातंत्र्य शक्ति को संकुचित करनेवाला तत्त्व 'नियति' (नियमन हेतु) होता है। जीव के स्वाभाविक सर्वज्ञत्वादि गुणों का आवरण करने के कारण इन पाँचों की तांत्रिकी संज्ञा 'कंचुक' है। ये ही एकादश तत्त्व सांख्यों के २५ तत्त्वों के ऊपर तंत्रों में सूक्ष्म तत्त्व के रूप में स्वीकृत किए गए हैं। अंतिम पचीस तत्त्वों का विकाशक्रम सांख्यों के ही अनुरूप है।

(उ) साधनमार्ग—प्रत्यभिज्ञा का साधनमार्ग एक विशिष्ट उपासना मार्ग है जिसमें भक्ति तथा ज्ञान का पूर्ण सामंजस्य माना जाता है। शंकर के अद्वैतवाद की चरम दशा में ज्ञान का ही पूर्ण साम्राज्य विराजता है और वहाँ भक्ति का स्थान नहीं रहता। भक्ति द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित रहती है, परंतु यह साधनरूपा अज्ञानमूलक

[1] सौंदर्यलहरी, श्लोक १। (अड्यार, मद्रास)

भक्ति होती है। जीव वस्तुतः शिव है। उसमें नित्यसिद्ध ज्ञान तथा भक्ति की सत्ता है, परंतु व्यवहार दशा में उसके ऊपर आवरण पड़ा रहता है। उसी आवरण के भंग से मोक्ष या 'चिदानंदलाभ' का उदय होता है।

इस मोक्ष की सिद्धि के उपायों के विषय में स्पंद तथा प्रत्यभिज्ञा की दृष्टि में पार्थक्य है। स्पंद के अनुसार उपायत्रयी के द्वारा आनंदलाभ होता है जिसके अंतर्गत तीन उपाय मान्य हैं :

(१) क्रियोपाय (आणवोपाय—मंत्र, तंत्रादि क्रिया)
(२) ज्ञानोपाय (शाक्तोपाय—द्वैत ज्ञान की अद्वैत ज्ञान में परिणति)
(३) शाक्तोपाय (इच्छोपाय—इच्छामात्र से परम तत्त्व का ज्ञान। जिस प्रकार किसी जौहरी को रत्न को देखते ही उसके मूल्य का ज्ञान सद्यः हो जाता है, उसी प्रकार विचारों के एकीकरण (अनुसंधि) के बिना केवल इच्छामात्र से परम तत्त्व का ज्ञान विशिष्ट साधकों को हो जाता है[1]।)

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार ये तीनों साधन अकिंचित्कर है। परम तत्त्व का साक्षात्कार 'प्रत्यभिज्ञा' के द्वारा ही हो सकता है, 'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ है ज्ञात वस्तु को फिर से जानना या पहचानना और यह गुरु के द्वारा दी गई 'दीक्षा' के द्वारा होता है।

दीक्षा का अर्थ है पशुबंधन या अज्ञान का क्षपण या नाश कर सत्यज्ञान की प्राप्ति कराना[2]। तत्त्वज्ञ गुरु के एक शब्द से ही यह तत्त्व स्फुरित हो जाता है। इस तत्त्व के परिचय के लिये कामिनी का दृष्टांत बड़ा ही सुंदर तथा सटीक है। कोई सुंदरी मदनलेख, प्रेमपत्र तथा दूती के भेजने से आए हुए तथा समीप में खड़े होनेवाले प्रियतम को पाकर भी आनंदित नहीं होती परंतु दूती के वचन या लक्षणों के द्वारा उसे पहचानकर आनंद लाभ करती है। साधक की भी ठीक यही दशा होती है। आणव, शाक्त तथा शाभव उपायों से आत्मचैतन्य का स्फुरण होने पर भी 'अहं महेश्वरः' यह अद्वैत ज्ञान वह तभी प्राप्त करता है जब गुरु के उपदेशों से शिव को ठीक ठीक पहचान लेता है। अतः 'प्रत्यभिज्ञा' ही शिवत्व लाभ का प्रधान साधन है[3] :

[1] यथा विस्फुरितदृशामनुसन्धि विनाप्यलम्।
भाति भावः स्फुटस्तद्वत् केषामपि शिवात्मता।
—तंत्रालोक १।१८६ (काश्मीर सीरीज, श्रीनगर)

[2] दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दान-क्षपण-संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥ —तंत्रालोक १।८०

[3] द्रष्टव्य—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ४।१।६। (काश्मीर सीरीज, श्रीनगर)

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा
लोकस्यैव तथा नवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता।

(७) ब्रह्माद्वैत तथा ईश्वराद्वयवाद—आचार्य शंकर द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा प्रत्यभिज्ञासंमत ईश्वराद्वयवाद मूलतः अद्वयवादी होने पर भी ठीक एक ही प्रकार के नहीं हैं। 'माया' के स्वरूप को लेकर दोनों में गंभीर मतभेद है। अज्ञान के प्रथम आविर्भाव की मीमांसा अद्वैत वेदांत में उतनी रुचिकर तथा संतोष-प्रद नहीं है। प्रत्यभिज्ञा की समीक्षा अन्य रूप ग्रहण करती है। यहाँ माया की प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है। वह तो आत्मा का स्वातंत्र्यमूलक—अपनी इच्छा से परिगृहीत रूप है। परम स्वतंत्र परमेश्वर जब अपने स्वरूप को ढक देता है, तब भी उसका आवरणहीन रूप अच्युत भाव से विद्यमान रहता है सूर्य के समान। इस प्रकार माया ईश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति का विजृंभण मात्र है। शंकर वेदांत में ब्रह्म में कर्तृत्व का अभाव रहता है परंतु आगममत में यह त्रुटि नहीं रहती। परमेश्वर के लिये ज्ञान और क्रिया एक समान होते हैं। उसकी क्रिया ही ज्ञान है तथा कर्तृभाव होने से ज्ञान ही क्रिया है। इस आगम-मार्ग में ज्ञान तथा भक्ति का सामंजस्य होता है, इसका संकेत हम पहले भी कर आए हैं। शांकर मत में भक्ति द्वैतमूलक होती है और चरम दशा में ज्ञान के साथ उसकी स्थिति नहीं रहती, परंतु प्रत्यभिज्ञा के अनुसार अद्वैत ज्ञान का उदय होने पर ही निर्व्याज अहेतुकी भक्ति का उदय संपन्न होता है। श्रीमद्भागवत की भी यही दृष्टि है[1]। नरहरि का यह कथन सुंदर तथा युक्तियुक्त है कि ज्ञान से पूर्व द्वैत मोह उत्पन्न करता है, परंतु मनीषा से इगन उत्पन्न होने पर भक्ति के लिये कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुंदर होता है[2]। दंपती के मिलने के समय जीव तथा शिव का यह संयोग परमानंद दायक 'सामरस्य' कहलाता है और तांत्रिक साधन का यही चरम अवसान होता है।

(८) शाक्त तंत्र

(अ) ध्येय—शक्तिपूजा के विषय में विशेष जानकारी न होने से साधारण जनता को कौन कहे शिक्षितों में उसके विषय में नाना प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई

[1] आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥ —भा० पु०

[2] नरहरि—बोधसार, पृ० २००-२०१।

हैं। शाक्तधर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेदसिद्धि है। यह अद्वैतवाद का साधनमार्ग है। सच्चा शाक्त अपने को शक्ति के साथ सदा अभिन्न, शोकहीन, सच्चिदानंद रूप तथा नित्य, मुक्त स्वभाववाला मानता है। शक्ति का तत्त्व पूर्ण वैदिक है। ऋग्वेद के वागांभृणी सूक्त (१०।१२५) में जिस शक्तितत्त्व का संकेत है, शाक्त तंत्र उसी के भाष्य माने जा सकते हैं।

(आ) भाव तथा आचार—शाक्त मत में तीन भाव तथा सात आचार हैं। पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्यभाव—ये तीन भाव हैं तथा वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार तथा कौलाचार—ये पूर्वोक्त तीन भावों से संबद्ध सात आचार हैं। 'भाव' मानस अवस्था है तथा 'आचार' बाहरी आचरण है। भावों में साधक द्वैत से अद्वैत में प्रतिष्ठित होता है। पशु बद्धजीव का प्रतीक होने से तदीय भाव द्वैत भावापन्न पुरुष का द्योतक है। जो व्यक्ति अज्ञान रज्जु के काटने में कुछ मात्रा में भी कृतकार्य होता है वह 'वीर' कहलाता है। जो साधक वीरभाव की पुष्टि से द्वैत भाव के दूरीकरण में समर्थ होता है तथा इष्ट देवता की सत्ता में अपनी सत्ता को डुबाकर अद्वैतानंद का आस्वादन करता है वह दिव्य कहलाता है। आचारों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

आचार	भाव
वेद, वैष्णव, शैव तथा दक्षिण आचार	पशु भाव
वाम, सिद्धांत	वीर भाव
कौल	दिव्य भाव

पक्का अद्वैतवादी साधक 'कौल' कहलाता है जो कर्दम और चंदन में, शत्रु तथा पुत्र में कांचन तथा तृण में तनिक भी भेदबुद्धि नहीं रखता[2]।

(इ) संप्रदाय—कौल मार्ग के अनेक संप्रदाय हैं। श्री विद्या के उपासकों का एक अन्य आचार है जो **समयाचार** के नाम से प्रसिद्ध है। 'समय' का अर्थ है हृदयाकाश में चक्रकीर भावना कर पूजा का विधान और इसीलिये 'समयाचार' में अंतर्याग (अंतःपूजा) की ही प्रधानता रहती है। कौलमार्गी तथा समयाचारी के

[1] अहं देवी न चान्योस्ति ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्य-मुक्त स्वभाववान्॥

[2] कर्दमे चन्दने भिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथैव कांचने तृणे।
न भेदो यस्य देवेशि स कौलः परिकीर्तितः॥

—भावचूडामणि तंत्र। (कलकत्ता)

सिद्धांतों में परस्पर महान् संघर्ष है तथा वे एक दूसरे की निंदा करते हैं। तथ्य यह है कि शाक्त पूजाविधान गुरुमुखैकगम्य है। सामान्य रीति से यह दुर्बोध तथा अगम्य है। उसके प्रतीकों तथा संकेतों का रहस्य संप्रदाय की परंपरा में प्रवेश करने पर ही ज्ञात हो सकता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

(ई) **पंचमकार**—कौल मार्ग में पंचमकार की उपासना का विशिष्ट विधान है। ये मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन हैं जो मकार से आरंभ होने के कारण 'पंच' मकार के नाम से प्रख्यात हैं। ये सांकेतिक शब्द हैं जिनका अर्थ नितांत गूढ़ तथा रहस्यमय है। ये भौतिक पदार्थों के द्योतक न होकर आंतर भावों के सूचक हैं[1]। 'मधु' का अर्थ है सहस्रदल कमल से क्षरित होनेवाली सुधा। 'मांस' का संकेत ज्ञान से पाप तथा पुण्य के नाश तथा हनन से है। शरीरस्थ इडा तथा पिंगला (सांकेतिक नाम—गंगा और यमुना) में प्रवाहित होनेवाले श्वास तथा प्रश्वास का ही नाम है मत्स्य। असत् संग के त्याग का नाम है मुद्रा (या मुद्रण)। मैथुन का अर्थ है सहस्रार में स्थित शिव का तथा कुंडलिनी शक्ति का योग अथवा सुषुम्णा नाड़ी में प्राणवायु का मिलन जो असीम आनंद का जनक होता है। तामस साधक इन वस्तुओं के भौतिक रूपों को उपयोग में लाकर क्षणिक सिद्धि अवश्य प्राप्त करता है, परंतु तांत्रिक पूजा का तात्पर्य यह नहीं है। तंत्र का अधिकारी उच्च कोटि का जितेंद्रिय साधक होता है जिसके लिये मद्य मांस का सेवन नितांत हेय, गर्हणीय तथा वर्ज्य होता है।

(उ) **मुख्य पीठ**—शाक्त तंत्रों का विपुल साहित्य है जो अभी तक प्रायः प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रायः ६४ तंत्रों का उल्लेख लक्ष्मीधर ने सौंदर्यलहरी के भाष्य (पद्य ३१) में किया है। शाक्त पूजा के तीन केंद्र हैं—काश्मीर, कांची तथा कामाख्या। इनमें प्रथम दोनों स्थान आज भी 'श्री विद्या' के प्रख्यात केंद्र हैं तथा कामाख्या (आसाम) कौल मत का प्रधान पीठ है। कामाख्या भौगोलिक दृष्टि से भारत तथा भोट दोनों से संबद्ध है। फलतः यहाँ तिब्बती (या बौद्ध) तंत्रों का प्रभाव पड़ने से पूजा में उग्रता आना स्वाभाविक ही है। इन शाक्त तंत्रों का संबंध अथर्ववेद के 'सौभाग्य कांड' के साथ माना जाता है, परंतु अन्य वेदों से संबद्ध उपनिषद् भी तंत्र में मान्य तथा उपजीव्य हैं। इनमें प्रधान शाक्त उपनिषद् ये हैं—कौल, त्रिपुरा महोपनिषद्, भावना उप०, बह्वृच, अरुणोपनिषत्, अद्वैत भावना, कालिका और तारोपनिषद्। इनमें प्रथम तीन उपनिषदों का भाष्य भास्कर राय (१७वीं शती) ने किया है; त्रिपुरा तथा भावना उपनिषद् का भाष्य अप्पय

[1] द्रष्टव्य—लेखक का भा० द०, पृ० ५२०–२१ जहाँ मूल श्लोकों का उद्धरण तथा तत्वों का विस्तृत समीक्षण है।

दीक्षित ने (१६वीं शती[1])। इस प्रकार शाक्त सिद्धांतों का मूल उपनिषदों में ही विद्यमान है जिसका परिबृंहण तंत्रों में किया गया है।

(ङ) सिद्धांत—शाक्त दर्शन तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन में—त्रिपुरा तथा त्रिक सिद्धांत में—सिद्धांततः बहुत अधिक साम्य है। दोनों समभावेन अद्वैत के ही प्रतिपादक हैं। पूर्ववर्णित छत्तीस तत्त्व दोनों को ही समानरूपेण मान्य हैं। इनसे परे जो कुछ है वह तत्त्वातीत माना जाता है। संसार इन्हीं छत्तीस तत्त्वों की समष्टि है। तत्त्वातीत से ही तत्त्वों का उदय होता है। इस प्रकार वह परम वस्तु साथ ही साथ तत्त्वातीत अर्थात् विश्वोत्तीर्ण है तथा विश्वात्मक भी है। 'सदाशिव' से लेकर 'क्षिति' पर्यंत ३४ तत्त्व 'विश्व' कहलाते हैं। जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेष मात्र है वह तत्त्व 'शक्ति' कहलाता है। इस शक्ति के साथ शिव सदा मीलित रहते हैं। शिव तथा शक्ति—ये अवस्था के सूचक नाम हैं। शक्ति ही अंतर्मुख होने पर 'शिव' है। (अंतर्लीन विमर्शः) तथा शिव ही बहिर्मुख होने पर 'शक्ति' हैं। अंतर्मुख तथा बहिर्मुख भाव दोनों ही सनातन हैं। शिवतत्त्व में शक्तिभाव गौण तथा शिवभाव प्रधान होता है। शक्तितत्त्व में शक्तिभाव प्रधान और शिवभाव गौण रहता है। तत्त्वातीत दशा इन दोनों से भिन्न होती है जहाँ न शिव की प्रधानता है, न शक्ति की, प्रत्युत वह दोनों की साम्यावस्था है। यह शिवशक्ति का सामरस्य है। इसे शैव लोग 'परम शिव' के नाम से पुकारते हैं और शाक्त लोग 'पराशक्ति' के नाम से। तत्त्व एक ही है। भेद केवल नाम का है तथा साधक की दृष्टि से है। शाक्त मत में शिव पराशक्ति से उत्पन्न होकर जगत् का सर्जन करते हैं।

वह परम तत्त्व पूर्ण अखंड सौंदर्य का निकेतन है। जगत् में जितना सौंदर्य है वह उस पूर्ण सौंदर्य के कण मात्र का विकास तथा विलास है। वह पूर्ण सौंदर्य ही अकेला न रह सकने के कारण जगत् में खंड सौंदर्यमय बनकर विकसित होता है। सचमुच भगवान् अपने ही रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं। 'श्री चैतन्य चरितामृत' का यह कथन यथार्थ है कि अपने ही रूप को देखकर कृष्ण के मन में चमत्कार उत्पन्न होता है और उसका आलिंगन करने की इच्छा मन में उत्पन्न होती है—

रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार।
आलिंगिते मने उठे काम॥

यह चत्मकार ही पूर्णाहंता चमत्कार है। काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। शिव-शक्ति के मिलन का प्रयोजक और कार्यस्वरूप यही आदिरस या शृंगार रस

[1] 'तांत्रिक टेक्स्ट' नामक ग्रंथमाला में प्रकाशित, संख्या ११, कलकत्ता।

है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का शिव तथा शक्ति तत्त्व ही त्रिपुरा (शाक्त) सिद्धांत में कामेश्वर तथा कामेश्वरी हैं तथा गौडीय वैष्णव मत में श्रीकृष्ण और राधा हैं। दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। इसे ही शाक्त मत में सुंदरी या त्रिपुरासुंदरी के नाम से अभिहित किया जाता है। श्री शंकराचार्य ने 'सौंदर्यलहरी' में इसी के अलौकिक सौंदर्य का वर्णन किया है।

सुंदरी के उपासक उसकी उपासना चंद्ररूप में करते हैं। चंद्र की षोडश कलाएँ हैं और संमिलित रूप से इनका 'निल्या षोडशिका' के नाम से वर्णन मिलता है। पहली पंद्रह कलाओं का उदय-अस्त, वृद्धि-ह्रास होता है, परंतु षोडशी कला नित्य होने से 'अमृत कला'[1] कहलाती है। वैयाकरण लोग इसी की 'पश्यंती' वाणी के नाम से उपासना करते हैं। यही षोडशी महात्रिपुरसुंदरी ही 'ललिता' है, 'श्री विद्या' है; सौंदर्य तथा आनंद का परम धाम है। गौडीय वैष्णव मत में श्रीकृष्ण ही वह परम तत्त्व हैं और उनके सदाकिशोर रूप (षोडश वर्षीय) में ध्यान का यही रहस्य है। 'ललिता' जिस प्रकार कभी पुरुषरूपा है और कभी स्त्रीरूपा, कृष्ण भी उसी प्रकार उभय रूप में आविर्भूत होते हैं—पुरुष रूप में तथा मोहिनी रूप में। इस प्रकार त्रिपुरा, त्रिक तथा वैष्णव मतों का मौलिक सादृश्य है।

४. हिंदी साहित्य में तांत्रिक धर्म

गत पृष्ठों में तात्रिक धर्म की एक संक्षिप्त रूपरेखा खींची गई है जो उसके सांस्कृतिक महत्त्व तथा आध्यात्मिक मूल का अंकन करने में समर्थ होगी। हिंदी साहित्य का एक विशिष्ट संप्रदाय तंत्रों की पूजापद्धति तथा आचारविचार के द्वारा विशेष रूप से प्रभावित तथा अनुगृहीत है: उसका नाम है **नाथ संप्रदाय**। हठयोग-प्रदीपिका, सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति, सिद्ध-सिद्धांत-संग्रह, गोरक्षपद्धति, गोरखबानी आदि अनेक मान्य सांप्रदायिक ग्रंथ संस्कृत तथा हिंदी में निबद्ध हैं। संस्कृत में ग्रंथों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होना स्वाभाविक है, परंतु हिंदी में भी इस मत के प्रौढ़ तथा प्रामाणिक ग्रंथ इधर प्रकाशित हो रहे हैं। हस्तलिखित रूप में तो ग्रंथों की काफी संख्या अभी अपने प्रकाशन तथा अनुशीलन की बाट जोह रही है।

इस संप्रदाय के आद्य संस्थापक परंपरा के अनुसार भगवान् शिव हैं जो सब नाथों के प्रथम 'आदिनाथ' के नाम से विख्यात हैं[2]। इससे स्पष्ट है कि नाथ संप्रदाय शैव मत की ही एक परवर्ती शाखा है। सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूतमत, अवधूतसंप्रदाय आदि विविध नामों से इस मत की

[1] विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्। —उ० रा० १।१ (काशी)

[2] हठयोगप्रदीपिका की ब्रह्मानंदी टीका, श्लोक १-५ (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)

पर्याप्त ख्याति उपलब्ध होती है। इस मत का मुख्य धर्म योगाभ्यास है इसलिये योगमार्ग आदि नामों की सार्थकता है। इस मत के मान्य आचार्य सिद्धों के नाम से विख्यात हैं और इसीलिये इसका 'सिद्धमत' से प्रख्यात होना स्वाभाविक है। इस मत में यौगिक क्रियाओं की प्रधानता हो जाने से भावानुगा भक्ति से इसका मेल टूट गया। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने ग्रंथों में इस मत के प्रचार तथा भक्तिहीन योग की ओर स्पष्ट संकेत किया है। गोसाईं जी का यह दृढ़ विश्वास था कि गोरखनाथ ने योग को जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था[१]।

नाथमत के ऐतिहासिक प्रचारकों तथा प्रतिष्ठापकों में मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, जलंधरनाथ तथा कृष्णपाद (कानुपा)—इस आचार्य चतुष्टयी की मान्यता विशेष है और यह उचित ही है। मत्स्येंद्र तथा जालंधर गुरुभाई थे। मत्स्येंद्रनाथ का जन्म 'चंद्रगिरि' नामक स्थान में हुआ था जो कामाख्या (आसाम) के निकटवर्ती माना जाता है। अभिनवगुप्त (११वीं शती) के द्वारा 'तंत्रालोक' में नमस्कृत तथा संकेतित 'मच्छंदविभु' मत्स्येंद्रनाथ से अभिन्न ही प्रतीत होते हैं। 'कौल-ज्ञान-विनिर्णय' के अनुसार मत्स्येंद्र कौल मार्ग के आद्य प्रवर्तक स्वीकृत किए गए हैं। तंत्रालोक के व्याख्याकार इन्हें सकल कुलशास्त्र का अवतारक मानते हैं। इनका आविर्भावकाल नवम शतक का मध्य भाग था। जालंधरनाथ के वैयक्तिक जीवन का वर्णन अनेक ग्रंथों में मिलता है, परंतु उनमें घटनाओं का इतना वैषम्य है कि हम यथार्थ निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। कहीं ये मत्स्येंद्र के गुरु और कहीं ये गुरुभाई बतलाए गए हैं। कृष्णपाद इन्हीं के मान्य शिष्य थे। इन गुरु-शिष्य का मत कापालिक मत के सिद्धांतों के बहुत ही समीपवर्ती माना जाता है।

गोरखनाथ मध्ययुग के एक विशिष्ट महापुरुष थे जिन्होंने अपने गुरु मत्स्येंद्र के द्वारा प्रचारित कौल मार्ग की त्रुटियों को दूर कर उसे विशुद्ध रूप में परिणत किया। गोरखनाथ हठयोग के महनीय आचार्य थे जो अपनी हठविद्या के बल पर मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर अपने आध्यात्मिक मार्ग के प्रचार तथा उपदेश में आज भी संलग्न हैं—ऐसी धारणा 'हठयोगप्रदीपिका' के रचयिता की है। इनके उपदेशों में योग तथा शैव तंत्रों का पूर्ण सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्मांड[२] की उत्पत्ति के सिद्धांत शुद्ध तांत्रिक हैं। तंत्रों में छत्तीस तत्वों से विश्व की

[१] गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है॥
—कवितावली, उत्तरकांड (ना० प्र० सभा, काशी)

[२] द्रष्टव्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, पृ० १०३–११२।
(हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५०)

सृष्टि का जो वर्णन किया गया है उसका अनुसरण यहाँ भी है। तंत्रों के अनुसार ही गोरखनाथ भी शिव को रूपातीत, गुणातीत, शून्यरूप तथा निरालंब-स्वरूप मानते हैं। रसेश्वरदर्शन के सिद्धांतों के अनुसार इस मार्ग के अनुयायी भी पारद के प्रयोग से शरीर को दृढ़, दिव्य तथा जरा-मरण-रहित बनाने के पक्षपाती थे, क्योंकि ऐसी ही दशा में हठयोग (प्राणधारणा) का पूर्ण निर्वाह हो सकता है। इस प्रकार नाथ संप्रदाय का सिद्धांत शैव तंत्र तथा हठयोग के मिश्रण का परिणत फल है।

गोरखनाथ की लिखी ४० छोटी मोटी हिंदी पुस्तकों का परिचय हिंदी के विद्वानों को है जिनमें सबदी, पद, प्राण, संकली, नरवैबोध आदि १३ ग्रंथों का एकत्र प्रकाशन डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' के नाम से किया है। इन ग्रंथों का अनुशीलन मध्ययुगीय संतो की बानियों का मर्म खोलने के लिये नितांत आवश्यक है[1]। इस प्रकार नाथपंथी सिद्धों के माध्यम द्वारा शैव तंत्र तथा योग के अनेक मान्य सिद्धांत संतों तक पहुँचने में कृतकार्य हुए हैं। इस संक्षिप्त विवेचन से हम कह सकते हैं कि हिंदू तंत्रों का आदरणीय विचार तथा सिद्धांत हिंदी के संत साहित्य में बहुशः गृहीत, आदृत तथा सत्कृत होकर अध्यात्ममार्ग के साधकों का विशेष उपकार करता आया है।

[1] गोरखनाथ के हिंदी में दिए गए उपदेशों के लिये देखिए—'नाथ संप्रदाय', पृ० १८२–१८७।

सप्तम अध्याय

वेदांत

१. भारतीय दर्शन का चरम विकास

वेदांत दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का चरम विकास माना जाता है। 'वेदांत' शब्द का अर्थ है वेद का अंत या सिद्धांत और इस विशिष्ट अर्थ में इसका प्रयोग अनेक उपनिषदों में भी पाया जाता है[1]। श्रुति के रहस्यभूत सिद्धांतों का प्रतिपादक होने के कारण 'उपनिषद्' के लिये ही 'वेदांत' का प्रयोग होता है। कालांतर में उपनिषदों के सिद्धांतों में आपाततः प्रतीयमान विरोधों के परिहार तथा तथ्यों की एकवाक्यता के निमित्त बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' का निर्माण किया जो उपनिषन्मूलक होने के कारण 'वेदांतसूत्र' के नाम से भी अभिहित होता है। श्रीमद्-भगवद्गीता उपनिषदों का सार प्रस्तुत करती है। ये तीनों ग्रंथ—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता—प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान 'वेदांत' कहलाता है।

२. संप्रदाय भेद

इन तीनों के मौलिक उपदेश तथा शिक्षण के विषय में भारतीय दार्शनिकों में एकवाक्यता नहीं है। ब्रह्मसूत्र के ऊपर लगभग दस भाष्य[2] प्रकाशित तथा प्रचलित हैं जिनमें नवीन दृष्टिकोण से उनके अर्थ की व्याख्या की गई है। इनमें प्राचीनतम भाष्य के रचयिता आचार्य शंकर हैं जिनका 'शारीरक भाष्य' अद्वैत वेदांत का नितांत प्रौढ़, प्रांजल तथा प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करता है। वेदांत के छः मुख्य पक्ष हैं जिनके प्रतिपादन की एक दीर्घ परंपरा आज भी जागरूक है। इन पक्षों की अन्वर्थक संज्ञाएँ हैं—(१) अद्वैत, (२) विशिष्टाद्वैत, (३) द्वैताद्वैत, (४) शुद्धाद्वैत, (५) द्वैत (६) अचिंत्य भेदाभेद। ब्रह्म तथा जीव के परस्पर संबंध का पार्थक्य ही इन विभिन्न पक्षों के नामकरण का हेतु है। इस परिच्छेद में इसी क्रम से इन मतों का संक्षिप्त उपन्यास किया जा रहा है।

[1] वेदान्ते परमं गुह्यम् (श्वेता० उप० ६।२२), वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः (मुण्डक ३।२।६)

[2] इन भाष्यों के नाम, समय तथा सिद्धांत के लिये देखिए—बलदेव उपाध्याय : भा० द०, पृ० ४०१–४०२।

३. अद्वैत वेदांत

अद्वैत वेदांत के प्रधान प्रतिष्ठापकों में आचार्य गौडपाद तथा आचार्य शंकर मुख्य हैं। इस दर्शन का एक विशाल साहित्य है जो मौलिकता तथा विद्वत्ता की दृष्टि से नितांत महनीय तथा माननीय है।

(१) **ब्रह्म**—इस विश्व में एक निर्विकल्पक, निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता विद्यमान है जिसे 'ब्रह्म' कहते हैं। श्रुति में ब्रह्म के दोनों रूपों—सगुण तथा निर्गुण—का विवरण पर्याप्त रूप से मिलता है। शंकराचार्य के मत में सगुण ब्रह्म (या ईश्वर, अपर ब्रह्म) जगत् के समान ही मायासंवलित होने से मायिक है, परंतु निर्गुण ब्रह्म पारमार्थिक है। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति० उप० २।१।१) तथा विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृह० उप० ३।६।२८)। ब्रह्म 'सत्य' है अर्थात् त्रिकाल में अबाधित एक रूप से रहनेवाला है। वह ज्ञानरूप है। वह किसी से प्रविभक्त नहीं हो सकता, अतएव 'अनंत' है। अनंत होने से ब्रह्म ज्ञानरूप ही है, ज्ञान का कर्ता नहीं। वह सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) तथा आनंद रूप (सच्चिदानंद) है। ब्रह्म का यही स्वरूप लक्षण अर्थात् यथार्थ लक्षण है। यही ब्रह्म माया से आवृत होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर के नाम से अभिहित होता है तथा इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण होता है। वह सर्वकाम तथा सर्वज्ञ है। फलतः सृष्टिव्यापार लीलामात्र है क्योंकि आप्तकाम की जिस प्रकार कोई स्पृहा नहीं होती, उसी प्रकार सर्वकाम का इस सृष्टिव्यापार में कोई भी प्रयोजन नहीं है[1]। न्यायशास्त्र ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानता है, परंतु अद्वैत वेदांत में वह एक ही साथ उपादान तथा निमित्त दोनों कारणों का रूप है। उपनिषदों में मकड़े का दृष्टांत इस तत्त्व की पुष्टि में दिया जाता है। जिस प्रकार मकड़ा (लूता) अपने में ही स्वयं अपने आप तंतुओं को तनता हुआ जाल बुन डालता है, ईश्वर भी ठीक इसी प्रकार अपने में ही अपने आप जगत् की सृष्टि करता है।

ब्रह्ममीमांसा के विषय में शंकर तथा रामानुज का मत नितांत पृथक् है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय, स्वगत—इस तीन भेदों से रहित होता है, परंतु रामानुज के मत में ईश्वर प्रथम दोनों भेदों से रहित होने पर भी स्वगत भेद से शून्य नहीं रहता। ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट होता है। इसलिये उसका चिदंश अचिदंश से स्वभावतः भिन्न होता है। शंकर मत में इस विशिष्टता की कल्पना न होने से वह स्वगत भेद से भी शून्य रहता है।

[1] ब्रह्मसूत्र २।१।३२-३३ पर शांकर भाष्य देखिए। (निर्णय सागर, बंबई)

(२) माया—निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्म की सगुण या सविशेष ब्रह्म में परिणति का प्रधान बीज है—माया। अग्नि की पृथक् न रहनेवाली (अपृथग्भूता) दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथग्भूता शक्ति है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञानविरोधी भावरूप पदार्थ है। वेदांत में माया 'अनिर्वचनीय' शब्द के द्वारा व्यवहृत होती है। माया को न 'सत्' कह सकते हैं और न 'असत्'। यदि वह 'सत्' होती तो कभी बाधित नहीं होती। वह सर्वदा प्रतीत होती है और इसलिये 'असत्' भी नहीं कही जा सकती। (सत् चेत् न बाध्येत; 'असत्' चेत् न प्रतीयेत)। दोनों से विलक्षण होने के कारण ही वह 'अनिर्वचनीय' कहलाती है। उसकी दो शक्तियाँ मुख्य हैं—आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति। इन्हीं शक्तियों के द्वारा माया वस्तुभूत ब्रह्म में उसके वास्तव रूप को आवृत कर जगत् की प्रतीति का उदय करा देती है। आवरण शक्ति वस्तु के सच्चे रूप को ढक देती है और विक्षेप शक्ति वस्तु में अवस्तु को उत्पन्न कर देती है—ठीक जादू के समान। इसी माया की उपाधि से युक्त ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण होता है और उपाधि पक्ष (माया) की दृष्टि से वही उपादान कारण होता है। इस प्रकार एक ही में दोनों कारणों की सत्ता विद्यमान रहती है।

(३) जीव—अंतःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य 'जीव' कहलाता है। यह जीव ब्रह्म के समान ही अद्वैत है, दो नहीं है। इसे अन्य दार्शनिक अणु परिमाण वाला मानते हैं, परंतु अद्वैत मत में जीव ब्रह्म के समान ही विभु है तथा नाना न होकर एक है। अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण ही वह 'अणु' कहलाता है, किसी परिमाण की दृष्टि से नहीं। आत्मचैतन्य जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति त्रिविध अवस्थाओं में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय—इन पंचकोषों में उपलब्ध होता है, परंतु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इन सब से परे है अर्थात् वह अवस्था त्रयातीत तथा पंचकोषातिरिक्त है। जीव तथा ब्रह्म का संबंध तो अद्वैत रूप ही है, परंतु दोनों के परस्पर संबंध को समझाने के लिये अद्वैतवादियों ने अनेक मतों की उद्भावना की है जिसमें बिंबप्रतिबिंबवाद मुख्य है।

(४) अध्यास—अज्ञान के कारण ही शुद्ध चैतन्य अपनी विशुद्धता से च्युत होकर अल्पज्ञ जीव के रूप में परिणत होता है तथा संसार के बंध का अनुभव करता है। 'ज्ञान' से ही इस बंध की निवृत्ति होती है। अध्यास (तत्पदार्थ में अतद् पदार्थ का आरोप) से ही संसार है और ज्ञान द्वारा अध्यासनिवृत्ति पर मोक्ष संपन्न होता है। कार्य-कारण-संबंध के विषय में अद्वैत वेदांत **विवर्तवादी है।**

[1] रामानुज तथा शंकर के मतभेद के लिये द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भा० सं०, पृ० २११-२१६। (*नागरीप्रचारिणी सभा, काशी*)

रामानुज आदि आचार्यों की दृष्टि में परिणामवाद का राज्य है, परंतु अद्वैतियों के अनुसार विवर्त का। तात्विक परिवर्तन (जैसे दूध से दही का) विकार कहलाता है तथा अतात्विक परिवर्तन (जैसे रज्जु में सर्प का) विवर्त की संज्ञा पाता है[1]। जीव वस्तुतः ब्रह्म रूप ही है। 'तत्त्वमसि' महा वाक्य का तो यही तात्पर्य है। मुक्ति अशेष आनंदमयी दशा की संज्ञा है। अद्वैत ज्ञान होने पर जीव अपनी उपाधियों से मुक्त होकर सच्चिदानंद रूप प्राप्त कर देता है। इसकी आचार मीमांसा नितांत युक्तियुक्त, व्यावहारिक तथा उपादेय है।

(५) हिंदी साहित्य में परिणति—इस वेदांत मत का प्रभाव हिंदी के मान्य कवियों के ऊपर विशेष रूप से लक्षित होता है—विशेषकर गोस्वामी तुलसीदास में। तुलसीदास के दार्शनिक मत की समीक्षा इधर कई मान्य आलोचकों ने की है, परंतु उनमें मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता। कुछ लोग उन्हें विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं, कोई द्वैतवादी, तो कतिपय अद्वैतवादी। तुलसीदास के मत में ज्ञान तथा भक्ति का विमल सामरस्य है और यही उनकी विशिष्टता है। अद्वैत वेदांत ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति का पुरस्कर्ता है। वह भक्ति को अपनी साधना में ऊँचा स्थान नहीं देता, परंतु यहीं विरोध होने से तुलसीदास विशिष्टाद्वैत की ओर झुकते माने जाते हैं। तथ्य यह है कि परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, परंतु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धांत के अनुसार मेल करके चलना वे अच्छा समझते हैं। इस प्रकार अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का व्यावहारिक संमेलन तुलसीदास का दार्शनिक मत है और इस मत के लिये वे 'श्रीमद्भागवत' के ही पूर्ण अनुयायी हैं। भागवत का मौलिक तत्त्व[2] नैष्कर्म्य तथा अच्युत भक्ति का मधुर मिलन तुलसीदास को पूर्णतया स्वीकृत है। इसलिये गोस्वामी जी अद्वैत वेदांत के ही पूर्ण समर्थक थे[3]। अन्य अनेक कवियों ने वेदांत के मतवाद को अपनी कविता में आश्रय दिया है। बिहारी ने इस प्रसिद्ध दोहे में वेदांत के प्रतिबिंबवाद का ग्रहण किया है :

मैं समुझ्यो निरधार यह जग काँचौ काँच लौं
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ।

[1] सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥ —वेदान्तसार। (निर्णय सागर, बंबई)

[2] नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्। —भा० सं० १।२

[3] द्रष्टव्य—बलदेवप्रसाद मिश्र : तुलसीदर्शन, पृ० २०५–२१३। (प्रकाशक, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग)। विजयानंद त्रिपाठी : कल्याण, जुलाई, १९३७।

४. विशिष्टाद्वैत मत

(१) **मायावाद का विरोध**—मायावाद के प्रबल विरोधी तथा वैष्णव धर्म के उन्नायक वेदांत मतों में विशिष्टाद्वैत सिद्धांत नितांत प्राचीन माना जाता है। श्री रामानुजाचार्य का वेदांतसूत्रों का विशिष्ट सिद्धांत ग्रंथ है। नाथमुनि (रंगनाथ मुनि, ८२४ ई०–९२४ ई०), यामुनाचार्य (विख्यात नाम आलवंदार) तथा रामानुजाचार्य (१०३७ ई०–११३७ ई०) इस वेदांत के त्रिमुनि हैं, परंतु इस वेदांतमत की एक दीर्घ परंपरा स्वीकृत की गई है जिसके अंतर्गत बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि तथा भारुचि जैसे वेदांताचार्य पूर्वरामानुज युग के प्रतिनिधि आचार्य माने जाते हैं और इन्हीं के व्याख्याग्रंथों के आधार पर श्रीभाष्य का विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित माना जाता है। इस मत का उदय दक्षिण भारत में, विशेषतः तमिल देश में हुआ जहाँ से यह मत उत्तर भारत में प्रचलित तथा प्रसारित हुआ।

(२) **उदय**—पूर्वनिर्दिष्ट त्रिमुनि के आविर्भाव से पहिले ही तमिल देश में भगवद्भक्ति के प्रचारक 'आलवार' संतों का उदय हो चुका था। 'आलवार' तमिल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है अध्यात्म ज्ञान के समुद्र में गोता लगानेवाला व्यक्ति। इन तमिल देशीय वैष्णव संतों में बारह आलवार मुख्य माने जाते हैं जिनका आविर्भाव काल ५वीं शती से १०वीं शती तक का सुदीर्घ काल प्रायः स्वीकृत किया जाता है। तमिल काव्यों के द्वारा द्रविड देश में भक्तिगंगा को बहानेवाले इन आलवारों में सरो योगी (पोयगै अलवार), भूतयोगी (भूतत्तालवार), तथा महत् योगी (पेयालवार) अत्यंत प्राचीन युग के समकालीन संत हैं[१]। शठकोपाचार्य (पराङ्कुश मुनि या नम्मालवार) के तमिलकाव्य (विशेषतः 'तिरुवाय मोलि') अपने साहित्यिक सौंदर्य तथा आध्यात्मिक गांभीर्य के कारण 'द्रविड उपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा देववाणी में आचार्यों के हाथों अनूदित होने का उन्हें माहात्म्य और गौरव प्राप्त है। इन संतों में कुलशेखर जैसे राजा, गोदा (आंडाल) जैसी स्त्री एवं परकाल (नीलन्, तरु मंगैआ अलवार) जैसे डाकू भी संमिलित थे[२]।

निष्कर्ष यह है कि आलवारों के भक्तिरसपूरित काव्यों के बहुल प्रचार के कारण भक्तिस्निग्ध तमिल देश में विशिष्टाद्वैत मत का तरुवर रूढ़मूल होकर

[१] आलवारों के जीवनचरित के लिये द्रष्टव्य—'कल्याण', संत अंक, पृ० ४०४–४११।

[२] द्वादश आलवारों का पराशरभट्ट कृत यह नामसूचक पद्य श्रीवैष्णवों में नितांत प्रख्यात है :

भूतं सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ, श्री भक्तिसार कुलशेखर योगिवाहान्।
भक्तांघ्रिरेणु-परकाल-यतींद्र मिश्रान्, श्रीमत् परांकुशमुनि प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

समस्त भारत में अपनी शाखा प्रशाखा का विस्तार करने में कृतकार्य हो सका। रामानुज के लगभग डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही श्री वैष्णवों में दो स्वतंत्र मत खड़े हो गए जिनके तमिल नाम 'टेंकलै' तथा 'वड़कलै' हैं। इनमें अठारह सिद्धांतगत पार्थक्य थे जिनमें 'प्रपत्ति' के विषय में गहरा मतभेद था। तमिल वेद के पक्षपाती 'टेंकलै' मत के अनुसार प्रपत्ति के लिये जीव को कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं होती, प्रत्युत भगवान् श्रीहरि शरणागत जीवों का उद्धार स्वयमेव कर देते हैं, परंतु कर्मकांड का आस्थापूर्ण 'वड़कलै' मत प्रपत्ति के लिये कर्मों के अनुष्ठान को परमावश्यक मानता है। प्रपत्ति तत्त्व के दृष्टांत के निमित्त प्रथम संप्रदाय 'मार्जारकिशोर' के तथा द्वितीय संप्रदाय 'कपिकिशोर' के व्यवहार को मान्यता देता है। मार्जारकिशोर (बिल्ली का बच्चा) अपने कर्मों के अभाव में स्वतः अपनी जननी के स्नेह का भाजन बनता है, परंतु कपिकिशोर को शरणापन्न होने पर भी माता को जोरों से पकड़ने की आवश्यकता बनी ही रहती है। 'श्रीवचनभूषण' में प्रपत्ति के व्याख्याता लोकाचार्य (१३वीं शती) प्रथम मत के तथा अनेक ग्रंथों के लेखक वेदांतदेशिक द्वितीय मत के संस्थापक हैं।

(३) तत्त्वत्रय

(अ) चित्—रामानुज के अनुसार पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित् तथा ईश्वर। चित् से अभिप्राय है भोक्ता जीव से, अचित् का जगत् से तथा ईश्वर का सर्वांतर्यामी से है। यह कल्पना श्वेताश्वतर उपनिषद् के भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरित ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित है[१]। चित् देह-इंद्रिय-मन-प्राण-बुद्धि से विलक्षण, अजड़, आनंदरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिंत्य, ज्ञानाश्रय है[२]। जीव के अणुत्व के ऊपर समस्त वैष्णव दर्शन का आग्रह है। जीव की उत्क्रांति (शरीर से निर्गमन) तथा परिमाण का श्रुति ग्रंथों में उल्लेख उसके अणुत्व का प्रमापक है। कठ के अनुसार शरीर के मध्य में निवास करनेवाला आत्मा अंगुष्ठमात्र है[3], जो श्वेताश्वतर के प्रमाण पर बाल के अग्रभाग का दश सहस्रतम अंश है[४]। जीव नियम्य है तथा ईश्वर नियामक है। जीव में एक विशेष गुण शेषत्व विद्यमान रहता है अर्थात् वह अपने कार्यकलापों के लिये ईश्वर पर सर्वतोभावेन अवलंबित रहता है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र अवश्य है, परंतु बिना ईश्वर की सहायता के वह कर्म कर नहीं

१ भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा।
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत॥ —श्वे० उ० १।१२ (चौखंभा संस्कृत सीरीज, काशी)

२ तत्त्वत्रय पृ० ५।

3 अंगुष्ठमात्रः पुरुषोमध्यआत्मनि तिष्ठति॥ —कठ०।

४ श्वे० उ०।

सकता। क्षेत्र में जैसा बीज बोया जायगा, वैसा ही फल उत्पन्न होगा, परंतु सब बीजों को मेघ की अपेक्षा बनी रहती है। ठीक इसी प्रकार जीवों को भी ईश्वर की अपेक्षा रहती है। ईश्वर को 'कर्माध्यक्ष' कहने का यही स्वारस्य है। अद्वैतवाद की जीव-कल्पना से इसका पार्थक्य नितांत स्पष्ट है। अद्वैती आत्मा को एक तथा विभु मानते हैं। इसके विपरीत विशिष्टाद्वैती जीव को अनंत, एक दूसरे से एकांत भिन्न तथा अणु मानते हैं।

(आ) ईश्वर - विशिष्टाद्वैत मत में जीव और जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतंत्र पदार्थ हैं परंतु ये दोनों ईश्वर के अधीन रहते हैं। ईश्वर अपने अंतर्यामी रूप से समस्त विश्व में—जीव तथा जड़ के अंतस्तल में—विराजमान रहता है। रामानुज मत में जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना एकदम असंभव है और इसीलिये ईश्वर सगुण ही हो सकता है, निर्गुण नहीं। ईश्वर संख्यातीत दिव्य गुणों का आधार है। वह प्राकृत गुणरहित, कल्याण गुण-गुणाकर, अनंत ज्ञानानंद स्वरूप, ज्ञान शक्ति आदि कल्याण गुण-विभूषित है। वह जगत् का उपादान कारण भी है तथा निमित्त कारण भी। चित् (चेतन जीव, *गीता की परा प्रकृति*) तथा अचित् (जड़ प्रकृति, गीता की अपरा प्रकृति) से विशिष्ट ईश्वर जगत् का उपादान कारण होता है, संकल्प-विशिष्ट ईश्वर निमित्त कारण है। वह सर्वेश्वर, सर्वशेषी, कर्मों से आराध्य, सकल कर्मों का फलदाता तथा सर्वाधार है। यह सारा जगत् उसका शरीर है। वह जीवों का अंतर्यामी तथा स्वामी है।

भक्तों के अनुरोध से वह पाँच मूर्तियाँ धारण करता है—अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अंतर्यामी। ये पाँचों ईश्वर के क्रमशः उत्कर्षशील रूप हैं। शास्त्रीय दृष्टि से स्थापित देवमूर्ति ईश्वर का 'अर्चावतार' है। 'विभव' से तात्पर्य मत्स्य, कच्छप आदि चौबीस अवतारों से है। 'व्यूह' के अंतर्गत वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चतुर्व्यूहों की सत्ता मानी जाती है। 'सूक्ष्म' से अभिप्राय परब्रह्म से है और 'अंतर्यामी' का प्रत्येक शरीर में वर्तमान छिन्यभाव से।

ईश्वर तथा चिदचित् के परस्पर संबंध की मीमांसा रामानुज मत में नाना प्रकार से की गई है। *ईश्वर प्रकारी है तथा चिदचित् प्रकार हैं।* रामानुज सत्कार्यवाद के समर्थक तत्त्वज्ञ हैं जिनकी दृष्टि में जीव तथा जगत् के रूप में परिणाम होने पर भी ईश्वर में (श्रुति की मान्यता के अनुसार) किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता। प्रकारी उपादान होता है तथा प्रकार उपादेय (अथवा उपादान कारण का कार्य)। इन दोनों में आत्मा तथा शरीर जैसा संबंध है[1] अर्थात् चित् और

[1] सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम्। —श्रीभाष्य, (२।१।९ सूत्र। (मद्रास)

अचित् ईश्वर के शरीर हैं जो आत्मा के समान समस्त जगत् में अंतर्यामी रूप से विद्यमान रहता है। दोनों का पार्थक्य शेष-शेषी-संबंध के द्वारा भी समझाया जा सकता है। शेषी का अर्थ है मुख्य तथा शेष का अर्थ है सहकारी, तदधीन या परतंत्र। ईश्वर स्वतंत्र सत्ताधारी होने से 'शेषी' तथा अन्य दोनों पदार्थ तदधीन होने के कारण 'शेष' पद वाच्य होते हैं। प्रकार तथा प्रकारी 'अपृथक् सिद्ध' पदार्थ हैं अर्थात् उनकी पृथक् सत्ता कभी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उन दोनों का विच्छेद सर्वथा असंभव है। ब्रह्म (विशेष्य) का जीव तथा जगत् (विशेषणों) से पृथक् वर्णन नहीं किया जा सकता। 'निर्गुण' ब्रह्मविषयक श्रुतियों का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है। 'एकमेवा द्वितीयम्' श्रुति का तात्पर्य अव्याकृत ब्रह्म से है जिसमें प्रलयकाल में जीव और जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर निवास करते हैं। 'विशिष्टाद्वैत' नामकरण का भी यही स्वारस्य है कि जड़ तथा चेतन से विशिष्ट ईश्वर की अद्वैतता है[1], क्योंकि ईश्वर इन दोनों शरीरस्थानीय गुणों से कभी विरहित नहीं हो सकता।

जीव ईश्वर का अंश माना जाता है, परंतु इससे ईश्वर में खंडभाव की कल्पना नहीं उत्पन्न होती। ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों है। ब्रह्म अखंड है। अतः 'अंश' का अर्थ 'स्थान घेरनेवाला टुकड़ा' नहीं है, परंतु जैसे प्रकाश सूर्य का अंश है और गुण गुणी का, वैसे ही जीव भी ईश्वर अंश है।

(इ) अचित्—इससे अभिप्राय जड़ प्रकृति से है। लोकाचार्य के मत में अचित् तत्त्व के तीन भेद होते हैं—

(क) सत्त्व शून्य = काल। काल प्रकृति से पृथक् माना गया है, परंतु ब्रह्म से वह अलग नहीं है। काल की स्वतंत्र सत्ता है तथा प्रकृति के समान वह भी परिणामशील पदार्थ है। घंटा, मिनट, क्षण, पल आदि उसके परिणाम हैं।

(ख) मिश्र सत्त्व = प्रकृति, माया का या अविद्या। तम तथा रजस् का मिश्रण होने से यह तत्त्व प्राकृतिक परिणाम का या सृष्टि का कारण होता है।

(ग) शुद्ध सत्त्व = नित्य विभूति, त्रिपाद्विभूति[2]। इस तत्त्व की कल्पना रामानुज दर्शन का वैशिष्ट्य है। इस द्रव्य में अन्य गुणों का रंचक मात्र भी मिश्रण नहीं है। यह नित्य,

[1] द्रष्टव्य—वेदान्ततत्त्वसार। (मद्रास)

[2] द्र०—सर्वदर्शन सं०, रामानुज दर्शन का वर्णन, पृ० ४४ (आनंदाश्रम सं०)

ज्ञानानंद का जनक, निरवधि तेजोरूप द्रव्य विशेष है जिससे ईश्वर, नित्य पुरुषों तथा मुक्त पुरुषों के शरीर का तथा स्वर्गादि का निर्माण होता है। आत्मा बिना शरीर के किसी भी अवस्था में अवस्थित नहीं रह सकता। अतः मुक्तावस्था में भी जीवों को इसी शुद्ध सत्त्व से निर्मित शरीर की प्राप्ति होती है। शुद्ध सत्त्व को लोकाचार्य जड़ मानते हैं, परंतु वेंकटनाथ आदि आचार्य इसे चेतन पदार्थ मानते हैं। इसके मूल में उनकी विभिन्न सांप्रदायिक कल्पनाएँ हैं।

(४) पदार्थ विभाग—ऊपर का विभाजन 'तत्त्वत्रय' के आधार पर किया गया है। वेदांतदेशिक के अनुसार पदार्थ विभाजन की पद्धति इससे भिन्न है[२]। तत्त्व के दो प्रकार होते हैं—द्रव्य और अद्रव्य। द्रव्य के अंतर्गत जड़ और अजड़ का विभाजन होता है। प्रकृति तथा काल भेद से जड़ का द्वैविध्य तथा प्रत्यक् (चेतन) और पराक् भेद से अजड़ का द्वैविध्य होता है। प्रत्यक् (चेतन) के भीतर ईश्वर तथा जीव की गणना है तथा पराक् के भीतर नित्यविभूति तथा धर्मभूत ज्ञान की गणना है। पदार्थ-विभाग-बोधक तालिका से यह विषय स्पष्ट हो जायगा :

- द्रव्य
  - जड़
    - प्रकृति
    - काल
  - अजड़
    - प्रत्यक्
      - जीव
        - बद्ध
          - बुभुक्षु
          - मुमुक्षु
        - मुक्त
      - ईश्वर
        - पर
        - विभव
        - व्यूह
          - वासुदेव
          - संकर्षण
          - प्रद्युम्न
          - अनिरुद्ध
        - अंतर्यामी
        - अर्चा
    - पराक्
      - नित्यविभूति
      - धर्मभूतज्ञान

(५) साधन तत्त्व—श्रीवैष्णव मत में भगवान् की दास्य भक्ति ही जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वथा समर्थ मानी गई है परंतु भक्ति का उदय होने के लिये साधक को स्वकर्मों के अनुष्ठान से हृदय को शुद्ध कर लेने की आवश्यकता होती है। भगवान् का प्रीतिपूर्वक ध्यान करना ही भक्ति है (स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिः)। 'भगवत् कैंकर्य'—भगवान् का दास्य—से ही जीवों को भगवत्सान्निध्य प्राप्त होता है जिससे वह उनकी चिरसेवा से आनंद का भागी बनता है। भक्ति का चरम अवसान 'प्रपत्ति' में होता है। 'प्रपत्ति' का अर्थ है आत्मसमर्पण। प्रपत्ति के तीन आकार या विशेषण हैं—(१) अनन्यशेषत्व (भगवान् का ही दास होना), (२) अनन्य साधनत्व (एकमात्र भगवान् को ही तत्प्राप्ति में उपाय मानना), (३) अनन्य भोग्यत्व (अपने को भगवान् के द्वारा ही योग्य मानना)। प्रपत्ति भी मुक्ति में साक्षात् रूप से कारण नहीं होती। प्रपत्ति भगवान् की कृपा को जाग्रत करती है और वही कृपा जीव के मुक्ति पाने में कारण बनती है। फलतः भगवदनुग्रह की सिद्धि के लिये उपासना की आवश्यकता होती है। गुरु भक्त तथा भगवान् की कड़ी को जोड़नेवाली शृंखला है। वह माध्यम का कार्य करता है। सीता को राम के पास पहुँचाने का कार्य मारुतनंदन का ही होता है, उसी प्रकार जीव को भगवान् के पास पहुँचाने का काम गुरु का ही है। रामानुज मत में मुक्ति की भावना अन्य दर्शनों की अपेक्षा भिन्न तथा स्वतंत्र है। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा मत में मोक्ष दशा में ज्ञान तथा आनंद की सत्ता नहीं रहती। रामानुज मत में उस दशा में शरीर, ज्ञान तथा आनंद सबकी सत्ता रहती है, परंतु मुक्तों का शरीर प्राकृत तत्त्व की रचना न होकर 'नित्य विभूति' का कार्य होता है। इस अप्राकृत शरीर से संपन्न होनेवाला जीव नित्यकाल तक भगवान् की सेवा तथा सान्निध्य का आनंद उठाता है। आजकल भारतीय समाज रामानुज मत की ही विचारधारा का अभ्यासी है जिसमें कर्म के साथ ज्ञान का और भक्ति के साथ प्रपत्ति का मधुर सामरस्य होता है।

(६) हिंदी साहित्य में परिणति—रामानुज के सिद्धांतों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर श्री रामानंद स्वामी के द्वारा विशेष रूप से पड़ा है। 'रामार्चनपद्धति'[१] की गुरुपरंपरा के अनुसार रामानंद स्वामी का आविर्भावकाल रामानुज की १४वीं पीढ़ी में होने के कारण १५वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। रामावत संप्रदाय के मूल प्रवर्तक श्री रामानंद जी का दार्शनिक सिद्धांत कतिपय लघु परिवर्तनों के साथ विशिष्टाद्वैत ही था। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' के निःसंदिग्ध

[१] श्री वैष्णवमताब्जभास्कर के साथ प्रकाशित (संपादक बलभद्रदास, प्रकाशक श्री स्वामी रामकृष्णानंद जी, जयपुर)।

प्रामाण्य पर स्वामी जी के विशिष्टाद्वैती मत का पूर्ण परिचय हमें मिलता है[1]। अंतर इतना है कि श्रीवैष्णवों के द्वादशाक्षर मंत्र के स्थान पर रामानंदी (वैरागी) वैष्णवों को रामषडक्षर मंत्र (ॐ रां रामाय नमः) ही अभीष्ट है[2]। ध्यान विधान भी तत्त्वत्रय का ही प्रतीक है। सीता तथा लक्ष्मण के साथ श्री रामचंद्र के ध्यान-विधान में सीता प्रकृतिस्थानीय (अचित्), लक्ष्मण चित् स्थानीय तथा राम ईश्वर-स्थानीय हैं। प्राप्य वस्तु का निर्देश, साधन तत्त्व का वर्णन रामानंदी संप्रदाय में श्री वैष्णवों के ही अनुरूप है। गुरु के उपदेश से इष्टदेव के चरणों में कर्मों का न्यास, मृत्यु के अनंतर अर्चिरादि मार्ग से गमन, प्रकृतिमंडल की सीमा पर स्थित 'विरजा' नदी का पार जाना तथा वैकुंठरूपी श्री अयोध्या में श्री रामचंद्र का कैंकर्य[3]–रामानंदी वैष्णवों के ये समस्त तथ्य सामान्य परिवर्तनों के साथ श्रीवैष्णवों से ही गृहीत हैं। उत्तरी भारत में रामानंदी वैष्णवों के द्वारा विरचित विशाल साहित्य के भीतर रामानुज दर्शन का प्रभाव आलोचकों की सूक्ष्म दृष्टि में अवश्यमेव लक्षित होता है।

५. द्वैताद्वैत मत

वेदांत इतिहास में यह मत नितांत प्राचीन है। इसके अनुसार ब्रह्म तथा जीव का संबंध व्यवहारदशा में द्वैत अर्थात् भेद है, परंतु परमार्थदशा में वह अद्वैत अर्थात् अभिन्न है। निंबार्क इस मत के प्रधान व्याख्याता माने जाते हैं, परंतु उनसे भी प्राचीन आचार्यों का संबंध इस सिद्धांत से मिलता है। ब्रह्मसूत्र के कर्ता बादरायण से भी पूर्व आचार्य औडुलोमि तथा आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। औडुलोमि के मत में जीव ब्रह्म का भेदाभेद अवस्था—विशेष से जन्य है[4]। संसार दशा में दोनों में भिन्नता है, क्योंकि जीव नाना है और ब्रह्म एक; परंतु मुक्त दशा में दोनों में अभिन्नता ही विराजती है, क्योंकि उस समय दोनों चैतन्यरूप हैं। आश्मरथ्य के मत में इस भेदाभेद का कारण कुछ भिन्न ही है। कारण रूप से जीव तथा ब्रह्म की एकता है परंतु कार्यरूप में भेद है, सुवर्ण कुंडल के समान। कारण रूप से सुवर्ण एक ही पदार्थ है परंतु कार्यरूप में कुंडल, कटक आदि से वह भिन्न प्रतीत होता है[5]।

[1] द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भा० सं०, पृ० २५१–५६ (काशी, सं० २०१०)

[2] ,, वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लोक १० (जयपुर से प्रकाशित)

[3] ,, वही, श्लोक ६५ तथा १८७।

[4] ,, ब्रह्मसूत्र १।४।२१।

[5] द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र १।४।२०।

शंकराचार्य से पूर्ववर्ती आचार्यों में भर्तृप्रपंच भी इसी सिद्धांत के पोषक थे[1]। शंकरोत्तर युग में आचार्य भास्कर तथा रामानुज के गुरु यादवप्रकाश भेदाभेद-वादी मत के प्रधान उन्नायक थे। भास्कर (अष्टम शतक) के मत में ब्रह्म की दो शक्तियाँ होती हैं—भोग्य शक्ति जो आकाश आदि अचेतन जगत् रूप में परिणत होती है तथा भोक्तृशक्ति जो चेतन जीव में विद्यमान रहती है। भास्कर ब्रह्म को परिणामी मानते हैं परंतु इस परिणाम से ब्रह्म के स्वभाव में किसी प्रकार की च्युति नहीं होती। अच्युत स्वभाव वाले आकाश से वायु के उदय के समान ही ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है[2]। यादवप्रकाश रामानुज के गुरु माने जाते हैं जिससे उनका समय ११वें शतक का अंतिम भाग प्रतीत होता है।

द्वैताद्वैत मत की इसी परंपरा में निंबार्क का प्रसिद्ध मत आता है। रामानुज के समान ही इनके मतानुसार भी तीन ही तत्त्व होते हैं—चित्, अचित् तथा ईश्वर। जीव तथा जगत् ईश्वर के ऊपर सदा आश्रित रहते हैं और इस दृष्टि से वे ईश्वर से अभिन्न हैं (अद्वैत)। परंतु स्वरूप की दृष्टि से जीव तथा जगत् ईश्वर से एकदम भिन्न हैं (द्वैत)। इन दोनों मतों में समन्वय उपस्थित करने के कारण ही निंबार्क द्वैताद्वैत के अनुयायी हैं। तत्त्वत्रय के समर्थक होने पर भी रामानुज और निंबार्क में मूलतः भेद है। रामानुज का आग्रह अद्वैत की ओर अधिक है परंतु निंबार्क द्वैत और अद्वैत दोनों को समान महत्त्व प्रदान करते हैं।

(१) तत्त्वत्रय

(अ) चित् पदार्थ—चित् तत्त्व जीव है। जीव ज्ञानस्वरूप है किंतु वह ज्ञान का आश्रय (अर्थात् कर्ता) भी है। जीव एक ही समय में ज्ञान-स्वरूप तथा ज्ञानाश्रय उसी प्रकार है जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है तथा प्रकाश का आश्रय भी है। इस प्रकार ज्ञान धर्म-धर्मिभाव से भिन्न माना जाता है, एकरूप नहीं। जीव कर्ता है सांसारिक दशा में तथा मुक्त दशा में भी। शंकर जीव का कर्तृत्व मुक्त दशा में नहीं मानते, परंतु निंबार्क इस विषय में उनसे सहमत नहीं हैं। श्रुति ही इसका प्रमाण है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (कर्मों को करता हुआ पुरुष शत वर्षों तक जीने की इच्छा करे—ईशावास्य उप०) आदि श्रुतिवाक्य जीव को संसार दशा में कर्ता बतलाते हैं, उसी प्रकार 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' 'शांत उपासीत' आदि

[1] द्रष्टव्य—ब्र० सू० के शंकरभाष्य में इनके मत का बहुशः खंडन (२।२।५, १।४।२, ३।४।२, ५।३।३०)।

[2] द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भा० द०, पृ० ४८८–४९०।

श्रुतिवाक्य मुक्तदशा में जीव के कर्तृत्वाभिव्यंजक हैं[१]। जीव ज्ञाता तथा कर्ता ही नहीं, प्रत्युत भोक्ता भी है, परंतु वह इन सब बातों के लिये ईश्वर पर आश्रित रहता है। वह निम्यत्व उसका एक व्यावर्तक गुण है। ईश्वर नियंता है, जीव नियम्य है। यह जीव का गुण मुक्त दशा में भी विद्यमान रहता है। परिमाण में जीव अणु तथा नाना है। हरि अंशी है और जीव उसका अंश है। यहाँ 'अंश' का अर्थ अवयव या विभाग नहीं है, प्रत्युत 'शक्ति रूप' है[२]। सर्वशक्तिमान् होने से हरि अंशी तथा उसका शक्तिरूप होने से जीव अंश है। अनंतशक्तिमान् हरि अपनी अनंत शक्तियों के द्वारा अपने को अभिव्यक्त किया करते हैं और यह शक्ति ही जीव-रूपा है। इसीलिये जीव के ऊपर 'अंश' होने की बात घटित होती है।

जीव मुख्यतया दो प्रकार का होता है—मुक्त तथा बद्ध। मुक्तों में भी दो प्रकार होते हैं—(१) नित्यमुक्त (भगवान् के पार्षद वर्ग) तथा (२) मुक्त (साधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त)। बद्ध जीव भी मुमुक्षु तथा बुभुक्षु भेद से दो प्रकार के होते हैं जिनमें पहिला वर्ग मुक्ति का इच्छुक होता है, परंतु दूसरा वर्ग भोग का ही केवल अभिलाषुक होता है। जीव के अज्ञान के दूरीकरण में भगवान् की कृपा ही मुख्य हेतु है।

(आ) अचित् तत्त्व—चेतनाहीन पदार्थ जो तीन प्रकार का माना गया है—

(क) **प्राकृत**—महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से जन्य पदार्थ। यह भेद सांख्यों के समान ही है, परंतु यहाँ प्रकृति स्वतंत्र न होकर ईश्वर के अधीन होती है।

(ख) **अप्राकृत**—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत् जैसे भगवान का लोक आदि। यह रामानुजों के 'त्रिपाद विभूति' के समान है जो 'परमे व्योमन्' 'परम पद' आदि नामों से श्रुति में उक्त है।

(ग) **काल**—जगत् के समस्त परिणामों का जनक अचेतन तत्त्व। जगत् का नियामक होने पर काल ईश्वर के लिये नियम्य है। स्वरूपतः नित्य होने पर भी कार्यतः अनित्य है।

१ द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र २।१।२२ पर 'पारिजात सौरभ' (चौखंभा, काशी)

२ अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः। ब्र० सू० २.३।४२ पर 'कौस्तुभ'।

(इ) ईश्वर—रामानुज के समान ही सगुण ब्रह्म ईश्वर के नाम से अभिहित किया गया है। यह समस्त दोषों से रहित होता है तथा ज्ञान, बल आदि अशेष कल्याणगुणों का निधान होता है[1]। इस संसार में जो कुछ भी दृष्टिगोचर है अथवा श्रुतिगोचर है उसके भीतर तथा बाहर सर्वत्र व्याप्त होकर नारायण का निवास है[2]। ईश्वर चित् तथा अचित् का नियामक तत्त्व है अर्थात् वह सर्वथा स्वतंत्र है तथा जीव-जगत् परतंत्र होकर सर्वदा उसके अधीन निवास करते हैं। अल्पज्ञ तथा अणुपरिमाण जीव सर्वज्ञ तथा विभु हरि से सर्वथा भिन्न है, परंतु वृक्ष से पत्र, प्रदीप से प्रभा, गुणी से गुण तथा प्राण से इंद्रिय के समान न तो जीव की पृथक् स्थिति रहती है और न पृथक् प्रवृत्ति ही। अतएव जीव ब्रह्म से अभिन्न भी रहता है।

निंबार्क ईश्वर को श्रीकृष्णचंद्र के रूप में मानते हैं। श्रीकृष्ण के चरणारविंद का आश्रय छोड़कर जीव के लिये कोई गति नहीं है। युगल उपासना में राधारानी की उपासना पर आग्रह है। सहस्रों सखियों से सेविता तथा भक्तों की सकल कामनाओं की दात्री वृषभानुनंदिनी भगवान् के वाम अंग में विराजमान रहती हैं। श्रीकृष्ण तथा श्री का संबंध अविनाभाव का सूचक है। वेदों में 'श्री' के दो रूपों का वर्णन है—श्री तथा लक्ष्मी[3]। इनमें श्री का आविर्भाव वृंदावन लीला में 'राधा' के रूप में तथा लक्ष्मी का आविर्भाव 'रुक्मिणी' के रूप में माना जाता है। राधा तथा कृष्ण में 'ऋक्-परिशिष्ट' अभेद का प्रतिपादन करता है और दोनों में भेद देखनेवाले साधक को मुक्ति का निषेध करता है[4]। निंबार्क मत का स्पष्ट प्रतिपादन है कि राधा श्रीकृष्ण की स्वकीया थी। अवतारलीला में उनका श्रीकृष्ण के साथ विवाह का वर्णन ब्रह्मवैवर्त तथा गर्ग संहिता आदि मान्य ग्रंथों में किया गया है। राधा के लिये 'कुमारिका' शब्द का प्रयोग अविवाहितासूचक न होकर अवस्थासूचक है। कुमारी पद किशोरावस्था का सूचक है जो उपासना के लिये सर्वथा उचित मानी गई है[5]। इस प्रकार कृष्णाश्रयी वैष्णव संप्रदायों में निंबार्क संप्रदाय निःसंदेह प्राचीनतम है। राधाकृष्ण की भक्ति से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। रामानुज मत के समान यह भक्ति ध्यान या उपासनारूप नहीं है, प्रत्युत

[1] दशश्लोकी, श्लोक ८। (वृन्दावन)

[2] दशश्लोकी, श्लोक ५।

[3] श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे। —पुरुष सूक्त।

[4] राधया सहितो देवो माधवेन च राधिका।
योऽनयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति॥
—ऋक् परिशिष्ट। (स्वाध्याय मंडल, औंध)

[5] द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भा० सं०, पृ० ३४४–३५०।

अनुराग या प्रेमरूपा है। जितने साधन हैं वे भगवान् की कृपाप्राप्ति के सहायक होते हैं। भगवान् की कृपा से ही जीव का परम कल्याण होता है। भक्ति से भगवान् का साक्षात्कार होता है—यही मुक्ति है जो शरीर दशा में संभव नहीं। इस प्रकार अन्य वैष्णवों के समान ही इस मत में भी 'जीवन्मुक्ति' मान्य नहीं है।

(२) हिंदी साहित्य में निंबार्की काव्य—हिंदी साहित्य के मध्ययुग में निम्बार्की कवियों ने व्रजभाषा के माध्यम से अपना अपूर्व काव्यकौशल प्रदर्शित किया है। आरंभ में इस संप्रदाय के आचार्यों ने देववाणी के द्वारा ही अपने भावों तथा विचारों को प्रकट किया था परंतु मध्ययुग में इन आचार्यों ने समय की पुकार सुनी और जन साधारण के हृदय तक अपने भक्तिस्निग्ध भावों को पहुँचाने के लिये इन्होंने व्रजभाषा के द्वारा अपनी कोमल भावनाएँ अभिव्यक्त कीं। अष्टछाप के चकाचौंध के कारण आधुनिक आलोचकों ने निंबार्कीय कवियों की विशिष्टता की ओर से अपनी आँखें मींच ली हैं। परंतु यदि वे अपने को उनके प्रभाव से उन्मुक्त कर अपनी आँखें खोलने का प्रयत्न करेंगे तो उन्हें इन कवियों के जौहर जरूर खुलेंगे, यह मेरी निर्भ्रांत धारणा है।

निंबार्क मत के कवियों के काव्यों में दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन अपेक्षाकृत न्यून है परंतु साधनासंबंधी सिद्धांत बड़ी ही सुंदरता तथा प्रामाणिकता के साथ उनके काव्यों में अपनी अभिव्यक्ति पा रहे हैं। राधाकृष्ण की निकुंज लीला (कर्णिका लीला) तथा व्रज लीला (आवरण लीला)—इन उभयविध लीलाओं की सेवा संप्रदाय को स्वीकृत है। युगल उपासना का तत्व वैदिक है। यजुर्वेद के (अ० ३१।१८) में आह्लादिनी शक्तिरूपा 'श्री जी' और ऐश्वर्य शक्तिरूपा 'लक्ष्मी जी' इन दोनों देवियों के साथ पुरुषोत्तम भगवान की उपासना का स्पष्ट निर्देश इस तत्त्व के वैदिक तत्त्व का स्पष्ट परिचायक है। राधा की भी व्रजलीला की अपेक्षा निकुंजलीला गोप्य, रहस्यमय तथा निखिल-रस-संदोह मानी जाती है[1]। फलतः निंबार्की कवि का आदर्श यही निकुंजलीला होती है। उधर वल्लभ संप्रदाय में कृष्ण की बाललीला पर सातिशय आग्रह है। साधना-गत दृष्टिभेद होने से दोनों मतों के कवियों की कल्पना तथा रचना में पार्थक्य होना स्वाभाविक है। निंबार्क कवि राधा कृष्ण की ललित शृंगारीलीला का एकमात्र उपासक है तो वाल्लभ कवि बालकृष्ण की माधुरी पर रीझता है। इसीलिये जहाँ वाल्लभ कवि के काव्य में वात्सल्य रस का वर्णन, बालकृष्ण की कोमल लीलाओं की अभिव्यंजना, गोप गोपियों के साथ नैसर्गिक सख्य की भावना अपने पूर्ण सौंदर्य के साथ लक्षित होती है, वहाँ निंबार्की कवि का

[1] द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भा० सं० (लीला तत्त्व) पृ० ६४६-६५६।

राधाकृष्ण की अष्टयाम सेवा का वर्णन और निकुंजलीला का मधुमय विन्यास हिंदी साहित्य में एकदम बेजोड़ है। वृंदावन तथा उसके परिकर—यमुना, कदंब, ग्वालबाल आदि—की रसमयी स्निग्धता का पूर्ण प्रतीक है निंबार्कीय कवियों का काव्य। हिंदी के सुपरिचित अनेक कवि जैसे बिहारी, घनानंद, रसिक गोविंद, रसखान आदि निंबार्क मतानुयायी वैष्णव कवि हैं। इनके अतिरिक्त श्रीभट्ट, हरिव्यास देव, रूप रसिक देव, वृंदावन देव, गोविंद देव, नागरीदास जी तथा शीतलदास जी आदि अनेक भक्त कवियों ने अपने कमनीय काव्यों के द्वारा व्रजमाधुरी का सर्वस्व प्रस्तुत किया है। इन कवियों में श्रीभट्ट का जुगलसतक तथा हरिव्यास जी का 'महा-बानी' तो निंबार्कीय हिंदी साहित्य के अनुपम रत्न हैं। जुगलसतक अल्पकाय होकर भी महार्घ्य है,[1] परंतु 'महाबानी' तो परिमाण तथा काव्य सौंदर्य दोनों में व्रजभाषा का सचमुच शृंगार ही है[2]।

कतिपय उदाहरणों से पूर्वोक्त कथन की प्रामाणिकता तथा व्यापकता सिद्ध करने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है :

स्वामी हरिदास जी (रचनाकाल १५८० विक्रमी के आसपास)

काहू को बस नाहिं तुम्हारी कृपा तें
सब होय श्री बिहारी बिहारिणी।
और मिथ्या प्रपंच काहे को भाषियै
सो तौ है हारिन॥
जाहि तुमसौं हित तासौं तुम हित करौ
सब सुख कारिन।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा
कुंज बिहारी प्राणन के आराधिन॥

इस पद में स्वामी हरिदास जी ने मत के मौलिक तत्त्व का प्रतिपादन किया है कि भगवत्प्राप्ति भगवान् के ही अनुग्रहैकलभ्य होती है अर्थात् भगवान् की कृपा ही इस जगत् के सब कार्यों की सिद्धि में जागरूक रहती है। उसे छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ कार्यसाधक नहीं होता।

स्वामी श्री बिहारिणी देव जी (र० का० १६४० विक्रमी)

प्रभु जू हौं तेरा तू मेरा।

[1] द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय के प्राक्कथन के साथ ग्रंथ का प्रामाणिक संस्करण, वृंदावन, सं० २००६।

[2] निंबार्क साहित्य के लिये द्रष्टव्य—(क) बिहारीशरण जी द्वारा संकलित 'निंबार्क माधुरी', वृंदावन सं० १९६७, (ख) बलदेव उपाध्याय : 'भागवत संप्रदाय' पृ० ३३२–३४।

राजी खसम कहा करै काजी, लोक बकौ बहुतेरा ॥१॥
हौं तू एक अनेक गनै गुन, दोष न किसहूँ केरा।
जलतरंग लौ सहज समागम, निर्मल साँझ सवेरा ॥२॥
कोइ स्वामी कोइ साहब सेवक, कोइ चाकर कोइ चेरा।
बिना ममत्व एकत्व न ऐसा जग मैं भक्त घनेरा ॥३॥
तन मन प्रान प्रान सौं सन्मुख, अब न फिरै मन फेरा।
'बिहारिदास' हरिदास नाम निज, प्रेम निबेरा झेरा ॥४॥

इस पद में निंबार्क मत के मूल दार्शनिक सिद्धांतों का, जीव तथा ईश के परस्पर संबंध आदि का वर्णन बड़ी ही प्रौढ़ता से किया गया है। जीव अनेक हैं, परंतु ईश एक। द्वैताद्वैत के एकानेक की मीमांसा जलतरंग के सुंदर दृष्टांत के द्वारा भली भाँति की गई है। जल एक ही होता है, परंतु उसमें कारणवश नाना तरंगें उठकर उसे आंदोलित किया करती हैं। जल के समान ही ईश एक अद्वैत रूप है, परंतु तरंग के तुल्य जीव अनंत होते हैं। बंध की निवृत्ति का एकमात्र साधन प्रेमा भक्ति ही है। इस पद के अंतिम शब्द 'प्रेम निबेरा झेरा' इसी मूल तत्त्व के द्योतक हैं।

श्री परशुराम देवाचार्य (र० क० १७वीं शती वि०)

हरि प्रीतम सौं प्रेम को नित नेम न छूटै।
मैं जतन जतन करि प्रीति सौं बाँध्यो सुन खूटै ॥१॥
अति नीकै करि जो लग्यौ सो नेह न तूटै।
चित बसि चिंताहरनि कै सुबलु करि न बिछूटै ॥२॥
परम चैन मंगल निधान अचवत न अखूटै।
ता अमी सिंधुसंगति सदा मिलि कैं रस घूटै ॥३॥
हरिदसन सदा सुख को निवास जस जरमरि जो जूटै।
कंचन गिरि भीतर बसै सु पाषाण न लूटै ॥४॥
अति सनेह हरि पीव सौं मन मिल्यौ न फूटै।
परसा प्रभु आनंदकंद तजि को करि कूटै ॥५॥

इस पद में निंबार्कीय साधना के मौलिक तथ्यों का प्रतिपादन कर श्री परशुराम देव ने अपने मत का वैशिष्ट्य दिखलाया है। इसमें कांत भावना की भक्ति का निदर्शन तथा सविशेष सगुण ब्रह्म का स्पष्ट प्रतिपादन है। हरिसदन को सुख का निधान मानना मुक्त पुरुषों की सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वक निरतिशय सुखप्राप्ति का भव्य प्रतीक है। भगवान् को अमृतसागर की उपमा देकर कवि ने श्रीहरि के आनंदसंदोह का पूर्ण संकेत किया है। हरि प्रीतम से मिला हुआ मन कभी नहीं फूटता, यह कथन मुक्ति की नित्यता का स्पष्ट परिचायक है। फलतः इस पद का रहस्य उद्घाटन निंबार्कीय साधना पद्धति के परिचय के बिना नहीं हो सकता।

श्री भट्ट जी (रचनाकाल १७ वीं शती)

> संतो सेव्य हमारे श्री पियप्यारे वृंदा विपिन विलासी ।
> नंदनँदन वृषभानु नंदिनी चरण अनन्य उपासी ॥
> मत्त प्रणय वश सदा एक रस विविध निकुंज निवासी ।
> जै श्रीभट्ट जुगल वंसी वट, सेवत मूरति सब सुखरासी ॥

इस पद में निंबार्कीय मत के सेव्य तत्त्व का विशद प्रतिपादन है। नंदनंदन तथा वृषभानुनंदिनी की प्रेमरस में विभोर रहस्यमय निकुंज लीला ही साधकों की उपासना का चरम अवसान है। युगल तत्त्व की उपासना का यह संकेत निंबार्क मत के सेवातत्त्व का भव्य प्रतीक है।

६. शुद्धाद्वैत मत

उपनिषदों के ऊपर आधारित इस मत का विपुल साहित्य आज भी उपलब्ध है। इसके मुख्य प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे और इसके मध्ययुगी प्रतिनिधि थे वल्लभाचार्य जिन्होंने विष्णुस्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर आरूढ़ होकर उनके सिद्धांत का प्रचार किया। भारत के आध्यात्मिक इतिहास में विष्णुस्वामी एक विचित्र पहेली हैं जिनके चरित, काल तथा मत के रहस्यों का उद्घाटन आज भी गंभीर अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

वल्लभाचार्य (१५३५ वि०–१५८७ वि०) का दार्शनिक मतवाद शुद्धाद्वैत तथा भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित किया जाता है। वृंदावन की पुण्यभूमि में पनपनेवाला यह दूसरा वैष्णव संप्रदाय (रुद्र संप्रदाय) है जिसने उत्तर भारत, राजस्थान और गुजरात को कृष्णभक्ति की धारा से आप्यायित तथा आप्लावित कर दिया है। मध्ययुगी हिंदी साहित्य के ऊपर तो इस मत का बहुत ही विशेष प्रभाव पड़ा था। 'अष्टछाप' के ललित काव्यों का दार्शनिक दृष्टिकोण शुद्धाद्वैती तथा व्यावहारिक दृष्टि पुष्टिमार्गीय है। इस मत की सुंदर उपासना से प्रभावित अष्टसखा कवियों के काव्य व्रजभाषा साहित्य की अनमोल निधि हैं। वल्लभाचार्य का पुष्टिसंप्रदाय वैष्णव संप्रदायों में साहित्य निर्माण की, व्यापक प्रचार की तथा वैष्णवता की दृष्टि से अनुपम है। आचार्य प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—को ही अपने मत के लिये उपजीव्य नहीं मानते, प्रत्युत श्रीमद्भागवत (समाधि भाषा व्यासस्य) को भी उसी प्रकार उपादेय तथा प्रामाणिक मानते हैं। इसीलिये इस मत के ज्ञान के लिये आचार्य रचित अणुभाष्य (वेदांतसूत्र का भाष्य) के समान भागवत की मार्मिक टीका 'सुबोधिनी' भी नितांत विद्वत्तापूर्ण, प्रामाणिक तथा प्रौढ़ है क्योंकि जीवन की सार्थकता के ये तीन ही सूत्र हैं, वल्लभ का आश्रयण, सुबोधिनी का दर्शन तथा राधिकाधीश का आराधन :

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी ।
नाराधि राधिकानाथो, वृथा तज्जन्म भूतले ॥

(१) सिद्धांत

(**अ**) **शुद्धत्व**—अद्वैत मत से अपनी भिन्नता तथा विशिष्टता दिखलाने के लिये वल्लभ ने अपने सिद्धांत के नाम में अद्वैत से पहिले 'शुद्ध' विशेषण देना आवश्यक समझा। अद्वैत मत में शंकराचार्य ने माया से शबलित ब्रह्म को जगत् का कारण माना है, परंतु इस मत में माया से निर्लिप्त, माया संबंध से विरहित, अतएव 'शुद्ध' ब्रह्म जगत् का कारण माना गया है[1]। ब्रह्म ही की एकमात्र सत्ता इस विश्व में जागरूक है और उसी के परिणाम होने से जीव तथा जगत् की भी सत्ता है।

शंकर ब्रह्म के दो रूप मानकर भी सगुण रूप को हीन तथा निर्गुण रूप को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं, परंतु वल्लभ ने दोनों रूपों को सत्य माना है। ब्रह्म होता है विरुद्ध धर्मों का आश्रय और इसीलिये एक काल में ही वह सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को धारण कर सकता है। वह वस्तुतः ईश्वर है अर्थात् कर्तुम् अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् में पूर्णतया समर्थ है। श्रीकृष्ण ही वह परब्रह्म हैं। उनका शरीर सच्चिदानंदमय है। जब वह अपनी अनंत शक्तियों के द्वारा अपनी आत्मा में आंतर रमण किया करता है, तब वह 'आत्माराम' कहलाता है। और जब बाह्य रमण की अभिलाषा से अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करता है, तब वह पुरुषोत्तम संज्ञा पाता है। इस नाम को वल्लभ ने गीता (१५।१८)[2] के आधार पर ब्रह्म के सर्वोच्च रूप में ग्रहण किया है।

श्रीकृष्ण अपनी अनंत शक्तियों से वेष्टित होकर 'व्यापी वैकुंठ' में नित्य लीला किया करते हैं जो इसीलिये लोकों में सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ लोक है। विष्णु के 'वैकुंठ' लोक के ऊपर इस लोक की स्थिति है तथा 'गोलोक' भी इस व्यापी वैकुंठ का एक अंशमात्र है। शक्तिमान् श्रीकृष्ण अपनी अनंत शक्तियों को वश में करके इस नित्य वृंदावन में अजस्र विराजते हैं। इनमें श्री, पुष्टि, गिरा, कांति आदि बारह शक्तियाँ मुख्य हैं। लीला के लिये जब भगवान् इस भूतल पर लीला परिकर के साथ अवतीर्ण होते हैं, तब व्यापी वैकुंठ गोकुल के रूप में तथा द्वादश शक्तियाँ

[1] माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥
—शुद्धाद्वैत मार्तंड, श्लोक २८। (चौखंभा, काशी)

[2] यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ —गीता १५। १८।

श्री स्वामिनी, चंद्रावली, राधा, यमुना आदि आधिदैविक रूप में प्रकट होती हैं। भगवान् के साथ रसकल्लोल का सद्यः आस्वादन करने के निमित्त ही वैदिक ऋचाएँ गोपिकाएँ के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। वृंदावन-विहार नित्य विहार है। आचार्य की मान्यता[1] है कि श्रीकृष्ण व्रज को छोड़कर एक डग भी कहीं बाहर नहीं जाते और आचार्य के प्रमुख शिष्य सूरदास जी ने भी 'गोपिन मंडल मध्य विराजत निस दिन करत विहार' के द्वारा श्रीकृष्ण के व्रजविहार को नित्य लीला का ही अंग माना है।

(आ) ब्रह्म—ब्रह्म के तीन प्रकारों में आधिभौतिक रूप जगत् है, आध्यात्मिक रूप अक्षर ब्रह्म है तथा आधिदैविक रूप परब्रह्म या पुरुषोत्तम है। अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम में सिद्धांतदृष्ट्या महान् अंतर है। अक्षर ब्रह्म ज्ञानैकगम्य है—ज्ञान ही एकमात्र साधन है, परंतु पुरुषोत्तम की प्राप्ति 'अनन्या भक्ति' के द्वारा ही सिद्ध होती है। गीता का 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता ८।२२) वाक्य ही वल्लभ के सिद्धांत का पीठस्थानीय है। सारांश यह है कि ज्ञानमार्गियों को केवल अक्षर ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। भगवत्प्राप्ति तो भक्तिमार्गीय उपासकों को ही सिद्ध होती है।

(इ) जगत्—वल्लभाचार्य 'अविकृत परिणामवाद' के सिद्धांत को मानते हैं जिसके अनुसार सच्चिदानंद ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगत् में परिणत हो जाता है—ठीक सुवर्ण के समान। कुंडल के रूप में परिणत सुवर्ण में कोई भी विकार लक्षित नहीं होता। जगत् की उत्पत्ति न होकर आविर्भाव होता है। 'जगत्' 'संसार' से नितांत भिन्न होता है। भगवान् के सदंश (सत्-अंश) से उत्पन्न पदार्थ 'जगत्' है परंतु अविद्या के कारण जीव के द्वारा कल्पित पदार्थ 'संसार' है। फलतः ब्रह्म तथा जीव के समान जगत् नित्य है, परंतु संसार अनित्य है। अविद्या की कल्पना होने पर संसार की सत्ता और ज्ञान के उदय होने से संसार का नाश आचार्य को अभिमत है।

(ई) जीव—अग्नि से स्फुलिंग के समान ब्रह्म से जीव का 'व्युच्चरण' (अर्थात् आविर्भाव, उत्पत्ति नहीं) होता है। जीव ब्रह्म के समान ही नित्य है। ज्ञाता, ज्ञान रूप तथा अणु है। सच्चिदानंद के अविकृत सदंश से जैसे जड़ का निर्गमन होता है, उसी प्रकार अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है।

(२) साधन तत्त्व—साधन मार्ग में वल्लभाचार्य 'पुष्टिमार्ग' के प्रवर्तक हैं। पुष्टि श्रीमद्भागवत का एक पारिभाषिक शब्द है[2] जिसका अर्थ है—अनुग्रह,

[1] वृंदावन परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

[2] पोषणं तदनुग्रहः—भागवत २।१०।४।

भगवान् की कृपा। वेद और शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान तथा कर्म का मार्ग मर्यादा मार्ग कहलाता है, परंतु भक्ति का मार्ग, जो साक्षात् पुरुषोत्तम के मुखारविंद से प्रतिपादित है पुष्टिमार्ग है। भक्ति के भी दो प्रकार होते हैं—मर्यादा-भक्ति, बाह्य साधन (जैसे भजन, पूजन, अर्चन आदि) से उत्पन्न होती है, परंतु पुष्टिभक्ति साधन-निरपेक्ष होकर भगवान् के अनुग्रहमात्र से स्वतः आविर्भूत होती है। लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सकल कार्य लीला विजृंभित होते हैं। भगवान् का अवतार भी जीवमात्र को निरपेक्ष भाव से मुक्ति प्रदान करने के ही लिये होता है[1]। प्रपत्ति के भी द्विविध भेद श्रीवैष्णवों के मत से मिलते हैं। मर्यादिकी प्रपत्ति कर्म सापेक्ष रहती है, परंतु पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति एकमात्र भगवान् को ही आश्रय मानकर जीव के तन मन धन का निश्छल समर्पण है। वल्लभ मत के मंदिरों में भगवान् की सेवा की सुचारु व्यवस्था राजसी ठाटबाट के साथ है। राधाकृष्ण उपास्य देव हैं। गौडीय मत के प्रतिकूल राधा परकीया न मानकर स्वकीया मानी जाती हैं[2]। सच्चिदानंद भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविंदों में अपने को न्योछावर कर देना ही सर्वोत्तम उपाय है।

(३) **हिंदी साहित्य में वल्लभ सिद्धांत**—हिंदी साहित्य में अष्टछाप कवियों के काव्यों में वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत रूप का बड़ा ही प्रामाणिक तथा रुचिर वर्णन है। यह वर्णन दार्शनिक तथा उपासना संबंधी उभय पक्ष के विषय में हैं। सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास तथा कृष्णदास वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और नंददास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी तथा चतुर्भुजदास विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। अष्टछाप की कविता सौंदर्य तथा रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से व्रजभाषा का शृंगार है। इन आठों कवियों की अपनी पृथक् साहित्यिक विशिष्टताएँ हैं। अष्टछाप में अग्रगण्य सूरदास जी का 'सूरसागर' व्रज साहित्य का मुकुटमणि है जिसकी आभा समय के परिवर्तन तथा आलोचना की नई दिशा के उदय होने पर भी आज भी फीकी नहीं हुई है। तुलसी के समान सूर का काव्यक्षेत्र विस्तृत नहीं था कि जीवन की विविध दशाओं का समावेश यहाँ किया जा सके, परंतु सीमित होने पर भी इनकी वाणी ने इस क्षेत्र का कोई भी कोना आलोकित किए बिना अछूता नहीं छोड़ा। शृंगार तथा वात्सल्य रस की सृष्टि में इस अंधे सूर को जो सूझी वह किसी भी चक्षुष्मान् कवि को नहीं सूझी। यहाँ अष्टछाप के काव्यसौंदर्य के प्रदर्शन का अवसर नहीं है। केवल कतिपय सैद्धांतिक पदों का ही किंचित् संकेत पर्याप्त होगा :

[1] भागवत—१०।२९।१४ पर सुबोधिनी। (बंबई)

[2] विशेष द्रष्टव्य—लेखक का 'भागवत संप्रदाय', पृ० ३८३–४०१।

सूरदास—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप ।
कोटि कल्प बीतत नहीं जानत बिहरत युगल सरूप ॥
सकल तत्व ब्रह्मंड देव पुनि माया सब विधि काल ।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब है अंश गुपाल ॥

इस पद में प्रकृति, पुरुष, ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकृत की गई है। पुरुषोत्तम के स्वरूप का यथार्थ वर्णन—एकरस, अखंडित, अनादि, अनूप है तथा विहार की नित्यता की कल्पना की गई है। भगवान् के अंशी तथा समस्त जगत् के अंश भाव का स्पष्ट संकेत यहाँ उपलब्ध होता है :

श्रीकृष्ण के रसरूप का परिचायक यह पद्य कितना विशद तथा रुचिर है। परमानंददास का कथन है :

रसिक सिरोमनि नँदनंदन ।
रस में रूप अनूप विराजत गोप बधू उर सीतल चंदन ॥
जिहि रस मत्त फिरत मुनि मधुकर सो रस संचित व्रज वृंदावन ।
स्याम धाम रस रसिक उपासत प्रेम प्रवाह सु परमानंद मन ॥

जीव सच्चिदानंदघन का अंश रूप होने पर भी माया के कारण संसार के प्रपंच में इस प्रकार भूला भटका फिरता है जिस प्रकार अपने नाभि में स्थित कस्तूरी को मृग भूल कर उसे बाहर खोजता फिरता है। जाग्रत होने पर जीव अपने वास्तव रूप को पहचानता है[1]।

अपुनपौ आपुन ही में पायो ।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो सतगुर भेद बतायो ॥
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी ढूँढत फिरत भुलायो ।
फिर चेत्यौ जब चेतन ह्वै करि आपुन ही तनु छायो ॥
'सूरदास' सुमुझे की यह गति मन ही मन मुसकायो ।
कहि न जाय या सुख की महिमा ज्यों गूँगे गुर खायो ॥
(सूरदास—सूरसागर, चतुर्थ स्कंध)

[1] विशेष द्रष्टव्य—डा० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग २, पृ० ३९३–५१५। (प्रकाशक—हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग)

७. द्वैत सिद्धांत

अद्वैत से ठीक विपरीत दिशा में प्रतिष्ठित होनेवाला वेदांत 'द्वैत वेदांत' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके संस्थापक आचार्य मध्व या आनंदतीर्थ (११९९–१३०३ ई०) हैं। ये दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवाद के संस्थापक थे तथा धार्मिक दृष्टि से भक्तिवाद के समर्थक थे। इस मत के आचार्यों का प्रधान लक्ष्य मायावाद का खंडन था। अद्वैत वेदांत के ऊपर सबसे तीव्र आक्रमण तथा मायावाद का प्रबलतर खंडन द्वैतवादियों की ही ओर से हुआ है। अपने सिद्धांतों की पुष्टि में इन्होंने अनेक विशिष्ट न्यायसंमत तर्कों की भी स्थापना की है। इनका एक विशिष्ट विशाल साहित्य है जो अद्वैत वेदांतियों के साथ घोर संघर्ष की उपज है।

(१) पदार्थ मीमांसा—माध्व मत में ये दस पदार्थ स्वीकृत किए जाते हैं[१]—*(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) विशिष्ट, (७) अंशी, (८) शक्ति, (९) सादृश्य, (१०) अभाव।* इनमें से अनेक पदार्थों की कल्पना तथा समीक्षा में न्याय-वैशेषिक के साथ साम्य रखने पर भी माध्वमत अपना विशिष्ट स्वतंत्र मत रखता है। द्रव्य के बीस प्रकार मानने तथा उनके विश्लेषण करने में माध्वों के पांडित्य का परिचय मिलता है[२]। यहाँ उनके कतिपय विलक्षण मतों की समीक्षा से हम उनकी दार्शनिक दृष्टि को समझने में कृतकार्य हो सकते हैं :

(२) भगवत् तत्त्व—विष्णु ही साक्षात् परमात्मा हैं जिनका प्रत्येक गुण अनंत, निरवधिक तथा निरतिशय है। भगवान् उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बंध और मोक्ष—इन आठों क्रियाओं के कर्ता हैं। वे सर्वज्ञ हैं तथा परममुख्या वृत्ति के द्वारा समस्त पदों के वाच्य हैं। माध्वमत में 'पद शक्ति' के दो प्रकार होते हैं—मुख्यावृत्ति से कोई भी पद अपने वाच्य अर्थ को प्रकट करता है, परंतु परममुख्या वृत्ति से प्रत्येक पद भगवान् का ही वाचक होता है। ज्ञान, आनंद आदि कल्याण गुण ही भगवान् के शरीर हैं जिससे शरीरी होने पर भी भगवान् नित्य तथा सर्व स्वतंत्र है। हरि के समस्त रूप पूर्ण हैं अर्थात् विष्णु ने समस्त अवतार पूर्ण से उत्पन्न होकर भी स्वतः पूर्ण है[३]। इसी कारण भगवान् और उनके अवतारों में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।

[१] द्रष्टव्य—पद्मनाथ कृत 'मध्व सिद्धांत सार' (माध्व बुक डिपो, कुंभकोणम् से प्रकाशित)
[२] ,, बलदेव उपाध्याय : भा० द०, पृ० ४७९–४८४।
[३] अवतारादयो विष्णो ! सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः। —माध्व बृहत् भाष्य।
(माध्व बुक डिपो, कुंभकोणम्)

(३) लक्ष्मी—श्री हरि की शक्ति है जो परमात्मा से भिन्न होकर केवल उसी के अधीन रहती है[1]। इस प्रकार माध्व मत में शक्ति तथा शक्तिमान् में भेद ही माना जाता है जब कि तंत्रमत में दोनों में पूर्ण सामंजस्य या अभेद का भाव अंगीकृत है। लक्ष्मी भगवान् के समान ही नित्यमुक्ता तथा नानारूपधारिणी है। परमात्मा के सदृश ही लक्ष्मी अप्राकृत दिव्य देह धारण करती है। वह गुणों की दृष्टि से भगवान् से किंचित् न्यून है, अन्यथा देश और काल की दृष्टि से उनके समान ही व्यापक है[2]।

(४) जीव—समस्त जीव भगवान् के अनुचर हैं। उनका सकल सामर्थ्य भगवदधीन है। स्वभावतः अल्प शक्ति तथा अल्प ज्ञान से संपन्न जीव स्वतः किसी भी कार्य के संपादन में समर्थ नहीं होता, प्रत्युत वह भगवान् के ऊपर ही आश्रित रहता है। जीवों में तारतम्य का सद्भाव माध्व मत का वैशिष्ट्य है। किसी भी दशा में जीव अन्य जीव के साथ सदृश या अभिन्न नहीं होता। संसारिदशा में कर्मभिन्नता के तारतम्य से जीवों में तारतम्य होना स्वाभाविक है, परंतु इस मत में मोक्षदशा में भी जीवों में तारतम्य विद्यमान रहता है। मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी, तमोयोग्य—इस त्रिविध जीवभेद में अंतिम दो की मुक्ति कभी होती ही नहीं। मुक्ति योग्य जीवों की मुक्ति होने पर भी उनमें तारतम्यभेद बना ही रहता है। मुक्त जीव आनंद की अनुभूति अवश्य करता है, परंतु इस आनंदानुभूति में भी तारतम्य होता है अर्थात् मुक्त जीवों में ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनंद में भेद होता है। माध्व मत का यह वैशिष्ट्य अध्यात्म दृष्टि से उल्लेखनीय है।

(५) जगत्—सत्यं जगत्। अद्वैत वेदांत के अनुसार मायाजन्य जगत् रज्जुसर्प के समान् मिथ्या है, परंतु द्वैत मत में जगत् नितांत सत्य है। स्वतःप्रमाण वेद ईश्वर को 'सत्यसंकल्प' बतलाता है अर्थात् भगवान् की कोई भी कल्पना या इच्छा मिथ्या हो नहीं सकती। फलतः सत्यसंकल्प भगवान् के द्वारा निर्मित यह जगत् क्या कथमपि असत्य हो सकता है?

(६) साधन तत्त्व—द्वैतियों के अनुसार भेद वास्तव है—तत्त्वतो भेदः। भेद पाँच प्रकार का होता है—(क) ईश्वर का जीव से भेद, (ख) ईश्वर का जड़ से भेद, (ग) जीव का जड़ से भेद, (घ) एक जीव का दूसरे जीव से भेद तथा (ङ) जड़ पदार्थ का अन्य जड़ पदार्थ से भेद। इस पंचविध भेदों का ज्ञान मुक्ति में साधक होता है। अपने वास्तव सुख की अनुभूति की ही संज्ञा मुक्ति है।

[1] परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः। —माध्वसिद्धांतसार, पृ० २६।

[2] द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ॥
—भागवततात्पर्यनिर्णय।

(७) मुक्ति—मुक्ति परमानंद रूपा है। चार प्रकार के मोक्ष—कर्मक्षय, उत्क्रांति, अर्चिरादि मार्ग तथा भोग—में अंतिम प्रकार के भी चार अवांतर प्रभेद होते हैं जिनमें सायुज्य मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ अंगीकृत है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनंद भोग करना सायुज्य का लक्षण है[1]। इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है अमला भक्ति, अनन्या या अहैतुकी भक्ति। सहेतुक भक्ति तो बंधनकारिका होती है, परंतु अहैतुकी भक्ति मुक्ति का एकमात्र साधन है।

माध्व मत के संक्षिप्त परिचायक इस पद्य में पूर्वोक्त तथ्यों का दिग्दर्शन बड़ी सुंदरता से कराया गया है :

श्री मन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनं
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

८. चैतन्य मत

माध्व वैष्णव मत का प्रचार दक्षिण भारत में, विशेषतः कर्नाटक तथा महाराष्ट्र प्रांत में, आज भी बहुलतया उपलब्ध होता है। उत्तर भारत में इस मत के प्रचारक हैं माधवेंद्रपुरी जो मध्वाचार्य से शिष्यपरंपरा में १६वें पुरुष थे[2]। बंगाल में उत्पन्न होनेवाले इस महापुरुष ने चार पुरुषों को अपना शिष्य बनाया जो आगे चलकर वैष्णव धर्म के प्रबल स्तंभ हुए। इनके नाम हैं—ईश्वर पुरी, केशव भारती, अद्वैत तथा नित्यानंद जिनमें आदिम दो आचार्यों के शिष्य श्री चैतन्य महाप्रभु (सं० १५४२-१५९०) थे जिन्होंने उत्तर भारत को, विशेषतः बंगाल को, अपने विशाल भक्ति आंदोलन के द्वारा भक्तिरस से आप्लावित कर दिया। इन्होंने अपने पट्टशिष्य श्री सनातन गोस्वामी तथा श्री रूपगोस्वामी को वृंदावन में भेजकर उसके लुप्त गौरव तथा विस्तृत माहात्म्य को पुनः उज्जीवित किया।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से चैतन्य मत माध्व मत की गौडीय शाखा है, परंतु दोनों के दार्शनिक सिद्धांतों में महान् पार्थक्य है। माध्व मत द्वैतवाद का पक्षपाती है, तो चैतन्य मत अचिंत्यभेदाभेद सिद्धांत का अनुयायी है। निंबार्क मत के अनंतर यह मत वृंदावन की सरस भूमि में ही पनपा तथा पल्लवित हुआ।

[1] सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः। —माध्वसिद्धान्तसार।
[2] इस गुरु परंपरा के लिये द्रष्टव्य—बलदेव विद्याभूषण रचित 'प्रमेय रत्नावली', पृ० ६। (प्रकाशक—संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता)

इसकी दार्शनिक दृष्टि 'अचिंत्यभेदाभेद' नाम से पुकारी जाती है तथा व्यावहारिक दृष्टि से यह एक भक्तिरसाप्लुत वैष्णव संप्रदाय है। भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं जिनकी शक्तियाँ अनंत हैं। शक्ति तथा शक्तिमान् का परस्पर संबंध नितांत विलक्षण है। उनका संबंध तर्क के द्वारा चिंतनीय न तो भेदरूप है और न अभेदरूप। शक्तियाँ शक्तिमान् से न तो भिन्न प्रमाणित की जा सकती हैं और न अभिन्न। इसीलिये इसका दार्शनिक अभिधान 'अचिंत्यभेदाभेद' नितांत सुसंगत है।

(१) साध्य तत्त्व—श्रीकृष्ण ही अचिंत्य शक्तिमान् भगवान् परमतत्त्व माने जाते हैं। उनके तीन रूप हैं—(१) स्वयंरूप, (२) तदेकात्मरूप, (३) आवेश।

(क) दूसरे के ऊपर आश्रित न होकर स्वतः आविर्भूत होनेवाला रूप 'स्वयंरूप'[1] कहलाता है। ब्रह्मसंहिता इसी रूप की प्रशंसा में कहती है कि यह रूप अनादि, सृष्टि का आदि तथा सब कारणों का कारण है[2]।

(ख) तदेकात्मरूप—वह रूप है जो स्वरूप से तो 'स्वयंरूप' से अभिन्न रहता है, परंतु आकृति, अंगसंनिवेश तथा चरित में उससे भिन्न होता है। इसका 'विलास' नामक प्रकार स्वरूपतः भिन्नाकार होने पर भी शक्तितः समान ही होता है, जैसे गोविंद के विलास हैं नारायण (परम व्योम के अधिपति) तथा नारायण के विलास हैं आदि वासुदेव। 'स्वांश' नामक प्रकार अन्वर्थतः उसका अंश होने से आकृत्या समान होने पर भी शक्तितः न्यून होता है[3], जैसे दश अवतार।

(ग) आवेश—वे महत्तम व्यक्ति जिनमें ज्ञानशक्ति आदि की स्थिति से भगवान् आविष्ट होते हैं, जैसे वैकुंठ में शेष, नारद आदि।

श्रीकृष्ण की अनंत शक्तियों में से तीन ही शक्तियाँ मुख्य हैं—

(क) अंतरंग शक्ति, (ख) तटस्थ शक्ति, (ग) बहिरंग शक्ति।

(क) अंतरंग शक्ति—का ही दूसरा नाम चित्शक्ति या स्वरूपशक्ति है जो एकात्मिका होने पर भगवान् के सत्, चित् तथा आनंद के कारण त्रिविध होती है। संधिनी शक्ति के बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं तथा दूसरों को सत्ता

[1] अनन्यापेक्षि यद्रूपं स्वयंरूपः स उच्यते। —लघु भागवतामृत १।१२ (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)

[2] अनादिरादिर्गोविंदः सर्वकारणकारणम्। —ब्रह्मसंहिता (गौडीय मठ, कलकत्ता)

[3] लघु भागवतामृत १।१५, १६। (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)

प्रदान करते हैं और देश-काल-द्रव्य में व्याप्त रहते हैं (सत्)। संवित् शक्ति के द्वारा भगवान् स्वयं अपने को जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं (चित्)। ह्लादिनी शक्ति के द्वारा भगवान् स्वयं आनंद का अनुभव करते हैं तथा दूसरे को आनंद का अनुभव कराते हैं (आनंद)।

(ख) तटस्थ शक्ति—जीवशक्ति, जो परिच्छिन्न स्वभाववाले और अणुत्व से विशिष्ट जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है।

(ग) बहिरंग शक्ति—माया, जिससे जगत् का आविर्भाव होता है। माध्व मत ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्त कारण ही मानता है, परंतु चैतन्य मत में ईश्वर एक साथ ही उपादान तथा निमित्त दोनों कारण होता है। स्वरूप शक्ति से श्रीकृष्ण जगत् के निमित्त कारण हैं तथा जीव-माया-शक्तियों से वे उपादान कारण हैं। यह भी दोनों में अंतर है[1]।

जगत्—जगत् नितरां सत्य है। शांकर मत के समान वह मिथ्या या अनिर्वचनीय नहीं है। ईशावास्य श्रुति[2] कहती है कि स्वयंभू ब्रह्म ने यथार्थ रूप से अर्थों की सृष्टि की। विष्णु पुराण जगत् को 'नित्य', 'अक्षय' बतलाया है तथा महाभारत की विशद उक्ति है—सत्यं भूतमयं जगत्[3]। प्रलय दशा में भी यह जगत् ब्रह्म में अनभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है जिस प्रकार रात में जंगल में छिपी चिड़ियाँ अनभिव्यक्त होती हुई भी वर्तमान रहती हैं[4]।

चैतन्य मत के दार्शनिक तथा उपासना संबंधी सिद्धांतों का प्रदर्शक यह पद्य नितरां मननीय है :

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयः, तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधू वर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं, प्रेमा पुमर्थो महान्
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

(२) साधन तत्त्व—चैतन्य पंचम पुरुषार्थ के रूप में 'प्रेम' को मानते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रामाण्य पर वे भक्ति को साधनरूपा ही नहीं मानते, साध्यरूपा भी मानते हैं। गोपियों की उपासना ही आदर्श उपासना है। भक्ति दो प्रकार की

[1] द्रष्टव्य—बलदेव विद्याभूषण : सिद्धांतरत्न, पृ० ३६-४० (सरस्वती भवन ग्रंथमाला, काशी)
[2] ईशा० उप०, मंत्र ८।
[3] महाभा०, आश्व० पर्व, ३५।३४।
[4] वनलीन विहंगवत्। —प्रमेयरत्नावली, ३।२ (संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता)

होती है—वैधी तथा रागात्मिका, जिनमें शास्त्रों में निर्दिष्ट उपाय वैधी भक्ति के उदय में श्रेयस्कर होते हैं और भक्त की आर्ति या दयनीयता ही रागात्मिका भक्ति की उत्पत्ति का निदान है। रागात्मिका प्रेमरूपा होती है। साहित्य जगत् में गौड़ीय वैष्णवों के द्वारा भक्तिरस की स्थापना एक अपूर्व व्यापार है। भक्तिरस का सांगोपांग विवेचक ग्रंथ भक्तिरसामृतसिंधु तथा उज्वलनीलमणि श्री रूपगोस्वामी की सर्वमान्य रचनाएँ हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण की भावमयी गोलोक लीला पाँच भावों से संबंध रखती है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। रति की निम्न कोटि रहती है शांत में और उत्कृष्ट कोटि रहती है माधुर्य में। माधुर्य भाव की रति तीन प्रकार की होती है[1]। साधारणी रति, समंजसा रति तथा समर्था रति। साधारणी रति का उपासक अपने ही आनंद के लिये भगवान् की सेवा तथा प्रीति करता है जिसका फल है मथुराधाम की प्राप्ति (जैसे कुब्जा)। समंजसा रति में कर्तव्य बुद्धि से प्रेम का विधान होता है जिसका फल द्वारिका की प्राप्ति है (जैसे रुक्मिणी, जांबुवती आदि पटरानियों का प्रेम)। समर्था रति का उपासक भगवान् के आनंद के लिये ही उपासना तथा सेवा करता है। उसके प्रेम में स्वार्थ की तनिक भी गंध नहीं होती। भगवच्चरणचंचरीक गोपिकाएँ ही इस रति की समर्थ दृष्टांत मानी जाती हैं। यही भाव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचकर महाभाव या राधाभाव की संज्ञा से मंडित होता है। इस प्रकार रससाधना ही चैतन्यमत का साधन रहस्य है[2]। गोपियों के विषय में श्री उद्धव जी की यह प्रशंसा भागवतप्रेमियों में नितांत प्रसिद्ध है कि मैं वृंदावन में लता या झाड़ी का कोई अंश बनना चाहता हूँ जिससे गोपियों की चरणधूल पड़ने से मैं स्वयं पवित्र बन जाऊँगा[3] :

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्
वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
याः दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजे मुकुंद पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

(३) हिंदी में चैतन्य परंपरा—हिंदी साहित्य में चैतन्य मतानुयायी अनेक कवि हो गए हैं, परंतु उनके ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित ही हैं। यही कारण

[1] स्वरूप तथा भेद के लिये द्रष्टव्य—श्री रूप गोस्वामी : उज्ज्वलनीलमणि। (काव्यमाला, बंबई)

[2] रससाधना के स्वरूप के विषय में द्रष्टव्य—पंडित गोपीनाथ कविराज का गंभीर लेख 'भक्तिरहस्य' ('कल्याण' का हिंदू संस्कृति अंक, १९५०, पृ० ४३६–४)

[3] भाग० पु० १०।४७।६१ (गीता प्रेस, गोरखपुर)

है कि इस विशिष्ट मत के साहित्यिक प्रभाव का पूर्ण परिचय अभी तक हिंदी के आलोचकों को विशेष रूप से उपलब्ध नहीं है। यह विषय विशेष अनुशीलन की अपेक्षा रखता है। कतिपय कवियों का यहाँ केवल संकेत किया जा रहा है।[1]

सुप्रसिद्ध वैष्णव कवि प्रियादास जी चैतन्य मत के अनुयायी वैष्णव थे, इसका परिचय भक्तमाल की टीका के मंगलाचरण से भली भाँति मिलता है। इनके ग्रंथों में कृष्णलीला का विषय बहुशः वर्णित है इनके प्रधान ग्रंथ ये हैं—(१) रसिकमोदिनी (राधाकृष्ण का वर्णन), (२) संगीतरत्नाकर (राग रागिनियों का विवेचन), (३) संगीतमाला संग्रह (कृष्णलीला के विषय में पद), (४) भक्तिमाल टीका—१७१२ ई० में रचित। यह ग्रंथ नाभादास जी के मूल ग्रंथ का उपबृंहण करता है जिसमें मूल छप्पय में संकेतित भक्तचरित का विपुल विस्तार नाना छंदों में किया गया है। नरोत्तमदास का 'नामकीर्तन' कृष्ण चैतन्य की प्रार्थना से आरंभ होता है। गोविंदप्रभु की गीतचिंतामणि काव्य की दृष्टि से बहुत ही मधुर तथा ललित है। इनकी कविता संस्कृत गठित है तथा इसके पढ़ने पर गीतगोविंद के गीतों की छटा तथा मधुरिमा बरबस स्मरण हो आती है। गोविंददास की भी एक सुंदर पदावली है। पता नहीं ये गोविंद प्रभु से भिन्न हैं या अभिन्न? चंद्रगोपाल जी मध्वगौडेश्वर संप्रदायाचार्य थे। ये भी चैतन्य संप्रदाय के ही मान्य आचार्य थे। इनका काव्य चंद्रचौरासी बड़ा ही ललित तथा रसपेशल है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा :

जुगल रस सुधा पान की बात।
निज वयस्य रूपा हेलिन में कितनी कौन सुहात।
निरखि मधुरता राधा माधव गौर श्याम सुख गात।
श्री ललिता होइ कहूँ कोऊ मेरी मन हुलसात।
भ्रमवश बुद्धि भेद उपजाएँ रस विशेष सकुचात।
जासौं सरल माध्व मधु पोषक पावहु प्रेम अँघात।
श्री चैतन्य चरन अनुरागी संप्रदाय पुलकात।
श्री गौर पुत्र प्रभु 'चंद्रगोपाल' सुजुगल लाल बलि जात। ७० अबगौर।

उपसंहार

यहाँ भारतीय धर्म तथा दर्शन की विभिन्न धाराओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। इन सब के आधार पर ज्ञानमार्गी तथा भक्तिमार्गी हिंदी साहित्य

[1] इन कवियों के वर्णन के लिये भिन्न भिन्न वर्षों के खोजविवरण देखना चाहिए।

विकसित तथा पल्लवित हुआ है। यह हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण पीठिका है—आधारपीठ है—जिसके ऊपर खड़ा होकर यह अपने वैभव तथा गौरव का विस्तार करता आया है। जहाँ तक लेखक को पता है, यह पहला अवसर है जब इस पीठिका का अनुशीलन हिंदी साहित्य के विकास को समझने के लिये किया जा रहा है। हिंदी एक विशाल भूखंड की भाषा रही है जिसके मान्य कवियों, लेखकों तथा संत महात्माओं ने अपने आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति इस भाषा के द्वारा की है। इस प्रदेश में अभी भी अनेक धार्मिक संप्रदाय अज्ञात और अव्याख्यात पड़े हुए हैं। लेखक का यह पूर्ण विश्वास है कि इन समस्त मतों, संप्रदायों तथा विचारधाराओं के सिद्धांतों का रहस्य तभी खुल सकेगा जब इस आवश्यक पीठिका की जानकारी आलोचकों को होगी। भारत धर्मप्रधान देश है। हिंदी के साहित्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धर्म तथा दर्शन की जो धारा प्रवाहित होती आई है उसका अनुशीलन इस धार्मिक आधार के अध्ययन से ही पूर्ण हो सकेगा। तथास्तु।

चतुर्थ खंड

कला

लेखक

डा० भगवतशरण उपाध्याय

प्रथम अध्याय

स्थापत्य

१. कला के प्रति अभिरुचि तथा उसका लंबा इतिहास

भारतीय कला का विस्तार बड़ा है, प्रायः पाँच सहस्राब्दियों लंबा, और इस कालप्रसार में जितना और जैसा उसने सिरजा है वह कलासमीक्षक या इतिहासकार के लिये समस्या प्रस्तुत कर देता है। सिंधु सभ्यता के बाद तो निःसंदेह वैदिक उदासीनता के कारण स्थापत्य, भास्कर्य आदि की प्रगति टूट जाती है[१] और उस सभ्यता तथा मौर्यकाल की कृतियों के बीच एक दीर्घ कालांतर पड़ जाता है, पर मौर्ययुग से जिस कलासाधना का प्रारंभ होता है वह अद्यावधि अटूट चली आती है।

मौर्य काल के कुछ पहले ही इस देश में कला के प्रति लोगों की निष्ठा सचेष्ट हुई थी, पर उस काल के ईरानी संपर्क से उसमें विशेष प्रगति हुई और बड़ी तीव्रता से कलाकारों ने भारत का आँगन अनुपम कलादर्शों से भर दिया। शुंग और यवन, शक और पह्लव, तुखार और गुर्जर, एक के पश्चात् एक, इस धरा पर कला की अभिराम कृतियाँ कोरते आए। पर यहाँ हमें उस आकर्षक कालप्रसार के ललित अभिप्रायों का अध्ययन नहीं करना है। हिंदी भाषा और साहित्य की सावधि और समानांतर कलापरंपरा और उनके उदय की तत्संबंधी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना हमें अभीष्ट है। इससे यहाँ केवल मध्यकालीन कला और उसकी अनुवर्तिनी भूमि का ही हम निरीक्षण कर सकेंगे, पूर्व कालों की ओर संक्षेप में ही कुछ लिख सकेंगे। भारतीय कला के इतिहास में मध्यकाल का प्रसार ६५० वि० से १२५० वि० तक माना जाता है और इसके भी शैली और काल के भेद से 'पूर्व-मध्यकाल' और 'उत्तर-मध्यकाल' दो खंड कर लिए जाते हैं। इनमें पहले का कालमान ६५० वि० से ६५० वि० तक है और दूसरे का ६५० वि० से १२५० वि० तक।

परंतु यह कालमान भी केवल मूर्तिकला के संबंध में विशेष सार्थकता रखता है, क्योंकि स्थापत्य में मंदिरनिर्माण और उसकी कला का मध्याह्न तो वस्तुतः १२५० वि० के बाद ही आता है। चित्रकला भी अजंता और बाघ के पश्चात् फिर

[१] गंगाघाटी के उत्खनन से टूटी हुई शृंखलाओं के प्राप्त होने की संभावना है।

से उस काल के बाद ही तारुण्य धारण करती है। संगीत के पक्ष में तो यह और भी सही है। संगीत निःसंदेह भारत में अति प्राचीन काल से प्रौढ़ रूप में चला आता है, पर उसकी काया भी मध्ययुग में, यथार्थतः तो उसके भी पश्चात्, सजती है। संगीत के अधिकतर ग्रंथ मुस्लिम काल में लिखे गए। गायन की अनेक शैलियाँ, हिंदी भाषा और साहित्य की भाँति, मुस्लिम संपर्क और सहायता से बनीं। अनेक मधुर वाद्यों और रागों का अमीर खुसरू, सुल्तान हुसैन शरकी आदि ने आविष्कार किया। सितार, सारंगी, रुबाब, दिलरुबा, तबला, शहनाई, रोशनचौकी आदि ने संगीत के क्षेत्र में अनेक नई ध्वनियाँ सिरज दीं, एक नया स्वाद संगीत के प्रेमियों को बेसुध कर चला और संगीत संबंधी आविष्कारों की यह परंपरा सत्रहवीं अठारहवीं सदी तक अटूट चलती रही। सो मंदिरकला, चित्रण और संगीत का यह पिछला युग ही सही सही हिंदी (प्राचीन और मध्यकालीन) का प्रभावकारी समानांतर युग है। भारतीय कला का ऐतिहासिक मध्यकाल, जैसा पहले कहा जा चुका है, हिंदी की केवल आवश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। स्वयं मूर्तिकला के क्षेत्र में भी पिछले और उत्तर अथवा उत्तरोत्तर मंदिर-निर्माण-काल में वास्तुगत (मंदिरों के कलेवर पर निर्मित) मूर्तियों की अभिरामता कुछ कम नहीं रही है। इससे हमारे अध्ययन का कालप्रसार ६५० वि० और यथासंभव वर्तमान युग के बीच होगा।

२. स्थापत्य की विविध शैलियाँ

भारत के से विस्तृत भूखंड में, उसकी अपार जनसंख्या के बीच, विविध मतमतांतरों के कारण प्रायः डेढ़ हजार वर्षों के लंबे कालक्रम में कला का विभिन्न शैलियों में बँट जाना स्वाभाविक है। इस दीर्घ काल में भारतीय कला के अश्वत्थ से अनेक शाखाएँ फूटीं। देश और काल, संप्रदाय और मत, सुरुचि और अभिप्राय की आवश्यकता से उसमें विविधता आई। उनका शैलियों में विभाजन, विविध स्कंधों में उनका एकत्रीकरण उनका अध्ययन सरल कर देगा।

स्थापत्य के दो विशिष्ट भाग किए जा सकते हैं : १—शैलियाँ और २—प्रकार। प्रकार दो हो सकते हैं : धार्मिक और लौकिक। धार्मिक के भीतर मंदिर, स्तूप आदि आते हैं और लौकिक के भीतर वार्ता, सेतुबंध, प्रासाद आदि। पहले शैलियों का उल्लेख समीचीन होगा।

शैलियाँ (मंदिरों में) साधारणतः तीन हैं—नागर, बेसर और द्राविड़। इनके अतिरिक्त भी कुछ नाम प्राचीन स्थापत्य संबंधी ग्रंथों में आए हैं—जैसे लतिन, साधार, भूमि, नागरपुष्पक, विमान[1] आदि। परंतु अधिकतर वे या तो इन तीन

[1] बृहच्छिल्पशास्त्र, ३, ६८ और ७३।

प्रधान शैलियों के प्रभेद हैं या निर्माण की दृष्टि से गौण हैं। इनमें नागर और द्राविड नाम तो यथावत् व्यवहृत हुए हैं पर वेसर के मिश्र, मिश्रक, वाराट, आदि पर्याय भी शास्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं। वे उस शैली के स्वभाव और देश का संकेत करते हैं और उनका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

(१) नागर—नागर शब्द नगर से बना है, इससे उसका पुर से संबद्ध होना स्वाभाविक है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगरनिर्माण में मंदिरों का विशिष्ट स्थान बताया गया है और किस देवमंदिर की नगर के किस भाग या दिशा में स्थापना हो इसका भी उल्लेख हुआ है। संभव है नगर में ही पहले पहल बनने के कारण अथवा वहाँ संख्या में उनका बाहुल्य होने के कारण यह नाम पड़ा हो, अन्यथा यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अयुक्तियुक्त होगा कि जनपद (देहात) में मंदिर नहीं होते थे। यतः इस शब्द का प्रयोग केवल मंदिर के लिये नहीं होता, चित्र के लिये भी होता है, पुर से उसका विशेष संबंध प्रायः इसलिये निश्चित हो जाता है कि चित्र पौर और जनपदीय दोनों होते हैं। 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' में नागर मंदिरों का उल्लेख अनेक बार हुआ है। वस्तुतः नागर, द्राविड और बेसर तीनों नाम अधिकतर साथ ही आते हैं।

नागर चौपहला या वर्गाकार होता है। 'कालिकागम' में आधार से शिखर तक उसके लक्षण इस प्रकार दिए गए हैं—ऊँचाई में यह अष्टवर्ग होता है। ये आठों वर्ग (भाग) हैं—मूल (आधार), मसूरक (नींव और दीवारों के बीच का भाग), जंघा (दीवारें), कपोत (कोर्निस)। ये चारों सीधे खड़े रहकर शिखर, गल (गरदन) वर्तुलाकार आमलसारक (आमलक) और कुंभ (शूल सहित कलश) का भार धारण करते हैं। नागर शैली के मंदिरों का विस्तार बड़ा है— हिमालय और विंध्याचल के बीच। 'बृहत्संहिता' के समय से अथवा संभवतः उससे भी पूर्व से ही नागर मंदिरों की संख्या प्रभूत रही है। उसके भौगोलिक क्षेत्र के अनुकूल ही उसकी संख्या भी रही है। मध्यदेश साधारणतः उसका केंद्र रहा है पर उसकी परिधि तुंगभद्रा को छूती रही है। इसी प्रकार एक ओर बंगाल और उड़ीसा तथा दूसरी ओर लाट-महाराष्ट्र तक उस शैली का विस्तार रहा है। उधर उत्तर में हिमालय के चंबा-काँगड़ा से दक्षिण में तुंगभद्रा पार तक। केंद्र से दूर हटकर नागर शैली के प्रांतीय भेद और नाम हो गए हैं, जैसे उड़ीसा में वही कालिंग और गुजरात में लाट कहलाई है। इसी प्रकार हिमालय के अंतर्गत आनेवाले नागर मंदिरों को पर्वतीय कहा गया है।

(२) द्राविड—द्राविड शैली और भौगोलिक क्षेत्र दोनों का नाम है, अथवा उस शैली का जो द्रविड देश में विशेष रूप से विकसित हुई। द्राविड मंदिरों का शरीर (निचला भाग) तो वर्गाकार होता है पर मस्तक गुंबदाकार छ:पहला

या आठपहला (षडास्र अथवा अष्टास्र)। इसका विस्तारक्षेत्र अगस्त्य (नासिक के निकट), कृष्णा अथवा तुंगभद्रा से लेकर कुमारी अंतरीप तक है।

द्राविड शैली के मंदिर नागर मंदिरों से सर्वथा भिन्न होते हैं। इनके गर्भगृह (जिसमें देवप्रतिमा स्थापित होती है) के ऊपर का भाग (विमान) सीधा पिरामिडनुमा होता है। उसमें कितनी ही मंजिलें होती हैं और मस्तक पीपे या गुंबद के आकार का होता है[1]। ऊँचा मंदिर लंबे चौड़े प्रांगण से घिरा होता है जिसमें छोटे बड़े अनेक मंदिर, कमरे, हाल, तालाब आदि बने होते हैं। आँगन का मुख्य द्वार, जिसे गोपुरम् कहते हैं, इतना ऊँचा होता है कि अनेक बार प्रधान मंदिर के शिखर तक को छिपा लेता है। नागर शैली के मंदिर चौकोन गर्भगृह के ऊपर दूर ऊँचे मीनार की भाँति चले गए होते हैं, उनके शिखर की रेखाएँ तिरछी और चोटी की ओर झुकी होती हैं[2]। उनका शीर्ष आमलक (आँवला) से मंडित होता है। दोनों प्रकार के मंदिरों का विशेष वर्णन नीचे करेंगे।

(३) बेसर—बेसर नागर और द्राविड शैलियों का मिश्रित रूप है। बेसर नाम भी भौगोलिक नहीं, शैली का है। इस शब्द का अर्थ ही 'खच्चर' है, दो भिन्न जातियों से जन्मा[3]। विन्यास (खाका, योजना) में यह द्राविड शैली का होता है और क्रिया अथवा रूप में नागर शैली का (कालिकागम)। इसी से 'बृहच्छिल्पशास्त्र' ने इसका दूसरा नाम ही मिश्रक रख दिया है। इसकी प्रसारभूमि विंध्य पर्वत और अगस्त्य (नासिक के समीप) अथवा विंध्याचल और कृष्णा (तुंगभद्रा) के बीच है। बेसर शैली के मंदिर नागर और द्राविड क्षेत्रों के बीच में मिलते हैं। इस भूखंड को साधारण रूप से दकन कह सकते हैं। 'समरांगणसूत्रधार' में इसी से बेसर का उल्लेख उसके दूसरे नाम वाराट (अथवा वाराड) से हुआ है। वाराट बराड़ को सूचित करता है, इससे बेसर की वह भौगोलिक संज्ञा है। बराड़ (बरार, प्राचीन विदर्भ) का विस्तार नर्मदा से कृष्णा तक है। परंतु इन शैलियों के प्रसार का अनुबंध सर्वथा अनुल्लंघनीय नहीं है। इससे नागर शैली के कुछ मंदिर दक्षिण में भी मिले हैं और द्राविड शैली के उत्तर में। वृंदावन का विशाल वैष्णव मंदिर द्राविड शैली का ही है, गोपुरम् से संयुक्त। इस प्रकार की शैली भी अपनी सीमाएँ भेदकर दक्षिण-उत्तर चली गई है। इस मिश्रित शैली के मंदिर पश्चात्कालीन चालुक्य नरेशों ने कनड़ जिलों में और होयसल राजाओं ने मैसूर में

[1] कुमारस्वामी : हिस्ट्री आफ् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १०७। वी० ए० स्मिथ : हिस्ट्री आफ् फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन, पृ० ३१।

[2] कुमार०, वही; स्मिथ, वही, पृ० २५।

[3] कुमार०, वही; स्मिथ, वही, पृ० ४४।

बनवाए। बेसर शैली के मंदिरों के निर्माता ये दोनों राजकुल इतिहास के कालक्रम से तब हुए जब नागर और द्राविड दोनों शैलियाँ विकसित हो चुकी थीं, जिससे बेसर रूप में उनका मिश्रण संभव हो सका। उत्तरी और दक्षिणी दो शक्तिम शैलियों के परस्पर संपर्क का यह अनिवार्य परिणाम था। दोनों का क्षेत्र बड़ा होने से उनके बीच एक क्षेत्र स्वतः बन गया और बेसर शैली उसमें फूली फली। इस प्रकार भारत की समूची भूमि शैली द्वारा तीन भागों में बँट गई—हिमालय से विंध्याचल के बीच नागर, कृष्णा से कुमारी के बीच द्राविड और दोनों के बीच विंध्याचल से कृष्णा तक मिश्रित बेसर। पूर्व-चालुक्यों के समय द्राविड विन्यास और नागर क्रिया से मंदिर सिरजे गये, और उत्तर-चालुक्य काल में नागर विन्यास और द्राविड क्रिया से। इस मिश्रण का रूप यह था कि उस प्रकार के मंदिर या तो वृत्तायत होते थे या द्व्यास्रवृत्त अर्थात् ऐसे कि उनके आमने सामने के दो पहल सीधे होते थे और दूसरे दोनों झुके हुए। वे नीचे ग्रीवा तक वर्गाकार भी होते थे और ऊपर वृत्ताकार, जिससे गोलाकार शिखर उनपर विराज सकें।

(४) मिश्र—अनेक बार जातिविमानों के निर्माण में नागर, द्राविड और बेसर तीनों शैलियों का एक साथ उपयोग हुआ है। एक साथ बने हुए इन मंदिरों की व्यवस्था इस प्रकार होती है—उत्तर, उत्तरपश्चिम और उत्तरपूर्व में नागर, दक्षिण, दक्षिणपश्चिम, और दक्षिणपूर्व में द्राविड और पूर्व और पश्चिम अर्थात् बीच में बेसर। भाव यह है कि देश की मंदिरशैली संबंधी दिशापरकता वहाँ भी कायम रखी जाती है। उत्तर में नागर शैली के मंदिर, दक्षिण में द्राविड शैली के मंदिर और बीच में बेसर शैली के मंदिर। उत्तर में इस प्रकार तीनों शैलियों से संयुक्त मंदिरनिर्माण की पद्धति नहीं है।

३. भारतीय स्थापत्य में असुरों का योग

भारतीय मंदिरनिर्माण की परंपरा में मय असुर का नाम प्रायः आया है। सभी महत्व के लक्षण-ग्रंथों में उसका उल्लेख हुआ है। 'बृहत्संहिता' से लेकर 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' तक निरंतर मय का नाम आदर से लिया गया है। वस्तुतः इस दूसरे ग्रंथ में तो मय एक विशिष्ट वास्तुशैली का प्रवर्तक है। वराह-मिहिर ने वास्तु के आचार्यों में विश्वकर्मा और मय दोनों का उल्लेख किया है और उनके परस्परविरोधी मतों की भी चर्चा की है, विरोध का निराकरण भी किया है। 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' में मय को असाधारण महत्व दिया गया है। वास्तु की परंपरा के अनुसार वह असुरों का शिल्पी है, जैसे विश्वकर्मा देवों का वास्तुकार है। विक्रमपूर्व आठवीं-सातवीं शतियों में असुर देश (असीरिया) में वास्तु का अद्भुत

विकास हुआ था[1]। असुर निनेवे आदि के राजप्रासाद और शवसमाधियाँ अनेक देशों के लिये आदर्श बनी थीं। बड़े कुतूहल का विषय है कि असुर देश के निनेवे नगर में लेयार्ड ने[2] जो खुदाई की है उसमें गोलाई और शिखरमंडित कब्रें मिली हैं[3]। इनमें शिखरवाला अभिप्राय तो नागर मंदिरों से सर्वथा मिलता जुलता है। उन्हें देखकर कोई भी कह सकता है कि दोनों के विन्यास और क्रिया समान हैं— नीचे चौकोर आधार और दीवारें, ऊपर झुकी हुई रेखाओंवाला शिखर।

४. स्थापत्य : प्रादेशिक किंतु भारतीय

इन नागर आदि शैलियों के संबंध में एक महत्व की बात स्मरण रखने की यह है कि उनके वास्तु में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन का भेद नहीं रखा गया है। उनका विधान धार्मिक अथवा सांप्रदायिक है ही नहीं। सारा वास्तु मात्र भारतीय है। दक्षिण, उत्तर, मध्य की तीन विशिष्ट शैलियाँ हैं जिनसे स्थानीय शाखाएँ फूटी हैं और प्रांतीय रूप बन गए हैं। उनमें निश्चय निजी स्थानीय विकास है पर वे सभी अपने लक्षणों से प्रधान शैलियाँ स्पष्टतः प्रगट करते हैं। और उन्हीं के बीच जब कभी शैली भिन्न परंपरा की—जैसे उत्तर में द्राविड और दक्षिण में नागर मंदिर— आ जाती हैं तब उनका अंतर प्रत्यक्ष झलक जाता है।

इन्हीं प्रातीय मंदिरों के साथ प्रांतीय संस्कृतियाँ भी अनेक प्रकार से बँधी रही हैं। इनके मंडपों का उपयोग साधारणतः नाटकों के रंगमंच के अर्थ में किया जाता था। पिछले काल की शिव, विष्णु आदि की धार्मिक लीलाएँ भी—जिनका सीधा संबंध प्राकृतों और जनबोलियों से रहा है—वहाँ खेली गई हैं। फिर धीरे धीरे संस्कृत के स्तोत्रों के पश्चात् अथवा पिछले काल में प्रांतीय भाषाओं का उदय होने पर हिंदी आदि में लिखे स्तोत्रों द्वारा इन देवकुलों में आराधना होने लगी थी। कालांतर में श्रावण मास में सावनी आदि गाने की जो परिपाटी चली वह प्राचीन होती हुई भी भाषा की दृष्टि से नई थी और उसके उत्सवों में हिंदी आदि के ही भजन गाए जाने लगे थे। हिंदी भजन के उदय और प्रसार का इन मंदिरों से विशेष संबंध है। उसके विकास में मंदिरों के वातावरण का घना योग रहा है। दक्षिण के अलवारों का साहित्य तो बड़े परिमाण में उस संपर्क से बना और निकला। इसी

[1] हाल : दि एंशेंट हिस्ट्री आफ् द फार ईस्ट, पृ० ५१५।

[2] निनेवे ऐंड इट्स रिमेंस; हिस्टोरियन्स हिस्ट्री १, पृ० ५४७-४८।

[3] देखिए, हैवेल : ए हैंडबुक आफ् इंडियन आर्ट, चित्र नं० २० ए, पृ० ७२ के सामने। हैवेल मंदिरों के शिखरों और स्तूपों का आरंभ मेसोपोतामियाँ से मानते हैं। देखिए, वही, पृ० ६।

प्रकार महाराष्ट्र, बंगाल, मध्यदेश सर्वत्र, विशेषकर वैष्णवों की परंपरा में, मराठी, बँगला, हिंदी में भजनों की रचना हुई। वहाँ उनका निरंतर गायन हुआ, वे परिमाण तथा माधुर्य दोनों में संपन्न हुए। भजन का भक्ति से और भक्ति का मंदिरों से कितना संबंध है, कहना न होगा।

वास्तु संबंधी विविध निर्माणों में दो प्रधान भेद किए जा सकते हैं: (१) धार्मिक और (२) लौकिक। धार्मिक भेद के अंतर्गत भी शिल्प के अनेक प्रकार उपलब्ध हैं जिनके विशेष उपभेद स्तूप, चैत्य, विहार, मंदिर और स्तंभ हैं। लौकिक परंपरा में राजप्रासाद, दुर्ग, सार्वजनिक आवास आदि आते हैं। इनका उल्लेख हम बाद में करेंगे। पहले धार्मिक वास्तुप्रकारों पर विचार कर लेना समुचित होगा। उनमें भी वस्तुतः स्तूप, चैत्य आदि का ऐतिहासिक अनुक्रम से अध्ययन पहले होना चाहिये था, परंतु चूँकि उनकी शैलियों का उल्लेख पहले हो चुका है, मंदिरों के शिल्प और वितरण पर विचार हम पहले करेंगे।

४. मंदिर

(१) नागर—चौकोर गर्भगृह के ऊपर झुकी रेखाओं से संयुक्त पिरामिडनुमा विमान शिखरवाले नागर मंदिर नर्मदा के दक्षिण इने गिने ही हैं। उनका प्रसार हिमालय और विंध्याचल के बीच ही है। जैसा पहले कहा जा चुका है, उनकी अपनी अपनी स्थानीयता बन गई है। पंजाब, हिमालय, कश्मीर, राजस्थान, पश्चिमी भारत, गंगा की घाटी, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल आदि विविध प्रदेशों में अपनी अपनी शैली के प्रायः ६०० और १३०० विक्रमी के बीच हजारों मंदिर बने जिनका नीचे उल्लेख करेंगे।

(अ) पर्वतीय—पंजाब-हिमालय के मंदिरों की ही पर्वतीय संज्ञा है क्योंकि उनका विस्तार पंजाब प्रात के हिमालयवर्ती प्रदेश मसरूर, काँगड़ा, कुलू, बाजौड़ा, हाट आदि के प्रदेशों में है। इनमें सबसे विशिष्ट आठवीं-नवीं शती के एक चट्टान में कटे मसरूर और काँगड़ा के मंदिर हैं। मंडप और पत्रकलशमंडित स्तंभोंवाले नवीं शती के मंदिर बैजनाथ में हैं। हाट, बाजौड़ा और कुलू के विश्वेश्वर मंदिर संभवतः दसवीं शती के बने हैं। चंबा के अनेक स्थानों में अभिराम मंदिर बने जो आज भी अपने सौंदर्य के धनी हैं। इनमें ब्रह्मौर और चत्राड़ी के मंदिर विशेष दर्शनीय हैं। इन सभी मंदिरों में अधिकतर शिव का परिवार मूर्त है। ये मंदिर कुछ और प्राचीन, संभवतः आठवीं शती के, हैं। कुमायूँ और अलमोड़ा जिलों में भी प्रायः सभी के सुंदर पर्वतीय मंदिर विद्यमान हैं। मसरूर, और काँगड़ा के पर्वत के मंदिरों को छोड़ शेष सभी पत्थर की ईंटों के बने हैं।

इसी प्रकार का एकप्रस्तरीय (एक ही चट्टान का) नागर शैली का बना

बस एक और मंदिर हिमालय के प्रसार से बाहर है, धमनार (राजस्थान) में। वह धर्मनाथ का वैष्णव मंदिर है। लगभग ८०० वि० के गुजरात और राजपुताने के नागर मंदिरों में स्थानीयता के कारण शैली में तनिक अंतर पड़ गया है। उनके स्तंभ अद्‌भुत कौशल और विविध काल्पनिक अभिप्रायों से उत्खचित हैं। अधिकतर उनकी छतें बहुमूल्य संगमरमर की बनी हुई हैं जिनसे असाधारण सुंदर कोरी लटकनें लटकी हुई हैं। आबू के संगमरमर के बने दो जैन मंदिर इस शैली के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। उनकी दीवारों, छतों और स्तंभों पर तनिक भी भूमि नहीं बची जो अभिराम उत्खचनों से भर न दी गई हो। इनमें आदिनाथ का मंदिर १०८८ वि० में राजमंत्री विमल ने बनवाया, दूसरे को ठीक दो सौ वर्ष बाद १२८७ वि० में तेजपाल ने बनवाया। दोनों के निर्माणकाल में इतना अंतर होते हुए भी उनका परस्पर सादृश्य आश्चर्यजनक है। ये सभी मंदिर वास्तुकार्य के विस्मय हैं और दृश्यों की भाववत् कोमलता, छवि और माधुर्य तथा तरहों की अनंत संपदा में अनुपम हैं।

जोधपुर के औसिया गाँव में आठवीं-नवीं शती का बना सुंदर सूर्य का मंदिर है। उसका शिखर खजुराहो और आबू के मंदिरो के अभिराम शिखरों से टक्कर लेता है। लगता है जैसे वही उनका अनुकार्य रहा हो। ओसिया में अनेक मंदिर हैं, पर्याप्त ऊँचे, कम से कम बारह पंद्रह, जैन और ब्राह्मण दोनों।

कश्मीर और नैपाल के नागर मंदिर भी वस्तुतः पर्वतीय परंपरा के ही हैं। वैसे कश्मीर की चंबा आदि के मंदिरों से स्वतंत्र अपनी परंपरा है जो बाद में मध्य पंजाब अथवा और पश्चिम के मंदिरों पर भी उतर आई है। इस प्रकार के मंदिर साधारणतः लघ्वाकृतिक हैं यद्यपि उनमें शालीनता लाने के लिये जब तब विशाल दीवारों से घिरा प्रांगण जोड़ दिया गया है। ऐसे मंदिर ७५० ई० और १२०० के बीच बने हैं। इनमें प्रधान कश्मीर के प्रसिद्ध दिग्विजयी सम्राट् ललितादित्य (७८०-८१७) का बनवाया आठवीं शती का मार्तंड मंदिर है। सूर्य के मंदिर इस देश में अपेक्षाकृत कम हैं। उन्हीं अल्पसंख्यक मंदिरों में मार्तंड का यह मंदिर केवल ६० फुट लंबा और ३८ फुट चौड़ा है। उसके दोनों ओर दो पक्ष जोड़ दिए गए हैं। उसका आँगन घेरनेवाली प्राचीरें अवश्य भीतर से २२० फुट लंबी और १४२ फुट चौड़ी हैं। दीवारों में ८४ खंभे बने है। ऊपर की छत उड़ गई है। खंभे सर्वथा यवन, दोरिक परंपरा के हैं[१], मेहराबें तिकोनी हैं। अवंति वर्मा (६१२-४०) के समय के बने वंतुपुर (अवंतिपुर) के मंदिर इससे कहीं अधिक अलंकृत हैं।

नैपाल के छोटे से देश में भी दो हजार से अधिक मंदिर हैं। उनकी शैली

[१] स्मिथ : हिस्ट्री०, पृ० ४६, चित्र १७।

वस्तुतः भारतीय शैली से इतनी प्रभावित नहीं, जितनी चीनी से। छत तो उनकी ठोस है पर दीवारें प्रायः नहीं के बराबर हैं। खंभों के बीच झिलमिली सी दीवारें खड़ी हैं।

(आ) उड़ीसा के मंदिर—उड़ीसा और गंगा की घाटी के मंदिर आकार प्रकार में अभिनव संपदा लिए निर्मित हुए हैं। उड़ीसा के सर्वोत्तम मंदिर पुरी जिले में हैं। नवीं-दसवीं और तेरहवीं शती के बीच बने भुवनेश्वर के मंदिरों की संख्या कई सौ है। अनुपम मूर्तियों से अलंकृत भुवनेश्वर के मंदिर अपनी शैली में अप्रतिम हैं। इनमें प्राचीनतर मंदिरों के शिखर छोटे, प्रायः सपाट हैं। उनके मंडप ठोस नीची छतवाले कमरे मात्र हैं। परंतु क्षितिजाकार और ऊर्ध्वाकार रेखाओं के संयोग ने उनमें पर्याप्त शालीनता भर दी है। मुक्तेश्वर का मंदिर भुवनेश्वर के इस प्रकार के मंदिरों में विशिष्ट है। यह १००० वि० के लगभग बना। उस श्रेणी के मंदिरों में प्राचीनतम परशुरामेश्वर है, आठवीं शती का। भुवनेश्वर के मंदिरों में सबसे उन्नत और शालीन लगभग १०५० वि० का बना लिंगराज का मंदिर है। उसके वर्गाकार मंडप की छत काफी ऊँची है और गर्भगृह के विमान का शिखर आकाश में सीधा दूर तक उठता चला गया है, सर्वथा सीधी रेखाओं में जो केवल चोटी पर पहुँच कर ही झुकी हैं। आधार पर और अन्यत्र आश्चर्यजनक सुंदर आकृतियाँ मूर्त हैं जो मंदिर के अलंकरण का कार्य करती हैं। इसी अलंकृत शैली का दूसरा प्रसिद्ध मंदिर बारहवीं-तेरहवीं शती का बना राजरानी के नाम से प्रसिद्ध है। उसके स्तंभ विशेष विशालता लिए हुए हैं जो और मंदिरों से भिन्न हैं।

उड़ीसा के मंदिरो की चूड़ामणि कनारक का 'काला पगोड़ा' है, सूर्य (कोणार्क) का मंदिर। भारत के सुंदरतम मंदिरों में उसकी गणना है। बड़े यशस्वी शिल्पियों ने उसकी मूर्तियों की काया कोरी होगी और उसके शालीन कलेवर को खड़ा किया होगा। मंदिर का निर्माण असमाप्त ही छोड़ दिया गया है। उसका शिखर अब भी अपूर्ण है और अब तो समुद्र के लवणाक्त वायु ने उसके कलेवर को भी ढीला कर दिया है। अबुलफजल ने इस मंदिर की भूरि भूरि प्रशंसा की है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसका निर्माणकाल कला की दृष्टि से प्रायः निंद्य था। केसरी कुल के राजा नरसिंह (१२९७-५७ के बीच) ने इसका निर्माण कराया था। कोणार्क के मंदिर की कल्पना में भाव यह है कि सूर्य का रथ ही मंदिर के रूप में मानों पृथ्वी पर उतर आया हो। इसके अलंकरण की अभिरामता, ग्रहों की गति, रथचक्रों का छंदस्, अश्वों की शक्ति वास्तु की मर्यादा की सीमाएँ खींच देते हैं। इसी काल का बना पुरी का जगन्नाथ मंदिर प्राणहीन है यद्यपि उड़ीसा के मंदिरों में, पूजा की दृष्टि से, वही अकेला जीवित है और भारत के श्रद्धतम मंदिरों में से है।

(इ) खजुराहो के मंदिर—मध्यदेश के प्रायः बीच बने खजुराहो के मंदिरसमूह भी अपनी भव्यता, शिल्पशक्ति और कायिक दिव्यता में बेजोड़ हैं। भुवनेश्वर के समूह में विविधता और संख्या के साथ साथ आकृति और सौंदर्य की शालीनता है। बुंदेलखंड के इस मंदिरसमूह की महिमा उससे कुछ ही घटकर है। खजुराहो के मंदिरों पर भी भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी के मंदिरों की भाँति यौन चित्रार्ध बने हुए हैं और उनके बाह्यालंकरणों की संख्या और छवि भी अमित है। चंदेल राजाओं ने अपनी इस मानस राजधानी को अद्‌भुत मनोयोग से सजाया। प्रायः १०५० वि० के बने सुंदरतम मंदिरों की संख्या बीस से ऊपर है। इनमें कंदरिया महादेव (कंडार्य) का मंदिर तो अनुपम भव्य है। इसके बाह्यालंकरणों की आकृतियों के अंग अंग में भंगिमा भरी है।

(ई) ग्वालियर के मंदिर—इसी वर्ग और प्रसार के ग्वालियर के मंदिर भी हैं। उसी काल में सासबहू का प्रसिद्ध वैष्णव मंदिर वहाँ बना था। 'तेली का मंदिर' भी विष्णु का ही है। यद्यपि इसकी शैली साधारणतः नागर है किंतु पीपानुमा छत होने के कारण पुरी के बैताल देवल की भाँति द्राविड शैली का भी इसपर प्रभाव है। मध्यभारत के प्रायः सारे प्रसार में नागर शैली के मंदिर खजुराहो की परंपरा में इस काल में बने।

ईंट के मंदिर—उत्तर भारत में, विशेषकर गंगा की घाटी में, अनेक मंदिर ईंटों के भी बने। इस प्रकार का प्राचीनतम गुप्तकालीन मंदिर तो कानपुर के जिले में भीतरगाँव का है जिसकी प्रत्येक ईंट अभिराम साँचे में ढली है। उसी की परंपरा में बोधगया का मंदिर भी है जो आज तक खड़ा है, ऊँचा, असाधारण वैमानिक शिखरसंपन्न, असामान्य शालीन। दक्षिण बिहार में कोंच का मंदिर भी ईंटों का है, संभवतः आठवीं शती का। मध्यप्रदेश के सिरपुर का मंदिर भी ईंटों का ही है और उस प्रदेश के देवालयों में सुंदरतम है। इन मंदिरों के बाजू और स्तंभ पत्थर के हैं, चित्रखचनों से भरे, विशाल और भारी। मीरपुर खास का दर्शनीय स्तूप भी ईंटों का ही है, प्रायः इसी पूर्व मध्यकाल का बना। ये मंदिर ही भुवनेश्वर और खजुराहो के मंदिरों के अनुकार्य बने।

(उ) बंगाल के मंदिर—बंगाल के मंदिरों की ओर संकेत किए बिना उस काल के नागर मंदिरों का प्रसंग समाप्त नहीं किया जा सकता। उस काल तक मुसलमान भारत में बस चुके थे और उनका शिल्प देशी वास्तु को प्रभावित करने लगा था। बंगाल के मंदिरों पर उनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उनकी झुकी कोर्निस (कपोत) वहाँ की सुंदर कुटियों की बाँस की बलमियों के अनुकरण में बनी। उनके शिखरों की ऊर्ध्वगत रेखाओं का झुकाव निजी शैली का परिणाम है। उनमें प्रधान विमान के चारों ओर चार, आठ अथवा सोलह छोटे विमानों का परिवार होता है। दिनाजपुर जिले के कांतोनगर का मंदिर इसी परंपरा की कृति है।

(२) द्राविड—द्राविड (दाक्षिणात्य) शैली के मंदिर कृष्णा, तुंगभद्रा, नासिक और कुमारी अंतरीप के बीच तंजोर, मदुरा, कांची, हंपी, विजयनगर आदि में बने। उन्हें चोलों, पांड्यों, पल्लवों और विजयनगर के राजाओं ने बनाकर अपने नाम अमर किए।

दक्षिण के मंदिर अकेले या परिवार रूप में होते हैं, विशाल गोपुरम् (द्वार), प्राचीरों, प्रांगणोंवाले जिनमें तालाब आदि बने होते हैं। अनेक बार तो, जैसा पहले लिखा जा चुका है, इन मंदिरों के द्वार ही इतने ऊँचे और अलंकृत होते हैं कि प्रधान मंदिर के विमान को ही ढक लेते हैं। परंतु तंजोर, गंगैकोंडपुरम् और कांजीवरम् के मंदिर इतने ऊँचे और उनके गोपुरम् इतने अनुकूलाकृतिक हैं कि दोनों का संबंध वास्तु की रमणीयता को बढ़ाता है, घटाता नहीं।

(अ) मामल्लपुरम् और कांची के मंदिर—इस द्राविड शैली का आरंभ विक्रम की सातवीं शती में हुआ जब मामल्लपुरम् (मद्रास से ३५ मील दक्षिण) में पहला पर्वतीय वर्ग का 'रथ' धर्मराजरथ बना। धर्मराजरथ को साधारणतः सात पगोडा कहते हैं। उनका निर्माण पल्लव राजाओं ने कराया। उनमें कुछ के शिखर गुंबजदार हैं, कुछ के पीपानुमा। इस प्रकार के मंदिरों के विकास की दूसरी मंजिल उन्हीं पल्लवों ने अपनी राजधानी कांची (कांजीवरम्) में सर की। वहाँ भी मंदिरों की परंपरा खड़ी हुई। इनमें दो प्रधान मंदिर कैलाशनाथ और वैकुंठ वेरुमल नरसिंहवर्मन् के प्रपौत्र राजसिंह के पुत्रों ने बनवाए। गुंबजनुमा छतवाला प्रसिद्ध मुक्तेश्वर का मंदिर वहाँ आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में बना।

(आ) तंजोर के मंदिर—तंजोर के चोलों का अध्यवसाय भी मंदिर-निर्माण में स्तुत्य था। प्रतापी राजराज और उसके पुत्र राजेंद्र ने अपने पराक्रम से जो अतुल वैभव जीता उसे वास्तु के अभिप्रायों पर चढ़ा दिया। तंजोर के विशाल बृहदीश्वर, सुब्रह्मण्य आदि मंदिर उन्होंने सं० १०४२ और १०६२ के बीच खड़े किए। इन मंदिरों की काया विस्तीर्ण भूमि घेरे हुए है। इनके प्रांगण, प्रदक्षिणा-भूमि, परवर्ती कक्ष, प्राचीर और गोपुरद्वार सभी विशाल हैं।

(इ) अन्य मंदिर—द्राविड मंदिरों की शैली के विकास की अंतिम मंजिल सोलहवीं शती से आरंभ होती है। इसी काल में जातिमंदिर (अनेक संख्या में परिवारमंदिर) अपना अपरिमित संसार लिए खड़े हुए। इस प्रकार के विशाल मंदिरपरिवारों की संख्या तीस से ऊपर है। रामेश्वरम्, तिन्नेवेली, मदुरा आदि में इनका निर्माण हुआ था। मदुरा का प्रसिद्ध मंदिर स्थानीय सामंत राजा तिरुमल नायिक (सं० १६८०-१७१६) ने बनवाया। इस प्रकार के मंदिरों में असाधारण लंबे ढके गलियारे होते हैं। रामेश्वरम् का गलियारा तो ४००० फुट लंबा है। इनकी भीतर बाहर की दीवारें अनंत मूर्तियों से भरी होती हैं। परंतु अपनी कायिक शोभा में

भुवनेश्वर आदि के अलंकरणों के सामने वे निश्चय नगण्य हैं। इस परंपरा का एक मंदिर, अपनी शैली के परिवार के बाहर, दकन में खड़ा हुआ। वह एलोरा के दरीगृहों में विख्यात कैलाशमंदिर है, पर्वतीय, उस शैली का सबसे विस्मयजनक वास्तु। उसे आठवीं शती के राष्ट्रकूट राजा दंतिदुर्ग और कृष्ण ने बनवाया। उसमें लगे अध्यवसाय, श्रम और व्यय का अनुमान कर मनुष्य चकित रह जाता है। है यह पल्लव शैली का विकास, पर इसकी अलंकार संपदा और मूर्तियाँ दक्षिण के सारे मंदिरों की मूर्तियों में सुंदर हैं। बीजापुर जिले में बादामी और पट्टदकाल के मंदिर भी इसी प्रकार के हैं पर वे पर्वत में कटे नहीं, पत्थर की ईंटों से बने हैं। बेलारी (मद्रास) जिले के हंपी गाँव के चतुर्दिक् पंद्रहवीं-सोलहवीं सदियों के विजनगर के भग्नावशेष हैं। वहाँ द्राविड शैली का एक निजी स्थानीय रूप विकसित हुआ। मंदिर सर्वथा दाक्षिणात्य शैली के हैं, स्तंभमंडपों और गोपुरद्वारों से युक्त, परंतु उसके राजप्रासादों की निर्माणशैली मुस्लिम वास्तु से अनेक प्रकार से प्रभावित है।

(३) बेसर—बेसर शैली उत्तर और दक्षिण की शैलियों का संमिलित विकास है। दोनों के संमिश्रण से वह बनी है। जिस प्रकार शैली रूप में उसका उन दोनों के बीच स्थान है, उसी प्रकार स्थान की दृष्टि से भी वह दोनों की मध्यवर्ती है। उसके मंदिर उत्तर और दक्षिण के बीच दकन में मिलते हैं। उसे कुछ वास्तुविशारदों ने चालुक्य शैली भी कहा है। यथार्थतः वह पिछले चालुक्य मंदिरों की ही शैली है। पूर्वकालीन चालुक्य शैली इससे भिन्न दाक्षिणात्य है। फिर होयसल मंदिरों की भी यही शैली होने से इसे मात्र चालुक्य कहना उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः उस दिशा में होयसलों ने अधिक प्रयास किया और यदि एक राजकुल से ही उस शैली का नाम संबद्ध होना हो तो होयसल राजकुल उस नाम का अधिक अधिकारी हो सकता है। बेसर शैली के सुंदरतम नमूने मैसूर राज्य में हलेबिद और बेलूर में हैं।

इस शैली के मंदिरों का आधार अर्द्धचित्रार्धों से उमगा रहता है। उसके अनेक पहल होते हैं, रूप उसका तारा सा होता है, उसका विमानशिखर छोटा और फैले कलश से मंडित होता है। तिपलूर तालुक (मैसूर) के गाँव नुग्गेहल्ली का विष्णुमंदिर उसका कांतिमय उदाहरण है। सोमनाथपुरवाले मंदिर से उस शैली की तारकाकृति स्पष्ट हो जाती है। बेलूर के प्रसिद्ध मंदिर का निर्माण होयसल नरेश बोट्टिग ने ११७४ में कराया था। पहले वह जैन था पर बाद में वैष्णव हो गया और उसी की लगन का परिणाम यह अभिराम मंदिर था। इस शैली के सर्वोत्तम मंदिर हलेबिद में बने, इस काल के कुछ बाद। होयसलेश्वर और केदारेश्वर के जोड़ के मंदिर इस शैली में दूसरे नहीं बने। केदारेश्वर तो एक बट की जड़ों के नींव में घुस आने से गिर गया है पर होयसलेश्वर पहले की ही भाँति शालीन खड़ा है।

उसकी काया पर इंच भर भूमि नहीं बची जो मूर्तमंडनों से भर न दी गई हो। उनसे भिन्न कोई स्थान नहीं जहाँ आँखें ठहर सकें। सात सात सौ फुट की अटूट पंक्ति तक अलंकरणों की परंपरा चली गई है। होयसलेश्वर और इस प्रकार के मंदिरों में साधारणतः दो दो मंदिर होते हैं जो पास ही पास और परस्पर जुड़े रहते हैं। सोमनाथपुर वाले वास्तुपिंड में तीन तीन मंदिर एक साथ जुड़े हैं। मैसूर के मंदिरों की एक विशेषता यह है कि उनकी अलंकारमूर्तियों के निर्माताओं (कोरकों) के नाम उनके नीचे लिखे हुए हैं जिससे उनके कलाकारों का पता चल जाता है। इससे कला के अध्येता और शिल्प के इतिहास का कार्य सुगम हो जाता है। यह रीति उत्तर के मंदिरों में तो नहीं ही चली, दक्षिण के अन्य मंदिरों पर भी इसका अभाव है। होयसलेश्वर मंदिर पर इस प्रकार के बारह हस्ताक्षर हैं, बेलूर के मंदिर पर चौदह, प्रत्येक दूसरे से भिन्न। सोमनाथपुर के मंदिर पर भी आठ विविध शिल्पियों के हस्ताक्षर हैं जिनसे पता चला है कि उनमें से एक मल्लितंम ने अकेले चालीस मूर्तियाँ कोरीं।

६. स्तूप

स्तूप, चैत्य और विहार अधिकतर, कम से कम पिछले काल में, एक ही परंपरा के हैं। स्तूप और चैत्य दोनों का उद्देश्य प्रायः एक सा था। दोनों ही अति प्राचीन काल में मृत्यु और शवसमाधि से संपर्क रखते थे, बाद में दोनों भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करने लगे। यहाँ पहले हम स्तूप पर विचार करेंगे।

स्तूप पहले केवल मृत्युसंबंधी थे और उनका उपयोग शव अथवा मृतक की अस्थियाँ रखने में होता था। भारत के प्राचीनतम स्तूप साधारणतः केवल एक प्रकार के टीले हैं। ऐसी एक समाधि जो आठवीं-सातवीं वि० पू० की है उत्तर वैदिक काल की, उत्तर बिहार के लौड़िया नंदनगढ़ में मिली थी[१]। वैदिक काल में मृतक को समाधि देने की भी प्रथा थी और ऋग्वेद के मृत्यु प्रकरण में एक मंत्र ऐसा भी है जो पृथ्वी से प्रार्थना करता है कि शव को कोमलतापूर्वक वह अपनी कोख में स्थान दे। उसकी मिट्टी उसे अपने भार से न दबाए[२]। जूवो दुब्रुइल का कहना है कि मालाबार की खुदाई में चट्टान खोदकर मध्यवर्ती स्तंभ पर टिकी वर्तुलाकार जो अस्थिसमाधि मिली है वह खोखला स्तूप ही है और वैदिक काल की

[१] कुमारस्वामी : हिस्ट्री आफ् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १० ।

[२] ऋग्वेद, १०, १८, १०–११ ।

है[1]। वेडसा और कुषाणकालीन स्तूप उत्तरी सीरिया के मरथ की फिनीशी मृतक समाधियों से मिलते हैं[2]। स्तूप अपने उद्देश्य के विचार से मिस्री पिरामिडों से और ठोस बनावट के रूप में बाबुली जग्गुरत से बहुत मिलते हैं। कुछ अजब नहीं कि पिरामिडों और जग्गुरत के वास्तु का प्रभाव इनपर पड़ा हो। यह महत्व की बात है कि जिस रूप में हम स्तूपों को जानते हैं, विशाल ईंटों के रूप में, वे अशोक के बाद ही बने जब सिंध और पश्चिमी पंजाब प्रायः सौ वर्ष तक ईरान के अधिकार में रह चुके थे और जब बाबुल, असुर और मिस्र भी ईरान के प्रांत थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि स्तूप का वर्तमान रूप अशोक की कृतियों की ही भाँति ईरानी माध्यम से प्रभावित हुआ हो।

इसमें संदेह नहीं कि अपने प्रारंभिक रूप में स्तूप केवल मृत्यु और मृतक आवास से संबंध रखता रहा है। चंपारन जिले के नंदनगढ़ की मृतक समाधि अथवा टीले का उल्लेख किया जा चुका है। प्राचीनतम स्तूप मिट्टी के इसी प्रकार के मृतक के ऊपर उठाए ठोस टीले हैं। बाद में वे कच्ची (बिना पकाई) ईंटों के भी बनने लगे और वही उनका प्रकृत रूप बन गया। पहले उनका उद्देश्य केवल अस्थिसंचय था, बाद में वे निर्वाण अथवा महत्वपूर्ण घटनाओं आदि के स्मारक भी बन गए और तब उनका निर्माण, बिना उन्हें अस्थिस्थापना के लिये खोखला बनाए, जग्गुरत की भाँति केवल ठोस पत्थर, ईंट या मिट्टी का होने लगा। वह केवल भक्ति कार्य था। अशोक के संबंध में जो दस हजार से अस्सी हजार तक स्तूप बनवाने की किंवदंती है वह ऐसे ही स्तूपों को व्यक्त करती है। फाह्यान लिखता है कि विहारों में मौद्गलायन, सारिपुत्र और आनंद तथा अभिधर्म, विनय, सूत्रों आदि के लिये स्मारकस्तूप बनाने की प्रथा चल गई थी। ये स्तूप वस्तुतः वेदी के रूप में बना दिए जाते थे। मध्यकाल (पालकाल) के मिट्टी आदि के साँचे में ढले छोटे छोटे स्तूप सामने पतले ऊँचे स्तंभनुमा स्तूपाकृति लिए हुए हैं। पूरा ठीकरा इस प्रकार स्वयं स्तूप की आकृति का होता है और उसपर स्तूप की मूर्ति भी उभरी होती है।

हिंदू समाधि, लगता है स्तूप के रूप में विकसित न हो सकी, क्योंकि जितने स्तूप अथवा उनके भग्नावशेष आज हमें उपलब्ध हैं वे सभी बौद्धों अथवा जैनों के हैं। वस्तुतः जैनों के स्तूप भी नष्ट हो चुके हैं, बौद्धों के ही अपनी शालीनता लिए

[1] वेदिक ऐंटिक्विटीज, पांडिचेरी और लंदन, १६२२; लांगहर्स्ट : राककट टुंब नियर कालीकट, ए० एस० आई०, ए० आर०, १६११–१२; लोगन : फाइंड आव् एंशेंट पाटरी इन मालाबार, इ० ऐ०, ८; मालाबार, मद्रास, १८८७।

[2] कुमारस्वामी : हिस्ट्री०, पृ० १२।

खड़े हैं और अपनी आकृति और स्वरूप का हमें परिचय देते हैं। बुद्ध की मृत्यु के कुछ ही काल बाद से ये अपने वर्तमान रूप में शुरू होकर पिछले काल तक लगातार बनते चले गए थे। इनमें विशेष महत्व के अनुमानतः अशोक के बनवाए सारनाथ, साँची, भरहुत के और कनिष्क के बनवाए पेशावर के हैं।

स्तूपों की आकृति साधारणतः अर्धवर्तुलाकार है, ऊँची, ठोस दिखती। नैपाली सीमा पर बना पिप्रावा का स्तूप, जो संभवतः अशोक से भी प्राचीन और शायद बुद्ध के कुछ ही काल बाद का बना है, व्यास में धरातल पर ११६ फुट है, ऊँचाई उसकी केवल २२ फुट है। साँची के बड़े स्तूप का व्यास आधार पर १२१.६ फुट है, ऊँचाई ७७॥ फुट और उसके पत्थर की वेष्टनी (रेलिंग) की ११ फुट है। उत्तर भारत के अनेक स्तूप २०० से ४०० फुट तक ऊँचे बताए जाते हैं। सिंहल (लंका) के जेतवनाराम दगाबा की ऊँचाई २५१ फुट है।

प्राचीन स्तूप भीतर से खोखले या ठोस कच्ची ईंटों के बने हैं और पत्थर की रेलिंगों से घिरे हुए हैं। मिट्टी की ईंटों से बने होने पर भी अक्सर इन्हें पक्की जुड़ाई से ऊपर से ढक देते हैं। साँची और सारनाथ के स्तूप इसी प्रकार के हैं। स्तूपों के नीचे आधार होता है जो मेधि कहलाता है। मेधि की भूमि रेलिंग और स्तूप के बीच प्रदक्षिणाभूमि का काम देती है। मेधि पर सोपान मार्ग से चढ़ते हैं। स्तूप के ठोस मेध्यासीन भाग को अंड अथवा गर्भ कहते हैं जो गुंबजाकार होता है। उसके ऊपर हर्मिका होती है जिससे ऊपर निकली हुई धातुयष्टि नीचे अंड को भेदती गहरी चली जाती है। यह यष्टि ऊपर के छत्र अथवा छत्रों का दंड बन जाती है। चोटी पर कलश बने होते हैं जिन्हें वर्षस्थल कहते हैं। यह स्तूप का साधारण रूप है, वैसे उसके आकार प्रकार में पीछे परिवर्तन होता गया है।

वेदिका (रेलिंग) के भी, जो स्तूप को घेरते हैं, अनेक भाग होते हैं। उसका नीचे का आधार आलंबन कहलाता है, बीच बीच में स्तंभ (थंब) होते हैं जिनसे होकर अथवा जिन तक वेदिका दौड़ती है। स्तंभों में सूराख होते हैं जिन्हें सूचीमुख कहते हैं, उन्हीं में वेदिका की सूची (पड़ी, दौड़ती, तिपहली पत्थर की बाड़) प्रवेश करती है। सब से ऊपर की बाड़ 'उष्णीष' (पगड़ी, शीर्ष) कहलाती है। इस वेदिका में चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार बने होते हैं। तोरण एक अथवा, एक के ऊपर एक, तीन तक होते हैं। समूची वेदिका और तोरण लकड़ी से बने होने का आभास उत्पन्न करते हैं। उनका विकास बाँस की बनावट से हुआ भी है।

सारनाथ का 'धर्मराजिका' स्तूप संभवतः अशोक का ही बनवाया हुआ है। कम से कम उसकी वेदिका पर तो मौर्य पालिश अभी तक लक्षित है और वहाँ के

स्तंभ और उसके प्रस्तरीय टेकनीक में कोई अंतर नहीं है। वह संभवतः बुद्ध के प्रथम प्रवचन—धर्मचक्रप्रवर्तन—की भूमि पर स्मारक स्वरूप खड़ा हुआ। भरहुत और साँची के स्तूप भी अशोककालीन ही माने जाते हैं यद्यपि उनकी वेदिकाएँ (रेलिंग) शुंगकाल (विक्रम पूर्व द्वितीय और प्रथम शती) में बनीं। भरहुत की वेदिका खंड रूप में कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम में सुरक्षित है। इन वेदिकाओं पर उभरी यक्षयक्षियों, नागराजों, देवताओं की दीर्घाकृतियाँ असाधारण आकर्षण की धनी हैं। उनके नीचे उनके नाम भी खुदे हुए हैं। उनके अतिरिक्त अनंत मात्रा में नरनारियों के वृक्षगत मस्तक, कमल आदि के प्रतीक उनपर उत्कीर्ण हुए हैं। अभी महायान का उदय न होने के कारण बुद्ध की प्रतिमा नहीं बनी थी और उनकी उपस्थिति का बोध बोधिवृक्ष, छत्र, धर्मचक्रप्रवर्तन परक कर, पादुका आदि के रूप में ही कराया जाता था। ये प्रतीक वहाँ अत्यंत आकर्षक बने हुए हैं। जातक चित्रों के अनुकार्य दर्शक को बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओं से परिचित कराते हैं। उसपर बने गज-मृग-वानरों की सजीवता तो संसार की समूची कला में अलभ्य है। भरहुत रेलिंग के स्तंभों पर बनी एक विशेष प्रकार की नारीमूर्तियाँ वृक्ष की शाखा पकड़े वृक्ष के नीचे खड़ी हैं। इनका नाम भारतीय कलासमीक्षा में वृक्षिका, शालभंजिका, यक्षी, यक्षिणी आदि पड़ गया है। इनकी परंपरा कुषाण-कालीन रेलिंगों पर और सुथरी तथा सजीव हुई। बोधगयावाली वेदिका भी भरहुत की ही परंपरा में है। साँची (भोपाल के पास) की रेलिंगों की परंपरा भी यही है पर उनके अर्धचित्रों का छंदस् इनसे भी तीव्रतर हो गया है। उनकी आकृतियों की विविधता बढ़ गई है और जीवन अनेक सोतों से फूटकर बह चला है। वहाँ मानव (अथवा कला) का सामूहिक रूप प्रस्तुत हुआ है। 'टीम स्पिरिट' में अनेकानेक मानव, पशु वहाँ प्रदर्शित हैं। समूचे जलूसों का उत्खचन हुआ है और उनकी गतिमानता दर्शक को आकुल कर देती है। साँची की मूर्तिकला का उल्लेख हम यथास्थान करेंगे, यहाँ मात्र उसके स्तूपों का उल्लेख इष्ट है। उसके स्तूप इस देश के स्तूपों में प्रायः सबसे अच्छी दशा में हैं और उसकी रेलिंग तथा तोरण भी प्रकृत अवस्था में अभिराम खड़े हैं। पहले जो स्तूप के अवयवों का वर्णन किया गया है उनका उदाहरण साँची का विशाल स्तूप ही है।

कुषाण काल (पहली से तीसरी शती विक्रम तक) की कला के तीन प्रधान केंद्र थे : मथुरा, सारनाथ और अमरावती। इनमें पहले दो तो कुषाण साम्राज्य के अंतर्गत थे, तीसरा बाहर था, आंध्र सातवाहनों के साम्राज्य में। उसी काल अनेक स्तूप (गांधार शैली की वेष्टनी लिए) अफगानिस्तान (जो कुषाणों के आधीन था) की भूमि पर भी बने। उस दिशा का सबसे महत्वपूर्ण, वस्तुतः कनिष्क के शासन का सबसे अधिक उल्लेखनीय वास्तु, उसका पेशावरवाला स्तूप और स्तंभ थे।

स्तूप का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है[1]। उनके वर्णन के अनुसार उसकी कुल ऊँचाई ६३८ फुट थी—आधार, पाँच मंजिलों का १५० फुट, अंड (स्तूप) तेरह मंजिला ४०० फुट और ऊपर का लौहस्तंभ (लौहयष्टि) अनेक सुनहरी ताँबे की छतरियों से युक्त ८८ फुट। मथुरा के बौद्ध और जैन स्तूप तो नष्ट हो चुके हैं परंतु उनकी वेदिकाओं के टूटे खंड मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। उनपर बनी अपार मूर्तिसंपदा, जो भारतीय कला परंपरा में निजी स्थान रखती है, अनुपम और अतुलनीय है। भरहुत की यक्षी परंपरा वहाँ से इनपर भरपूर विकसित हुई है। पर वह मूर्तिकला का क्षेत्र है और उसका उल्लेख यथास्थान करेंगे।

मद्रास के गुंटूर जिले में कृष्णा के दक्षिण तट पर खड़ा अमरावती का छोटा सा कस्बा आज भी उस ऐतिहासिक जदुई नगर का वह नाम वहन करता है जिसकी अभिराम कला संपदा निकट के धरनीकोट से खोद निकाली गई है। उसका प्राचीन स्तूप अपने मूल रूप में संभवतः दूसरी शती ई० पू० में बना था, यद्यपि उसकी मूर्तिराशि अधिकतर कुषाण काल में बनी। स्तूप की पूजा तो प्रायः बारहवीं सदी तक होती आई थी। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में लालची जमीदारों ने उसकी संगमरमर की पट्टियों के लालच से उसे नष्ट कर दिया। उसकी रेलिंग आदि की प्रतिमाएँ मद्रास और लंदन के संग्रहालयों में संग्रहीत हैं। आंध्र अभिलेखों से प्रकट है कि उसकी रेलिंग दूसरी सदी ईसवी में बनी। स्तूप का बाहरी आवरण और वेदिका संगमरमर की बनी हैं जिनपर उस काल की मूर्तिकला के आश्चर्यजनक आदर्श उत्कीर्ण हैं। पत्थर के पृष्ठ से इतनी संमोहक देहयष्टि कभी कहीं नहीं उभारी गई। अमरावती के स्तूप की रेलिंग उस परिवार की मुकुटमणि है—व्यास में १९२ फुट, परिधि में ६०० फुट, ऊँचाई में १३-१४ फुट।

गुप्तकाल में भी प्रायः सर्वत्र ही स्तूप बने। अधिकतर वे गांधार प्रदेश और मथुरा आदि में थे। मध्यदेश के पूर्वी भाग में उनमें से दो आज भी खड़े हैं—एक सारनाथ में, दूसरा पटने के पास राजगिरि में। सारनाथ का धर्मेख (धर्माख्य) संभवतः छठी सदी ईसवी का है। वृत्ताकार ऊँचा अंड बिना आधार के जैसे भूमि फाड़कर उठ आया है। उसके ऊपर वर्तुलाकार ईंट का संभार १२८ फुट ऊँचा है। दूसरा, राजगिरि की जरासंध की बैठक का, उससे कुछ बाद का है। इसी प्रकार के पत्थर में कटे कुछ स्तूप अजंता आदि के चैत्यगृहों में भी हैं।

[1] सुंग-युन—'फाउथाङ' (क नि-सि-क), बील का दुःखवाद, पृ० १०३-४, फाह्यान—'फो-कुओ-की', अध्याय ७, (बील, पृ० ३२); हुएनत्सांग—'सि-यु-की', खंड २, बील, १, पृ० ९९; वाटर्स १, पृ० २०४; अल्बेरूनी के पेशावर के विहार के प्रति देखिए अनुवाद, सचाऊ, खंड २, पृ० ११।

स्तंभों की यह परंपरा पिछले काल तक लगातार चलती रही थी। उनमें से कुछ साँची के स्तूपों (जिनमें बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र और मौद्गलायन की अस्थियाँ संचित हैं) की भाँति अस्थि रखने के लिये खोखले बने थे, कुछ केवल स्मारक रूप में ठोस। पीछे साधारणतः पूजा के लिये ही उनका निर्माण होने लगा। तीर्थस्थान पर जाते ही बौद्ध लोग अपने निजी दो दो, चार चार, दस दस फुट ऊँचे स्तूप खड़े कर लेते थे। दसवीं-ग्यारहवीं सदियों में उनके प्रतीकात्मक साँचे में ढले, उभरे, मिट्टी चूने के ठीकरे भी, स्तूप की आकृति के, अपनी भूमि पर स्तूप की आकृति उभारे प्रस्तुत हुए।

७. चैत्य

चैत्य शब्द 'ची' धातु से बना है जिसका अर्थ है चयन करके राशि करना, एक के ऊपर एक को लादना। इसी से 'चित्य' बना जिसका अर्थ वेदी था। उसका संबंध धीरे धीरे आचार्यों, महान् व्यक्तियों आदि के स्मारक से हो गया। इसके अतिरिक्त अन्य पवित्र वस्तुओं के साथ भी इस शब्द का उपयोग होने लगा। चैत्य-वृक्ष, न्यग्रोध, पीपल आदि उन वृक्षों की संज्ञा हुए जिनकी पूजा होती थी। चैत्य-वृक्षों की ओर अथर्ववेद तक में संकेत हुआ है। इन वृक्षों का भी कला में वेदिका-वेष्टित चित्रण हुआ है। पहले लिखा जा चुका है कि चैत्यों का स्तूपों के साथ घना संबंध रहा है। अनेक बार तो चैत्य शब्द का प्रयोग वहाँ हुआ है जहाँ स्तूप का होना चाहिए था अर्थात् दोनों पर्याय की भाँति प्रयुक्त हुए हैं, पवित्र स्थलों के अर्थ में। इसी अर्थ में अनाथपिंडिक ने सारिपुत्र की अस्थिवेदिका रखने के लिये चौमंजिला चैत्य बनवाया। उसके शिखर पर छत्र बना था। स्पष्टतः यह स्तूप का रूप है। 'वुल्वा' भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करता है। उसके अनुसार भिक्षु के शव को घास और पत्तियों से ढककर उसपर चैत्य का निर्माण होना चाहिए। अजंता, एलोरा में और अन्यत्र भी गुंबजनुमा कमरे में बने स्तूप के साथ समूचे वास्तु का नाम चैत्य है, देवालय के अर्थ में। इसी अर्थ में—देवायतन, देवगृह, देवालय के—रामायण महाभारत आदि में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

आरंभ में चैत्य का संबंध शवसमाधि से रहा है, इसका संकेत पहले भी किया जा चुका है। जुवो दुब्रुइल द्वारा खोजी हुई मालाबार की चट्टान में खुदी मृतकसमाधि इसी प्रकार का चैत्य स्तूप है। एशिया माइनर के दक्षिणी समुद्र तट पर लीडिया के पिनारा और ज़ैंथस में जो एकचट्टानी शवसमाधियाँ बनी हैं वे भारतीय चैत्यों से बहुत मिलती हैं[१]। इस प्रकार आरंभ में निश्चय स्तूप की ही

[१] कुमारस्वामी, हिस्ट्री०, पृ० १२।

भाँति चैत्य भी महापुरुषों के अस्थिसंचायक समाधि, गह्वर, कब्र आदि को ही व्यक्त करता था।

परंतु यह अर्थ सदा उस शब्द का नहीं रहा। धीरे धीरे वह संघ के पूजागृह को व्यक्त करने लगा जिसमें प्रतीक स्तूप अथवा बुद्ध की प्रतिमा (महायान के उदय के पश्चात्) आदि रहते थे। उसका अपना विशिष्ट वास्तु तब विकसित हुआ। उसमें गर्भ, दाहिने बाएँ के स्तंभों से विभाजित भाग आदि सभी प्रस्तुत हुए। बीच में उसके एक ठोस स्तूप होता था और यह समूचा प्रासाद पर्वत की चट्टानों में काटकर बनाया जाता या लकड़ी और ईंटों का बनता था। अधिकतर पर्वत में बने चैत्य गोल, लंबी, ऊँची सुरंग से होते थे। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणाभूमि होती थी। प्राचीन विहारों और चैत्यों में, भाजा को छोड़कर, कहीं मूर्तियाँ नहीं हैं।

संघ की बैठकों के संबंध में जब उसके सदस्य विचारविनियम आदि के लिये एकत्र होने लगे, तब उनके आवास आदि के साथ ही चैत्यगृह की आवश्यकता पड़ी। उसका संबंध बौद्धों के सामूहिक पूजन से है और इस रूप में वह ईसाई चर्च के बहुत निकट आ जाता है। साधारणतः गुंबजनुमा छत के नीचे स्तूप अथवा प्रतिमापरक कोई वास्तुनिरूपण होता था। भिक्षु आते थे, आचार्य के प्रवचन सुनते थे, प्रतीक की प्रदक्षिणा करते थे। उनके आवास के लिये तब फूस आदि की बैलगाड़ी की छाजन की सी छत बना लेते थे। बस वही प्रतीक और संघ दोनों के आवास के लिये जो गृह बना वही चैत्यगृह कहलाया। ठीक इसी प्रकार का एक चैत्यगृह हैदराबाद के वाल्दुग जिले में तेर (प्राचीन नगर) नामक स्थान में है—भारत के प्राचीनतम चैत्यगृहों में से एक। वह ईंट और पलस्तर का बना है। गाँव की झोपड़ी जैसा द्वार पूर्व की ओर है, उसके ऊपर एक खिड़की है, जिसका निर्माण इसलिये हुआ था कि सूर्य का प्रकाश वह दूर भीतर तक फेंक दे। हाल मंडपनुमा था, बैलगाड़ी की छाजन सा।

ई० पू० तीसरी-चौथी सदी से ही चैत्यगृह बनते चले आए थे। अनेक तो पर्वत की चट्टानों में खोदकर बनाए गए हैं। अशोक के समय के चैत्य छोटे और सादे हैं। अजंता का हीनयानी चैत्यगृह उसी काल का है। अठपहले खंभों पर उसकी छत रुकी है। खंभे, दीवारें, छत आदि सभी पहाड़ काटकर बनाए गए हैं। यह दरीगृह अजंता के प्राचीनतम गुहागृहों में से है इससे यह लकड़ी की निर्माणपद्धति में बने हैं। अशोक के बनाए कुछ दरीगृह बराबर की पहाड़ियों में हैं, लोमश ऋषि, सुदामा आदि नामों से विख्यात। उन्हें उसने आजीवक साधुओं के लिये बनाया था। उनकी दीवारों पर मौर्य पालिश चढ़ी हुई है।

बंबई और पूना के बीच पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में कार्ले का सुंदरतम चैत्यगृह है। हीनयान संप्रदाय का यहाँ आदर्श वास्तु है, लगभग पहली शती

ई० पू० का। उसका निर्माणकार्य संभवतः अशोक के जीवनकाल में ही आरंभ हो गया था। परंतु ईसवी सन् के बाद तक उसमें काम लगा रहा, जैसा उसकी महायानी मूर्तियों से प्रगट है। उसके दोनों ओर एक एक स्तंभ थे। उनमें से एक ही सोलहपहला स्तंभ बच रहा है। स्तंभ आकृति में अशोक के ईरानी कला से प्रभावित स्तंभों से मिलता है। सामने पहले मंडपयुक्त तीनद्वारी थी। हाल में खुलनेवाला मध्यद्वार संघ के सदस्यों के लिये था और शेष दोनों गृहस्थ उपासकों के लिये थे जिससे वे बाएँ द्वार से प्रवेश कर बगैर संघ के कार्य में विघ्न डाले चैत्य, स्तूप या प्रतीक की प्रदक्षिणा कर दाहिने द्वार से बाहर निकल जाएँ। इस प्रकार के तीन द्वार प्रायः सभी चैत्यगृहों में थे।

मुख्य द्वार के ऊपर का धूप (सूर्य-) वातायन (खिड़की) चैत्य के भीतर दूर तक प्रकाश पहुँचा देता था। उससे छनकर आया प्रकाश न केवल पूज्यस्थली को प्रकाशित करता था वरन् गृह के कोने तक उसका आलोक पहुँचता था। इस खिड़की का बाहरी आकार पीपल के पत्ते सा है। अनेक बार तो यह वातायन अलंकरण मात्र रह जाता होगा। द्वार का सारा सामना दीवार में इसी पीपलपत्र के प्रतीकचित्रण से भर दिया गया है। चैत्यगृह की लंबाई चौड़ाई १२४ × ४३$\frac{१}{२}$ फुट है। प्रदक्षिणाभूमि को स्तूप और हाल से पंद्रह पंद्रह स्तंभों की दो पंक्तियाँ पृथक् करती हैं। स्तंभ पारसीक हैं, जैसे बाहर के स्तंभ। अंतर यही है कि वे अठपहले हैं और उनके मस्तक पर सिंह के स्थान में गजारूढ़ देवमिथुन हैं। चैत्य के पीछे के सातों स्तंभ बिना शीर्ष या आधार के हैं। छत गुंबजाकार है।

इसी प्रकार के चैत्यगृह पश्चिमी भारत के अनेक स्थलों में थे। भाजा, कोंदाने, पीतलखोरा, बेदसा, नासिक, कन्हेरी के दरीगृह विशेष प्रसिद्ध हैं। इन सबका वास्तु प्रायः एक सा ही है, जैसा कार्ले का। ये सभी चैत्य साँची के स्तूपों के बाद के हैं। अजंता के दरी गृहों में ४, ६, १०, १६ और २६ तो चैत्य हैं, शेष भिक्षुओं के लिये बिहार।

८. विहार

स्तूप, चैत्यगृह और विहार तीनों बौद्धजीवन के प्रधान अंग थे, तीनों वास्तु के विशिष्ट प्रकार थे, तीनों परस्पर संबद्ध थे। स्तूप और चैत्य दोनों प्राचीनकाल में शवसमाधि थे, फिर धीरे धीरे स्तूप घटनाओं का स्मारक बना और चैत्य देवालय। विहार वह स्थल था जहाँ बौद्ध संघ निवास करता था, एक प्रकार के मठस्थविर, आचार्य आदि के नेतृत्व में संघ के भिक्षु धर्म की साधना करते थे। साथ ही उनका निवास था, साथ ही श्रवण, वाचन। साथ रहने से परस्पर व्यवहार, आचार आदि की भी आवश्यकता पड़ी। व्यवस्था की रक्षा के लिये उन्हें संघ का

संमिलित आदेश मानना होता था। संघ की शक्ति बुद्ध की मृत्यु के बाद और भी बढ़ गई। उसका निर्णय अनुल्लंघनीय हो गया। यह निर्णय संघ अपने अधिवेशनों में किया करता था। उसके अधिवेशनों की कार्यविधि राजनीतिक संघों और गणों की क्रियाप्रणाली पर अवलंबित थी। शाक्यों और लिच्छवियों के संथागारों की ही भाँति बौद्ध संघ की बैठकें भी उनके विहार के संथागारों में होती थीं और निर्णय छंद या मतग्रहण द्वारा किया जाता था। निर्णायक बहुमत होता था।

संघ, जैसा कहा जा चुका है, कालांतर में बड़ा प्रबल हो गया। बौद्ध राजाओं पर उसका जो प्रभाव रहा होगा उसकी कल्पना तो की ही जा सकती है, अन्य धर्मावलंबी राजाओं को भी उसके त्रास का भाजन बनना पड़ता था और जब संघ सद्धर्म की वैध नीति में असफल होता था तब जब तब देश और राजा के विरुद्ध अपने सुरक्षित विहारों में षड्यंत्र करने से भी नहीं चूकता था। इतिहास में कम से कम दो प्रमाण इस स्थिति की पुष्टि करते हैं। एक तो उसका षड्यंत्र द्वारा अशोक के कुल से मगध की गद्दी छीन ब्राह्मण राजकुल की स्थापना करनेवाले शुंग-सम्राट् पुष्यमित्र के विरुद्ध ग्रीक बौद्ध मिनादर (मिलिंद) को उसपर चढ़ा लाना था जिसके परिणामस्वरूप पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र और जलंधर के बीच के सारे विहार जला डाले और ग्रीकराज की राजधानी साकल (स्यालकोट, पंजाब) में घोषणा की—"यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि[1]।" (जो मुझे एक बौद्ध भिक्षु का सिर देगा उसे मैं सौ सोने के दीनार दूँगा।) दूसरा उन गुप्त सम्राटों के विरुद्ध षड्यंत्र था जो ब्राह्मण और वैष्णव धर्म के पोषक थे। इसी नीति से कुढ़कर शैव शशांक ने संघ के अनेक विहार अग्नि की लपटों को समर्पित कर दिए और बोधगया के बोधिवृक्ष को कटवाकर उसकी जड़ में अंगार रखवा दिए कि वह चैत्यवृक्ष फिर पनप न सके।

यह स्थिति उस विहार में साधारण ही संगठित हो सकती थी जहाँ केवल संघ का अनुशासन था। विहार के अपने भवन आदि थे जो उपासकों के अनुदानों से सदा संपन्न रहते थे। बौद्ध चैत्यों और तीर्थस्थानों से विहार सदा संलग्न रहते थे। इसी से नासिक, अजंता, बेदसा आदि में सर्वत्र विहार बने हुए थे। विहार भी एक विशेष प्रकार के आवास थे जो अन्य सार्वजनिक गृहस्थ आवासों से भिन्न थे। उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

दूसरी-पहली सदी ई० पू० के भरहुत के एक अर्धचित्र में श्रावस्ती (गोंडा बहराइच—अवध—की सीमा पर सहेत महेत) के जेतवन विहार के भिक्षुओं का

[1] दिव्यावदान के अशोकावदान में।

अंकन हुआ है। उसी जेतवन विहार को फाह्यान ने प्रायः आठ सौ वर्ष बाद देखा था। तब वह विहार अपने कायिक परिमाण में बहुत बढ़ गया था। उसके भवन सात सात, आठ आठ मंजिलों के थे। भरहुतवाले उत्कीर्ण दृश्य में आश्रम का रूप संचित है। एक ओर एक भिक्षु चैत्यवृक्ष को सींच रहा है, दूसरी ओर उपासक प्रणाममुद्रा में खड़े हैं। मूर्तिगत विहार दोमंजिला है जैसे सिक्किम के विहार आज भी होते हैं। ऊपर की मंजिल में चैत्यप्रतीक और भिक्षुओं का आवास है।

प्राचीन विहार चैत्यगृह के चारों ओर बने छोटे कमरों का परिवार था। इन छोटे कमरों को कुटी भी कहते थे। सारनाथ के विहार में बुद्ध की कुटी का नाम पीछे मूलगंधकुटी पड़ा और उसके विहार का मूलगंधकुटिविहार। उन कुटियों के बीच बड़े चैत्यगृह में ठोस स्तूप होता अथवा संप्रदायविशेष की पूजामूर्ति प्रतिष्ठित होती थी। हीनयान विहार के चैत्यों में सामने की दीवार पर अर्धचित्र में संप्रदाय का प्रतीक उभरा रहता था।

ईंट पत्थर से बने प्राचीन विहार तो अब न रहे पर पर्वतों को काटकर बनाए प्राचीनतर विहार आज भी खड़े हैं। गोदावरी तट के प्राचीन नासिक का गौतमीपुत्र विहार हीनयान संप्रदाय का था। यह विहार कार्ले के चैत्यगृह का प्रायः समकालीन था। नासिक के उस विहार (लें० नं० ३) में भिक्षुओं के लिये छोटे छोटे सोने के कमरे बने हुए हैं। विहार (बड़ा कमरा ४६ फुट लंबा और ४१ फुट चौड़ा) के भीतर दीवारों से लगी तीन ओर पत्थर की बेंचें बनी हैं जिनपर बैठकर भिक्षु आचार्य के प्रवचन सुनते थे। हाल का द्वार एक बरामदे से होकर था। बरामदे के सामने ६ स्तंभ हैं। कार्ले के स्तंभों की आकृति के समान इनके मस्तक के देवमिथुन गर्जों पर न चढ़कर वृषभों और सिंहों पर आरूढ़ हैं। वृषभ और सिंह अशोक के स्तंभों के प्रिय प्रतीक थे, उससे पहले ईरानियों और असुरों के। सिंह, इसके अतिरिक्त, शाक्यसिंह बुद्ध का भी स्मारक था। प्रवचन के समय सिंह की भाँति दहाड़ने के कारण उनकी संज्ञा शाक्यसिंह हो गई थी।

निकट का ही नहपान विहार (नहपान शक राजा था[1]) लें० नं० ८, पहली सदी ई० पू० का है। उसके स्तंभ तिकोने आधार और घट पर खड़े हैं और उनके शीर्ष घंटेनुमा आकृतियों से मंडित हैं। उसके भी ऊपर पिरामिड है जिसपर वृषभ है, कार्ले के स्तंभों के अनुकरण में। बेदसा का पर्वतीय विहार भी प्राचीन है, लगभग द्वितीय शती ई० पू० का। उसकी छत गुंबजदार है और चैत्य के चारों

[1] महाराष्ट्र के खहरात कुल का, देखिए उपाध्याय : 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृ० १०।

श्रोर प्रदक्षिणाभूमि है। कुटियों के द्वार चैत्यगृह में खुलते हैं। यह विहार प्रधान विहारों में से है।

इन सारे प्राचीन विहारों में दर्शनीय श्रौर प्रधान भाजा का दरी-विहार है। इनमें सबसे प्राचीन भी संभवतः यही है। पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में पूना के पास यह विहार अवस्थित है। इसकी मूर्तिसंपदा तो असाधारण है। इसका विन्यास भी सामान्य दरीविहारों का सा है। बाहर एक बरामदा, उसके पीछे दो द्वारों की एक दीवार, ऊपर चैत्य वातायन। भीतर बड़ा हाल जिसमें दो श्रोर भिक्षुश्रों के लिये कुटियाँ बनी हुई हैं। ऊपर का पहाड़ काटकर छत पीपानुमा कर दी गई है। उसकी दीवारें, स्तंभ श्रादि कटाव की मूर्तियों से भरी हैं श्रौर मूर्तियाँ श्रनुपम गति श्रौर सजीवतावाली हैं। इंद्र, सूर्य, श्रादि के उभरे श्रंकन विशेष श्राकर्षक हैं[१]।

सारे देश में बौद्ध विहार थे। बौद्ध भिक्षुश्रों की संख्या के श्रनुपात से ही उनकी संख्या भी प्रभूत होनी चाहिए। फाह्यान श्रौर हुएनत्सांग दोनों चीनी यात्रियों ने उनकी प्रादेशिक संख्या दी भी है। श्रफगानिस्तान (उद्यान श्रौर गांधार) में भी विहारों की संख्या पर्याप्त थी। वहाँ के विहार के बीच में भी चैत्यगृह होता था जिसके चारों श्रोर भिक्षुश्रों के लिये छोटे श्रावास बने होते थे।

चीनी यात्रियों ने इन विहारों के संबंध में (ईंट पत्थर से बने विहारों के विषय में) एक विशेष बात यह कही है कि वे कई मंजिलों के हुश्रा करते थे। दोनों का कहना है कि विहार, छः छः, श्राठ श्राठ तल्लों तक बनते चले गए थे। विहार मठ के रूप में भिक्षुश्रों के श्रावास तो थे ही, साथ ही उनके लिये विद्यालय का कार्य भी करते थे। हुएनत्सांग ने श्रपने समय के बौद्ध विश्वविद्यालय नालंद का विस्तृत वर्णन किया है। वहाँ के विहार का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि भिक्षुश्रों का प्रत्येक श्रावास (विहार) चार मंजिला था। संघ के हाल के स्तंभों पर देवमूर्तियाँ बनी थीं श्रौर उसकी छतियों में इंद्रधनुष के सातों रंग विद्यमान थे। सर्वत्र श्रर्ध-चित्र उत्कीर्ण थे श्रौर चौखटों का सौंदर्य श्रकथनीय था। भीतर के रंग परस्पर मिलकर श्रनेक श्रन्य रंग उत्पन्न करते थे जिससे विहार का सौंदर्य सहस्र प्रकार से बढ़ जाता था। नालंद पटने के निकट राजगिर से सात मील उत्तर बड़गाँव के पास है। वहाँ की खुदाई में जो भवन निकले हैं उनमें से एकाध छःमंजिले तक हैं, पर इस प्रकार निर्मित विहारों की छतें उड़ गई हैं श्रौर उनके भग्नावशेष मात्र जैसे तैसे खड़े हैं। किंतु मामल्लपुरम् का चौमंजिला विहार चट्टान में कटा होने से श्राज भी

[१] देखिए, कुमारस्वामी : हिस्ट्री०, प्लेट, ७ श्रौर ८।

खड़ा है और अपनी अद्‌भुत पिरामिडनुमा अनुपमेय आकृति से दर्शकों को चकित कर देता है। यह विहार सातवीं सदी ईसवी का है। मामल्लपुरम् में एक और विहार उसी सदी का दो मंजिलों का है जो उसी की भाँति मजबूत है।

९. स्तंभ

स्तंभ का भी इस देश में पर्याप्त प्रयोग हुआ है यद्यपि उसका बाहुल्य स्तूपों अथवा मंदिरों का सा नहीं रहा है। दो प्रकार के स्तंभों का साधारणतः पता चलता है जिन्हें धार्मिक और राजनीतिक या सामाजिक कहना उचित होगा। एक प्रकार के स्तंभ तो वे थे जिनका उपयोग अशोक ने अपने धर्म, विचार और नीति के प्रचार में किया। कुछ लोग उसके स्तंभों को धार्मिक विभाजन में न रख राजनीतिक परंपरा में रखना चाहेंगे। परंतु अशोक स्वयं अपने स्तंभों को धर्मस्तंभ ही कहता है इससे हमारा भी उसी नाम से उसे ग्रहण करना उचित होगा।

इन स्तंभों से शुद्धतर वस्तुतः विशुद्ध धार्मिक स्तंभो की भी प्रचुरता इस देश में रही होगी यज्ञयूपों की। अनेक धार्मिक स्तंभ ऐसे भी खड़े किए गए जिनका उद्देश्य देवविशेष का महत्व प्रकाशित करना था। इस प्रकार के अनेक स्तंभ आज भी इस देश में खड़े हैं। धर्मप्रधान देश में इनका न होना ही आश्चर्य की बात होती।

दूसरा वर्ग उन स्तंभों का है जो धर्म से भिन्न राजनीति से संबद्ध हैं, जैसे कीर्तिस्तंभ, लाटें, मीनारें आदि। इनके अतिरिक्त दुर्गों, मंदिरों, सार्वजनिक आवासों, राजप्रासादों, साधारण घरों आदि में भी उनका उपयोग हुआ है, यद्यपि तब वे प्रधान वास्तु के अंग मात्र रहे हैं और उनकी अपनी स्वतंत्र स्थिति नहीं रही है। पर निश्चय उनके योग से भवनों में शक्ति आई है और स्वाभाविक ही उनका शिल्प में विशिष्ट स्थान है। मंदिरों के स्तंभों और उनकी भव्य शिल्पकारिता की ओर ऊपर संकेत किया ही जा चुका है, भवनवास्तु आदि के संबंध में भी उनका यथास्थान उल्लेख किया जाएगा। गृहों, भवनों तथा प्रमदवनों में उनका भी क्रीड़ा-शैल के साथ ही साथ उल्लेख मिलता है।

'मयमत'[1] में स्तंभ के अनेक पर्याय—स्थाणु, स्थूण, पाद, जंघा, चरण, अंघ्रिक, स्तंभ, तलिप और कंप—दिए हुए हैं। उनके अपने अपने माने भी दिए हैं पर उससे हमें यहाँ तात्पर्य नहीं है। अधिकतर इनमें से वास्तु विशेष के सहायक स्तंभ मात्र हैं जिनका उद्देश्य उस शिल्प विशेष को बल देना था जिसमें उनका

[1] १५, २।

उपयोग होता था। हम यहाँ केवल ऐसे स्तंभों का उल्लेख करेंगे जिनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता थी और जो धर्म, विजय आदि के स्मारक के रूप में निरवलंब अपनी भूमि पर खड़े हुए। इस प्रकार के स्तंभ प्राचीन काल से इस देश में प्रयुक्त होते आए हैं और प्रायः सभी प्रधान धर्मों ने सभी कालों में अपने अपने प्रतीकों से मंडित शीर्षवाले निजी स्तंभ खड़े किए हैं। उनका, और प्रायः केवल उनका ही, हम इस प्रसंग में उल्लेख करेंगे।

भारत में यज्ञों की परंपरा प्राचीन है, वैदिक। यज्ञों में जो पशुबलि होती थी उसमें भी किसी न किसी प्रकार के स्तंभ या 'यूप' का प्रयोग होता था। ऋग्वेद में शुनःशेप अपने बलिबंधन खोलने के लिये प्रार्थना करता है[1]। प्रगट है कि पशु (अथवा जब मनुष्यों की बलि होती थी तब मनुष्य) यूप से बाँध दिए जाते थे। यूप यज्ञस्तंभ का विशेष नाम है। जिस अनुपात में यज्ञ होते थे उसी अनुपात में यूप भी बनते थे। सरस्वती का तट यज्ञों से प्रधूमित रहता था, इससे कुरुक्षेत्र के गाँवों की यूपसंख्या का अनुमान किया जा सकता है। वहाँ से वैदिक संस्कृति का केंद्र जब हटा तब गंगा यमुना के संगम पर प्रतिष्ठित हुआ जिससे उस स्थल का नाम ही, यज्ञों की प्रचुरता के कारण, 'प्र-याग' पड़ गया। कालिदास ने 'रघुवंश' में रथ पर जाते हुए दिलीप और सुदक्षिणा के मार्ग के गाँवों के यज्ञयूपों को देखते जाने का उल्लेख किया है[2]। गाँव गाँव में यूप थे और एक एक गाँव में अनेक। वस्तुतः उनके बाहुल्य से ही गाँव के पुण्यकर्मों का अटकल लगाया जाता था। परंतु प्रकट है कि वे यूप लकड़ी आदि नष्टव्य पदार्थों के बनते थे जो आज तक खड़े नहीं रह सके और ऋतुओं की क्रूरता के शिकार हो गए।

पत्थर के प्राचीनतम स्तंभवत् ऊँचे दो स्तूप मथुरा में मिले हैं। दोनों कुषाण काल (पहली से तीसरी शती ईसवी) के हैं। इनमें एक कनिष्क के पुत्र वासिष्क का है, मथुरा के निकट ईसापुर (गाँव) में मिला, कुषाण वर्ष २४ (७८ + २४ = १०२ ई०) का। इसपर शुद्ध संस्कृत में एक लेख भी खुदा है। दूसरा मथुरा के सामवेदी ब्राह्मण की कीर्ति व्यक्त करता है और प्रायः उसी काल का है। ये दोनों पूजा के लिये प्रतिष्ठित किए गए थे। एक यूप वे होते थे जिनसे बलि के पशु बाँध दिए जाते थे, दूसरे वे जो देवप्रतिमा की भाँति यूप की मूर्ति मानकर पूजे जाते थे। ये दोनों ऐसी ही विशाल यूपप्रतिमाएँ हैं। इनका मस्तक अश्व के मस्तक की भाँति ग्रीवा से शालीन झुका हुआ है। ये चौपहल हैं और इनपर पशुपाश की प्रतीक

[1] यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण ७, ३, में भी सविस्तर दी हुई है।

[2] रघुवंश, १. ४४।

अर्गला बनी हुई है। इनके अतिरिक्त लकड़ी के भी कुछ यूप सुरक्षित हैं जिनसे पता चलता है कि अधिकतर लकड़ी के ही यूप बनते थे, जो कालांतर में नष्ट हो गए। गुप्त काल के भी कुछ यूप मिले हैं जिनमें एक ३७१ ई० का, विष्णुवर्धन का, विजयगढ़ में है।

अश्वमेध की परंपरा भी इस देश में अति प्राचीन है। ऐतिहासिक काल में भी पुष्यमित्र शुंग, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त आदि ने अश्वमेध किए। समुद्रगुप्त के मेधाश्व की तो प्रतिकृति भी मिल गई है जो लखनऊ के संग्रहालय में रखी है। भारशिव नागों ने काशी में दस अश्वमेध किए जिससे वहाँ के प्रसिद्ध घाट का नाम ही 'दशाश्वमेध' पड़ गया जो आज तक प्रचलित है। इन सभी राजाओं ने अपने अपने यूप खड़े किए होंगे। अश्वमेधों की परंपरा तो पिछले काल तक चलती रही। दक्षिण के अनेक राजाओं ने भी अश्वमेध किए। कन्नौज के गहडवाल राजा जयचंद के यश का भी उल्लेख हुआ है।

यूपों से भिन्न धार्मिक अथवा धार्मिक-राजनीतिक स्तंभ, जिन्हें ऐसे राजा ने स्थापित किए जिसने विजयस्तंभो के स्थान पर धर्मस्तंभों को अधिक महत्व दिया, अशोक ने खड़े किए। धातु अथवा पत्थर सभी प्रकार के स्तंभों में अशोक के स्तंभ प्राचीनतम हैं। उनका सौंदर्य शिल्प की परिधि पारकर विशुद्ध ललित कला की शालीनता प्राप्त कर चुका है। उनपर अपने अभिलेख लिखाकर उस महान् चिंतक और क्रांतिकारी युद्धविरोधी शांतिपूजक सम्राट् ने राजनीति की परंपरा ही बदल दी। अनंत काल पूर्व सहिष्णुता का अद्भुत परिचय अशोक ने दिया। अपने साम्राज्य की सीमाओं पर, घनी बस्तियों में उसने अपने स्तंभ खड़े किए और उनके साधन से अपने प्रेम और सौहार्द के संदेश घोषित किए।

इस प्रकार कम से कम तीस स्तंभ उसने स्थापित किए। इनमें से अनेक तो नष्ट हो गए, कुछ टूटे हुए मिले हैं, कुछ संभवतः अभी पृथ्वी में दबे हैं, कुछ जो मिले हैं बहुत अच्छी दशा में हैं। इनमें दस पर उसके अभिलेख लिखे हैं। ये चुनार के पत्थर के बने हैं। किसी में कहीं जोड़ नहीं हैं, समूचा एक पत्थर का बना है। चंपारन (बिहार) जिले के लौरिया नंदनगढ़वाला स्तंभ ३२ फुट ९¾ इंच ऊँचा, मोमबत्ती की भाँति, नीचे मोटा ऊपर पतला होता चला गया है। आधार पर उसका व्यास ३५½ इंच है, ऊपर २२¼ इंच। इस परिमाण के कारण अशोक के स्तंभों की सुंदरता असाधारण हो गई है। मुजफ्फरपुर जिले (बिहार) के बखीरा नामक स्थान के स्तंभ पर लेख नहीं है। वह सर्वथा सुरक्षित और प्रायः सभी से अधिक भारी है। ये स्तंभ दक्षिण में हैदराबाद और मैसूर तक मिले हैं। ५०-५० टन तक की तौलवाले इन स्तंभों को हजार हजार मील दूर, जंगल, पहाड़ और नदियाँ पार

कर कैसे ले गए होंगे, विस्मयकारक है। निश्चय अशोक को असाधारण बुद्धि के इंजिनियरों का साहाय्य प्राप्त रहा होगा।

इनके अभिलेख बड़ी कुशलता से काटे गए हैं। प्रायः सभी अद्भुत शिल्प-सौंदर्य के आदर्श हैं। प्रकट है कि पत्थर काटकर लिखने की कला अपनी चोटी पर थी। सबसे सुंदर लिखावट बुद्ध के जन्मस्थान लुंबिनी (नेपाल की तराई में रुंमिंदेई) में स्थापित स्तंभ पर है, जो लगती है आज ही कटकर तैयार हुई है। वस्तुतः प्रस्तरशिल्प की यह मौर्यकालीन कला इतनी परिष्कृत और सुथरी हुई है कि अशोक की किसी कृति का जोड़ कहीं नहीं है। उसकी प्रत्येक कृति उस शिल्प-कौशल की धनी है, प्रत्येक वास्तु पर कलाकारों ने शोभा लिखी है।

इन स्तंभों के शीर्ष अधिकतर पशुओं की आकृति से मंडित हैं, सजीव और अननुकार्य। स्तंभों की यष्टि की ही भाँति उनके शीर्ष भी समान पत्थर के बने हैं— सबसे ऊपर समूचा कोरा हुआ पशु है, उसके नीचे पट्टिका है, फिर यष्टि की चोटी पर पारसीक घंटी। पट्टिका की गोलाकार दौड़ती बाड़ पर चारों ओर चित्र उत्खचित हैं, वृषभ, अश्व आदि के। शीर्ष के पशु गज, अश्व, वृषभ और सिंह में से कोई एक होता था। लुंबिनी के स्तंभ पर अश्व था, संकिसा के स्तंभ पर गज, रामपुरवा के दो स्तंभों में एक पर वृषभ है, दूसरे पर सिंह। सारनाथ के स्तंभ पर चार सिंह पीठ से पीठ मिलाए बैठे हैं। सारनाथ के स्तंभ का शीर्ष, जो २४२ और २३२ ई० पू० के बीच कभी प्रस्तुत हुआ, परिष्कार, सौंदर्य और शिल्पचातुरी में संसार की कृतियों में अनुपम है। उसके पशुओं की सजीवता, उसका विन्यास और क्रिया सभी दर्शक को चकित कर देते हैं। भारतीय सरकार ने जो उसे अपना राजकीय अंक बना लिया है, उचित ही है।

अशोक के स्तंभों अथवा उसके समूचे वास्तु का इतना कुशल कार्य कला-समीक्षक के लिये एक समस्या उपस्थित कर देता है। सुरुचि और परिष्कार की बात तो अलग, उनकी टेकनिक, विशेषकर उनकी काँचवत् चमकती पालिश की समस्या और उलझा देती है। इस प्रकार का निखार, परिष्कार और सर्वांगसुंदरता जादू से एक दिन में अथवा एक शासनकाल में नहीं प्रस्तुत की जा सकती, वह सदियों की निष्ठा, प्रयोग और अभ्यास की पराकाष्ठा होती है। आश्चर्य है कि वह पालिश अशोक के वास्त्वादर्शों पर ही आरंभ होकर उसके साथ ही समाप्त हो जाती है, न उनके पहले कभी थी, न पीछे रही। स्तंभों के निर्माण की समूची परिपाटी में उनपर लिखे अभिलेखों की पद्धति इस देश में नई थी। अशोक के पहले स्तंभ बनते थे या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है, पर यह निःसंदेह है कि वे पत्थर के नहीं बने और उनपर, या शिलाओं पर ही, अभिलेख खुदवाने की परंपरा भी कभी न थी। इतने लंबे अभिलेख कभी लिखे ही नहीं गए। पर पड़ोसी

ईरान में दोनों परंपराएँ थीं, शिला आदि पर लेख खुदवाने की भी[1] और पशु-मंडित स्तंभ खड़े करने की भी[2] जो परंपरा दारा आदि ईरानियों ने निनेवे के असुरों से सीखी थी। वस्तुतः स्तंभों की परंपरा तो उधर प्रायः २००० ई० पू० से ३०० ई० पू०[3] तक कभी टूटी ही न थी। और अभिलेख तो ई० पू० ढाई हजार वर्षों तक के लिखे हजारों पट्टियों पर समूची पुस्तकों के रूप में मिले हैं[4]। स्वयं दारा के अनेक स्तंभ पशुशीर्षवाले आज भी पर्सिपोलिस में खड़े हैं, अनेकों के शीर्षपशु खंडित-अखंडित यूरोप, अमेरिका आदि के संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। उनकी पालिश तो इतनी चमकदार है कि उनमें मुँह देखा जा सकता है। अशोक अपने अभिलेखों का आरंभ प्रायः उन्हीं शब्दों से करता है जिनसे दारा ने अपने लेखों का किया था। अशोक के पितामह चंद्रगुप्त मौर्य का ईरानी दरबार की अनेक क्रियाएँ अपने दरबार में प्रचलित करना भी उस ओर संकेत करता है। ईरान का शासन प्रायः डेढ़ सौ वर्ष तक पश्चिमी पंजाब और सिंध पर था और ये दोनों दारा के साम्राज्य के बीसवें प्रांत[5] थे तथा प्रति वर्ष उसे एक करोड़ के ऊपर कर देते थे[6]। इसी से अशोक ने न केवल सीमाप्रांत के अपने अभिलेख अरमई लिपि खरोष्ठी में लिखाए बल्कि कम से कम एक बार ईरानी भाषा का भी उनमें प्रयोग किया। उसने लिपि और लिपिकार के लिये भी ईरानी शब्दों का ही प्रयोग किया है। सिंधु सभ्यता की कला का अशोक को पता न था क्योंकि उसका अभिराम शिल्प प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पहले पृथ्वी के गर्भ में समा चुका था। इससे प्रगट है कि पारसीक शिल्प के ही अनुकरण में ये स्तंभ बने, जहाँ स्तंभों और उनकी पालिश की परंपरा थी, जहाँ बराबर प्रशस्ति आदि के अभिलेख सदियों, सहस्राब्दियों से लिखे जा रहे थे जब अपने देश में उनका नामोनिशान न था। हाँ, उस वास्तु को अशोक ने और परिष्कृत किया, उसका चरम विकास किया, यद्यपि आनेवाली सदियाँ उस भार को सँभाल न सकीं और उस शिल्प की शैली मौर्य काल के बाद लुप्त हो गई।

[1] दारयवौष् के बेहिस्तून, नक्श ए रुस्तम आदि के लेख; उसके पहले के बाबुलियों के लेख, दजला-फरात की घाटी में।

[2] देखिए, अपादान के स्तंभ, शिकागो के प्राच्य विभागीय संग्रहालय में सुरक्षित और पोप के 'सर्वे आफ इरानियन आर्ट' में प्रकाशित।

[3] हम्मुराबी का स्तंभ जिसपर उसका विधान खुदा है; उससे पहले के मिस्री स्तंभ हैं।

[4] बाबुल, कीश, निनवे, असुर आदि से मिली।

[5] उपाध्याय : दि ऐंशेंट वर्ल्ड, पृ० १२२।

[6] उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ११२।

अशोक के स्तंभों के अतिरिक्त केवल एक बेसनगरवाले स्तंभ का धार्मिक क्षेत्र में उल्लेख किया जा सकता है। आश्चर्य की बात है कि अशोक के पश्चात् पहला स्तंभनिर्माता भी विदेशी ग्रीक है। यह स्तंभ सीमाप्रांत के ग्रीक राजा अंतलिखित (अंतिआल्किदस्) के ग्रीक राजदूत हेलियोदोर द्वारा स्थापित हुआ था। हेलियोदोर दिय का पुत्र था और विदिशा के शुंगराज भागभद्र के पास भेजा गया था। वह वैष्णव हो गया था और उस स्तंभ के लेख में वह अपने को 'भागवत' कहता है। कम कुतूहल का विषय यह नहीं है कि इस देश के लोकप्रिय वैष्णव धर्म का पहला स्तंभ एक विदेशी ग्रीक ने खड़ा किया। वह स्तंभ ई० पू० दूसरी शती में 'वसुदेव' के नाम पर 'गरुड़स्तंभ' के रूप में खड़ा हुआ। उसपर मौर्य कला का परिष्कार तो नहीं है पर आकृति उसकी निश्चय मौर्यपारसीक स्तंभों की है। नीचे यष्टिदंड है, उसके बीच में फुल्लों का एक घेरा है, ऊपर शीर्ष के तीन भाग हैं— घंटीनुमा अभिप्राय, चौकी और पशु के स्थान पर समूचे ताड़पत्रों का शिल्पगत रूप[1]। इसके बाद इस प्रकार के धार्मिक स्तंभों की स्थापना की परंपरा अधिकतर समाप्त हो गई।

राजनीति के क्षेत्र में भी अनेक स्तंभ स्थापित हुए। साहित्य में उनका उल्लेख अनेक बार हुआ है। कालिदास ने रघु की दिग्विजय के संबंध में लिखा है कि सुह्मों, बंगों को परास्त कर उसने गंगा के डेल्टा में विजयस्तंभ खड़े किए (निचखान जयस्तम्भान्)[2]। स्तंभ स्थापित कर उनपर प्रशस्ति लिखवाने की प्रथा साधारण हो गई थी। आज भी इस प्रकार के अनेक स्तंभ खड़े हैं। समुद्रगुप्त ने अपनी प्रशस्ति के लिये अलग स्तंभ न बनवाकर प्रयागवाले अशोक के स्तंभ पर ही अपने युद्धों और दिग्विजय का विवरण खुदवा दिया। उसी स्तंभ पर एक के शांति के संदेश और दूसरे के रक्तरंजित युद्धों के विवरण खुदे हैं।

गुप्त सम्राटों के अपने खड़े किए भी अनेक स्तंभ हैं। इनमें प्रधान दिल्ली से थोड़ी दूर पर मेहरौली गाँव में कुतुबमीनार के पास खड़ा है। वह लोहे का 'गरुडध्वज' चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का है। उसपर लिखा है कि किस प्रकार चंद्र (इसे कुछ लोगों ने चंद्रगुप्त से भिन्न दूसरा राजा भी भ्रमवश माना है)[3] ने अपने शत्रुओं के संघ को बंगाल में नष्टकर सिंधु नद के सातो मुखों (पंजाब की सातो

[1] कुमारस्वामी : हिस्ट्री०, पृ० ३४; स्मिथ : हिस्ट्री आफ् फाइन आर्ट०, पृ० ६५, चित्र ३०-३१।

[2] रघुवंश ४, ३६।

[3] देखिए, स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ् इंडिया। गुप्त सम्राटों के अध्यायवाला तत्संबंधी प्रसंग, पादटिप्पणी; हरप्रसाद शास्त्री का दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण है।

नदियों) को लाँघ वह्लीकों (वह्लीक, बाख्त्री) को परास्त किया[1]। इस देश में अकेला यही एक स्तंभ लोहे का है। पर इसकी धातु इतनी अच्छी है कि डेढ़ हजार वर्ष आँधी पानी में खड़े रहने पर भी वह किसी प्रकार खराब नहीं हुआ, उसमें जंग नहीं लगी। उसे भ्रमवश लोग दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की कीली भी कहते हैं।

स्कंदगुप्त के समय के दो स्तंभ हैं, एक देवरिया (उत्तर प्रदेश) के काहाँव में दूसरा उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के सैदपुर भितरी में। सैदपुरवाले स्तंभ पर बड़ी ललित शैली में काव्यबद्ध प्रशस्ति लिखी है। नर्मदा तीर के पुष्यमित्रों का आक्रमण निष्फल करने का उसमें उल्लेख है[2]। युवा स्कंद ने, उसके अनुसार, युद्ध काल में साधारण सैनिक की भाँति अनेक रातें रूखी भूमि पर सोकर काटी थीं[3]। ४८४-८५ का ही एक स्तंभ ४३ फुट ऊँचा मध्यप्रदेश के सागर जिले के एरण में है, 'विष्णु का ध्वज'। उससे १३ मील दक्खिनपच्छिम पथरी में ४७ फुट ऊँचा एक और स्तंभ है। उसके ऊपर का अभिलेख पश्चात्कालीन गुप्तलिपि में था जो अब मिट गया है[4]।

हूणों के विजेता मालवा के राजा यशोधर्मन् का मंदसौर में एक स्तंभ है जिसपर हूणों को परास्त करने और अनेक देश जीतने का उल्लेख है[5]। पिछले काल में चित्तौर में भी पंद्रहवीं सदी के मध्य गुजरात और मालवा की संमिलित सेनाओं को हराने के स्मारक में राणा कुंभ ने अपना प्रसिद्ध नौमहला जयस्तंभ[6] बनवाया था। उसी के पास बारहवीं सदी का छोटा जैन कीर्तिस्तंभ भी है।

मध्योत्तर काल में मीनारों का बनना तो साधारण बात हो गई थी। इन्हीं मीनारों पर चढ़कर मुअज्जिन नमाज के लिये आजान दिया करता था। इसी विचार से सारी मस्जिदों में ऊँची मीनारें बनी हुई हैं। अहमदाबाद की मुहाफिज खाँ की मस्जिद की मीनारें, लाहौर के वजीर खाँ की मस्जिद की मीनारें, ताज की मीनारें उसी प्रकार की ऊँची धार्मिक मीनारें हैं। मस्जिदों से अलग विशाल

[1] तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः। फ्लीट, का० इ०, ३, नं० ३२, पृ० १४१, श्लोक १।

[2] पुष्यमित्रांश्च जित्वा।

[3] क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।

[4] स्मिथ : हिस्ट्री आफ् फाइन आर्ट०, पृ० १७५।

[5] वही।

[6] कुमारस्वामी : हिस्ट्री०, प्लेट ७७, चित्र २५१।

मुसलिम मीनार दिल्ली-मेहरौली की कुतुब की है। यह सर्वथा स्वतंत्र खड़ी है जो पहले लगभग २५० फुट ऊँची थी। आज भी उसकी ऊँचाई कुछ कम नहीं है और संसार के मस्जिद के वास्तु से असंलग्न, मीनार के रूप में, मीनारशिल्प में अनुपम है। उसे सुल्तान अल्तमश ने १२३२ में बनवाया था। मीनार की वास्तुक्रिया प्रधानतः हिंदू शिल्पियों द्वारा प्रस्तुत हुई थी। सारे मुसलिम जगत् में इससे सुंदर दूसरी मीनार नहीं है। इसका संबंध भ्रमवश लोग सुल्तान कुतुबुद्दीन से करते हैं पर वास्तव में इसका नाम बगदाद के महान् सूफी संत (ऊश के) कुतुबुद्दीन के नाम पर पड़ा था।

मध्योत्तर काल के कीर्तिस्तंभों में प्रसिद्ध अलाउद्दीन खिलजी का बनवाया हुआ एक दौलताबाद (देवगिरि) के यादवदुर्ग के द्वार पर खड़ा है। अलाउद्दीन ने देवगिरि के यादव राजा को परास्त कर इसका निर्माण अपनी विजय के स्मारक में कराया था। अब यह प्रायः दुर्ग के वास्तु का भाग बन गया है।

अन्य वास्तु से संलग्न स्तंभों की संख्या तो अनंत है। मंदिरों के पास सामने दीपस्तंभ भी बनाने की परंपरा थी। एलोरा के कैलाशमंदिर के सामने का दीपस्तंभ असाधारण सुंदर है। काठियावाड़, गुजरात आदि में पिछले काल में बने चालुक्य बेसर शैली के मंदिरों के साथ कीर्तिस्तंभों का निर्माण मंदिरों के वास्तु का, परंतु उससे असंलग्न, विशेष अंग बन गया था। चित्तौर का राणा कुंभावाला जय-स्तंभ, जिसका उल्लेख अभी अभी हुआ है, इसी वर्ग का स्तंभ है। दक्षिण के विशाल मंदिरों का एक विशेष अंग स्तंभों की परंपरा है। वस्तुतः यह परंपरा दरीमंदिरों से आरंभ हुई थी। अजंता, एलोरा, एलिफेंटा, कार्ले, कन्हेरी आदि सभी गुहामंदिरों में, मंदिर या उसके बरामदों में स्तंभों की अद्भुत परंपरा खड़ी है। अजंता और एलोरा के कुछ वास्तुस्तंभ तो गजब के सुंदर हैं। उनके ऊपर बने अलंकरण भी अतीव सुंदर हैं। जब कलावंत कोरी हुई नारीमूर्तियों का शृंगार कर चुके तब भी उनके पास मुक्ता आदि की इतनी अनंत संपदा बच रही कि उन्हें इनको इन पत्थर के स्तंभों पर बिखेर देना पड़ा। इस प्रकार स्तंभों के अलंकरण तो अपनी संमोहक सूक्ष्मता में और पीछे, मध्यकाल के मंदिरों में, प्रस्तुत हुए। दकन के बेसर मंदिर साधारणतः सहस्रस्तंभ के मंदिर कहलाते हैं क्योंकि उनके शरीर में सच्चे झूठे सैकड़ों पतले स्तंभ बने रहते हैं। इसी प्रकार के स्तंभोंवाला एक मंदिर हैदराबाद राज्य में वारंगल का है। इन स्तंभों के ऊपर पत्थर में कटे विविध प्रकार के हार तो वस्तुतः शिल्प में सुईकारी का महत्व प्रस्तुत करते हैं। कश्मीर के मार्तंडमंदिर के स्तंभ तक्षशिला के यवन (ग्रीक) भवनों के स्तंभों की भाँति डोरिक शैली में बने हुए हैं। इस प्रकार अशोक के ईरानी सौंदर्यवाले स्तंभों की ही भाँति कश्मीर के इन मंदिरों को ग्रीक शैली का संयोग मिला। स्तंभों की यह परंपरा

दुर्गों और राजप्रासादों की भी शक्ति बढ़ाती रही। उनके कटाव का काम साधारण भवनों के सौंदर्य का भी वर्धक हुआ।

भाषा और साहित्य से भी स्तंभों का कोई संबंध हो सकता है, इसकी साधारणतः कल्पना नहीं की जाती। परंतु वस्तुतः इतिहास इसका साक्षी है कि उनका प्रभाव उस क्षेत्र में पर्याप्त रहा है। वे स्वयं किसी प्रकार साहित्य के प्रेरक नहीं रहे हैं, सिवा इसके कि जब तब मंदिरों के स्तंभों आदि का भी गान प्रसंगतः देवता के स्तोत्रों में हो आया है। आशय उनपर खुदे अभिलेखों से है। अशोक के शिलालेखों और स्तंभलेखों की महिमा अपार है। तत्कालीन प्राकृतों (और जन बोलियों) को, विशेषतः पालि भाषा को उन अभिलेखों ने प्रभूत प्रभावित किया होगा। वस्तुतः प्राकृतो के वे प्राचीनतम रूप हैं। प्रांत के स्तंभों पर अशोक ने स्थानीय बोलियों का ही प्रयोग किया है। इतना भावुक, इतना प्रसादपरक, इतना हृदय से निकलकर सीधा मर्म को छूनेवाला दूसरा जनसाहित्य कभी नहीं लिखा गया। स्तंभो (और शिलाओं) के ये अभिलेख न केवल उसके द्योतक बल्कि उसके एकमात्र संरक्षित रूप हैं। तत्कालीन भाषा और साहित्य पर इनका कितना प्रभाव पड़ा होगा इसका अनुमान किया जा सकता है। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में इन अभिलेखों के साहित्य से उदार, सहिष्णु और शालीन कुछ भी नहीं है। हंमुराबी और रामसिस के अभिलेख, असुर नजीरपाल और दारा के अभिलेख अशोक के इन लेखों के सामने फीके और बर्बर लगते हैं। मानवीयता इनमें वाणी की वेदना और परोपकार के उल्लास से मुखरित हुई है। भाषा के विचार से भी उत्तरपश्चिमी भारत में तत्कालीन फारसी (अरमई) साहित्य और भाषा को इन्होंने भावगुरुता और सहिष्णु भाईचारे का गौरव दिया होगा। उस काल की दारा संबंधिनी भाषा में सिवा युद्धेतिहास और रक्तिम जीवन के और कुछ न था। ठीक उसके विरुद्ध युद्ध-विरोधी अपनी मानवीयता की व्यापक मुद्रा उस साहित्य पर इन अभिलेखों ने अंकित की। लिपि के रूप में भी पहली बार ब्राह्मी और अरमई की परस्पर विरोधी लिपि का इस बड़ी यात्रा में इन अभिलेखों ने प्रयोग किया।

इसी प्रकार गुप्तकालीन स्तंभों ने भी तत्कालीन साहित्य का अद्भुत रूप हमारे सामने रखा है। कम लोगों को पता है कि उस काल की (चौथी पाँचवी शती) ग्रंथेतर अभिराम काव्यसंपदा इन स्तंभों पर लदी पड़ी है। काल की परिधि पारकर आज तक संस्कृत काव्य और गद्य की रक्षा कर हम तक पहुँचाने का श्रेय इन्हीं स्तंभों को है। इन स्तंभों की कुछ पंक्तियाँ यहाँ संक्षेपतः उद्धृत की जाती हैं जिनसे इनके माधुर्य का अटकल लगाया जा सकता है। गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग-वाले स्तंभलेख में कवि हरिषेण कहता है;

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितैः रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन बाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ॥

इसी प्रकार समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (४३२–४७१ वि०) के मेहरौली लौहस्तंभ की पंक्तियाँ हैं :

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
न्वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥

कुमारगुप्त (४७१–५१२ वि०) के अन्यत्र लेख से :

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के सैदपुर भितरीवाले स्तंभलेख में हूणों का उल्लेख इस प्रकार है : 'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता। भीमावर्तकरस्य···।' उसी स्तंभ पर निम्नलिखित भी उत्कीर्ण है—

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।

यह सारा काव्यवैभव महाकवि कालिदास की परंपरा में है—सुस्वादु। इतना प्रांजल काव्य इन स्तंभों के साधन से जनता की दृष्टि में निरंतर आता रहा होगा। ग्रंथों की सुगमता सबको न थी। हाथ से लिखी जानेवाली ग्रंथप्रतियों की संख्या बहुत परिमित होती है। उनका लाभ तब सभी को उठा सकना कठिन था, परंतु स्तंभ आदि अभिलेख, जहाँ वे उपलब्ध थे, इस दृष्टि से बड़े काम की वस्तु हो सकते थे। इससे स्तंभों की महत्ता जानी जा सकती है। धर्म का विकास अथवा पुण्य का लाभ प्रतिष्ठाताओं को उनसे चाहे जितना हुआ हो, इतिहास के पुनर्निर्माण में चाहे वे जितने सहायक हुए हों, उनका यह साहित्य संबंधी लाभ उस काल में निश्चय हुआ। इस काल के साहित्य और भाषा पर ये पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

१०. आवास

मनुष्य जो निरंतर अपनी वन्य स्थिति से दूर समाज की ओर बढ़ता आया है वही सभ्यता का राजपथ बन गया है। प्रकृति की बनाई गुफाओं से निकलकर

उसने धीरे धीरे अपने आवास बनाए जिनके चारों ओर उसके जीवन के प्रतीक खड़े हुए। धीरे धीरे उसके नागरिक विकास की यही मंजिलें बनीं। घरों के समूह वैदिक काल में ग्राम कहलाए और उन्हीं के बड़े समूह विशेष योजना से बनकर नगर हुए। ग्राम और नगर शत्रुओं के भय से रक्षा के लिये दीवारों से घेर दिए गए जिससे वे दुर्ग बन गए।

११. ग्राम

निश्चय ग्राम (गाँव) पहले खड़े हुए, कुटियों और झोपड़ियों के दल। कुटियाँ अधिकतर तृणों और पत्तों की बनी थीं, ऊपर फूस से छाई जिनकी छाजन मिट्टी से पोख्ता कर दी जाती थी। इस देश की जनता विशेषतः गाँवों में रहती आई है और यद्यपि समाज का नेतृत्व रामायण-महाभारत काल से, उपनिषदों-ब्राह्मणों के काल से, नगरों में रहा है, जीवन व्यवस्थित गाँव की परंपरा में ही हुआ है। और ये गाँव सभी प्रकार से संपूर्ण थे। निवासियों की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ गाँव में ही उत्पन्न हो जाती थीं, उनकी पूर्ति करनेवाले सामाजिक पेशे सभी वहाँ प्रस्तुत थे। वर्णधर्म ने उसमें विशेष सहायता की। वस्तुतः उसी धर्म के अनुकूल ग्राम की सामाजिक व्यवस्था हुई और ग्राम स्वयं वर्णधर्म का पोषक हुआ। अन्न, रुई आदि गाँव में ही उत्पन्न हो जाती थीं, गाँव के जुलाहे परिधान प्रस्तुत कर देते। ब्राह्मण, नाई, कुम्हार, बढ़ई, लुहार, सुनार, कहार, सभी उपलब्ध थे। इस प्रकार गाँव को बाहर के साहाय्य की अपेक्षा न थी और वह सभी प्रकार से, संस्कृति की एकता से भिन्न, संसार से पृथक् था। उसका संसार अपना था। उसकी व्यवस्था, उसका रूप बहुत कुछ वैसा ही था जैसा आज है। सदियों, सहस्राब्दियों के दौरान में समाज के जीवन और रूप में चाहे जितना अंतर पड़ा हो, गाँव प्रायः वैसे ही हैं जैसे पहले थे।

साधारणतः कुतूहल की बात है कि प्राचीन गाँवों के भग्नावशेष आज हमारे सामने नहीं हैं, यद्यपि नगरों के हैं। गाँवों के अवशेष एक तो इस कारण नहीं हैं कि अवशेष मरी और परिसमाप्त वस्तुओं के हुआ करते हैं और हमारे गाँव आज भी मरे नहीं, भोंडे, गंदे, अच्छे, बुरे अपने पुरातन रूप में खड़े हैं। उनका सिलसिला सदा चलता चला आया है और हम आज के ही गाँवों में प्राचीनतम भारतीय गाँव को देख सकते हैं। दूसरा कारण प्राचीन वास्तु की नश्वरता है। वास्तुसामग्री, जो अधिकतर गाँवों के निर्माण में प्रयुक्त हुई थी, अधिकतर मिट्टी और लकड़ी की थी और शीघ्र नष्ट हो गई।

परंतु भारतीय शिल्पशास्त्रों में ग्राम, नगर, दुर्ग के निर्माण की जो पद्धति दी हुई है उससे उनकी वास्तु-प्रकार-व्यवस्था आदि पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ हम

मानसार आदि के आधार पर प्राचीन ग्राम के रूप का संक्षेप में वर्णन करेंगे। ग्राम समूह को कहते हैं, गृहों या कुलों के समूह को। यही कुलों या मानवों का समूह विशेष स्थिति में संग्राम (युद्ध) के शब्दरूप और अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

मानसार ने गाँव के मांगलिक रूप पर बड़ा जोर दिया है और उसके निर्माण की भूमि के शुभाशुभ पर विचार किया है। जल की सुगमता, भूमि की उर्वरता आदि सभी का विचारकर ग्राम की नींव डाली जाती थी। साधारणतः गाँव में, अन्य वीथियों (गलियों) के अतिरिक्त एक दूसरे को काटनेवाले पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण जानेवाले दो मार्ग होते थे। इनमें पहले को राजपथ और दूसरे को वामन कहते थे। इन्हीं के दोनों ओर मकान खड़े होते थे। गाँव के चारों ओर प्रदक्षिणार्थ जानेवाले मार्ग को मंगलवीथी कहते थे। गाँव के बीच में, जहाँ दोनों मार्ग एक दूसरे को काटते थे, वट के नीचे गाँव की विविध सभाएँ हुआ करती थीं। जहाँ कहीं संभव हो सकता था, ईंट, पत्थर, या लकड़ी का इस अर्थ मंडप भी बन जाता था।

गाँव छोटे बड़े सभी प्रकार के होते थे। उनके दंडक आदि आठ प्रकार मानसार में दिए हुए हैं। दंडक मापविधि की ओर संकेत करता है। ग्राम और नगर के अपने अपने माप और क्षेत्रफल थे। एक दंड आठ फुट के बाँस का नाम था और गाँवों का परिमाण पाँच पाँच सौ दंड अर्थात् चार चार हजार वर्ग फुट तक था। नगर बीस बीस हजार दंड (प्रायः तीस वर्गमील) तक के होते थे। इनमें से प्रायः तिहाई भूमि आवास आदि बनाने के काम आती थी, शेष कृषि, चरागाह आदि के निमित्त प्रयुक्त होती थी। चरागाह सझौती थे, समूचे गाँव के एकजाई। ऐसे ही गाँव के वनमार्ग आदि भी थे। गाँव या नगर चौकोन होते थे, पर वर्गाकार नहीं। पूर्व से पश्चिम नदी, झील आदि के तीर लंबे बसते थे। उनको मिट्टी, ईंट और पहाड़ी प्रदेशों में पत्थर की दीवार से रक्षा के लिये घेर लेते थे जिससे उनकी 'पुर' या 'दुर्ग' की संज्ञा सार्थक होती थी। पुर प्रारंभ में नगर का पर्याय नहीं था, इस प्रकार के घेरे का ही नाम था, और इस अर्थ में वह दुर्ग का भी प्रायः पर्याय ही था क्योंकि दोनों का भाव प्रदेश की दुरूहता प्रस्तुत करता है। प्राकार आदि के गुरुतर, पुष्टतर प्रयोग के कारण बड़े गाँव अथवा नगर 'पुर' कहलाने लगे। इसी घेरे के अभाव से नगर भी जब तब 'दुर्ग'—दुर्गम्य—कहलाने लगा और प्राचीरगत नगर राजप्रासाद, किले आदि का भी द्योतन करने लगा।

गाँव के बीच और जब तब चारो कोनों पर बाजार या दूकानें रहती थीं। उसके पूर्वोत्तर आदि दक्षिणपश्चिम कोनों में तालाब होते थे जिनके तीर गाँव के प्रधान देवालय होते थे। गौण देवताओं के मंदिर गाँव से बाहर बनते थे। मानसार ने विविध देवमंदिरों के लिये सविस्तर व्यवस्था दी है। उस ग्रंथ के अनुसार

गाँव में पाठशाला, पुण्यशाला, धर्मशाला आदि की भी व्यवस्था थी। यात्रियों आदि के ठहरने के लिये धर्मशाला गाँव के दक्षिणपूर्व में ग्रामद्वार के पास ही बनती थी।

मानसार ने विविध प्रकार के गृहों के विविध मान दिए हैं। नौ नौ मंजिलों के घरों की व्यवस्था दी है। प्रकट है कि ये अट्टालिकाएँ गाँव की न थीं, नगर की थीं, और अभिजात श्रीमानों की थीं। ग्राम में भी अभिजात श्रीमानों के ऐसे भवन हो सकते थे। निचली श्रेणीवालों और वर्णहीनों के लिये उसकी स्पष्ट व्यवस्था है कि वे एक मंजिल से ऊँचा मकान किसी स्थिति में न बनाएँ। उसका उल्लेख है कि एक मार्ग के मकान यथासंभव समान ऊँचाई के हों और समान संख्यक महलों का मान भी यथासंभव समान ही हो। सामने, मध्य और पीछे के कमरों का धरातल एक ही होना चाहिए और गृह का द्वार प्रायः बीच में सामने होना चाहिए। द्वार के दोनों ओर एक एक वेदिका होनी उचित है। उत्तर भारत के मकानों में द्वार के दोनों ओर इस प्रकार की वेदियाँ साधारणतः बनी होती हैं। भरहुत आदि की प्राकारवेष्टनियों (रेलिंगों) पर मौर्य-शुंग-कालीन गाँव के घरों के अर्द्धचित्र बने हैं। बंगाल की झोपड़ियों की भाँति उनका रूप है, तृण अथवा ईंट वा मिट्टी की सामग्री उनमें लगी जान पड़ती है। छतें उनकी बीच से उठी कुछ गोल सी हैं।

१२. नगर (पुर)

प्राचीन नगरों के अनेक भग्नावशेष आज भारत में उपलब्ध हैं जिनसे मानसार, अर्थशास्त्र आदि में दी हुई नगर-निर्माण-व्यवस्था की पुष्टि हो जाती है। ग्रामों की ही भाँति नगर भी परकोटों से घिरे होते थे। इसी कारण, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उसकी संज्ञा 'पुर' हुई। इन पुरों की शक्ति का अनुमान ऋग्वेद की उन ऋचाओं से होता है जिनमें मृध्रवाक्, अयज्वन्, अदेवयु, शिश्नदेवा दासों और दस्युओं के लौहदुर्गों और पुरों को ऋषि इंद्र से वज्र द्वारा नष्ट कर देने की प्रार्थना करता है। प्रमाणतः द्रविड़ों के पकाई मिट्टी के मकान गाँव में तृणगृहों में रहनेवाले आर्यों को लोहे के बने हुए प्रतीत हुए।

यद्यपि यहाँ मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा आदि सैंधव सभ्यता के नगरों का सविस्तर उल्लेख न अभीष्ट है, न आवश्यक, मोहेनजोदड़ो के नगर पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। उस नगर की सड़कें परस्पर समानांतर और दिशा-विरोधी दो रूप से चलकर एक दूसरे को काटती थीं। पथों पर दोनों ओर साधारणतः दोमंजिले पकाई ईंटों के मकान खड़े थे। मकानों में रहने, सोने के कमरों के अतिरिक्त स्नानागार, कुँए, छत पर जाने के सोपानमार्ग आदि थे। घर की नाली

गंदा जल बाहर निकाल देती थी जिसे सड़क की नाली नगर के बाहर बहा ले जाती थी। नगर की सारी नालियाँ एक साथ नगर के बाहर मिलकर आदमकद नाली में गिरती थीं जो अपना जल बाहर के उपवनों में उगल देती थी। सड़कों पर कूड़े के पात्र बने थे। नगर के बाहर स्नान के लिये पक्की ईंटों के लंबेचौड़े कृत्रिम तालाब थे, जिन्हें कुँए के जल से भर और खाली कर दिया जाता था। उनके चारों ओर कपड़े बदलने के लिये बरामदे और कमरे आदि बने थे।

ये नगर दो हजार वर्ष विक्रम से पहले ही बने थे जो उस समय के लगभग नष्ट हो गए। बाद का नगरनिर्माण प्रायः ग्राम की वास्तुसामग्री से हुआ—मिट्टी लकड़ी आदि से—जिसे काल ने निगल लिया। साधारणतः इस बीच का काल आर्यों की प्राचीन सभ्यता का माना जाता है। आर्यों के आवासस्थल गाँव थे। नगरनिर्माण उन्होंने द्रविडों से सीखा और उनके नगर अपेक्षाकृत बहुत पीछे खड़े हुए। यद्यपि आठवीं-सातवीं शती विक्रम पूर्व अथवा और भी पहले के उनके नगरों—अयोध्या, आसंदीवंत, इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, कांपिल्य, काशी—के नाम हम प्राचीन साहित्य में पढ़ते हैं परंतु इन नगरों में उतने प्राचीन काल का कोई वास्तु आज समूचा खड़ा नहीं है।

प्राचीनतम वास्तु अवशेष सिंधु सभ्यता के अवशेषों के अतिरिक्त पटने से प्रायः १०० मील उत्तरपूर्व राजगिर में हैं। वे प्रायः छठी शती वि० पू० के राजगृह के प्राचीरों के अवशेष हैं। पत्थर के होने के कारण वे बच रहे हैं। उनके भीतर की 'जरासंध की बैठक' तत्कालीन बैठकों का आभास प्रस्तुत करती है। महाभारत के प्रसिद्ध बार्हद्रथ कुल की राजधानी गिरिव्रज को बुद्ध के समकालीन बिंबिसार ने छठी शती वि० पू० में राजगृह नाम से फिर बसाया, प्रायः प्राचीन नगर से सटे ही हुए। राजप्रासाद की प्राचीन परिधि से तनिक बाहर निकल जाने और मात्र वहाँ राजमहल रहने के कारण संभवतः नए नगर का, चतुर्दिक् अभिजात आवास हो जाने पर, वह नाम पड़ा। प्रायः तभी की कौशांबी (इलाहाबाद जिले में कोसम) नगरी भी थी और यद्यपि उसकी प्राचीरें उतनी प्राचीन नहीं हैं, उसके भग्नावशेष की नींव भी उस काल के आधार पर रखी है। अधिकतर अवशेष तो वहाँ शुंगकालीन (प्रथम शती वि० पू०) हैं परंतु अभी हाल की खुदाई में उसकी प्राचीरों के भीतर बुद्धकालीन घोषिताराम विहार की अभिलिखित जो पट्टिका मिल गई है उससे उसकी भी, प्राचीन रूप में, राजगृह के साथ समकालीनता स्थापित हो गई है। तीसरी शती वि० पू० के पाटलिपुत्र के भग्नावशेष पटना शहर के निकट कुम्रहार गाँव में मिले हैं। प्रायः बुद्ध के समय ही उस नगर की नींव पड़ी थी। उसका जो आँखों देखा वर्णन चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में रहनेवाले सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज ने किया है वह वहाँ खुदाई में मिली सामग्री से प्रमाणित हो जाता है।

उस पाटलिपुत्र के वर्णन से हम तत्कालीन भारतीय नगर की व्यवस्था का सही अनुमान कर सकते हैं।

मेगस्थनीज लिखता है कि वह भारत का सबसे बड़ा नगर है। उसकी लंबाई साढ़े नौ मील और चौड़ाई पौने दो मील है। वह नगर शोण और गंगा के संगम पर उनके कोण में बसा है। उसकी रक्षा ६०० फुट चौड़ी और ४५ फुट गहरी खाई करती है। इसके अतिरिक्त नगर के चारों ओर लकड़ी की एक विशाल प्राचीर दौड़ती है। उसमें ५०० बुर्जियाँ और ६४ द्वार हैं।

१३. दुर्ग

इस वर्णन से दुर्ग का भी अटकल लगाया जा सकता है। तीसरी शती वि० पू० के अनेक दुर्गों का उल्लेख सिकंदर के इतिहासकारों ने किया है। मस्सग, संगल, मालव नगर के दुर्ग अपनी दुरूहता के कारण सिकंदर की विजय में भारी अवरोध सिद्ध हुए थे। उस काल के उन दुर्गों का प्रशस्त वर्णन तो नहीं मिलता पर शिल्पशास्त्र में दुर्गों के निर्माण की व्यवस्था है। नगर के से उनके गोपुरद्वार, प्राचीर, बुर्जियों, अट्टों, तोरणों आदि का सविस्तर वर्णन मिलता है। वस्तुतः दुर्ग भी नगर की ही भाँति बनता था। उसके भी चारों ओर खाई और प्राचीरें होती थीं। पर्वतीय दुर्गों की दुरूहता कठिनाई से विजित हो पाती थी। इन प्राचीरों के ऊपर स्थान स्थान पर संत्रियों के लिये छिपे स्थान बने होते थे। सारा नगर विपत्ति-काल में दुर्ग में शरण ले सकता था।

इस देश के इतिहास के अनुपात से बहुत प्राचीन दुर्ग तो आज यहाँ उपलब्ध नहीं है पर कुछ पिछले काल के दुर्गों के अवशेष निश्चय खड़े हैं। बार बार बसी दिल्ली का पुराना किला इसी प्रकार का है। यादवों की राजधानी देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद, बंबई के औरंगाबाद और प्रसिद्ध एलोरा की गुफाओं के निकट) का दुर्ग, जिसे अलाउद्दीन ने जीता था और जो आज भी खड़ा है, उत्तर मध्य-कालीन है। उसमें चक्करदार सोपानमार्ग दुर्ग के भीतर ही भीतर बना है जिसकी चोटी पर एक बड़ा तवा रखा है। दोनों ओर से सोपानमार्ग बंद कर तवे पर आग जला सुरंग को भर देते थे, शत्रुसेना दम घुट जाने से मर जाती थी। उस दुर्ग की एक राह तो इस प्रकार सुरक्षित है, शेष तीन ओर से उसे खड़ा पहाड़ घेरे हुए है। ऊपर तालाब आदि सभी कुछ हैं जिससे आपत्तिकाल में कुछ भी छीजे नहीं और सारे नगर की रक्षा हो सके। कुछ आश्चर्य नहीं जो मुहम्मद तुगलक ने उसे दिल्ली से अधिक सुरक्षित समझा हो।

ग्वालियर के कछवाहों (कच्छपघात) का दुर्ग उससे भी संभवतः पहले का है। पहाड़ी के ऊपर लंबे घेरे में वह प्रबल दुर्ग खड़ा हुआ था। वह भारत के

मजबूत खड़े किलों में स्थान रखता है। उसको सर करना बड़ा कठिन हो गया था। चंदेलों का कालिंजर और गुहिलोतों का चित्तौर भी प्रायः तभी बने थे और शक्ति तथा दुरूहता में अजेय माने जाते थे। चित्तौर अपनी अमर गाथा सिर से उठाए आज भी खड़ा है। सासाराम के समीप बिहार में रोहतासगढ़ का किला भी मध्यकालीन हिंदू राजकुल का बनवाया हुआ बड़ा शक्तिमान है। शेरशाह ने उसे बड़ी चतुराई से जीता था। काशी के पास चुनार का किला पहाड़ी की चोटी पर परकोटे सा दौड़ गया है। एक ओर गंगा उसकी रक्षा करती है, दूसरी ओर पहाड़।

मुगलों से पहले के कुछ प्रबल दुर्ग दक्षिण में भी थे। इनमें देवगिरि (दौलताबाद) के दुर्ग का उल्लेख किया जा चुका है। दक्षिण जाने की राह में असीरगढ़ का किला उत्तर की सेनाओं का प्रबल अवरोध था। उसकी शक्ति को अनेक विशेषज्ञों ने सराहा है। दक्षिण की प्रायः सभी रियासतें—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा—अपने दुर्गों की अजेयता के लिये प्रसिद्ध थीं। गोलकुंडा का दुर्ग तो असाधारण प्रबल था। आज भी अपने खड़े-गिरे रूप में वह दर्शकों को अपनी दुरूहता से चकित कर देता है। उसे देखकर पता चलता है कि वस्तुतः उस खूनी काल में इन दुर्गों से कैसे संकट काटे जा सकते थे और कैसे इनको दृढ़ रखना आवश्यक था। गोलकुंडा का दुर्ग वस्तुतः समूचा नगर है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नगरों का निर्माण दुर्गों की विधि से हुआ करता था और दुर्गों का ऐसा जिससे उनमें सारा नगर आश्रय ले सके।

उत्तर के तीन असाधारण किले मुगलों ने बनवाए—आगरे, इलाहाबाद और दिल्ली के। आगरे और इलाहाबाद के अकबर ने बनवाए और दिल्ली का किला शाहजहाँ ने खड़ा किया। इलाहाबाद का किला गंगायमुना के संगम पर है। विशेष मजबूत और ऊँचा तो वह नहीं है पर जल की ओर से निश्चय सुरक्षित है। फतहपुर सीकरी के दुर्गगत अभिराम नगर को जल के अभाव ने जब वीरान कर दिया तब अकबर ने पास ही आगरे का दुर्जेय और सुंदर किला बनवाया और उसने, जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने उसे दर्शनीय इमारतों से भर दिया। दिल्ली का किला शाहजहाँ की निर्माणकला का प्रमाण है। मुगलों ने अपने किले समतल भूमि पर नदियों के तट पर बनवाए। उन्हें अपने पराक्रम के कारण शत्रु का इतना डर न था जितना शत्रु को उनसे था। इससे रक्षा के अर्थ उतना नहीं जितना कलाभावना से उन्होंने अपने भवन और ये दुर्ग बनवाए। उनके से सुंदर—आगरे और दिल्ली के किलों से—एशिया की भूमि पर दूसरे किले नहीं। उनके बाहरी और भीतरी दोनों शिल्प असाधारण सुंदर हैं। उन्हीं का यह परिणाम था कि दर्शनीय आमेर (अंबर) का दुर्ग अपनी नई सजधज के साथ खड़ा हुआ। इन दुर्गों के भीतर के भवन सौंदर्य में अप्रतिम हैं। फतहपुर सीकरी में तो अकबर ने नगर-

निर्माण की कला को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। वहाँ उसने नगर, दुर्ग और राजप्रासाद तीनों को एकत्र कर दिया था।

१४. राजप्रासाद

प्राचीनतम राजप्रासाद, जिसका वर्णन मिलता है, चंद्रगुप्त मौर्य का है। राजगृह और कौशांबी के भग्नावशेष भी ऐसे नहीं बचे कि उनसे बुद्धकालीन राजप्रासादों के वास्तु का अनुमान किया जा सके। परंतु कुम्रहार के भग्नावशेष और मेगस्थनीज के वर्णन से अशोक के पितामह चंद्रगुप्त के महलों का एक चित्र मिल जाता है। मेगस्थनीज अपनी 'इंडिका' में लिखता है कि चंद्रगुप्त का राजप्रासाद लंबेचौड़े 'पार्क' में खड़ा था जिसमें अनेक मछलियोंवाले सुंदर तालाब थे, अभिराम बगीचे थे। सुनहरे-रुपहले उस राजमहल के खंभे थे जिनकी चाँदी की कटी बेलों पर सोने के पत्नी बैठे थे। वह राजप्रासाद शूषा और एकबताना के महलों से कम शालीन न था। पाँचवीं शती विक्रमी में चीनी यात्री फाह्यान ने भी उसे देखा था। वह उसे अशोक का महल कहता है। अशोक ने संभवतः उसमें कुछ परिवर्तन किए थे। उस पत्थर-लकड़ी के बने प्रासाद को देखकर फाह्यान को लगा कि उसे मनुष्य नहीं बना सके होंगे, देवों ने बनाया होगा। ह्युएनत्सांग के समय तक वह जलाकर भस्म कर डाला गया था। इधर की खुदाइयों से कुम्रहार में उस प्रासाद के जो भग्नावशेष मिले हैं उनमें पत्थर के खंभों का हाल भी है जिसकी बनावट पर्सिपोलिस के राजप्रासाद के हाल जैसी ही है।

प्राचीन काल के राजप्रासादों का निर्माण बड़े पैमाने पर होता था। उनमें चित्रशाला, संगीतशाला, नाट्यमंडप सभी होते थे। कालिदास ने अपने ग्रंथों में राजप्रासादों और अट्टालिकाओं का जो वर्णन किया है, उसके आधार पर उनका रूप खड़ा किया जा सकता है। उससे पता चलता है कि राजप्रासाद भीतर और बाहर के दो विशिष्ट भागों में बँटा होता था[१]। उसके भीतरी भाग का महाकवि ने 'कक्ष्यान्तराणि'[२], 'गृहंरहः'[३], 'गर्भवेश्म'[४] आदि अनेक पदों से संकेत किया है। प्रासाद ऊपर नीचे अनेक मंजिलों के होते थे। वे अट्ट (ऊपर का कमरा), तोरण, अलिंद, आँगन, सभागृह, कारागार, न्यायालय, बरामदे (मणिहर्म्यपृष्ठतल) जो चंद्रमा की किरणों से चमकती संगमरमर की छतों पर खुलते थे, प्रमदवन (नजरबाग) आदि

[१] शाकुंतल, ५, ३; कुमारसंभव, ७, ७०; ८, ८१; रघुवंश, १६, ४२; विक्रमोर्वशी, पृ० २६।

[२] कुमारसंभव, ७, ७०।

[३] वही, ८, ८१।

[४] रघु० १६, ४२।

से संयुक्त होते थे[१]। उनके विमानप्रतिच्छंद,[२] मणिहर्म्य,[३] मेघप्रतिच्छंद,[४] देवच्छंदक[५] आदि अनेक नाम होते थे जो उनके विविध प्रकार को सूचित करते थे। कवि के विमानप्रतिच्छंद प्रकार के महल का उल्लेख मत्स्यपुराण में विमानच्छंद नाम से हुआ है[६]। उस पुराण के अनुसार इस प्रकार का प्रासाद अठपहला और अनेक बुर्जियोंवाला, ३४ हाथ चौड़ा होता था। मणिहर्म्य का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी हुआ है। उसका स्फटिक रूप संभवतः संगमरमर को व्यक्त करता है। उसकी छत तक पहुँचने के लिये सोपानमार्ग चाँदनी में गंगा की तरंगों (गंगातरंगशिशिरेण स्फटिकमणिशिलासोपानेन)[७] सा चमकता था। मानसार ने मेघप्रतिच्छंद का मेघकांत नाम उल्लेख किया है[८] जो दसमहला प्रासाद था। देवच्छंदक भी प्रायः इसी प्रकार का महल था। इन महलों की ऊँचाई का संकेत कालिदास ने अभ्रंलिह, अभ्रंलिहाग्र,[९] गगनचुंबी आदि शब्दों से किया है। तलों की ऊपरी छत विमानाग्रभूमि,[१०] पृष्ठतल आदि कहलाती थी। उनकी ऊँचाई का अनुमान उनके नाम के साथ संबंधित 'विमान' पद से ही किया जा सकता है।

प्रासाद साधारणतः दो भागों में विभक्त थे। भीतर का भाग अंतःशाला कहलाता था जिसमें अंतःपुर (अवरोध, शुद्धांत), शयनागार आदि और बाहर के भाग में संन्यासियों आदि से मिलने के लिये अग्निगृह, सभागृह, न्यायगृह, कारा, आँगन आदि होते थे। महल के चारों ओर, अथवा मुखद्वार के समीप, या महल के पीछे, प्रमदवन[११] (उद्यान) रहता था। उसके एक भाग में पक्षियों को पालने का प्रबंध था, पशुओं का संग्रहालय, तालाब, बावड़ी आदि थे[१२]।

१ रघु० ५, ७५; १६, ६ और ११; १६, २—तल्प; तोरण—वही १, ४१; ७, ४; कु०, ७, ६३, उत्तरमेघ, १२; अलिंद—शा०, पृ० १५६, माल०, पृ० ७८; उत्तर मेघ ६; शा०, पृ० २२३; रघु, १७, २७; सदोगृह, ३, ६७; माल०, पृ० ६४, ७६; वि०, पृ० २६; शा०, पृ० १८५; उ० मे०, १७; मणिहर्म्यपृष्ठतल—वि०, ६५; प्रमदवन—वही, ४, ५४।

२ उत्तरमेघ, ६।

३ वि० पृ० ६४ और ६५।

४ शा० पृ० २१३; २२; २२८।

५ वि० पृ० २६।

६ ५, २५, ३२, ३३, ४७, ५३।

७ वि० पृ० ६५।

८ २८, १६–१७।

९ उ० मे० १; रघु०, १४, २६।

१० उ० मे० ६।

११ वि० पृ० ५४।

१२ माल०, पृ० ८५।

एक विशेष प्रकार के महल, समुद्रगृह,[१] का उल्लेख सर्वत्र मिलता है। प्रगट ही यह ग्रीष्मकाल के उपयोग के अर्थ में शीतप्रासाद था। कामदग्ध प्राणियों को प्राचीन नाट्यकार साधारणतः इसी भवन में ले जाते हैं। इस प्रकार के भवन के चारों ओर यंत्रधाराएँ[२] (फव्वारे) चलती रहती थीं जिससे प्रासाद का वातावरण शीतल हो जाया करता था। समुद्रगृह का उल्लेख मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण, और बृहत्संहिता में हुआ है[3]। मत्स्यपुराण[४] के अनुसार वह भवन सोलहपहला और दो तलों का होता था।

राजप्रासादों से भिन्न अन्य अट्टालिकाएँ सौध[५], हर्म्य[६] आदि कहलाती थीं। सौध संज्ञा पलस्तर और चूना किए प्रसादों की थी—'सुधा' चूना को कहते थे। मानसार ने हर्म्य को साततला प्रासाद माना है[७]। कालिदास ने भी उज्जयिनी के ऊँचे प्रासादों का उल्लेख सौध और हर्म्य नाम से किया है[८]। नगर और राजप्रासादों अथवा सार्वजनिक आवासों के द्वार तोरणों से मंडित होते थे। तोरण की भूमि अनेक चित्रों से उत्खचित होती थी। कुषाण और गुप्तकाल में उनका रूप अधिकतर मकर का होता था, जिससे उनका नाम ही मकरतोरण पड़ गया था। शुंगकाल (साँची) और कुषाणकाल के तोरणों के दोनों ओर हाथी आदि पर चढ़ी नारीमूर्तियों का अलंकरण होता था। अलिंद (बारजे) तोरणयुक्त होते थे। ऊपर की बुर्जियों और उच्चतम कमरे को भी अट्ट कहते थे, वस्तुतः ऊपर के कमरे का नाम तल्प था। प्राचीन प्रासादों में वातायनों (खिड़कियों) के अनेक उल्लेख मिलते हैं। खिड़कियों के वातायन[९], आलोकमार्ग,[१०] जालमार्ग,[११] गवाक्ष[१२] आदि कई नाम थे। ये उनके प्रकारों को भी ध्वनित करते हैं। वातायन

[१] वही, पृ० ७२, ४८, ८०।

[२] देखिए, उपाध्याय : "इंडिया इन कालिदास", पृ० २४७–४८।

[3] मत्स्य०, अध्याय २६९, श्लोक ३८, ५३; भविष्य० १३०, २४; आचार्य : इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ११६।

[४] आचार्य—पृ० ११६।

[५] इंडिया इन कालिदास, यथाप्रसंग।

[६] वही।

[७] २५, २६।

[८] पू० मे०, ३८, ३०, १।

[९] रघु०, ६, २४; ८; १३, २१; १४, १३; उ० मे०, २५; ऋतु० ५, २।

[१०] रघु० ७, ६; वि० ६३।

[११] रघु० ६, ४३; ७, ६; पू० मे०, ३२, उ० २७।

[१२] रघु० ७, ११; ११, ७; उ० मे०, ३५; माल०।

खिड़की का साधारण नाम था। आलोकमार्ग ऐसी खिड़की थी जहाँ बैठकर बाहर के दृश्य देखते थे। जब ऐसी खिड़की में जालीदार कटाव का काम होता था तब उसे जालमार्ग कहते थे। गवाक्ष से स्पष्ट है कि इस प्रकार की खिड़की गाय (अथवा वृषभ) के नेत्र की शक्ल की होती थी। वातायन का साधारण अर्थ तो वैसे कोई खिड़की हो सकती है जिससे वायु भीतर प्रवेश करती हो, पर कुछ लोगों ने बड़ी खिड़की को ही वातायन माना है जिससे उसका भी एक विशेष (बड़ा) प्रकार ध्वनित होता है। प्रासादों के स्नानागारों में यंत्र से चलनेवाली जलधारा का भी प्रबंध था जिससे उनको यंत्रधारागृह कहते थे। उनमें स्फटिक, संगमरमर आदि की गच बनी होती थी। यंत्रप्रवाह और यंत्रधारा से भाव दौड़ते नलों से है। इस प्रकार का प्रबंध अकबर ने फतहपुर सीकरी के अपने महलों में किया था। कालिदास ने रघुवंश में ग्रीष्म के आनंददायक धारागृहों का वर्णन इस प्रकार किया है :

> यंत्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
> शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धवन्तः [१] ॥

राजप्रासाद के बाहरी भाग में घुड़साल, गजसाल आदि बने होते थे। घोड़ों और हाथियों को बाँधने के खूँटे 'मंदुर'[२] कहलाते थे।

पहले राजप्रासाद ईंट आदि के बना करते थे, परंतु पंद्रहवीं शती से राजस्थान, बुंदेलखंड आदि में प्रासाद पत्थर के बनने लगे। उस काल मध्यभारत में बने और आज भी खड़े ३०–४० राजमहल सुंदरता और आकर्षण की दृष्टि से तत्कालीन वास्तु के अभिराम उदाहरण हैं। ग्वालियर किले के सुंदर (गूजरी और दूसरे) महल राजा मानसिंह (१५४३–७५) के बनवाए हुए हैं। बाहरी प्राचीर की ऊँची बुर्जियाँ बराबर उठती चली गई हैं। उनके गुंबजों पर पहले सुनहरे ताँबे की चादरें चढ़ी थीं। भीतर की दीवारों पर मीनाकारी की पट्टियाँ गड़ी हैं जिनपर वृक्षों, मानवों, गजों, सिंहों, हंसों आदि के चित्र अंकित हैं। गूजरी महल भी अत्यंत सुंदर हैं। वीरसिंह देव के बनवाए दतिया और ओड़छा के शालीन महल, सूरजमल के दीग के महल और बाग, मानसिंह और जयसिंह के बनवाए अंबर (आमेर) के महल और जयपुर के हवामहल, उदयपुर के अनेकानेक प्रासाद (बड़ी पोल, त्रिपुलिया द्वार, राई आँगन, चीनी का चिनामहल, बड़ा महल, अमरविलास, करनविलास, गुलमहल, जगमंदिर द्वीप, जंगनिवास), जोधपुर के हृदयहारी पुराने राजप्रासाद सोलहवीं-अठारहवीं शतियों के बीच बने।

[१] रघु० १६, ४९।
[२] वही, ४१।

उनमें हिंदू-मुसलमान दोनों शैलियों का सुघड़ योग है। कुछ राजपूत राजाओं ने तो अपने पूर्वजों की समाधियों पर विशेष प्रकार की छत्रियाँ भी खड़ी कीं जो मुसलमानी कब्रों से प्रभावित थीं।

१५. सार्वजनिक आवास

साधारणतः राज्य की ओर से बननेवाले आवश्यक भवनों का विभाग 'वार्ता', 'सेतुबंध' आदि कहलाता था। अशोक ने यात्रियों के लिये दूर बाहर जानेवाले वणिक्पथों पर फलों और छायावाले पेड़ लगवा दिए थे। प्राचीन काल से पिछले मुसलमान काल तक सड़कों पर प्याऊ बैठाने और यात्रियों के लिये धर्मशाला, सराय आदि बनवाने की प्रथा थी। पुण्यशाला एक प्रकार का पूजागृह थी, चैत्यों से मिलती जुलती, संभवतः उन्हीं की परंपरा में, उनसे ही विकसित। *मानसार* में ग्राम-निर्माण-योजना में धर्मशाला गाँव के दक्षिणपूर्व भाग में प्रवेशद्वार के पास ही बनाने का विधान है।

साधारण नागरिकों के आवास उनकी स्थिति के अनुसार छोटे बड़े हुआ करते थे। झोपड़ियों को उटज और पर्णशाला कहते थे जो अधिकतर तृण की बनी होती थीं। साधारण मकान भवन, गृह आदि कहलाते थे। उनका रूप साधारणतः इस प्रकार था : चौकोन आकृति, भीतर आँगन, चारों ओर बरामदों की दीवारों से घिरे हुए अनेक कमरे जो बरामदों में खुलते थे। कमरे सोने, रहने, खेलने (क्रीडावेश्म)[1], स्नान और सामान रखने (सारभाण्डभूगृहे गुहायामिव[2] अर्थात् छिपे हुए कमरे जो गुफा के से लगते थे) के। तोरणवाले बारजे और खिड़कियाँ। बाहर भीतर की दीवारें अधिकतर चित्रित[3]। बाहर के द्वार के दोनों ओर शुभार्थ शंख, पद्म, इंद्रधनुष[4] आदि चित्रित कर लिए जाते थे।

१६. वापी, तडाग, दीर्घिका, कूप आदि

वापी, तडाग, कूप आदि बनवाने के दृष्टांत भारतीय अभिलेखों में अनंत मिलते हैं। ऐसा करना बड़ा पुण्यकर्म समझा जाता था और [illegible]क संख्या में राज्य और राज्येतर व्यक्ति इन्हें खोदवाकर प्रस्तुत करते थे। अन्यत्र मोहेनजोदड़ो के स्नानतडागों का वर्णन कर आए हैं। खेतों को सींचने के [illegible] नहरों आदि

[1] विक्र०, २, २२; ५, २२।
[2] माल०, पृ० ६३, ६४।
[3] सधसु चित्रवत्सु—रघु० १४, १५ और २५; सचित्राः प्रासादाः—उ० मे० १।
[4] सुरपति धनुश्चारुणातोरणेन, उ० मे० १२, १७।

का निकालना भी सरकार के वार्ता-सेतुबंध के अधीन था। उससे आय विशेष होती थी और किसानों की खेती में समृद्धि भी। खारवेल के द्वितीय शती वि० पू० के हाथीगुंफावाले अभिलेख में मगध के नंदराज द्वारा खुदवाई पनाली का उल्लेख हुआ है (नंदराज उद्घाटितं प्रणाली तिवस सत पूर्वम्)[1]।

उससे भी पहले अशोक के समय में उसके सौराष्ट्र प्रांत के शासक योनराज ने गिरनार पर्वत पर दो नदियों को बाँधकर सिंचाई के अर्थ एक सुंदर हृद (झील) बना दिया था[2]। उसका बाँध प्रायः चार सौ वर्ष बाद १५० वि० में टूट गया। गिरनार के अपने अभिलेख में शक क्षत्रप रुद्रदामन् ने लिखवाया है कि उसने अपनी प्रजा पर बगैर कोई नया कर लगाए राज्य के खर्च से वह बाँध बँधवा दिया[3]। स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के उसी गिरनार पर्वत के लेख से प्रगट है कि वह बाँध जब नदियों की बाढ़ से फिर टूट गया और सारा समीपवर्ती भूखंड उस बाढ़ से डूब चला तब स्कंदगुप्त ने भी उस कृत्रिम झील को फिर से बाँधा[4]। स्कंदगुप्त का तत्संबंधी लेख अत्यंत सुंदर पद्य में खुदा हुआ है।

राजा भोज आदि पिछले काल के राजाओं ने भी अनेक तालाब खुदवाए। मंदिरों की ही भाँति तालाबों से भी नगर और राजधानी को सजाने की प्रथा थी। राजाओं के अतिरिक्त साधारण गृहस्थ भी तालाब, वापी, कूप आदि खुदवाते थे जो बड़ा पुण्यकार्य माना जाता था। गाँव और नगर इनसे भरे हुए थे। मंदिरों के साथ भी, विशेषकर दक्षिण में, सुंदर बँधे हुए तालाब खुदवाए जाते थे। मुसलिम राजाओं ने भी झील और तालाब बनवाने की प्रथा कायम रखी। मालवा के सुल्तानों ने एक से एक सुंदर तालाब बनवाए। भोपाल और हैदराबाद में मुसलिम राजकुलों की बनवाई झीलें अद्भुत विस्तार लिए हुए हैं। पर राणाओं का बनवाया उदयपुर का उदयसागर भी इस दिशा में विशेष स्थान रखता है।

सड़क के किनारे की वापी, कूप आदि के अतिरिक्त उद्यानों में विशेष सुंदर रूप से उनका निर्माण होता था। उद्यान भी दो प्रकार के होते थे। एक प्रासादों से लगे नजरबाग या प्रमदवन का उल्लेख ऊपर कर आए हैं। दूसरे प्रकार के उद्यान

[1] ए० इ०, २०, १९३०, पृ० ७१; जायसवाल, जे० बी० ओ० आर० एस०, १९१८, १९२७, १९२८।

[2] उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १५५।

[3] वही, पृ० २११–१२; ए० इ० ८, पृ० ३६–४१।

[4] ए० इ० ८, पृ० ३६–४९; उपाध्याय : प्रा० भा० इ०, पृ० २६१।

सार्वजनिक होते थे, नागरिकों के लिये, जो नगर के बाहर (नगरोपकण्ठोपवनानि) लगाए जाते थे। नगर के बाहर मथुरा उज्जैन की भाँति वे एक से एक लगे दूर तक चले जाते थे (उद्यानपरंपरा)[१]। दीर्घिका, वापी, कूप आदि दोनों प्रकार के उद्यानों में निर्मित होते थे। दीर्घिका पतला लंबा तालाब थी और वापी बावली (ड़ी) को कहते थे। दोनों में संभवतः अंतर बस इतना ही था कि दीर्घिका लंबी होती थी और वापी गोल। कालिदास ने गृहदीर्घिका का उल्लेख किया है[२]। वापी के संबंध में वही कवि कहता है कि उसका सोपानमार्ग आलता लगे पावों से चलती सुंदरियों के स्पर्श से लाल हो जाया करता था। दीर्घिकाओं में जल से लगी और जल के भीतर से उठती ढाल पर छिपे हुए कमरे बने थे जिनमें श्रीमान और राजा जलक्रीड़ा के समय विहार करते थे। कालिदास का व्याख्याता इनका उद्देश्य 'सुरत' और 'कामभोग' बताता है[३]। इस प्रकार के कमरे लखनऊ में पिक्चर गैलरी से लगे नवाब वाजिदअली शाह के बनवाए तालाब में भी हैं। मेघदूत की कदलीवेष्टित वापी से लगा एक क्रीडाशैल भी था[४]। उद्यानों में क्रीड़ाशैल बनवाने की प्राचीन काल में सामान्य परंपरा थी। पत्थर के ऊपर पत्थर रखकर दर्शनीय कृत्रिम पर्वत रच लिया जाता था। उसके पास ही (देखिए, उत्तरमेघ) एक स्फटिक स्तंभ था जिसपर यक्षिणी का मयूर विराजता था और स्तंभ के आधार से पक्षी की स्वर्णशृंखला बँधी[५] रहती थी। पक्षियों के लिये घेरे और उद्यानों में वासयष्टि बनाने की भी प्रथा थी[६]।

उद्यान में वारियंत्र (फव्वारे) भी बनते थे जो सदा घूमते (भ्रांतिमत्) रहते थे। उस भ्रांतिमत् वारियंत्र से निरंतर फेकी जाती बूँदों को पकड़ने के लिये प्यासा मयूर सदा उसका चक्कर लगाया करता था[७]। फव्वारों का जल नीचे गिरकर पनालियों से बगीचे में बह चलता था जिससे वृक्षों, पौधों और लताओं के आलवाल (थल्ले) भर जाते थे[८]।

१ रघु० ६, ३५; १४, ३०।
२ वही, ६, ३७।
३ रघु०, १६, ६ पर टीका।
४ उ० मे०, १४।
५ वही, १६।
६ वही, वि०, ३, २।
७ माल०, २, १२।
८ रघु०, १२, ३; उपवनविनोद, पृ० ७३।

१७. मुसलिम वास्तु

इसलाम के भारत में आने से हिंदू मंदिरों और मूर्तियों की बड़ी हानि हुई। हजारों मंदिर जमीन में मिला दिए गए। अनेक बार अनेक स्थानों पर मंदिरों का बनना बंद हो गया। परंतु मुसलमान स्वयं स्थापत्य के शत्रु न थे। एक से एक बढ़कर इमारतें इस देश में उन्होंने बनवाईं जो भारतीय गौरव का कारण बनीं। संसार के किसी अन्य मुसलिम देश में इसलाम की इतनी शालीन, इतनी भव्य इमारतें न बनीं। आनेवालों ने इस देश को अनेक प्रकार से बरबाद करके भी इसे अपना घर बनाया, अपने सारे सपने यहाँ सच्चे किए और नगर और राजधानियाँ एक नए प्रकार के वास्तु से चमक उठीं। दिल्ली, अजमेर, आगरा, जौनपुर, गौड़, मालवा, गुजरात, बीजापुर, सासाराम, लखनऊ आदि में सुंदर से सुंदर किले, मस्जिदें, मकबरे, इमामबाड़े बने जैसे इस देश ने कभी देखे न थे, जो अन्य मुसलिम देशों की ईर्ष्या और आदर्श बन गए। और यह कार्य एक दिन में या मुसलमानों ने अकेले नहीं संपन्न कर लिया। उसमें अनेक युग लगे और हिंदू मुसलमान दोनों का श्रम, दोनो की मेधा लगी, तब उस नए वास्तु के पाए खड़े हुए। और ये पाए खड़े हुए पहले अधिकतर हिंदू शिल्पियों की मेधा के आधार पर, हिंदू-मुस्लिम-समन्वित वास्तु के सहारे।

इतने भव्य और विस्मयकारी वास्तु का संक्षिप्त विवरण न देने से निश्चय ही भारतीय वास्तु का अध्ययन अधूरा रह जायगा इसलिये यहाँ उसके प्रति संकेत मात्र करेंगे।

कुतुबुद्दीन ने दिल्ली और अजमेर में मकबरे बनवाए। उनमें हिंदू राज लगे और उन्होंने उन्हे अनेक लक्षण हिंदू वास्तु के दे दिए। ग्यारह मेहराबोंवाली दिल्ली की कुतबमस्जिद शक्ल में मुसलिम है, बनावट में हिंदू। कुतबमीनार का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। उसकी सविस्तर क्रिया हिंदू स्थपतियों के योग का परिणाम है। कुतबमीनार भारत की वास्तुविभूतियों में से है, २५० फुट के लगभग ऊँची, संसार की मीनारों में अकेली। वस्तुतः मीनार मुस्लिम बास्तु की मौलिक देन है। कुतबमस्जिद के दक्खिन सुलतान अलाउद्दीन खिल्जी ने १३१० में एक शालीन दरवाजा खड़ा किया। उसके हिंदूद्वेषी होते हुए भी उसकी उस कृति पर हिंदू प्रभाव की छाप पड़ ही गई।

जौनपुर को शरकी सुल्तानों ने सुंदर इमारतों से भर दिया। वहाँ एक विशिष्ट मुस्लिम शैली का प्रचलन हुआ। जौनपुर की मस्जिदों में सबसे सुंदर और शालीन अताला है जो १४०८ ई० में खड़ी हुई। उसका दरवाजा, हाल आदि तो निस्संदेह मुस्लिम शैली के हैं परंतु शेष सारा शिल्प हिंदू है। हिंदू मुस्लिम संमिलित शैली में

बनी यह मस्जिद तुग़लकी विशालता लिए हुए भी असाधारण सुंदर है। बंगाल के सुल्तान भी जौनपुर के सुल्तानों की ही तरह दिल्ली से स्वतंत्र हो गए थे। वहाँ उन्होंने अपनी स्थानीय शैली का आरंभ किया, अधिकतर बाँस की बनावटवाली शैली का। गौड़ की मस्जिद तो 'गौड़ का रतन' कही गई है यद्यपि उसकी शैली भिन्न है।

मांडू मालवा की राजधानी थी, पठानों की। वहाँ के सुल्तानों ने वास्तु के उत्तमोत्तम आदर्श वहाँ स्थापित किए। परंतु प्रांतीय मुस्लिम शिल्प में सुंदरतम वास्तु गुजरात का है। वहाँ की मस्जिदों पर हिंदू कला का गहरा प्रभाव है। लगता है कि मुस्लिम धर्म के अनुकूल आवश्यक परिवर्तन कर वस्तुतः वे मस्जिदें मध्यकालीन हिंदू जैन मंदिरों के अनुकरण में बनीं। गुजरात और दक्षिणी राजपुताना के मंदिरों के अलंकरण की समूची समृद्धि उनपर बरसा दी गई। गुंबजों और मेहराबों के सिवा सारी वास्तुक्रिया उनकी हिंदू है। खंभात की प्रधान मस्जिद का द्वार तो लगता है जैसे हिंदू मंदिर का मंडप है। धोल्का की हिलाल खाँ काज़ी की मस्जिद की छत शुद्ध हिंदू मंदिर की परामिडनुमा छत है और हिंदू मंदिरों की दीवारों की भाँति उसकी भूमि भी अलंकरणों से भर दी गई है। इस शैली के सुंदरतम उदाहरण अहमदाबाद में हैं। वहाँ की प्रसिद्ध जामामस्जिद की छत हिंदू शैली की बनी है। अहमदाबाद की सुंदरतम इमारत महाफ़िज़ खाँ की मस्जिद है। उसकी मीनारें आकर्षक कटाव से भरी हैं, सर्वथा हिंदू शैली में और उन्हें देखते ही राणा कुंभा का चित्तौरवाला जयस्तंभ याद आ जाता है।

दक्षिण की मुसलिम रियासतें भी अपनी वास्तुशैली के लिये बहुत प्रसिद्ध हुईं। उनकी शैली भी हिंदू मुसलमानों की घुलीमिली शैली से सर्वथा वंचित न रह सकी।

गुलबर्गा, बीदर, गोलकुंडा, हैदराबाद, सभी अपनी विशिष्ट वास्तुशैली के लिये प्रसिद्ध हुए। बीजापुर की इमारतें निजी विशेषता रखती हैं। इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय (१५७९-१६२६) का मकबरा पर्याप्त आकर्षक है और मुहम्मद आदिलशाह के प्रसिद्ध गोल गुंबज का, आकार में, संसार के गुंबजों में दूसरा नंबर है। उसे वास्तुविशारद शिल्पक्रिया का आश्चर्य मानते हैं। भीतर से वह वह १७८ फुट ऊँचा है।

बिहार में भी एक स्थानीय शैली का सूर सुल्तानों के शासन में उदय हुआ। शेरशाह ने सासाराम (सहसाराम) में झील के बीच अपना मकबरा बनवाया। शालीनता और भव्यता में उत्तर भारत की प्रारंभिक मुस्लिम इमारतों में कोई उसकी सी नहीं। उसपर भी हिंदू वास्तु का खासा प्रभाव है। भीतर के द्वारों में मेहराब के स्थान पर सपाट पड़ी पट्टी है, मेहराब नहीं।

बाबर ने मुगल साम्राज्य की इस देश में नींव डाली और एक नई शैली का जन्म हुआ, नितांत नाजुक और आकर्षक शैली का। कला के प्रायः सभी क्षेत्रों में मुगलों ने अद्भुत अनुराग दर्शाया। बाबर की बनवाई अनेक इमारतों में अब केवल पानीपत की बड़ी मस्जिद और संभल (रुहेलखंड) की जामा मस्जिद ही बच रही हैं।

अब तक इस देश की मुसलिम इमारतें हिंदू वास्तु के प्रभाव से मुक्त हो चुकी थीं पर अकबर फिर एक बार उस ओर झुका। आगरे के किले में उसने अनेक महल हिंदू शैली में बनवाए। हुमायूँ का दिल्ली का मकबरा, जो ताजमहल का आभास और बारीकी लिए हुए है, अकबर ने ही ईरानी शैली में बनवाया था। फतेहपुर सीकरी का नगर बसाकर उसने नगरनिर्माण में एक विस्मय खड़ा कर दिया। उसका बुलंद दरवाजा बुलंदी में संसार के उच्चतम द्वारों में गिना जाता है। उस नगर की अभिराम शैली, उसके भित्तिचित्र, सभी कुछ अकबर की महान् मेधा की उपज थे। आगरा के निकट सिकंदरा में जहाँगीर ने अकबर का आलीशान मकबरा बनवाया। उसके शासनकाल की दूसरी इमारत, श्वेत संगमरमर की, एतमादुद्दौला की कब्र है।

पर भारत का सबसे शालीन निर्माता तो शाहजहाँ हुआ। उसका बनवाया, उसकी मलका आरजूबंद बानू बेगम (मुमताज महल) का संगमरमर का मकबरा ताजमहल संसार की सुंदरतम कलाकृति है। विन्यास और क्रिया उसकी अद्भुत है। उसका सा अभिराम, उसका सा शालीन, उसका सा आकर्षक वास्तु स्थपति ने कभी न रचा। कुछ विस्मय नहीं जो ताज संसार के आश्चर्यों में गिना गया। मोती मस्जिद और जामा मस्जिद भी उसकी बनवाई हैं, दोनों एक से एक सुंदर। पर ताज तो शिल्प की सुईकारी है। उसमें अमित धन व्यय हुआ, निःसीम श्रम लगा परंतु उनसे जो बना वह संसार का अनजाना था, इतिहास का अनजाना।

द्वितीय अध्याय

मूर्तिकला

१. प्रास्ताविक

(१) **मूर्तिकला की व्यापकता और उसका उदय**—संसार में मूर्ति का प्रतीक जितना शक्तिशाली रहा है उतना अन्य कोई प्रतीक नहीं। कुतूहल, आश्चर्य और श्रद्धा से भगवान् और धर्मभावना का उदय हुआ परंतु उनसे बहुत पूर्व मूर्ति की काया मानस में सज गई। भगवान् का उदय हो चुकने पर भी व्यक्तिगत संबंध के लिये एक विग्रह चाहिए था। मानव ने अपने अनुरूप ही भगवान् और उसके विविधरूप देवताओं की कल्पना की और मानवी भावों का उनके ऊपर आरोप किया। कला के द्वारा दैवी विग्रह में यही आत्मभावना और आत्मीयता मूर्त हुई।

प्राथमिक चिंताकुल मानव की इस प्रकार की मूर्ति पहली अभिसृष्टि थी। प्रशांत सागर से अतलांतक तक सारी भूमि मूर्ति पूजती और उससे डरती थी। भय जब स्थायी हो गया तब उससे मानव परचा और उसको धीरे धीरे सुंदरतर करने लगा, प्रिय आत्मीय जैसा। मूर्ति में कला बसी। भारत के इतिहास में भी मूर्ति उतनी ही पुरानी है जितना पुराना उसका जाना हुआ इतिहास है। हमारी प्राचीनतम सभ्यता के भग्नावशेष सिंधु घाटी में मिले हैं, हड़प्पा, मोहनजोदड़ो आदि में। परंतु आश्चर्य है कि वह सभ्यता कला के शैशव से हमारा परिचय नहीं कराती उसकी पराकाष्ठा से कराती है। एक से एक सुंदर मूर्तियाँ, एक से एक मर्महर मुहरें, एक से एक अभिराम प्रतीक बनते हैं और सहसा सारा छिन्न भिन्न हो जाता है, उमँगता जीवन अपनी संधियों से बिखर जाता है। सभ्यता की शृंखला सहसा टूट जाती है।

फिर एक लंबे समय के बाद भारतीय रंगमंच का पर्दा उठता है और उसपर चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक आ खड़े होते हैं। उनकी सुथरी निखरी कला असाधारण प्रौढ़ता लेकर आती है और उसके विकास की मंजिलें ढूँढ़कर भी हम नहीं पाते। ऐसा नहीं कि बीच का काल सर्वथा अनुर्वर रहा हो। प्राङ्मौर्य काल में निश्चय कला से संबंधित प्रयास हुए हैं, बर्तन भांड की भूमि पर्याप्त निष्ठा से कोरी चिकनाई गई है और जब तब मूर्तियों का निर्माण भी हुआ है जिसका पता इक्के दुक्के मिल जानेवाले प्रतीकों से लग जाता है। उदाहरणार्थ सातवीं आठवीं शती वि० पू० की लौड़िया नंदनगढ़ की मृतकसमाधि में मिली नग्न नारी की

स्वर्णप्रतिमा प्रकट करती है कि किसी न किसी मात्रा में निश्चय उस दिशा में सफल प्रयास होते रहे हैं। परंतु निःसंदेह वह प्रयास इतना प्रभूत प्रसवक नहीं जितना मौर्यकाल अथवा उससे शीघ्रपूर्व का युग है। शीघ्रपूर्व का वह काल मिट्टी के ठीकरों पर उभरे चित्रों का विशेष धनी है। इनके अतिरिक्त पत्थर की मूर्तियाँ भी बनी हैं जो विशालकाय यक्षों यक्षिणियों की हैं। पारखम, बेसनेयर आदि की यक्ष यक्षिणियों की मूर्तियाँ इसी प्रकार की हैं, शक्ति की सींव, पूजा के लिये रची। उनमें मनसादेवीवाली मूर्ति अब तक मथुरा में पूजी जाती है।

(२) **मूर्तिविज्ञान के आधार**—जो भी हो, भारत ने मूर्तिकला को विज्ञान का पद प्रदान किया है। सौंदर्यसमाधि, कल्पना और भावबोधकता में उसकी किसी अन्य देश की कला समता कर सकती है, यह कहना आसान नहीं है। अन्य कलाओं में सौंदर्य की कमी नहीं, व्यंजना की भी असीम क्षमता है, व्यापक प्रभाव की भी वह धनी है पर ये सारी प्रवृत्तियाँ एकत्र कम मिलती हैं, इस मात्रा में तो कहीं नहीं जिस मात्रा में यहाँ मिलती हैं। और सचेत ज्ञान से हो अथवा छवि के आकर्षण से हो, भारत ने मूर्ति का त्याग नहीं किया, विपत्तियों के बावजूद। उपासना अब तत्वबोध को स्थान दे चुकी है।

२. विविध शैलियाँ और प्रकार

भारतीय मूर्तिकला में भी अन्य देशों की कलाओं की ही भाँति युग के साथ कला की शैली बदलती गई है। इन बदलते लक्षणों से हम युगविशेष की कला पहचान सकते हैं। इससे शैलियों के अध्ययन के लिये हमें इतिहास के युगों की ओर संक्षिप्त संकेत करना होगा। कला का इतिहास युगों के इतिहास से संबद्ध है। मूर्तिकला के विचार से इस देश के इतिहास के युग इस प्रकार हैं। प्राङ्मौर्य, मौर्य, शुंग, शक, कुषाण, गुप्त, पूर्व मध्य, उत्तर मध्य, प्रागाधुनिक, वर्तमान।

इनके अतिरिक्त एक ही काल में दो शैलियाँ भी चलती रही हैं, जैसे शक-कुषाण-युग के मध्य ही गांधार (यवन) शैली का चरम विकास हुआ। इसी प्रकार उससे पूर्व देशी कला के बीच मौर्य युग की असाधारण राजकीय कला अपनी विशिष्ट छवि और अनुपम पालिश परिष्कार लिए सहसा इस धरा पर आ उतरी। अब हम इन विविध युगों की कलाओं का संक्षेप में नीचे वर्णन करेंगे।

(१) **प्राङ्मौर्य**—प्राङ्मौर्य युग चौथी शती ईसवी पूर्व से पहले का है। उसकी ओर संकेत किया जा चुका है। उस काल की सामग्री को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें पहली तो सिंधु सभ्यता की सामग्री है, प्रायः २००० वि० पू० से पहले की। उसका वर्णन यहाँ अभीष्ट नहीं। केवल इतना कह

देना पर्याप्त होगा कि काँसे की नर्तकी, पत्थर के नर्तक, साँचों की उभरी मुहरों के पशुओं की आकृतियाँ अपने दमखम और प्राण में आज भी ताजगी लिए हुए हैं। उनकी गतिमत्ता कला के जिज्ञासुओं को चकित कर देती है। उनका छंद अद्भुत आकर्षक है। उनका व्यक्तित्व स्मृति पर बरबस उठ आता है। मनुष्य और पशु, पशु और ओषधि जैसे एक ही काया में सिरजे हैं। अनेक बार तो उन्हें एक में ही सटे, एक में से एक को निकले आते देखकर लगता है उन्हें आज के किसी सरियलिस्ट (अव्ययचेतनवादी) ने सिरजा है।

अगला युग केवल इस बात का बोध कराता है कि कला जहाँ तहाँ साँस ले रही है और सर्वथा मरी नहीं। लौड़िया नंदनगढ़वाली स्वर्णप्रतिमा, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इसी युग की है। अगला युग मौर्य काल के ठीक पहले का है, प्रायः पाँचवीं शती वि० पू० का। इस काल की मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं। मिट्टी और पत्थर की। मिट्टी की पूजार्थ बनाई मूर्तियाँ हाथ से ही बना ली गई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नागरिक प्रसाधनों से भी मंडित हैं। पत्थर की मूर्तियों की विशालता का उल्लेख ऊपर कर आए हैं। जिस निपुणता और कौशल से मुद्राओं के वृषभों की शक्ति सिंधु सभ्यता के साँचों के उभार में मूर्त होती थी वह कब की भुलाई जा चुकी है। उसका स्थान अब पत्थर ने ले लिया है पर पत्थर की कलाकारिता मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की प्रस्तरमूर्तियों की सजीवता से सर्वथा भिन्न है, स्थूल और भोंड़ी। पारखम आदि की यक्षमूर्तियों में शक्ति कायिक विशालता और स्थूलता से भरी गई है, रूपायन का आकर्षण उनमें तनिक नहीं।

(२) मौर्य—इसी पृष्ठभूमि से मौर्यकाल की कला सहसा उभर आती है। उसका रूपायन, अवयवीय यथार्थता, आकर्षण, सौंदर्य सभी अभूतपूर्व हैं। अशोक के स्तंभों पर शीर्षपशु मंडित हैं। सिंह, गज, वृषभ, अश्व आदि उनपर बने हुए हैं। पत्थर घर्षण और लेप से दर्पणवत् चिकना कर दिया जाता है। पशुओं के अंगांग पत्थर के होकर भी जैसे साँचे से ढलकर निकले लगते हैं। लगता है जैसे वे पत्थर के नहीं धातु के बने हों। उस जगत् में उनका सा कुछ भी नहीं है। फिर भी उनका विकास (क्योंकि अपने यहाँ डेढ़ हजार वर्ष से उनका सा कुछ भी नहीं है और पिछले लगे युग की कलाकारिता उनसे प्रकृतिभिन्न, प्राणभिन्न है) पड़ोस के अनुकार्य से होता है, अपादान के ईरानी वृषभों के अनुरूप, उन्हीं की परंपरा में। वही अवयवकारिता, वही प्रस्तर परिष्कार, वही पालिश। संभवतः ईरानी कलावंतों का भारतीय प्रतीकों, अभिप्रायों के रूपायन में योग।

सारनाथ के स्तंभशीर्ष के सिंह इस देश की मूर्तिकला में अकेले हैं। उनका सा न पहले कुछ था, न पीछे कुछ हो सका। उनकी शालीनता, प्रकृतिविरुद्ध शांत

मुद्रा उस अशोक की राजनीति के अनुरूप ही थी जिसने ऐश्वर्य और राजत्व की परंपरा ही बदल दी। उचित ही था कि भारतीय सरकार उस शीर्ष की आकृति अपनी मुद्रा में ढाल ले। वह पालिश जो अशोक के स्तंभों पर, उनके शीर्षपशु की आकृतियों पर, उसके दरीगृहों (बराबर) की दीवारों पर थी, मौर्यकाल के पश्चात् जो खोई तो फिर इस देश की भूमि पर न लौटी। उसका विकास ईरान की मूर्तियों के दर्पणवत् स्वच्छ पालिश से हुआ था। अशोक के पशु ईरान और असुर देश की पशुपरंपरा में हैं, निनेवे खारसाबाद के मानवमस्तक वृषभों की परंपरा में, अपादान के स्तंभशीर्ष वृषभों की परंपरा में। अशोक की पत्थरवाली मूर्तिकला पशुओं की अंगांगीय यथार्थता, उनकी शांत मुद्रा, निष्कंप शालीनता और इस देश में अनुपम पालिश से पहचानी जाती हैं।

मौर्यकालीन मिट्टी के ठीकरों की रूपकारिता सर्वथा स्वदेशी है। उसकी रूपसज्जा पूरी और अनंत है—अधिकतर नारी की सजी उभरी हुई मूर्ति, अनेक अनेक चुन्नटोंवाला घाघरा पहने, केशों का छत्र धारण किए। और इस अभिराम निधि की अनंतता सिद्ध है। साँचे का उपयोग भरपूर होने लगा है। उभरी हुई आकृतियाँ जैसे पहचानी हुई लगती हैं।

(३) शुंग युग—कला की आकृति, उसकी शैली बदल जाती है। उसकी प्रकृत यथार्थता का स्थान प्रतीकता ले लेती है। आकृतियों का अपना मान, अपना आदर्श निरूपित होता है। और यह कला जिस आधार से उठती है उसका इतिहास रक्तरंजित है। मौर्यों के पिछले राजा अपने पूर्वजों का पौरुष कायम न रख सके। उनकी क्लीबता और साप्रदायिक संकीर्णता ने वँक्षु काँठे में बसे ग्रीक यवनों को अभियान का अवसर दिया। और फलस्वरूप जब सालिसूक सौराष्ट्र में बलपूर्वक प्रजा को जैन बना रहा था, सिंध और माध्यमिका (चित्तौर के निकट नगरी) में देमित्रियस (खारवेल के हाथीगुंफा लेख का दिमित) का 'धर्ममीत' कहकर स्वागत किया गया। मगध जीतकर वह गृहशत्रु से निपटने स्वदेश की ओर लौटा। शत्रु प्रबल था, उसके राज्य बाख्त्री से न हिला, उलटे काबुल और पश्चिमी पंजाब पर भी उसने अधिकार कर लिया। विवश होकर उसे सिंध और पूर्वी पंजाब पर ही संतोष करना पड़ा। इस प्रकार पूर्वी पंजाब से भूमध्यसागर के तट तक, सिवा पार्थवों का छोटा राज्य बीच में छोड़, सारी भूमि ग्रीक यवनों के अधिकार में थी। पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल को छोड़ प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक पश्चिमी भारत गंगा से काबुल तक ग्रीक यवनों के ही अधिकार में बना रहा। यही पुष्यमित्र शुंग जो पहले मौर्यराज बृहद्रथ का पुरोहित और सेनापति रह चुका था, अपने राजा को मारकर मगध की गद्दी पर बैठा और इस प्रकार आगे का युग उसी के कुलनाम से शुंग युग कहलाया।

शुंग कला इस देश की सिंधु सभ्यता के बाद पहली राष्ट्रीय कला थी। प्रतीक स्थिर हो गए, रसात्मक सौंदर्य के मान स्थिर कर लिए गए, अनायास नहीं सचेत रूप से। सौंदर्य अवयवीय न रहा। अशोककालीन कला की प्राकृतिकता छोड़ दी गई। यथार्थ के अनुकरण से कलावंत विरत हुआ। उसकी मूर्तियाँ तनिक ठिगनी होने लगीं, सामने से कुछ चिपटी। कोरकर सर्वतोभद्रिका मूर्ति बनाने की अपेक्षा अधिकतर मूर्तियाँ उभारकर छंदपरंपरा में, कथाप्रसंग में, अर्धचित्र शैली में रूपायित होने लगीं। वैयक्तिकता सामाजिकता में बदल गई। जातक आदि कथाएँ पत्थरों पर उभर आईं, व्यक्ति उन कथाओं के अंग बन गए। यक्ष, यक्षिणियों की उभरी अकेली मूर्तियों के नीचे उनके निजी नाम लिखे होने पर भी वे अकेली न थीं, कथापरंपरा की अवयव थीं, अंग। उभरी, चिपटी वृक्षिकाएँ शालभंजिकाओं की अग्ररूपिणी सी वृक्ष के नीचे, उसकी शाखा को छूती सी, खड़ी हुईं। वाहन उनका वामन पुरुष था, मकर अथवा गज। उनके पदों के बीच शुंगकालीन धोती का त्रिकोणात्मक कोण भूमि को छूने लगा। हाथों पैरों में कड़े भर गए, ग्रैवेयक और तारहारों से वक्ष ढक गया, केश मोती की लड़ियों से ढक गए। पुरुषों की पदमध्य तिकोनी धोती के ऊपर उत्तरीय फबने लगा और उष्णीष (पगड़ी) की दोहरी ग्रंथि ललाट के ऊपर बिंबाकार मंडित हुई।

मूर्तिकला के क्षेत्र में प्रतीकों की जैसे बाढ़ आ गई। भरहुत और साँची के स्तूपों की वेष्टनी (रेलिंग) उसी शुंगकाल (१५० वि० पू०-७३ वि० पू०) में बनी। पुष्यमित्र आरंभ में बौद्धविरोध के कारण बौद्धों के प्रति असहिष्णु रहा था परंतु शासन प्रतिष्ठित हो जाने के पश्चात् उसने असाधारण सहिष्णुता की नीति बरती। अपनी नई रुचिरता, नई गतिमत्ता, नई आकृति बुद्धि के साथ जो संपदा अशोक के बाद मूर्तिक्षेत्र में शुंगकाल में रूपायित हुई वह सदियों अप्रतिम रही। शुंगराज की पैतृक विदिशा नगरी के ही गजदंतकार कलावंतों ने अशोक के भरहुत और साँची के स्तूपों के चतुर्दिक् वेष्टनी दौड़ाई और तोरणद्वार खड़े किए। इस वेष्टनी और तोरण पर जो मानव भावसत्ता का स्रोत फूट पड़ा है वह सर्वथा अलौकिक है। उभरी आकृतियाँ सजीव हो उठी हैं, गज, अश्व, कपि, मृग जैसे मानव की भाषा बोलते हैं, उसके भावसागर में डूबते उतराते हैं। फुल्ले के भीतर प्रफुल्ल मानव मस्तक प्रसन्न अंकित है। साँची के तोरण पर, उसके द्वारस्तंभों पर भी जीवन लहरा उठा है। स्तूप की सचेत ज्ञानवान गजों द्वारा मानवीय पूजा, उनका आकृति आकुल परिवार, अशोक के जलूस की जनसंकुलता और अनेक अन्य दृश्य अपने वेग और अंकन की मानुषतीव्रता से दर्शक को जड़ बना देते हैं।

तब अभी बौद्धों में हीनयान संप्रदाय की महत्ता थी। बुद्ध की मूर्ति नहीं बनती थी। तथागत की उपस्थिति का बोध प्रतीकों से कराया जाता था—धर्मचक्र

प्रवर्तित करते करों से, बोधिवृक्ष से, बुद्ध की पादुका से, छत्र से, स्तूप से। और जातक कथाओं से भिन्न प्रतीक तब की बौद्ध कला में प्रायः यही थे। भरहुत की वेष्टनी पर एक अद्‌भुत सुंदर कथा खुदी है, जेतवन खरीदने की। बुद्ध को श्रावस्ती में जो उपवन सुंदर लगा वह जेत का था। तथागत ने उसके सौंदर्य का बखान किया। उपासक सेठ अनाथपिंडक ने उसे खरीदकर संघ को दान कर देने की इच्छा प्रकट की। जेत से उसका मूल्य पूछा। जेत ने असंभव मूल्य माँगा—उतने सुवर्ण (सोने के सिक्के) जितने से माँगी हुई भूमि ढक जाय। अनाथपिंडक जब उतना धन देने को तत्पर हो गया तब जेत मुकर गया। अभियोग विचारार्थ न्यायसभा में पहुँचा, जेत को अपना पहला मूल्य स्वीकार करना पड़ा। सेठ ने जेतवन की भूमि सोने से पाटकर मूल्य चुका दिया और जेतवन संघ को दान कर दिया। वही चित्र भरहुत की वेष्टनी पर अंकित है। बैलगाड़ियाँ सिक्कों से भर भरकर आ रही हैं, सिक्के भूमि पर बिछाए जा रहे हैं। थके, खुले बैल आराम कर रहे हैं। इस प्रकार जीवन और साहित्य की कथाएँ इन कलाकृतियों में उतर आई हैं, अनेक प्रतीकों ने साहित्य में स्थान पाया है। जातकों की कथाओं का कला में असीम मूर्तन साहित्य और कला के इस घने संपर्क और आदान प्रदान को व्यक्त करता है।

शुंगकला के केंद्र श्रावस्ती, भीटा, कोशांबी, मथुरा, बोधगया, पाटलिपुत्र, भरहुत, साँची आदि थे। बोधगया में भी वेष्टनी अंकन उसी काल का है। मथुरा में अनेक शुंगकालीन उभरी मूर्तियाँ मिली हैं, अनेक जातककथाएँ भी, स्तंभों पर उत्कीर्ण। वहाँ की एक स्तंभयक्षी तो विशेष आकर्षक है, प्रायः तीन ओर से कोरी हुई आकृतिवाली, नर्तन के लिये जैसे भूमि पर पग मारने को उद्यत। इसी प्रकार वहाँ की बलराम की पहली हल-मूसल-धारी मूर्ति लखनऊ के संग्रहालय में रखी है।

शुंगकाल की मृण्मूर्तियों की संपदा भी अपार है। कुछ अनोखी नारी-मूर्तियाँ तो पाटलिपुत्र में मिलीं जो पटना के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कोशांबी में तो उस काल की असंख्य मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिनकी वेशसज्जा अत्यंत सुंदर है। अकेली खड़ी नारीमूर्ति के ठीकरे तो अनंत संख्या में उपलब्ध ही हैं, वहाँ से अनेक ठीकरे ऐसे भी प्राप्त हुए हैं जिनपर ऐतिहासिक चित्र उभरे हुए हैं। ऐसा एक मिट्टी का अर्धचित्र उदयन का है। चंडप्रद्योत महासेन की कैद से उसकी कन्या अपनी प्रेयसी वासवदत्ता के साथ वह उज्जयिनी से गज पर भाग रहा है। प्रद्योत की सेना उसका पीछा कर रही है। आगे उदयन से चिपकी वासवदत्ता बैठी है, पीछे बैठा उदयन का अनुचर नकुली से स्वर्णमुद्राएँ बरसा रहा है जिन्हें पीछा करनेवाले सैनिक उठाने में लगे हैं और गज भागा जा रहा है। इसी

पुरानी कथा की ओर कालिदास ने अपने मेघदूत के 'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्'[1] में संकेत किया है। कला और साहित्य इतने समकक्ष थे कि दोनों में समान प्रतीकों का अंकन हुआ। यह उदयन की कथा इतनी लोकप्रिय थी कि इसका संस्कृत साहित्य में बार बार चित्रण हुआ। भास का नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' तो केवल इसी प्रसंग को लेकर लिखा गया। एक और ठीकरा गाड़ी है जिसमें पिकनिक हो रही है। थालियों में फल आदि खाद्य पदार्थ रखे हैं और लोग बैठे हैं। कौशांबी में इस प्रकार के अनेक ठीकरे मिले हैं। एक और अन्य प्रकार की गाड़ियों में अधिकतर मेढ़े जुते हैं। अत्यंत सुंदर मेढ़ों और मकराकृतियों का वहाँ बाहुल्य है। ये और नारी अंकित ठीकरे सभी साँचे में ढले हुए हैं, खाली भूमि सर्वत्र खिले फूलों से भर दी गई है। शुंग ठीकरों पर फूलों का बड़ा उपयोग हुआ है। नारी आकृतियाँ भी, जो ठीकरों पर उभरी हुई हैं, कमलदंड धारण किए हुए हैं। इन आकृतियों की प्रसन्न मुखमुद्रा देखते ही बनती है। उस काल के बच्चों को खिलौनों की कितनी संपदा प्राप्त थी और वह संपदा भी कितनी सुरुचि से प्रस्तुत। ये ठीकरे पीछे से सपाट हैं और उनके सिरे छिदे हुए हैं जिससे लगता है कि दीवार पर चित्रों की भाँति नागरिक इन्हें टाँगते भी थे। मिट्टी कलांकन तो शुंगकाल में पत्थर से कहीं अधिक हुआ। शुंगकालीन स्थानों में मिट्टी हटाते ही ढेर के ढेर ठीकरे निकल पड़ते हैं। शक-कुषाण-युगीन कला का वर्णन करने से पूर्व शुंगकाल की चमरधारिणी की ओर संकेत कर देना अनुचित न होगा। पत्थर की सर्वतोभद्रिका कोरी नारीमूर्ति चँवर धारण किए प्रकृत ऊँचाई में भंगिम मुद्रा में खड़ी है। उसे दीदारगंज की चँवरधारिणी कहते हैं और वह पटने के संग्रहालय में सुरक्षित है। उसकी पालिश देखकर लगता है कि मौर्ययुगीन पालिश शुंगकाल में भी छिटकी फुटकी चली, पर साधारणतः उस काल के प्रायः प्रारंभ में ही वह लुप्त हो गई।

(४) शक-कुषाण—शक-कुषाण-काल वि० पू० प्रथम शती में आरंभ होकर प्रायः तीसरी शती तक चला। शक आभीर (और आभीरों के पूर्वी पड़ोसी गुर्जर) वि० पू० दूसरी शती में ही इस देश की ओर सरकने लगे थे और शक तो पहली शती विक्रम पूर्व में सिंध में बस भी चुके थे। धीरे धीरे उन्होंने ग्रीक यवनों और पह्लवों से भारत छीन लिया। शीघ्र सिंध, तक्षशिला, मथुरा, मालवा और महाराष्ट्र के पाँच केंद्रों में उनके राज्य स्थापित हुए। कुषाण उनके शीघ्र ही बाद बाख्त्री, काबुल, कश्मीर, पंजाब और मध्यदेश के पश्चिमी भाग के स्वामी बन गए। उनके राजा कनिष्क ने पाटलिपुत्र तक धावा किया था। उसका दूसरी शती वि० (सं० १३५) का चलाया शक संवत् आज भी इस देश का मान्य संवत् है।

[1] पू० मे०, ३०।

शुंगों के बाद कुषाणों के युग में भी कला की अपार संपदा प्रसूत हुई। पत्थर और मिट्टी दोनों का असाधारण मात्रा में उपयोग हुआ। मृण्मूर्तियाँ भी तब की असीम संख्या में उपलब्ध हैं। विविध प्रकार के विषय तब के साँचे में ढले। पंचबाण और किन्नरमिथुन ठीकरों पर उभरे। कुषाण कला के तब अनेक विशिष्ट केंद्र थे—मथुरा, सारनाथ, अमरावती। अमरावती आंध्रों के साम्राज्य में थी और यद्यपि उसकी कला आंध्र कहलानी चाहिए (कुछ लोग उसे आंध्र कहते भी हैं), कला के कुषाण लक्षणों के कारण साधारणतः वह भी कुषाण ही कहलाती है। सारनाथ की कला मथुरा का ही विस्तार थी। उधर पश्चिम में तक्षशिला आदि भी मूर्तियों के आकर सिद्ध हुए। पेशावर तो कनिष्क की राजधानी ही था। इन सब में प्रधान संभवतः मथुरा ही थी। पत्थर कोरने की कला तब तक असामान्य विकास पा चुकी थी। अर्द्धचित्रों के उभार अब तक कुछ और उठ आए थे। धोती और पगड़ी बाँधने की शैली बदल गई थी। धोती की तिकोनी छोर पैरों के बीच लटकने के बजाय वह आज की मध्यदेशीय शैली में बाँधी जाने लगी थी। उष्णीष की सामनेवाली दो ग्रंथियों के स्थान पर एक ही पत्रकँलगी पगड़ी के बीच लहराती थी। आकृतियाँ अपना चिपटापन छोड़ कुछ गोलाकार हुईं यद्यपि अभी वे गुप्तकाल की अंडाकार आकृतियों की पूर्ववर्ती थीं।

मथुरा के अनेक टीलों से उस काल की कला की अनंत सामग्री उपलब्ध हुई है पर जैन बौद्ध स्तूपों की वेष्टनियों के ऊपर जो चित्र उभरे हुए हैं उनका संभार निजी है। उनपर कलावंतों ने अनंत कलानिधि बिखेर दी है। जो प्रतीक सबसे अधिक इन वेदिकाओं (रेलिंगों) पर उभारे गए हैं उनमें प्रधान शालभंजिकाएँ अथवा यक्षिणियाँ हैं। हैं तो वे भरहुत की यक्षिणियों का ही प्रसार परंतु उनकी भावभंगी अब सर्वथा बदल गई है। भरहुत की मूकता से दूर प्रसन्न जीवन की हिलोर इनके मानस और अंगांग में उठ रही है। उद्दीपन के सारे साधन लिए ये वेदिकास्तंभों पर उतर आई हैं। आप जैसे इनमें से अनेक को पहचान लेते हैं, इतने सजीव सामाजिक चित्र हैं ये। उस काल का विलास जैसे इनमें छलका पड़ता है। साधारणतः ये नंगी हैं। वृक्ष के नीचे खड़ी। काम के वाहन शुक को कंधे पर बिठाकर दाना चुगाती, उसके चोंच की चोट से शिथिल नीवीबंध को सँभालती, शुकसारिका का पिंजर लिए, कंदुक उछालती, वीणा बजाती, स्नान करती, पुष्प-चयन करती, ईरानी शैली के वस्त्र पहने, दीप वहन करती, दोहद संपन्न करतीं—उनकी इतनी भावभंगियाँ हैं कि गिनाई नहीं जा सकतीं।

कला और साहित्य में तो अनेक प्रतीक समान विषय के रूपायित हुए। तरुणी का नूपुरमंडित चरण से छूकर रक्ताशोक को लाल कलियों से भर देना, आसव के कुल्ले से बकुल को मुकुलित कर देना, पत्नी अथवा प्रेयसी का पति

अथवा प्रणयी द्वारा केशप्रसाधन आदि कलाकार और कवि दोनों के समान रूप से प्रिय अंकन-अभिप्राय थे। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने इस दोहद का सुंदर चित्र खींचा है। स्तंभों पर उभरी यक्षी अथवा शालभंजिका मुद्रा का तो उस महाकवि ने इतना अभिराम अंकन किया है, इस माधुर्य से कुषाण कला को साहित्य में उतार लिया है कि उसे उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता :

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रांतवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥[1]

चित्र उजड़ी अयोध्या का है। धूल से जिनके वर्ण धूमिल हो गए हैं, उन स्तंभयोषिताओं (स्तंभों पर बनी शालभंजिका आदि मूर्तियों) के स्तनों के उत्तरीय अब सर्पों की छोड़ी केंचुलें ही रह गई हैं।

इसी प्रकार की एक समानांतरता प्रसाधन संबंधी है। मथुरा और अन्यत्र के कुषाणकालीन द्वारस्तंभों पर खाने काट काटकर प्रसाधन के अनेक चित्र बने हुए हैं। वामन के सिर पर फूलों और गजरों का थाल है, गजरे और फूल निकाल निकालकर पति अथवा प्रणयी प्रणयिनी के केश सजा रहा है, उसकी वेणियाँ गूँथ रहा है, पत्रविशेष उसके कपोलों पर अंकित कर रहा है। समकालीन कवि अश्वघोष ने उस छवि को अपने सौंदरानंद में मुखरित कर दिया है। नंद अपनी हाल की विवाहिता सुंदरी के कपोलों पर लता की टहनियों और पत्रों की अभिराम आकृतियाँ रच रहा है। बुद्ध आते हैं, देहली में अपना भिक्षापात्र बढ़ाते हैं, कोई ध्यान नहीं देता, सभी व्यस्त हैं, सभी चाकर स्वामी स्वामिनी के विलास के साधन अंगराग, फेनक, अनुलेप, सुवासित जल, मदिरा आदि प्रस्तुत करने में लगे हैं, तथागत रिक्तपात्र आगे बढ़ जाते हैं। नंद सुंदरी के ललित प्रसाधन में रत उधर देखता है तो स्थिति समझ लजा जाता है। सुंदरी से बुद्ध को लौटा लाने की अनुमति माँगता है। सुंदरी अनुमति देती है पर कहती है कि जाओ पर गाल के रंगों का गीलापन सूखने के पहले ही लौट आओ। पर न कभी बुद्ध लौटे और न नंद ही लौटा, प्रसाधन की पृष्ठभूमि मुरझा गई। कुषाणकालीन कलाकार तक्षण का धनी है, कलागत कथा का धनी है।

जल बहानेवाली पनाली तक को (लखनऊ संग्रहालय) उसने कोमल चित्रों से भर दिया, उसे मकरमुख प्रदान किया, गुंजलक भरते मकरों से उसका बहिरंग उभार दिया (मकरमुखप्रणाली)। पनाली का संबंध जल के आधार के कारण मकर से होना ही चाहिए। नाद तक कलाकार की छेनी के स्पर्श से अछूते

[1] रघु०, १६, १७।

न बचे। उनके बहिरंग भी नाना आकृतियों से सुशोभित हुए। मकरतोरणों के विशेष अभिप्राय अमित संख्या में कोरे गए। हार संपन्न हुए। नाग-नागी मूर्तियाँ भी यक्ष-यक्षी मूर्तियों की ही भाँति सैकड़ों सहस्रों की संख्या में मथुरा की धरा पर कोरी गईं। अब केवल पत्थर की भूमि पर आकृति उभारकर ही कुषाण तक्षक संतुष्ट न रह सका। उसने कोरकर स्वतंत्र मूर्तियाँ बनाईं। हीनयान के प्रतीकों का स्थान महायान के उदय ने अब स्वयं बुद्ध और बोधिसत्वों को दे दिया था। सहस्रों मूर्तियाँ, खड़ी बैठी, बुद्ध और बोधिसत्व की कोरी गईं। किसने बुद्ध की पहली मूर्ति दी यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता परंतु संभवतः पहली मूर्ति बुद्ध की गांधार शैली में इसी काल में बनी, ऐसा अनेक कलासमीक्षकों का विश्वास है। जो भी हो, बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं से तब के भारत का आँगन भर गया। जिन और बुद्ध की समाधिस्थ मूर्तियाँ पद्मासन में बैठी साहित्य का धन बनीं। कालिदास ने अपने कुमारसंभव में शिव की समाधि में उन्हें अमर कर दिया[1]। यह चारों ओर से कोरकर पृष्ठभूमि से मुक्त, छत्र के नीचे अथवा पीछे प्रभामंडल के आधार से सटी बुद्ध जिन की मूर्तियाँ सर्वत्र पूजी जाने लगीं। ऐसी कोरी मूर्तियाँ राजा भी अपनी बनवाने लगे। मथुरा के पास देवकुल गाँव से जो कुषाण राजाओं की सिंहासनस्थ अनेक मूर्तियाँ मिली हैं उनसे लगता है कि वह स्थान उन राजाओं की अपनी गैलरी के रूप में प्रयुक्त हुआ था। स्वयं कनिष्क की मूर्ति मस्तकहीन है, पर है वह पुरुषाकार ईरानी शक कुषाण वेशभूषा में लंबा कुर्ता, लंबा कसीदा कढ़ा चोगा, सलवार और घुटनों तक के ऊँचे मध्य एशियाई बूट जूते पहने। यही लेबास उस बैठी प्रतिमा का भी है जो भारत की पहली सूर्यमूर्ति है। सिर पर उसके ईरानी पगड़ी भी है, एक हाथ में कटार, दूसरे में कमल का फूल, शेष सब कनिष्कवत्। यदि कमल उसके कर में न होता तो कुषाण राजा का भ्रम हो जाना स्वाभाविक था। सूर्य की भारतीय मुद्रा की मूर्तियाँ बहुत पीछे की हैं, सात आठ सौ वर्ष पीछे की खड़ी, धोती, उत्तरीय और किरीट मुकुट पहने। कुछ आश्चर्य नहीं जो शक कुषाणों ने ही इस देश में प्रतिमा के रूप में सूर्य की पूजा प्रचलित की हो। कुषाण धर्म में बड़े सहिष्णु थे। कनिष्क के वंशज बौद्ध और ब्राह्मण धर्मावलंबी दोनों हुए। स्वयं कनिष्क बौद्ध हो गया था पर सारे धर्मों का आदर करता था और उसके सिक्कों पर प्रायः समस्त धर्मों के देवताओं—ग्रीक से ईरानी और भारतीय बुद्ध शिव तक—की आकृतियाँ उभरीं।

(५) **गांधार शैली**—गांधार प्रदेश में (पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश, कबीलाई भूखंड से तक्षशिला तक) ग्रीक (यवन) कलाकारों ने अपनी ग्रीक

[1] कु०, ३, ४५ और आगे।

शैली से जिन भारतीय विषयों, अभिप्रायों, प्रतीकों का कलात्मक रूपायन किया उन्हें गांधार शैली से समुद्भूत मानते हैं। इस शैली में ग्रीक तक्षक और कलावंत का योग भारतीय विषयों में होता है। इसी से इस कला को ग्रीक बौद्ध, ग्रीक रोमी आदि अनेक संज्ञाएँ दी गई हैं। पर इसका भौगोलिक गांधार शैली नाम ही विशेष प्रचलित हुआ। इस शैली की असंख्य मूर्तियाँ उस प्रदेश में उस काल कोरी और उभारी गईं जो अपनी यूरोपीय आकृति से तत्काल पहचानी जा सकती हैं।

गांधार प्रदेश, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भारत (अब पाकिस्तान) का पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत था। इसमें पेशावर का जिला, काबुल नदी की घाटी, स्वात, बुनेर, आदि शामिल थे। उसकी राजधानी पेशावर (पुरुषपुर) थी। इस शैली की मूर्तियाँ काबुल और खुत्तन तक मिली हैं। इस शैली का नाम कनिष्क से विशेषतः संबंधित है। वैसे ग्रीकों का अधिकार गांधार प्रदेश पर पहली शती वि० पू० में ही हो गया था और अपनी ग्रीक मूर्तियाँ वे तभी से कोरते भी रहे थे परंतु जिस विशिष्ट शैली से (जिसमें ग्रीक कौशल का संबंध भारतीय तथ्यों से है) हमारा तात्पर्य इस प्रसंग में है उसका उदय अधिकतर पीछे हुआ और उसकी चरम परिणति कनिष्क के शासनकाल में हुई। इससे उसका कालप्रसार हम वि० सं० १०० और २५० के बीच रख सकते हैं। इसके प्रधान प्राप्तिस्थल यूसुफजई इलाके के शहरे बहलोल, जमालगढ़ी, तख्ते बाही आदि हैं।

इस शैली की सभी मूर्तियाँ केवल बौद्ध स्थलों से उपलब्ध हुई हैं। अभी तक ऐसी कोई मूर्ति इस शैली की नहीं मिली जिसमें जैन अथवा ब्राह्मण धर्म के प्रतीक निरूपित हों। हाँ, बौद्ध प्रतीकों के साथ उनके सारे विषय भारतीय अवश्य हैं। उसमें बुद्ध मूर्तियों की प्रचुरता और प्रधानता है। इस बात में वह शैली भरहुत, साँची, अथवा बोधगया के प्राचीन केंद्रीय कृतियों से सर्वथा भिन्न है, समकालीन मथुरा और अमरावती की मूर्तियों के अनुकूल। शाक्य मुनि गौतम, प्रव्रजित बुद्ध इस शैली और कलाक्षेत्र के प्रधान नायक हैं। उन्हीं का जीवन, उन्हीं की आचरित घटनाएँ इसमें विशेषतः और केंद्रतः रूपायित हुई हैं। सामग्री पत्थर या पलस्तर है, चूना मिट्टी का 'स्टको' भी। बुद्ध की मूर्तियों की प्रधानता के अतिरिक्त इसी शैली को संभवतः बुद्ध की पहली मूर्ति कोरने का भी श्रेय है। इससे पहले की भारतीय परंपरा और शैली में, भारतीय तक्षक द्वारा कोरी बुद्धमूर्ति उपलब्ध नहीं। लाहौर संग्रहालय की खड़ी बोधिसत्व मूर्ति[1] अद्भुत सुंदर है। शहरे बहलोल में मिली

[1] स्मिथ : हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट०, पृ० ११२, चित्र ६२।

कुबेर और हारीति की संयुक्त मूर्ति[1] भी दर्शनीय है। सिक्री की खड़ी हारीति दोनों कंधों पर एक एक बालक धारण किए मातृगौरव की असामान्य प्रतिमा है[2]। इंद्र-शैल गुहा में समाधिस्थ बुद्ध शांति की प्रतिमा है[3] और प्रसिद्ध तपस्वी गौतम[4] की कायिक कृशता तप के फल को मूर्त करती है। बर्लिन संग्रहालय के ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्ति भी अपनी शांत मुद्रा के लिये विशेष ख्यातिलब्ध हुई[5]। लाहौर संग्रहालय की सिंहासनस्थ खड्गधारी कुबेर की ऊँची मूर्ति भी इस यवन भारतीय कला की अभिराम संधि प्रस्तुत करती है[6]। इनके अर्धचित्रों (रिलीफ) के उभार और प्रगति में भी असाधारण बल है। एक पट्टिका पर तीन चार कतारों में राक्षसों और साधारण मानव सैनिकों की सेना का मार्च दिखाया गया है जो अत्यंत प्रकृत लगता है।

इस प्रकार की हजारों-लाखों मूर्तियाँ और पट्टिकाएँ बुद्ध के जीवन से आलोकित प्रस्तुत हुईं। मथुरा की शुद्ध भारतीय कुषाण शैली भी गांधार शैली से प्रभावित हुए बिना न रही। सिलेनस, आसवपायी कुबेर, आदि की अनेक मूर्तियाँ उस शैली अथवा उससे प्रभावित शैली में बनीं[7]। गुप्तकाल (चौथी पाँचवी शती वि०) तक कम से कम सीमा प्रदेश इन मूर्तियों के निर्माण का युग बना रहा था। इनकी विशेषता है यूरोपीय आकृति, शुंग कुषाण चिपटी गोली शैलीगत (स्टाइ-लाइज्ड) तनिक कृत्रिम आकृति से भिन्न स्वाभाविक रूपकाया। वेश साधारणतः ग्रीक यवन, परिधान के वस्त्र चुन्नटदार। गुप्तकालिक कला ने इसी पीठ से संभवतः आकृतियों की प्रकृत अंडाकारिता प्राप्त की। परिधान की चुन्नटों को भी हल्का कर उन्हें आलंकारिक रूप दे दिया। गुप्तकाल के कलावंतों ने इस शैली का भारतीकरण कर उसे सब प्रकार से भारतीय बना लिया।

(६) **अमरावती**—अमरावती मद्रास के समीप है और कुषाण काल में आंध्र सातवाहन नृपतियों के अधिकार में थी। उसका स्तूप तो प्राचीन है, प्रायः पहली शती वि० पूर्व का, परंतु उसकी वेदिका (रेलिंग) पहली दूसरी शती वि० की है। स्तूप का सारा शरीर संगमरमर की चित्रखचित पट्टिकाओं से ढक दिया

[1] वही, पृ० ११४, चित्र ६४।
[2] वही, पृ० ११५, चित्र ६५।
[3] वही, पृ० १०६, चित्र ६०।
[4] वही, पृ० ११०, चित्र ६१।
[5] स्मिथ : हिस्ट्री आफ् फाइन आर्ट०, पृ० १०७, प्लेट २६।
[6] वही, पृ० ११३, प्लेट २८।
[7] वही, पृ० १३५, प्लेट ३३, पृ० १३७, चित्र ८० आदि।

गया है। रेलिंग भी संगमरमर की ही है। अन्य प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के केंद्रों से इस विषय में भी अमरावती की मूर्तियाँ भिन्न हैं। आकृतियों की बंकिम भंगिमा, उससे भी बढ़कर यष्टिकायिकता में अमरावती की आकृतियाँ अपना जोड़ नहीं रखतीं। पतली दुबली लचीली शक्तिम पुरुष की काया वस्तुतः अभिराम सिरीष वृक्ष सी लगती है और नारी की काम्य काया उससे लिपटी लता सी। शरीर पर लंबी धोती, उत्तरीय और कुषाणकालीन पगड़ी बहुत फबती है। कुषाण मूर्तियों में आभूषणों की भरमार है, प्रायः शुंगकालीन भूषा की ही भाँति, पर अमरावती के आभूषणों में संख्या की न्यूनता और सुरुचि की व्यापकता है। कांति आभूषणों से दबी नहीं, उमग उठी है।

अमरावती वेदिका के वर्तुलों में बड़ी छवि अटी हुई है; विशेषकर दरबार और स्तूपपूजन के दृश्य तो बड़े ही आकर्षक हैं। उनके व्यक्तियों में इतनी वैयक्तिकता होते हुए भी उनकी सामूहिकता स्तुत्य है। बड़ी गति है इनके अंकन में। इसी प्रकार एक वर्तुल का विकसित कमलार्ध असाधारण सौंदर्य प्रस्तुत करता है। रेलिंग की उपरली पट्टिका का एक दृश्य गजरावाहकों का है। गजरा बहुत मोटा है और वाहकों की शक्तिम आकृति के बावजूद भार का प्रभाव प्रकाशित है। नीचे की रेखा पुष्पनाल और सिंह की आकृतियों से पुलकित है। एक बिचली पट्टिका पर गुंजलक भरते मकर और कुसुमित कमल का अभिराम मूर्तन है। अमरावती की कला में पशुओं और पुष्पों का बड़ा अद्भुत चयन हुआ है। मानव की उनसे गहरी सहानुभूति प्रकट है।

(७) गुप्तयुग—गुप्तयुग (सं० ३०० वि० से ५०० वि०) भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहलाता है। इसका यह नाम सार्थक ही है। उस काल कला और साहित्य ने जिस चोटी का स्पर्श किया वह किसी दूसरे युग में नहीं हो सका। सुरुचि और सूक्ष्मता उस काल के साहित्य और कला का प्राण बन गई। कालिदास ने तभी अपनी साहित्यिक विभूतियों से भारती विभूषित की। गुप्तकाल का कलाकार भी अपनी परंपरा में मूर्धाभिषिक्त हुआ। भारतीय कला की उसके साहित्य की ही भाँति तभी चरम परिणति हुई। भारतीय कला का वह ऐश्वर्य गुप्त सम्राटों की संरक्षा से फला।

गुप्तयुग महान् और यशस्वी सम्राटों का युग था। व्यापार और सुरक्षा से देश समृद्ध हुआ। पंजाब, मध्यदेश, मध्यप्रदेश और मध्यभारत, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र सब उन्हीं के हाथ में थे। मेहरौली स्तंभ यदि चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का ही है तो उसने बंगाल से सीमाप्रांत तक सारी भूमि रौंद डाली। इस बड़े भूखंड के एक शासन में समृद्धि का होना स्वाभाविक था जब राजा योग्य और कला तथा साहित्यप्रेमी थे। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों की बड़ी प्रसिद्धि है।

गुप्तकाल नई संस्कृति का युग है। एक तो उससे पहले ही एक प्रकार की राष्ट्रीय जागृति द्वारा भारशिव नागों ने कुषाणों की शक्ति नष्ट कर दी थी, दूसरे स्वयं गुप्तों ने देश को एक नई राजनीति, नई राष्ट्रीयता प्रदान की। उनके पहले का भारत विदेशी आक्रांताओं का शिकार हुआ करता था, उनके बाद का भारत भी विदेशी आक्रांताओं (हूण आदि) का शिकार रहा। दोनों के बीच गुप्तों का ऐश्वर्य फला फूला और उनकी संरक्षित संस्कृति नई वेशभूषा में सजी। स्मृतियों की बनाई व्यवस्था नए सिरे से खड़ी हुई। पुराणों का धर्म और विश्वास जादू की भाँति देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गया। पुराणों के देवता अपनी तैंतीस कोटि संख्या लिए भारत की धरा पर उतरे और उसी परिमाण में भारतीय कलाकारों ने उन्हें मूर्त किया। शिव और पार्वती, शेषशायी विष्णु और लक्ष्मी, मकरारूढ़ गंगा और कच्छपारूढ़ यमुना आदि अपने अपने परिवार के साथ निरूपित हुए। बुद्ध तथा उनका परिवार भी विशेष मर्यादा और परिष्कार से कला की मूर्धा पर विराजे। इस युग का प्रधान कलाकेंद्र काशी के समीप का सारनाथ (मृगदाव, सारंगनाथ) था।

उस काल की कृतियों में एक नई ताजगी आई। आकृतियाँ सर्वथा स्वाभाविक कर ली गईं। न तो वे शुंगकाल सी चिपटी रहीं, न कुषाणकाल सी गोल, प्रत्युत् गांधार शैली सी अंडाकार प्रकृत हो गईं। अब कलाकार उन्हें कला के प्रतिष्ठित सौंदर्यभावों से नहीं, सीधे प्रवाहित जीवन से लेने लगा। बुद्ध की समाधिस्थ मूर्तियों के उलटे अँगूठे अपनी काष्ठरूपता छोड़ मांसल हुए। पुरुष और नारी ने नया केशकलाप धारण किया। कंधों तक पुरुषों के कुंतल केश लटकने लगे। बनाई हुई लटें भी प्रयुक्त होने लगीं। नारी ने कुषाणकाल के केशप्रसाधन में प्रयुक्त सामने का वृत्त बनाना छोड़कर अलकजाल धारण किया। सीमंत की सही रेखा खींच वह 'सीमंतिनी' बनी। उसके आभूषण सुरुचिपूर्वक चुने हुए अल्पसंख्यक होने लगे। वस्त्र सुथरे और परिष्कारजनित काया परसने लगे। बुद्ध के परिधान (संघाटी) की चुन्नटें शरीर का अलंकरण बन गईं। जीवन के अंगांग में रसी कला कौतुक और निखार लिए विहँसी।

कुषाणकालीन प्रभामंडल 'स्फुरत्प्रभामंडल'[1] बना। सादी भूमि अंधकार बेधते बाणों से भर गई, कमलों कुमुदों के सौरभ से उमँगी। शिव और पार्वती का प्रायः प्राचीनतम रूप तब सजा। कोशांबी में मिले पाँचवीं सदी के बने प्रस्तरखंड (कलकत्ता संग्रहालय) में खड़ी शिव और पार्वती की मूर्तियाँ असाधारण संमोहन की धनी हैं। ललितपुर (झाँसी, उत्तर प्रदेश) में देवगढ़ का गुप्तकालीन मंदिर है।

[1] रघु०, ३, ६०; ५, ५१; १४, १४; कु० १, २४।

उसके खानों में पड़ी मूर्तियाँ प्रभूत शोभा से युक्त हैं। एक में योगमुद्रा में कोरी शिव की प्रतिमा दर्शक को चकित कर देती है, सृजन में अप्रतिम है। खोह की प्रसिद्ध शिवमूर्ति भी तभी की है। शिवपरिवार के गण, अपनी विविध चेष्टाओं में निरूपित, प्रयाग संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। शेषशायी विष्णु की देवगढ़वाली मूर्ति अद्भुत शांत पौरुष से युक्त है। हाथ पर टिका सिर बड़ा आकर्षक लगता है। नीचे परिचारक देवताओं की पंक्ति है। इनके मस्तक घुँघराले केशों से मंडित हैं। उदयगिरि गुफा की वराह मूर्ति चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने बनवाई, जब शकों को जीतकर वह वहाँ गया। वराह की आकृति का शक्तिम उभार और अनायास पृथ्वी की रक्षा चंद्रगुप्त द्वारा शकों से भारत की रक्षा का प्रतीक है।

बुद्ध की मूर्तियों में प्रधान सारनाथ की बैठी और मथुरा की खड़ी मूर्ति है। सारनाथवाली मूर्ति धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बैठी है। उसकी शांति और तुष्ट मुद्रा प्रसाद की छाया में जैसे खिल उठी है। भारत की सुंदरतम मूर्ति मथुरा के बुद्ध की है, सवा सात फुट ऊँची अभय मुद्रा में खड़ी। हाथ उसके खंडित हैं पर प्रकट है कि दाहिना हाथ प्राणियों को अभयदान करता उठा हुआ था। कितनी शांति इस मूर्ति के मुख पर विराज रही है। मनुष्य ने भावबोध के विचार से इतनी सफल मूर्ति कभी न कोरी। मथुरा की यह खड़ी बुद्ध मूर्ति (ए ५) सुरुचि, परिष्कार, अवयवीय अनुपात, व्यंजना और सहानुभूति में अप्रतिम है, संसार के बुद्धों में बेजोड़।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ भी पत्थर की कला की ही भाँति सुंदर हैं। राजघाट, गढ़वा, कोसम, मथुरा सर्वत्र मिट्टी की ये मूर्तियाँ मिली हैं। सिर पर इनके घुँघराले केशों का कृत्रिम परिधान है जिसकी घुँघराली लटें कंधों पर लटकती हैं। भीतरगाँव के मंदिर से मिली रामायण महाभारत की कथा व्यक्त करती अनेक फुट-डेढ़-फुट की साँचे में ढाली मिट्टी की मूर्तियाँ अब लखनऊ संग्रहालय में संग्रहीत हैं। जीवन की अपूर्व छटा उनके ऐश्वर्य में छिटकती है। छोटी मूर्तियों को दीवारों पर रसिक नागरिक टाँगते थे, इससे उनका पिछला भाग सपाट है और चोटी की गोल अथवा तिकोनी चूड़ा में डोरी के लिये एक सूराख बना है।

गुप्तकाल में पर्याप्त मात्रा में सुंदर बुद्धमूर्तियाँ ताँबे, पीतल आदि धातु की भी ढाली गई। इस प्रकार की एक साढ़े सात फुट ऊँची अभय मुद्रा में खड़ी मूर्ति भागलपुर जिले (बिहार) के सुलतानगंज में मिली थी जो अब बर्मिंघम म्यूजियम में है। इसी प्रकार गया जिले के कुर्किहार गाँव में बुद्ध की मूर्तियों की एक राशि ही मिल गई जिनमें कुछ गुप्तकाल की भी थीं।

जिस युग ने कालिदास सा कवि और अजंता, बाघ की सी चित्रकला उत्पन्न की उसकी मूर्तिकला कैसे अविकसित रह सकती थी ? गुप्त कलाकारों ने बड़ी निष्ठा और लगन से कला की ऊँचाइयाँ नापीं। साधारण से साधारण

कृतियों में उनकी सुरुचि और कुशलता व्यापी। गुप्तयुग की कला भारतीय सृजन की चूडामणि हुई।

गुप्त साम्राज्य की शक्ति हूणों ने तोड़ी। साम्राज्य के टूट जाने पर अनेक विदेशी जातियाँ इस देश में घुस आईं। हूणों के अतिरिक्त आभीरों और गुर्जरों की भी नई धाराएँ प्रविष्ट हुईं और यहाँ की सामाजिक व्यवस्था टूट गई। हूणों ने स्वयं यहाँ की हजारों मूर्तियाँ तोड़ डालीं। इन जातियों के आगमन के बाद ही भारत में राजपूत राजकुलों का उदय हुआ। यही नए युग का आरंभकाल है। प्राचीन और मध्ययुग का यही संधिकाल है।

(८) **पूर्व मध्ययुग**—साधारणतः भारतीय कला के इतिहास में ६०० वि० से ६०० वि० तक का काल पूर्व मध्ययुग और ६०० से १२०० वि० तक का काल उत्तर मध्ययुग कहलाता है। यद्यपि इस काल में भी मूर्तियाँ बनीं और विशिष्ट संख्या में बनीं परंतु ये युग अधिकतर मंदिर-मूर्तियों के हैं।

पूर्व मध्यकाल का आरंभ होते ही मानवीय भावनाओं का सिलसिला टूट जाता है। अब का संसार और है, उसमें पहले की भाँति पशु और प्रकृति के साथ मानव नहीं रमता। जनसंकुल संसार की जगह ब्राह्मण धर्म के अनेकानेक देवी-देवता अनंत आभूषणों से युक्त कलाविहीन काया लिए आ खड़े होते हैं। प्रस्तर-पट्टिकाओं के उभरे कथानक अब नहीं दिखाई पड़ते। बुद्ध प्रायः सर्वथा विलुप्त हो जाते हैं और उनका स्थान तांत्रिक वज्रयान के सिद्धादि ले लेते हैं। जैन कला प्रकृत ही निर्गतिक है। अगला युग विशेषतः पौराणिक हिंदू और तांत्रिक शाक्त है।

अजंता और बाघ के दरीगृहों में जिस प्रकार चित्रण की प्रधानता है, एलोरा के दरीगृहों की प्रधानता उसी प्रकार मूर्तन में है। एलोरा की मूर्तियों की संख्या अमित है और उस काल की उत्तर भारत की मूर्तियों की अपेक्षा हैं भी वे अधिक शक्तिम। दशावतार गुफा के भैरव और काली के परिवार अपनी शक्ति और भयंकरता में कल्पना को चकित कर देते हैं। इसी प्रकार कैलाश गुफा का लंकेश्वर परिवार भी सशक्त है। रावण के कैलाश उठाने से पर्वत की चूलें जैसे हिल गईं, उसके ऊपर के प्राणी, सिवा शिव के, घबड़ा उठे हैं। ये मूर्तियाँ लगभग ७०० वि० की हैं। उस परिवार में तांडवनृत्य में लीन शिव की मूर्ति भी है।

उसी काल, लगभग आठवीं शती की बंबई के समीप की एलिफेंटा की गुफाएँ हैं जहाँ शिव-पार्वती-परिणय बड़ी सफलता से उभारा गया है। शिव की ध्यानस्थ मुद्रा बुद्ध की सुंदरतम समाधिस्थ मूर्तियों से होड़ करती है। त्रिमूर्ति की कल्पना के साथ ही उसकी शालीनता भी अपूर्व है।

उत्तर भारत में बराबर पौराणिक मूर्तियों की शक्ति क्षीण होती गई। काले

पत्थर की मूर्तियों द्वारा शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि के परिवार कोरे जाने लगे। अवयवों का तीखापन धातु की मूर्तियों से अनुकृत हुआ। परंतु अभिव्यक्ति की दृष्टि से मूर्तियाँ सर्वथा मूक हो गईं। पाल वंश के उदय (आठवीं शती का चौथा चरण) के साथ धातु की अनेक महायानी मूर्तियाँ ढाली गईं। उनका तीखापन उस काल की पत्थर की मूर्तियों में भी बसा।

(६) उत्तर मध्ययुग—इस काल की अधिकतर मूर्तियाँ मंदिरों के बाह्यालंकरण हैं। स्वतंत्र मूर्तियाँ भी निश्चय बनीं, विशेषकर वे जो मंदिरों में ही पधराई गईं। मंदिर से लगी मूर्तियों में से अनेक अत्यंत सुंदर हैं। पाल युग की अच्छी मूर्तियाँ इसी उत्तर मध्ययुग (६०० वि० १२०० वि०) में बनीं। तांत्रिक बौद्ध धर्म तांत्रिक शाक्त धर्म से बहुत मिलता था। बौद्ध तारा और हिंदू लक्ष्मी की मूर्तियाँ सर्वथा समान हैं।

इस तांत्रिक परंपरा में बनी कुर्किहार (गया) में मिली मरीची (उषा) की प्रतिमा (लखनऊ संग्रहालय) है। उसके तीन मस्तक और छः भुजाएँ हैं। देवी सात शूकरोंवाले रथ पर सवार आलीढ़ मुद्रा में उभरी हुई अंकित है। भारत में सूर्य की खड़ी मूर्तियाँ भी अधिकतर उसी काल बनने लगी थीं। इसी प्रकार की सूर्य की एक साढ़े पाँच फुट ऊँची मूर्ति विक्टोरिया और अल्बर्ट म्यूजियम के भारतीय विभाग में प्रदर्शित है। सूर्य के पद्मरथ को सात घोड़े खींच रहे हैं। कलाकार ने रथ अथवा घोड़ों से अधिक सूर्य में ही शक्ति भरने का प्रयत्न किया है। सूर्य की मूर्ति अच्छी है। उसमें यथार्थता का गहरा आभास है। यह मूर्ति राजमहल की पहाड़ियों में मिली थी, काले स्लेटी पत्थर की बनी है। ग्यारहवीं-बारहवीं शती की महोबा की दो बोधिसत्वों की मूर्तियाँ लखनऊ संग्रहालय में रखी हैं। कला की दृष्टि से ये अपूर्व सुंदर हैं। लगती हैं जैसे साँचे में ढाल दी गई हैं। इनमें से एक सिंहनाद अवलोकितेश्वर तो असाधारण दिव्य है। मूर्ति के पार्श्व में ऊपर त्रिशूल और सर्प के लांछन भी हैं जिनसे प्रकट है कि किस प्रकार बौद्ध महायान (वज्रयान) और शैव (शाक्त) प्रतीक परस्पर निकट आते जा रहे थे। अवलोकितेश्वर सिंह के आसन पर बैठे हैं। शरीर शांत और पतला है पर उसकी शक्ति का भार इतना है कि सिंह जैसे उठ नहीं पाता, जोर से जिह्वा निकाले नाद कर रहा है। शरीर के अंगांग अतीव सुंदर हैं। उस काल उस दिशा में इतनी सुंदर मूर्तियाँ कम बनीं।

उड़ीसा के मंदिरों का अपना दल अलग है। भुवनेश्वर और कनारक में एक से एक सुंदर मंदिर बने जिनके बहिरंग को शिल्पियों ने अतीव सुंदर मूर्तियों से अलंकृत कर दिया। भुवनेश्वर, कनारक और पुरी की आलंकारिक मूर्तियाँ ६०० और १२८० वि० के बीच की हैं। भुवनेश्वर की मूर्तियों में पत्र लिखती नारी और माता शिशु की मूर्तियाँ असाधारण भव्य हैं। पुरी का मंदिर तो शिल्प की दृष्टि से हीन है

पर उस पर बनी माँ-शिशु की मूर्ति भी ताजगी लिए हुए है। पर मूर्तिकला की दृष्टि से गति और शक्ति में, अवयवीय आकर्षण में कनारक के सूर्यमंदिर की मूर्तियाँ बेजोड़ हैं। उस हीन युग में कोरी जाकर भी वे भारत की सुंदरतम मूर्तियों में गिनी जाने की अधिकारिणी हैं। मंदिर १२४० और १२८० वि० के बीच बना पर पूरा न हो सका। वह रथ के आधार पर खड़ा किया गया। रथ के चक्के गजब के सुंदर हैं, उनके अंग बड़ी कुशलता से कोरे गए हैं। रथ के अश्वरूप शक्ति और त्वरा में सारे भारतीय शिल्पक्षेत्र में अनुपम हैं। बड़े जीवों को कोरने में इतनी सजीवता भारतीय स्थपति ने कम दिखाई है। काव्य जैसे मूर्तिमान हो उठा है। नथने उनके फरफरा रहे हैं, खुर भूमि को खोद रहे हैं, पूँछ उठी हुई है। सईस उन्हें सँभालने की चेष्टा कर रहे हैं पर बड़ी कठिनाई से वे उन्हें रोक पाते हैं। इसी प्रकार उस मंदिर के गज भी स्वाभाविक जीवित लगते हैं, बल के सींव, गतिमान।

उड़ीसा की ही भाँति खजुराहो और मध्यभारत में भी समान शिल्प की शैली में मंदिर खड़े हुए। इन मंदिरों पर भी मूर्तिकला की विभूतियाँ बिखेर दी गई हैं। इनकी अनेक भावभंगियों, नर्तन मुद्राओं में कोरी लचकीली शरीरयष्टियाँ असाधारण अभिराम हैं। हैं तो वे अलंकरण मात्र, पर उनमें से प्रत्येक स्वतंत्र देवमूर्ति होने की क्षमता रखती है। इन मूर्तियों के दमखम, उनका नग्न विलास, संपूर्ण आत्मसमर्पण उनकी काया को अप्रतिम शक्ति और लावण्य प्रदान करते हैं। मिथुनों का परस्पर आकुल संमोहन उन्हें अपने से भिन्न बाह्य जगत् से सर्वथा पृथक् कर देता है, जैसे उनके लिये उनसे पृथक् का संसार अस्तित्व ही नहीं रखता।

कोणार्क, भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो और एलोरा आदि दक्षिण के भी अनेक मंदिरों पर अलंकरण के रूप में भोगासन उभरे हुए चित्रित हैं। इन मिथुन अंकनों की संख्या हजार से भी ऊपर है। कोणार्क, भुवनेश्वर और खजुराहो के यौन अंकन तो कला की दृष्टि से भी पर्याप्त सफल हैं। ये मंदिरों पर क्योंकर आए यह साधारणतः समझ में आने की बात नहीं है। मंदिरों के पवित्र वातावरण में इन यौन दृश्यों का होना स्वाभाविक ही कुतूहल उत्पन्न करता है। नीचे इनकी व्याख्या के रूप में एक सिद्धांत प्रस्तुत किया जाता है :—

साधारणतः संसार के मंदिरों के साथ मिथुनभाव का घना संबंध रहा है। बाबुल के मिलित्ता के मंदिर में तो प्रत्येक पत्नी को एक बार जाकर विदेशी के साथ कुछ घंटे रहना पड़ता था। हेरोदोतस ने वहाँ का आँखों देखा वर्णन किया है[1]। इसी प्रकार ग्रीक अफ्रोदीती और रोमन वीनस के मंदिर के चारों ओर ही वेश्याओं

[1] हिस्टोरियन्स हिस्ट्री०, १, पृ० ४७८।

के आवास होते थे। भारत के मंदिरों में भी इसी प्रकार की देवदासी प्रथा का विकास हुआ। कालिदास ने महाकाल की चमरधारिणी नर्तकियों का आकर्षक वर्णन किया है[1]। बौद्ध-जैन-स्तूपों की वेष्टनियों पर नग्न नारीमूर्तियों का बराबर मूर्तन होता था। यक्षी मूर्तियों की नग्न वास्तुकारिता मंदिरों के यौन उत्खचनों से बहुत दूर नहीं है।

फिर भी दोनों में बड़ा और गुणतः अंतर है। मंदिरों के मिथुनचित्रण नग्न यक्षियों से विकसित नहीं हो सकते। कारण कि दोनों के बीच कोई विकासकारी संबंध नहीं है, कोई शृंखलाक्रम ही नहीं है। पहले के मंदिरों में इस प्रकार के यौन दृश्य मिलते ही नहीं। इनका उत्खचन छठी शती वि० के बाद के बने मंदिरों पर ही हुआ। अर्थात् वज्रयान के आरंभ के पहले ये नहीं मिलते। वज्रयान का उदय छठी शती के आसपास उड़ीसा के महेंद्र पर्वत पर हुआ जिससे उस पर्वत का नाम वज्रपर्वत पड़ गया। भवभूति ने अपने नाटक 'मालतीमाधव' में इस ओर संकेत किया है। हीनयान की सूखी परंपरा पर महायान का स्निग्ध आचार खड़ा हुआ और व्यक्तिपरक देवता के प्रति आस्था जगी। महायान से मंत्रयान निकला जिसने नारी के प्रति सिद्धांततः विशेष उत्कंठा प्रदर्शित की। उसका प्रकृत उत्तराधिकारी वज्रयान हुआ जिसने तंत्रों की परिपाटी अपना ली। गुह्यकतंत्र आदि तंत्र लिख डाले गए। वज्रयान ने नारी को साधना का केंद्र माना।

शक्ति की पूजा अत्यंत प्राचीन है, संभवतः सभी देवताओं की पूजा से प्राचीन। वह मातृपूजा है जो हजारों वर्ष से प्रायः सभी मानव जातियों में चली आती है। शक्ति की पूजा अधिकतर पूर्व में हुई : आसाम में, कामरूप के कारू-कमच्छा में, कामाख्या देवी के रूप में, उन नागा, खासी आदि जातियों के संपर्क में जहाँ समाज का केंद्र पिता नहीं माता थी, कुल का केंद्र पिता नहीं माता थी, जहाँ पितृसत्तात्मक नहीं मातृसत्तात्मक समाज की व्यवस्था थी। नई विदेशी जातियों के पूरब-पच्छिम से आने से शाक्त धर्म को और शक्ति मिली क्योंकि उन्हें स्मार्तों ने स्थान न दिया, पर शाक्त धर्म में वर्णादि का कोई प्रतिबंध न था। उसके अनुयायी सभी प्रकार के आचरण कर सकते थे, करते थे। उनके तंत्रों का सिद्धात था कि जो सिद्धियाँ तप और ज्ञान से नहीं मिलतीं वे रजक और चांडाल कन्या के भोग से मिल जाती हैं, कि तृष्णा का शमन इंद्रियों के निरोध से नहीं उनके अप्रतिबाधित भोग से होता है। अखाद्य, अपेय, अकार्य के खाने, पीने, करने से, भोग की अति से तृष्णा का दमन होता है। फिर तो वर्ण आदि की व्यवस्था समूची चली

[1] पू० मे०, ३५।

गई। मांसादि अनिरोध अतिमात्रा में खाया जाने लगा, आसव अतिमात्रा में पी जाने लगी, नारी का निरंतर और अगोप्य सेवन होने लगा। कन्यापूजा धर्म हो गया। विंध्याचल (मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश) में नग्न कुमारी की पूजा होने लगी। औघड़, कापालिक, सहजिया, मरमिया आदि अनेक पंथ उठ खड़े हुए।

अब तक वज्रयानी क्रियाप्रयोग में शाक्तों के अत्यंत निकट आ चुके थे। तारा, प्रज्ञापारमिता और शक्ति में अब कोई भेद न रहा था। वज्रयानी और शाक्त को एक दूसरे से भिन्न करके पहचानना असंभव हो गया। दोनों तांत्रिक थे, दोनों के आचार, विचार, विधिक्रियाएँ समान थीं।

इसी बीच समाज में एक बड़ी सेना उनकी तैयार हो रही थी जो निम्नवर्गीय थे, अवर्ण, अस्पृश्य थे, विदेशी थे, वर्णच्युत थे। वज्रयान और शाक्त दोनों को वे स्वीकार थे, दोनों ने उनका स्वागत किया। इस श्रेणी के लोगों की संख्या बढ़ती गई और ये प्रबल होते गए। विशेषतः बंगाल, बिहार आदि के स्वामी पाल राजा स्वयं शूद्र और बौद्ध दोनों थे जिससे वज्रयानियों और उनके स्मार्तव्यवस्था-विरोधियों की शक्ति को संरक्षा मिली। स्वयं वज्रयानी सिद्धों में अधिकतर या तो अब्राह्मण थे, या ब्राह्मण वर्णच्युत और स्वाभाविक ही नेतृत्व उनके हाथ आया। इस प्रकार यह निचला वर्ग वज्रयानियों और शाक्तों के नेतृत्व में जब प्रबल हुआ तब उन सारी व्यवस्थाओं को उसने तोड़ दिया। स्मार्त जीवन में उन्हें सभी वस्तुओं के लिये दबना पड़ा था। अब एक ऐसा धर्म उनका सहायक था जो उनके सभी अभिप्रेय उन्हें देने को उद्यत था, स्मार्तों के अखाद्य, अपेय सभी। फिर तो सिद्धों के नेतृत्व में उनकी घोषणा हुई। 'जो उनका धर्म होगा वही हमारा अधर्म होगा, जो उनका अधर्म होगा वही हमारा धर्म होगा'। यह स्थिति ग्यारहवीं-बारहवीं शतियों में विशेष प्रबल थी, वैसे उसका प्राबल्य पंद्रहवीं-सोलहवीं शती तक बना रहा था। तुलसीदास ने जो रामचरितमानस का प्रबंधकाव्य लिखा उसका उद्देश्य भी स्मार्त जीवन और व्यवस्था, संयम और 'युक्ताहार विहार' फिर से स्थापित करना था।

सिद्धों का प्राबल्य विशेषकर उड़ीसा और बंगाल में था। वज्रयानी सिद्धों और शाक्तों का अविरोध नेतृत्व गुंटूर से उत्तर बंगाल तक और शाक्तों के साथ साथ कामरूप (आसाम) से काशी और परवर्ती प्रदेश तक स्थापित था। स्वयं पुरी का मंदिर खान पान आदि में वर्णव्यवस्था नहीं मानता था क्योंकि जगन्नाथ विष्णु वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार करनेवाले बुद्ध के रूप थे जिससे उसके निर्माण के समय बौद्ध वज्रयानियों का सब प्रकार से मंदिर पर स्वत्व रहा होगा। और इसलिये कि अनाचार प्रकृत हो जाय, मंदिरों पर भी उसकी छाप लगी। उस तांत्रिक वज्रयानी जीवन और साधना के इंद्रिय-निग्रह-विरोधी विषय-भोग-परिचायक यौन

दृश्य मंदिरों के बहिरंग पर लिख गए। मंदिर के भीतर पूजा चाहे जिस देवता की हो बाहर एक दूसरे प्रकार की साधना यौनप्रक्रियाप्रधान थी जो विशेषतः उड़ीसा और बंगाल में और धीरे धीरे पश्चिम के परवर्ती प्रदेशों में भी प्रचलित हो गई। मंदिरों में यौन प्रदर्शन स्मार्तसर्वस्व के मर्म पर इस प्रकार लिखकर तंत्राचार के आदेश बन गए।

(१०) प्रागाधुनिक युग—उत्तर भारत में मूर्तियों के निर्माण को मुसलमानों के आगमन से बड़ी क्षति पहुँची थी। हूणों ने पहले ही देश की लाखों मूर्तियाँ तोड़ डाली थीं, मुसलमानों ने उस दिशा में संहारक प्रयत्न किए। उत्तर भारत के असंख्य मंदिर भूमिसात् हो गए। मंदिरों का बनना ही प्रायः रुक गया। परंतु दक्षिण में मंदिरनिर्माण का कार्य विशेष निष्ठा से चलता रहा क्योंकि वह भाग मुसलिम प्रहारों की परिधि से बाहर था। इससे हम अब अधिकतर दक्षिण की मंदिरमूर्तियों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, इस काल स्वतंत्र मूर्तियों का प्राधान्य न था, मंदिर के अलंकरण के अर्थ जो अनंत मूर्तिसंपदा मंदिरों के बहिरंग पर सजाई जाती थी, प्राधान्य उसका था। अनेक दाक्षिणात्य राजकुलों की संरक्षा में मूर्तिकला का विकास दक्षिण में दीर्घ काल तक होता रहा परंतु चोल राजकुल की बनवाई ग्यारहवीं शती की मंदिरमूर्तियों के अतिरिक्त प्रायः सभी कला की दृष्टि से साधारण हैं। संख्या में ये अपरिमित थीं क्योंकि पुराणों और तंत्रों का सारा आकर इन निर्माताओं को उपलब्ध था और उसका इन्होंने समुचित उपयोग किया। पौराणिक देवपरिवार कल्पना का योग पाकर इन मंदिरों पर उमँग आए, यद्यपि रसात्मक सौंदर्य से उनका कोई संबंध न था। वस्तुतः वह मूर्तिनिर्माण उत्तर मध्यकालीन वास्तु का प्रसार मात्र थी। मूर्तियों का विधान रसपद्धति को छोड़ सर्वथा लक्षण प्रधान हो गया।

शुद्ध अलंकरण की दृष्टि से बारहवीं शती के चालुक्य और होयसाल मंदिरों की मूर्तियाँ अप्रतिम हैं, गर्भगृह की प्रधान मूर्ति की अपेक्षा कहीं प्रशंस्य। सातवीं शती में ही पल्लव प्रायः सारे दक्षिण के स्वामी बन गए थे और उन्होंने पहाड़ काटकर रथमंदिर बनवाए थे। उनके प्रधान मंदिर मामल्लपुरम् में खड़े हुए। इन मंदिरों के शरीर पर मूर्तियों की परंपरा खुद गई। पंक्ति के नीचे पंक्ति 'अर्द्धचित्रों' की उत्कीर्ण हुई। शार्दूल-सिंह, गज, अश्व, शिखर, वानर, नर, नारी सभी शृंखलावत् प्रदर्शित हुए। सात सात फुट के सिंह तक उनकी खड़ी भूमि पर लिखे गए। महिषासुरमर्दिनी का उत्खचन भी बड़ी शक्ति का परिचायक है यद्यपि कला के सौंदर्य में उत्तर की दुर्गा की समता यह नहीं कर सकता। मामल्लपुर के पर्वत मंदिर की एक ६६ फुट लंबी और ४३ फुट चौड़ी समूची दीवार उत्कीर्ण मूर्तिपंक्तियों से

भर दी गई है। प्रधान देवता की मूर्ति नष्ट हो गई पर मनुष्यों और पशुओं का वह समस्त संसार ज्यों का त्यों उसकी पूजा में रत है। इस मूर्तिपरिवार को भ्रमवश महाभारत की कथा 'अर्जुन की तपस्या' का नाम दिया जाता है।

मैसूर के मंदिरों की अनेक उभरी मूर्तियाँ बँगलोर के संग्रहालय में हैं। बेंगुर और अतकुर के दसवीं शती के युद्धचित्र प्रशंसनीय हैं। पल्लवों का उत्तराधिकार चोलों को मिला। चोलों ने भी मंदिरों का अपना संसार खड़ा किया। त्रिचनापल्ली में गंगकोंड चोलपुरम् के शिवमंदिर का लिंगम् तीस फुट ऊँचा है। उसके प्रधान मंदिर की अलंकार मूर्तियाँ सुंदर हैं। पर वस्तुतः सुंदर मूर्तियाँ होयसाल राजाओं ने बारहवीं शती में मैसूर के मंदिरों पर बनवाईं। उनकी मूर्तिशृंखलाएँ भाव और उत्खचन दोनों रूप से जटिल हैं पर दोनों को कलाकारों ने बड़ी सफलता से संपन्न किया है। प्रायः तभी के बेलारी जिले के चालुक्य मंदिर की मूर्तियाँ होयसाल मूर्तियों की ही भाँति श्रद्ध हैं परंतु सौंदर्य में निःसंदेह उनसे पर्याप्त हीन हैं।

चौदहवीं से सोलहवीं शती तक दक्षिण में विजयनगर के हिंदू राजाओं का प्राबल्य रहा। मुसलमानी रियासतों की संमिलित शक्ति से उन्होंने दीर्घ काल तक संघर्ष किया। उनके मंदिरों में अनंत मूर्तियाँ सजीं यद्यपि उनमें सौंदर्य की न्यूनता है। २२ फुट ऊँची नरसिंहमूर्ति और हनुमान की प्रतिमा बनाने में असाधारण श्रम व्यय हुआ है, वे सुरक्षित भी हैं, पर कला उनमें प्राण न पा सकी। हजारा रामस्वामीवाले प्रासादमंदिर के आँगन की दीवारें रामायण के दृश्यों से भरी हैं पर उनमें न शक्ति है न कला की कांति। अनंतपुर (मद्रास) के तरपात्री में विजयनगर के सामंत राजाओं के बनवाए मंदिरों की मूर्तियाँ उनसे कहीं सुंदर और सशक्त हैं। ये सोलहवीं शती की हैं।

सत्रहवीं शती के द्राविड परंपरा के मंदिरों में लंबे बरामदे बने और उनकी दीवारों को मूर्तियों से ढक दिया गया। रामेश्वरम्वाला ढका बरामदा भी इसी प्रकार का है। पर इनमें विख्यात है तरुमल नायक का बनवाया, मदुरा में, ३३० फुट लंबा और १०५ फुट चौड़ा, मूर्तियों से भरा।

(११) धातुमूर्तियाँ—धातु की (विशेषकर ताँबे और पीतल की) अनेक प्रतिमाएँ, विशेषतः मैसूर में बारहवीं और अठारहवीं शती में ढाली गईं। उनका आरंभ तो काफी पहले हो गया था परंतु वस्तुतः सुंदर इसी पिछले काल की हैं, यद्यपि सभी नहीं। तिरुमलय मंदिर में रखी कृष्णराय (विजयनगर का राजा) और उसकी दो रानियों की पीतल की मूर्तियाँ सुंदर हैं। पर इस क्षेत्र में नटराज की मूर्तियाँ अपूर्व हैं। सदियों यह शिव का प्रतीक कलाकारों और उनके प्रशंसकों को प्रिय रहा और तांडव नृत्य में रत शिव की सैकड़ों मूर्तियाँ ढलीं। उनके वेश का व्यास बड़ा है और उनकी गति की शक्ति अपूर्व है। विदेशों के संग्रहालयों में एक

से एक शक्तिम और सुंदर नटराज की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। कालपुरुष (अपस्मार) पर खड़े चतुर्भुज शिव अपूर्व वेग से घूम रहे हैं। गति की शक्ति उन्हें जैसे स्थिर कर देती है। नटराज की कल्पना भारतीय मूर्तिकला में विशेष स्थान रखती है।

(१२) वर्तमान—बारहवीं शती के बाद, जैसा लिखा जा चुका है, मूर्ति-निर्माण को बड़ा धक्का लगा। फिर भी वह निर्माण रुका नहीं। पर निश्चय मूर्ति की कलात्मकता साधारणतः नष्ट ही हो गई। जयपुर आदि में आज जो मूर्तियाँ मंदिरों के लिये बनती हैं वे प्रतीक और रसास्वाद दोनों में अत्यंत हेय हैं। सुरुचि से तो उनका कोई संबंध ही नहीं। दक्षिण में भी प्राचीन परंपरा सर्वथा निष्प्राण हो गई है।

परंतु इधर कुछ सालों से सजावट की मूर्तियाँ बनने लगी हैं। कला के क्षेत्र में भी यूरोपीय परंपरा में कुछ उपयोग हुए हैं। पत्थर में प्रतिकृतियाँ पर्याप्त संख्या में इधर बनी हैं। प्रतिकृतियों का निर्माण धातु में भी हुआ है यद्यपि व्यय के कारण उस दिशा में अधिक प्रयास नहीं हो सका। यूरोपीय मूर्तिकला के नए प्रयोगों ने इस देश के कलाकारों को भी आकृष्ट किया है और उस क्षेत्र के प्रयास भी असुंदर नहीं हैं परंतु हैं वे थोड़े, संख्या में अत्यंत न्यून, जैसे तक्षक उस क्षेत्र में स्वयं न्यून हैं।

तृतीय अध्याय

चित्रकला

१. प्राथमिक प्रयास और विविध शैलियों का उदय

भारत की चित्रकला उसकी अन्य कलाओं और सांस्कृतिक दाय की भाँति बहुत प्राचीन है। मिर्जापुर और मध्यप्रदेश में जो रेखाचित्र आदि बने हैं वे प्रस्तरयुगीन हैं, प्रायः उतने ही पुराने जितने पुराने स्पेन के अल्तामाइरा और दक्षिण फ्रांस की गुफाओं के चित्र हैं। निश्चय वे बर्बर मानव की भावचेतनाएँ व्यक्त करते हैं जिसने भय, पूजा और उल्लास में ये चित्र बनाए। परंतु पिछले काल में प्रायः तीसरी शती वि० पू० से यहाँ शास्त्रीय अधिकार से चित्र बनने लगे और कुछ बीच के युगों को छोड़ निरंतर बनते चले आए। ये बीच के युग भी चित्रविहीन नहीं रहे होंगे, केवल वे चित्र हमें इस काल अभिप्राप्त नहीं हैं।

चित्रों की संपदा मूर्तिसंपदा की ही भाँति इस देश में प्रभूत है। अनेक प्रांतों में स्थानीय शैलियाँ बनीं जो इतने लंबे चौड़े भूखंड में होना अनिवार्य था। आज हमें अनेक शैलियों के नमूने प्राप्त हैं। इनमें प्रधान शैलियाँ ६ हैं—(१) अजंता शैली, (२) गुजरात शैली, (३) मुगल शैली, (४) राजपूत शैली (राजस्थानी), (५) दकनी शैली और (६) वर्तमान शैली। इनमें अजंता शैली का प्रभाव एक समय सारे देश पर किसी न किसी मात्रा में रहा। उसका उदय बंबई राज्य के सह्याद्रि की गुफाओं में हुआ। गुजरात शैली, जैसा नाम से प्रकट है, पश्चिमी भारत—गुजरात, सौराष्ट्र आदि—की स्थानीय शैली थी। उसे जैन शैली भी कहते हैं। मुगल शैली भी अजंता की ही भाँति प्रायः देशव्यापिनी थी, कम से कम दिल्ली आगरे की मुगल बादशाहों की राजकीय होने के कारण उसका प्रभाव देशव्यापी हुआ। राजपूत शैली राजस्थान, बुंदेलखंड, पंजाब, हिमालय में जन्मी और फैली। स्थान विशेष के कारण उसकी अनेक उपशैलियाँ बन गईं जिन्हें कलम कहते हैं, जैसे (पहाड़ी), जम्मू, काँगड़ा, बशोली आदि। दकनी शैली अधिकतर राजस्थानी और मुगल के सहयोग से स्थानीयता लिए जन्मी। वर्तमान शैली की कला युरोपीय प्रभाव से उत्पन्न विविध धाराओं में प्रसृत हुई है, अधिकतर प्रयोगावस्था में है। इन विविध शैलियों का हम संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

साधारणतः दो प्रकार के चित्र हैं भित्तिचित्र और प्रतिकृति। कंदराओं और प्रासादों की दीवारों पर जो चित्र बनाए गए हैं उन्हें भित्तिचित्र कहते हैं।

दीवार पर चूना आदि का लेप लगाकर उनपर चित्र बनाते हैं। जोगीमारा, अजंता, बाघ, मध्य एशिया आदि में इसी प्रकार के भित्तिचित्र बने हैं। यूरोपीय भाषाओं में इन्हीं चित्रों को 'फ्रेस्को चित्रण' कहते हैं। प्रतिकृति चित्रण एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों की अनुकृति को कहते हैं। उसमें प्रकृत व्यक्ति बिंब (माडल) का काम करता है। इस प्रकार के चित्रण को अँगरेजी में 'पोर्ट्रेट पेंटिंग' कहते हैं। मुगल शैली के चित्र प्रधानतः इस शैली में हैं। दोनों की संमिलित शैली भी एक है, गुजराती अथवा ग्रंथचित्रण की, जिसमें भित्तिचित्रण की भावभूमि पर आकृतियों का आलेखन होता है। मुगल कलम से प्रभावित, परंतु टेकनीक में अजंता की भूमि प्रस्तुत करनेवाली राजस्थानी पहाड़ी शैली इसी प्रकार की है।

भित्ति और प्रतिकृति दोनों प्रकार के चित्रों का भारतीय साहित्य में निरंतर उल्लेख हुआ है। जातक कथाओं और पालि साहित्य से लेकर प्राकृत और हिंदी साहित्य तक सर्वत्र इनका वर्णन मिल जाता है। वस्तुतः साहित्य और चित्रकला का परस्पर इतना घना संबंध रहा है कि एक का आदर्श दूसरे में सदा अन्वित होता आया है। कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ आदि सभी ने अनेक बार इन दोनों प्रकार के चित्रों की ओर संकेत किया है।

२. विविध शैलियाँ

(१) अजंता शैली—बर्बर अवस्था के मिर्जापुर आदि के चित्रों के अतिरिक्त कुछ अजंतापूर्व के जोगीमारा की गुहा में हैं। जोगीमारा गुहा मिर्जापुर के पास रामगिर की पहाड़ियों में है। ये भित्तिचित्र हैं, वृत्ताकार बने हैं और एक दूसरे से लाल और पीली वृत्ताकार रेखाओं द्वारा विभाजित हैं। बीच में एक पुरुष पेड़ के नीचे बैठा है। उसके बाएँ नर्तकियाँ और गाने बजानेवाले हैं, दाहिने गज के साथ जुलूस है। दूसरे चित्र में अनेक पुरुष, एक चक्र और ज्यामितिक रेखाएँ खिंची हैं। तीसरे में फूलों, घोड़ों और मानवाकृतियों के आभास मात्र बच रहे हैं। इसी के आधे में एक वृक्ष चित्रित है जिसपर एक पक्षी बैठा है और शाखाओं में एक नंगा बच्चा है। पेड़ के चारो ओर मस्तक का केशगुच्छ बाईं ओर बाँधे मानवाकृतियाँ चित्रित हैं। चौथे चित्र में एक ओर ऊपर तीन वस्त्राभूषित परिचारकों के बीच एक नंगा पुरुष खड़ा है, दूसरी ओर तीन दूसरे परिचारकों से घिरे वैसे ही दो व्यक्ति बैठे हैं। नीचे एक चैत्य-वातायन-मंडित गृह, एक गज और सामने तीन वस्त्राभूषित खड़े नर चित्रित हैं। पास ही छत्रमंडित तीन घोड़ों का रथ है और गज तथा परिचारक हैं। चित्र साँची-भरहुत की शैली के हैं और शुंगकाल के हो सकते हैं।

अजंता के दरीगृह संख्या में २६ हैं, अर्धचंद्राकार खुदे। नीचे पतली नदी

बहती है। नं० ६, १०, १६ और २६ चैत्य हैं, शेष भिक्षुओं के रहने के विहार। इनमें ८, १२ और १३ प्राचीनतम हैं, १३ संभवतः सबसे प्राचीन है। १३वें की दीवारों पर पालिश है और वह २५० वि० पू० के लगभग का हो सकता है। इन तीनों में चित्र नहीं हैं। नं० ८, १३ गुफाएँ हीनयान संप्रदाय की हैं, प्रायः २५० वि० पू० और ७५ वि० के बीच खुदीं। छठी-सातवीं, संभवतः ५०० वि० और ६०० वि० के बीच खुदीं। शेष कुछ पीछे की हैं। इनमें कुछ अपूर्ण भी हैं। सबसे अंत में शायद पहली खुदी। इन गुहाओं के चित्र भिन्न भिन्न काल के हैं। इनमें चित्र विक्रम से प्रायः सौ वर्ष पहले से लेकर विक्रम की सातवीं शती तक के हैं। नवीं-दसवीं गुफाओं में दो काल के चित्र हैं, इनमें प्राचीनतर पहली शती वि० पू० के हैं। अधिक चित्र गुप्त-वाकाटक और चालुक्य काल के हैं। अधिकतर चित्र मिट या वर्ण-मलिन हो गए हैं। पर जो बचे हैं उनकी नकलों ने भी यूरोप में सनसनी उत्पन्न कर दी थी क्योंकि उनका सा १४वीं शती से पूर्व वहाँ कुछ भी न था।

चित्रों के विषय बौद्ध धर्म संबंधी हैं। बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं की घटनाएँ चित्रित की गई हैं जो इन गुफाओं के उद्देश्य (भिक्षुओं के आवास) को देखते हुए उचित ही है। ये चित्र इस हेतु बने कि वहाँ रहनेवाले भिक्षु बुद्ध के जीवन की घटनाएँ गुनते हुए अपने जीवन को आदर्श बना सकें। अलंकरणों के चित्रण में अजंता के कलाकारों ने गजब का कौशल प्रदर्शित किया है। फूल, पक्षी, पशु, गंधर्व, विद्याधर, देव सभी अभिराम जीवित रूपायित हैं। उनमें अद्भुत कोमलता और सजीवता है। कल्पना ने अद्भुत उड़ान भरी है। व्यक्त अव्यक्त कुछ भी ऐसा नहीं अजंता का कलाकार जिसे अपनी कूँची के नीचे न खींच ले। इस प्रकार के चित्रण गुहा नं० १ की छत में विशेष है, सातवीं शती विक्रमी के बने। गुहा नं० २ की छत में भी इसी प्रकार के आकर्षक अलंकरण हैं। पहली गुहा की छत में चित्रित साँड़ों की लड़ाई तो गति और अभिव्यक्ति शक्ति में असाधारण है।

अब अजंता के प्रधान चित्रों पर एक दृष्टि डालें। नवीं दसवीं गुहाओं के चित्र पहली शती वि० पू० के हैं। नवीं की दीवार पर प्रणाम मुद्रा में बैठी नारी जैसे जीवन से उठा ली गई है। दसवीं गुहा के चित्रण भी बड़े सजीव हैं। दाहिनी दीवार पर हाथी का एक खाका खिंचा है। संभवतः इष्ट उस वर्ण को चित्रित करना था, पर रेखाओं में उसकी अभिव्यक्ति असामान्य प्रबल हो उठी है। इस गुहा के अधिकतर चित्र मिट गए हैं। सोलहवीं गुहा के चित्रों में भी थोड़ा ही बच रहा है। सं० १६३१ वि० तक जब ग्रिफिथ ने इनकी नकलें कीं, ये पर्याप्त बच रहे थे। इनमें 'मरणोन्मुख रानी' की तो ग्रिफिथ ने भूरि भूरि प्रशंसा की थी। नं० १७ गुहा के चित्रों को बर्गेस ने सबसे सुंदर कहा था। सिंहल की भूमि पर राजकुमार

विजय का अवतरण अपनी असाधारण गति और सौंदर्य के लिये अप्रतिम चित्रण माना जाता है।

अजंता के चित्रों में सौंदर्य इतनी अधिक मात्रा में प्रवाहित है कि उसे थोड़े में व्यक्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः प्रत्येक चित्र अपना व्यक्तित्व रखता है और अनुपेक्षणीय है। फिर भी पद्मपाणि बोधिसत्व, माता और राहुल, छदंत जातक, वेस्संतर जातक के क्रूर ब्राह्मण की कथा, शिवि जातक, गजराज की जलक्रीड़ा, कपियों का उल्लास, नंद का पलायन आदि अनेकानेक चित्र संसार के सुंदरतम चित्रों में स्थान रखते हैं। पहली गुफा में ईरान के निवासियों के वेश में कुछ जनों का आपानक चित्रित है। ईरानी वातावरण प्रस्तुत हो गया है, अजंता के अन्य चित्रों से सर्वथा भिन्न। कहते हैं कि संभवतः ये ईरानी उस दूतमंडल के थे जिसे खुसरो परवेज ने चालुक्यराज पुलकेशिन् द्वितीय के पास भेजा था। गुहा नं० २ में स्तंभ से लगी, वाम पद मोड़कर स्तंभ से टिकाए, बाएँ कर के अंगूठे और अनामिका को मिलाए, किसी को याद करती, कुछ गुनती, खड़ी नारी-आकृति आकर्षण का केंद्र बन गई है। गुहा नं० १० में नारियों से घिरा राजा चित्रित है। चित्र प्राचीन है पर आकृतियों की अभिव्यक्ति शक्तिम हुई है। चेहरों की ताजगी असामान्य है। १७वीं गुहा में शिशु लिए कुछ झुकी दो उँगलियों से जैसे व्याख्यान करती स्त्री अद्भुत कोमलता की परिचायक है।

अजंता की अपनी शैली है, संसार की शैलियों से सर्वथा भिन्न। उँगलियाँ कमल की पंखुड़ियों सी नमित होती हैं, नेत्र आकर्ण खिंचे अर्धनिमीलित। दोनों अद्भुत छंदयुक्त हैं। निःसंदेह शैली की परंपरा सौंदर्य के मान बाँध देती है परंतु आकृतियों की विविधता, उनका जीवन से अविच्छिन्न संबंध, अविरल बहते जीवन में उनका सर्वथा अकृत्रिम सहज स्वाभाविक अंकन, आलोड़ित संसार ला उपस्थित करते हैं। आकृतियाँ पहचानी सी लगती हैं। नगरों, महलों, साधारण घरों, वनों, ह्रदों के दृश्य जीवन को उसके सभी रूपों में प्रकट करते हैं। दृश्यों के एकाकी और सामूहिक अंकन में भी एकप्राणता है। अजंता के चित्रकार कितने कुशल, कितने मानवीय, जीवन के प्रति कितने उदार, कितने हमदर्द थे, ये चित्र यह व्यक्त करते हैं। विराग और त्याग के इन मंदिरों में स्वस्थ जीवन का कोई अंग अछूता न रहा, रागावेगों का कोई कंपन न रहा जो तूलिका और वर्णों के स्पर्श से चमक न उठा हो। कुछ आश्चर्य नहीं कि चीनी तानहुआंग की सैकड़ों गुहाएँ अजंता की चित्रानुकृतियों से भर गई हों।

बाघ की गुफाओं के चित्र—बाघ की गुहाओं के चित्र भी अजंता शैली में ही लिखे गए हैं। बाघ की गुहाएँ मध्यप्रदेश (ग्वालियर) के मालवा में, गुजरात और मालवा के प्राचीन वणिक्पथ पर खोदी गई हैं और उनकी छतें, दीवारें

और स्तंभों की भूमि भी अजंता की ही भाँति विविध चित्रों से भर दी गई है। अजंता की ही भाँति विराग के बीच तपोभिन्न अल्हड़ उल्लसित उन्मद अनियंत्रित अविरल जीवन वहाँ के चित्रों में भी प्रवाहित है। वहाँ भी मानव और पशु समान उदारता से अंकित हुए हैं। घोड़ों के मस्तक का लेखन तो अद्भुत शालीनता से हुआ है। बाघ की गुहाओं में दो तीन ओप्रा के दृश्य भी हैं—नृत्य-वाद्य-गायन के साथ अभिनय हो रहा है। सभी नारियाँ है, मात्र एक पुरुष है। भाव शिथिल और तीव्र गति से प्रसंगवश उठते और विलय होते हैं। संसार के सुंदरतम आलेख्यों में उचित ही बाघ के चित्रों की भी गणना है। वहाँ कोई अभिलेख न होने से उनके चित्रणकाल का निश्चय तो सर्वथा नहीं हो पाता परंतु शैली से प्रकट है कि वे अजंता के मध्यवर्ती काल से पहले के नहीं हो सकते। अधिकतर वे गुप्तकाल के हैं और उनका निचला प्रसार भी संभवतः छठी सातवीं शती तक है।

(२) **गुजराती शैली**—गुजराती शैली का दूसरा नाम जैन शैली है क्योंकि अधिकर इस शैली ने जैन कल्पसूत्रों का ही ग्रंथचित्रण किया है। परंतु निःसंदेह इस शैली के चित्र सर्वथा धार्मिक ही नहीं हैं, लोकोत्तर के साथ लौकिक भी हैं जिससे उन्हें केवल धार्मिक और सांप्रदायिक मानकर 'जैन' संज्ञा प्रदान करना भ्रमपूर्ण है। इसके विपरीत चूँकि इस शैली के अधिकांश चित्र गुजरात से ही मिले हैं, उसे गुजराती शैली ही कहना उचित है।

इस शैली के चित्र अधिकतर पंद्रहवीं शती के हैं। अजंता और इन चित्रों के समय में प्रायः आठ शतियों का अंतर है। यह अंतर सर्वथा चित्रण विहीन रहा होगा यह तो विश्वास करने का विषय नहीं परंतु दैववशात् स्थिति है यही। उस बीच का अंतर पूरित था इसका संकेत भी इस शैली के कुछ प्राचीन उदाहरणों से से मिल जाता है। पाटन संग्रह के सचित्र कल्पसूत्र पर १२३७ वि० की तिथि दी हुई है। इस प्रकार के दो कल्पसूत्र लंदन के इंडिया आफिस और बृटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। इनमें पहला १४२७ वि० का है दूसरा १४६४ वि० का। पंद्रहवीं शती के सर्वोत्तम गुजरात शैली के नमूने बोस्टन म्यूज़ियम, अमेरिका, में हैं। बोस्टन संग्रहालय के कल्पसूत्र और अजंता के चित्रों का अंतर इस प्रकार केवल साढ़े पाँच छः सौ साल रह जाता है। कुछ आश्चर्य नहीं कि इस बीच के चित्रादर्श भी यथाकाल उपलब्ध हो जायँ।

जैसा पहले लिखा जा चुका है गुजराती शैली के चित्रों का उपयोग साधारणतः ग्रंथचित्रण अथवा निमंत्रणों के चित्रण में हुआ है। वस्तुतः यह शैली लघुचित्र शैली (मिनियेचर) का प्रारंभ करती है। और जैसा पहले कहा गया है, वे सर्वदा धार्मिक विषयों को ही आलोकित नहीं करतीं। गुजरात के अहमदशाह कुतुबुद्दीन के शासनकाल का प्रसिद्ध वसंतविलास (१५०७ वि०) सर्वथा पार्थिव

भावसंपदा से आलोकित है। साढ़े पैंतीस फुट लंबे और नौ इंच चौड़े सूती कपड़े पर यह चित्रित है। लाल और पीले रंगों का उसमें प्राधान्य है, भूमि पीली है। नक्श सर्वथा रूढ़िबद्ध, अजंता की आकृतियों की अवयव-आनत पद्धति से संपूर्णतः दूर, प्रतिकूल, चेहरे आधे अथवा केवल पार्श्वगत दिखाए गए हैं। (कहीं कहीं चेहरे समूचे दोनों नेत्रों के साथ भी चित्रित मिलते हैं) रूढ़िगत सौंदर्य, बादाम की सी डेढ़ या एक आँख चित्रित हुई है। इस शैली को समीक्षकों ने डेढ़चश्मी या एकचश्मी शबीह कहा है। शक्लें नितांत कृत्रिम हो गई हैं यद्यपि उनमें गुजराती रूपरेखा का आभास जब तब झलक जाता है। गुजराती शैली के चित्रों में अंकित वृक्ष तो प्रायः पूर्णतः रूढ़ या अभिनिविष्ट हैं। आकृतियों की अंकन रेखाएँ अक्सर कमजोर हैं यद्यपि वेशभूषा की क्रिया, विशेषतः उड़ते उत्तरीय और धोती का अंकन विशेष प्रत्यय से हुआ है। इन चित्रों का आलेखन शैली की दृष्टि से अजंता से, कम से कम अपनी रूढ़िबद्धता में, जितनी दूर हैं उतनी ही दूर वह मुगल कलम से भी है। उसका उदय और प्रसार मुगल कलम के प्रारंभ से पहले हुआ जिससे उस प्रभाव से वह वंचित है। नारी का अवगुंठन और पाजामा जो मुगल चित्रों अथवा उस शैली से प्रभावित चित्रों में मिलते हैं, गुजरात शैली में अप्राप्य हैं।

निःसंदेह गुजराती शैली के चित्र विषय और टेकनीक में सर्वथा एतद्देशीय हैं, मध्यकालीन भारतीय चित्रण के प्रमाण और उदाहरण अनेक तो वस्तुतः मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। परंतु अधिकतर उनका संबंध अजंता की कला की भाँति कथावार्ता से ही है। इसी से वे ग्रंथचित्रण में ही प्रयुक्त भी हुए हैं। जैन हस्तलिखित ग्रंथ ताडपत्र पर लिखे हैं, ये चित्र भी ताडपत्रों पर ही हैं।

(३) ***मुगल शैली***—मुगल शैली भारतीय चित्रसंसार में अपना अलग स्थान रखती है। अपनी सुरुचि और परिष्कार तथा तूलिका के स्पर्श की कोमलता और हाशिए की कशीदाकारी से वह तत्काल पहचानी जा सकती है। यह शैली फारस और भारत के संमिलित प्रयास का परिणाम है। ईरानी कलम को भारतीय वातावरण का योग मिला। ईरानी शैली का प्रारंभ भारत में ईरानी कलावंतों ने किया जिसे भारतीय चित्रकारों ने अपनी निष्ठा, स्थानीय प्रेरणा और विषयों से आकृति प्रदान की। वही चित्रण मुगल कलम कहलाया। अपनी चरम परिणति में यह शैली सर्वथा भारतीय है, फारसी चित्रों से भिन्न।

मुगल शैली का इतिहास भारत में तैमूरिया राजकुल की स्थापना से आरंभ होता है, हुमायूँ के पुनरागमन से। १६१२ वि० में हुमायूँ शाह तहमास्प के ईरानी दरबार से जब विजयी होकर भारत लौटा तब अपने साथ वहाँ से दो प्रसिद्ध चित्रकार मीर सैयद अली और अब्दुस्समद को लेता आया। दोनों ग्रंथचित्रण में पारंगत थे और यहाँ आते ही उन्हें उस प्रकार का काम सुपुर्द कर दिया

गया। मीर सैयद अली ने जिस 'दास्ताने अमीर हम्ज़ा' को पहले चित्रित किया उसके बारह खंड थे और प्रत्येक खंड में सौ सौ चित्र थे। यूरोप के अनेक संग्रहालयों में वे आज बिखरे हुए हैं। स्वाभाविक ही इतना बड़ा काम उस कलावंत ने अकेले न किया होगा, उसमें देशी विदेशी अनेक चित्रकार लगे होंगे, मीर सैयद अली के निरीक्षण में वह कार्य संपन्न हुआ होगा। इन प्रारंभिक मुगल चित्रों की शैली, प्रकट है, सफवी (ईरानी) थी, पर केवल मूल रूप में। अनेक बातों में उन चित्रों ने ईरानी भावभूमि छोड़ दी। उनमें फूल पत्तियों का इतना उपयोग भारतीय प्रभाव का ही परिणाम था। बिहज़ादी कलम भारतीय वातावरण को अभिव्यक्त कर चली थी।

हुमायूँ के साथ आए चित्रकार अकबर के शासनकाल में भी चित्रण करते रहे। अकबर ने फतहपुर सीकरी का निर्माण कर उसके कमरों (अपने शयनागार) में भित्तिचित्र बनवाए। अनेक भारतीय ईरानी चित्रकारों ने उस प्रासाद परंपरा को सजाया। उसके दरबार हाल और आवासों की दीवारें तस्वीरों से ढक गईं। रूप उन चित्रों का भित्तिचित्रों का सा था, शैली लघुचित्रों की। कुछ चित्र शुद्ध ईरानी परंपरा में बने, अनेक भारतीय परंपरा में। मीर सैयद अली और अब्दुस्समद चित्रकारों में प्रधान थे पर उनके नीचे सैकड़ों देशी विदेशी चित्रकारों ने काम किया, प्रत्येक ने अपनी अपनी शैली से।

इतने हिंदू चित्रकारों के उपयोग से प्रकट है कि हिंदू चित्रकला जीवित थी जिससे इतने हाथ उपलब्ध हो सके। अकबर के दो हिंदू दरबारी चित्रकार, बसावन और दसवंत, अपनी कला में मूर्धाभिषिक्त हो चुके थे। दसवंत जात का कहार और अत्यंत निर्धन था। 'एक दिन', अबुलफज़ल ने लिखा है, 'जहाँपनाह की नज़र उसपर पड़ी और स्वयं उन्होंने उसे ख्वाजा (अब्दुस्समद) के सुपुर्द कर दिया। कुछ ही काल में वह मेधा में सभी चित्रकारों को लाँघ गया और उस युग का वह प्रधान आचार्य बन गया। अभाग्यवश उसकी प्रतिभा विक्षेप से मंद पड़ गई और उसने आत्महत्या कर ली। उसने अनेक अनुपम चित्र छोड़े हैं'[1]। इसी प्रकार अबुलफज़ल ने भी बसावन की बड़ी प्रशंसा की है।

वस्तुतः इस दिशा में देशी प्रतिभा को जाग्रत करने और बढ़ाने में अकबर की उदारता ने बड़ी सहायता की। उसने कभी हिंदू मुसलमान में भेद नहीं किया और दोनों को केवल प्रतिभा की दृष्टि से परखा। ओहदा और धन उसने दोनों को समान रूप से प्रदान किए। चित्रकारों को उसने सभी प्रकार के पदों और पदवियों

[1] स्मिथ : हिस्ट्री०, पृ० ४५५।

(खिताबों) से विभूषित किया। अब्दुस्समद को तो उसने फतहपुर की टकसाल का अध्यक्ष और अंत में मुल्तान का दीवान तक बना दिया।

आगरा और दिल्ली में बड़े बड़े राजकीय ग्रंथागार स्थापित हो गए। केवल आगरे के संग्रहालय में २४००० के लगभग ग्रंथ थे[1]। ग्रंथ सचित्र होते थे। उनकी लिपिकारिता, जो चीन और ईरानी कला में विशेष स्थान रखती थी, अपूर्व उन्नति को प्राप्त हुई। मुगल कालीन लिपिकारिता, हाशियाबंदी और किताबों की जिल्द-बंदी कला के क्षेत्र में वही स्थान रखती थी जो मुगल चित्रण का था। एशियाई संस्कृति में जो भी शालीन था, इन संग्रहालयों में एकत्र हुआ, मूल भी, अनुवाद भी, जिनके पन्ने लघुचित्रों से चमका दिए गए। उस दिशा में व्यय की तनिक परवाह नहीं की गई। करोड़ों रुपए उन्हें प्रस्तुत करने में लगे।

कुछ को छोड़कर प्रायः सभी मुगल चित्र (हिंदू ईरानी) कागज पर बने हैं। चीनी चित्रों की भाँति वे कभी रेशम पर नहीं बने। हिंदू ईरानी चित्रकार अपने आलेख्य को दृढ़ रेखाओं से घेरते थे, इससे पहले उनका खाका बना लेना आवश्यक होता था। ईरानी ग्रंथचित्रों में तो पहले खाका लाल या काली चाक से खींच-कर उनमें तत्काल रंग भर लिया जाता था। बहुमूल्य ग्रंथों के लिये बड़ा उलझा हुआ तरीका काम में लाया जाता था। ग्रंथ में पृष्ठ खाली छोड़कर चित्र अलग तैयार करके उसमें बाद में चिपका देते थे। पन्ने पर पहले बारीक लेप कर लिया जाता था, लेप अरबी गोंद के पानी में घुला होता था। तब उसकी चिकनी जमीन पर खाका खींचा जाता था, फिर तैलचित्रण की भाँति एक पर एक रंगों के परत डाले जाते थे। जब तब अभूषणों में मोती, हीरा और स्वर्ण का आभास उत्पन्न करने के लिये उनके कणों का उपयोग होता था[2]। यह सारी क्रिया भारतीय चित्रकार गिलहरी के बालों के ब्रुश से संपन्न करते थे। अनेक बार तो बारीकी केवल एक बाल के ब्रुश से संपन्न की जाती थी[3]। उसमें असाधारण नेत्रशक्ति और कर-स्थिरता की आवश्यकता होती थी। कुछ लंदन में रखे असमाप्त चित्रों से[4] शैली की रेखाशक्ति का पता चलता है। एक ही चित्र की कई प्रतिकृतियाँ भी तैयार कर ली जाती थीं। अनेक बार एक ही चित्र को अनेक कलाकार पूरा करते थे। एक खाका खींचता था, दूसरा उसमें रंग भरता था। उदाहरणतः साउथ केंसिंग्टन म्यूजियम के अकबरनामा में आदमखाँ के प्राणदंडवाले चित्र का खाका मिस्की ने

[1] वही, पृ० ४५६।
[2] वही, पृ० ४६०।
[3] वही, पृ० ४६२।
[4] वही।

तैयार किया था, उसमें रंग शंकर ने भरे थे[१]। एक दूसरे चित्र का खाका मिस्की ने खींचा, रंग सरवन ने भरे, चेहरानामी तीसरे चित्रकार ने किया और 'सूरतें' माधो ने बनाईं[२]। अकबरनामा के रंग बड़े चटख हैं, विशेषतः लाल, पीले और नीले। उसके चित्र इस प्रकार ईरानी वर्ण परंपरा के ही विकास हैं। भारतीय चित्रकार रंगों की महारत और कोमल वर्णकारिता में अपने ईरानी उस्तादों से कहीं बढ़ गए थे। और प्रकृति के वैयक्तिक चित्रण में तो उन्होंने इतनी महारत हासिल कर ली जितनी उनके ईरानी उस्ताद भी कभी न कर सके थे। इस प्रकार के भारतीयों के बनाए सुंदरतम चित्र सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध के हैं। वैसे अच्छे चित्र उन्नसवीं शती के आरंभ तक बनते गए थे।

आरंभ के मुगल चित्रण में ग्रंथचित्रण अधिक हुए। महाभारत का सचित्र अनुवाद रज्मनामा के नाम से प्रस्तुत हुआ। रामायण का अनुवाद भी बड़े व्यय से चित्रित किया गया। अकबरनामा भी उसी परंपरा में प्रस्तुत हुआ। दास्ताने हम्जा का उल्लेख पहले हो चुका है। उसका आरंभ हुमायूँ के समय ही हो चुका था। रसिकप्रिया की भी एक अद्भुत सचित्र हस्तलिपि मुगल शैली में उपलब्ध है। इस प्रकार के अनेक ग्रंथ सचित्र तैयार कर आगरा, दिल्ली और अन्य नगरों के पुस्तक-संग्रहों में सुरक्षित कर दिए गए। इस प्रकार कला का योग साहित्य को मिला। किसी युग में साहित्य और कला का इतना घना सानिध्य नहीं हुआ जितना मुगल काल में। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् रुहेले और अवध के नवाब अपने संग्रहों का आकार बढ़ाने के लिये इन ग्रंथसंग्रहों को आगरा-दिल्ली से लूट ले गए।

मुगल शैली प्रधानतः प्रतिकृति चित्रण है। उसमें व्यक्तिचित्रण की प्रधानता है। वस्तुतः वह शैली ही व्यक्तिवादी है। सामूहिक चित्रण में भी महत्व व्यक्ति का ही है। अकबर के शासनकाल (१६१३-१६६२) और जहाँगीर (१६६२–८५) के शासन काल के आरंभ में प्रतिकृत चित्रण में खड़े व्यक्ति का पार्श्वचित्रण ही हुआ, प्रायः रूढ़ अभिनिविष्ट शैली में। धीरे धीरे उसकी एकांतता शिथिल हुई और नरनारियों के चित्र स्वाभाविक बनने लगे। ईरानी माडल के बने चित्रों में बिंबत्व और अंगपीवरता का अभाव था। स्पर्श की गहराई भी उसमें न थी, उभार के अभाव में वे आकृतियाँ सर्वथा चिपटी लगती थीं। जहाँगीर के पिछले सालों में भारतीय चित्रकारों ने वह सारी न्यूनता पूरी कर दी। वे हल्की रेखा की छाया गजब की खूबी से डालने लगे और इस प्रकार उन्होंने अपनी आकृतियों को अद्भुत क्षमता से हल्की गोलाई प्रदान की। इसी काल उस कला

[१] वही, पृ० ४६१।

[२] वही।

में विदेशी छायातप का आविर्भाव हुआ जिसने रेखा और राग को दुर्बल कर दिया। प्रतिकृतिकारिता के चरम विकास ने डिजाइन (आलेखन) और अलंकरण को शिथिल कर दिया। मेघों और फूलपत्तियों के चित्रण में विदेशी प्रभाव ने घर कर लिया। अठारहवीं शती के पिछले चित्रों में यह विदेशी प्रभाव साफ लक्षित होता है।

मुगल शैली का प्रभुत्व भारतीय चित्रकला पर १६२७ वि० से प्रायः ढाई सौ वर्ष रहा। इस बीच एक से एक अभिराम चित्र हजारों की संख्या में बने। हिंदू-ईरानी प्रति भी अकबर के उद्योग से खूब घुली मिली और दोनों के समन्वय की चरम एकता जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में हुई। औरंगजेब कलाद्वेषी था, उसने कला को प्रश्रय नहीं दिया। मुगल काल में कई सौ चित्रकारों को राजकीय संरक्षा मिली। स्वयं अबुलफजल ने चित्रकला में निष्णात लगभग सौ कलावंतों का उल्लेख किया है। उनमें प्रधान सत्रह थे जिनमें प्रायः सभी के हस्ताक्षर चित्रों पर मिल जाते हैं। १६५७ वि० के लगभग प्रस्तुत हस्तलिपि वाकियाते बाबरी में बाईस चित्रकारों के हस्ताक्षर हैं। महत्व की बात है कि इन प्रधान चित्रकारों में हिंदू नाम अधिक हैं। अबुलफजल के गिनाए सत्रह कलावंतों में केवल चार मुसलमान हैं, शेष तेरह हिंदू। मुसलमान हैं : (१) मीर सैयद अली, (२) ख्वाजा अब्दुस्समद, (३) फर्रुख कल्मक और (४) मिस्की, और हिंदू हैं : (५) दसवंत, (६) बसावन, (७) केसो, (८) लाल, (९) मुकुंद, (१०) माधो, (११) जगन्नाथ, (१२) महेश, (१३) खेमकरन, (१४) तारा, (१५) साँवला, (१६) हरिबंस और (१७) राम। उसी प्रकार रज्मनामा के हस्ताक्षरों में भी २१ हिंदुओं के हैं, ७ मुसलमानों के।

चौपायों और पक्षियों के चित्रण में मुगल चित्रकारों ने अद्‌भुत प्रतिभा प्रदर्शित की। मंसूर उस क्षेत्र में सर्वथा बेजोड़ था। कलकत्ते की आर्ट गैलरी में रखे जहाँगीर के बनवाए मुर्गे के चित्र का सौंदर्य चीनी चित्रकार भी नहीं मूर्त कर सके।

व्यक्ति (प्रतिकृति) चित्रण मुगल कला की, जैसा कहा जा चुका है, विशेषता है। मुगल सम्राटों के अत्यंत यथार्थ और अवयव-आनत चित्र बने। उनको जैसे सदियों पार हम रूबरू देख लेते हैं। इनमें कुछ इंडिया आफिस लाइब्रेरी (लंदन) में रखे दारा शिकोह के उस अल्बम में हैं जिसे उसने बड़े प्यार से अपने हस्ताक्षर के साथ नादिरा बेगम को भेंट किया था। अकबर और उसके मित्रों के अनेक सुंदर चित्र उपलब्ध हैं। एक में वह सलीम को पास बिठाए बैठा है, दूसरे में एक औरत की फरियाद सुन रहा है। इस प्रकार के उसके बीसों चित्र हैं।

शालीन शाहजहाँ की चित्रसंपदा भी बड़ी थी। मुगल कला का सुनहरा युग उस सम्राट् का शासनकाल था। उसके जिस युग ने ताज खड़ा किया उसी ने मुगल शैली के अभिरामतम चित्र लिखे। पुराने रक्तरंजित चित्रों का स्थान संयत, शांत, दरबारपरक चित्रों ने लिया। चटख रंग कोमल पड़ गए, सुरुचि सँवरी। उस काल के प्रधान चितेरे थे चतरमन (कल्यानदास), अनूपचतर (राय अनूप), दारा शिकोह का संरक्षित चितेरा मनोहर, मुहम्मद नादिर समरकंदी, मीर हाशिम और मुहम्मद फकीरुल्ला खाँ।

उस काल के चित्रकारों के प्रिय आलेख्य लैला मजनूँ, शिरीं खुसरु, कांता कामरूप और रूपमती बाजबहादुर भी थे। रूपमती और बाजबहादुर मालवे (मांडू) के रानी राजा थे। दोनों ही कवि थे। रूपमती पहले वेश्या थी जो बाजबहादुर की प्रिय पत्नी हो गई थी। उनके प्रणय के गीत आज भी गाए जाते हैं। कला और साहित्य को परस्पर निकट लाने में उनका प्रयत्न असाधारण था।

औरंगजेब स्वयं यद्यपि कला की ओर से उदासीन था और उसने स्वयं साक्षात् उसे संरक्षा नहीं दी, पर उसके समय में उस कला का ह्रास न हुआ। दिल्ली और आगरे में, राजपुताना, बुंदेलखंड, पंजाब हिमालय की हिंदू रियासतों में अनेक उमरा और राजा थे जो अपने अपने चित्रकार रखते थे। इस कारण मुगल शैली मर न सकी, औरंगजेब के बाद भी राजधानी तथा अन्य नगरों में सौ वर्ष से अधिक काल तक उसके अच्छे अच्छे प्रयास होते रहे। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि राजधानी का केंद्र टूट गया और चित्रकार बिखर गए। फिर भी इससे एक लाभ हुआ कि मुगल शैली प्रांतों में पहुँची और वहाँ उसकी कलमें लगीं, वहाँ उसके प्रभाव से प्रांतीय शैलियाँ विकसीं। मुगल शैली का विकास भारतीय था, भारतीय चित्रकला में उसके योग ने सोने में सुगंध भर दी।

(४) राजपूत शैली—राजपूत शैली का विकास, कुछ अंश में, मुगल शैली की सहायता और प्रभाव से राजपुताना, बुंदेलखंड और हिमालय-पंजाब के रजवाड़ों में हुआ। उस शैली के चित्र सोलहवीं शती के अंत (वस्तुतः सत्रहवीं शती के आरंभ) और उन्नीसवीं शती के बीच बने। उस शैली के चित्र दो प्रकार के हैं— राजस्थान और बुंदेलखंड के राजस्थानी और पहाड़ी। पहाड़ी के भी दो स्थानीय भाग किए जाते हैं, (१) सतलज नदी के पश्चिम के पहाड़ी प्रदेशों के चित्र और (२) उसी नदी के पूरब के पहाड़ी प्रदेशों के। इनमें पहले प्रकार के चित्रों का आलेखन विशेषतः जम्मू में हुआ। जम्मू के आसपास की सारी रियासतों की चित्रकला जम्मू शैली कहलाती है। सतलज से पूरब के रियासती चित्रों का नाम काँगड़ा पड़ा जिसकी परिधि में जलंधर की निकटवर्ती रियासतें आईं। गढ़वाल की

स्थानीय शैली का उदय काँगड़ा कलम से ही अठारहवीं शती के अंत में हुआ। लाहौर और अमृतसर के चित्र भी इसी कलम के भेद हैं।

राजपूत शैली मूल रूप से देशी है पर निःसंदेह उसपर मुगल का गहरा प्रभाव पड़ा है, विशेषतः चित्रगत वास्तु और राजस्थान की वेशभूषा पर। कुछ राजस्थानी चित्रों के ऊपर तो इतना मुगल प्रभाव है कि देखनेवाला भ्रम में पड़ जाता है। रंगों के प्रयोग, भूमि की तैयारी और विषयों के चयन में इस शैली के चित्र देशी परंपरा का प्रयोग करते हैं। जयपुर, हैदराबाद और बीजापुर की शैलियों में भी मुगल शैली की प्रतिकृतिकारिता का प्राचुर्य है। वैसे राजपूत और मुगल शैलियों में अंतर भी कुछ कम नहीं। मुगल शैली प्रतिकृतिपरक और व्यक्तिप्रधान है, राजपूत शैली, विशेषतः रागमाला और पहाड़ी, विषयप्रधान। राजपूत शैली मध्यकालीन हिंदी साहित्य की प्रायः प्रत्येक प्रवृत्ति को चित्रित करती है। उसके चित्र बिना भारतीय महाकाव्यों, पुराणों, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, संगीत शास्त्र, कामसूत्र और रीतिकाव्य जाने भले प्रकार नहीं समझे जा सकते। उनमें कला और साहित्यबोध का अद्भुत संयोग प्रस्तुत है। रागिनी चित्रण तो कला और साहित्य की गंगा जमुना में सरस्वती का संगम कर त्रिवेणी का संयोग उपस्थित कर देता है। मुगल चित्रण, जैसा कहा जा चुका है, लघुचित्रण है, राजपूत शैली भित्तिचित्रण की परंपरा में है, भित्तिचित्रण का लघुकृत रूप। मुगल चित्रों की काया बँधी हुई है, पहाड़ी चित्रों की प्रवहमान, छंदयुक्त। मुगल चित्रों का छायातप राजपूत शैली के चित्रों में नहीं मिलता। रात दिन के प्रकाश को रंगों के उतार चढ़ाव से उनमें नहीं व्यक्त किया जाता, मशाल, दीपक आदि से उसका बोध करा दिया जाता है। उस शैली के चित्र प्रधानतः मुगल चित्रों के पीछे होते हुए भी मध्यकालीन आभास उत्पन्न करते हैं, मुगल चित्र सावधि।

रागमाला चित्रों में संगीत खुल पड़ा है। संसार के किसी देश की कला में साहित्य, संगीत और चित्रण का इतना घना संबंध नहीं हुआ। इनमें रागों और रागिनियों को प्रवहमान अवयव दिए गए हैं, कल्पना के अद्भुत चमत्कार द्वारा नाद को आकार देने का सफल प्रयास हुआ है। छह रागों और तीस रागिनियों के पृथक् पृथक् अथवा एकत्र ग्रंथचित्रण के रूप में इनका अंकन हुआ है। किस वातावरण में कौन राग या रागिनी गाई जाती है, यह उनमें आलिखित होता है। साथ ही अनेक चित्रों पर रीतिकालीन कवियों की तद्विषयक कविता भी लिखी होती है, अनेक बार रागों के लक्षण भी लिखे होते हैं। काश कि मुगल लिपिचित्रण की भाँति रागमालाओं के चितेरे भी अपने लेखन को अपनी कृतियों की ही भाँति प्राण दे पाते!

जम्मू शैली के चित्रों पर टाकरी अक्षरों के लेख होते हैं। इन चित्रों में रामलीला, रासलीला के अतिरिक्त रागमालाएँ भी राजस्थानी से भिन्न रीति से लिखी

गई हैं। अलंकारशास्त्रों के अनुकूल नायकनायिका भेद भी इनमें चित्रित हैं जो रागिनी चित्रों की भाँति साहित्य को चित्रकला के निकट खींच लाते हैं। इस शैली के चित्र सत्रहवीं-अठारहवीं शती में बने, प्रतिकृतिपरक, अधिकतर पिछले काल।

काँगड़ा और उसकी गढ़वाली तथा सिक्ख कलमें अठारहवीं शती के अंत और उन्नीसवीं के आरंभ में लगीं। काँगड़ा कलम का विकास और प्रसार काँगड़ा के अंतिम प्रबल राजा संसारचंद (१८३१-१८८०) के संरक्षण से हुआ। राजपूत शैली की यह तीसरी और पिछली परंपरा थी। इस शैली में रागिनीचित्रण नहीं हुआ। इसके प्रिय विषय हैं कृष्णलीला, नायक नायिका-भेद, शाक्त रूपायन, रामायण महाभारत की कथाएँ। इन चित्रों के लेख सदा नागरी में लिखे होते हैं, अधिकतर जाने हुए हिंदी कवियों के, विशेषतः केशवदास के। इनमें प्रासादों और पहाड़ी स्थानों का आलेखन भले प्रकार रहता है, जहाँ तहाँ हिमालय के हिमावृत शिखरों और देवदारों का भी उनमें अंकन होता है। नल दमयंती कथा की सीरीज की सीरीज उनमें चित्रित मिलती हैं। इन चित्रों के रंग शांत और शीतल का आभास उत्पन्न करते हैं। इनकी रेखाओं में बड़ी तरलता है, विशेषकर परिधानों की रेखाओं में। राजस्थानी रागमालाओं की भाँति वे पुंस्त्व की नहीं नारीत्व की धनी हैं। वे भावप्रधान हैं, आवेगप्रधान नहीं।

अठारहवीं शती के अंत में गढ़वाली कलम का उदय हुआ। शाहजादा सलीम के साथ औरंगजेब के भय से भागकर एक चित्रकार परिवार गढ़वाल में बस गया था। उसी कुल की पाँचवीं पीढ़ी में इस कलम का विशेष धनी प्रख्यात-नामा चित्रकार मोलाराम (१८१७-१८६०) हुआ। यह कलम काँगड़ा शैली के निकटतम है। पंजाब की सिक्ख कलम भी काँगड़ा की ही एक शाखा है जो साधारणतः १८३२ और १९०७ के बीच फली फूली। सिक्ख संप्रदाय में पुराण और मूर्तियाँ न होने के कारण वह कलम प्रतिकृतिप्रधान हो गई। इससे उसमें मुगल शैली की ही भाँति गुरुओं आदि का अकेले अथवा दरबार में व्यक्तिपरक चित्रण हुआ, वैयक्तिक अभिप्राय पर विशेष बल डाला गया।

(५) दकनी (दक्षिणी) शैली—दकनी शैली भी मुगल कलम से प्रभावित प्रांतीय शैली है। यह भी अधिकतर प्रतिकृतिप्रधान है। इस शैली के भी सैकड़ों चित्र आज उपलब्ध हैं जो दकन के नवाबों और सुल्तानों, अमीर उमरों के हैं। इस कलम के दो विशिष्ट केंद्र बीजापुर और हैदराबाद (दकन) थे। उनके राजकुलों की संरक्षा में ही ये अधिकतर फलेफूले।

(६) वर्तमान शैली—वर्तमान काल में तीन प्रकार की शैलियाँ चलीं—यूरोपीय कला से प्रभावित, पुनर्जागरिक, और प्रगतिशील। वैसे यूरोपीय कला का

प्रभाव तो मुगलकाल में ही भारतीय चित्रण पर पड़ने लगा था। पर वह देशी प्रतिभा को उस काल इतना दूषित न कर सका। पर उन्नीसवीं शती के मध्य उसका विशेष सत्यानाशी प्रभाव इस देश की कला पर पड़ा। त्रावणकोर के राजा रविवर्मा उस दिशा में विशेष सयत्न हुए। उन्होंने यूरोपीय घिनौनी शैली का ऐसा उपयोग किया कि सारा युग उसके प्रभाव से दूषित हो गया। हिंदू देवी देवताओं का चित्रण भावहीन निःस्वाद रूप में प्रारंभ हुआ। उन चित्रों से बाजार भर गए। देश में जो कलासंबंधी सुरुचि का सर्वथा अभाव हो गया था उससे घर घर उन चित्रों का मारक प्रचार हुआ। मदुरा के रामस्वामी नायडू के चित्र भी उसी परंपरा के हैं।

हैवेल और अवनींद्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण का एक राष्ट्रीय आंदोलन इस सदी के आरंभ में चला। अपनी प्राचीन कलासंपदा को स्वदेशी प्रतीकों के आधार से फिर से प्राप्त करने का प्रयास हुआ। अपने देश की कला के प्रति जनता का विश्वास जागा। अजंता के प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ी। ठाकुर के अनेक शिष्यों ने अजंता के दरीगृहों के चित्रों की नकल की। स्वयं अवनींद्रनाथ अच्छे चित्रकार थे और अजंता तथा मुगल शैली में उन्होंने कुछ सुंदर चित्र बनाए। जापानी कलम का भी उनपर प्रभाव पड़ा। परंतु उनकी कला से कहीं ऊँचा उनका आदोलन था जो देशव्यापी हुआ। अजंता शैली का विशेष प्रभाव बंगाल के चित्रकारों पर पड़ा। बंगाल की कलम ही अजंतावर्ती हो गई। ठाकुर के अनेक शिष्य सुंदर चित्रकार हुए जिनमें नंदलाल बोस का स्थान विशेष ऊँचा है।

इन्हीं दिनों बंबई के चित्रकारों पर यूरोपीय कलम का अत्यंत हेय प्रभाव पड़ता जा रहा था। इतने दूरगामी अजंता आदोलन का भी उनपर कोई प्रभाव न पड़ा और वे अपने चित्रों में कोई सिद्धांत अथवा आदर्श न उतार सके। इससे उनमें न आदर्श से प्रेरणा मिली न आस्था से बल मिला। उनको यूरोपीय कला आंदोलनों का भी लाभ न हुआ। ये उपेक्षणीय घटिया किस्म की यूरोपीय शैली के चित्रों से ऊपर न उठ सके। नकल, प्रकट है, महान् कला नहीं प्रस्तुत कर सकती।

पर बंगाल में शीघ्र अजंता शैली के अतिरिक्त भी एक प्रबल लोकचित्र-शैली का आरंभ हुआ। जामिनीराय ने लोकचित्रों का बंगाल में आरंभ किया। सदा से दीवारों पर अच्छे बुरे चित्र बनते आए थे। उनमें नई ताजगी डालकर उस चितेरे ने उन्हें चित्रपट पर उतार लिया। लोकचित्रों ने तूलिका को नया बल दिया। इससे यथार्थ की ओर भी लोगों का ध्यान गया और देश की जनता की वास्तविक स्थिति के भी समवेदनाशील अंकन हुए। तैलचित्रों का प्रादुर्भाव अबतक हो चुका था। यूरोपीय शैली का वह प्रभाव इस देश की कलम पर पड़ा।

सर्वथा आधुनिक यूरोपीय पद्धति के अनुसार प्रभाववादी चित्र इस देश में पहले पहल अवनींद्रनाथ ठाकुर के भाई गगनेंद्रनाथ ठाकुर ने बनाए। परंतु उस समय अजंता की आदर्शवादी शैली के आगे यह टिक न सकी। इसका फिर भी बंगाल से कहीं अधिक विकास बंबई के नए चित्रकारों ने किया। यूरोप से सीधा संपर्क भारत का कला के क्षेत्र में भी कब का हो चुका था। अनेक कलाकार पेरिस आदि में अभ्यास भी कर चुके थे। वे फ्रांस की अनेक नई प्रवृत्तियों के संपर्क में आए और स्वदेश लौटकर इस देश में उन्होंने अपने प्रयोग आरंभ किए। एक नई दिशा उन्हें मिली। गाँवों के चित्र नई पद्धति से नई आस्था और समवेदना से वे बनाने लगे। सामाजिक यथार्थवाद का एक नया जनपरक प्रगतिशील संसार भारतीय चित्रभूमि पर उतर चला।

३. भारतीय चित्रकला की भावभूमि

भारतीय चित्रकला की भावभूमि अत्यंत प्राचीनकाल से ही आधिदैविक तथा आध्यात्मिक थी। सभी मांसल, भौतिक, यौन तक आदर्श यहाँ की कला में चले परंतु सदा उनका संपर्क भाव और आस्था से था। इसी से यहाँ कला केवल कला के लिये प्रश्रय न पा सकी, वह उद्देश्यपरक बनी रही। ध्यानयोग का उसमें बड़ा महत्व माना गया। ध्यानयोग से विरहित चित्रकार को उचित ही शिथिलसमाधि की संज्ञा मिली। कालिदास ने इस कलासंबंधी दोष की ओर अपने नाटक मालविकाग्निमित्र[1] में सार्थक संकेत किया है। राजा ने मालविका का हाल का बना चित्र देखा है और उसके अंगांग-सौंदर्य से इतना प्रभावित होता है कि उस चित्र को वह अतिरंजित मानता है पर जब मालविका को प्रत्यक्ष देखता है तब उसकी बिलकुल दूसरी ही स्थिति हो जाती है। उसे लगता है कि चित्रकार मालविका के सौंदर्य के साथ न्याय नहीं कर सका था। उसका वह दर्शन न कर सका क्योंकि निश्चय वह शिथिलसमाधि था, समाधि का शिथिल था। इस शिथिलसमाधि दोष का निरूपण शुक्रनीति[2] ने स्पष्टतः किया है। उसका अनुशासन है कि कलाकार आलेख्य के प्रति उसे लिखने के पहले समाधिस्थ हो। जब समाधि में उसका वह सांगोपांग दर्शन कर लेगा, जब आलेख्य प्रत्यक्षमूर्त उसकी समाधि में उठ आएगा तभी वह अपने विषय के अंकन में सफल हो सकेगा वरना वह शिथिलसमाधि हो जाएगा, उसका अंकन असफल हो जाएगा।

[1] अंग २, श्लोक २—शिथिलसमाधि।
[2] ४, ४; १४७–५०।

इस प्रकार भारत का चित्रण भावप्रधान रहा है। उसके सिद्धांतग्रंथों में इस दिशा में निरंतर अभिमत निरूपित हुए हैं। यही कारण है कि उसके अंकन के विषय सर्वदा ताजे बने रहे। अभिशाप्त शाकुंतल का राजा अपने विरह के अवसाद से ऊपर उठने के लिये, अपनी चुटीली रिक्तता भरने के लिये, शकुंतला के चित्र बनाता है। एक स्थल पर जो वह दुष्यंत से अपने तूलिकागत चित्र की व्याख्या करता है वह इस आदर्श भावपद्धति को भले प्रकार व्यक्त करता है। वह कहता है 'अभी हंसमिथुन लांछित सिकतातटसनाथा मालिनी की धारा लिखनी है, धारा हिमालय की उन श्रेणियों के बीच बहती, जिनपर मृग बैठे हों, और शाखाओं से बल्कल लटकाए ऐसा वृक्ष अंकित करना है जिसके नीचे बैठी मृगी अपने मृग की सींग से अपना वामनयन खुजला रही हो।'

अद्‌भुत योजना है, भावप्रधान। गार्हस्थ्य और भावबंधन प्रेम का अंकन इससे सुंदर नहीं हो सकता। मृग की सींग उसकी रक्षा और आक्रमण का साधन है, उसके शरीर का कठोरतम, भयावह, क्रूरतम अंग। और मृगी का नयन उसके शरीर का कोमलतम मर्म है पर उसे वह मृग की सींग की नोक पर मात्र रखती ही नहीं उससे वह उसे खुजाती है, घर्षित करती है। परस्पर विश्वास की, प्रणयजनित आस्था की, यह अभिराम चरम परिणति है। और यह भावप्रधान बोध चित्रकार के दर्शन में आ गया है। उसका अंकन भला कितना आर्द्र, कितना तरल, कितना छंदप्रधान, कितना कोमल होगा—सत्यं, शिवं, सुंदरम्।

चतुर्थ अध्याय

संगीत

१. क्षेत्र

संगीत गायन, नर्तन और वादन के समाहार को कहते हैं। साथ ही संगीत एक शास्त्रीय पद्धति की ओर संकेत करता है। उस पद्धति का चरम वैज्ञानिक विकास भारत के लंबे इतिहास में हुआ। वस्तुतः संगीत कला इस देश में विज्ञान के पद पर अभिषिक्त हुई।

२. पद्धति का विकास

वैसे उल्लसित होकर गा उठना तो बर्बर प्रसन्नता का भी परिणाम हो सकता है और संगीत का आरंभ भी उसी आधार से हुआ परंतु चिंतन का सम्य सहारा मिलते ही बड़े प्राचीन काल में ही उसमें एक पद्धति का उदय होने लगा और धीरे धीरे गीत, नृत्य और वाद्य के संयोग ने उस पद्धति को कला का रूप दिया। उल्लास में गा उठना मान निश्चय उत्पन्न करता है पर कला नहीं। कला सचेत प्रयास और गुनी हुई साधना का पद्धतिपूर्ण रूप है, वह अनायास आचरित नहीं होती। कला वह वस्तु है जो न केवल उल्लास के अवसर पर वरन् आवेशों की साम्य स्थिति में भी निदर्शित की जा सकती है। स्थितिविशेष को विशिष्ट लय सुर के साथ नादादि के माध्यम से वह बार बार सिरज सकती है, जैसे बार बार एक राग एक ही पद्धति से गाया जा सकता है। इससे उल्लासजनित व्यभिचार और मान्यता का शमन हो साधना का इष्ट में अव्यभिचार और अनन्यता सिद्ध होती है। इसी प्रकार एक ही शैली से नाद, चित्र, अनुकार्य, आदि की बार बार अनुकृति कला है। इस रूप में संगीत कला है और उसकी शास्त्रीयता उसे कला और विज्ञान का पद प्रदान करती है।

यह शास्त्रीय पद्धति कब इस देश में प्रारंभ हुई यह कह सकना तो कठिन है पर जिन गंधर्वों ने संगीत को आराध्य मानकर पेशे के रूप में विकसित किया उनका उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है। वेद की ऋचाएँ तो बराबर गाई ही जाती थीं और विशेष पद्धति से जिसमें भूल असम्य अपराध थी। ऋग्वेद की ऋचाओं से सामवेद गानवेद बनकर प्रस्तुत हुआ। उद्‌गातृ उसका विशिष्ट गायक बना। कुछ काल बाद गंधर्ववेद का भी प्रणयन हुआ जिसमें पहली शास्त्रीय पद्धति निरूपित

हुई। विक्रमी शतियों के आरंभ में भरत ने नाट्यशास्त्र में संगीत का अभिनय से इतना अविच्छिन्न संबंध होने के कारण उसकी विशद व्याख्या की। काव्यों में अनेकानेक बार संगीत का उल्लेख हुआ।

कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक के पहले और दूसरे अंकों में संगीत और अभिनय के कलासिद्धांत पर विस्तृत कथोपकथन कराया है[1]। तब तक (पाँचवीं शती विक्रमी) भारतीय शास्त्रीय संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। 'मूर्च्छना', 'राग' आदि की ओर महाकवि ने संकेत किया है[2], साथ ही वीणा (अन्यान्य पर्याय परिवादिनी, वल्लकी, तंत्री, सुतंत्री), वेणु (वंशकृत, वंशी), मृदंग (अन्यान्य पद्धति, पुष्कर, मुरज), तूर्य (तुरही), शंख, दुंदुभी (नगाड़ा) और घंटा का उल्लेख किया है[3]।

परंतु आश्चर्य की बात है कि शुद्ध संगीतशास्त्रों का प्रणयन प्रायः पिछले ही काल में हुआ है। लगता है कि संगीत के शास्त्रीय रूप का सांगोपांग विकास या कम से कम उसकी शास्त्रीय विवेचना हिंदू मध्ययुग में ही हुई। गंधर्ववेद और नाट्यशास्त्र आदि तो निःसंदेह पहले बन चुके थे परंतु शुद्ध गायन की पुस्तकें ग्यारहवीं शती के पश्चात् ही रची गईं। लोचन कवि की रागतरंगिणी संभवतः बारहवीं शती में लिखी गई और शार्ङ्गदेव का संगीतरत्नाकर तेरहवीं शती में। फिर रागमाला, रागमंजरी और सद्रागचंद्रोदय प्रस्तुत हुए। सोमनाथ का रागविबोध १६६७ में रचा गया, दामोदर मिश्र का संगीतदर्पण १६८२ में, अहोबल का संगीतपारिजात और पीछे। अनूपविलास, अनूपांकुश और अनूपतंत्र भवभट्ट ने अठारहवीं शती के आरंभ में रचे। अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शती में अवध के नवाबों की संरक्षा में मुहम्मद रजा ने नगमए‍असफी लिखा। इसी में शुद्ध बिलावल की व्याख्या हुई जो कभी का हिंदुस्तानी संगीत का आधार बन चुका था। उन्हीं दिनों जयपुर के महाराज प्रतापसिंह ने संगीत के सारे विशेषज्ञों को एकत्र कर उनकी सहायता से संगीतसार का प्रणयन किया। कृष्णानंद व्यास ने उन्नीसवीं शती में संगीतकल्पद्रुम लिखा। उस शती के अंत में नवाब रामपुर का दरबार संगीत के आधुनिक विकास में बड़ा प्रयत्नशील हुआ। स्वयं साहेबजादा नवाब सआदत अली खाँ ने उर्दू में असाधारण संगीतग्रंथ रचना शुरू किया जो उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अपूर्ण रह गया। उस दिशा में उर्दू का मारिफाते नग़मात अच्छा प्रयास है।

[1] अंक २।

[2] वही, अंक १ और २; उ० मे०, २३; देखिए लेखक का 'इंडिया इन कालिदास', पृ० २२५-२६।

[3] इंडिया०, पृ० २२७।

भातखंडे ने इधर प्राचीन भारतीय संगीत के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया और अनेक ग्रंथ लिखकर संगीत की मुरझाती पौध को सींच उसे हरा किया। अतिया बेगम ने भी इस दिशा में अच्छा प्रयास किया है।

३. शास्त्रीय पद्धति

गीत राग, ताल, स्वर आदि से गाए जाते हैं। भरत मुनि के अनुसार राग छः हैं—भैरव, कौशिक, हिंदोल, दीपक, सुराग और मेघ। दूसरी गणना के अनुसार रागों में कौशिक और सुराग के स्थान पर श्री और मालकोश गिने जाते हैं। प्रत्येक राग की पाँच या छः रागिनियाँ होती हैं। इनके अनेक पुत्र और उन पुत्रों की अपनी भार्याएँ होती हैं। रागिनियाँ रागों से किंचित् कोमल होती हैं। दिन और रात आठ भागों में बाँट लिए गए हैं और प्रत्येक भाग में उपयुक्त राग रागिनियाँ गाई जाती हैं।

संगीत के सात अंग (सप्तांग) होते हैं। राग उनमें से एक है, शेष छः स्वर, ताल, वाद्य, नृत्य, भाव और अर्थ हैं। इनमें नृत्य तो नाच से संबंध रखता ही है, भाव नृत्य, गीत और अभिनय तीनों के भंग और स्थितियाँ व्यक्त करता है। अर्थ का संपर्क राग और ताल से है।

स्वर सात होते हैं षड्ज, ऋषभ्, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इन स्वरों के सात संकेत हैं—सा रे ग म प ध नी। प्रत्येक स्वर पशु अथवा पक्षी के स्वर से लिया गया है, जैसे षड्ज मयूर से (षड्ज संवादिनी केका),[1] ऋषभ पपीहा से, गांधार बकरे से, मध्यम सारस से, पंचम कोकिल से, धैवत अश्व से, और निषाद गज से। स्वर वीणा आदि तार वाले वाद्यों पर साधे जाते हैं।

ताल नाद के कालमान हैं। उनकी अनेक मात्राएँ होती हैं। उसमें तीन प्रकार की लय होती हैं—द्रुत, मध्य और विलंबित (द्रुतो मध्यो विलंबितश्च लयः स त्रिविधो यतः)। ताल के वाद्य पखावज, पुष्कर, तबला आदि हैं।

राग गाने की अनेक शैलियाँ हैं। सबसे कठिन और प्राचीन ध्रुपद है। यह बहुत भारी भी है और बड़े अभ्यास से गाया जाता है। हर ताल पर अधिकार रखनेवाला ही इसे गा सकता है। यह विलंबित और मध्य लय में ही गाया जाता है। ग्वालियर का राजा मानसिंह (१५४३-१५७३) इसका बड़ा जानकार था। बैजूबावरा और तानसेन उसके प्रधान सहायक थे। होरी गाना भी कठिन है। कृष्ण और गोपियों के गीत वसंत और होली के अवसर पर इस शैली में गाए जाते हैं।

[1] रघु०, १, ३९।

इसके ताल (धमार के) बड़े पेचीदे होते हैं। खयाल भी सभी रागों का होता है। ध्रुपद के विपरीत इसकी लय झट झट बदलती जाती है। इसका निर्माण पंद्रहवीं शती में जौनपुर के सुलतान हुसेनशाह शर्की ने किया पर इसे माधुर्य की चोटी पर पहुँचाया दिल्ली के मुहम्मद शाह के दरबारी गायक सदारंग ने। हुसेनशाह ने जौनपुरी, हुसेन कान्हरा, हुसेन टोडी राग आदि भी प्रचलित किए। टप्पा पहले पंजाब के पीलवानों का गाना था। हीर राँझा की कथा वे उसी में गाया करते थे। अवध के नवाब आसफुद्दौला के दरबारी गायक शोरी ने उसमें प्राण फूँककर उसे विशेष गौरव दिया। बाजखानी मालवा के सुलतान बाजबहादुर की चलाई हुई है। तराना, कौल, नक्श, गुल आदि अमीर खुसरो ने प्रचलित किए। कौल कौव्वाली ताल से गाया जाता था, उसका विषय अधिकतर तसव्वुफ होता था। भजन साधु आदि गाया करते थे, पद और कीर्तन भी। इनके बनानेवाले मीरा, सूरदास, तुलसीदास, भिखारीदास और इन सबसे पहले कबीरदास थे। ठुमरी को इस देश में बड़े प्यार से गाया जाता है। इसका आरंभ भी मुसलमानों के योग से ही हुआ। वैसे ही गजल, धुन और लावनी भी। इनको प्रायः सभी गाते हैं। ध्रुपद और धमार चुने हुए उस्तादों तक ही सीमित है। प्रकट है कि अनेक राग और गाने के प्रकार मुसलमानों के अध्यवसाय से प्रचलित हुए। प्रायः सभी मुसलमानी दरबारों में संगीत और संगीतज्ञों का आदर हुआ। अनेकानेक हिंदू मुसलमान गीतकार मुसलमान दरबारों की संरक्षा में फले फूले। अनेक मुसलमान उस्तादों और उनके संरक्षकों ने संगीत में नए अनुसंधान कर रागों और तालों की संख्या और माधुर्य में उन्नति की, फारस आदि के रागों का यहाँ प्रचलन किया और इस देश को अनेक वाद्य दिए। कुछ लोकशैलियों को विकसित कर उन्होंने उन्हें दरबारी गौरव दिया।

४. वाद्य

वादन गीत और नृत्य का नित्य सहचर है। आज इस देश में बड़ी संख्या में वाद्य प्रचलित हैं। इनमें से अनेक अति प्राचीन काल से चले आते हैं, अनेक पिछले काल में बने। प्राचीनतम वाद्य संभवतः बाँसुरी है, बर्बर मानव की खोजी बनाई हुई। मनुष्य वनों में घूमता बाँस के सूराखों का स्पर्श कर बहती वायु द्वारा प्रसारित मधुर नाद सुनता रहा और एक दिन उसका रहस्य पा उसने बाँसुरी प्रस्तुत कर दी। नगाड़ा भी इसी प्रकार का प्राचीन वाद्य है और संभवतः तुरही (तूर्य) भी; शंख और घंटा तो निश्चय। परंतु इनमें केवल एक बाँसुरी है जिसका ललित गायन से संपर्क है।

आज के अनेक उपलब्ध वाद्यों को हम आज की ही भाषा में चार भागों में बाँट सकते हैं—तत, बेतात, घन और सेखर। तत प्रकार के वाद्य पीतल, लोहे के

तार या रेशमी या सूती डोरे से बँधे होते हैं जिन्हें लकड़ी, हाथीदाँत या मिजराब से बजाते हैं, जैसे—वीणा, सरोद, तंबूरा आदि। वेतात भी तार ही वाले बाजे हैं पर उनमें तार के नीचे चमड़ा लगा होता है और उन्हें धनुष से बजाते हैं। सारंगी, तांस, दिलरुबा आदि इस वर्ग के हैं। घन ढोल के से बाजे हैं जैसे पखावज, तबला, नगाड़ा। सेखर मुँह से फूँककर बजाए जाते हैं, जैसे—बाँसुरी, नफीरी, शहनाई।

तारवाले (तंत्री) बाजे उँगलियों से बजाए जाते हैं। इनमें रुद्रवीणा बहुत प्राचीन है। इसका बजाना भी बड़ा कठिन है और इसपर अधिकार करने में जीवन लग जाता है। यह बड़ा मूल्यवान होता है। हाथीदाँत, सोना और चाँदी इसमें जड़े होते हैं। पर्याप्त पेंचीदा बाजा है। सरस्वती वीणा भी प्रायः इसी प्रकार की होती है। मूर्तियों में सरस्वती इसे ही धारण करती हैं। यह दक्षिण भारत में अधिक चलती है। दोनों का सख्य पखावज से है। सितार (सेह = तीन, तार) अमीर खुसरू का बनाया है। इसका साथी तबला है। एकतारा, जैसा नाम से प्रगट है, एक तार का होता है। अधिकतर मँगते साधु इसे बजाकर मधुकरी माँगते हैं। तंबूरा नारद का वाद्य कहा जाता है। इसमें चार तार होते हैं। यह साज का बाजा है।

धनुष के योग से बजाए जानेवाले वाद्य ये हैं—खमाँच लकड़ी का बना होता है और निचले भाग में तनिक चमड़ा लगा होता है। ऊपरी भाग सितार का सा और निचला सारंगी सा होता है। तौस की शक्ल बड़ी सुंदर होती है, मयूर की सी। उसी के रंग में यह रँगा भी होता है। दिलरुबा तौस ही है पर उसका सिर मोर का सा नहीं होता। सारंगी बड़ा मधुर वाद्य है, एक मुसलमान हकीम द्वारा निर्मित। इसके निचले भाग पर चमड़ा चढ़ा रहता है। दो दल तार नीचे ऊपर कसे रहते हैं। ऊपर के तारों को धनुष से बजाते हैं नीचे के तारों को उँगली से। सारिंदा सिक्ख गुरु अमरदास (अमृतसर के बसानेवाले) का निर्माण है, प्रायः अंडाकार लकड़ी का बना, नीचे से खोखला, ऊपर लकड़ी के टुकड़े पर कसे तार। दोतारा दो तारों का होता है, मारवाड़ में खूब चलता है। किसान बजाते हैं। कुछ कठिन तंत्री वाद्य रबाब और सरोद हैं। रबाब का निर्माण संभवतः सिकंदर जुलकरनैन ने किया। इसमें नीचे सात ऊपर चार तार होते हैं और यह तिकोनी लकड़ी से बजाया जाता है। सरोद भी रबाब की ही भाँति होता है पर उसकी गरदन हूक सी झुकी होती है। सरोद संभवतः स्वरोदय का अपभ्रंश है। खुसबीन दिल्ली के शाहजादा काले साहब की बनाई मानते हैं। यह सितार से बहुत मिलती है पर तार रबाब के से होते हैं। सामने लोहे की पत्तर चढ़ी होती है। सुरसिंगार भी एक प्रकार का रबाब ही है पर इसका निचला भाग चौड़ा और अंडाकार

होता है। इसे बजाना कठिन है। तरब को भूमि पर डालकर अर्धचंद्राकार लकड़ी से बजाते हैं।

नीचे लिखे बाजे मुँह से फूँककर बजाए जाते हैं। इनमें सबसे प्राचीन कृष्ण की मुरली का उल्लेख बाँसुरी (वंशी) के नाम से हो चुका है। हिंदी साहित्य इस मुरली के नाद से प्रतिध्वनित है। इसे डफ के साथ बजाते हैं। अल्गोजा बाँस और काली लकड़ी (आबनूस) का बनता है। नीचे कुछ अधिक चौड़ा होता है। इसमें सात छेद बराबर दूरी पर होते हैं। इसका जोड़ा भी होता है। नई का निर्माण उमर खैयाम ने किया। शक्ल इसकी बंदूक की नली सी होती है। शंख का उल्लेख हो चुका है। तूर्य (तुरही) को भी जो समूचा पीतल का होता है, डफ के साथ बजाया जाता है। सिंघा हिरन की सींग का होता है, मीर ताँबे का होता है। इसका स्वर बहुत तेज होता है, कर्णकटु। पुंगी (बीन, वेणु) सँपेरे बजाते हैं। सर्प बड़ी मस्ती से इसे सुनते हैं। मुर्चंग चारों का समूह होता है जिसे मुँह के नीचे रखकर अलग से ही बोलकर बजाते हैं। स्वर इसका मधुर होता है।

ढोल डफ आदि के भी अनेक भेद होते हैं। ये ताल के वाद्य हैं। पखावज के तालों की अनंत संख्या है। ताल निरंतर बदलते हुए इसे दिनों बजाया जा सकता है। अपने प्रकार के वाद्यों में यह सबसे कठिन है। ध्रुपद और होरी और नृत्य तथा वीणा के साथ इसे बजाते हैं। यह पीपे की शक्ल का लकड़ी का बना होता है, दोनों ओर चमड़ा चढ़ा होता है। चमड़े रस्सियों से खिंचे होते हैं। तबला वादन का आरंभ संभवतः सुधार खाँ धारी ने किया। यह बड़ा लोकप्रिय है। दो भागों में अलग अलग होता है, जमीन पर रखकर बजाते हैं। मजीरा दो धातु के कटोरे होते हैं जो रस्सी से जुड़े होते हैं और तबले के साथ बजाए जाते हैं, दोनों हाथों से परस्पर टकराकर। धूमस और चाँप रोशनचौकी में बजते हैं, मिट्टी के तबलों की तरह, पर सामने रस्सी के सहारे गले से लटकाकर। नक्कारा (नगाड़ा) नौबत में बजता है। दो होते हैं, एक छोटा दूसरा बड़ा जील और नर। ये लकड़ी से ठोक-कर बजाए जाते हैं। चमड़े मढ़े धातु के बने होते हैं। ढोलक पखावज की शक्ल का पर कुछ छोटा होता है। उसे जमीन पर रखकर या गले से लटकाकर बजाते हैं। मर्फा और ताशा दोनों हाथ की लकड़ियों से शादियों में बजाए जाते हैं। झाँझ में बजनेवाले धातु के अनेक छोटे छोटे तवे लगे होते हैं। डफ लकड़ी का होता है, चमड़ा मढ़ा चढ़ाया और बाँसुरी के साथ बजाया जाता है। डमरू बंदर नचानेवाले बजाते हैं। वह शिव का बाजा कहलाता है। खँजड़ी नगाड़े की शक्ल की छोटी सी होती है, दोनों हाथों से बजाई जाती है। डफरा खँजड़ी से बड़ा होता है, उसी शक्ल का। करताल दोनों हाथों के अलग अलग होते हैं जिनमें घंटियाँ होती हैं और भजन गाते समय बजाए जाते हैं। जलतरंग पानी भरे सोलह छोटे बड़े चीनी प्यालों से बनता है।

इन वाद्यों के अतिरिक्त कुछ वाद्य सदा एक साथ बजाए जाते हैं, यूरोपीय आर्केस्ट्रा की भाँति, अधिकतर संगीतरचना (कन्सर्ट) में। रोशनचौकी में चार बजानेवाले होते हैं। दो उन्स (वंशी की शक्ल के बाजे) बजानेवाले, तीसरा चाँप बजानेवाला चौथा जो हिला हिलाकर झुनझुना बजाता है। शहनाई का निर्माण हकीम बू अली सेनाई ने किया। यह भी उन्स की सी ही होती है। मंदिर आदि में कई आदमी मिलकर बजाते हैं। नौबत में नौ बजानेवाले होते हैं—दो शहनाई (बाँसुरीवाले, शहनाची), दो नक्कारची (नगाड़ेवाले) एक झाँझवाला, एक करनइची (करनईवाला), एक दमामावाला, एक बरीदार (नगाड़े गरम करने और हुक्का भरनेवाला) और एक जमादार (नेता या बैंड मास्टर)। नौबत राजद्वार पर तथा मंदिरों के गोपुरों पर बजा करती थी।

यह तो संक्षेप में वाद्यों का वर्णन किया गया है अन्यथा उनकी संख्या इनसे कहीं अधिक है। जन्म से लेकर मृत्यु तक बजनेवाले बाजों की गणना भला त्योहारप्रिय देश में हो कहाँ तक सकती है?

४. नृत्य

नृत्य सर्वत्र आदिमानव का बर्बर अवस्था से ही उल्लास का निदर्शक रहा है। परंतु इस अनियंत्रित उद्रेक को कला की सीमाओं में बाँधकर उसे विज्ञान का स्तर दिया गया है। इस देश में अत्यंत प्राचीन काल में ही नृत्य को कला का पद प्राप्त हो गया था। भरत के नाट्यशास्त्र में उसका विशद विवेचन है। उससे बहुत पहले के ऋग्वेद में नृत्य[1] के अनेक उल्लेख हुए हैं। समन[2] नाम के तत्कालीन मेले में तो तरुण तरुणियाँ दोनों मिलकर नाचते थे। गंधर्वों और अप्सराओं की, पेशे के रूप में नृत्यगीत का व्यवसाय करनेवालों की, एक विशिष्ट जाति ही बन गई थी। शुंगकालीन उत्खननों से उस काल के नृत्य पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है और मंदिरवास्तु के अलंकरणों में, विशेषकर खजुराहो के मंदिर के अलंकरणों से, तो नृत्य की भावभंगियों के अनेकानेक उदाहरण हैं।

कालिदास के काल तक तो भारतीय नृत्य अत्यंत विकसित स्थिति को प्राप्त हो चुका था। मालविकाग्निमित्र के पहले दूसरे अंकों में गीत और नृत्य के सिद्धांतों पर पर्याप्त विवेचन हुआ है। कालिदास के और अन्य प्राचीन ग्रंथों में नृत्य और अभिनय का अविच्छिन्न संबंध रहा है। मालविकाग्निमित्र में दोनों संगीताचार्यों के विज्ञानसंघर्ष में अपना निर्णय देती हुई परिव्राजिका

[1] अधिपेशांसि वपते नृतुरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। ऋ०, १, ९२, ४।
[2] वही, ६, ७५, ४; १०, ५५, ५, आदि। समनों में नृत्य सदा होते थे।

नृत्य और नाट्य का प्रयोग प्रधान[१] कहती है। उसमें नृत्य को पंचांगीय कहा गया है[२]। 'छलिक' अथवा 'चलित' नाम के एक अन्य प्रकार के नृत्य का भी उल्लेख कालिदास ने किया है[३]। यह चार पदों के गीत चतुष्पद पर आधारित था। टीकाकार काटयवेम ने छलिक को उस प्रकार का नृत्य कहा है जिसमें अन्य का अभिनय करता हुआ नर्तक अपने भावों को अभिव्यक्त करता है[४]। इस प्रकार का नृत्य बड़ा कठिन और जटिल माना गया है।

गान की ही भाँति नृत्यकला को भी पेशेवर गणिकाओं ने जीवित रखा है। मंदिरों में प्राचीन काल से नर्तकियों को नियुक्त करने की प्रथा थी। कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल के मंदिर की नर्तकियों का वर्णन किया है[५]। रघुवंश का अग्निवर्ण तो ऐसा 'कृती' था कि नाचती हुई नर्तकियों के दोष बताकर स्वयं उन्हें सही कर उनके गुरुओं को लजा देता था[६]। बाण की कादंबरी और हर्षचरित में पुत्रोत्सव में नाचनेवाली वेश्याओं का उल्लेख हुआ है[७]।

नृत्य साधारणतः इस देश में दो प्रकार का है, उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय। उत्तर भारतीय नृत्य अधिकतर कथक है, कथकोंवाला जिसका विकास मुसलमान दरबारों में विशेष लगन से हुआ। उसमें नाचनेवालों ने अद्भुत प्रतिभा दिखाई है। भावों की अभिव्यक्ति उसमें काफी होती है, छंद की तरलता भी अपूर्व है। उसके साथ गाने या ताल दोनों चलते हैं। पेशवाज नर्तक नर्तकी दोनों ही पहनते हैं। पेशवाज मुसलमानों की देन है पर शब्द पुराना है, ऋग्वैदिक[८]। ऋग्वेद में उषा के लिये कहा गया है कि वह नर्तकी सी अपने नग्न स्तनों को हिलाती हुई आती है[९]।

इस मार्ग अथवा शास्त्रीय (क्लासिकल) शैली के नृत्य के भी अनेक भेद हैं। अनेक प्रकार के अभिनय भी इसमें शामिल हैं। मोर, सँपेरे आदि के नाच तो अत्यंत

१ प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रं, पृ० १७।

२ पचांगादिकर्माभिनयमुपदिश्य, वही, पृ० १४।

३ वही, पृ० ४, ५, ६, २१, २४।

४ तद् प्रतच्चलितं नाम साक्षात् यत्र अभिनीयते। व्यपदिश्य परावृत्तं स्वाभिप्रायं प्रकाशकम्।—टीकाकार काटयवेम।

५ पू० मे०, ३५।

६ रघु०, १६, ४-५।

७ क्रमशः चंद्रापीड और हर्ष के जन्मावसर पर।

८ अधि पेशांसि वपते नृतुरिव—ऋ० १, ९२, ४।

९ अधि पेशांसि वपते नृतुरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। वही०।

लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं। कृष्ण, उद्धव आदि के गोपियों के प्रति आचरण भी अनेक प्रकार से इस नृत्य में व्यक्त किए जाते हैं। अनेक नर्तक तो इतने दक्ष हो गए थे कि वे बताशे बिछाकर उनपर नाचते थे और बताशे नहीं टूटते थे। एक अत्यंत लोकप्रिय नृत्य कलशों का है। कलश में पानी भरना और अनेक पानी भरे कलशों को एक पर एक सिर पर रखकर नाचना। दीपक सिर पर जलाकर नाचने की भी रीति है। नाचनेवालों के भी उत्तर भारत में कितने ही प्रसिद्ध घराने हैं।

दक्षिणी नर्तन भी कर्णाटकी गायन की ही भाँति उत्तर भारत के कथक नृत्य से भिन्न है। साधारणतः उसे भरतनाट्यम् कहते हैं। वह 'बैले' प्रकार का है। मूकतः भावप्रदर्शन उसका प्राण है। मुद्राओं में अंगों के अद्‌भुत संचालन से अनंत भाव व्यक्त किए जाते हैं। युद्ध, प्रणय, द्वेष आदि सभी प्रकार के भाव मूक अभिनय द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं। चेहरा लगाकर विविध कथाओं का उद्‌घाटन भी उस नृत्य की एक क्रिया है। उस नृत्य में बड़ी साधना की आवश्यकता होती है। उसका दूसरा रूप पद पर नाचना है। संभवतः यह कालिदास के 'चतुष्पद' (श्लोक पदों)—सा कुछ है। भरतनाट्यम् के अतिरिक्त दूसरा प्रधान नृत्य केरल का कथकली है जिसमें कथा का उद्‌घाटन होता है। रासलीला आदि का रूप उधर कोलाट के नृत्य में उभरा है। कथक, कथकली और भरतनाट्यम् तो मार्ग अथवा क्लासिकल शैली के उत्तरी दक्षिणी दो प्रधान भेद हैं। इन दोनों की अपने अपने स्थान भेद से स्थानीय शैलियाँ भी बन गई हैं। पर इन दोनों से कहीं ताजे लोक-नृत्य हैं। इनमें बड़ा रस और जीवन है। इनमें एक तो सर्वथा वन्य अथवा भारत के आदि निवासियों का है। कोल, भील, गोंड, संथाल, उराँव, मुंड, लंबाणे सभी सामूहिक रूप से नाचते हैं। जीवन इठला इठलाकर उनमें बहता है, गेंहू के खेत सी उनकी कतारें आगे पीछे लहराती हैं। इसी प्रकार का परंतु अब प्रायः रूढ्यभिनिविष्ट (क्लासिकल) रूप ले लेनेवाला मनीपुरी नृत्य भी है। फिर भी उसकी उल्लसित तरलता, भावों की सामूहिक अभिव्यक्ति, वेग और भयंकर, शांत तथा करुण का क्रमिक उद्‌घाटन असाधारण कला का प्रकाशन करती है। इधर कुछ सालों से यह नृत्य भी बड़ा लोकप्रिय हो गया है।

गुजरात का गृह सामूहिक नृत्य गरबा भी, जिसमें लड़कियाँ बजा बजाकर नाचती हैं, बड़ा आकर्षक होता है। उनके छींट के वसन छंद के प्रवाह में गिरती उठती लय के साथ अद्‌भुत चित्रछटा छिटका देते हैं। रासलीला, कृष्णलीला से प्रभावित यह गरबा नृत्य है, जैसे मथुरा के ग्रामनृत्य हैं।

उत्तर के गाँवों में एक परंपरा कहरवा नाच की है। कहरवा व्यापक नाम है। इसमें अहीरों, कहारों, धोबियों आदि सभी के नाच आते हैं। इनमें परस्पर थोड़ा बहुत भेद होता है परंतु रूप प्रायः समान होता है। कहरवा बड़ा लोकप्रिय नृत्य

है। जीवन उसमें उछला पड़ता है। साथ ही उस प्रकार के नृत्य में जहाँ तहाँ अभिनय का भी पुट होता है। लोकनृत्यों का छंद अप्रतिबद्ध होता है, उनमें मार्ग के प्रतिबंध नहीं रहते जिससे गति का प्रवाह स्वच्छंद होता है। वह भावप्रधान नहीं गतिप्रधान है।

भारत में नृत्य कला का बड़ा ह्रास हो गया था। यह कला धीरे धीरे इस देश से लुप्त होती जा रही थी। पर इधर कुछ काल से इस दिशा में कुछ लोगों ने बड़े सत्प्रयत्न किए हैं, उस कला के प्रति जनता में अनुराग पैदा किया है। इनमें पहला नाम उदयशंकर का है। उदयशंकर ने उत्तर के नृत्यों को उनकी शास्त्रीय जकड़ से निकालकर उन्हें नया जीवन प्रदान किया है और उनके ऐसे अन्य सुंदर नर्तकों के दल ने इस देश में और विदेशों में भारतीय नृत्य के लिये बड़ा चाव और आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। उन्होंने स्वयं उन नृत्यों को साधा है और उनमें उचित परिवर्तन कर उन्हें जनप्रिय बनाया है। उनके इस नए प्रयोग में दक्षिण-पूरब आदि की नागरिक, ग्राम्य, आदिवासी सभी शैलियों का योग मिला है जिससे वे विशेष रोचक हुए हैं। इसी प्रकार दाक्षिणात्य नृत्य शैलियों के पुनरुद्धार में रुक्मिणी अरंडेल ने बड़ा प्रयास किया है। तंजौर और तिन्नेवेली दक्षिणी शैलियों के प्रधान केंद्र थे। उनका पृथक् पृथक् और एक साथ संमिलित रूप से भी पुनरुद्धार हुआ है। देश में उत्तर दक्षिण और मिश्रित शैलियों का फिर से प्रचलन हुआ है और लोगों में उनके प्रति संपर्क और निष्ठा हो चली है। इधर के सालों में नृत्य के देशव्यापी आयोजन हुए हैं और सर्वत्र सफल। वस्तुतः उस सफलता को देखकर विश्वास होता है कि भारत शीघ्र अपनी खोई हुई विभूति को नए सिरे से पा लेगा। अवनींद्रनाथ ठाकुर के चित्रण क्षेत्र में आंदोलन की भाँति नृत्य की राष्ट्रीय चेतना मात्र आवश्यक है, प्राचीन का अनावश्यक पुनरावर्तन नहीं। उसकी शक्ति और सौरभ लेकर उस परंपरा की ठोस भूमि पर नित्य नए प्रयोग की आवश्यकता है। तभी उसे तांडव की शक्ति भी मिलेगी।

६. संगीत (गान) की शैलियाँ

भारतीय संगीत (गान) की दो शैलियाँ हैं। उत्तर भारतीय अथवा हिंदुस्तानी और दक्षिण भारतीय अथवा कर्नाटकी। दोनों में आधारभूत भिन्नता नहीं है। वस्तुतः दोनों के मूल सिद्धांत समान हैं, दोनों का निर्माण एक ही पद्धति से हुआ है। अंतर इतना है कि उत्तर में बाहर से आनेवाली शक्तियों ने अपने योग से संगीत के रूप और अलंकरण में कुछ परिवर्तन कर दिए, दक्षिण ज्यों का त्यों बना रहा। पर उत्तर की नई पद्धति ने मैसूर आदि के कुछ भागों को छोड़कर प्रायः सारे भारत को घेर लिया। बंबई तक उसी का प्रभाव बना रहा। यह अंतर ठाट का था। मुसलमानों के आगमन से उनके दरबारों में जो भारतीय और फारसी

अरबी संगीत का संगम हुआ तो अनेक नए राग बन गए और हिंदुस्तानी संगीत का नया रूप निखरा। उत्तर में शुद्ध बिलावल ठाट (मेल) ने, जिसमें बीस राग से कुछ ऊपर ही थे, प्राचीन ठाट का स्थान ले लिया, दक्षिण ज्यों का त्यों बना रहा।

समूचे भारतीय संगीत के दो प्रकार हैं—मार्गशास्त्रीय (क्लासिकल) और देशी (लोकगीत)। मार्ग नाद का विज्ञान है, स्वर और उच्चारण की शुद्धता का विशेष कायल है, देशी अथवा लोकगायन शब्द और अर्थ को महत्ता देता है। जिस प्रकार पक्षी का गाना सुनकर कोई उसका अर्थ नहीं पूछता, उसके कलरव मात्र से अघा जाता है, उसी प्रकार नाद का छंद और सधे स्वर की ध्वनित लय मात्र मार्ग अथवा शास्त्रीय संगीत का इष्ट है। स्वरों की लहरी, उनका विस्तार और संकोच, आरोहण अवरोहण, हृदय और कान को भरने के लिये पर्याप्त हैं। जैसे आधुनिक चित्रकारों का एक वर्ग विषय और अभिप्राय का अंकन इष्ट न मानकर केवल वर्ण और रेखाओं की रति उत्पन्न कर संतुष्ट हो जाता है उसी प्रकार बहते नाद की तरंगायित ध्वनि को ही मार्गवादी साधना की परिणति मानता और उसमें रति लेता है। देशी अथवा लोकगायन शब्दप्रधान है। उसके शब्द सुने और समझे जाते हैं, शब्दभंग से अर्थ नष्ट नहीं होता, अर्थधारणा उसमें होती है। दोनों के समवेत गायन के लिये स्थान है और दोनों में आधारभिन्नता नहीं है वरना उनमें आदान प्रदान नहीं होता। अनेक बार मार्ग को देशी ने नरम कर दिया है, अनेक बार देशी को मार्ग ने दरबारी बना दिया है, जैसे ऊँट हाँकनेवालों के राग टप्पा को शास्त्रीय दरबारीपन मिल गया। दरबारी (हिंदुस्तानी) संगीत ने उत्तर में दोनों की संधि प्रस्तुत की है। जहाँ उसने मार्ग को नए खयाल, ठुमरी, दादरा, चैती, सावनी आदि का रूप देकर नरम किया है वैसे ही देशी (टप्पा आदि) को स्वरादि की साधना और परिमाण देकर मार्ग की ओर खींचा है। इससे देशी का मान बढ़ा है और मार्ग को माधुर्य और ताजगी मिली है। वह जन और जीवन के संपर्क में आया है।

समूचे मुसलिम युग में मार्ग और देशी शैलियों में आदान प्रदान चलता रहा, प्राचीनतावादियों का विरोध दरबारी को प्राचीन पद्धति का रूपवर्ती कर जीत लिया गया। दरबारी गायन और मार्ग (शास्त्रीय) परस्पर पर्याय बन गए। यदि नए तान और राग प्रस्तुत हुए तो उनका संस्कृत ध्वनिपरक नाम रख दिया अथवा उसके निर्माता मुसलिम का नाम विशेषण के रूप में जोड़ दिया गया। उस काल के संस्कृत के संगीत ग्रंथों ने नई पद्धति स्वीकार कर ली। अब वह दरबारी परंपरा स्वयं इतनी शास्त्रसंमत, इतनी रूढ़ हो गई है कि गायक का उस दिशा में स्खलन हिंदू मुसलिम दोनों उस्तादों के तेवर बदल देता है। दोनों समान निष्ठा से उसकी रक्षा करते हैं। वस्तुतः उस क्षेत्र में धर्म की भिन्नता भी अंतर न डाल

सकी और आज तक निरंतर हिंदू मुसलमान के शिष्य होते आए हैं और मुसलमान हिंदू के और दोनों अपने गुरु का देववत् मान करते हैं।

भजन और कीर्तन देशी शैली के विशिष्ट अंग हैं। कीर्तन बंगाल में विशेष प्रचलित हुआ। पदावलियाँ काव्यसौंदर्य की धनी हैं। राधा कृष्ण के प्रेम को उन्होंने अद्‌भुत रस के साथ मुखरित किया है। भजन अधिकतर कबीर, मीरा, सूर और तुलसी के हैं। कव्वाली, मरसिया, सोज, नट आदि मुसलमानों के कीर्तन और भजन हैं। वस्तुतः दोनों में सिवा कुछ फारसी अरबी के शब्दों को छोड़ भाषा के रूप में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार दक्षिण में भी देशी की मर्यादा बढ़ी। त्यागराज के गीत बड़े मधुर हैं। वे दक्षिण के कीर्तन हैं। परंतु वे कीर्तन बंगाल के कीर्तन से भिन्न और उत्तर के ध्रुपद के निकट हैं। मद्रास में भी इस प्रकार धार्मिक देशी शैली है।

इधर देशी को संस्कृत कर स्वर आदि बाँधने के जो प्रयत्न हुए हैं, फिल्मी गाने उन्हीं के एक रूप हैं। उस गाने में स्वर से अधिक शब्द और अर्थ का महत्व है। अर्थग्राह्य होने के कारण ही वह विशेष लोकप्रिय हुआ, मारक रूप में भी, जिससे शास्त्रीय गायन के प्रति लोगों की उदासीनता भी हुई। इधर आकाशवाणी ने जो उसका यह मारक रूप देखा तो सर्वथा विपरीत दिशा की ओर प्रयत्न करते हुए उसने फिल्मी गानों को प्रसारित करना बंद कर दिया। इससे लय और शब्दगत माधुर्य, जो फिल्मी गानों के प्राण थे और जो अनेक प्रकार से विदेशी 'जाज' से प्रभावित थे, उनके नष्ट हो जाने का भी भय हुआ। परंतु शीघ्र ही आकाशवाणी ने इस तथ्य को समझा और साहित्यकार कवियों को उस दिशा में प्रयत्न करने की सुविधाएँ दीं जिससे उस नए माधुर्य का सर्वथा लोप न हो जाय। फिल्मी गाने घिनौने राग के परिचायक हैं पर साथ ही जैसे कभी मुसलमानी तरानों ने शास्त्रीय मार्ग की एकांत शास्त्रीयता दबाकर उसमें अपना योग देकर उसे मधुर किया था, वैसे ही फिल्मी गाने भी यूरोपीय और भारतीय रागों की संधि प्रस्तुत करते हैं। उनका घिनौनापन त्यागकर माधुर्य बचा लेना चाहिए।

७. संगीत और साहित्य

संगीत और साहित्य में घना संबंध है। साहित्य संगीत को वाणी देता है। संगीत उसे अपनी लय पर तरंगित कर दिगंत को भर देता है। साहित्य शब्द और चिंतनप्रधान है, संगीत स्वर और नादप्रधान। साहित्य को संगीत मुखरित करता है परंतु संगीत की समीचित विवेकाविवेक की भूमि साहित्य प्रस्तुत करता है, उसे शास्त्रीय व्याकरण और विधान प्रदान करता है। संगीत का प्राण उसका नाद है, परंतु साहित्य उसका कलेवर है। नाद वाणी की रूपरेखा में, उसकी मधुर सीमाओं में बँधता है, वाणी साहित्य का विलास है।

ध्वनि मात्र को संगीत नहीं कहते। श्रवण उसका माध्यम होता हुआ भी उसके परिचयात्मक अवयव साहित्यप्रदत्त हैं; प्रायः चाक्षु वा भजन कीर्तन, मार्ग देशी, दरबारी, ग्राम, ध्रुपदीय फिल्मी, धार्मिक कामुक, उत्तरी कर्नाटकी सब प्रकार के गीतों को साहित्य ने शब्द और वाणी की काया दी है। ललित पदावलियाँ उनकी शब्दभूमि हैं। भक्ति और तसव्वुफ ने भारत की संस्कृति में मध्यकाल में एक क्रांति उपस्थित कर दी थी। उस काल के सामाजिक समन्वयद्रष्टा ऋषियों के पद से भक्ति और तसव्वुफ के आंदोलन मुखरित हुए। कबीर और रैदास, भिखारी और दादू, मीरा और सूर, तुलसी और सिक्ख गुरु सभी ने अपनी अपनी रीति से समाज, रहस्य और अनुचित के प्रतिकार के उपाय को देखा, वाणी में ध्वनित किया और संगीत उसे अपने पंख पर दिगंत को ले उड़ा। चैतन्य और चंडीदास उतने ही ध्वनिसंपन्न पदकार थे जितने जयदेव और विद्यापति। कालिदास ने विक्रमोर्वशी के चौथे अंक में अपभ्रंश के गीत लिखकर उनके गाने के राग भी सुझा दिए। जयदेव ने गीतगोविंद के प्रत्येक गीत पर राग को सूचित कर दिया। विद्यापति ने बारहमासे गाए, खुसरू ने खयाल, रहीम खानखाना ने बरवै। तीनों साहित्य के प्रबल स्तंभ थे। मीरा, सूर और तुलसी के पद गाने के ही लिये थे। अनेक साहित्यकार और कवि स्वयं गीतकार भी थे, गायक भी। खुसरू, मीरा, तानसेन, हुसेनशाह शर्की, रूपमती और बाजबहादुर इसी परंपरा के थे। और जैसे उत्तर में हुआ वैसे ही दक्षिण में। विशेषकर वैष्णव भक्तों ने तो अपने पदों के संगीत से दक्षिण का वायुमंडल भर दिया। अलवारों ने दक्षिण में वही किया जो उत्तर में भक्त पदकारों ने किया। साहित्य और संगीत एक प्राण दो काया हुए।

हाँ साज के वादन में, वाद्य संगीत और आर्केस्ट्रा[1] में निःसंदेह साहित्य की वाणी का उपयोग शब्दतः नहीं हुआ। वाक्यों के समन्वित लय में स्वरों का ही संमेलन है, यद्यपि साहित्य की मूक शक्ति एक मात्रा में वहाँ भी मुखरित है क्योंकि तालों की व्यवस्था शब्दमय ही है। साहित्य इस प्रकार संगीत का न केवल समवर्ती है वरन् वाणी के रूप में उसका सर्जक भी।

[1] भाल०, पृ० २२।

पंचम अध्याय

रंगमंच

भारतीय रंगमंच अपने साहित्यिक कलेवर में समृद्ध है। जिस संस्कृत से हिंदी और प्रांतीय भाषाओं के नाटक और रंग का जन्म हुआ है उसका भंडार अनेक प्रकार से भरापुरा है। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं की वह रंगपरंपरा समझने के लिये उसकी पूर्वपीठिका स्वरूप अभिनय और नाटक के आनुक्रमिक विकास पर एक दृष्टि डालना आवश्यक होगा।

१. रूपक और अभिनय

कालिदास ने नाटक को 'शांत चाक्षुष यज्ञ' (शान्तं क्रतु चाक्षुषं)[१] कहा है। इस प्रयोगप्रधान (प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रं)[२] कला में भारत कब से प्रवीण रहा है यह कहना तो निश्चय कठिन है पर इसे भी स्वीकार करना प्रायः प्रकृत है कि वह सहस्राब्दियों से प्राचीन है। भरत के नाट्यशास्त्र में नाटक के आरंभ का परंपरागत दृष्टिकोण इस प्रकार दिया है :

> जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेवच।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥[३]

'ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने पाँचवें नाट्यवेद की रचना की।' नाट्यशास्त्र के पहले अध्याय में इस परंपरा से संबंधित कथा इस प्रकार दी हुई है। मानवों को दुखी देखकर इंद्रादि देवताओं ने ब्रह्मा से चारो वेदों से भिन्न किसी ऐसे वेद का निर्माण करने की प्रार्थना की जिससे संहिताओं के साधारण अनधिकारी स्त्री, शूद्रादिकों का मनोरंजन हो। परिणामस्वरूप इस पंचम वेद की रचना कर ब्रह्मा ने उसके प्रयोग का कार्य पुत्रों सहित भरत मुनि को सौंपा। पहले यह प्रयोग 'भारती', 'सरस्वती' और 'आरभटी' वृत्ति में आरंभ हुआ, फिर ब्रह्मा ने भरत मुनि से 'कैशिकी' वृत्ति का प्रयोग करने को कहा। परंतु चूँकि उसके लिये स्त्री पात्रों का होना अनिवार्य था इससे ब्रह्मा ने

[१] माल०, १, ४।
[२] वही, पृ० १७।
[३] वही, पृ० १७।

मंजुकेशी, सुकेशी आदि अप्सराओं को सिरज नारदादि गंधर्वों के साथ भरत मुनि को सौंपा। मुनि ने नाटक का पहला प्रयोग इंद्र के ध्वजोत्सव में किया। इंद्र की आज्ञा से विश्वकर्मा ने नाट्यगृह (रंगमंच) बनाया। फिर तो एक के बाद एक अनेक नाटक खेले गए। 'अमृतमंथन' (समवकार), त्रिपुरदाह (डिम) उनमें विशिष्ट थे। कालिदास ने भी उस परंपरा को भरत मुनि और उनके 'अष्टाश्रय' तथा 'ललिताभिनय'[1] के प्रसंगों का उल्लेख कर ध्वनित किया है :

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥[2]

स्वयं भरत के नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तृतीय शती विक्रमी से पीछे नहीं रखा जा सकता। पाँचवीं शती के कालिदास ने उसका उल्लेख इस श्रद्धा से किया है कि उसकी प्राचीनता प्रमाणित हो जाती है। कुछ आश्चर्य नहीं कि यह शास्त्र तीसरी शती से भी अधिक प्राचीन हो क्योंकि साहित्यिक परंपरा यह भी है कि भरत का शास्त्र उनके सूत्रों पर अवलंबित है और सूत्र निश्चय प्राचीनतर थे। कालिदास ने अपने पहले के नाट्यकारों में महान् भास, सौमिल्ल और कविपुत्र का उल्लेख किया है,[3] पर निश्चय उनकी शक्ति मानते हुए भी महाकवि ने विशेष आदर और महिमा भरत को 'मुनि' कहकर दिया है। प्रकट है कि कालिदास भरत को इन नाट्यकारों से पूर्व का मानते हैं। इनमें सौमिल्ल और कविपुत्र का काल तो जाना हुआ नहीं है पर भास का समय संदिग्ध होकर भी साधारणतः तीसरी शती विक्रमी माना जाता है, वैसे वह काल भरत मुनि के काल की भाँति ही अनेक लोग वि० पू० तीसरी शती तक मानते हैं। कुछ असंभव नहीं जो भरत के नाट्यशास्त्र के कम से कम कुछ अंश अश्वघोष और भास से प्राचीन हों। उस स्थिति में उन्हें हमें पहली शती वि० से पूर्व ही रखना होगा। फिर स्वयं भास और अश्वघोष की रचनाएँ शैली और सौंदर्य में इतनी प्रौढ़ और निखरी हुई हैं कि उनको संस्कृत साहित्य की प्रारंभिक नाट्य कृतियाँ किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। इससे उनका विकासकाल भारतीय नाटक के प्रारंभ का समय और पूर्व फेंक देगा। साथ ही नाट्यशास्त्र स्वयं प्रस्तुत कृतियों को सामने रखकर ही रचा गया होगा। सिद्धांत (आलोचना आदि सभी)

[1] वही पृ० ६-१०।
[2] विक्रमो०, २, १७।
[3] *प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां*, माल०, पृ० २।

सदा प्रयोग के बाद आविष्कृत होता है। उस दशा में निःसंदेह नाट्यकृतियों की नाट्यशास्त्र से पूर्वस्थिति माननी होगी और प्राचीन साहित्य में इस ओर पर्याप्त संकेत विद्यमान है।

वि० पू० पाँचवीं शती के वैयाकरण पाणिनि ने अपने 'अष्टाध्यायी' में शिलाली और कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है।[1] कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में 'कुशीलव' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ अभिनेता होता है। इस शब्द का प्रयोग मनु[2] ने भी अपनी स्मृति में किया है, अभिनेता के ही अर्थ में, जिससे नट, नर्तक आदि का भी अर्थ लगाया जा सकता है। मनुस्मृति का रचनाकाल शुंग युग (वि० पू० दूसरी शती) माना जाता है जिससे वह कृति और पतंजलि का 'महाभाष्य' पुष्यमित्र शुंग के समकालीन ठहरते हैं। इस महाभाष्य में दो नाटकों—कंसवध और बलिबंध—का उल्लेख हुआ है। साथ ही भाष्यकार ने तीन प्रकार के अभिनेताओं और उनके वर्णलेखन का उल्लेख किया है। रामायण और महाभारत के स्पष्ट संकेत भी उस दिशा में हुए हैं। रामायण ने तो 'नाटक' शब्द का ही प्रयोग किया है और महाभारत[3] काष्ठमयी नारी पात्र का उल्लेख करता है। हरिवंश में तो कृष्ण के वंशधरों द्वारा नाटक खेले जाने का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

यह प्रसंग हमें भारतीय (संस्कृत) नाटक के मूल के संबंध में भी विचार करने को बाध्य करता है, विशेषकर इस कारण कि देशी विदेशी विद्वानों में उस दिशा में पर्याप्त चर्चा हुई है। कुछ लोगों ने नाटक का आरंभ विष्णुपूजा के आधार से माना है, कुछ ने पुतलियों के नाच से। कुछ उसका मूल वेदों में पाते हैं, कुछ सर्वथा ग्रीक रंगव्यवस्था में। ऐसे भी पंडित हैं जो नाटक का आरंभ मृत पूर्वजों की पूजा और छाया नाटकों से संबंधित मानते हैं। ये सारे दृष्टिकोण समान महत्व के नहीं हैं। सही है कि छाया नाटकों का प्रभाव असाधारण रहा है और भारत से चीन तक, तिब्बत से इंडोनेशिया तक वह प्रचलित रहा है, अनेकांश में आज भी है। पर प्रकट है कि उसे नाटक का आरंभ नहीं माना जा सकता क्योंकि वह स्वयं एक प्रकार का नाटक है और उसे मूल मानने पर फिर उसके मूल की भी खोज करनी होगी। इनमें और दृष्टिकोण तो गौण हैं एवं उनका संकेत वस्तुतः नाटकीय परंपरा के विकास में उनका सहायक होने की ओर है, नाटक का मूल होने की ओर कदापि नहीं; विचारणीय दृष्टिकोण केवल दो हैं—यूनानी रंगव्यवस्था और पुतलियों का नाच।

[1] ४, ३, ११०।
[2] ८, ३६७।
[3] ३, ३०, २३।

यूनानी संस्कृति का ज्योतिष, मूर्तिकला आदि की दिशा में भारतीय संस्कृति पर निःसंदेह प्रभाव पड़ा है। यह संभव है कि इस देश में अपने नगर बसाकर और भारतीय नगरों में अपने मुहल्ले कायम कर जब अपने श्रेष्ठ नाटकों को विकसित रंगमंच पर यूनानियों ने खेला हो तो उसका प्रभाव अपने रंगमंच पर भी पड़ा हो। कहाँ और किस मात्रा में पड़ा है, यह विचारणीय और अनुसंधान का विषय है। 'जवनिका' (पर्दे) को 'यवनिका' पढ़कर कुछ विद्वान् इसमें यूनानी प्रभाव ढूँढ़ते थे। परंतु यह शब्द संस्कृत का 'जवनिका' है। यूनानी नाटकों में तो पर्दा होता ही नहीं था।

अधिक संभव यही जान पड़ता है कि भारतीय नाटक का प्रारंभ पुतलियों के नाच से हुआ। साधारणतः विद्वानों का मत है कि इस नाच का प्रारंभ अति प्राचीन काल में भारतवर्ष में ही हुआ। उसमें सूत से नचानेवाले का नाम भी नाटकों के सूत्रधार की ही भाँति 'सूत्रधार' था। उसका सहकारी भी नाटक के स्थापक की भाँति 'स्थापक' ही कहलाता था। पुत्तलिकाओं के अनेक वर्णन साहित्य में आए हैं। राजशेखर ने सीता का नाट्य करती बोलती पुत्तलिका का वर्णन किया है। इतना फिर भी है कि केवल इसी आधार पर नाटक का आरंभ मानना उचित नहीं होगा। इससे इतना निश्चय सिद्ध हो जाता है कि नाटक के प्रायः सभी प्रारंभिक साधन पुतली के नाच ने प्रस्तुत कर दिए थे। उसे ऋग्वेद के संवादात्मक अनेक स्थलों से विशेष सहायता मिली होगी। यम यमी, सुरमा पणियों, पुरूरवा उर्वशी, शची वृषाकपि, आदि के अनेक स्थल उस वेद में हैं जो प्रौढ़ 'डायलाग' का कार्य कर सकते थे। साथ ही इन्हें अनेक प्रकार की लीलाओं, विष्णुपूजन आदि से भी सहायता मिली होगी। रंगमंच खड़ा हो गया।

२. रूपक

संस्कृत में नाटक को भी काव्य का ही अंग माना गया है। काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। श्रव्य काव्य केवल कर्णसुखद होता है, दृश्य काव्य नाटक है जिससे कानों और नेत्रों दोनों को सुख होता है। इसी से उसकी विशिष्टता भी घोषित की गई है :

काव्येषु नाटकं रम्यम्।

संगीत नृत्य, गायन और वादन तीनों के समाहार का नाम है। पर संगीत के साथ अभिनय का संबंध कर नाटक अथवा दृश्य काव्य ने दर्शकों को मुग्ध कर लिया। इसकी सर्वग्राहिता को ही लक्ष्य कर भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं, शिल्प नहीं, विद्या, कला नहीं, योग और कर्म नहीं जो नाटक में न हो :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्यो यस्मिन्न दृश्यते॥[1]

संस्कृत में नाटक का शास्त्रीय नाम 'रूपक' है, नाटक तो रूपक के ही एक भेद का नाम है। साधारणतः उसके दो प्रधान भेद हैं, मुख्य (रूपक) और गौण (उपरूपक), और इनके भी शास्त्रकारों के अनुसार भिन्न भिन्न उपभेद हैं। अपने 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद गिनाए हैं, जो इस प्रकार हैं :

१. रूपक के भेद

रूपक—(१) नाटक (जैसे कालिदास का अभिज्ञानशाकुंतल), (२) प्रकरण (भवभूति का मालतीमाधव), (३) भाण (वत्सराज का कर्पूरचरित), (४) व्यायोग (भास का मध्यमव्यायोग), (५) समवकार (वत्सराज का समुद्रमथन), (६) डिम (वत्सराज का त्रिपुरदाह), (७) ईहामृग (वत्सराज का रुक्मिणीहरण), (८) अंक अथवा उत्सृष्टिकाग्र (शर्मिष्ठाययाति), (९) वीथी (भाविका) और (१०) प्रहसन (महेंद्रविक्रमवर्मन् का मत्तविलास)।

उपरूपक—(१) नाटिका (हर्ष की रत्नावली), (२) त्रोटक (कालिदास की विक्रमोर्वशी), (३) गोष्ठी (रैवतमदनिका), (४) सट्टक (राजशेखर की कर्पूरमंजरी), (५) नाट्यरासक (विलासवती), (६) प्रस्थान (शृंगारतिलक), (७) उल्लाप्य (देवीमहादेव), (८) काव्य (यादवोदय), (९) प्रेंखण (बालिवध), (१०) रासक (मेनकाहित), (११) संलापक (मायाकापालिक), (१२) श्रीगदित (क्रीडारसातल), (१३) शिल्पक (कनकावती माधव), (१४) विलासिका (उदाहरण अनुपलब्ध), (१५) दुर्मल्लिका (बिंदुमती), (१६) प्रकरणिका (उदाहरण अनुपलब्ध), (१७) हल्लीश (केलिरैवतक) और (१८) भाणिका (कामदत्ता)। (जिन कृतियों के रचयिताओं के नाम कोष्ठकों में दिए हुए हैं, वे प्रकाशित और उपलब्ध हैं, जिनके नाट्यकारों के नाम नहीं दिए, वे कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं। जिन उपरूपकों के उदाहरण नहीं दिए गए हैं उनके उदाहरण विश्वनाथ ने भी नहीं दिए हैं।)

विक्रम की पहली और चौदहवीं शती के बीच अनेक समर्थ नाट्यकारों ने संस्कृत में नाटक लिखे; जैसे अश्वघोष ने सारिपुत्रप्रकरण, भास ने स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगंधरायण आदि, शूद्रक ने मृच्छकटिक, कालिदास ने अभिज्ञानशाकुंतल,

[1] १, ११६।

विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस तथा देवीचंद्रगुप्तम्, हर्ष ने रत्नावली, नागानंद और प्रियदर्शिका, महेंद्रविक्रमवर्मा ने मत्तविलास, भवभूति ने महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव, भट्टनारायण ने वेणीसंहार, मुरारी ने अनर्घराघव, राजशेखर ने बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमंजरी और विद्धशालभंजिका, क्षेमीश्वर ने चंडकौशिक, दामोदर मिश्र ने हनुमन्नाटक, और कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचंद्रोदय।

संस्कृत नाटकों की यह तालिका प्रमाणतः यहीं समाप्त नहीं होती। पिछले युगों में भी संस्कृत में नाटक लिखे जाते रहे जो आज भी उपलब्ध हैं।

४. हिंदी नाटक और रंगमंच

इस बीच हिंदी का उदय पर्याप्त पहले ही हो गया था, उसमें काव्य की परंपरा भी बन चली थी। परंतु नाटक का प्रणयन हिंदी में बहुत पीछे आरंभ हुआ। लीलाएँ तो गावों और नगरों में सदा से लगती आई थीं परंतु उनका रंगमंच से कोई संबंध न था। वस्तुतः रंगमंच तो संस्कृत का भी स्टेज (मंच) की दृष्टि से कुछ विशेष न था और नाटक मंदिरों के मंडप और राजाओं की संगीतशालाओं में खेले जाते थे। संभवतः केरल के खेलनेवालों ने अपना रंगमंच कुछ उन्नत किया था। संस्कृत में फिर भी कम से कम नाटकों की कमी न थी, और जैसा दिखाया जा चुका है, एक से एक सुंदर नाटक ही नहीं लिखे गए और यदि लिखे भी गए तो ऐसे नगण्य जो स्वाभाविक निधन को प्राप्त हुए।

बंबई में युरोपीय और सावधि अर्थ में पहला भारतीय रंगमंच खड़ा हुआ। पहले तो वहाँ और सूरत आदि के पश्चिमी तट पर आनेवाले युरोपीय व्यापारियों ने अनियमित रूप से अपने नाटक खेले और अँगरेजों का स्वत्व यहाँ स्थापित हो जाने के बाद बंबई पर कला आदि की भाँति यूरोप का स्थायी प्रभाव पड़ा और रंगमंच स्थापित हुआ। पारसियों ने उसमें विशेष भाग लिया और अधकचरे युरोपीय रूप में बिल्वमंगल आदि के से नाटक खेलने शुरू किए। यह मथुरा आदि की रासलीला से निश्चय अच्छे थे परंतु सिवा चीख पुकार के अभिनय जैसी कोई चीज उनमें न थी।

उन्नीसवीं शती में हिंदी का पहला खेलने योग्य नाटक 'भारतदुर्दशा' भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लिखा। साहित्यिक स्तर तो उसका बहुत ऊँचा नहीं है पर खेले जाने लायक वह नाटक सुंदर है। विषय की दृष्टि से तो निःसंदेह उस काल वह बड़ी प्रगतिशील कृति थी। उसके बाद भी यदि उसकी परंपरा बढ़ाई जाती तो हिंदी नाटक और रंगमंच का विकास अनायास हो जाता। अभिनय, अभिनेता के अर्थ में, संस्कृत में भी संभवतः दुर्बल पक्ष था। इस काल अभिनय कैसा होता था इसका

पता तो विशेष नहीं है और इसे व्यक्त करना अभीष्ट भी यहाँ नहीं परंतु स्थायी रंगमंच के अभाव में महान् अभिनेताओं के नाम हम तक नहीं पहुँच सके। महान् अभिनेता का स्थायी रंगमंच से बड़ा संबंध है। यूरोप के प्रधान स्थायी रंगमंचों से संबंधित अनेक प्रसिद्ध अभिनेताओं के नाम मध्य युग से ही जाने हुए हैं पर यहाँ अभिनय महत्व का होने के बावजूद हम उनके नाम न जान सके क्योंकि स्थायी महत्वपूर्ण रंगमंच का प्रश्रय उन्हें नहीं मिला। वस्तुतः रंगमंच तो हमारा अब तक कोई न रहा। इधर दो एक सालों से ही पहली बार राष्ट्रीय रंगमंच की चर्चा होने लगी है और उस दिशा में कुछ सरकारी, गैर सरकारी प्रयत्न हुए हैं।

भारतेंदु के पश्चात् बँगला के नाटकों का हिंदी जगत् पर आक्रमण हुआ। सीधा संस्कृत से भी संबंध उसका न हो सका। द्विजेंद्रलाल राय की कृतियाँ अनूदित होकर आईं। विशेष लगन के साथ जयशंकरप्रसाद के ऐतिहासिक नाटक आए। उनसे पहले भी इक्के दुक्के प्रयत्न हिंदी में नाटक लिखने के हुए थे परंतु विशेष प्रयत्नशील इस दिशा में वे ही हुए। उन्होंने अनेक गुप्तकालीन नाटक लिखे परंतु जैसा ऐसी स्थिति में भय हुआ करता है, प्राचीन को गौरवान्वित करने के अतिरिक्त इन नाटकों का प्रयास रंगमंच को बनाने या उसको उन्नत करने का न हुआ। परिणाम यह हुआ कि ये नाटक रंगमंच के सर्वथा अयोग्य हो गए, खेले न जा सके। खेले जाने की विशेषता उनमें नहीं, जो नाटक का पहला उद्देश्य होना चाहिए और जिससे उसका गुणदोष आँका जाना चाहिए। वे साहित्यिक नाटक हैं, पाठ्य (श्रव्य) नाटक और यदि कालेजों में पढ़ाए न जायँ तो केवल उपन्यासादि का उनका रूप हो जाय, केवल पढ़े जाने का। खेले जाने की दृष्टि से अच्छे नाटक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने लिखे। रामकुमार वर्मा और उपेंद्रनाथ अश्क के एकांकी रंगमंच के लिये अधिक संगत हुए।

अभी रंगमंच सँभला ही नहीं था, नाटकों की सही परिपाटी भी प्रस्तुत न हुई थी कि सिनेमा ने उसपर छापा मार अधिकार कर लिया। सिनेमा ने संसार भर के रंगमंच पर अपना विकृत प्रभाव डाला था परंतु और देशों ने अपने नाटकीय साहित्य की सजीवता, अभिनय की प्रवीणता आदि से अपने रंगमंच की रक्षा कर ली पर हमारा उठता हुआ रंगमंच सहसा बैठ गया। रंगमंच का महत्व यद्यपि सिनेमा के सामने इस देश के पढ़े लिखे लोग भी कम ही समझते हैं, पर वह कला के प्रति साधारण उदासीनता के कारण है। वैसे इस प्रकार के लोगों की भी कमी नहीं जो रंगमंच की ताजगी का महत्व समझते हैं और सिनेमा की अपेक्षा अभिनीत नाटक से अधिक आकृष्ट होते हैं। पृथ्वीराज के उस दिशा के प्रयत्नों ने यह स्थापित कर दिया है कि न तो रंगमंच के योग्य प्रतिभा की भारत में कमी है, न दर्शकों के उसके प्रति आकर्षण की। यदि सही प्रयत्न उस दिशा में हो तो निश्चय भारत के राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण हो सकेगा और राष्ट्रभाषा हिंदी अपनी अनेक सीमाओं

के होते हुए भी नाटक के क्षेत्र में अपेक्षित कृतियाँ अभिसंभव कर सकेगी। अनधिकारी प्रयोगवादी तब अपने आप रंगमंच की तुला पर तुलकर उपेक्षित हो जाएँगे और प्रतिभा उसपर अभिषिक्त होगी।

५. अभिनय शास्त्र

प्रयोगप्रधान अभिनय शास्त्र की भी अपेक्षा करता है। प्रयोग की समीक्षा सिद्धांत की जननी है। सिद्धांत स्वयं प्रयोग के औचित्य को गुनकर विकसित करने में सहायक होता है। भारतीय अभिनय की प्राचीनता और विविधता ने तत्संबंधी सिद्धांत के निरूपण को जन्म दिया और अनेक शास्त्र लिखकर सूक्ष्म जिज्ञासुओं ने बहुशः अभिनय की व्याख्या की।

भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् लगभग ५०० वि० से लगभग १६०० वि० तक प्रायः हजार वर्ष रस और अलंकार पर इस देश में विचार हुआ और भामह, दंडी, वामन, उद्भट, आनंदवर्धन, राजशेखर, मुकुल भट्ट, भट्ट तौत, अभिनवगुप्त, धनिक, धनंजय, भोजराज, क्षेमेंद्र, मम्मट्ट, रुय्यक, हेमचंद्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ, आदि ने तत्संबंधी चिंतन और शास्त्र को विज्ञान और दर्शन के पद पर पहुँचा दिया। उन्होंने अनेक सीमाएँ भी रंगमंच और अभिनय की बाँधीं।

उन्होंने नाटक में सबसे अधिक रसबोध और रसपाक पर जोर दिया है। फलतः संस्कृत के नाटक नाट्य नियमों से पर्याप्त बँधे रहे हैं। उनका दुःखांत होना अनुचित माना गया है। जनकल्याण उनका इष्ट रहा है, इससे सावधि दुःखमय यथार्थ से दूर हटकर दर्शकों का कल्पित सुखी संसार से साक्षात् कराते हैं। यथार्थ संभवतः कष्टकर है जिसका वास्तविक रूप दर्शकों में केवल अवसाद उत्पन्न करेगा। इससे उस आदर्श 'यूटोपियन' संसार को ही रूपायित करना उन्हें इष्ट हुआ जिसे अभिनीत देखकर मन को ढाढस बँधे। इसी से ग्रीक नाटकों के रूप में शुद्ध 'ट्रैजेडी' यहाँ नहीं प्रस्तुत हो सकी। हाँ, विप्रलंभ शृंगार में इतनी करुणा संचित हो जाती है कि स्वतंत्र 'ट्रैजेडी' की सारी कमी एक साथ पूरी हो जाय। इससे शोकपर्यवसायी न होकर भी उनमें गहरी वेदना की अनुभूति बनी रहती है। इसी प्रकार 'कामेडी' या सुखपर्यवसायी का शुद्ध रूप भी हमारे यहाँ नहीं मिलता। केवल अंत निश्चय कल्याणकर अथवा सुखद होता है। इससे उनमें युद्ध, रक्तपात, मृत्यु आदि रंगमंच पर नहीं प्रदर्शित होते।

हिंदी का नाटक संस्कृत, बँगला और युरोपीय सभी प्रयोगों का ऋणी है यद्यपि आज का उसका रंगमंच युरोपीय शास्त्रानुशासन से अधिक प्रभावित है। उसका रंगमंच, उसका अभिनय, उसकी नाट्यकृतियाँ सभी उसी दिशा से प्रधानतः प्रेरणा और प्राण पा रही हैं। इस दिशा में एकांकी नाटकों का प्रयास कुछ सफल

भी हुआ है। वे संधियों को भी सँभाल सके हैं और उन्होंने भावभूमि, रसबोध और मनोरंजन को एकत्र करने का प्रयत्न किया है। पर अभी तक हिंदी का रंगमंच अविकसित और प्रारंभिक अवस्था में है।

६. साहित्य और कला

वास्तु, मूर्तिकला, चित्रण एवं संगीत के प्रसंग में हमने उनके और साहित्य के पारस्परिक प्रभाव को यथाकिंचित् सूचित किया है। यहाँ अंत में उनकी ओर फिर एकत्र संकेत कर देना अनुचित न होगा।

मंदिरों का भारतीय जीवन और साहित्य से असाधारण घना संबंध रहा है। उत्तर और दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलनों ने वह संपर्क और निकट का कर दिया है। व्यक्तिकेंद्रित भगवान् से सायुज्य संबंध मूर्ति के सगुण माध्यम से स्थापित किया जा सकता था। उसके प्रति सर्वथा आत्मसमर्पण भक्ति का प्रेय हो गया। मंदिर प्रव्रज्या के केंद्र बने और विशेषतः प्रव्रजित गायकों ने भजन, स्तोत्र आदि की रचना की। मूर्ति के प्रति जो अनुराग, आनंद, उल्लास और प्रेम का स्रोत बहा तो रसात्मक साहित्य भी अनंत मात्रा में प्रस्तुत हुआ। संगीत ने अपनी सभी संधियाँ, अपना समूचा रस मंदिर और उसमें पधराई देवमूर्ति को समर्पित किया। संगीत (गीत, वाद्य, और नृत्य) का विकास पर्याप्त मात्रा में मंदिर के प्रांगण में, उसके मंडप और जगमोहन में हुआ। अभिनय का रंगमंच तो उसी का मंडप बना। शतियों मंदिरों के प्रांगण में लीलाएँ हुई और उनके मंडपों में नाटक अभिनीत हुए। सिद्धों तक का साहित्य अनेकार्थ में उनसे संबंधित था, उनकी तंत्रसाधना भी मंदिरों के बहिरंग पर रूपायित हुई।

मूर्ति और चित्रकला का तो साहित्य से इतना निकट का संबंध रहा है कि एक ही अभिप्राय (मौटिफ) अनेक बार दोनों में अनुकृत हुए हैं, समान प्रवृत्तियों ने दोनों में विकास पाया है। जातक कथाओं के कल्पित संसार को मूर्ति और चित्रकला ने अपनी भूमि पर उतार दिया है। ज्ञान स्थूल चक्षु का विषय बन गया है। कथा कहने की ऐसी संमोहक पद्धति मूर्ति और चित्रकला दोनों ने अपनाई है कि उनका प्रसार आज अमित है। पत्थर की कठोर भूमि पर अनंत कथाओं का अर्धचित्रों में उभार, भित्तिचित्रों की अटूट परंपरा में उनका अंकन इस निष्ठा से हुआ है कि जन साधारण की उस काल की दुष्प्राप्य ग्रंथों की तृष्णा उसने शांत कर दी है। गुजराती ग्रंथचित्रण ने भी साहित्य को कला के निकट पर्याप्त खींचा है और मुगल कलम ने तो रामायण, महाभारत और लोककथाओं को अद्भुत मांसलता प्रदान कर दी है। जावा आदि की मूर्तिकथाएँ और मुगल हस्तलिपियों के गतिमय प्रवहमान जीवनांकन साहित्य के सुदर्शन कलेवर बन गए हैं।

राजस्थानी, पहाड़ी रागमाला चित्रों ने तो संगीत की निर्बंध तरंगित लयों तक को रेखाओं में बाँध दिया है। इतिहास में पहली बार श्रुति विषयक अदृश्य ध्वनि को भारतीय मानव ने काया की सीमाओं में ढालने का प्रयत्न किया और उसे रक्तमज्जा प्रदान कर रूप का धनी बनाया। राग की लहरियाँ रागबद्ध हो दर्शनीय हुईं। स्वयं साहित्य उस दिशा में वंचित न रहा। संकेत रूप में वाक्य के स्थल रागिनी चित्रों के व्याख्यान शीर्षक बने। रीतिकालीन काव्यसाहित्य विशेषतः नायक-नायिका-भेद पर केंद्रित हुआ। पहाड़ी चित्रों में उनके अनेकशः अंकन हुए।

साधारणतः संसार भर की ललित कलाएँ ललित साहित्य से संबंधित हैं परंतु वह संबंध इतना घना और कहीं न हुआ जितना इस देश में। वस्तुतः मंदिरों के बाह्यालंकरणों, मूर्तियों और पत्थरों के अर्धचित्रों के और अजंता, बाघ के भित्ति-चित्रों तथा गुजरात के ग्रंथों, मुगलों की हस्तलिपियों और राजस्थानी पहाड़ी लघुचित्रों की रागमालाओं का सम्यक् ज्ञान बिना साहित्य के गहरे अध्ययन के नहीं हो सकता। जातक और अवदान, इतिहास और पुराण, काव्य और नाटक, संगीत और अभिनय सभी मूर्ति और चित्रकलाओं की लपेट में आ गए हैं। कामशास्त्र और शुल्वसूत्र, लक्षणग्रंथ और मानसार, संत और रीति साहित्य सभी भारतीय कला के दर्शनद्वार खोलते हैं।

पंचम खंड

वाह्य संपर्क तथा प्रभाव

लेखक

डा० भगवतशरण उपाध्याय

प्रथम अध्याय

यवन-पह्लवों से पूर्व

१. सांस्कृतिक संपर्क और परंपरा

संस्कृति सार्वजनीन संपदा है, संयुक्त प्रयास की परिणति। देश अथवा काल के धरातल पर कोई विंदु नहीं जहाँ खड़ा होकर कहा जा सके कि बस इससे परे अब कुछ नहीं, जिसका मुझपर प्रभाव हो। जातियों के परस्पर संपर्क, प्रतिक्रिया और योग से संस्कृति की काया बनती है। नई जाति आती है, सीमा पर मँडराती है, स्थानीय जाति में हलचल होती है, दोनों एक दूसरे से टकराती हैं, किंतु संगम की धाराओं की भाँति मिलकर समान प्रवाह बन जाती हैं। अबतक दोनों अलग अलग थीं, अब वे संपृक्त प्रवहमान द्रव की इकाइयाँ हैं। इकाइयाँ संपूर्ण को बनाती हैं, संपूर्ण स्वयं अटूट संघात की इकाई बन जाता है। संस्कृति का यही क्रमिक विकास है—इकाई से संयुक्त इकाई, संयुक्त से संयुक्ततर, पर अगले संघात के लिये इकाई मात्र, अगली इकाई पिछली से सदा अद्ध, अद्धतर। संस्कृति इनका संपृक्त अटूट क्रम, अविरल परंपरा, अन्योन्याश्रित अंतरावलंबित संपदा है।

महान् सभ्यताएँ नदियों के काँठों में जन्मी हैं—सिंधु-गंगा की घाटी में, ह्वांगहो के प्रांतर में, वक्षु के तट पर, दजला-फरात के काँठे में, नीलनदवर्ती भूमि पर। खूनी खानाबदोश जातियाँ सदा अपने पैरों पर रही हैं, फिरती, अनुर्वर मरु से हरी घाटियों की ओर। अपने संक्रमण के वेग से उन्होंने बस्तियाँ उजाड़ दी हैं, जला डाली हैं। उनकी बर्बर धाराओं से सभ्यताएँ आप्लावित हो नष्ट हो गईं, पर जो बचा वह भी सर्वथा सारहीन न रहा, क्योंकि जिन्होंने वह भयंकर चोट की, जमी सभ्यता की जड़ें झकझोर दीं, स्वयं उन्होंने ही उस मरणोन्मुख पिंड में अपने जाग्रत प्राण, बर्बर सही, फूँक दिए। निश्चेष्ट पिंड फिर जी उठा। नया सोता फूटा, सूखी गाँठें हरी हो गईं, नई कोपलों से भूमि फिर लहलहा उठी।

इस दृष्टि से भारत से बढ़कर प्रकृति का दुलारा दूसरा देश नहीं। अनंत मानवधाराएँ, सभ्य और बर्बर, एक के बाद एक, इसकी सीमाओं में प्रविष्ट हुईं, क्षण भर टकराईं-लहराईं, फिर उसके जलप्रसार में विलीन हो गईं। भारतीय पट में नए रेशे बुन गए, नए रंगों से पट चमक उठा।

भारतीय संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की ही भाँति अगणित जातियों की देन है, अटूट जनपरंपरा की विरासत। उसके निर्माण में विभिन्न जातियों का योग

रहा है, गहरा और प्रभूत। उसकी एकता में अद्‌भुत विविधता है, अनेक स्रोतों का स्राव। भारत ने सिखा बहुत है, पर उसकी विजय सिखने में इतनी नहीं रही जितनी अन्य को आत्मसात कर पचा लेने की उसकी शक्ति में रही है। ईरानी, यवन (ग्रीक), पह्नव, शक, कुषाण, हूण, मुसलमान, यूरोपीय—जिन जिन जातियों से उसका संपर्क हुआ, उन उनसे उसने शक्ति संचय की, प्राण लिए, नई ताजगी ली। अपनी धरा को नए फलागम से निहाल कर दिया। आगे के पृष्ठों में इन्हीं जातियों के प्रभाव का निरावरण होगा। अत्यंत संक्षेप में ही यह कार्य संपन्न होगा, क्योंकि इसका व्यास बहुत व्यापक है।

२. भारत और पश्चिमी एशिया

पता नहीं सिंधु की आदिम सभ्यता किस मात्रा में दजला फरात की सभ्यता की ऋणी है, पर इसमें संदेह नहीं कि दोनों में पर्याप्त काल तक आदान प्रदान होते रहे हैं। एशनुन्ना (तेल अस्मर) और कीश में मिली मुहरें (मुद्राएँ) इसके प्रमाण हैं[१]।

स्थल और जल मार्ग से भारत का संपर्क सुमेर, बैबिलॉन, अक्काद, असीरिया, सीरिया, फिनिशिया, मिश्र, यूनान तथा भूमध्यसागरीय देशों से रहा। जातीय संक्रमण, उपनिवेश, व्यापार और विजय की परंपरा चलती रही। साथ ही जीवन के साधनों, भावना और विचार के क्षेत्र में भी आदानप्रदान होता रहा।

३. आर्य प्रभाव : आर्येतर तत्वों से समन्वय

उत्तर भारत पर वस्तुतः पहला और शक्तिम प्रभाव उक्त आर्य जातियों का है जो आज से लगभग छः सहस्र वर्ष पूर्व प्राचीन मध्यदेश और पूर्वी पंजाब से निकलकर संपूर्ण आर्यावर्त में फैल गईं। अपने सीमांतों और प्रत्यंतों में आर्येतर जातियों से इसका संपर्क और संघर्ष हुआ और अंत में यह विजयी हुई। कुछ काल तक विजयी और पराजित दोनों जातियों में एक दूसरे के प्रति द्वेष और आशंका रही—आर्यों ने विजितों को 'कृष्णाः' (काला), 'अनासाः' (नाकरहित : चिपटनास), 'अदेवयु' (देवरहित), 'अयज्वन्' (यज्ञहीन), 'मृध्रवाचः' (अशुद्धभाषी), 'शिश्नदेवाः' (शिश्नपूजक), 'दास' (गुलाम), 'दस्यु' (डाकू) आदि कहकर पुकारा। उनके ऋषियों ने अपने इंद्र से आर्येतरों के पक्की ईंटों से बने उन नगरों पर वज्रप्रहार करने की प्रार्थना की जो उन्हें लौहदुर्ग से लगे थे।

[१] पैट्रिक कॉर्लटन : बेरीड एम्पायर्स, पृ० १४२।

द्वेष और अविश्वास का यह संबंध उनमें कबतक बना रहा, नहीं कहा जा सकता, परंतु कुछ ही काल बाद आर्यों की सामाजिक परिस्थिति में दूरगामी परिवर्तन तीव्र गति से होने लगे। सांस्कृतिक रूप से उन्होंने आर्येतरों के प्रति अधिकाधिक आत्मसमर्पण किया। प्राचीन काल में जिन जिन विजेताओं का अन्य सभ्य अथवा अर्धसभ्य जातियों से सामना हुआ, विजयी होकर भी उन्हें विजितों के सामने कालांतर में झुकना पड़ा। क्रीटवासियों के विजेता डोरिक यवन, असुर-बाबुलियों के विजेता ईरानी आर्य, मिस्रियों के विजेता यवन, सभी अपने पराजितों से संस्कृति के क्षेत्र में प्रभावित हुए। इसी प्रकार भारतीय आर्यों को भी आर्येतरों की प्रबुद्ध परंपरा के कमनीय और उपयोगी तत्वों को अपनाना पड़ा। अथर्ववेद के रचना काल तक पहुँचते पहुँचते चारो वर्ण स्पष्ट हो गए, वह चौथा 'शूद्र' वर्ण भी जो ईरानी आर्यों का अनजाना था और जिसके निर्माण में विजित आर्येतरों का योग विशेष सहायक हो चला था। शिव की मर्यादा अब बढ़ चलती है और देर सबेर 'लिंगपूजन' आर्य अर्चना का भी अंग बन जाता है। योग की क्रिया आर्यों को अभिमत होती है, और वृषभ के साथ साथ, धीरे धीरे उससे भी अधिक, गाय की महिमा[1] का विकास होता है। संभव है, आर्यों ने वृषभ का माहात्म्य उस पश्चिमी एशिया से ग्रहण किया हो, जहाँ उसका संमान विशेष रूप से होता था, पर स्वयं सिंधु की घाटी में उसका मान कुछ कम न था। कालांतर में वही वृषभ 'नंदी' के रूप में विशेष पूज्य हुआ। गाय के प्रति आर्यों का आदर तो निश्चय उन्हें भारत के आर्येतरों से मिला। शीघ्र आर्यों की नई आवासभूमि ब्रह्मर्षिदेश में उपनिषदों की परंपरा के संजीवक नगरों का एक विस्तार खड़ा हो गया, जहाँ अध्यात्म का अमृत मंथन होने लगा। पुष्कला (रा) वती, तक्षशिला, आसंदीवंत, हस्तिनापुर, इंद्रप्रस्थ, विराटनगर, कांपिल्य, अहिच्छत्र, काशी, अयोध्या, मिथिला, सभी से नागरिकता की गंध आने लगी, प्राचीन सिंधु सभ्यता के नगर नई महिमा लिए, नए परिधान पहने, खड़े हुए। अश्वपति, कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह प्राचीन समवेत भारतीय दाय काल की संधि पर खड़े हो, बौद्ध-जैन-शैव-वैष्णव-शाक्तों की अनाकुल परंपरा को प्रदान करने लगे। इसी समवेत परंपरा का संमिलित दाय प्रधान भारतीय संस्कृति की रीढ़ बना। नई आनेवाली जातियों का योग उसे मिलता रहा, नई मज्जा, मांसलता उसपर चढ़ती रही, रक्त की नई नसें उसमें दौड़ती रहीं, पर रीढ़ वही बनी रही जो आज तक बनी है।

[1] ऋग्वेद में वह अब 'अघ्न्या' (अवध्य) हो गई है, देवताओं की माता अदिति—मा गां अनागां अदितिं वधिष्ट।

४. दो धाराएँ : आर्य और द्रविड

भाषाओं पर भी स्वाभाविक अनिवार्य प्रभाव पड़ा। पर तभी से दो स्पष्ट पृथक् भाषाएँ इस देश में चल पड़ीं, एक संस्कृत जो अपने प्राकृत के आधार से उठकर स्वयं 'संस्कृत' हुई और विविध प्राकृतों पर भी अपना प्रभाव डाला, उन प्रभावों से विकसी और धीरे धीरे उत्तर भारत की साधारणतः आर्य भाषाओं के नाम से जानी जानेवाली जनबोलियों की प्राकृतों आदि के साथ दूर की जननी हुई। दूसरी जो द्रविड भाषाओं के नाम से दक्षिण में फली फूली। उसकी चार स्वतंत्र भाषाएँ बनीं—तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनपर भी संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इनमें अनेक संस्कृत शैलियों का अनुकरण हुआ। तमिळ को छोड़ शेष पर तो उसके भाव, और रचनासरणि का इतना प्रभाव पड़ा कि भाषा को छोड़ शेष एक काल तक संस्कृत साहित्य के वातावरण में ही साँस लेती रहीं। उनकी भाषा में भी संस्कृत के शब्दों की बहुलता हुई। हाँ, तमिळ अवश्य अपेक्षाकृत स्वतंत्र रही। इसका विशेष कारण यह था कि उसमें स्वतंत्र साहित्य रचना का आरंभ बहुत पहले स्वतंत्र रूप से हो गया था। तमिळ साहित्य प्रायः उतना ही प्राचीन है, जितना वैदिकेतर संस्कृत साहित्य[१]। फिर भी उसपर भी संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रभाव पड़े बिना न रहा। इसी प्रकार दाक्षिणात्य भाषाओं का भी प्रभाव संस्कृत और उसकी परवर्ती भाषाओं और उसके माध्यम से प्राकृतों और जनबोलियों पर भी पड़ा। द्राविड भाषाओं के अनेक शब्द शुद्ध संस्कृत, प्राकृतों और जन बोलियों में मिलते हैं, जिनकी खोज स्वतंत्र रूप से महत्व रखती है।

५. भाषा पर सुमेरी-बाबुली प्रभाव

भाषा की दृष्टि से वैदिक साहित्य अन्य बाह्य प्रभावों से भी वंचित न रह सका। आर्यों का पश्चिमी एशिया की अनेक जातियों से शत्रु-मित्र का सा संपर्क था। उनके विचारों, विश्वासों, जीवन और साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'तुर्फरी', 'जर्फरी',[२] 'आलिगी', 'विलगी', 'उरुगुला', 'तैमात',[३]

[१] सी० एस० श्रीनिवासाचारी : तामिल लिटरेचर, एन्साक्लोपीडिया आफ लिटरेचर(शीप्ले), पृ० ५५७, कालम २।

[२] जर्फरी तुर्फरीतू···ऋग्वेद, १०, १०६, ६।

[३] असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च।
साग्रासहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथां इव ॥ ६ ॥

'यह्वा'[1] आदि पर दिवंगत बाल गंगाधर तिलक ने रामकृष्ण भंडारकर स्मारक ग्रंथ में विचार करते समय उनके अर्थ के संबंध में सुमेरी बाबुली सभ्यता की ओर संकेत किया था। उनका कहना है कि ये दजला फरात की घाटी की उन प्राचीन भाषाओं (खल्दी, आदि) के ही शब्द हैं[2]। 'तैमात' को उन्होंने बाबुली का 'तियामत' माना। यह (जेंद, येज) यह्व, यह्वत्, (स्त्रीलिंग—) यह्वा, यह्वती रूप में जिस शब्द का अनेकतः ऋग्वेद में देवार्थ में प्रयोग हुआ है, वह वस्तुतः खल्दी-इब्रानी शब्द यह्वे (जेहोवा) से निकला है। यहूदी, संसार की पहली जाति है, जिसने देवताओं की अनंत परंपरा को हटाकर एकेश्वरवाद का वितन्वन किया। उनका वह ईश्वर जेहोवा था। अग्नि, इंद्र, सोम[3] आदि के लिये इसी शब्द का अनेक बार प्रयोग ऋग्वेद में महान् के अर्थ में हुआ है। पर एकेश्वरवाद, बल्कि उससे भी अधिक वेदांत के आभास रूप में मिस्र के फराऊन आमेनहेतेप चतुर्थ अखनातेन ने विक्रम पूर्व तेरहवीं शती में सूर्य की शक्ति को प्रतीक मान उसी को विश्व का व्यापक देव घोषित किया[4]। तब उसकी आयु केवल पंद्रह वर्ष की थी[5]। उसके अपने देश में तो निश्चय वह बौद्धिक लौ बुझ गई, पर अन्यत्र के चिंतन में उसका प्राचीन जगत् पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इसमें संदेह नहीं कि ऊपर के उद्धृत शब्द विदेशी और बाहरी भाषाओं तथा संस्कृतियों से लिए गए। ये कुछ शब्द केवल उदाहरणार्थ दिए गए हैं, वैसे उनकी संख्या वेदों और

आलिगी न विलिगी च पिता च माता च।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥
उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥
... ...
ताबुवं न ताबुवं न घेत् त्वमसि ताबुवम्।
ताबुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥ अथर्ववेद, ५, १३।
देखिए, भ० श० उपाध्याय : संस्कृतियों का अंतरावलंबन, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण।

[1] देखिए, निघण्टु, १, १२; २, ६; ३, ३; निरुक्त, ८, ८।

[2] कैल्डियन एँड इंडियन वेदाज्, आर० जी० भंडारकर : कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० २६–४२।

[3] (धातु यह=तीव्र गति से जाना, बहना, यह=जल); अग्नि के लिये, ऋग्वेद, ३, १, १२, १०, ११०, ३; इंद्र के लिये, ८, १३, २४; सोम के लिये, ६, ७५, १, (यह्वे या जेहोवा यहूदी भगवान् था गुह्य नाम का जिसका उसने हजरत मूसा को भेद बताया)।

[4] एच० आर० हाल : दि एंशेंट हिस्ट्री आफ दि नियर ईस्ट, पृ० ३००।

[5] वही, पृ० २९६; भ० श० उपाध्याय : दि एंशेंट वर्ल्ड, पृ० २१।

वैदिक साहित्य में पर्याप्त है। इन शब्दों में से 'आलिगी', 'बिलिगी' और 'उरुगुला' का संदर्भ बड़े महत्व का है। अथर्ववेद के जिस मंत्र में इनका उल्लेख हुआ है वह साँप का विष झाड़ने का मंत्र है। ओझा नागी (या साँप) का संबोधन करता हुआ कहता है कि आलिगी तुम्हारा पिता है, बिलिगी तुम्हारी माता, तैमात (तियामत) और उरुगुला की तुम दुहिता हो, आदि। तियामत या तैमात की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। आलिगी और बिलिगी में क्रमशः पिता और माता होने का कोई लिंगचिह्न नहीं है। मंत्रकार ने दोनों का अर्थ जाने बिना ही उनका प्रयोग किया है। वह उलटकर बिलिगी को पिता और आलिगी को माता भी कहता तो प्रभाव में कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि आज ही के से मंत्रों में जैसे निरर्थक पर अद्भुत शब्दों का प्रयोग होता है, उस काल के ओझा ने भी ऐसे अद्भुत शब्दों का व्यवहार किया है, जिनका अर्थ वह नहीं जानता, लिंगभेद तक नहीं, और जिन्हें वह किसी प्राचीन शब्द भंडार से चुन लेता है। इस प्रकार के अनेक शब्द तब के मंत्रकारों के जानने में होंगे जो अपनी भाषा के न होने पर बाहरी होने से उनका सुननेवालों पर असर पड़ सकता होगा। इसी से उसने इनका प्रयोग किया है। प्राचीन सुमेर (बाबुल) के नगर ऊर की खुदाई में एक पट्टिका मिली है जो ब्रिटिश म्यूजियम के असीरी बाबुली विभाग के हैंडबुक में उद्धृत की गई है। वह ऊर के प्रायः ३००० वि० पू० के एक राजकुल की वंशतालिका है, जिसमें दो राजाओं—क्रमशः पिता पुत्र—के नाम 'एलूलू', 'बेलूलू'[1] हैं। वस्तुतः ये ही आलिगी बिलिगी के समीपवर्ती हैं या उनके पूर्वज, जैसे वे 'अलाय', 'बलाय' (अलैया, बलैया) आदि के भी हैं। अलाय, बलाय का कुछ फेर बदल के साथ इसी अर्थ में प्रयोग अरबी (प्राचीन अरबी, प्रागिस्लामी), फारसी आदि में भी होता आया है। विशेष बात तो यह है कि एक पट्टिका ऊर नगर में मिली है, जिस नगर का उल्लेख इसी मंत्र के उरुगुला शब्द में हुआ है। इसी शब्द का उत्तरार्द्ध गुल या गुला शब्द है, जिसका प्राचीन बाबुली असीरी भाषा में अर्थ होता है 'साँपों' के विष का वैद्य[2]। इस प्रकार वेदों का यह साँप झाड़नेवाला मंत्र बाबुल और असुर देश के साँप के विषवैद्यों या ओझों से अपना संपर्क स्थापित करता है। निरुक्तकार यास्क को छठी-सातवीं वि० पू० में भी इन शब्दों का अर्थ नहीं ज्ञात था, जिससे वह इन्हें 'निरर्थकाः शब्दाः' कहता है। स्वाभाविक ही संदेह हो सकता है कि तीन चार सौ वर्ष और पहले के स्वयं मंत्रकार को इनका अर्थ ज्ञात था। इस

[1] पैट्रिक कार्लटन : बरीड एम्पायर्स, पृ० ६०।
[2] देखिए, लौगडन का तत्संबंधी कोश।

प्रकार विदेशी शब्दों ने न केवल हमारे भाव और भाषा पर प्रभाव डाला है वरन् विश्वास और जीवन पर भी।

इसी प्रकार 'असुर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद से लेकर आज की हमारी प्रांतीय भाषाओं (और हिंदी) तक में होता आया है। यह सही है कि पिछले काल की संस्कृत और हिंदी आदि में इसका प्रयोग 'सुर विरोधी' (न सुराः इति असुराः) अर्थ में हुआ है। वस्तुतः यह शब्द शक्ति प्रकट करता है और 'असु' (प्राण) से बना है। इसी अर्थ में यह पाणिनि आदि द्वारा प्राचीन काल में प्रयुक्त हुआ है, जातिवाचक अर्थ में। इसी अर्थ में यह उस असाधारण शक्तिमान विजयी 'असुर' जाति को व्यक्त करता है, जिसकी राजधानी असुर थी, प्रधान देवता अस्सुर था, जाति का नाम अस्सुर था। वि० पू० दूसरी सहस्राब्दी से विक्रमी पूर्व ५५५ तक उस जाति[1] ने पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभुत्व रखा और हजारों पट्टिकाओं एवं स्तंभों पर अपनी प्रशस्तियाँ खुदवाईं। उसकी अंतिम राजधानी निनेवे वि० पू० ५५५ में बाबुल के खल्दी नरेश नाबोपोलस्सर और मीडी आर्य उवक्ष्यार्ष की संमिलित चोट से नष्ट हो गई[2]। असुरों के प्रबल राजा तिगलाथ पिलेजर, सारगोन, सेनाखरिब, एसरहद्दन, असुरनजीरपाल, असुरबनिपाल आदि थे। पिछले दोनों सम्राट् तो शतपथ ब्राह्मण की रचना के प्रायः समकालीन थे। इसी शक्तिमान के अर्थ में ऋग्वेद में भी कम से कम ग्यारह बार वरुण, इंद्रादि के विशेषण के रूप में 'असुर' शब्द का उपयोग हुआ है[3]। बहुत पीछे, महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में रघु की दिग्विजय के क्रम में राजाओं को जीतकर उनका राज्य लौटा देने की जो बात कही (श्रियं जहार न तु मेदिनीम्) और यह रीति 'धर्मविजयी नृप'[4] की घोषित की वह टीकाकार के अनुसार 'असुरविजयी नृप' की नीति के विपरीत थी। असुरविजयी नृप विजित राजाओं को सर्वथा उखाड़ फेंकता और सिंहासन छीन लेता था। वास्तव में यह उन असुर राजाओं की ही ऐतिहासिक परंपरा थी जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है। असुरनजीरपाल ने जो बंदियों की जीवित खाल निकालने और समूची विजित जनता को एक सूबे से उखाड़ कर दूसरे सूबे में बसाने की नीति चलाई[5] वह उसके सभी वंशधर करते रहे। इस नीति ने संसार के इतिहास में अपना सानी न रखा। उसी का प्रभाव हमारे पीछे के

[1] हाल : दि एंशेंट हिस्ट्री, पृ० ३८८; ४४४-६१७।
[2] वही, पृ० ५१३।
[3] देखिए, आप्टे की प्रैक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, 'असुर' पृ० १६१-६२।
[4] रघुवंश, ४, ४३।
[5] हाल : दि एंशेंट हिस्ट्री०, पृ० ४४५।

साहित्यकारों की परंपरागत स्मृति पर भी पड़ा। वैसे भी हमारी सारी पौराणिक परंपरा में असुर देवताओं के शत्रु का प्रतीक बना। यह संभवतः आर्य ईरानी राजाओं की उनसे शत्रुता के कारण हुआ होगा, क्योंकि पहले के वैदिक साहित्य में उनका उल्लेख केवल शक्तिप्रदर्शन में हुआ है। जो भी हो, असुरों की छाप हमारी प्राचीन-अर्वाचीन सभी परंपरा पर खासी पड़ी और आज भी उस शब्द का प्रयोग साहित्य में होता है।

इस देश के साहित्य और विश्वास पर बाबुली (सुमेरी) परंपरा और इतिहास पुराण का प्रभाव विशेषतः जलप्रलय की कथा द्वारा पड़ा। डाक्टर लियोनार्ड वूली आदि की ऊर, कीश, बाबुल आदि की खुदाई ने उस प्राचीन जलप्रलय की ऐतिहासिकता सिद्ध कर दी है जो ३१४३ वि० पू० के लगभग उरुक, शुरुप्पक आदि में हुई थी[1]। उस घटना को इस देश के अधिवासियों ने अपना माना और अपनी प्राचीन तथा पावन पुस्तकों में उसका उल्लेख किया। जलप्रलय का इस देश के साहित्य में सबसे प्राचीन उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में[2] हुआ है जो १७वीं शती वि० पू० के लगभग का है। कीलनुमा लेखपद्धति के अभिलेखों में वह कथा प्रायः २००० वि० पू० में ही सुमेरी (बाबुली) भाषा में लिख ली गई थी। महत्व की बात यह है कि शतपथ ब्राह्मण ने अनजाने अपनी उस कथा के मूल का भी उल्लेख कर दिया है। क्योंकि उसमें लिखा है कि मनु (बाइबिल के नूह तथा सुमेर के वास्तविक घटनानायक जिउसिद्दू) जब प्रलय का जल सूखने के बाद भूमि पर उतरे तब उन्होंने यज्ञ द्वारा भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता जतानी चाही। पर यज्ञ कराने के लिये जब उन्हें कोई पुरोहित (ऋत्विज) न मिला तब बाध्य होकर उन्हें असुर ब्राह्मण (असुर ब्राह्मण इति आहूतः) बुलाना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल के पूर्व ही ऋत्विजों की संख्या सत्रह से बीस तक जा पहुँची थी पर मनु के यज्ञ के लिये एक भी ऋत्विज न मिला! इसका एक विशेष कारण था। इसी काल असुरनजीरपाल के, उसके पूर्ववर्तियों और परवर्तियों के, वे विजयनाद एशिया की हवा में थे जिनकी प्रतिध्वनि शीघ्र ही बाद पाणिनि[3] आदि तक करने लगे थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि तभी, जब अपनी विजयों से असुर सम्राट् सारे पश्चिमी एशिया के स्वामी हो रहे थे, यह ब्राह्मण रचा गया हो और तभी की जानी हुई वह जलप्रलय की कथा उस ग्रंथ में पिरो ली गई हो। उन्हीं दिनों असुरबनिपाल और उसके पूर्ववर्ती सम्राट् अपना विशाल पुरातत्व संबंधी संग्रह एकत्र कर रहे

[1] पैट्रिक कार्लटन, बरीड एंपायर्स, पृ० ६४-६५।

[2] अध्याय १, प्रपा ८-६।

[3] अष्टाध्यायी, ५, ३, ११७।

थे[1] जिसमें लाखों लिखी ईंटें थीं। इन्हीं में 'गिल्गमेश' के उस प्रसिद्ध महाकाव्य की ईंटें भी थीं जिसके नायक गिल्गमेश से उसके पूर्वज और जलप्रलय की कथा के वीर जिउसिद्दू ने अपने मुँह से वह (पौराणिक) कथा कही थी। निश्चय जहाँ से यज्ञ के लिये मनु को 'असुर ब्राह्मण' बुलाने पड़े थे वहीं से वह कथा भी आई थी। और उसे हमारी पवित्रतम पुस्तकों में स्थान मिला। इसी प्रकार की एक और कथा गरुड़ की है जो सर्प से लड़ता है और राजा को लेकर सूर्य तक उड़ने का प्रयत्न करता है[2]। हमारे पुराणों में इसकी समानांतर कथा है।

६. कला पर बाहरी प्रभाव

कला के क्षेत्र में भी उस काल के कुछ वैदेशिक प्रभावों की ओर संकेत किया जा सकता है। स्तूपों की अशोककालीन परंपरा बहुत पीछे तो नहीं जाती, पर संभवतः संकेत रूप में उसे बुद्ध का समवर्ती आसानी से माना जा सकता है क्योंकि लिखा है कि बुद्ध के मरने पर जब आठ राष्ट्रों में उनके भस्मावशेष के लिये युद्ध ठन गया था तब उनमें बीच बचाव कर एक ब्राह्मण ने उसके आठ भाग कर उन्हें दे दिए और उन्होंने अपने अपने भाग पर स्तूप खड़े किए। स्तूप के दो प्रकार के प्रतीक हैं, स्मारक और अस्थिधारी। स्मारक ठोस ईंट पत्थर के बनते थे और बुद्ध, महावीर संबंधी किसी महत्वपूर्ण घटना की याद दिलाते थे। अस्थिधारी स्तूप वे थे जिनमें बुद्ध, महावीर आदि के भस्म, अस्थि, आदि अवशेष सुरक्षित किए जाते थे। कहना न होगा कि दोनों प्रकार की स्तूपनुमा इमारतें पश्चिमी एशिया और मिस्र में बनती थीं। बाबुल आदि स्थानों में जग्गुरत नाम के मंदिर केवल ठोस इमारत थे जिनके शिखर पर घुमावदार सोपानमार्ग से चढ़ा जाता था[3]। इस प्रकार की इमारतों के अनेकों अवशेष दजला फरात की घाटियों में आज भी खड़े हैं। दूसरे प्रकार के अस्थिसंचायक स्तूप स्पष्टतः पिरामिड हैं, यद्यपि इनका रूप उनका सा नहीं है। सातवीं-आठवीं शती विक्रमी पूर्व की एक समाधि उत्तर बिहार के लौड़िया नंदनगढ़ में खोदी गई थी[4]। उसका शिखर प्रायः वर्तुलाकार था। जूवों दुब्रील ने मालाबार में मृतक समाधियाँ ढूँढ़ निकाली थीं जो पहाड़ों में कटी हैं, जो खोखली स्तूपाकार हैं, और जिनके बीच छत तक एक स्तंभ है। उस पुराविद् का कहना है कि ये

[1] पैट्रिक कार्लटन : बरीड एंपायर्स्, पृ० २१०-११।

[2] वही, पृ० ७५-७६।

[3] वही, पृ० ३२, ४१।

[4] आनंद कुमारस्वामी : हिस्ट्री ऑफ इंडियन।ऍड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १०; ब्लाक : एक्सकैवेशन ऐट लौरिया, ए० एस० आई० आर्क्यालाजिकल रिपोर्ट १९०६-०७।

समाधियाँ काल के विचार से प्रायः वैदिक हैं,[1] अर्थात् भारतीय स्तूपों से अधिक दूर, मिस्र की मृतक समाधियों के निकट। मिस्र के पश्चिमी पर्वतों में प्रसिद्ध पिरामिडों के पहले और पीछे की कटी हुई इसी प्रकार की मृतक समाधियाँ हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि मिस्र और फिलिस्तीन (जूदिया और इस्रायल) दोनों से विक्रम से प्रायः हजार वर्ष पूर्व सुलेमान और हीराम के समय भारत का घना व्यापार संबंध था[2] और भारतीय उन पश्चिमी देशों में पर्याप्त संख्या में जा बसे थे। लघु एशिया (एशिया माइनर) के दक्षिण तटवर्ती नगरों पिनारा और जैंथस के पर्वतों में कटी एक-पत्थर की मृतक समाधियाँ भारत के प्राचीनतम चैत्यगृहों की शक्ल की हैं,[3] यद्यपि उनसे बहुत प्राचीन हैं। अशोककालीन अथवा बुद्धकालीन (पिप्रवा) स्तूपों की गोलार्द्धवाली परंपरा, लगता है, बाद में विकसित हुई और कम से कम रूप में भारतीय ही है, यद्यपि अस्थि रखनेवाली प्रथा मिस्र के पिरामिडों से आई हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। यह महत्व की बात है कि अशोक ने, जैसा हम आगे देखेंगे, ईरान से अनेक कला, लेखन आदि संबंधी रीतियाँ सीखीं, विशेषकर इस कारण कि तब प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक पंजाब और सिंध ईरानी सम्राटों के अधिकार में रहे थे। बुद्ध के समय में भी, और तब सिंधु नद से लेकर पूर्वी यूरोप और मिस्र तक की भूमि पर ईरानी दारा का शासन था। कुछ आश्चर्य नहीं कि एक ही साम्राज्य में रहनेवाली जातियों का घनिष्ट पारस्पर्य उन्हें एक दूसरे के साथ सांस्कृतिक आदान प्रदान सुकर कर देता हो।

स्तूपों के वर्तुलाकार (अर्द्धवृत्त) रूप भी दजला फरात के द्वाब (मेसोपोतामिया, बाबुल और असुर) में बने गुंबजों के सदृश ही हैं। वहाँ वि० पू० पहली सहस्राब्दी में सैकड़ों गुंबजनुमा छतें बनी थीं[4]। स्वयं ईरानियों ने असुरों के साम्राज्य वैभव के साथ ही उनकी संस्कृति, वास्तु आदि भी ले ली थी। उनका ही पक्षधारी मानवमस्तक वृषभ अपादान (दाराकालीन ईरान) के शालीन अन्दरजभरे नंदी के आदर्श बने जो बाद में स्वयं अशोक के वृषभ के आदर्श बने। ईरानियों ने तो

[1] वैदिक ऐंटिक्विटीज, हिस्ट्री ऑफ इंडियन०, पृ० १०।

[2] बाइबिल, राजाओं का खंड (बुक ऑफ किंग्स), दि एंशेंट वर्ल्ड, पृ० १०८–६; 'शदीन' (सिंध-तीर की मलमल) बाइबिल, पुरानी पोथी, मिलाइए—बाबुली वस्त्रों की तालिका का 'सिंधु' उसी अर्थ में,—ए० एच० सेस, हिब्बर्ट लेक्चर्स, १८८७, पृ० १३७–३८।

[3] हिस्ट्री आफ इंडियन०, पृ० १२।

[4] हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड, भाग १, असीरियन आर्ट, पृ० ५५२ और आगे; दि एंशेंट वर्ल्ड, पृ० ६८।

शुद्ध नंदी भी कोरे थे[१]। साधारणतः वास्तुविशारद इसे मानते हैं कि गोल मेहराब और प्रशस्त गुंबज संसार को मेसोपोतामिया के ही देन हैं। हजार वर्ष वि० पू० से लेकर प्रायः ५५५ वि० पू० तक असुरों ने असुर, निनेवे आदि अपने नगरों में जो वास्तु संबंधी अमर निर्माण किए थे वे कला और खोरसाबाद की खुदाइयों से निकलकर यूरोप और अमेरिका के संग्रहालयों में असुर स्थापत्य की महिमा व्यक्त कर रहे हैं। अपने निर्माण के समय भी वे अन्य राष्ट्रों के आश्चर्य और अनुकरण की वस्तु बन गए थे। अनेक असुर स्थपति देशांतरों की तब माँग और आवश्यकता बने थे। हमारे संस्कृत और दाक्षिणात्य सभी साहित्यों में मय असुर की वास्तु विद्या में बड़ी महिमा गाई गई है। अगणित उल्लेख उसके उस प्रसंग में हुए हैं। सांस्कृतिक आदानप्रदान और संस्कृति के विकास को देखते यह संभव ही नहीं, अनिवार्य प्रतीत होता है कि मय नामक असुर ने इस देश में भी असुर वास्तु के कुछ प्रतीक गढ़े और प्रचलित किए हों।

७. ईरानी प्रभाव

इस अत्यंत प्राचीन काल के पश्चिम से संबंध के बाद भारत का दूसरा गहरा संपर्क ईरानियों से हुआ। वैसे कम से कम पश्चिमी जगत् में संबंध की ऐतिहासिक शून्यता कभी नहीं संभव हो सकी। सैंधव, मिस्री और सुमेरी सभ्यताएँ प्रायः समकालीन थीं। इनमें पहली तो शीघ्र मिट गई पर दूसरी और तीसरी अशोक के समय तक अपनी विरासत की कड़ियाँ एक के बाद एक जोड़ती गईं—मिस्र-सुमेर, मिस्र-सुमेर-बाबुल, मिस्र-बाबुल-असुर, मिस्र-असुर, असुर-ईरान, ईरान-भारत, भारत। विक्रम पूर्व चौथी सहस्राब्दी से लेकर वि० पू० तीसरी शती तक का एशिया का देश और काल संबंधी प्रसार मिस्र से पाटलिपुत्र तक प्रायः एक है। पश्चिम और पूर्व के बीच ईरान विशिष्ट संधिस्थल है। पाँचवीं शती वि० पू० (४५८ और ४५३ वि० पू० के बीच कभी) में दारयवोष (दारा) प्रथम ने, जो अपने को 'आर्यों में आर्य' और 'क्षत्रियों में क्षत्रिय' कहता था, सिंध और पंजाब के एक भाग पर अधिकार कर लिया। उसके प्रसिद्ध लेख नख्श-ए-रुस्तम के अनुसार भारत ('हिंदू', भारतीयों के लिये पहली बार हिंदू शब्द का उपयोग दारा के उस अभिलेख में हुआ है[२]) ईरान

[१] आर्थर उफम पोप : सर्वे ऑफ पर्शियन आर्ट, देखिए, पर्सिपोलिस—अपादान के वृषभ-शीर्षस्तंभ और विशाल वृषभमस्तक। दोनों शिकागो (यू० एस० ए०) विश्वविद्यालय के ओरियंटल इंस्टिट्यूट के संग्रहालय में प्रदर्शित।

[२] दारयवौष् का नक्श-ए-रुस्तम का लेख, 'हिंदु'।

(फार्स) का 'बीसवाँ' प्रांत[१] (क्षत्रपी) था, अत्यंत लाभकर जहाँ से प्रति वर्ष ईरानी सम्राट् को आय के रूप में ३६० 'ईबोई' भार[२] स्वर्णधूलि (लगभग डेढ़ करोड़ रूपयों के मूल्य की) मिला करती थी। दारा के पूर्वी यूरोप और दक्षिण रूस की विजयवाले आक्रमण में संभवतः भारतीय योद्धा भी लड़े थे। कम से कम उसके बेटे क्षयार्ष (४२६–४०८ वि० पू०) के यूनानी आक्रमण में निश्चय भारतीय सैनिक यूनान के नगरों में लड़े थे (४२३ वि० पू०) और उनके रुई के बने कपड़ों और लौहफलकवाले बेत के लंबे बाणों को देखकर यूनानियों (ग्रीकों) ने आश्चर्य किया था[३]। २७३ वि० पू० की दारायवोष् कोदोमानस् (दारा तृतीय) और सिकंदर के बीच गागामेला (या अरबेला) के युद्ध में भी भारतीय योद्धा लड़े थे[४]। उसके कुछ ही काल पहले पंजाब और सिंध के दारा द्वारा जीते भाग ईरानियों के हाथ में रहे थे। इस प्रकार प्रायः डेढ़ सौ बरस (ल० ४५३–३८३ वि० पू०) ईरान और भारत का घना संबंध रहा था। और इस प्रकार ईरान के माध्यम से, जो सिंधु तट से दक्षिण रूस, पूर्वी यूरोपीय सीमा और मिस्र तक का स्वामी था, भारत का संपर्क भूमध्यसागर और नीलनद की घाटी से हो गया था। ईरान न केवल इस सारे भूखंड का स्वामी था वरन् समग्र मिस्री, बाबुली, आसुरी सभ्यता और कला का वारिस भी था। उसका और उसके साधन से उस पश्चिमी जगत् का प्रभाव भारत की राजनीति, समाज, साहित्य और कला पर पर्याप्त रूप से पड़ना स्वाभाविक और अनिवार्य था। व्यापार का जलगत और स्थलगत मार्ग प्रस्तुत करने के अतिरिक्त वह विशाल साम्राज्य चाणक्य और चंद्रगुप्त मौर्य के लिये आदर्श बना, साथ ही उनकी राजनीतिक सावधानी का संकेत भी, क्योंकि चाणक्य ने देखा कि दूर के ढीले प्रांत साम्राज्य को दुर्बल कर देते हैं और उसने अपने भारतीय प्रांतों को शासनकेंद्रों द्वारा जकड़ लिया। साम्राज्य, प्रांत वितरण, शासनकेंद्र और अपनी दुर्बलता से नए उपायों का योग मौर्य शासकों को ईरानी राजनीति से मिला। उसी प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य ने ईरानी दरबार की अनेक रीतियाँ अपने दरबार में प्रचलित कीं जिनमें एक सभाभवन में केशसिंचन की प्रथा थी। परंतु प्रभूत

१ वही, और देखिए, सेइस : हेरोडोटस् १–३; पृ० २७३, ४४२; कुरुष् के साम्राज्य में गंधार, वही, १, पृ० १५३ और १७७; और देखिए—जेनोफन : कीरोपीदिया, १, ४, वही, २, १–११; कुरुष भारतीय युद्ध की चोट से मरा—क्तेसियस्, ग्लीमोर संस्करण, फ्रैग्मेंट् १३७।

२ हेरोडोटस्, ३, ६४।

३ एबॉट : हिस्ट्री ऑफ ग्रीस, खंड २।

४ मुखर्जी : हिंदू सिविलाइजेशन, पृ० २८०।
देखिए : एरियन : अनाबासिष्, ३, ८, ३–६।

और दूरगामी प्रभाव तो अशोक की नीति, देश की लिपि और साहित्य और कला पर पड़ा।

८. लेखनकला पर प्रभाव

इस प्रभाव को तनिक विस्तार से लिखना उचित होगा। अत्यंत प्राचीन काल (सैंधव सभ्यता, ३२५० वि० पू०—२७५० वि० पू०) के अतिरिक्त अशोक (ल० २१५–१७५ वि० पू०) से पहले प्रायः हजार वर्ष तक भारत में उत्कीर्ण लेखों के प्रमाण नहीं मिलते। उससे तीन सौ वर्ष पहले के लेख तो मिलते ही नहीं, और इन तीन सौ वर्षों के भीतर भी अभिलेखों की संख्या दो चार ही हैं और कम से कम शैली (इबारत) के साथ लंबा अभिलेख तो बिलकुल ही नहीं मिलता। यह कहना तो (जबतक कि 'ब्राह्मी' लिपि के मूल का पता नहीं लग जाता) कठिन है कि भारत में लिखने की परिपाटी नहीं थी (और ब्राह्मी का आरंभ न तो अशोक ने किया और न वह ईरानी आधार से उठी, यह निश्चित है) परंतु यह भी कुछ कम कुतूहल की बात नहीं कि अशोक से पूर्व या कम से कम ईरानी संबंध के पूर्व के संस्कृत साहित्य में 'लिपि' अथवा इसका कोई निश्चित पर्याय (अष्टाध्यायी[1] को छोड़कर) व्यापक रूप में प्रचलित नहीं मिलता। स्वयं अशोक ने जिन 'लिबि' (लेखन), 'लिबिर' (लेखक), 'दिबि' (लेखन) 'दिबिर' (लेखक) शब्दों का उल्लेख किया है वे संभवतः उस काल की पह्लवी (ईरानी, फारसी) हैं। अशोक ने अपने कुछ अभिलेख (सीमाप्रांत, काबुल घाटी के) दाहिनी ओर से बाँई ओर लिखी जानेवाली खरोष्ठी लिपि में लिखवाए जो अरमई (ईरानी) का ही एक रूप है। इसके अतिरिक्त उसके एकाध लेख अरमई भाषा में भी लिखे मिले हैं जिससे सिद्ध है कि उत्तर पश्चिम में अरमई लिखी पढ़ी जाती थी और वहाँ की प्राकृतों (जन बोलियों) और साहित्य पर उस काल की फारसी का खासा प्रभाव पड़ा था। इस देश में साधारणतः अभिलेखों का तो प्रायः सर्वथा अभाव था ही, राजनीति के क्षेत्र में तो उनका अशोक से पहले कभी उपयोग ही नहीं हुआ था। उधर ईरान, असुर, बाबुल और मिस्र में हजारों वर्ष से चट्टानों, स्तंभों और ईंटों पर विजयप्रशस्ति लिखाने की प्रथा चली आती थी। अशोक से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहले के दारा के बेहिस्तुन, पर्सिपोलिस और नक्श-ए-रुस्तम के प्रशस्त अभिलेख इसी प्रकार की प्रशस्तियाँ हैं। सो अशोक न केवल अपने पड़ोसी शासन से अभिलेखों की प्रथा लेता है वरन् उसके अभिलेखों के प्रारंभिक शब्द 'देवानं पियो पियदसि राजा (लाजा) एवं

[1] १३, २, २१—लिपि लिबि......।

(हेवं) आह (आहा)' प्रायः वही हैं, जो दारा के अभिलेखों के हैं—'थाति्य् दारायवोष ख्शायथिय······।' इस प्रकार अपने देश में उस परंपरा के अभाव में पड़ोसी देश की परंपरा में अशोक के शिलालेख और स्तंभलेख सहसा अभिन्न मात्रा में लिखे जाते हैं। अशोक उस मानव दाय का प्रचुर उपयोग करता है।

६. मूर्तिकला पर प्रभाव

इससे भी अधिक महत्व का ईरानी प्रभाव भारतीय मूर्तिकला पर है। भारत में अशोक से पहले की मूर्तियाँ पारखम यक्ष (उसी शैली की एक आध और मनसा आदि) को छोड़ सैंधव सभ्यता की प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पूर्व की हैं। पारखम यक्ष अशोक से सौ डेढ़ सौ साल पुराना है, पर अत्यंत भोंडा, कला की दृष्टि से सारहीन, रुखड़ा, अशोकीय नागर स्निग्धता के सर्वथा विपरीत। जो कोई भारतीय कला को भारत से विलग होकर बाहर से देखता है, उसे मौर्य कला पश्चिमी एशियाई कला का एक अंग (चाहे जितनी भी विशिष्ट पर अंग ही) जान पड़ती है। वह कला निःसंदेह असाधारणरूप से परिष्कृत और प्रौढ़ है, पर है वह एक शैली की ही परिणति। यहाँ मौर्य मूर्तिकला और साधारण रूप से समूची कला के संबंध में कुछ बातें नितांत विचारणीय हैं। कला प्रयोगप्रधान वस्तु है। अभ्यास, अनुक्रम और शृंखलाबद्ध विकास उसके स्वरूप हैं। केंद्रीभूत निष्ठा और अविरल साधना उसकी सफलता के लिये अनिवार्य हैं। कला के क्षेत्र में यवनों की देवी मिनर्वा की भाँति सहसा कुछ प्रसूत नहीं हो सकता और प्रायः डेढ़ हजार वर्षों का अंतर दूर की सैंधव कला से किसी प्रकार मौर्य (अशोकीय) कृतियों का प्रेरणा पाना असंभव कर देता है। और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि अशोक को किसी सैंधव सभ्यता का लेश मात्र भी ज्ञान न था। आज हम उस सभ्यता के विषय में पर्याप्त ज्ञान रखते हैं, अशोक ने उसका नाम भी न सुना था। फिर अशोक की प्रस्तर कृतियों की अद्भुत पालिश और चमक उन्हीं के साथ शुरू भी होती है, खत्म भी हो जाती है। इस देश में उसका विकास तो दूर रहा न तो उस काल से पहले कोई उसे जानता था न पीछे। इससे यह निष्कर्ष स्वाभाविक हो जाता है कि स्तंभ और उनके पशु शीर्षों के 'अभिप्राय' (मोटिफ) और उनकी पालिश[१] उसी दिशा से इस देश में आई जिस दिशा से अशोक की खरोष्ठी लिपि और अरमई भाषा, अभिलेखों की परंपरा और उनकी भूमिका तथा उसके पितामह के सभाचार आए थे—उस शक्ति के देश से, जिसके अधिकार में भारत का एक भाग डेढ़ सौ वर्ष रह चुका था और जहाँ उनकी घनी और अटूट परंपरा थी, सहस्राब्दियों प्राचीन, उस देश को जहाँ वह परंपरा न

[१] आसुरी और ईरानी स्तंभों की पालिश मौर्य पालिश से भिन्न है।—संपादक।

तो पहले साहित्य में थी, न कला में। फिर देश और काल दोनों की परिधि के भीतर ही, सीमा के ईरान में ही, अशोक के समय से प्रायः छौ वर्ष के भीतर ही उसकी कृतियों के प्रतीक अभिप्राय और आदर्श प्रस्तुत हो चुके थे। शिकागो विश्वविद्यालय के प्राच्य प्रतिष्ठान के संग्रहालय में रखा पर्सिपोलिस् (ईरान) का वृषभ-शीर्षस्तंभ[1] अशोक के पशुशीर्ष स्तंभों का पुरोगामी प्रतीक है। वस्तुतः इस वृषभ के संबंध में कला असाधारण रूप से क्रमागत रही है। उसने प्रायः एक समूचा कालचक्र पूरा किया है। यह तो सही सही नहीं कहा जा सकता कि वृषभ का अभिप्राय (मोटिफ) पहले पहल कहाँ उदय हुआ—भारत (सैंधव सभ्यता) में या मिस्र (द्वितीय राजवंश के काकौस ने २६४३ वि० पू० से पहले मिस्र में वृषभ की पूजा प्रचलित की थी[2]) में, परंतु यदि मिस्री (एपिस) और सिंधी (ब्रह्मनी) वृषभ समकालीन भी रहे हों तो उनका यह रूप (अभिप्राय) बाबुल, असुर और ईरान होता हुआ इस देश को लौट आया है। यहाँ हमारा इष्ट वृषभ या नंदी की पूजा प्रारंभ करनेवाले देश का पता लगाना नहीं है, वरन् अशोकीय अभिप्रायों (कृतियों) के उन निकट पुरोगामियों को निश्चित करना है, जो वृषभ के अतिरिक्त भी वृषभ की ही भाँति, हम्मुराबी (लगभग २००० वि० पू०) के अभिलेखधारी स्तंभों से लेकर असुर नजीरपाल, असुर बनिपाल और उनके वंशधरों की कृतियों की राह अपनी हखमनी सम्राटों की मंजिलें पार करते अशोक तक चलते चले आए हैं। मौर्योत्तरकालीन कृतियों से अशोकीय (ईरानी) पालिश का लोप हो जाना प्रमाणित करता है कि भारतीय सीमा प्रदेश की सामाजिक स्थिति को डावाँडोल और क्षुब्ध कर देनेवाली हिंदुकुश पार की प्रबल घटनाओं के कारण वे हाथ अब उपलब्ध न थे, जिन्होंने कला की पालिश प्रस्तुत की थी। इस प्रकार विदेशी छेनी का भारतीय अभिप्रायों और कलाप्रतीकों में उपयोग पीछे की सदियों में तो भरपूर हुआ। तक्षशिला और अन्य यूनानी नगरों में बौद्धकथाओं को कोरने उभारने में वह छेनी इतनी गतिशील रही कि उसने प्रतीकों के भारतीकरण का एक आंदोलन ही चला दिया। यह आंदोलन, कुछ आश्चर्य नहीं, जो ईरानी टेक्नीक का भी विरोधी हो गया हो।

[1] देखिए, उस संग्रहालय का वह स्तंभ नं० एन २६०५१।

[2] हाल : एंशे० हिस्ट्री०, पृ० ११०।

द्वितीय अध्याय

यवन-पह्लव प्रभाव

१. प्रथम यवन संपर्क : सिकंदर

मौर्यकाल के बाद की शताब्दियाँ भारत के लिये बड़ी विपज्जनक सिद्ध हुईं। स्वयं मौर्य साम्राज्य सिकंदर के आक्रमण की उथल पुथल के बाद खड़ा हुआ था, उसके परिणामों की समृद्धि के लिये सिकंदर के आक्रमण का बहुत गहरा प्रभाव तो देश पर नहीं पड़ा फिर भी उसे सर्वथा नगण्य नहीं ठहराया जा सकता। यह सही है कि चाणक्य और चंद्रगुप्त ने सिकंदर के विजयचिह्नों को प्रायः मिटा दिया, भारतीय साहित्य ने उसकी कहीं चर्चा तक न की परंतु इतने पैमाने के आक्रमण सर्वथा परिणामहीन नहीं हुआ करते, यह मानना चाहिए। सिकंदर के आक्रमण का एक विशेष परिणाम तो यूरोपीय देशों से भारत का नया संबंध स्थापित हो जाना ही हुआ। शासक सेनाएँ भारतीय प्रहारों से अधिकतर नष्ट हो गईं, पर चंद्रगुप्त मौर्य की चोट के होते हुए भी सिकंदर के बसाए नगर कुछ काल तक बने रहे। सीमा के नगरों में यवन बस गए—यह दूसरा परिणाम था। तीसरा यह कि भारतीयों को अपनी सामरिक दुर्बलता ज्ञात हो गई। पंजाब के छोटे छोटे राज्यों के नष्ट हो जाने से मौर्य साम्राज्य के एकतंत्री शासन के लिये भूमि तैयार हो गई। पर यूनानी नगर राज्यों की ही भाँति भारतीय गणतंत्रों के नष्ट हो जाने से लोकतांत्रिक आधार उखड़ चला। सिक्कों के क्षेत्र में संभवतः कुछ प्रगति हुई। एथेंस के 'उलूकीय' सिक्कों और 'अत्तिक' भार के अनुकरण में यहाँ भी कुछ चाँदी के सिक्के बने। पर चाँदी के विशिष्ट और वास्तविक सिक्के तो भारत को मौर्योत्तर ग्रीकों ने दिए।

२. बाख्त्री-यवन संपर्क

मौर्यों के पतन के बाद की विपज्जनक स्थिति की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। पिछले मौर्य राजाओं की दुर्बलता और एशियाई यवनों के चुटीले घावों ने साम्राज्य के प्रांतों को छिन्न भिन्न कर दिया। ईरानी साम्राज्य के आधार पर सिकंदर का साम्राज्य खड़ा हुआ पर उसका लावारिस यूरोपीय एशियाई मिली साम्राज्य भी अनेक स्वतंत्र और परस्पर संघर्षशील यवन राज्यों में बँट गया। मकदुनिया से बाख्त्री (वह्लीक) तक यूनानी प्रभुत्व छाया हुआ था। एशिया की भूमि पर असंख्य यूनानी बस्तियाँ बस गई थीं। इन्हीं में से एक आमू दरिया (वक्षु नद) की घाटी के

बाख्त्री का राजकुल बड़ा प्रबल और मौर्य साम्राज्य तथा उस काल के भारतीय समाज के लिये बड़ा घातक सिद्ध हुआ। सिकंदर ने उदीयमान यवन राज्यों और साहसिकों को राह दिखा दी थी। सिकंदर के बाद पहला ग्रीक आक्रमण उसी के एक जेनरल, और असीरिया के सम्राट्, सिल्यूकस का हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि हिंदुकुश पर्यंत सारे प्रदेश भारत से आ मिले।

उसी सिल्यूकस के वंशधर अंतिओकस् द्वितीय के शासनकाल में एक महती क्रांति हुई जिससे भारत पर भी दूरगामी प्रभाव पड़ा। उसके परिणामस्वरूप एशिया के दो प्रांत सीरिया के साम्राज्य से सहसा स्वतंत्र हो गए, पार्थव और बाख्त्री के। इनमें पहला ईरानी था, दूसरा ग्रीक। शीघ्र बाख्त्री की शस्यश्यामला घाटी में मैग्नेशिया के स्वच्छंद सामरिक यूथिदेमो ने जिस राज्य की शक्ति प्रतिष्ठित की उसका विशिष्ट राजा उसी का पुत्र दिमित्रिय हुआ। दिमित्रिय का श्वसुर सीरिया का अंतिओकस् तृतीय था जिसने सिल्यूकस के बाद हिंदुकुश लाँघा। उसे तो तत्काल स्वदेश लौटना पड़ा, पर अपने आक्रमण द्वारा जिस हमले का उसने उन दिनों आरंभ किया उनका ऐसा ताँता बँधा कि वह तीन सौ सदियों तक बराबर चलता रहा। और इन हमलों का अधिकतर आधार बाख्त्री ही था। दिमित्रिय ने शीघ्र स्वयं अपने आक्रमणों की परंपरा बाँध दी जिससे वह 'भारत का राजा'[१] ही कहा जाने लगा। भारत पर ग्रीक आक्रमणों के परिणाम जानने से पूर्व बाख्त्री भारत के संबंध को समझ लेना आवश्यक होगा।

दिमित्रिय के आक्रमण इतने तीव्र और महत्व के हुए कि ग्रीक इतिहासकारों ने तो उसे 'भारत का राजा' कहा ही, भारतीय साहित्य में भी उसका विशद उल्लेख हुआ[२]। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में उसके आक्रमण का उल्लेख किया (अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्)[३], 'गार्गीसंहिता' के युगपुराणकार ने उसे 'धर्ममीत'[४] कहकर सराहा और समकालीन कलिंगराज खारवेल ने अपने हाथीगुंफा के अभिलेख में 'दिमित'[५] नाम से प्रकाशित किया। पंचाल

१ स्त्राबो; देखिए, डब्ल्यू० डब्ल्यू० टार्न : ग्रीक्स् इन बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया, पृ० १४४ और अन्यत्र।

२ गार्गीसंहिता का युगपुराण (देखिए, विक्रमजयंती ग्रंथ), ग्वालियर, (लेखक का) पहला लेख, युगपुराण का संस्कृत पाठ 'धर्ममीत'; 'योनराज दिमित'—खारवेल का हाथीगुंफा लेख; पतंजलि के 'सौवीरों का दत्तामित्री' देखिए, टार्न : ग्रीक्स०, पृ० १४२ और नोट।

३ महाभाष्य, ३, २, ११।

४ देखिए, ऊपर।

५ देखिए, ऊपर।

(गंगा यमुना के बीच का द्वाब) और साकेत, नगरी आदि रौंदता वह पाटलिपुत्र (पटना) जा पहुँचा। मध्यदेश पर यह पहला विदेशी आक्रमण था। पर अपने गृहयुद्ध से सशंक होकर दिमित्रिय को शीघ्र उलटे पाँव लौटना पड़ा। उसका सफल प्रतिस्पर्धी युक्रेतिद स्वयं विजेता था और उसने पश्चिमी पंजाब पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार बाख्त्री, काबुल, गांधार और पश्चिमी पंजाब पर युक्रेतिद के कुल का राज्य स्थापित हुआ और सिंध तथा पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर दिमित्रिय और उसके वंशजों-संबंधियों का शासन प्रतिष्ठित हुआ। उसका दामाद मिनांदर पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तरप्रदेश का स्वामी था जिसका बौद्ध नाम मिलिंद हुआ। उसकी राजधानी साकल (स्यालकोट) थी और सीमाएँ पुष्यमित्र शुंग की मागध सीमाओं से टकराती थीं। यवन मध्यदेश के प्रायः एक भाग तक छाए हुए थे। उनका प्रभाव देश पर होना अनिवार्य था।

इन यवनों का भारत से संबंध न सिकंदर का सा था, न पिछली यूरोपीय जातियों का सा। ये भारत में रह जाने के लिये आ बसे थे। इसी देश को उन्होंने अपना घर बनाया और इसी के धर्मों में वे दीक्षित हुए। दो सदियों से ऊपर उनका जो इस देश पर स्वत्व बना रहा और शक्ति खोकर भी जो वे बाहर न लौटे, इसी देश की जनता में खो गए, तो उनका भारत की राजनीति, समाज, धर्म, कला, साहित्य आदि पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। नीचे हम उसी पर प्रकाश डालेंगे।

(१) भाषा पर प्रभाव—जिन 'दुष्टविक्रांत यवनों' का गार्गीसंहिता के युगपुराण ने सविस्तर उल्लेख किया है उनके अनेक सर्वथा यवन, यवन-प्रधान अथवा यवन-मुहल्लोंवाले नगर भारत में बस गए थे। युथिदेमिया, पत्तल, दत्तामित्री, युक्रेतीदिया, तक्षशिला और साकल ऐसे ही नगर थे जहाँ यवन लोग अपने प्रख्यात नाटककारों के नाटक खेलते थे, यवन कला, साहित्य आदि की साधना करते थे। संत क्रिसोस्तोम (प्रथम शती वि० पू०) ने जो कहा है कि 'भारतीयों ने होमर को अपनी विविध भाषाओं में अनूदित कर लिया है और उन्हें वे प्रायः गाया करते हैं',[1] और जिसे प्लुतार्च और ईलियद ने दुहराया है, संभव है सर्वथा सही न हो और रामायण तथा ईलियद की समानताएँ नगण्य हों, तथापि इसमें संदेह नहीं कि यवन और भारतीय भाषाओं की एक दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया हुई। यह प्रतिक्रिया या प्रभाव कितना गहरा गया यह कहना तो कठिन है पर अपने साहित्य में जो अनेकतः संकेत मिलते हैं उनसे प्रमाणित है कि भाषा और साहित्य की दिशा में यूनान का प्रभाव नगण्य न था।

[1] टार्न : ग्रीक्स् इन बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया।

ग्रीक अर्थ में तो पतंजलि के महाभाष्य और मनु की स्मृति से लेकर संस्कृत के पिछले साहित्य तक यवन शब्द का निरंतर प्रयोग होता ही आया है, यवन भाषा के अनेक शब्दों और लाक्षणिक पदों का भी पर्याप्त उपयोग हुआ है। पाँचवीं शती वि० पू० के स्वयं पाणिनि ने यवनानी-लिपि[१] का उल्लेख किया है। लिखावट से भाषा का घना संबंध होता है, लिपि लेते ही अनजाने आदमी भाषा भी, कम से कम शब्दों के रूप में ले लेता है। संस्कृत में अनेक ग्रीक शब्दों का उपयोग हुआ है। प्राकृतों में भी उनके होने की कुछ कम संभावना नहीं है। संस्कृत में व्यवहृत कुछ ग्रीक शब्द निम्नलिखित हैं : सुरंग (हिंदी में भी, ग्रीक सीरिंक्स से), क्रमेल (ऊँट, कामेल), कलम, मरगा आदि[२]।

(२) ज्योतिष पर प्रभाव—इसी प्रकार अनेक ज्योतिषपरक यवन शब्दों का प्रयोग भी संस्कृत में हुआ है जिनसे उस दिशा में भारत की भाषाओं पर ग्रीक का प्रभाव प्रकट होता है। जन्मपत्रियों के लिये संस्कृत में अपना शब्द नहीं है, सदा उसके लिये ग्रीक होराचक्र का प्रयोग होता आया है। जन्मपत्रियों आदि के खंड के लिये वराहमिहिर ने होरा[3] शब्द का व्यवहार किया है। होरापाठक नक्षत्र या जन्मपत्रियो को पढ़नेवाला है। इसी प्रकार ग्रीक ज्योतिष के लिये संस्कृत के कुछ लाक्षणिक शब्द हैं, पणफर (एपानाफोरा), आपोक्लिम (ग्रीक अपोक्लिम), हिबुक (हिपोगियोन्), त्रिकोण, जामित्र। यह लग्न विवाह के लिये अत्यंत शुभ माना जाता है। कालिदास ने कुमारसंभव में देवदंपति शिव और उमा को विवाहसूत्र में बाँधने के लिये यही लग्न चुना है। इसका ग्रीक मूल है द्यामितर (द्यामित्रान्), मेषूरण (मेसूरनिश्रोस:)[४]। भारतीय ज्योतिष के राशिचक्र के सभी संस्कृत नाम ग्रीक मूल या अनूदित रूप में ही व्यवहृत होते हैं, जैसे क्रिय (क्रियोस्, मेढ़ा), तावुरि (अथवा तौरुरी, ग्रीक तौरस्, वृषभ), जितुम (दिदिमस्), लेय (लियों, सिंह), पाथोन (पार्थेन, कन्या, ग्रीक पार्थेनस्), जुक (जुगोन्), कौर्प्य (स्कार्पियस्, वृश्चिक), तौक्षिक (धनुर्धर), आनोकेरो (ऐगोकेरस्), हृद्रोग (हिद्रोखूस्), इत्थ्य (इत्थ, इथुसि, ग्रीक इख्थियस्)[५]। ग्रीक ज्योतिष के शब्द अधिकतर सिकंदरिया (मिस्र का ग्रीक नगर अलेक्जंद्रिया) से आए थे जिसे भारतीय यवनपुर कहते थे[६]।

[१] अष्टाध्यायी, ४, १, ४९; कीथ: हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४२५।
[२] कीथ, वही।
[3] वराहमिहिर के ग्रंथ का नाम ही 'होराशास्त्र' है।
[४] कीथ, हिस्ट्री आफ संस्कृत०, पृ० ५३०।
[५] कीथ, वही, पृ० ५३०।
[६] वही, पृ० ५१८।

उनके पाँच सिद्धांतों में से एक रोमक सिद्धांत अपना मध्याह्न (खमध्य, याम्योत्तर-वृत्त) उसी नगर से गिनता था[1]।

भारतीय ज्योतिष पर यूनानी ज्योतिष का प्रभाव केवल निष्कर्षतः नहीं माना जाता। भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। प्राचीन ज्योतिष ग्रंथ गार्गीसंहिता का कहना है कि यवन (ग्रीक) यद्यपि म्लेच्छ हैं, परंतु चूँकि ज्योतिष शास्त्र का आरंभ उन्होंने ही किया है, इससे वे ऋषिवत् पूज्य हैं। वराहमिहिर (मृत्यु ५८७ वि०) ने अपनी पंचसिद्धांतिका में जिन पाँच ज्योतिष सिद्धांतों का संग्रह किया है उनमें पहले पैतामह के अतिरिक्त शेष सभी चारों पर कम वेश यवन ज्योतिष का प्रभाव लक्षित है। उनमें दो, रोमक और पौलस, जैसा नाम से ही प्रकट है, विदेशी सिद्धांत हैं, एक रोम से संबंध रखनेवाला, दूसरा यवनों से। रोम वाला भी नाम मात्र ही रोम से संबंध रखता है, अन्यथा है वह भी ग्रीक आचार्यों का ही, सिकंदरिया से संबंधित। पौलस अलेक्ज़ांद्रिनस् का नाम प्राचीन आचार्यों में गिना जाता है। उसका एक ज्योतिष ग्रंथ आज भी हमें उपलब्ध है। भारतीय ज्योतिष के प्राचीन आचार्यों—सत्याचार्य, विष्णुगुप्त, देवस्वामिन्, जीवशर्मन्, पिंडायु, पृथु, शक्तिपूर्व, सिद्धसेन—के जो नाम वराहमिहिर ने गिनाए हैं उन्हीं में तीन विदेशी आचार्यों के नाम भी हैं—मय, मणित्थ और यवनाचार्य। मय का उल्लेख आसुरी स्थापत्य के संबंध में पहले भी किया जा चुका है। साधारणतः यह माना जाता है कि भारतीयों ने भविष्य कथन की विद्या बाबुलियों से सीखी। संभवतः राशिचक्र भी पहले पहल, ग्रीकों से भी पूर्व, उन्होंने ही स्थापित किया। असुर राजाओं के दरबार में, असुर और निनेवे में, देवचिंतक रहते थे। राजा सारे कृत्य, विशेषकर विजययात्रा, उनसे पूछकर ही करता था। भारतीय नीतिग्रंथों में भी राजा को अपनी सभा में देवचिंतकों को रखना आवश्यक था। कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि ने उसका विधान किया है। सूर्यसिद्धांत का कहना है कि उसे सूर्य भगवान् ने रोमक (नगर) में असुर मय को सिखाया। (यह स्मरण रखने की बात है कि १६४३ वि० पू० में बाबुली हम्मुराबी को भी सूर्य से ही दंडविधान मिलने का उल्लेख उस काल के उसके स्तंभ में हुआ है)। रोमक सिद्धांत भारतीय युगविधान को नहीं मानता और मध्याह्न की गणना यवनपुर (मिस्र की ग्रीक नगरी सिकंदरिया) से करता है। पौलस सिद्धांत यवनपुर और उज्जैन की दूरी देशांतर में देता है। सूर्यसिद्धांत रोमक और पोलिश दोनों से पूर्ण है और संभवतः दोनों के अनेक सिद्धांत स्वायत्त कर उनके भारतीकरण का उदाहरण प्रस्तुत करता है। क्रांतिवृत्त का नाक्षत्रिक विभाजन होते ही ग्रीकों का राशिचक्र, उनके नाम के साथ, ले लिया

[1] वही।

जाता है। अब तक उपेक्षित ग्रहों की गति परिचक्रों के सिद्धांत द्वारा निर्दिष्ट होने लगती है। अक्षांशमेदांश (लंबन) के सिद्धांत और उसकी गणना की विधियों का आरंभ हो जाता है। ग्रहणों की गणना की नई विधियाँ स्वीकृत होती हैं। नक्षत्रों का, सौर उदयास्त का मानव प्रारब्ध पर उनके फल के साथ अध्ययन प्रारंभ हो जाता है। दिन रात का सही मान और वर्ष का नया परिमाण प्रस्तुत होता है। ग्रहों के नाम पर सप्ताह के दिनों के नाम रख लिए जाते हैं। पौलस सिद्धांत के आधार पर ही भारतीय त्रिकोणमिति (ग्रीक, त्रिगोनोमेत्री) का उदय होता है। तालेमी की तंतुपीठिका से उसकी अपनी चिह्नपीठिका प्रस्तुत होती है पर व्यासादि को ६० भागों में न बाँटकर १२० भागों में बाँटते हैं जिससे चिह्न आधे आधे कोण के हो जाते हैं।

ज्योतिष के ग्रंथ यवनजातक के एक टूटे अंश से पता चलता है कि संस्कृत में अपनी भाषा से उसका अनुवाद किसी यवनेश्वर ने किसी अज्ञात संवत् के वर्ष ६१ में किया। स्वयं वराहमिहिर ने यवनाचार्य का नामोल्लेख किया है। यवनजातक के एक पिछले पाठ का रचयिता भी कोई मीनराज यवनाचार्य ही है। ऊपर मणित्थ का भी उल्लेख किया गया है। उसके सिद्धांत के संबंध में कहते हैं कि वह वराह-मिहिर और सत्याचार्य से विपरीत प्राचीन यवन शास्त्र के अनुकूल था। संभवतः मणित्थ अपेतोलेस्माता का रचयिता था। वस्तुतः सूर्य से वराहमिहिर की ग्रहगणना का आरंभ प्रमाणित करता है कि प्रायः तभी भारत ने यहूदी ईसाई साप्ताहिक तिथि-चक्र (कैलेंडर) स्वीकार किया था। ईसाई रोमन सम्राट् कौंस्तांतीन ने ३७८ विक्रमी में इन ग्रहों के नामोंवाले सप्ताह को प्रचलित किया और रविवार को आराम का दिन माना था[१]।

वराहमिहिर ने तो अपनी बृहत्संहिता के एक खंड का नाम 'होरा' रखा ही था, एक ७५ छंदों के पृथक् होराशास्त्र की भी रचना की थी। इसी प्रकार उसके पुत्र पृथुयशस् ने भी होराषट्पंचाशिका नाम का ज्योतिष ग्रंथ रचा। यवन सिद्धांतों और लाक्षणिक शब्दों से इस देश का ज्योतिषशास्त्र समृद्ध हुआ।

(३) **दर्शन, गणित तथा साहित्य**—यवनों का प्रभाव केवल ज्योतिष संबंधी साहित्य पर ही नहीं पड़ा। अन्य साहित्य भी उस संपर्क से वंचित न रह सके। दर्शन, गणित और कथा साहित्य में यूनान और भारत अत्यंत प्राचीन काल से स्वतंत्र रूप से महान् रहे हैं। अनेक समानांतर सिद्धांत और कहानियाँ उनकी प्रायः एक ही रूप में विकसित हुई हैं पर यह कहना कठिन है कि उस दिशा में भी

[१] कीथ, वही, पृ० ५११।

दोनों में आदान प्रदान हुए हैं। इसी प्रकार यह कहना भी कठिन है कि इस देश के अनेक यवन नगरों में यूनानी रंगमंच रहते भी क्या उसका भारतीय रंगमंच या नाटक पर कुछ प्रभाव पड़ा। फिर भी उस दिशा में रंगमंच की व्यवस्था सँवारने में संभवतः यूनानी परंपरा का एक सीमा तक हाथ रहा है। 'यवनिका' शब्द, जिसका अर्थ ड्राप सीन का पर्दा होता है, उस दिशा में यूनानी रंगमंच के प्रति भारत का ऋण प्रकट करता है। निश्चय यह केवल यूनानी पट का द्योतक नहीं है जैसा कुछ लोगों ने उसका अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है, बल्कि वह भारतीय रंगव्यवस्था का एक अंग है। इसी प्रकार, लगता है, हास्यपूरित ग्रीक 'कामेडी' ने भी तीसरी शती विक्रमी के लगभग लिखे शूद्रक के नाटक मृच्छकटिक पर अपनी छाप छोड़ी है। भारतीय नाटकों में परिहास का अंश अत्यंत थोड़ा और हास्यास्पद दुर्बल होता है, अधिकतर केवल विदूषक के पेटूपन तक ही सीमित। मृच्छकटिक में हँसी के फव्वारे छूटते हैं, वस्तुतः संस्कृत साहित्य भर में ग्रीक कामेडी के निकटतम वही नाट्यकृति आती है। तब तक निश्चय यूनानी रंगमंच का भारत में अभाव न हो गया होगा, यह निःसंदेह कहा जा सकता है, क्योंकि प्रायः वही काल था जब ज्योतिष का इतना गहरा प्रभाव उस दिशा से भारतीय साहित्य पर पड़ा। इसी प्रकार हिंदू-यवन मुद्राओं (सिक्कों) की ग्रीक और खरोष्ठी दुभाषी लिखावट से पता चलता है कि कम से कम देश के एक भाग में दोनों लिपियाँ समझी जाती थीं।

(४) मुद्रा—सिक्कों का उल्लेख करते हुए यह बात नहीं भूली जा सकती कि यवन सिक्कों ने भारतीय सिक्कों को एक नया अभिप्राय, नया आदर्श प्रदान किया। उससे पहले देश में केवल आहत मुद्राएँ बनती थीं, जिनपर चैत्य, बोधिवृक्ष आदि के चिह्न बने रहते थे (उन्हें आज के मुद्राविद् 'पंचमार्क्ड' कहते हैं)। अब यवनों के अनुकरण में अच्छे, गोल, बराबर किनारों के ढाले हुए सिक्के चलने लगे। सिक्कों के लिये ग्रीक शब्द 'द्रख्म' तक 'द्रम्म' के रूप में भाषा में ले लिया गया, वही आज भी हिंदी में मूल्य के अर्थ में 'दाम' शब्द से प्रचलित है। हिंदू यवन सिक्कों के आधार पर भारतीय इतिहास का यवन युग भी खोज निकाला गया है। इसी प्रकार उसी विधि से पह्लवों का राजकुल भी भारतीय इतिहास का अंग बना। इन यवन सिक्कों का महत्व भारतीय इतिहास में असाधारण है।

(५) कला—परंतु यवन संबंध का सबसे गहरा प्रभाव भारतीय कला पर पड़ा। उस कला की एक महान् और विशिष्ट शैली यवन शैली और भारतीय अभिप्राय (मोटिफ) के संमिलित प्रयास से प्रस्तुत हुई जो लाक्षणिक रूप से गांधार शैली के नाम से विख्यात हुई। पाकिस्तान का उत्तर पश्चिमी भाग तब गांधार कहलाता था। तक्षशिला उसका केंद्र थी। पिछले साठ वर्षों में यवन वेशभूषा और आकृति की हजारों मूर्तियाँ, बौद्ध प्रतीकों में रूपायित, गांधार प्रदेश से मिली

हैं। गांधार का विस्तार सिंधु नद और झेलम के बीच पश्चिमी पंजाब से पेशावर जिला, काबुल नदी की घाटी, स्वात, बुनेर और अन्य कबीलाई प्रदेशों तक रहा है। सबसे अधिक मूर्तियाँ इस शैली की यूसुफजई इलाके में जमालगढ़ी, शहर-ए-बह-लोल, तख्त-ए-बाही से उपलब्ध हुई हैं। स्वात ने उस शैली की सुंदरतम विभूतियाँ प्रदान की हैं। साधारणतः इस शैली का कालप्रसार विक्रम की प्रथम शती के मध्य से लगभग ३५७ वि० तक रहा है, यद्यपि दोनों सीमाओं के परे भी इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण असाधारण नहीं माना जा सकता। जहाँ तक ये मूर्तियाँ जानी हुई हैं, प्रायः सभी बौद्ध केंद्रों से प्राप्त हुई हैं और सभी बौद्ध धर्म की हैं, न जैन, न ब्राह्मण। कुछ बुद्ध की अपोलो के रूप में, कुछ ब्रह्मा की संत पीटर या पालस एथेनी के द्वारपाल के रूप में कोरी मिली हैं, पर रूप चाहे जितना भी यूनानी क्यों न रहा हो, तक्षण का विषय सर्वदा भारतीय रहा है, बुद्ध को केंद्रित करता, उसे विशेष ऊँचाई और शालीनता प्रदान करता।

इस प्रकार ईरानी छेनी की ही भाँति यूनानी छेनी भी भारतीय परंपरा को नई काया, नए परिधान प्रदान करती है। भारतीय जीवन की कथाएँ, बुद्ध के जीवन से आकृष्ट कर, सिलसिले से पत्थर पर उभार दी गई हैं। बुद्ध ने अपनी मूर्ति का निर्माण वर्जित किया था, इससे अबतक हीनयान की परंपरा के अनुसार केवल बोधि-वृक्ष, छत्र, धर्मचक्रप्रवर्तन आदि के प्रतीकों द्वारा तथागत की उपस्थिति प्रकट की जाती थी, परंतु विक्रम की पहली शती से महायान के उदय पर जो व्यक्तिगत देवता की संभावना हुई तो पहली बार बुद्ध की मूर्ति कोरी गई। आज की हजारों बुद्धप्रतिमाएँ जो देशी विदेशी संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं अथवा भूमि में गड़ी पुराविद् की कुदाल की प्रतीक्षा कर रही हैं, उसी आकार की छाया या प्रतिकृति हैं, जिसे पहले पहल ग्रीक कलावंत ने रूपायित किया। वही मूर्ति पिछली मूर्तियों का आदर्श बनी। वही चेहरा, नाक, कान, आँख आदि के वही मान भारत की भव्यतम बौद्ध प्रतिमाओं के लिये दृष्टांत बनीं। इन मूर्तियों के अतिरिक्त तक्षशिला में अनेक इमारतें, एक मंदिर और कुछ यवन (आयोनियन) शैली के स्तंभ भी मिले हैं। परंतु इतनी विशिष्ट और महत्व की होकर भी यह शैली दीर्घकाल तक जीवित न रह सकी। शीघ्र उसका भारतीकरण शुरू हो गया और गुप्तकाल तक पहुँचते पहुँचते गांधार भूषा बौद्ध संघाटी (ऊपर का वसन) की चुन्नट मात्र रह गई। गांधार शैली की भारत को शालीन देन बुद्ध की सावयव मूर्ति थी।

(५) भारतीकरण—शुंगों का ब्राह्मण साम्राज्य वि० पू० दूसरी शती के तीसरे चरण में मगध में खड़ा हुआ। संस्कृत लौटी, पौरोहित्य लौटा, यज्ञक्रियाएँ लौटीं। पुष्यमित्र ने अश्वमेध किए। पतंजलि ने अपना महाभाष्य लिखा, मनु ने अपना धर्मशास्त्र। पर बौद्ध अपनी खोई हुई शक्ति लौटाने के लिये कटिबद्ध हुए।

के प्रति उनकी पूजा, क्रीडाशील जातीय विशिष्ट व्यवस्था आदि उन्हें उस प्रदेश के अन्य सहवासियों से सर्वथा भिन्न कर देते हैं। चौबे चाहे यवन न हों पर निःसंदेह यवनों की जाति भी भारतीय समाज में घुल मिल गई है। बृहत्कथामंजरी की अनेक कथाओं में उन्हें बड़ा दक्ष शिल्पी माना गया है। उड़नेवाले यंत्रचालित घोड़ों के निर्माता के रूप में उस पुस्तक में उनका विशेष उल्लेख हुआ है[1]। इसमें संदेह नहीं कि इस देश के सामाजिक और कला, विज्ञान, साहित्यिक विकास में यवनों (ग्रीकों) का असामान्य योग रहा है।

३. पह्लव प्रभाव

अधिकतर भारतीय प्राचीन साहित्य में अन्य विदेशियों, विशेषकर यवनों, के साथ ही पह्लवों (हिंदू पार्थवों) का भी उल्लेख हुआ है। पह्लव ईरानी थे और पहली शती वि० पू० से पहली शती विक्रम के बीच उन्होंने भारत के उत्तर पश्चिमी प्रदेश पर प्रायः सौ वर्ष राज किया। वे पूर्वी ईरान के स्वामी थे। भारतीय शक राजा उन्हें अपना स्वामी मानते थे। उनका अपने को क्षत्रप अथवा महाक्षत्रप कहना उसी सम्राट् सामंतवाले संबंध को प्रकट करता है। पह्लवों के भी अनेक सिक्के मिले हैं, जिनसे इस देश पर उनके शासन का पता चलता है। इससे प्रकट है कि एक काल तक उन्होंने भी भारत की राजनीति सँभाली और यद्यपि उनके आँकड़े हमारे पास नहीं हैं, राजवर्ग का देश और शासितों पर जितना प्रभाव पड़ता है उसे देखते स्पष्ट है कि इनका प्रभाव भी यहाँ के आचारविचारों पर पड़ा होगा। संस्कृत में मुद्रा, क्षत्रप, बहादुर, शाह, शाही, मिहिर आदि शब्द पह्लवों के ही छोड़े हुए हैं[2]। उनके संबंध से खरोष्ठी लिपि के प्रचलन में कितनी सरलता हुई होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः उस प्रदेश में कुरुष और दारायवौष आदि पाँचवीं शती वि० पू० के सम्राटों के समय से ही अरमई भाषा और खरोष्ठी लिपि का व्यवहार चला आता था और कुषाणों के अंत काल तक चलता रहा था, और यह संदिग्ध है कि काल के प्रभाव से बदलती भाषा और लिपि के अतिरिक्त उनके व्यवहार का वहाँ कभी भी अंत हुआ। अन्य भाषाभाषी होते हुए भी यवनों को अपने सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि खुदवानी पड़ी थी। आज की कबीलाई भाषा पश्तो भी ईरानी से गहरी प्रभावित है, उस दिशा में स्वयं पह्लवों का प्रभाव कुछ कम न रहा होगा। बहुत कुछ उस प्रभाव का प्रसार और वितरण तो उन शकों के माध्यम से ही, पह्लवों के इस देश से लुप्त हो जाने के प्रभूत काल पश्चात् तक, होता रहा था,

[1] खंड १४—कीथ : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २७६।
[2] कीथ, वही, पृ० २५।

जो न केवल ईरान होकर आए थे वरन् पूर्वी ईरान के स्वामी पार्थव-पह्लव नरेशों को अपना प्रभु मानते और ईरानी शब्द क्षत्रप के व्यवहार से अपने को उनका प्रांतीय शासक अथवा प्रतिनिधि सामंत स्वीकार करते थे। भारत पहुँचते पहुँचते शकों की वेशभूषा भी प्रायः संपूर्ण रीति से ईरानी हो गई थी, और जिस अचकन सलवार, पगड़ी, अथवा जंगी टोप का उन्होंने इस देश में प्रचार किया, वह वस्तुतः ईरानी ही थी। सूर्य की कुषणकालीन पहली भारतीय मूर्ति की वेशभूषा भी वही है और उसी काल की स्तूप-रेलिंग-स्तंभ में की दीपवाहिका की भी जो छींटदार लंबी आस्तीनोंवाली कुरती, घाँघरी और हलकी पगड़ी पहने हुए है[1]। उस काल का यह नारीवेश था, जिसका विशेष प्रसार, यदि हुआ तो, पह्लवों के ही समय हुआ होगा।

ईसाई परंपरा मे पह्लवों के अंतिम राजा गुदफर (गुदह्वर, विंदफर्ण) का नाम ईसा के शिष्य संत तामस से संबंधित है। कहते हैं कि पहली शती विक्रमी में जब ईसाई धर्म के प्रचार के लिये ईसा के शिष्यों में विविध देश बँटे तब भारत इस संत तामस के हिस्से पड़ा। वह भारत आया भी और मद्रास में उसकी कब्र भी दिखाई जाती है। नहीं कहा जा सकता, यह अनुश्रुति कहाँ तक सही है, पर यदि यह सही हुई तो इस देश में पहले ईसाई को प्रवेश कराने का श्रेय पह्लवनरेश गुदफर को होगा जिसने ७६ वि० और १०२ वि० के बीच राज किया।

४. रोमक प्रभाव

इसी सिलसिले में रूमी प्रभाव की चर्चा कर देना भी उचित होगा। रोमक सिद्धांत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। रोम नगर से ज्योतिष का, जैसे पहले कहा जा चुका है, विशेष संबंध न था परंतु चूँकि यवनपुर (सिकंदरिया) तब रोम के अधिकार में था और रोम का सर्वत्र बोलबाला था, उस सिद्धांत का नाम रोमक पड़ा। भारत का रोम से संबंध तो निःसंदेह घना था। कनिष्क ने दूसरी शती विक्रमी में अपने दूत रोम भेजे। गुप्तों के समय भी रोमन साम्राज्य से एक प्रकार का संबंध बना था। पहले जिस 'पेरिप्लस' का उल्लेख हुआ है वह पहली शती के ही पहले पीछे के भारत और पश्चिम के व्यापार पर प्रकाश डालता है। इतिहासकार प्लिनी ने भारतीय विलासवस्तुओं—मोती, मलमल और गरममसालों—के विरुद्ध अपने इतिहास में उस काल बड़ा जहर उगला और रोम की सेनेट ने उन चीजों पर शत प्रति शत कर भी लगा दिया। पर वहाँ के विलासियों और विलासिनियों ने भारतीय माल खरीदने से हाथ न रोका। कुछ ही शतियों के बाद विजिगोथ अलारिक

[1] लखनऊ संग्रहालय, पुरातत्व विभाग, प्रधान हाल।

रोम जीतने पर जब उसका विध्वंस करने पर तुला तब उसकी मुक्ति के बदले रोम के शासकों के अनुनय पर उसने उनसे प्रायः ३७३ मन काली मिर्च माँगी। इन सब वस्तुओं के बदले भारत की भूमि पर धारासार सोना बरसता था। पश्चिमी तट पर हजारों की संख्या में रोमन सम्राटों के सोने के सिक्के मिले हैं। वे सब इसी व्यापार के बदले आए थे। उसी व्यापार के फलस्वरूप उज्जैन इतना संपन्न और धनाढ्य नगर हो गया था। 'दीनार' शब्द रोमन भाषा का है जो वहाँ के सोने के सिक्के का नाम था। उसका प्रयोग संस्कृत में भी होने लगा था। जान पड़ता है कि वह सोने का सिक्का व्यापार की विधि से आकर इस देश का सिक्का न होकर भी यहाँ चलता था। उसकी अगणित संख्या होने के कारण ही उसका प्रचलन संभव हो सका होगा। पहली शती विक्रमी के आसपास के बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान में दीनार शब्द का उल्लेख हुआ है[1]। बौद्धविरोधी ब्राह्मण सम्राट् पुष्यमित्र ने शुंग संबंधी उसकी एक कथा में प्रत्येक श्रमण शिर के ऊपर सौ दीनारों का पुरस्कार रखा था। अपनी मुद्राएँ उसकी थीं ही, पर उनको छोड़ रोमन दीनारों (दिनारियस्) में उसका पुरस्कार घोषित करना अवदानकार अस्वाभाविक नहीं मानता। और यह घोषणा मगध का सम्राट् साकल (स्यालकोट, पंजाब) में करता है। निष्कर्ष स्वाभाविक है कि रोमन दीनार मगध और पंजाब दोनों प्रदेशों में चलते थे। पंचतंत्र, कथासरित्सागर, नारदस्मृति, गुप्तलेख[2] आदि सभी इस शब्द को जानते हैं। प्रकट है कि देशी विदेशी दोनों प्रकार के दीनार चलते थे। शुद्ध देशी रूप में तो स्वर्ण का सिक्का 'सुवर्ण' कहलाता था, परंतु स्वर्ण मुद्राओं का साधारण रूप से दूसरा रोमन नाम दीनार भी चल पड़ा था। वैसे इसका भी प्रमाण मिलता है कि इस देश में पहली शती विक्रमी के बाद दीनार नाम का सुवर्ण से मान तौल में भिन्न सिक्का भी बनने लगा था। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि दीनार मूल रूप में रोमन था पर रोम के साथ व्यापार इस मात्रा में इस देश पर छा गया था कि उसका सिक्का और उस सिक्के का नाम दोनो यहाँ प्रचलित हो गए।

रोम के सौदागरों की संभवतः कल्याण, शूर्पारक, भरुकच्छ तथा अन्य पश्चिमी समुद्र तट के पत्तनों में बस्तियाँ बस गई थीं। रोमन सौदागरों का आना जाना उज्जैन में भी लगा रहता था। इसी घनिष्ट संपर्क से ईसाई रोमन सम्राट् कांस्तांतीन का प्रचलित किया हुआ यहूदी-ईसाई ग्रहपरक सप्ताह इस देश में मान्य हुआ होगा। कहते हैं कि पश्चिमी समुद्रतट के एकाध नगरों में तो रोमन सम्राट् आगस्तस् की मूर्ति की पूजा भी होती थी। निःसंदेह रोम के सम्राटों की मूर्तियों की पूजा उनके

[1] देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट अशोकावदान का पाठ।
[2] ब्राउन : दि क्वायंस आफ इंडिया, पृ० ४५।

साम्राज्य के नगरों में तो होती थी, किंतु उसी रूप में यहाँ अगस्तस् का मंदिर होने की संभावना नहीं है, पर यह हो सकता है कि व्यापार में बड़ी संख्या में आनेवाले या बंदरगाहों में बस्तियाँ बनाकर रहनेवाले रोमनों को यह संमत रहा हो और अगस्तस् के मंदिर उन्होंने वहाँ अपने लिये बना लिए हों। यह जानी हुई बात है कि क्रंगनूर के स्थान पर पहले मूजिरिस बसा था जहाँ रोमन बसे थे। उसी के एक भाग में यहूदियों की भी एक बस्ती थी जिन्हें चेरराज भास्कर रविवर्मन् ने दसवीं शती में कुछ अधिकार भी दिए थे।

इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि रोमनों की इस देश में पर्याप्त संख्या थी। पांड्य राजा अपनी शरीररक्षक सेना में रोमन सैनिकों को भरती करते थे। उनकी देखादेखी और राजा तथा श्रीमान् भी यदि उन्हें अपना शरीररक्षक बनाते रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। एक प्रकार की सेना का उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में 'कंपन'[1] नाम से किया है। इस शब्द का संस्कृत साहित्य में इस अर्थ में कभी प्रयोग नहीं हुआ। रोमनों की सैन्य शब्दावली का एक शब्द 'कंपस' है जिससे यह बना जान पड़ता है। रोम की सीमाएँ अब तक अरब और पार्थव तक आ पहुँची थीं।

[1] कीथ, हिस्ट्री०, पृ० १७०, देखिए, इंडेक्स पृ० ५४५, कालम २, 'कंपन'।

तृतीय अध्याय

शक-कुषण प्रभाव

१. शकों का प्रसरण

सीर दरिया के उत्तरी काँठे में शक नाम की एक वीर जाति का निवास था। चीनी युएह्-ची उनसे जा टकराए और उन्हें इस प्रकार फेंका कि उनकी चोट से पार्थव और बाख्त्री राज्यों के मेरुदंड टूट गए। शक बर्बर बाख्त्री पर अधिकार कर दक्षिणपश्चिम चले। ईरानी मज्ददात ने ईरान में उनके पाँव टिकने न दिए, इससे अब वे भारत की ओर चले। राह में काबुल के यवन राज्य का पत्थर गड़ा था। उसकी बगल से चलते वे सिंध पहुँचे जहाँ उनके बसने से वह स्थान शकद्वीप कहलाया। भारत में, विशेषकर मालवा आदि के पश्चिमी प्रदेशों में, राजनीति अस्थिर हो उठी थी। उज्जैन के राजा के अनाचार से पीड़ित होकर कालकाचार्य पहले ही सीस्तान (शकस्थान, काबुल के पीछे) जाकर उन्हें देश पर आक्रमण करने के लिये बुला लाया था। पहली धारा में शकों के ६१ प्रमुख कुल सिंध में आ बसे। धीरे ही धीरे भारत में पाँच स्थानों से उनके पाँच राजकुल राज करने लगे। सिंध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र उनके शासनकेंद्र हुए। सारे उत्तरी और पश्चिमी प्रदेश उनके अधिकार में आ गए। भारतीय राजनीति ने करवट ली।

रावी तट की वीर मालव जाति से एक बार पश्चिमी शकों की टक्कर हुई और कुछ काल के लिये संभवतः शकों को उज्जैन की राजलक्ष्मी मालवों को सौंप देनी पड़ी। अपनी विजय के उपलक्ष में मालव वीर विक्रमादित्य ने ५७-५६ ई० पू० में प्रसिद्ध विक्रम संवत् चलाया[१]। पर शकों की धारा पर धारा ईरान और सिंध की दिशा से आती और देश को आप्लावित करती गई। शतियों के लिये फिर उनकी शक्ति इस देश में सुरक्षित हो गई। उन्होंने पहले अपने को ईरानी पार्थव सम्राटों का 'क्षत्रप' (प्रांतशासक) कहा, फिर वे 'महाक्षत्रप' कहलाए और अंत में 'शाहिशाहानुशाही'[२]। परंतु एक दिन के लिये भी उनकी सत्ता ईरानी सम्राटों के अधीन नहीं रही, वे आदि से ही भारत में स्वतंत्र शासन करने लगे थे।

[१] पूरे तर्क के लिये देखिए, विक्रम-स्मारक-ग्रंथ (ग्वालियर) में तत्संबंधी पहला लेख।

[२] समुद्रगुप्त का प्रयागस्तंभ का प्रशस्तिलेख।

२. शकों का भारत में आवास

यवनों, और पीछे कुषणों और हूणों, की भाँति वे इस देश में बसने आए थे और प्रायः शतियों तक भारत की राजनीति किसी न किसी मात्रा में उनसे संबंधित रही। इस दीर्घ काल में अनेक प्रकार से उन्होंने यहाँ की राजनीति, समाज, साहित्य आदि को प्रभावित किया। उन्हीं की शक्ति से टक्कर लेने के कारण इस देश में विक्रमादित्यों की परंपरा चली। एक ओर तो वे सातवाहन सम्राटों के साथ भूमि के लिये जूझते थे, दूसरी ओर भारत की संस्कृति को सँवारते थे। शक सभी प्रकार से भारतीय हो गए थे। साहित्य और विज्ञान को उनकी संरक्षा से बड़ा आश्रय मिला। एक नई चेतना, एक नया उद्दीपन उस दिशा के साधकों को मिला।

पर साहित्यादि का व्यसन अधिकतर शांत राजनीतिक वातावरण का ही परिणाम है। निश्चय सारा पश्चिम, सिंध-पंजाब से प्रायः काठियावाड़-महाराष्ट्र तक, शकों के अधिकार में आ गया था और मध्यदेश पर भी उत्तर और पश्चिम से उनकी चोटें होने लगी थीं। उत्तर पश्चिम की ओर से उनके आक्रमण मगध तक होने लगे। हमारे संस्कृत साहित्य की अनेक कृतियों में उनके कृत्यों की प्रतिध्वनि उठी। गार्गीसंहिता के युगपुराण में उन्हीं के शक सेनापति अम्लाट के पाटलिपुत्र पर भीषण आक्रमण का विवरण दिया हुआ है[1]। मगध पर शुंगों के पश्चात् काणवायनों का शासन हुआ था, फिर उनके हाथ से दक्षिण के आंध्र सातवाहनों ने तलवार छीन ली। किंतु जब शकों के पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लेने पर आंध्रों को उस नई विपत्ति का अपने घर में ही सामना करना पड़ा तब उत्तर का अधिकारदंड उनके हाथ से सरक पड़ा। तभी शक अम्लाट ने मगध पर भीषण आक्रमण किया और मध्यदेश को रौंदता पाटलिपुत्र तक जा पहुँचा। वहाँ उसने इतनी मारकाट की कि नगर और जनपद नरविहीन हो गए। युगपुराण कहता है कि उस नरसंहार के कारण पुरुष उस धरा से सर्वथा लुप्त हो गए। सारे कार्य स्त्रियों को ही करने पड़े। तलवार से लेकर हल तक उन्हीं के हाथों में आ गया। समाज में पुरुषों के अभाव के कारण बीस बीस, पचीस पचीस स्त्रियों को एक ही पुरुष से विवाह करना पड़ा। पुरुष यदाकदा ही दिख जाते और जब दिखते तो स्त्रियाँ चिल्ला उठतीं—आश्चर्य ! आश्चर्य[2] !

इससे उस काल की राजनीतिक उथल पुथल का पता चलता है। इसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसका अटकल लगाया जा सकता है। यवनों

[1] जे० बी० ओ० आर० एस०, १६, ३; वही, १४, ३; विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, लेखक का पाठ।
[2] वही।

ने इसी युगपुराण के अनुसार पहले ही राजाओं को नष्ट और प्रांतों को छिन्न भिन्न कर दिया था और अब जो अम्लाट के नेतृत्व में शक आए तो स्थिति और दयनीय हो उठी। नारीजगत् पर उसके रक्षक पुरुषों के अभाव में जो अत्याचार हुआ होगा उसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। लाखों की संख्या में संकर उत्पन्न हुए होंगे और वर्णधर्म सर्वथा बिखर गया होगा। युगपुराण में जो लिखा है कि ब्राह्मण अपने आचार की रक्षा न कर सके, शूद्रता को प्राप्त हुए और शूद्र तथा अस्पृश्य ब्राह्मणों का आचरण करने लगे,[1] वह उस काल की सामाजिक वस्तुस्थिति प्रगट करता है। स्वाभाविक है कि वर्णव्यवस्था टूट गई होगी और म्लेच्छ कहे जाने के बावजूद विजयी होने के कारण शकों को समाज में निम्न स्थान स्वीकार नहीं हुआ होगा, जिससे उनको वर्णों के उपरले स्तर में कहीं रखना पड़ा होगा। जो भी हो, भारतीय सामाजिक स्थिति पर राजनीतिक स्थिति की ही भाँति शकों का गहरा प्रभाव पड़ा।

३. भारत पर प्रभाव

(१) राजनीति—औरॄशक, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, देश से लौट जाने के लिये यहाँ नहीं आए थे। दक्षिण को छोड़ भारत की प्रायः सारी भूमि धीरे धीरे उनके हाथ में आ गई और दक्षिण की शक्ति स्वायत्त करने के लिये भी आंध्र-सातवाहनों से उनका संघर्ष चलता रहा। कुछ काल बाद गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने उन्हें (दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहि—प्रयाग का स्तंभलेख) काबुल की ओर खदेड़ दिया पर उसके मरते ही वे फिर देश में इतने प्रबल हो उठे कि उनके आक्रमण से डरकर समुद्रगुप्त के बेटे रामगुप्त को नितांत लज्जाजनक संधि स्वीकार करनी पड़ी जिसकी एक शर्त यह भी थी कि वह अपनी सुंदर रानी, ध्रुवदेवी, शकराज को दे दे[2]। गुप्तवंश की मर्यादा की रक्षा तब रामगुप्त के अनुज चंद्रगुप्त ने की और विशाखदत्त के नाटक देवीचंद्रगुप्तम् के अनुसार, ध्रुवदेवी के वेश में शक शिविर में जाकर उस तरुण ने शक राजा को मार डाला। फिर शकों की संमिलित वाहिनी बंगाल में सबल हुई पर चंद्रगुप्त द्वितीय ने, जो भाई को हटाकर उसकी पत्नी ध्रुवदेवी के साथ उसकी पृथ्वी भी भोग रहा था, उनका संघ तोड़ दिया। फिर उज्जैन में भी शकों की शक्ति तोड़ उसने 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' के विरुद धारण किए

[1] वही।

[2] देवीचंद्रगुप्तम् (विशाखदत्त); मुजमालुत-तवारीख (ईलियट ऐंड डाउसन : हिस्ट्री आफ इंडिया, १), पृ० ११०-१२।

और उज्जयिनी को अपने सुविस्तृत साम्राज्य की दूसरी राजधानी बनाकर पश्चिमी समुद्र तक का शासन स्वायत्त किया।

(२) **व्यापार**—शकों का पश्चिम में उत्कर्षकाल तीसरी शती विक्रमी तक था, यद्यपि वहाँ उनका राज्य चौथी शती के अंत तक बना रहा। दूसरी शती विक्रमी में रुद्रदामन के शासनकाल में उनकी शक्ति सूर्य की भाँति तप उठी। सारे पश्चिमी जगत् का भारतीय व्यापार उनके हाथ में आ पड़ा और उनकी सजाई नगरी उज्जयिनी व्यापार और धन का केंद्र बन गई। उत्तर से दक्षिणपश्चिम और दक्षिणपश्चिम से उत्तर जानेवाले प्रशस्त वणिक्पथ उज्जयिनी में ही मिलते थे।

(३) **भाषा और साहित्य**—इस समृद्ध वातावरण में शक नृपतियों ने कला और साहित्य को अपनी संरक्षा दी। उन्होंने अनेकानेक अभिलेख संस्कृत में लिखवाए। प्रायः सारे सांस्कृतिक व्यसनों पर वे छा गए पर संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति जो निष्ठा और अनुराग विदेशी और विजातीय होकर उन्होंने दिखाया वह ब्राह्मणनृपति आंध्र-सातवाहन भी न दिखा सके। जहाँ सातवाहनों ने अपने अभिलेख प्राकृत में खुदवाए, शक राजाओं ने अपने संस्कृत में लिखवाए और रुद्रदामन् की संस्कृत की सेवा तो असाधारण थी। उसने जिस पूतशुद्ध संस्कृत में गिरनार पर्वत पर २०७ वि० में अपनी प्रशस्ति लिखवाई वह ब्राह्मण-आरण्यक ग्रंथों के बाद संस्कृत गद्य की पहली अभिराम शैली बनी।

(४) **ज्योतिष विज्ञान**—साहित्य से भी अधिक शक राजाओं की संरक्षा ज्योतिष विज्ञान को मिली। उज्जयिनी उस काल की 'ग्रीनिच' बनी और वहीं नक्षत्रविद्या और गणित का केंद्र बना जो प्रायः अभी हाल तक किसी न किसी रूप में बना ही रहा है। भारतीय ज्योतिष पर यवनों के प्रभाव का सविस्तर उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह प्रभाव यवनों के इस देश की राजनीति में प्रभुत्व रहते उतना नहीं पड़ा जितना शक काल में पड़ा, क्योंकि उनके शासनकाल में यवनों के पश्चिमी जगत् में ज्योतिष के सिद्धांत अभी बन ही रहे थे और उनका इस देश में आना प्रायः पहली शती विक्रमी में शुरू हुआ। वस्तुतः यवन ज्योतिष का वह भारतोन्मुख संक्रमण शक शासन के मध्याह्न में पहली और तीसरी शतियों के बीच हुआ। शीघ्र ही बाद वराहमिहिर ने देशी विदेशी ज्योतिष के प्रचलित पाँच सिद्धांतों को अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पंचसिद्धांतिका में संग्रहीत किया। इसके अतिरिक्त उसने अपनी बृहत्संहिता और होराशास्त्र में भी गणित और फलित ज्योतिष के अध्ययन प्रस्तुत किए। कुछ आश्चर्य नहीं कि स्वयं वराहमिहिर, जैसा उसके नाम से ध्वनित है, शक रहा हो और उसका नाम ईरानी (-मिहिर) रहा हो।

(५) **परिधान**—आज के हमारे राष्ट्रीय परिधान—अचकन और पाजामा—का मूल और अविकसित रूप पहले पहल इस देश में शकों ने ही प्रस्तुत

किया। यह सच है कि वह परिधान उस काल देश में प्रचलित न हो सका पर उसका आरंभ निश्चय, चाहे फिर लुप्त ही हो जाने के लिये सही, तभी हुआ। शक भीतर लंबा कुरता, ऊपर कसीदा कढ़ा लंबा भारी चोगा, नीचे सलवार और घुटनों तक ऊँचे मध्यएशियाई बूट पहनते थे। शकों और कुषणों की पोशाक समान थी, ईरानियों की तरह की, जो उनके सैनिकों और कुषण राजाओं की मूर्तियों पर कोरी मिलती है। मथुरा संग्रहालय की कडफिज़िस्, कनिष्क (मस्तकहीन), चष्टन और सूर्य की मूर्तियों पर यह पोशाक आज भी देखी जा सकती है। इसी परिधान को बहुत पीछे मुगलों और अवध के नवाबों ने परिष्कृत किया जो अब इस देश का राष्ट्रीय लेबास बना। परंतु मुगल या उनसे पहले के पठान आदि यह पोशाक मध्य एशिया से अपने साथ लाए, शकों के परिधान से उसका कोई संबंध न था।

(६) **सूर्यपूजा तथा सूर्यप्रतिमा**—सूर्य की प्रतिमा का इस संबंध में उल्लेख एक बड़े महत्व की समस्या सामने लाती है। पहली शती विक्रमी की यह मूर्ति, शकों और कनिष्क की समकालीन, इस देश में मिली पहली सूर्यप्रतिमा है जो उन्हीं की भाँति कुरता, चोगा, सलवार, पगड़ी, और घुटनों तक ऊँचे बूट पहने हुए है, एक हाथ में खंजर धारण किए है। इस प्रकार का परिधान कोई भारतीय देवता नहीं पहनता, पगड़ी और जूते तो कभी नहीं। सूर्य की प्रतिमा कभी खंजर नहीं धारण करती और यदि दूसरे हाथ में कमलदंड न होता तो मूर्ति को भ्रमवश शक या कुषण नृपति की प्रतिकृति मान लेना स्वाभाविक था और एकाध विद्वानों को पहले यह भ्रम हुआ भी[1]। यह स्थिति एक नई समस्या प्रस्तुत करती है—सूर्य की पूजा इस देश में शक कुषणों ने प्रचलित की या वह भारत की अपनी है। निश्चय वैदिक काल में सूर्य की सविता, विष्णु, प्रजापति आदि के रूप में पूजा होती थी पर वह पूजा सूर्य के प्रज्वलित बिंब के पीछे की अलक्षित शक्ति की थी, मूर्ति रूप में नहीं। इसे नहीं भूलना चाहिए कि मथुरावाली मूर्ति सूर्य की पहली प्रतिमा है और कुषणकाल से पहले की कोई सूर्यप्रतिमा आज तक नहीं मिली। धोती, उत्तरीय और मुकुट पहने सूर्य की खड़ी मूर्तियाँ तो अनेक मिली हैं पर वे मध्यकालीन हैं, छठी शती विक्रमी के बाद की, प्रायः नवीं-दसवीं शतियों की। सूर्य के मंदिर भी इस देश में इने गिने हैं, जैसे कश्मीर में मार्तंड का, उड़ीसा में कोणार्क का, बहराइच (उत्तरप्रदेश) में बालादित्य का, जोधपुर में ओसिया का और राजपूताना में ही एकाध और, पर सबके सब बिना अपवाद के मध्यकालीन, अधिकतर उत्तर-मध्यकालीन। फिर किसने मूर्ति के रूप में सूर्य की पूजा इस देश में प्रचलित की? निस्संदेह उन्होंने जिन्होंने अपने परिधान से सुसज्जित मथुरावाली

[1] कुमारस्वामी . हिस्ट्री आफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, प्लेट १८, चित्र ६४।

यह सूर्यप्रतिमा हमें दी। यह अकारण नहीं है। पुराणों ने प्रथम भारतीय सूर्यमंदिर के निर्माण का संबंध सिंध (शकद्वीप) के मुलतान से रखा है जहाँ शकों ने पहले प्रवेश किया था और अपनी पहली बस्तियाँ बसाई थीं। यह भी अकारण नहीं है कि अधिकतर सूर्यमंदिर पश्चिमी भारत में ही, विशेषकर राजपूताना में, मिले हैं। पौराणिक परंपरा के अनुसार कृष्ण के पुत्र (या पौत्र) शांब ने सूर्य का पहला मंदिर मुलतान में बनवाया पर मंदिर बनवा चुकने पर मूर्ति पधराने और उसकी पूजा के लिये जब उसे उचित ब्राह्मण न मिला तब उसने शक ब्राह्मणों को विदेश से बुलवाया। यह वैसे ही हुआ जैसे मनु ने जलप्रलय के पश्चात् यज्ञ के लिये असुर ब्राह्मण को बुलाया था। कुछ आश्चर्य नहीं जो इस प्रकार बुलाए शकद्वीपी ब्राह्मणों को वर्णेतर मानकर उत्तर भारत के धर्मभीरु ब्राह्मण आज भी उनका छुआ खाने-पीने में आपत्ति करते हों। जो भी हो इन शक पुरोहितों के आने से शकों की ही भाँति ब्राह्मण वर्ग में एक इकाई और आ मिली। यह उल्लेखनीय प्रसंग है कि शक और कुषण सूर्योपासक थे और कनिष्क के सिक्कों पर सूर्य की आकृति खुदी मिलती भी है। प्रमाणतः शक कुषणों ने ही पहले पहल सूर्य की पूजा इस देश में प्रचलित की और अपने परिधान से उसकी प्रतिमा को सजाया।

(७) भारतीकरण—शक भारत में अगणित संख्या में आए थे और सातवाहनों तथा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की घनी शत्रुता होते हुए भी देश से सर्वथा निकाले न जा सके होंगे। उनकी साधारण असैनिक जनता वहीं रह गई और स्थानीय जनता का धर्म आदि स्वीकार कर समाज में घुल मिल गई थी। रुद्रदामन् का हिंदू नाम तो प्रसिद्ध ही है, शक उषवदात (ऋषभदत्त) और उसकी पत्नी दक्षमित्रा के नाम भी उस काल के शक अभिलेखों में मिलते हैं। पहले ग्रीक मिनांदर, हेलियोदोर, थियोदोर आदि के भारतीय धर्म स्वीकार करने की बात कही जा चुकी है। उनके बाद ही सातवाहन-शक-काल में दो यवनों के नाम सिंहध्वज और धर्म (कार्ले का अभिलेख) मिले हैं, जिन्होंने भारतीय धर्म के साथ ही भारतीय नाम भी धारण कर लिए थे। उन्हीं की भाँति शक भी इस देश के सांस्कृतिक कलेवर के अंग बन गए। उन्होंने स्थानीय जनता से विवाहादि कर उस काल की भारतीय जनसंख्या में अपनी संतति का योग दिया और यहाँ के साहित्य, कला, विज्ञान को सभी प्रकार से सँवारा। साथ ही यह भी सही है कि शकों की राजसत्ता समय समय पर नष्ट होती रही और एक समय शकों के अनेक अभिजात कुल भारतीय राजनीति से उखड़कर काबुल में जा बसे, जैसा समुद्रगुप्त के प्रयागस्तंभ-वाले लेख के 'शाहिशाहानुशाही शकमुरुंडाः' पाठ से प्रकट है। ईरानी विरुद धारण करनेवाले (शाही और शाहानुशाही) ये शाहिय (साहिय) महमूद गजनी के समय बड़े विख्यात हुए। गजनी दरबार के समकालीन पंडित अलबेरूनी ने

उनका उल्लेख अपने ग्रंथ तहकीक-ए-हिंद[1] में 'तुर्क-साही' और हिंदू-साही' नाम से किया है। साहियों का यह राजकुल इस प्रकार दीर्घकाल तक गुप्तों के बाद काबुल-घाटी का स्वामी बना रहा। जिन शक कुषाणों को शातवाहनों और गुप्तों ने अभारतीय म्लेच्छ मानकर इस देश की सीमा से बाहर कर दिया था वे प्रायः साठ पीढ़ियों तक भारत की पश्चिमी सीमा की निर्भीक संतरी बन रक्षा करते रहे। जहाँ मुस्लिम विजेताओं से लड़ते अन्हिलवाड़ के नृपति की राजधानी उसकी अनुपस्थिति में लूटने में हमारा श्रद्धेयभाजन हिचका वहाँ हिंदुकुश की प्राचीरों और भारत के पश्चिमी सिंहद्वार के ये दिलेर पहरेदार अपने रक्त से मातृभूमि को सींचते रहे, सीमा के आर पार शतियों जूझते रहे और अंत में इस देश की रक्षा के लिये मध्यएशिया की रक्त और लूट के नाम पर दौड़ पड़नेवाली खूनी जातियों के प्रवाह में विपन्न हो गए या मान को जीवन से प्रियतर जान अग्नि की लपटों में समा गए।

(८) शक संवत्—भारत का सबसे महत्वपूर्ण संवत् (विक्रम संवत् से भिन्न) १३५ वि० में कुषण कनिष्क का चलाया हुआ 'शक' संवत् है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'शाके' 'विक्रम' से भी हमारे अधिक निकट है जो उससे कहीं अधिक पवित्र माना जाता है, और राष्ट्रीय विक्रम संवत् से कहीं अधिक, अनेक बार तो एकमात्र, पंचांगों और जन्मपत्रों में व्यवहृत होता है। भारतीय सांस्कृतिक सहिष्णुता का यह उदाहरण अनुपम शालीन है।

४. कुषण

भारतीय इतिहास का कुषण युग भी शक काल की ही भाँति बड़े महत्व का था। एतद्देशीय शुंगों और गुप्तों (नागों के भी) के बीच खड़ा यह पश्चिम और पूर्व का संधिकाल सिद्ध हुआ। कनिष्क के अधिकार में मध्यएशिया के अनेक प्रांत, कुछ चीनी राज्य (काशगर, खुत्तन और यारकंद), काबुल की घाटी, समूचा कश्मीर, समूचा पंजाब, संभवतः साकेत तक थे। और धावे वह पाटलिपुत्र तक मारता था। बौद्ध परंपरा के अनुसार उसने उस नगर से प्रकांड बौद्ध दार्शनिक और कवि अश्वघोष का बलपूर्वक हरण कर लिया था।

(१) कला और धर्म पर प्रभाव—कुषणों का इस देश की कला और धर्म आदि पर असाधारण गहरा प्रभाव पड़ा। साधारणतः भी इतनी विभिन्न जातियों पर शासन करने के नाते कनिष्क को विश्वास के संबंध में सार्वभौम और उदार होना चाहिए था और वह वैसा हुआ भी। इसी से उसके सिक्कों पर उसकी उदारता

[1] सचाऊ का अँगरेजी अनुवाद, खंड २, पृ० १०–११।

के प्रमाणस्वरूप मध्य एशियाई देवता सूर्य, चंद्रमा और यूनानी देवताओं के साथ ही भारतीय बुद्ध की भी आकृतियाँ बनी हैं। ये ही सिक्के गुप्तों के सिक्कों के लिये आदर्श बने थे। गुप्तों ने शकों के चाँदी के सिक्कों को भी, उनका मूल स्वरूप कायम रखते हुए, फिर से अंकित कर उनसे शासित होनेवाले मालवा, गुजरात, काठियावाड़ आदि में चलाए थे। बौद्ध धर्म के लिये जितना प्रयास उसने किया उतना अशोक के सिवाय और किसी ने इस देश में नहीं किया। उसके शासनकाल में अनेक बौद्ध और जैन स्तूप बने, जिनकी प्राकार वेष्ठनियाँ (रेलिंग) कला के प्रतीकों की खान बन गईं। स्वयं उसने अनेक स्तूप बनवाए। उसका उस धर्म की सेवा में एक विशेष कार्य कश्मीर में चौथी बौद्ध संगीति का अधिवेशन था[1]। इस अधिवेशन को सफल बनाने के उसने अनेक प्रयत्न किए, उन्हीं में अश्वघोष का बलतः हरण भी था। उसी की संरक्षा में सर्वास्तिवादी संप्रदाय के महान् दार्शनिक एकत्र हुए और पिटकों पर विभाषाशास्त्र की गंभीर व्याख्या प्रस्तुत कर उलझे और विवादग्रस्त सिद्धांतों को सुलझा दिया। विभाषाशास्त्र को ताम्रपत्रों पर लिखवाकर कनिष्क ने एक स्तूप बनवाकर पत्रों को उसमें बंद कर दिया[2]। संभवतः उसी की संरक्षा में महायान के प्रवर्तक नागार्जुन और भारतीय आयुर्वेद के महान् स्तंभ चरक ने अपने अध्यवसाय किए और कृतियाँ रचीं। उसी ने पूर्वी पंजाब में चीनभुक्ति चीनियों की पहली बस्ती बसाई जहाँ उसने अपने राजकुलीय चीनी बंदी रखे[3]। इन्हीं चीनी बंदियों ने इस देश में पहले पहल चीन में बहुतायत से होनेवाले आड़ू और नाशपाती के वृक्ष लगाए। (लीची नाम का तीसरा चीनी फलवृक्ष इस देश में किसने और कब लगाया इसका पता नहीं चलता। इसमें संदेह नहीं कि आया वह चीन से ही था।) एक बड़े महत्व की बात यह है कि कनिष्क जिन उदार कुषणों में उत्पन्न हुआ था वे तुर्की चीनी जाति के युएहची परिवार के थे और इस प्रकार मूल रूप में चीनी थे, चीन के कान-सू प्रांत में बसनेवाले घुमक्कड़[4]। इससे यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि चाहे परोक्ष रूप में ही सही पर चीनियों ने भी हमारी महान् संस्कृति के निर्माण में पर्याप्त योग दिया। यह भी सकारण था कि कनिष्क ने चीनी सम्राटों का परंपरागत विरुद 'देवपुत्र' धारण किया था। फिर उसके सिक्कों के विविध देवताओं से चीनियों की धर्म के क्षेत्र में स्वाभाविक सहिष्णुता का परिचय

[1] देखिए, हुएन-त्सांग : सि-यु-की (बील का अनुवाद, खंड १, पृ० १५१-५६, वाटर्स का अनुवाद, खंड १, पृ० २७०-७८)।

[2] वही।

[3] लाइफ, पृ० ५६-५८; स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० २७८-८०।

[4] देखिए, जे० आर० ए० एस०; १९०३, पृ० १-६४; इंडियन ऐंटिक्वेरी, १९०८, पृ० ३७, पृ० ३५ और आगे; सी० आई० आई०, २, भूमिका, पृ० ४९-८२।

मिलता है। वही मूलभूत सहिष्णुता कनिष्क ने भी कायम रखी। उसके सिक्कों पर ग्रीक, मिस्री, जरतुश्ती, बौद्ध और हिंदू देवताओं (हेरेक्लिज, सेरापिज, उनके ग्रीक नामों हेलियोस और सेलिनी के साथ सूर्य और चंद्र, मिहरो, अथो, अग्नि, देवी ननाइया, शिव आदि) की आकृतियाँ उभरी हुई हैं।

(२) महायान : गांधार कला—उसके शासनकाल में बौद्ध धर्म के विशिष्ट संप्रदाय महायान का जन्म हुआ, जिसने भक्तिमार्ग के अनुकूल वैयक्तिक देवता का सृजन किया और परिणामस्वरूप भारत को बुद्ध की पहली प्रतिमा मिली। तत्काल भारतीय तक्षक अगणित संख्या में बुद्ध की मूर्ति कोरने में लग गए। तथागत की अनंत प्रतिमाएँ बनीं और भक्तों के पूजन की परिधि में आईं। गांधार कला की यह परिणति थी। भारतीय कला की गांधार शैली का आरंभ तो यवनों के उत्कर्ष काल में कनिष्क से पहले ही हो गया था, परंतु उसका समुचित विकास, बुद्धप्रतिमा की अभिसृष्टि के साथ, कुषणों, विशेषकर कनिष्क की ही संरक्षा में हुआ। पेशावर उसकी राजधानी थी और यूसुफजई, काबुल और तक्षशिला के इलाकों में ही वह शैली विशेष फूली फली। कुषणकालीन भारतीय कला के तीन विशिष्ट केंद्र थे—मथुरा, सारनाथ और अमरावती। इनमें तीसरा आंध्र राजाओं के अधिकार में था। कुषण काल में यद्यपि गांधार शैली उत्तर पश्चिम के नगरों में विशेष जाग्रत थी, कला के भारतीकरण का भी भली प्रकार आरंभ हो गया था। मथुरा केंद्र में भी कुछ गाधार शैली की मूर्तियाँ बनीं, पर उनका अधिकाधिक झुकाव भारतीय शैली की ओर ही था। 'हेरैक्लिज और नमियन सिंह', 'सिलेनस' यवन मुद्रा में यवन परिधान से युक्त परिचारिकाओं द्वारा सेवित 'आसवपायी कुबेर' आदि की अनेक मूर्तियाँ निश्चय वहाँ भी यवन शैली में प्रस्तुत हुईं, पर इस प्रकार की मूर्तियाँ प्रायः मात्र यही हैं। वस्तुतः मथुरा की कुषण संरक्षित कला तो भारतीय संकेतों और प्रतीकों में विलास करती है। बुद्ध और बोधिसत्व, नाग और नागी, विविध प्रकार की रेलिंग स्तंभगत शालभंजिकाएँ, यक्ष-यक्षिणियाँ, किन्नर-सुपर्णों की अमित संपदा उस युग में प्रस्तुत हुई, जब कनिष्क और उसके वंशधरों—वाझिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि—ने मध्य देश पर शासन किया।

भारतीय कला की मुद्रा अधिकतर मूक, गंभीर और चिंतनप्रधान रही थी पर इस विदेशी कुषण भाव सत्ता ने उसे अपनी प्रसन्न मुद्रा प्रदान की। छाया को धूप का योग मिला, भारतीय कला धूपछाँह सी खिल उठी। बुद्ध के मूक और शांत रूप पर बोधिसत्व की अभिराम प्रसन्न छटा छिटकी। अर्हतों, बुद्धादि की प्रतिमाएँ चाहे कुछ एकांतिक बनीं पर उनका परिवार, उनके पार्षद और उनके संबंध की अनंत प्रतीकमाला तारुण्य, चापल्य, गति, क्रीडा, हास और उल्लास लिए पत्थर की पृष्ठभूमि से उठी और जीवन पर सर्वत्र छा गई। स्तूप निर्वाण—मृत्यु—

के प्रतीक थे, पर उनको घेरनेवाली रेलिंगों पर उच्छ्वसित अनियंत्रित जीवन लहराता था, और जीवन के उस उल्लास को गति दी महायान ने। हीनयान वस्तुतः 'हीन' था, ओछा स्वार्थमय प्रयास, जिसमें अर्हत अपने निर्वाण का प्रयास करता था, जलधारा लाँघनेवाली क्षुद्र नौका। उसके विपरीत महायान, सागर तिरनेवाला महापोत था, जिसमें अनंत जीवों के निर्वाण की, बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय कल्याण की कल्पना थी, जिसमें चढ़कर सभी भवसागर के पार जा सकते थे। वह बोधिसत्वों का उदार पथ था। हीनयान ने जीवन को बाँध रखा था, महायान ने उसके बंध तोड़ उसे विश्रृंखलित कर दिया और सहसा जीवन वेग से अनेक धाराओं में उछलता झूमता टूटता बह चला। स्तूपों की रेलिंग (वेष्टनी, वेदिका) स्तंभों के शिखर पर और सामने लंबायमान दंडों पर, द्वारतोरणों पर जीवन उछल चढ़ा, उसके हँसते प्रतीक उत्कीर्ण हो गए। वृक्ष की डाल पकड़े झुकी शालभंजिकाएँ, अल्हड़ नग्न यक्षिकाएँ अनंत रूपों में अभिव्यक्त हुईं। उनके ऊपर स्नेहभरी गृहिणी अन्नपूर्णा सी अंकित हुई, लावण्वंती तरुणी नुपूरझंकृत पदों से अशोकदोहद संपन्न करने लगी, रक्ताशोक जैसे अंगार की लाल कलियों से झुक पड़ा, आसव के कुल्ले से बकुल हस्तलभ्य स्तबकों से झूम उठा। आकर्षक ईरानी परिधान से समूची ढकी अनवगुंठिता दीपवाहिका निर्वात लौ लिए वेदिकाओं को उजागर कर चलीं। कंदुक उछालती, स्नान करती, प्रसाधन करती, अंजन पुष्प चयन करती, वीणावादिनी नारी अपनी अगणित मुद्राओं में उनपर उभर आई, स्तूप के अंतर्मुख कलेवर उनके माध्यम से पुलकित हो उठे। कुषणों ने भारतीय भावसत्ता को जिह्वा देकर मुखर कर दिया। प्रतीकों में उभारी आकृतियाँ और उनके मुग्ध दर्शक एक प्राण हो नाच उठे।

स्वयं कुषणकालीन कलाकार ने विदेशी प्रभाव का भारतीकरण करते समय यवन परिधान की चुन्नटों को, लहराते वस्त्र की ऊँची लहरों को नीची कर दिया, जिससे गुप्त कलाकार ने संकेत लिया और उन उर्मियों से परिधान को लांछित मात्र कर शरीर के अंगों में उन्हें विलुप्त कर दिया। यवन चुन्नटें शरीर में खोकर उसका अलंकरण मात्र बन गईं। आश्चर्य होता है कि पत्थर में सुईकारी और ध्वनि का स्रष्टा गुप्तकाल का सुरुचिविधायक शिष्ट कलावंत क्या कर पाता यदि कुषणों द्वारा प्रस्तुत अनंत प्रतीक उसे उपलब्ध न होते! गुप्तकाल की कला चयनप्रधान थी, पुष्पलावीमंडित अभिराम वाटिका, कुषणकाल की कला प्रकृतिप्रधान थी, वसंत में सहसा फूल उठनेवाली वनांतव्यापी उपत्यका।

भारतीय संस्कृति को शकों और कुषणों ने संस्कृत की गद्य शैली दी, ज्योतिष दिया, सूर्य की प्रतिमा और कला में नई प्रवृत्तियाँ दीं, शक संवत् दिया (कनिष्क के चलाए शक संवत् का उपयोग अधिकाधिक शकों ने किया, जिससे उसका नाम

शक संवत् से जुड़ गया।), राष्ट्रीय परिधान की एक झलक दी और अंततः इस देश के इतिहास के स्वर्णयुग गुप्तशालीनता के अवतरण के लिये भूमि प्रस्तुत कर दी। और उन्होंने अपनी यशस्विनी संतति को उस धरा को समर्पित कर दिया जिसने उन्हें निर्वसित कर दिया था। उनके वंशधर साहिय देश के सिंहद्वार के रक्षक हुए। इन्हीं साहियों ने सुबुक्तगीन और उसके बेटे महमूद के मरणांतक आघातों से भारत की रक्षा करते हुए परस्पर लड़ती बिखरी देश की शक्ति को सर्वत्र से खींचकर एकत्रित किया[1]। इस प्रकार भारत की आधारभूत एकता और संमानरक्षा की आवश्यकता घोषित करते हुए उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्ययुग में भी राष्ट्रीयता का अलख जगाया।

इस विदेशी संपर्क का भारत पर इन प्रायः पाँच शतियों (पहली शती वि० पू० से तीसरी शती वि० तक) में अपूर्व प्रभाव पड़ा। लोगों के सामाजिक दृष्टिकोण में प्रभूत अंतर पड़ गया। जहाँ विदेशी भारतीय जीवन और विचारों से आकृष्ट होकर उसके धर्म और संस्कृति को अपनाने और उसकी साहित्य कला सँवारने लगे, वहीं समाज का एक अंग नई सामाजिक व्यवस्था के संगठन में लगा। स्मृतियाँ और धर्मशास्त्र नए सिरे से लिख डाले गए। उनके नए संस्करण ने वर्णों की पवित्रता की रक्षा के लिये उनके विधान और कठोर कर दिए, उनको नए अनुबंधों से जकड़ दिया, यद्यपि विदेशियों के शतियों के निरंतर आघातों से वे जर्जर हो उठे थे। बालविवाह तक का विधान कर दिया गया, जिससे तरुण कन्याओं की विदेशी लुटेरों से रक्षा हो सके, क्योंकि पति का अपनी पत्नी की रक्षा कर सकना अनेक बच्चोंवाले पिता की अपेक्षा सुकर था। परंतु इन विधानों के रहते हुए भी पर्याप्त मात्रा में संमिश्रण हो चुका था, संमिश्रण रोकने के सारे नियंत्रण निष्फल हुए क्योंकि विदेशी विजयी थे और बिना स्त्रियों के अकेले आए थे और उन्हें न तो अनुबंधों का डर था न उन्हें घोषित करनेवाले अनुबंधकों का। फिर भी समाज में वर्णच्युत व्यक्तियों अथवा म्लेच्छों के अनाचार से भ्रष्ट पतितों की कमी न थी। जो भी हो, भारतीय समाज के विविध स्तरों में अनेक जातियाँ प्रविष्ट हुईं।

५. आभीर और गुर्जर प्रभाव

अधिकतर जातियाँ पश्चिम के मार्ग से ही आई थीं। उत्तरपश्चिम के मार्ग से भारत की सीमा लाँघ लेने पर पश्चिमी मार्ग से दक्षिण की ओर बढ़ना आसान था क्योंकि उधर का भाग कुछ अरक्षित और कमजोर पड़ता था और संख्या से आप्लावित हो जाने का भय नहीं रहता था। यवन उधर से ही पहले बढ़े थे, शक

[1] ईलियट : हिस्ट्री ऑफ इंडिया, २, पृ० २१; ब्रिग्स : फरिश्ता, १, पृ० १७।

भी उधर ही से होकर आए थे और अब आभीर (अहीर) और गुर्जर (गूजर) भी उसी राह भारत के भीतर घुसे[१]। इन दोनों जातियों का भारत में प्रवेश तो बहुत पहले, संभवतः १०० वि० पू० से भी पहले, हो गया था परंतु उनकी शक्ति काफी देर बाद प्रतिष्ठित हुई। मौर्य साम्राज्य के पतनकाल में उत्तरपश्चिमी सीमा अरक्षित हो गई थी और यवनों (ग्रीकों) के साथ ही अनेक अन्य जातियाँ इस देश के खुले द्वार से घुस आई थीं। उन्हीं में आभीर और गुर्जर भी थे। वे कौन थे और कहाँ से आए, यह कहना कठिन है। संभव है वे दरदो की कोई शाखा रहे हों, संभव है शकों से ही उनका दूर का संबंध रहा हो। यह भी संभव है कि वे मूलतः पश्चिमोत्तर भारत की जातियों में हों।

(१) **प्रसार**—पतंजलि ने अपने महाभाष्य में (ल० १०० वि० पू०) आभीरों का उल्लेख किया है[२]। इनका भारत में मूल आवास पेशावर जिले के सिंधु देश में था। उनसे लगे उनके पूरबी पड़ोसी गुर्जर थे[३]। संभवतः उन्हीं के संबंध से पंजाब के जिलों और स्थानों के नाम गुजरात और गुजरानवाला पड़े थे। आभीर और गुर्जर दोनों साथ ही साथ पूर्वी भारत में फैले। गुर्जर गूजर बड़गूजर नामों से उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भागों में बड़ी संख्या मे बसे हैं। पर अधिकतर वे दक्षिण चले गए और गुजरात (लाट) में बसकर उसे अपने नाम से प्रसिद्ध किया। महाभारत ने आभीरों के पंजाब में होने का उल्लेख किया है[४]। पीछे उनका उल्लेख कुरुक्षेत्र, शूरसेन (व्रज) आदि में होने लगा और उनके वंशधर आज अहीर नाम से पूर्वी बिहार तक फैले हुए हैं। उनकी एक शाखा गुर्जरों के ही साथ दक्षिण जाकर गुजरात के पश्चिम समुद्रतट पर काठियावाड़ आदि में जा बसी और अति प्रबल हुई। यज्ञश्री शातकर्णि के उत्तराधिकारियों के दुर्बल होते ही आभीरों के राजा ईश्वरसेन ने तीसरी शती वि० के अंत में उनसे महाराष्ट्र छीन लिया। साथ ही शक क्षत्रपों को भी उसने नि:शक्त कर दिया। क्षत्रपों के अभिलेखों में उनका उल्लेख प्रायः हुआ है[५]। आभीरों की एक शाखा संभवतः गणतांत्रिक भी थी। ऐसी जातियों की गणना करते समय, जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था, प्रयागस्तंभ के प्रशस्तिलेख में हरिषेण ने आभीरों को भी गिनाया है। ये

[१] आभीर और गुर्जर जातियों के बाहर से आने की स्थापना निर्विवाद नहीं है। प्राचीन साहित्य में बहुत से साक्ष्य उनके मूलतः भारतीय होने का समर्थन करते हैं। —संपा०।

[२] कीथ, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ११।

[३] वही।

[४] वही।

[५] त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ एंशेंट इंडिया, पृ० २४५, टि०।

आभीर संभवतः मध्यभारत में पार्वती और बेतवा के द्वाब में अहिरवाड़ में बसे थे। अहीर और गूजर दोनों अपने विशिष्ट यष्टिकाय और विविध सामाजिक रीतियों से स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। अहीर बालकृष्ण की विशेष मनोयोग से पूजा करते हैं। पिछले काल में तो अहीरिनें ग्वालिनें और प्राचीन गोपियों का पर्याय मान ली गईं और अनेक हिंदी के रीतिकालीन कवियों ने उनको पर्याय के रूप में ही व्यवहृत किया है। अहीरों और गूजरों को वर्णव्यवस्था के स्तरों में भी सही सही नहीं रखा जा सकता। वैसे अहीरों ने यादवों से अपना संपर्क स्थापित कर अपने वर्णविचार में पर्याप्त जटिलता उत्पन्न कर दी है। शूरसेन प्रदेश का सौराष्ट्र से संबंध और अहीरों का दोनों स्थानों में संख्याप्राबल्य वह समस्या और उलझा देता है।

इसी प्रकार गुर्जरों ने भी गुजरात में अपना प्राधान्य स्थापित कर लिया था। हर्षचरित में बाण ने प्रभाकरवर्द्धन द्वारा उनकी पराजय का उल्लेख किया है[१]। हर्ष के बाद राजपूताने में वे विशेष प्रबल हो गए और एक बार अवंती (मालवा) पर भी उन्होंने अधिकार कर लिया। उनका एक केंद्र जोधपुर के निकट मंदौर[२] भी था जहाँ से बढ़कर उन्होंने कन्नौज पर अधिकार कर लिया और मध्य देश के एक बड़े खंड पर गुर्जर-प्रतीहार नाम से अपना साम्राज्य स्थापित किया।

(२) प्राकृतों पर प्रभाव—दोनों ने आरंभ से ही भारतीय प्राकृतों को प्रभावित किया। गुजराती पर विशेष कर गूजरी का और कुछ मात्रा में आभीरी का भी प्रभाव है। शौरसेनी और महाराष्ट्री को भी आभीरों ने प्रभावित किया। दंडी[३] का तो कहना है कि अपभ्रंश आभीर शब्दों के प्रभाव से बनी पद्यगत भाषा को कहते हैं। लगता है कि प्राकृत में आभीरी बोली के प्राधान्य (अथवा मिश्रण) से ही अपभ्रंश का निर्माण हुआ। इस प्रकार संभवतः आभीरों ने अपनी बोली को साहित्यिक रूप देकर उसे अपभ्रंश कहा। आभीर और गुर्जर राजाओं का प्रभाव जैसे जैसे बढ़ा वैसे ही वैसे अपभ्रंश लोकप्रिय हुआ और वह शैली के रूप में मूल पश्चिम से पूर्व और उत्तर की ओर फैला। स्थानीय अपभ्रंश धीरे धीरे खड़े हुए। सिंध की व्राचट (व्राचड) का तो आभीरी प्रायः पर्याय है[४]। इस प्रकार आभीरों और गुर्जरों का देश की भाषा और संस्कृति पर खासा प्रभाव पड़ा, विशेषकर जब

[१] 'गुर्जरप्रजागरः'; और देखिए हर्षचरित का टामस का अनुवाद, पृ० १०१, कलकत्ता संस्करण, पृ० २४३–४४।

[२] त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३११।

[३] काव्यादर्श, १, ३२।

[४] कीथ, हिस्ट्री०, पृ० ३३–३४।

हूणों के आने के समय देश में आभीरों और गुर्जरों की बाढ़ सी आ गई। जाट भी संभवतः इन्हीं के साथ आए। कुछ आश्चर्य नहीं यदि वे गूजरों की ही कोई शाखा रहे हों। कुछ लोगों ने तो गुप्त सम्राटों को कारस्कर गोत्र का जाट ही माना है[1] यद्यपि उस सिद्धांत को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

शक कुषणों के बाद का गुप्त सम्राटों का युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग है। वह काल पिछले और अगले युगों के संधिस्थल पर खड़ा है। इतिहास के एक छोर का वह अंत है, दूसरे का आरंभ। उस काल संस्कृति का फिर से लेखा जोखा लिया गया। विदेशी जातियों के कमजोर होते ही जब सबल भारशिव नागों और गुप्तों का प्रताप बढ़ा, तब उनमें से अनेक शूद्र और अस्पृश्य तक मान ली गईं। पौराणिक परंपरा का विकास हुआ और देवताओं एवं उनकी प्रतिमाओं की बाढ़ सी आ गई। पुराणों का साहित्य प्रस्तुत हुआ। बुद्धों की स्वाभाविक उदारता उसमें प्रतिबिंबित हुई और यद्यपि धर्मशास्त्रों में शूद्र के प्रति कठोरता का विधान हुआ, पौराणिक परंपरा में वे भी आदर के पात्र समझे गए। वैष्णवों और शैवों में जो वे भी भक्त बनकर प्रविष्ट हुए तो यहाँ तक कहा गया कि राम का नाम जपने से कसाई, गणिका और चाडाल तक स्वर्ग पहुँच गए।

[1] काशीप्रसाद जायसवाल, जर्नल, बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी, मार्च-जून, १९३३।

चतुर्थ अध्याय

हूण–किरात प्रभाव

१. हूणों का आगमन और भारतीकरण

जैसा ऊपर कहा जा चुका है चौथी शती वि० के अंत में हूणों का मध्य एशिया से प्रसार और भारत पर आक्रमण हुआ। हूण मूलतः पश्चिमोत्तर चीन से आए थे। उनका आक्रमण बड़ा भयानक था। उन्होंने प्रबल रूमी साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी। भारत में स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ने एक बार तो उनकी बाग रोकी पर शीघ्र उनके अनवरत आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य की चूलें ढीली कर दीं और वह साम्राज्य नींव के जल से जर्जर अट्टालिका की भाँति बैठ गया। भारतीय वर्ण-व्यवस्था की पाचनशक्ति अभी तक ठीक थी। अन्य विदेशी जातियों की तरह हूणों का भी भारतीकरण हुआ और वे क्षत्रिय वर्ण में मिला लिए गए। पृथ्वीराज-रासो में परिगणित छत्तीस राजपूत वंशों में एक हूण (हूल) भी है। भारतीकरण के बाद परवर्ती आक्रमणकारियों का विरोध हूणों ने उसी प्रकार किया जिस प्रकार प्राचीन क्षत्रिय राजवंशों ने। चाहमान (चौहान), परमार, प्रतीहार आदि प्राचीन क्षत्रियवंशों से इनका विवाह संबंध और सामाजिक व्यवहार समानता के आधार पर होने लगा। इस प्रकार जिन हूणों ने गुप्त साम्राज्य को चूर चूर कर डाला था, जिनके आतंक से पश्चिमी भारत सदा काँपता रहता था, जिन्हें यशोधर्मन् और बालादित्य की संमिलित वाहिनी परास्त कर सकी थी, जिन्होंने दो पीढ़ियों तक कश्मीर में राज्य किया था, वे हूण भारतीय जनता में मिलकर इस देश में एक नई शक्ति के विकास में सहायक हुए। मरणोन्मुख भारतीय जाति में जो उन्होंने नए प्राण फूँके तो राजपूतों के शौर्य में एक नया जीवन यहाँ लहराया, 'राजपूत' शब्द पराक्रम और साहस का पर्याय बन गया। इतिहास के पन्ने उनकी कीर्ति से भर गए। उनके मर्द अविजित प्रताप के द्योतक हुए, उनकी नारियाँ लाज बचाने के लिये शत्रु के छूने से पहले अग्नि की लपटों में आत्माहुति के लिये प्रसिद्ध हुईं। राजपूत नारियों का वह साहसपूर्ण 'जौहर' इब्रानी 'ज़ोहर' से निकला जिसका अर्थ अग्नि और प्रकाश होता है[1]।

[1] देखिए इब्रानी पुस्तक ज़ोहर, लेखक लियों का मूसा (मोजेज द ल्यों : १२५०–१३५०)—हिब्रू लिटरेचर, शीप्ले की एन्साइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर, पृ० ३६५, कालम १।

२. शारीरिक गठन और सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव

शारीरिक गठन और सामाजिक व्यवस्था पर हूणों ने प्रभाव डाला। उनका शरीरगठन और कायिक रूपरेखा, रीतिरस्म और परंपराएँ भारतीकरण के बाद भी अपना वैशिष्ट्य रखती हैं। राजपूतों को छोड़ औरों में तो विधवा विवाह की प्रथा भी है। वस्तुतः इन्हीं के प्रारंभिक आक्रमण और प्रभाव के कारण कुछ स्मृतियों में विधवा विवाह का भी विधान करना पड़ा था।[1] ये जातियाँ चाहे विशुद्ध वर्ण-परंपरा के अंतर्गत न आती हों परंतु निःसंदेह इनसे भारत को असाधारण बल मिला।

३. नई परंपरा और भोगवाद

इन अगणित विभिन्न विदेशी जातियों के समाज में आ मिलने से जो नई परंपराएँ विकसित हुईं उन्होंने स्मार्त व्यवस्था को बड़ा धक्का पहुँचाया। बौद्ध धर्म में वज्रयान बड़ी तीव्रता से शाक्तों की ओर बढ़ता आ रहा था, उधर शाक्त धर्म प्रायः सर्वथा तांत्रिक हो चला था। धीरे धीरे तारा-प्रज्ञापारमिता और शक्ति में भेद न रहा और दोनों की विधिक्रियाएँ भी तांत्रिक हो गईं। उन्होंने घोषित किया कि जो ब्राह्मण (स्मार्त) धर्म के लिये धर्म है वह हमारे लिये अधर्म है और जो उनके लिये अधर्म है वही हमारे लिये धर्म होगा। उन्होंने तप द्वारा वासनाओं को जीतने की जगह अतिभोग से उनका निराकरण करना उचित समझा और एक स्पष्ट भोगवादी धारा प्रवाहित कर दी। हुआ तो यह था विशेषतः वर्णादि ब्राह्मण (स्मार्त) व्यवस्था के विरोध में, विद्रोह के रूप में, पर एक बार निम्न स्तर की जातियों को (नई जातियों के आने से जिनकी शक्ति बढ़ गई थी) जो अवसर मिला तो उन्होंने सभी प्रकार के असामाजिक विद्रोह करने शुरू किए। उनके नेता भी अधिकतर या तो टूटे हुए (वर्णच्युत) ब्राह्मण थे या निम्नजातीय साधक। सिद्धों की परंपरा जगी। साधक स्वयं तो आचारतः सशक्त थे पर इस प्रकार की शाक्त, वज्रयानी या साधारण स्मार्तविरोधी जनता को सँभाल सके। पालों (शूद्र और बौद्ध) के शासन में स्थिति अधिकाधिक बिगड़ती गई और कापालिक, औघड़ आदि अनेक पंथ उठ खड़े हुए। सुरा और नारी का साधनाओं में उपयोग होने लगा, मंदिरों तक पर यौन चित्रार्ध जा चढ़े और प्रकृत माने जाने लगे। यह व्यवस्था या कुव्यवस्था मुगल काल तक चलती रही और तुलसी आदि स्मार्त सामाजिकों को इन तांत्रिकों से समाज की रक्षा करने के लिये और वर्ण तथा गार्हस्थ्य को फिर से समुचित रीति से स्थापित करने के लिये रामचरितमानस आदि के से प्रबंधकाव्य लिखने पड़े।

[1] काणे : हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र; त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७६; नारदस्मृति, जॉली का कलकत्ता संस्करण।

४. किरात

(१) स्थिति और क्षेत्र—भारतीय समाज को एक अन्य जाति का योग पूर्व की ओर से मिला। यह किरात जाति थी। किरातों का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में देशी विदेशी जाति दोनों रूप में हुआ है। इनका वृत्त बड़ा है और इनके घेरे में साधारणतः पर्वती, जांगल और मंगोल जातियाँ भी हैं।

(२) संपर्क और प्रभाव—बहुत प्राचीन काल से पूर्व की पीली जातियों से आर्यों और वर्ण जातियों का संपर्क होता रहा है। महाभारत में अर्जुन के उलूपी के साथ विवाह आदि का जो वर्णन है वह इन्हीं पूर्वी पीली जातियों से संपर्क का संकेत है। शान जातियों का संबंध बर्मी, चीनी, तिब्बती (भोट) आदि जाति वर्ग से है जिनका बराबर भारत से संबंध बना रहा था और जो बंगाल तक अपना प्रभाव मूक जातीय संमिश्रण द्वारा फैलाती रही थी। कामरूप (आसाम) भारतीय और इन किरात जातियों का संधिस्थल था और जब शानों की शाखा आहोम जाति ने तेरहवीं शती में आसाम पर अधिकार कर उसे अपना नाम दिया तब तो वह संपर्क प्रचुर संमिश्रण बन गया। भोटों, तिब्बतियों से तो बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संबंध चला ही आता था, उससे भी पहले वात्स्यायन ने अपने कामसूत्रों में अपने सूत्र 'गोयूथिकम्' में उनके समूचे परिवार के एकसाथ सोने और सभी भाइयों के एक ही पत्नी से विवाहित होने का संकेत किया है। पांडवों के पिता राजा पांडु का हिमालय में रहना और कालांतर में पांडवों का समान पत्नी द्रौपदी से विवाह करना भी उसी प्रभाव का संभवतः परिचायक है। वैसे हिमालय की जातियों की साधारणतया ढीली गार्हस्थ्य परंपरा ने विवाहादि की व्यवस्था को समीपवर्ती पहाड़ी भारतीय जातियों में भी कमजोर निश्चय कर दिया होगा। स्वयं कालिदास ने उस ओर पर्वती उत्सवसंकेतों के निर्देश से संकेत किया है[१]। सो यह निश्चित है कि पूर्वी बंगाल का और निकटवर्ती भारतीय जनता के रीतिरस्मों, विश्वासों और जातीयता पर इस शान-भोट-किरात जनता का गहरा और विस्तृत प्रभाव पड़ा। सप्तमातृकाओं के अतिरिक्त अनेक अन्य—मनसा, शीतला आदि—देवियों का जो मध्य देश की जनता तक में विश्वास फैला और लोकगीतों, विशेषकर शीतला (चेचक) आदि के प्रकोप संबंधी नारी गायनों, में उनका बारंबार उल्लेख हुआ वह वस्तुतः उसी प्रभाव का परिणाम था और वह मध्य देश में बाहर से आकर बसने और भारत की निम्नस्तरीय जनता को अपनी वर्णविरोधी स्थिति से शक्ति देनेवाली जातियों के योग से और व्यापक हो उठा।

[१] रघुवंश, ४, ७८—शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान्।

पंचम अध्याय

अरब, तुर्क, मुगल तथा यूरोपीय प्रभाव

१. प्रास्ताविक

भारतीय संस्कृति, वर्ण, विश्वास, धर्म, भाषा, साहित्य, विज्ञान, कला आदि पर असाधारण, व्यापक और गहरा प्रभाव इस्लाम ने डाला। अरब, तुर्क, पठान, मुगल आदि जातियाँ इस्लाम के झंडे के नीचे इस देश में प्रविष्ट हुई और क्रूरता, प्रेम, प्रचार सभी प्रकार से अपने विचारों, विश्वासों आदि का प्रसार कर उन्होंने इस देश में दो प्रबल और विभिन्न संस्कृतियों को एक दूसरे के आमने सामने खड़ा कर दिया। वह प्रभाव कितना व्यापक और गहरा था, इसका अनुमान उचित मात्रा में साधारणतः नहीं किया जाता। संक्षेप में उसी का उल्लेख आगे के पृष्ठों में करेंगे और वस्तुतः वह उस प्रभाव के प्रति संकेत मात्र होगा।

२. अरब संपर्क तथा आक्रमण

अरबों का संपर्क भारत से बहुत पुराना है, प्रायः तब से जब अभी इस्लाम का उदय भी नहीं हुआ था। पश्चिमी देशों के साथ भारतीय व्यापार में अरबों का पर्याप्त योग था और अनेक बार प्राचीन काल में तो दोनों में व्यापारिक संबंध के प्रायः एकमात्र माध्यम अरब ही रह गए थे। इससे स्वाभाविक ही उत्तर भारत से भी पहले दक्षिण भारत ही उनके संपर्क और प्रभाव में आया। पाँचवीं-छठी सदी में फारस का भारत से व्यापार चरम सीमा तक पहुँच गया; अरब ही अधिकतर उसमें नाविक का काम करते थे। फारस की खाड़ी में जानेवाले सभी जहाज अदन और शहर के बंदरों में ठहरते थे। अरब और भारतीय नाविकों का उस भाग में प्रायः तभी से अथवा और पहले से साझा चला आता था, जब दोनों अंतोनी और क्लियोपात्रा की ओर से प्रसिद्ध अक्तियम के युद्ध में रोमन (पीछे सम्राट्) आक्तेवियस सीजर से लड़े और समान रूप से हारे थे। इस्लाम का उदय होने के पर्याप्त पहले पश्चिमी समुद्र तट पर चाउल, कल्यान और सोपारा में उनकी बस्तियाँ थीं। मालाबार के तट पर तो और भी पहले अरबों की बस्तियाँ बन गई थीं। सातवीं शती वि० में इस्लाम के उदय ने उस दिशा में और सहायता की। मध्य और पश्चिमी एशिया की भूमि पर उधर उसकी सेनाओं ने अधिकार किया इधर उनके जहाजी बेड़े हिंद महासागर में फिरने लगे। लाल सागर से चलकर वे सिंधु के

मुहाने और खंभात की खाड़ी होते मलाबार पहुँचते और वहाँ पड़ाव कर लंका (सिंहल) जाते। हजारों की संख्या में अरब मलाबार के तट पर आ बसे और मोपला कहलाए। तब से आज तक वे प्रायः तेरह सदियों से नायरों के रीतिरस्मों और जीवन को प्रभावित करते रहे हैं। इन्हीं जहाजियों के संपर्क का यह परिणाम था कि उत्तर भारत पर भी अरबों का अधिकार हुआ। खलीफा उमर के शासन काल में सिंहल में बसे अरबों की लड़कियों को लेकर एक अरबी जहाज चला जिसे सिंधियों ने पकड़ लिया। हज्जाज (ईराक का शासक) के माँगने पर भी सिंध के राजा ने जब लड़कियों को लौटाने से इंकार कर दिया तब उसने मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरब सेना भेजी जिसने ७६६ वि० में सिंध पर अधिकार कर लिया। सदियों अरबों ने सिंध पर शांतिपूर्वक राज किया। संभवतः इस्लाम का इतना सहिष्णु शासन जिसमें ब्राह्मणों को उनके लिये कर उगाहने, मंदिरों का जीर्णोद्धार करने, नए बनवाने आदि का अधिकार था और कहीं नहीं हुआ। इसीसे प्रतीहारों आदि के प्रबल साम्राज्यों के बावजूद चारों ओर से हिंदू राज्यों से घिरा रहकर भी वह छोटा राज्य जीवित बचा रहा।

३. सुदूर दक्षिण में अरब

मालाबार तट पर इस्लाम का प्रचार धीरे धीरे जोर पकड़ता गया और जब कंगनूर के राजा ने वह धर्म स्वीकार कर लिया तब तो उसका प्रचार और भी बढ़ा। तब मोपलों के धामिक नेता थंगल की पालकी जमूरिन (समुद्रिन्) की बगल में चलने लगी। वहाँ अनेक मस्जिदें खड़ी हो गईं, हजारों मुसलमानों में काजी और मुफ्ती फिरने लगे। ग्यारहवीं सदी तक पूर्वी समुद्रतट पर भी अरब बसे और मदुरा, त्रिमुरा (त्रिचनापली) आदि में उनकी बस्तियाँ उठ खड़ी हुईं। तेरहवीं सदी के पांड्य राजाओं के तो मुसलमान मंत्री तक बन गए। मलिक काफूर के हमले के समय तक दक्षिण भारत में अनेक मुसलमान बस्तियाँ बस चुकी थीं। दक्षिण-पश्चिम के अनेक राजाओं के पास मुस्लिम सेनाएँ थीं; स्वयं प्रसिद्ध सोमनाथ के राजा के पास मुसलमान लड़ाके थे। आश्चर्य नहीं कि भारतीय धर्मों में सुधार की आवाज पहले इस संपर्क के कारण दक्षिण में ही उठी हो और रामानुज, माधव आदि विशेष सयत्न हो उठे हों।

अरबों की प्रचार पद्धति अन्य मुसलमान विजेताओं से सर्वथा भिन्न थी। वे संसार की उन अमर जातियों में से थे जिन्होंने संस्कृतियों को मरने से बचाया था और उनके रत्नों की रक्षा की थी। ज्ञान का एक केंद्र (बायतुल हिकमा) ही उन्होंने ८८७ वि० में बगदाद में खड़ा कर दिया। यूनानी दर्शन और अलकेमी, भारतीय गणित, ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र, चीनी कंपास, बारूद, मुद्रण और कागज उन्होंने यूरोप तक पहुँचाए। भारत में भी उन्हीं ने चीनी कागज और

बारूद का पहले पहल उपयोग किया। इस्लाम के झंडे के नीचे लड़नेवाली अनेक खूनी जातियों के व्यवहार से प्रायः उन्हें भी जोड़ दिया जाता है, पर वे उनसे सर्वथा भिन्न थे। वे स्वयं हिंदू राज्यों की ही भाँति सुबुक्तगीन और उसके बेटे महमूद गजनी की विध्वंसक चोटों से छिन्न भिन्न हो गए।

दक्षिण में जो सांप्रदायिक एकेश्वरवाद का शैवों और वैष्णवों में प्रचार हुआ उसमें संभवतः इस्लाम का प्रभाव लक्षित है। इस काल जो वैष्णवों में भक्तों की परस्पर समता का भाव विशेष शक्ति के साथ जगा और निम्नवर्णीय, शूद्र-अछूत तक उसके नेता हो सके वह इसी नए धर्म और मुस्लिम संपर्क के परिणामस्वरूप हुआ। इसी बीच उत्तर में भी अनेक मुस्लिम आक्रमणों और इस्लाम के क्रूर और कोमल आघातों से हिंदू जाति में भी कुछ सनसनी हुई। उसने उस जातीय एकता की शक्ति देखी जिसके अभाव ने उसका विदेशियों से संघर्ष कुंठित कर दिया था। उसमें भी प्रचार की भावना जगी। इसी समय एक और विचारधारा से उसका संपर्क हुआ। वह विचारधारा अथवा जीवनदर्शन तसव्वुफ था।

४. तसव्वुफ

आठवीं, नवीं सदियों से ही फारस और अरब में तसव्वुफ का प्रचार हो चला था और दसवीं से बारहवीं सदी तक तो उसने असाधारण शक्ति धारण कर ली थी। इस्लाम के क्रूर धर्मपरिवर्तन को धिक्कार कर वे सब में एक खुदा का व्यापक वास मानने लगे और खुदा के साथ उनका जो एक अभिन्न अपनापा हुआ वह भारतीयों को विशेष आकर्षक लगा। उसके विकास में भारतीय वेदांत से भी सहायता मिली थी, जिससे उस धर्म के अनेक प्रसंग और अवयव जाने हुए लगे। प्रेम का असाधारण उल्लास तसव्वुफ की विजय का विशेष कारण बना। निर्भीकता और त्याग सूफियों में अमित मात्रा में थी और बड़ी संख्या में उनके दरवेशों ने मध्य एशिया के कठमुल्ले शासन के अत्याचार सहे पर हँसते हँसते उन्होंने यातनाएँ और सूली झेली किंतु अपनी बात मानने से, अपने को खुदा का प्रिय और खुदा को अपना प्रिय, एक प्रकार का सखा भाव स्थापित करने से वे न चूके। और उनका वह सारा विश्वास वैभव इस देश में उनके साथ आया और यहाँ के समाजसुधार की प्रेरणा बन हिंदू मुसलमानों की विशेष एकस्थ संमिलित विरासत बना। चैतन्य, रामानंद, कबीर, नानक, जायसी आदि उसी प्रेमप्रेरणा के प्रचारक और साधना के विधायक थे। वैष्णवों में सखी समाज की अनोखी भावना भी उसी का परिणाम थी। अनेक भारतीय संप्रदायों में जो 'गुरु' की इतनी मर्यादा बढ़ी और वह अनेक बार भगवान से भी बड़ा मान लिया गया, वह इस्लाम के नबी के उसूल का ही फल था। गुरु नबी का स्थानापन्न हुआ।

५. आदान प्रदान : यवन पह्लव

मुसलमान शक-कुषणों और हूण-किरातों की भाँति किसी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के बिना इस देश में नहीं आए थे। वे इस्लाम के नए जोश से अनुप्राणित थे। उनका अपना जीवन दर्शन था, अपनी सामाजिक व्यवस्था थी, अपने रस्म-कानून थे और वे अन्य जातियों की भाँति भारत की सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक जीवन में घुल मिल जाने को तैयार न थे। अपने धर्म के प्रति उनमें गहरी आस्था थी और उसका दूसरों में प्रचार की लगन थी। और फिर वे यहाँ से लौट जाने के लिये नहीं आए थे। यहाँ बस गए और बस जाने के बाद यह संभव न था कि शासकों से भिन्न उनकी साधारण जनता उन हिंदुओं से सदा शत्रुता रखे जिनके साथ वह बसी थी। धीरे धीरे वह दोनों पड़ोसी और मित्र बनने लगे। संपर्क से सद्भाव जन्मा, समझ आई और भेदभाव मिटा। हिंदुओं ने अपने अनेक नए आचार उनसे लिए, उन्होने भी अपने हिंदुओं से लिए। जो लोग हिंदू से मुसलमान बने उनमें भी पहले से विशेष अंतर न पड़ा, कम से कम वे उनसे कुछ विशेष भिन्न न बन पाए जिन्हें उन्होंने छोड़ा था। पड़ोस का परिणाम यह हुआ कि एक बार साथ साथ बस जाने के बाद दोनों ने मिलकर एक साथ एक नई समान संस्कृति विकसित की जो न सर्वथा मुस्लिम थी, न सर्वथा हिंदू। न केवल हिंदू धर्म, हिंदू कला, हिंदू साहित्य और हिंदू विज्ञान में मुस्लिम संपर्क से क्रांति हुई वरन् हिंदू संस्कृति और हिंदू मानस गुणतः बदल गए और उसी रूप और मात्रा में स्वयं मुसलमानों के तत्संबंधी दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। दक्षिण में, महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब में, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल में चौदहवीं सदी से एक अंतरावलंबित सांस्कृतिक आंदोलन चल पड़ा जिसने दोनों को, विशेषकर हिंदू जनता को फिर से विचारने को मजबूर किया, प्राचीन धर्म के अनेक तत्वों को त्याग दिया, नए आगंतुक विचारों पर जोर दिया। इसी काल तसव्वुफ और मुस्लिम लेखकों में हिंदू विचारों और रस्मों को जज्ब करने की गहरी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, यहाँ तक कि कुछ क्षेत्रों में तो हिंदू देवता भी पूजे जाने लगे।

वस्तुतः भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर जो मुस्लिम प्रभाव पड़ा वह गहराई और प्रसार दोनों में असाधारण था। रस्म-रीति, उत्सव-मेले, आचार-विचार, परिधान, आहार, विवाह, भाषा-साहित्य, संगीत-शिल्प, चित्रण आदि सभी में यह प्रभाव लक्षित हुआ। मराठी, राजपूत और सिक्ख दरबारों में एक ही प्रकार के एखलाक लेबास बरते जाने लगे। इन सबका ब्योरेवार उल्लेख करने में ग्रंथ-विस्तार का भय है। हम यहाँ केवल कुछ की ओर संकेत करेंगे।

(१) **विज्ञान**—हिंदुओं का विज्ञान, यद्यपि तब तक कुंठित हो चुका था, असाधारण रूप से संपन्न था। भारत का अरबों पर गणित, ज्योतिष और चिकित्सा

शास्त्र का पर्याप्त ऋण था पर अरब स्वयं असाधारण रत्नभांड थे। जैसे उन्होंने हिंदुओं से लिया वैसे ही यूनानियों और चीनियों से लिया था और वे तीनों के ज्ञान के धनी थे। अब जो वे भारत आए तब उस संमिलित दाय के धनी होकर आए। उसमें उनका निजी भी बहुत कुछ था, और अलबरूनी ने तो सिद्ध कर दिया कि इन सब दिशाओं में मुस्लिम वैज्ञानिकों का ज्ञान हिंदुओं से किसी मात्रा या प्रसंग में कम नहीं है। हिंदुओं ने इसे समझा और तत्काल उन्होंने विज्ञान के वे सारे सिद्धांत उनसे ले लिए जो उन्हें नए जान पड़े। ज्योतिष के क्षेत्र में यह प्रयास विशेष सयत्न हुआ। ज्योतिष के अनेक लाक्षणिक शब्द, अक्षांश-देशांतर (मुस्लिम) की गणना, पंचाग (जीच), जन्मपत्री (जातक) संबंधी समूचा विज्ञान (ताजीक, नाम से प्रगट है कि यह ज्ञान ईरानी ताजिकों से मिला) भारत को नए सिरे से मुसलमानों से मिला[1]। जयपुर के महाराज जयसिंह (१७४३-१८०० वि०) ने पंचाग सुधार में बड़ा कार्य किया। जयपुर, मथुरा, दिल्ली और उज्जैन में उन्होंने वेधशालाएँ स्थापित कीं। उनके पंडितों ने अल्-मजिस्ती का अरबी से संस्कृत में अनुवाद किया। स्वयं उन्होंने अपने 'जीचमुहम्मदशाही' की महाकायिक रचना में उलूग बेग, नासिरुद्दीन तूसी, अल्-गुरगान (इल्खानी), जमशेद काशी (खाकानी) आदि की ज्योतिष शब्द-पीठिका का उपयोग किया। चिकित्सा के क्षेत्र में यूनानी विरासत के साथ इस देश में मुसलमानों ने अपनी हिकमत का प्रचार किया। आयुर्वेद ने उनसे धातुभस्मों का व्यवहार सीखा, रसायन की अनेक विधियाँ सीखीं। इसके अतिरिक्त मुस्लिम संपर्क से इस देश में कागज और मीनाकारी (धातुस्नेह, काचचित्र) का चलन हुआ। अब तक पुस्तकें ताड़ और भोजपत्र पर ही लिखी जाती थीं, अब उस दिशा में कागज ने क्रांति उपस्थित कर दी।

(२) ललित कला—ललित कलाओं को हिंदू-मुसलमान दोनों ने पूजा की निष्ठा से सँवारा है। संगीत, स्थापत्य और चित्रण तीनों कलाएँ इस्लाम के योग से समृद्ध हुई हैं। मुस्लिम-शासन-काल में संगीत के विकास पर एक दृष्टि यहाँ उपादेय होगी।

(अ) संगीत—सूफियों ने भारत आते ही उसके संगीत को अपना लिया। स्वयं उनके अपने धार्मिक गायन नितांत लोकप्रिय हुए। हिंदू और मुसलमान दोनों ने उनको अपनाया। सूफी बगदाद और फारस से आए। सुल्तान अल्तमश के राज्यकाल में सूफियों का नेता और दार्शनिक नगर का काजी हमीदुद्दीन था जिसे सुल्तान के दरबार में गाने की अनुमति मिली। १२६४ वि० में अल्तमश के बेटे

[1] कीथ, हिस्ट्री०, पृ० ५१४।

सुल्तान फिरोजशाह के समय 'संगीत रत्नाकर' लिखा गया जिसमें समकालीन गायन की नई पद्धति जोड़ ली गई। उस समय तक प्रायः सभी राजदरबारों में संगीत के विदेशी तराने स्वीकार कर लिए गए थे।

क्रूर सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी (१३५२-१३७२ वि०) संगीत का बड़ा प्रेमी और संरक्षक था। उसके समय भारतीय संगीत में बड़ी उन्नति हुई। भारतीय और फारसी-अरबी गायनविधि बड़ी लगन से एकत्र कर दी गई। हिंदी और फारसी आदि में समान रूप से गानेवाले उस्ताद अलाउद्दीन के दरबार में थे। चंगी, फतुहा, नसीर खाँ, बहरोज, अमीर खुसरू सभी अपने अपने फन के उस्ताद थे। अमीर खुसरू ने हिंदी और खड़ी बोली की कितनी सेवा की यह साधारणतः जानी हुई बात है पर कम लोग जानते हैं कि वह अपने समय का प्रायः सबसे अच्छा गायक था। उसने कव्वाली और तराना भारत में प्रचलित किए और जीलुफ, सर्पदा, सजगिरी आदि अनेक राग बनाए। उसकी फारसी मिली हिंदी अपूर्व मिठास रखती है। उस काल का भारत का प्रधान गायक नायक गोपाल था जिसे अलाउद्दीन अपनी दकन की विजयों में अनेक गायकों के साथ लाया था। खुसरू ने उसे परास्त कर दिया। उसी ने तबला और सितार (सेह तार=तीन तार) का भी संभवतः निर्माण किया।

अरब-फारस और हिंदू संगीत के योग से उस क्षेत्र में अब तक एक नई रौनक पैदा हो गई थी। प्रायः सारे हिंदुस्तान और पश्चिम में फारसी अरबी राग गाए जाने लगे थे। इनमें से कुछ निम्नलिखित थे—जीलुफ, नौरोज, जंगुला, ईराक, येमेन, हुसैनी, जिल्ला, दरबारी, हिजाज, खमाज। ध्रुपद मरा जा रहा था, पर दरबारों की संरक्षा में वह फिर जी उठा और तानसेन ने कुछ ही काल बाद उसे पराकाष्ठा को पहुँचा दिया। ग्वालियर के राजा मानसिंह ने ध्रुपद की रक्षा की। पर उनसा ही संगीत का प्रेमी, स्वयं उस कला का विशारद जौनपुर का सुल्तान हुसेन शरकी था। उस काल के हिंदू मुसलमानों में प्रधान गायक नायकबख्श, बैजू, पांडवी, लोहंग, जुर्जू, भगवान, धोंदी और दालू थे।

अकबर ने जिस परख के साथ गायकों का संरक्षण किया वह इतिहास में अपना सानी नहीं रखती। अबुलफजल के 'आईने अकबरी' में दरबार के १८ प्रधान गायकों के नाम मिलते हैं। तानसेन उसी दरबार के 'नौरत्नों' में से थे, ग्वालियर के जन्में, ध्रुपद-धमार के क्षेत्र में अपूर्व। अबुलफजल लिखता है कि तानसेन सा गायक पिछले हजार वर्षों में नहीं हुआ पर उसे खोजने और पालने का श्रेय अकबर को ही था। अकबर का दीने इलाही तो अद्भुत समन्वय होकर भी असहिष्णुता के कारण न चल सका, पर हिंदू मुस्लिम संगीत के राग घुल मिल गए। दोनों की यह समान विरासत बढ़ चली। सूफियों के गायन फल चले,

हिंदी भजन ने उनके स्थान लिए। कबीरदास, भिखारीदास, मीरा, सूरदास, तुलसीदास, हरदास आदि सभी ने कुछ पहले पीछे भजन लिखे जो जनता की जीभ पर चढ़ गए।

जहाँगीर ने पिता की परंपरा जीवित रखी। चतरखाँ, परविजाद, जहाँगीरदाद, खुर्रमदाद, मक्खू, हमजान और तानसेन के पुत्र बिलास खाँ ने तानसेन की आवाज मरने न दी। शाहजहाँ ने उस पंडितराज जगन्नाथ को अपनी मित्रता का गौरव दिया जिसने संस्कृत की मरती भारती में नए प्राण फूँके और अपनी अमर कृतियों से उसे सँवारा। वस्तुतः मुस्लिम काल में संस्कृत में रची जानेवाली कृतियों की संख्या थोड़ी नहीं है। जगन्नाथ और दिरंग खाँ को तो उनकी तौल की चाँदी पुरस्कार में दी गई। लाल खाँ भी, जिसको शाहजहाँ ने गुणसमुद्र की उपाधि प्रदान की थी, उसी के दरबार का गायक था।

अठारहवीं सदी में अँगरेजों की राजनीति ने दरबारों को विकल कर दिया। फिर भी मोहम्मदशाह रंगीले ने, एक ओर से मराठों दूसरी ओर से नादिरशाह की चोट खाते हुए भी, संगीत का नाद कविता की ही भाँति प्रतिध्वनित रखा। अदारंग, सदारंग और शोरी उसी के दरबार में थे। खयाल का अन्वेषक संभवतः सदारंग ही था। इस संबंध में जौनपुर के हुसैन शाह शरकी का नाम भी लिया जाता है। खयाल का अन्वेषक चाहे जो रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि सदारंग ने ही उसको पराकाष्ठा प्रदान की। पंजाबी टप्पा का प्रसिद्ध खोजी और प्रधान गायक शोरी था। इनके अतिरिक्त भी उस दरबार में एक से बढ़ कर एक रेख्ता, कौल, तराना, तरवत, गजल, कल्बना, मरसिया, सोज आदि गानेवाले थे। अवध के नवाबों के दरबार में भी संगीत का विकास खूब हुआ। आसफुद्दौला और वाजिद-अली शाह दोनों उसमें पारंगत थे। रामपुर के नवाबों ने भी संगीत में बड़ी रुचि ली। नवाब कल्बे अली खाँ, शाहजादे सआदत अली खाँ, हामिद अली खाँ आदि ने अपने दरबार में इधर के वर्षों में भारत के अच्छे से अच्छे संगीतज्ञों को आकृष्ट किया। वजीर खाँ बीनकार, पियारे साहब ध्रुपदिया, मुस्तफा खाँ खयाली, कौल-कल्वना के गायक अलीरजा खाँ, फिदाहुसैन सरोदिया और महम्मद अली खाँ रुबाबिया उसी दरबार में पले। इनके नामों और करतबों से प्रगट हो जायगा कि ऐसा नहीं कि हिंदुओं ने प्राचीन भारतीय रागशैली अपनाई और मुसलमानों ने अरब-फारस की, वरन् इनमें अनेक वीणा साधनेवाले थे, अनेक ध्रुपद गायक थे। वस्तुतः दोनों दोनों को साधते थे।

मुस्लिम सहयोग और प्रभाव से उत्तर भारत का संगीत भरपूर फला फूला। उसमें असाधारण मिठास भरी। उसका कारण नए मधुर रागों का संयोग था। ऊपर के पृष्ठों में प्रसंगतः कुछ ऐसे रागों की ओर संकेत किया जा चुका है जो

मुसलमानों ने खोजकर इस देश के संगीत को सौंप दिए। इन रागकारों में अमीर खुसरू का उल्लेख हो चुका है। दूसरा प्रसिद्ध रागकार पंद्रहवीं सदी का जौनपुर का सुल्तान हुसैन शरकी था। उसने भी अनेक मधुर राग खोज खोजकर अलापे। वे उसके नाम से ही प्रसिद्ध हुए, जैसे जौनपुरी, हुसेन कन्हरा, हुसेन टोडी आदि जो बड़े लोकप्रिय हुए। शोरी ने पीछे आसफुद्दौला के दरबार में जाकर हीर-राँझा गाए जानेवाले लोकराग टप्पा में नई जान डाल दी। उस राग को पहले ऊँट और खच्चर हाँकनेवाले गाया करते थे, मुसलमान शोरी ने मुसलमान आसफुद्दौला के दरबार में उस हिंदू पंजाबी गँवारू राग को दरबारी बना दिया। उससे पहले अकबर के समकालीन मालवा के सुल्तान बाजबहादुर ने बाजखानी गायन प्रचलित किया था। बाजबहादुर और रूपमती दोनों मुसलमान और हिंदू थे, दोनों असाधारण गायक, असामान्य प्रणयी और देश में उनके संबंध में अनेक कविताएँ, अनेक गीत बने। स्वयं भी दोनों कवि थे। गजल, लावनी, ठुमरी, कव्वाली, धुन, चतरंग आदि उसी हिंदू मुस्लिम संबंध की ही देन हैं।

(आ) **वाद्य**—नीचे लिखे वाद्य या तो मुसलमानों के दिए हुए हैं या उनके संपर्क से भारत को मिले हैं। सारंगी का निर्माण एक हकीम ने किया। दिलरुबा, ताऊस और सितार भी तारों के बाजे हैं। साजिंदा का निर्माण सिक्खों के गुरु अमरदास जी ने किया। रुबाब, सुरबीन, सुरसिंगार और तरब भी उसी वर्ग के हैं। रुबाब का निर्माण सिकंदर जुल्कारनैन ने किया और सुरबीन का दिल्ली के शाहजादे काले साहब ने। सुरसिंगार संभवतः रामपुर के दरबार में बना। तबला का निर्माण सुधार खाँ धारी के नाम से भी संबद्ध है यद्यपि इसका निर्माता अमीर खुसरू कहलाता है। अलगोजा अरब की बाँसुरी है जो अकेली या जोड़ा बजाई जाती है। भारतीय आर्केस्ट्रा शहनाई, उन्स (रोशनचौकी), नौबत आदि के रूप में इसी काल बना। शहनाई तो उत्तर भारत के संमिलित वाद्यों में अपूर्व है। तारों को बजाने के लिये मिजराब जो उँगली में पहना जाता है, उसका नाम मुसलमानों से ही हमें मिला है। इन वाद्यों से पता चल जायगा कि इनके न होने से हमारे संगीत व्यापार में कितनी कमी रह जाती। उनका योग हमारे संगीत को कितना मधुर कर देता है!

(इ) **नृत्य**—इसी प्रकार नृत्य के क्षेत्र में भी हिंदू मुसलमान दोनों का साझा रहा है। दक्षिण के नृत्यों में तो इतना नहीं पर कथक नृत्य को दोनों ने संमिलित रूप से साधा है। अनेक घराने हिंदू मुसलमान दोनों प्रकार के गायन, वादन और नर्तन की साधना में लगे रहे हैं। अनेक बार संगीत इस देश में ढोंगियों के कठमुल्लापन के कारण समाज से तर्क कर दिया गया, तब उसे वेश्याओं-तवायफों के प्रकोष्ठ पर शरण लेनी पड़ी। वहाँ भी वेश्याओं और उस्तादों ने उसे साधा।

वेश्याओं में कभी संगीत के संबंध में हिंदू मुसलमान का प्रश्न नहीं उठा। उन्होंने एक रूप से इस संमिलित दाय की रक्षा और विकास किया।

(ई) **स्थापत्य**—भारतीय स्थापत्य भी वही सांस्कृतिक समन्वय उपस्थित करता है। हिंदू राजप्रासाद, और मंदिर इस काल प्राचीन मानों और लक्षणों के अनुसार नहीं बनते, मुस्लिम शिल्प का सौंदर्य उनमें अब प्रवेश करता है। और ऐसा भी नहीं कि यह प्रभाव केवल कुछ मुस्लिमप्रधान प्रदेशों तक ही सीमित हो। नहीं, यह प्रभाव देशव्यापी है और राजपूताना, मध्यभारत, मथुरा, वृंदावन, काशी, मदुरा और दूर के काठमांडू तक के शिल्प को संवारता है। मुसलमानों की भी मस्जिदें, महल और मकबरे हिंदू शिल्प कीही भाँति भारतीय हैं। यह सही है कि मुसलमान अरब, फारस, फरगना आदि से कुछ रूपावयव लेते हैं पर भारत में उनके योग से एक नई शिल्प-शैली का विकास करते हैं। अपनी बाह्य संस्कृति से प्रसूत सुंदरतम, शालीनतम वास्तु वे इस देश की भूमि पर गढ़ते हैं। आगरे, दिल्ली के किलों से बढ़कर उनके किसी बाहरी मुस्लिम देश में किले नहीं, कुतुब से सुंदरतर मीनार नहीं, सीकरी के बुलंद दरवाजे से ऊँचे और सर्वांगसुंदर कहीं द्वार नहीं, मोती और जामा मस्जिदों से बढ़कर मस्जिदें नहीं, सौंदर्य और शालीनता में ताज का सा कोई मकबरा नहीं।

मुसलमानों के आने के साथ ही दिल्ली, आगरा, अजमेर, गौड़, मालवा, गुजरात, बीजापुर, जौनपुर, सासाराम में आलीशान इमारतें खड़ी हो जाती हैं—अरब, पठान, तुर्क, ईरानी, मंगोल सारी शैलियों की प्रौढ़ता इन इमारतों पर सज जाती है। गुंबज और मीनारें, मेहराब और लाटें, मीनाकारी और पच्चीकारी शिल्प के कलेवर भरते हैं। मंदिर और प्रासाद शिल्प के नए प्रभाव से शक्ति पाते हैं। उनको नए प्रतीक मिलते हैं, नई दृढ़ता मिलती है। राजमहलों की एक नई नस्ल खड़ी हो जाती है। आरंभ में जब मस्जिदें और मकबरे बनते हैं, उनमें हिंदू मुस्लिम दोनों शैलियों का योग साफ झलकता है,[1] दोनों अलग अलग देखे समझे जा सकते हैं, पर शीघ्र जब शैलियाँ दूध और पानी की भाँति मिल जाती हैं तब कहना असंभव हो जाता है कि कौन हिंदू है, कौन मुसलमान। निर्माण में तब केवल रसत्व काम करता है, सौंदर्य और शालीन तब उसकी परिणति होती है।

[1] देखिए, अजमेर की मसजिद, प्लेट ६१; कुतुब मसजिद (मेहरौली), चित्र २३२; कुतुब-मीनार; अलाउद्दीन खिलजी का दरवाजा, दिल्ली, चित्र २३३; अताला मसजिद, जौनपुर, प्लेट ६३; 'गौड़ का सोने का मसजिद' का दरवाजा, चित्र २३५; मुहाफिज खाँ की मसजिद, अहमदाबाद, प्लेट ६४, आदि प्लेट और चित्र—स्मिथ की 'हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट'।

आज भारत में जितनी और जैसी मुस्लिम इमारतें हैं, संख्या और सौंदर्य में वैसी किसी मुस्लिम देश में नहीं। किसी को वह सौभाग्य और अवसर प्राप्त न हुआ कि दो प्रबल और सुंदर संस्कृतियों का अभिराम संमिश्रण और उनकी संमिलित परिणति देख सके। वह मुस्लिम देन या प्रभाव आज किसी प्रकार नहीं कही जा सकती, वह सर्वथा भारतीय है, भारतीय शिल्पियों की सोची भारतीय करनी-छेनी से प्रसूत, भारतीय साधनों की प्रतीक, हिंदू मुसलमानों की संमिलित विरासत।

(उ) **चित्रकला**—मुस्लिम प्रभाव चित्रण के क्षेत्र में भी पर्याप्त पड़ा। भारत की अजंता शैली प्रायः विस्मृत हो गई थी यद्यपि उसके प्रभाव से जो अनेक शैलियाँ बनी थीं वे किसी न किसी रूप में जीवित थीं। गुजरात में, दक्षिण में, विशेषकर पुस्तकों में, अनेक शैलियों के चित्र जीवित थे यद्यपि अजंता की शैली से वे काफी दूर चले गए थे और उन्होंने अपनी अपनी प्रांतीय शैलियाँ बना ली थीं। भारत के पास अपनी चित्र संपदा इस प्रकार प्राचीन और अनंत थी। उसकी परंपरा अब भी सजग थी। उधर ईरानी चित्रण का भी व्यास बढ़ा था। चीन की पृष्ठभूमि से उठकर वह निजी व्यक्तित्व धारण कर चुकी थी। उसके चित्रण के विषय भिन्न और मनोहारी हो गए थे। चगताई चित्रण अपनी उन्नति की चोटी को छू चुका था। मुगलों के आगमन से वह चीनी-ईरानी कलासंपदा भारत को मिली, ऐसी शैली जिसमें असाधारण व्यक्तित्व था, जिसकी रुचि और निखार सर्वथा अपनी थी, भारत की अनजानी। पर जो शैली भारतीय चित्रणपरंपरा और फारसी कलम के योग से विकसी वह अपनी विशिष्ट निजता लिए हुए उठी, फारसी कलम से भिन्न और उससे कहीं अधिक आकर्षक, भारतीय परंपरा से भिन्न, परिष्कृत—और वह मुगल शैली कहलाई। यह मुगल शैली भारत को मुसलमान संपर्क की देन है, हिंदू मुसलमानों की संमिलित संपदा जिससे फिर देशी कलमें लगीं, राग-रागिनियों की रेखाएँ सुथरी, विविध पहाड़ी, लखनवी, पटनवी, दकनी आदि चित्र-शैलियाँ प्रस्तुत हुईं।

बाबर संभवतः अपने साथ तैमूरिया शैली के कुछ 'माडल' लाया था और दिल्ली, आगरे में उनकी नकलें होने लगीं जो हुमायूँ के काल तक चलती रहीं। सैकड़ों चित्र दास्ताने हमजा के से ग्रंथों के लिये बने और उस अर्थ अनेक चित्रकारों की आवश्यकता पड़ी। इन चित्रकारों मे केवल ईरानी न थे, भारतीय भी थे। हुमायूँ अपने साथ फारस से कुछ कलावंत निश्चय लाया पर अकबर के समय अधिकाधिक हिंदू चित्रकारों से काम लिया जाने लगा। अबुलफजल ने आईने अकबरी में फर्रुख कलमाक, अबदुस्समद शीराजी, मीर सैयद अली और मिस्की के साथ अनेक हिंदुओं का भी उल्लेख किया है। दस्वंत, बसावन, केशोलाल, मुकुंद, माधो, जगन्नाथ, महेश, खेमकरन, तारा, साँवला, हरिबंस, राम सभी ने उस नई

शैली को साधा और उसमें निष्णात हुए। खुदाबख्श लाइब्रेरी (पटना) में रखी तीमूरनामा में निम्निलिखित हिंदू चित्रकारों के नाम मिलते हैं—तुलसी, सुरजन, सूरदास, ईशार, शंकर, रामजस, बनवारी, नंद, नन्हा, जगजीवन, धरमदास, नारायण, चतरमन, सूरज, देवजीव, सरन, गंगासिंह, पारस, धन्ना, भीम आदि। इनमें से अनेक ग्वालियर, गुजरात और कश्मीर से आए थे जो हिंदू चित्रण के केंद्र रहे थे और अब भी थे।

जहाँगीर के शासनकाल तक पहुँचकर शुद्ध भारतीय मुगल शैली प्रस्तुत हो गई। नकल का कहीं प्रभाव न था। नए प्राण निजी कहानी लिए चित्रों की भूमि में बैठे। शाहजहाँ के समय मुगल कलम पराकाष्ठा को पहुँच गई। शाहजहाँ की संरक्षा में उस मुगल कलम को शुद्ध बनानेवाले हिंदू चित्रकार थे—कल्यानदास, चतरमन, अनूप, चतुर, राम, मनोहर। मुसलमानों में प्रसिद्ध थे—मुहम्मद नादिर समरकंदी, मीर हाशिम और मुहम्मद फकीर अल्ला खाँ। समरकंदी ने प्रतिकृति चित्रण में चोटी छू ली। शाहजहाँ के बाद चित्रण कला का ह्रास आरंभ हो गया। औरंगजेब ललित कलाओं का शत्रु था।

मुगल कलम ने इस देश को प्रतिकृति चित्रण में परिष्कार, रेखा का अद्भुत सौंदर्य, विषय की नवीनता दी। प्रेम और दरवेशों के चित्रण, युद्ध आदि के प्रसंग विशेष प्रयास और सफलता से चित्रित हुए। महाभारत आदि के भी सचित्र संस्करण हुए। आरंभ काल की कृतियों में दराबनामा, तीमूरनामा और रज्मनामा (महाभारत) उल्लेखनीय हैं। शाहजहाँ के बाद दिल्ली-आगरा के राजकीय चित्रकार संरक्षा के अभाव में हिमालय, राजपुताना, दकन आदि की रियासतों में चले गए और वहाँ मुगल शैली के योग से अनेक स्थानीय शैलियों का उन्होंने विकास किया। राजपूत, काँगड़ा, बशोली, चंबा, लखनऊ, पटना, दकन आदि की अपनी अपनी शैली बनी और भारतीय चित्रकला नए देशी रंगों में सजी।

(३) **भाषा और सहित्य**—भाषा और साहित्य पर भी मुस्लिम प्रभाव इतना ही गहरा पड़ा। वस्तुतः इस्लाम का प्रभाव इतना गहरा इतना बहुमुखी था कि यह कहना कठिन हो जाता है कि वह प्रभाव किस क्षेत्र में कम था किसमें अधिक। उसके योग से हिंदी खड़ी बोली का अभूतपूर्व विकास हुआ। उर्दू नए परिधानों से सजी एक समूची भाषा के रूप में ही इस देश में पनप चली। भाषा वह नई नहीं थी, पर उसकी संस्कृति और शैली सर्वथा भिन्न थी। वस्तुतः साहित्य और धार्मिक आंदोलनों में संस्कृत और प्राकृतों का स्थान उत्तर भारत में अब प्रांतीय भाषाओं—मराठी, गुजराती, बंगाली, हिंदी आदि—ने ले लिया था। मुसलमानों के आगमन से एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई जिसका परिणाम भाषाओं का समन्वय था। मुसलमानों ने तुर्की और फारसी छोड़ हिंदुओं की भाषा हिंदी अपनाई। अपने

शिल्प और चित्रण की भाँति उन्होंने अपनी भाषा भी परिवर्तित कर ली जिसका परिणाम 'उर्दू' था। उर्दू और किसी मुस्लिम देश की भाषा न थी, इसी देश में मुसलमानों के योग से हिंदी की विशिष्ट सांस्कृतिक शैली के रूप में जन्मी। मुसलमान और हिंदू दोनों ने उसे अपना मानकर विकसित किया। हिंदी खड़ी बोली नए रूप से नई शक्ति से विकसित हो चली। हिंदी वृक्ष का विशाल तना खड़ा हुआ जिसमें दो शाखाएँ फूटीं एक हिंदी कहलाई, दूसरी उर्दू। एक में अरबी, फारसी, तुर्की के शब्द अधिक थे, उसकी सांस्कृतिक परंपरा, साहित्यिक प्रतिमान भिन्न थे, दूसरी में संस्कृत के शब्द अधिक थे, साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपराएँ स्थानीय थीं। पर दोनों का प्राण एक था, भाषा का स्रोत और गठन एक था, क्रियाएँ समान थीं। दोनों के उपासक दोनों थे—हिंदू और मुसलमान। दोनों ने दोनों को सँवारा।

जिन बोलियों या शैलियों की क्रियाएँ एक होती हैं वे भाषा के रूप में एक होती हैं। हिंदी और उर्दू की क्रियाएँ समान हैं इससे दोनों एक ही भाषा हैं, हिंदी। वस्तुतः हिंदी खड़ी बोली और उर्दू की क्रियाएँ समान होने से वे परस्पर हिंदी और ब्रजभाषा, हिंदी और अवधी, और हिंदी और भोजपुरी से अपेक्षाकृत अधिक निकट हैं। इस अर्थ में सांस्कृतिक निकटता के बावजूद हमारे महान् साहित्यकार जायसी, मीरा, सूरदास, तुलसीदास, देव, बिहारी आदि से भी भाषा की दृष्टि से खुसरू, गालिब, मीर, सौदा, हाली आदि हिंदी खड़ी बोली के अधिक निकट हैं।

मुसलमानों के आगमन से साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा उसका संकेत अनेक बार ऊपर किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि उस प्रभाव की परिधि असाधारण बड़ी थी। उसके परिणाम कबीर, नानक, जायसी, आदि के अतिरिक्त अनंत ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने इस देश के कोने कोने में सामाजिक और धार्मिक क्रांति उपस्थित कर दी। उन्होंने धर्मों के प्राणतत्व एकत्र कर हमारे सामने रख दिए। एक नई निष्ठा, एक नई समता, नई उदारता, नई प्रगति इस देश में जन्मी जिसका उल्लेख थोड़े में नहीं हो सकता। एशिया के पश्चिमी जगत् का सारा सांस्कृतिक वैभव, सारी साहित्यिक शैलियाँ, सारी भाषा संबंधी रीतियाँ इस देश को मिलीं और उसकी संस्कृति और साहित्य समृद्ध हुए।

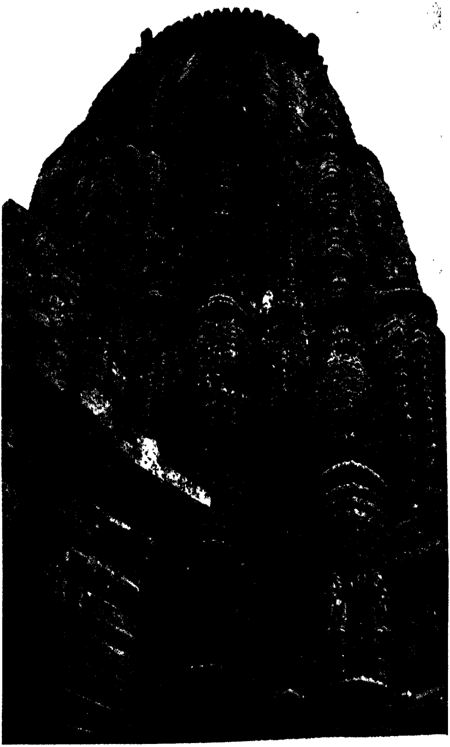
(४) परिधान—समाज पर पड़े उस प्रभाव की व्यापकता अनंत थी। उसी के परिणाम स्वरूप भारत का मध्ययुगीन परिधान प्रस्तुत हुआ है। शक कुषणों ने निःसंदेह इस देश में ईरान के नमून लंबा कुर्ता, चोगा और सलवार पहने। परंतु वे यहाँ तब चल न सके, उन्हीं के साथ भुला दिए गए। पर उसी लेबास को मुसलमानों ने यहाँ प्रचलित कर दिया। मुगलों और अवध के नवाबों ने उसका परिष्कार कर अपनी सुरुचि का परिचय दिया और उसे भारत में प्रचलित किया।

६. यूरोपीय प्रभाव

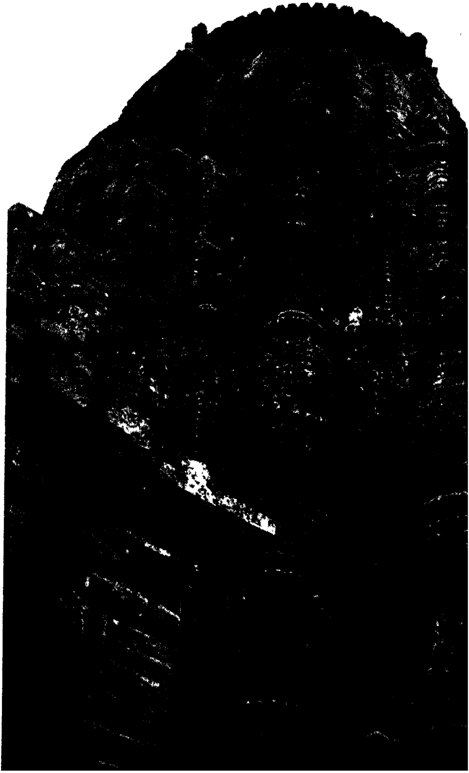
जिस अंतिम जाति ने हमारी संस्कृति को प्रभावित किया और विशेषतः हमारे साहित्य को भी क्रांतिमय प्रगति प्रदान की वह यूरोपीय जाति थी। सोलहवीं सदी से यूरोप के लोग इस देश में आने लगे थे और अठारहवीं सदी के अंत में तो वे भारत के स्वामी ही हो गए। उनके पहले ही उनके समानधर्मा ईसाई सीरिया आदि से चौथी-पाँचवीं सदियों में ही दक्षिण भारत में आ बसे थे और उन्होंने दक्षिण के धर्मों को एक अंश में प्रभावित भी किया था, परंतु सोलहवीं सदी के यूरोपियनों और उनके आने में बड़ा भेद था। यूरोपीय जातियाँ भारत के व्यापार के लिये इस देश में और बाहर दीर्घ काल तक संघर्ष करती रहीं और अंत में अँगरेजों ने यहाँ अपनी सत्ता स्थापित की। अँगरेज यहाँ बसने नहीं आए थे। बाहर से आनेवाली विजयिनी जातियों में अँगरेज मात्र ऐसे आए जिन्हें यहाँ रहना न था और उन्होंने वही किया जो इस स्थिति के लोग करते हैं। उन्होंने विविध प्रकार से इस देश का शोषण किया और सभी प्रकारों से यहाँ का धन वे समुद्र पार ढो ले गए। यहाँ के रोजगार व्यापार सब नष्ट हो गए और सभी प्रकार से भारत को उनपर निर्भर करना पड़ा। फिर जब वे देश के स्वामी हो गए तब तो उस शोषण को वैधानिक शक्ति भी मिली। प्रायः दो सौ वर्षों के शासन के बाद अपनी जनता के त्याग और तप से भारत २००४ वि० में स्वतंत्र हुआ।

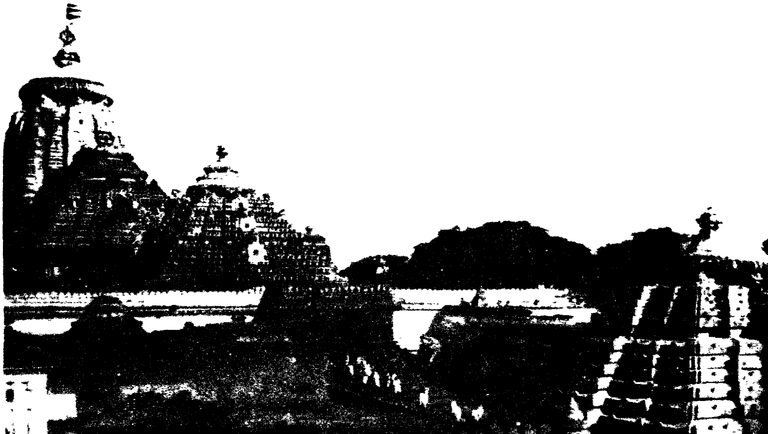
पर इन दो सदियों के बीच अँगरेजों का संबंध इस देश के लिये इसके व्यापार के नाश और विदेशी बंधन के बावजूद उपादेय सिद्ध हुआ। भारत के द्वार सहसा सब ओर खुल गए और प्रकाश से उसका कोना कोना चमक उठा। वह पश्चिमी विज्ञान और संस्कृति के संपर्क में आया। पश्चिम के संपर्क में वह पहले भी अनेक बार आया था पर इस बार का संपर्क दूसरे प्रकार का था। अब तक यूरोप के ज्ञान और संस्कृति में क्रांतिकारी परिवर्तन हो चुके थे। अनेक प्रकार की वैज्ञानिक, औद्योगिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्रांतियों ने उसका रूप सर्वथा बदल दिया था। जिस मात्रा में एशिया अधोधः गिरता और पंगु होता गया था उसी मात्रा में यूरोप उत्तरोत्तर उन्नति करता और प्रगतिशील होता गया था। उसने सभी प्रकार से प्रकृति को जीता था और विज्ञान के नए आविष्कारों से समाज को नई दिशा दी थी। साहित्य और कला तक पर विज्ञान का प्रभाव पड़ा था। भारत को वह सब विरासत में मिला।

अँगरेजों ने यह सब अपनी उदारबुद्धि से तो नहीं दिया था पर भारत की अद्भुत प्रतिभा ने उनके माध्यम से आनेवाली सभी शालीन प्रवृत्तियाँ और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक चेतना उनसे ले ली। आज इस देश की राजनीति में, साहित्य और भाषा में, दर्शन और विचारों में, कला और जीवन में



लिंगराज, भुवनेश्वर उड़ीसा, ग्यारहवी सदी। पृ० ५७१

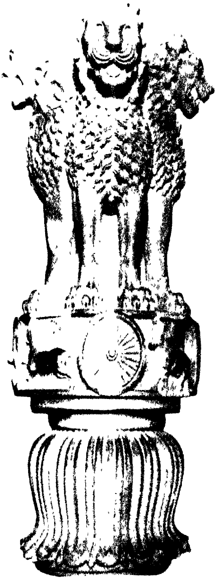




जगन्नाथपुरी उड़ीसा बारहवीं सदी। पृ० ५२४



दारा का वृषभ शीर्ष स्तम्भ पर्सिपोलिस (पारसपुर) ईरान, पाँचवीं शती विक्रमी। पृ० ५९०



अशोकीय स्तम्भ-शीर्ष तिसरी शती विक्रमी। पृ० ५९०

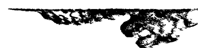


आगरे का किला सोलहवीं सदी। पृ० ६०१



ताजमहल आगरा। पृ० ६११







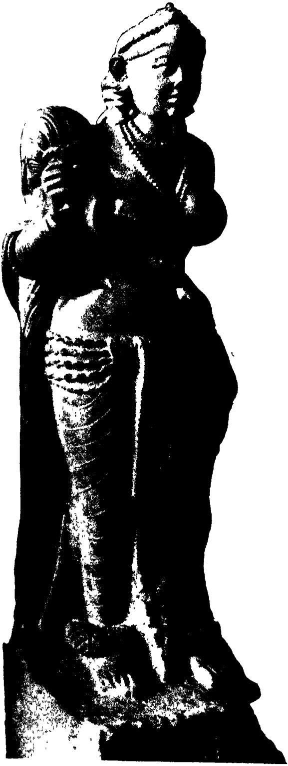
मोहनजो-देडो का मुद्रांकित वृषभ, ल० २५०० वि० पू०। पृ० ६१४



(निनवे) खोरसाबाद (ईराक) का असीरी मानवशीर्ष वृषभ, आठवीं शती वि० पू०। पृ० ६१४



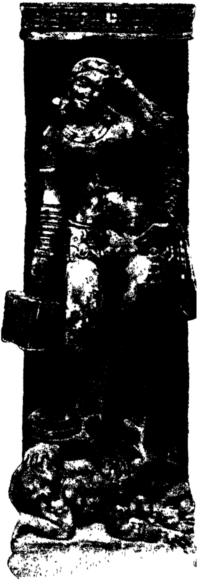
यक्ष पारखम (मथुरा) से।
मौर्यपूर्व, चौथी शती वि० पू० से पहले।



चँवरधारिणी, दीदारगंज, पटना ।
शुंग-काल द्वितीय शती वि० पू० । पृ० ६१६



यक्षी, वेदिका-स्तम्भ, मथुरा, कुषाण-काल (द्वितीय शती)। पृ० ६१९



यक्षी, वेदिका-स्तम्भ, मथुरा, कुषाण-काल (द्वितीय शती)। पृ० ६१९



बुद्ध, मथुरा। गुप्तकाल, पाँचवी शती विक्रमी। पृ० ६२४



प्रणय-लेखन, भुवनेश्वर, उड़ीसा, ग्यारहवीं सदी। ६२९



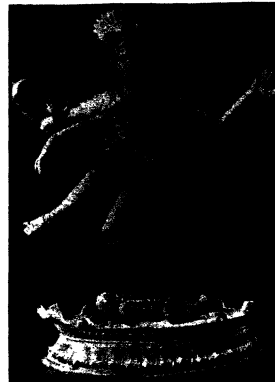
सिंहनाद अवलोकितेश्वर बोधिसत्व, महोबा से; लखनऊ संग्रहालय, ग्यारहवीं सदी। पृ० ६२९



शरधारिणी किराही, होयमल-कला, मैसूर;



त्रिमूर्ति, एलिफैंटा, आठवीं सदी। पृ० ६२७



ताण्डवरत नटराज, मद्रास संग्रहालय,
बारहवीं सदी। पृ० ६२९



रागनी चित्रशैली. धनामरी । पृ० ६४६



कनिष्क, मथुरा। कुषाणकाल, द्वितीय शती विक्रमी। पृ० ७१६

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

सहायक ग्रंथों की संक्षिप्त सूची

प्रथम खंड

अग्निपुराण : राजेंद्रलाल मित्र द्वारा संपादित, बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, १८७३-७६।

आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १६००।

अत्रिस्मृति : धर्मशास्त्र संग्रह, जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८७६। स्मृतीनां समुच्चयः, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १६०५।

अथर्ववेद : आर० रौथ और डब्ल्यू० डी० ह्विट्ने द्वारा संपादित, बर्लिन, १८५६। संहिता और पदपाठ, सायण भाष्यसहित, बंबई, १८६५-६८। मूल मात्र, वैदिक यंत्रालय, अजमेर।

अमरसिंह : अमरकोश, क्षीरस्वामी की टीका सहित, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना। माहेश्वरी व्याख्या सहित, भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १६०७।

अलबेरूनी : किताब-उल्-हिंद और आसार-अल-बाकिया, ई० सी० सखाऊ कृत अंग्रेजी अनुवाद (अलबेरूनीज इंडिया), लंदन, १६१४।

अल्तेकर, अ० स० : एजुकेशन इन एंश्येंट इंडिया, चतुर्थ सं०, नंदकिशोर ऐंड ब्रदर्स, बनारस, १६५१।

,, ,, पोजीशन आव् वूमेन इन हिंदू सिविलिजेशन, द्वि० सं०, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १६५६।

,, ,, राष्ट्रकूटस् ऐंड देयर टाइम्स, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना, १६३४।

,, ,, स्टेट ऐंड गवर्नमेंट इन एंश्येंट इंडिया, द्वि० सं०, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १६५५।

आपस्तंब धर्मसूत्र : जी० बूलर द्वारा संपादित, २ खंड, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८६८-७२।

आंगिरस स्मृति : धर्मशास्त्र संग्रह, जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८७६।
स्मृतीनां समुच्चयः, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९०५।
इंद्र—द स्टेट्स आव् वीमेन इन एंश्येंट इंडिया, लाहोर, १९४०।
इलियट और डाउसन : हिस्ट्री आव् इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, लंदन, १८६६-७७।
इंपीरियल गजेटियर आव् इंडिया : जिल्द १, १९०६।
उपाध्याय, भगवतशरण : इंडिया इन कालिदास, किताबिस्तान, इलाहाबाद, १९४७।
उफी, मुहम्मद : जमीयत-उल्-हिकायत, हिस्ट्री आव् इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, भाग २, पृष्ठ १५५-२०३।
ऋग्वेद : संहिता और पदपाठ, सायण भाष्य सहित, एफ० मैक्समूलर द्वारा संपादित, द्वितीय सं०, १८९०-९२।
आर० टी० एच० ग्रिफिथ कृत अंग्रेजी अनु०, लाजरस, बनारस, १८९६-९७।
सायण भाष्य सहित, ५ जिल्द, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९३३-५१।
ऐतरेय ब्राह्मण : आफ्रेक्ट द्वारा संपादित, बान, १८७९।
षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रावंकोर विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज, त्रिवेंद्रम्।
ओझा, गौरीशंकर हीराचंद : राजपूताना का इतिहास, अजमेर, १९३६।
कनिंघम, ए० : एंश्येंट ज्याग्राफी आव् इंडिया, लंदन, १८७१।
कल्हण : राजतरंगिणी, बंबई, १८९२।
एम० ए० स्टीन कृत अंग्रेजी अनु०, लंदन, १९००।
आर० एस० पंडित कृत अंग्रेजी अनु०, इलाहाबाद, १९३५।
काणे, पी० वी० : हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र, ४ खंड, भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९३६-५३।
कात्यायन स्मृति : नारायणचंद्र बंद्योपाध्याय द्वारा संपादित, कलकत्ता, १९२७।
कामंदक नीतिसार : राजेंद्रलाल मित्र द्वारा संपादित, बिब्लिओथेका इंडिका, कलकत्ता, १८८४।
कालिदास : कुमारसंभव, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२७।
„ ऋतु संहार, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२२।
„ रघुवंश, शंकर पांडुरंग पंडित द्वारा संपादित, ३ जिल्द, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८६९-७४।
„ अभिज्ञान शाकुंतल, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस।

कालिदास : मालविकाग्निमित्र, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, द्वि० सं०, १८८६ ।
,, विक्रमोर्वशीय, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, तृ० सं०, १६०१ ।
काल्डर, सी० सी० : ऐन आउटलाइन वेजिटेशन आव् इंडियन साइंस कांग्रेस, १६३७ ।
काल्डवेल : द सेंसस आव् इंडिया, १६०१, १६११, १६२१, १६३१, १६४१ ।
कूर्म पुराण : नीलमणि मुखोपाध्याय द्वारा संपादित, बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, १८६० ।
कौटिलीय अर्थशास्त्र : आर० शामशास्त्री द्वारा संपादित, मैसूर, १६०६ ।
शामशास्त्री कृत अंग्रेजी अनुवाद, तृ० सं०, मैसूर, १६२६ ।
उदयवीर शास्त्री कृत हिंदी अनुवाद सहित, लाहौर, १६२५ ।
गरुड पुराण : बंबई, १६०६ ।
एम० एन० दत्त कृत अंग्रेजी अनु०, कलकत्ता, १६०८ ।
गुने, पांडुरंग दामोदर : ऐन इंट्रोडक्शन टु कंपरेटिव फाइलोलाजी, पूना, १६५० ।
गुह, बी० एस० : ऐन आउटलाइन आव् द रेशल एथ्नोग्राफी आव् इंडिया, कलकत्ता, १६३७ ।
गौतम धर्मसूत्र : स्टेंजलर द्वारा संपादित, लंदन, १८७६ ।
ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया, कलकत्ता, १६२८ ।
घुरे, जी० एस० : कास्ट ऐंड रेस इन इंडिया, केगन ऐंड पाल, लंदन, १६३२ ।
चकाल्दार, एच० सी० : सोशल लाइफ इन एंश्येंट इंडिया, कलकत्ता, १६२६ ।
चटर्जी, सुनीतिकुमार : भारतीय आर्यभाषाएँ और हिंदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, इलाहाबाद, १६५४ ।
चंदा, रामप्रसाद : इंडो-आर्यन रेसेज, राजशाही, १६१६ ।
चंद बरदाई : पृथ्वीराजरासो, श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित, बनारस, १६०४ ।
जयानक : पृथ्वीराजविजय, जोनराज कृत टीका सहित, कलकत्ता, १६१४-२२ ।
जातक : वी. फोसबोल द्वारा संपादित, १८७७-६७ ।
कैम्ब्रिज, अनु०, १८६५-१६१३ ।
जायसवाल, काशीप्रसाद : हिस्ट्री आव् इंडिया, लाहौर, १६३३ ।
,, ,, इंपीरियल हिस्ट्री आव् इंडिया, लाहौर, १६३४ ।
,, ,, हिंदू पोलिटी, द्वि० सं०, बंगलोर, १६४३ ।
,, ,, हिंदू राजतंत्र (उक्त का हिंदी अनु०), २ खंड, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ।
जिनसेन (द्वितीय) : जैन हरिवंश, माणिकचंद दिगंबर जैन ग्रंथमाला, बंबई, १६३७ ।
जोनराज : द्वितीय राजतरंगिणी, बंबई, १८६६ ।

झा, गंगानाथ : हिंदू लाइन—इटस सोर्सेज, खंड १, इलाहाबाद, १९३१ ।
टाड, कर्नल : दि एनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज आव् राजस्थान, लंदन, १९२० ।
तैत्तिरीय आरण्यक : हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, पूना, १८९८ ।
तैत्तिरीय ब्राह्मण : राजेंद्रलाल मित्र द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८५५-७० ।
पूना, १८९८ ।
थेरगाथा : एच० ओल्डेनबर्ग द्वारा संपादित, लंदन, १८८३ ।
अंग्रेजी अनु०, १९१३ ।
थेरीगाथा : आर० पिशेल द्वारा संपादित, पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लंदन, १८८३ ।
श्रीमती र्‌हीज डेविड्स कृत अंग्रेजी अनु० (साम्स आव् द सिस्टर्स), लंदन, १९०९ ।
दत्तक मीमांसा : आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९५४ ।
दास, एस० के० : इकानामिक हिस्ट्री आव् एंश्येंट इंडिया, कलकत्ता, १९२५ ।
,, ,, ,, एजुकेशनल सिस्टम आव् द एंश्येंट हिंदूज, कलकत्ता, १९३० ।
दासगुप्ता, ए० : एकोनामिक ऐंड कमर्शल ज्याग्राफी आव् इंडिया, १९४१ ।
दे, नंदलाल : ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आव् एंश्येंट इंडिया, द्वि० सं०, लंदन, १९२७ ।
देवण्ण भट्ट : स्मृतिचंद्रिका, ६ खंड, मैसूर, १९१४-२१ ।
देवल स्मृति : स्मृति संदर्भ, गुरुमंडल ग्रंथमाला, कलकत्ता, १९५२ ।
धम्मपद : लंदन, १९१४ ।
अट्ठकथा सहित, लंदन, १९०६-१४ ।
मैक्समूलर का अंग्रेजी अनु०, (सैक्रेड बुक्स आव् द ईस्ट, भाग १०), आक्सफोर्ड, १८९८ ।
धर्मशास्त्र संग्रह : जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८७६ ।
नारद स्मृति : जौली द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८८५ ।
नीलकंठ : व्यवहारमयूख, भांडारकार ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९२६ ।
पद्मपुराण : वी० एन० मांडलिक द्वारा संपादित, ४ खंड, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १८९३-९४ ।
पराशर संहिता : बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८९३-१९१९ ।
पांडेय, राजबली : हिंदू संस्कार, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९५७ ।
,, ,, इंडियन पैलियोग्राफी, प्रथम खंड, द्वि० सं०, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९ ७ ।
,, ,, विक्रमादित्य आव् उज्जयिनी, शतदल प्रकाशन, बनारस, १९५१ ।
पार्जिटर, एफ० : एंश्येंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडिशन, लंदन, १९२२ ।

फ्लीट, जे० एफ० : डाइनेस्टीज आव् द कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, बंबई गजेटियर, १ खंड २ ।

,, ,, गुप्त इंस्क्रिप्शंस, कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, खंड ३, कलकत्ता, १८८८ ।

बल्लाल : भोजप्रबंध, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस ।

बाण : हर्षचरित, शंकराचार्य कृत संकेत टीका सहित, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९०६ ।

बृहद्धर्मपुराण : हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८८७-९७ ।

बृहस्पति स्मृति : ए० फ्यूहरर द्वारा संपादित, लिपजिग, १८७९ ।

गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा, १९४१ ।

बेन्स० ए० : एथ्नोग्राफी, स्ट्रासबर्ग, १९१२ ।

बौधायन धर्मसूत्र : ई हुल्श द्वारा संपादित, लेपजिग, १८८४ ।

ब्रह्मपुराण : आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १८९५ ।

ब्रह्मांडपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, १९१३ ।

ब्रिग्स जे० : तारीखी फिरश्ता का अंग्रेजी अनु० (राइज आव् द मुहम्मदन पावर इन इंडिया), भाग १-४, लंदन, १८२९ ।

भवभूति : उत्तररामचरित, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस ।

,, मालतीमाधव, देवधर और सुरू, पूना, १९३५ ।

भविष्यपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, १९१२ ।

भागवतपुराण : बी० एल० पनसीकर द्वारा संपादित, बंबई, १९२० ।

हिंदी अनु० सहित, द्वि० सं०, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००८ ।

भांडारकर, देवदत्त रामकृष्ण : फॉरेन एलीमेंट्स इन इंडियन पोपुलेशन, इंडियन एंटिक्वेरी, १९११ ।

मजूमदार : र० च० और पुशालकर, प० डी० (सं०)—द हिस्ट्री ऐंड कल्चर आव् दि इंडियन पीपुल, ५ खंड, भारतीय विद्याभवन, बंबई ।

मत्स्यपुराण : आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९०७ ।

मनुस्मृति : मेधातिथि के भाष्य सहित, एन० एन० मांडलिक द्वारा संपादित, बंबई, १८८६ ।

बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, १९३२-३९ ।

कुल्लूक भट्ट कृत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९४६ ।

महाभारत : बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, १८३४-३९ ।

नीलकंठ की टीका सहित, पूना, १९२९-३३ ।

हिंदी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर (गतिशील) ।

तुलनात्मक संस्करण, भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना (गतिशील)।

महावग्ग : २ खंड, बंबई विश्वविद्यालय, १९४४।

मार्कंडेय पुराण : बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, १८६२।

पार्जिटर कृत अंग्रेजी अनु०, कलकत्ता, १९०४।

मित्र मिश्र : वीरमित्रोदय, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९०६।

मेरुतुंग : प्रबंध चिंतामणि, सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई।

याज्ञवल्क्य स्मृति : विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा सहित, बंबई, १९०९।

विश्वरूप कृत बालक्रीड़ा सहित, त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज, १९२२-२४।

अपरादित्य की टीका सहित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९०३-०४।

राजशेखर : कर्पूरमंजरी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४८।

राव, एच० एस० : ऐन आउटलाइन आव् द फाना इन इंडिया, कलकत्ता, १९३७।

रिजले, एच० एच० : द पीपुल आव् इंडिया, कलकत्ता और लंदन, १९१५।

लक्ष्मीधर : कृत्यकल्पतरु (व्यवहारकांड), के० वी० आर० आयंगर द्वारा संपादित, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा, १९५३।

वराह पुराण : हृषिकेश शास्त्री द्वारा संपादित, बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, १८९३।

वराह मिहिर : बृहत्संहिता, उत्पलकृत विवृति सहित, २ खंड, विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस, १८९५।

वसिष्ठ धर्मशास्त्र : बंबई संस्कृत सीरीज, १९१६।

वाक्पतिराज : गौडवहो, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९२७।

वाटर्स : आन युआनच्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, २ खंड, लंदन, १९०४-०५।

वायु पुराण : आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९०५।

वाल्मीकीय रामायण : लाहौर, १९२३ और आगे।

गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बंबई।

आर० टी० एच० ग्रिफिथ कृत अंग्रेजी अनु०, बनारस, १९१५।

विद्यालंकार, जयचंद्र : भारतभूमि और उसके निवासी, आगरा, सं० १९८८।

,, ,, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९४१।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, १९१२।

विष्णु पुराण : बंबई, १८८९।

एच० एच० विल्सन कृत अंग्रेजी अनु०, ५ खंड, लंदन, १८६४-७०।

हिंदी अनु० सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००९।

वैद्य, चि० वि० : हिस्ट्री आव् द मिडीवल हिंदू इंडिया, ३ खंड, पूना, १९२१-२६ ।
वैशंपायन : नीतिप्रकाशिका ।
वैष्णव धर्मशास्त्र : जौली द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८८१ ।
व्यासस्मृति : धर्मशास्त्र संग्रह, खंड २, पृ० ३२१-४२, कलकत्ता, १८७६ ।
शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, सं० १९९४-९७ ।
शुक्रनीतिसार : मद्रास, १८८२ ।
वी० के० सरकार कृत अंग्रेजी अनु०, इलाहाबाद, १९२३ ।
श्रीधर : स्मृत्यर्थसार, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९१२ ।
सुब्बाराव, एन० एस० : इकोनामिक एंड पोलिटिकल कंडीशन्स इन एंश्येंट इंडिया, मैसूर, १९११ ।
सोमेश्वर : नीतिवाक्यामृत, बंबई, १८८७-८८ ।
सोमेश्वर : मानसोल्लास, ३ खंड, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ोदा, १९३९ ।
स्मिथ, वी० ए० : अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया, चतुर्थ सं०, आक्सफोर्ड, १९२४ ।
स्मृतिसंदर्भ : गुरुमंडल ग्रंथमाला, कलकत्ता, १९५२ ।
हूकर, जे० डी० : ए स्केच आव् दि फ्लोरा आव् ब्रिटिश इंडिया, लंदन, १९०४ ।
हेडव : रेसेज आव् मैन ।
हेमचंद्र : कुमारपालचरित, पूर्णकलशगणिकृत टीका सहित, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९०० ।
ह्विस्लर, एफ० : पौपुलर हैंडबुक आव् इंडियन बर्ड्स, लंदन, १९३५ ।

द्वितीय खंड

अब्दुर्रहमान : संदेश रासक, सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई, १९४५ ।

आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्तकृत लोचन सहित, काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९११ ।

उद्भट : अलंकारसंग्रह, प्रतीहारेंदुराजकृत लघुवृत्ति सहित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९१५ ।

उपाध्याय, पंडित बलदेव : भारतीय साहित्यशास्त्र, २ खंड, प्रसाद परिषद्, काशी, सं० २००५-२००८ ।

उपाध्याय, भरतसिंह : पालि साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, सं० २००८ ।

ऋग्वेद : संहिता और पदपाठ, सायणभाष्य सहित, एफ० मैक्समूलर द्वारा संपादित, द्वि० सं०, १८९०-९२ ।
सायणभाष्य सहित, ५ जिल्द, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९३३-५१ ।
एजर्टन, फ्रैंकलिन : बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत रीडर, येल विश्वविद्यालय, १९५३ ।
,, ,, बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर ऐंड डिक्शनरी, येल विश्वविद्यालय, १९५३ ।
कटारे : प्राकृत लैंग्वेजेज ऐंड देयर कंट्रिब्यूशन टु इंडियन कल्चर, पूना, १९४१ ।
काणे, पा० वा० : हिस्ट्री आव् संस्कृत पोयटिक्स, तृ० सं०, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९५१ ।
कालिदास : कुमारसंभव, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२७ ।
,, ऋतुसंहार, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२२ ।
,, रघुवंश, ३ जिल्द, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८९९-७४ ।
,, अभिज्ञानशाकुंतल, चौखंभा विद्याभवन, बनारस ।
,, मालविकाग्निमित्र, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८८९ ।
,, विक्रमोर्वशीय, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, तृ० सं०, १९०१ ।
कीथ, ए० बी० : हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पुनर्मुद्रण, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १९५३ ।
,, ,, ,, संस्कृत ड्रामा, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, पुनर्मुद्रण, १९५४ ।
कुन्हनराजा, सी० : श्रीराम ऐंड रघुवंश, काणे कमेमोरेशन वाल्यूम, पूना, १९४८ ।
कृष्णमाचारिअर, एम० : हिस्ट्री आव् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, १९३७ ।
ग्रियर्सन : द पहाड़ी लैंग्वेजेज, इंडियन ऐंटिक्वेरी, १९१४ ।
चटर्जी, सुनीतिकुमार : ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव् बंगाली लैंग्वेज, कलकत्ता, १९२६ ।
,, ,, भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५४ ।
टगारे : हिस्टारिकल ग्रामर आव् अपभ्रंश, डकन कालेज पोस्टग्रेजुएट रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९४८ ।
डे, सु० कु० : हिस्ट्री आव् संस्कृत पोयटिक्स, २ खंड, लंदन, १९२३-१९२५ ।
,, ,, ,, दि आख्यायिका ऐंड कथा इन क्लासिकल संस्कृत, काणे कमेमोरेशन वाल्यूम, पूना, १९४८ ।

दंडिन् : काव्यादर्श, प्रभा टीका सहित, भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १६३८।

दासगुप्त और दे : हिस्ट्री ग्राव् संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १६४७।

दिवेकर, एच० आर० : ले प्ल्योर द रेतोरीक द लांद, पेरिस, १६३०।

धनंजय : दशरूपक, धनिककृत टीका सहित, बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता, १८६५।

पंडित, प्र० बे० : प्राकृत भाषा, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस, १६५४।

पिशेल : मातेरियाल्यन केन्तिस त्सुर अपभ्रंश, स्ट्रासबर्ग, १६०२।

,, ग्रामातीक दर प्राकृत स्प्राखेन, स्ट्रासबर्ग, १६००।

प्रेमी, नाथूराम : जैन साहित्य का इतिहास, हिंदी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बंबई, १६४०।

बूलर, जी० : इंडियन इंस्क्रिप्शंस ऐंड दि एंटिकिटी ग्राव् इंडियन ग्रार्टिफिशल पोएट्री, मूल जर्मन, १८६०, अंग्रेजी अनु०, इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग १३, पृ० २६१ और ग्रागे।

ब्लाख : इंडो-ग्रार्यन, पेरिस, १६३०।

भरत : नाट्यशास्त्र, चौखंभा विद्याभवन, बनारस, १६२६।

महाभारत : नीलकंठ की टीका सहित, पूना, १६२६-३३।

तुलनात्मक संस्करण, भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना (गतिशील)।

हिंदी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर (गतिशील)।

महाडले, मधुकर अनंत : हिस्टॉरिकल ग्रामर ग्राव् इंस्क्रिप्शनल प्राकृत्स, डकन कालेज पोस्ट-ग्रेजुएट ऐंड रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १६४८।

मीमांसक, पंडित युधिष्टिर : संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, वैदिक साधन आश्रम, देहरादून, सं० २००७।

मैकडानल, ए० ए० : वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट्स, ग्राक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, चतुर्थ प्रतिमुद्रण, १६५५।

राघवन, वी० : कंसेप्ट्स ग्राव् अलंकारशास्त्र, मद्रास, १६४१।

राजशेखर : काव्यमीमांसा, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, तृ० सं०, बड़ौदा, १६३४।

रामायण : तीन टीकाओं सहित, ७ खंड, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बंबई।

लाहौर, १६२३ और ग्रागे।

रुद्रट : काव्यालंकार, नमिसाधु कृत टीका सहित, काव्यमाला सीरीज, बंबई, १६०६।

वाकेरनागेल : ग्रांतिंदिरके ग्रामातील, जर्मनी, १६३०।

वामन : काव्यालंकार सूत्र, वृत्तिसहित, काव्यमाला, बंबई, १६२६।

विंटरनित्स, एम० : हिस्ट्री ग्राव् इंडियन लिटरेचर, २ भाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १९३० ।
व्यास, डा० भोलाशंकर : ध्वनिसंप्रदाय और उसके सिद्धांत, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, १९५६ ।
,, ,, संस्कृत-कवि-दर्शन, चौखंभा विद्याभवन, बनारस, १९५६ ।
,, ,, यजुर्वेद के मंत्रों का उच्चारण, शोधपत्रिका, सं० १००६ ।
शाहीदुल्ला : ले-शाँ-मिस्तीके, पेरिस, १९२८ ।
शास्त्री, अजयमित्र : संस्कृतभाषायाः क्रमिको ह्रासः, सारस्वती सुषमा, वर्ष ८, अंक २-३, पृ० १७२-७८ ।
शास्त्री, कुप्पूस्वामी : हाइवेज ऐंड बाइवेज ग्राव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत, मद्रास ।
शास्त्री, हरप्रसाद : बौद्ध गान ओ दोहा, कलकत्ता, १९१६ ।
सेन, सुकुमार : कंपरेटिव ग्रामर ग्राव् मिडिल इंडो-आर्यन, कलकत्ता, १९४८ ।
,, ,, हिस्टारिकल सिंटेक्स ग्राव् मिडिल इंडोआर्यन, कलकत्ता, १९४८ ।
स्कुबुलर, एम० : बिब्लिओग्राफी ग्राव् संस्कृत ड्रामा, न्यूयार्क, १९०६ ।
हास, जी० : दशरूपक, न्यूयार्क, १९१२ ।
हेमचंद्र : छंदोऽनुशासन, देवकरण फूलचंद्र द्वारा प्रकाशित, बंबई, १९१२ ।

तृतीय खंड

अथर्ववेद : आर० रौथ और डब्ल्यू० डी० व्हिट्ने द्वारा संपादित. बर्लिन, १८५६ ।
संहिता और पदपाठ, सायणभाष्य सहित, बंबई, १८९५-९८ ।
अभिनवगुप्त : ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, कश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर ।
,, परमार्थसार, एल० डी० बार्नेट द्वारा संपादित, जर्नल ग्राव् द रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९१०, पृ० ७०७-७४७ ।
असंग : महायान सूत्रालंकार, पेरिस ।
अहिर्बुध्न्य संहिता : अड्यार पुस्तकालय, १९१६ ।
आपस्तंब गृह्यसूत्र : एम० विंटरनित्स द्वारा संपादित, वियना, १८८७ ।
आप्तमीमांसा : आगमोदय समिति, सूरत ।
उत्पलाचार्य : स्पंदप्रदीपिका, विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस ।
उपाध्याय, गौरीशंकर : व्रतचंद्रिका, शारदामंदिर, बनारस, १९५२ ।
उपाध्याय, बलदेव : धर्म और दर्शन, शारदामंदिर, काशी ।
,, ,, बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, चौखंभा विद्याभवन, बनारस ।
,, ,, भागवत संप्रदाय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१० ।
,, ,, भारतीय दर्शन, शारदामंदिर, काशी ।

उपाध्याय, बलदेव : वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदामंदिर, काशी।
ऋग्वेद : सायणभाष्य सहित, ५ खंड, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९३३-५१।
ऐतरेय आरण्यक : अंग्रेजी अनु० सहित, ए० बी० कीथ द्वारा संपादित, आक्सफोर्ड, १९०९।
ऐतरेय ब्राह्मण : आफ्रेख्ट द्वारा संपादित, बान, १८७९।
कठ उपनिषद् : आप्टे द्वारा संपादित, पूना, १८८९।
करमरकर, ए० पी० : द रिलीजंस आव् इंडिया, लोनवाला, १९५०।
कविराज, गोपीनाथ : भक्तिरहस्य, कल्याण, हिंदू संस्कृति अंक, १९५०।
कामशास्त्र महिम संग्रह : मद्रास गवर्नमेंट ओरिएंटल लाइब्रेरी कैटलाग, मद्रास।
कुमारस्वामी, ए० के० : बुद्ध ऐंड दि गॉस्पेल आव् बुद्धिज्म, लंदन, १९२८।
केन उपनिषद् : हिंदी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
कौटिलीय अर्थशास्त्र : शाम शास्त्री द्वारा संपादित, मैसूर, १९०९।
उदयवीर शास्त्री कृत हिंदी अनु० सहित, लाहौर, १९२५।
गुप्त, दीनदयालु : अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग।
गेटी, ए० : गणेश, आक्सफोर्ड, १९३६।
चटर्जी, जे० सी० : कश्मीर शैविज्म, कश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर।
,, ,, ,, हिंदू रियलिज्म, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९१२।
चंदवरदाई : पृथ्वीराज रासो, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, १९०७।
छांदोग्य उपनिषद् : बोथलिंग द्वारा अंग्रेजी अनु० सहित संपादित, लिपजिग, १८८९।
हिंदी अनु० सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वि० सं०, सं० २०११।
जयदेव : गीतगोविंद।
जैन, कामताप्रसाद : हिंदी जैन साहित्य, बनारस, १९३७।
जैमिनीय ब्राह्मण : एच० ओर्टेल द्वारा अंग्रेजी अनु० सहित संपादित, जर्नल आव् द अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी, भाग १५, पृ० ७९-२६०।
टकाकुसु, जे० : एसेंशल्स आव् बुद्धिस्ट फिलासफी, होनोलुलू, १९४७।
तत्त्वार्थ सूत्र : रामचंद्र जैन शास्त्रमाला, बंबई।
तांड्य ब्राह्मण : चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस।
तैत्तिरीय आरण्यक : हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, पूना, १८९८।
तैत्तिरीय उपनिषद् : आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना।
हिंदी अनु० सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
तैत्तिरीय ब्राह्मण : एन० गादबोले द्वारा संपादित, पूना, १८९८।
त्रिवेदी, रामेंद्रसुंदर : यज्ञकथा (बँगला), कलकत्ता।

दत्त नलिनाक्ष : ऐस्पेक्ट्स आव् महायान बुद्धिज्म ऐंड इट्स रिलेशन टु हीनयान, लंदन, १९३० ।

दाराशिकोह : रिसाल-ए-हकनुमा, श्रीशचंद्र वसु कृत अंग्रेजी अनुवाद, थियोसाफिकल सोसाइटी, बनारस ।

दीघनिकाय : हिंदी अनु० महाबोधि सभा, सारनाथ ।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद : नाथ संप्रदाय, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद ।

नारायण तीर्थ : भक्तिचंद्रिका, सरस्वती भवन ग्रंथमाला, बनारस ।

नारायण सूरि : हम्मीर महाकाव्य, बंबई, १८७६ ।

पद्मनाथ : मध्वसिद्धांत संग्रह, माध्व बुकडिपो, कुंभकोणम् ।

पाशुपत सूत्र : अनंतशयन संस्कृत ग्रंथमाला, त्रिवेंद्रम् ।

पांडेय, डा० राजबली : हिंदू संस्कार, चौखंभा विद्याभवन, बनारस, १९५७ ।

प्रज्ञापारमितापिंडार्थ : जी० टूची द्वारा संपादित, जर्नल आव् द रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९४७ ।

प्रमेय रत्नावली : बलदेव विद्याभूषण द्वारा संपादित, संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता ।

प्रेमी, नाथूराम : जैन साहित्य का इतिहास, बंबई, १९३७ ।

बिहारीशरण : निंबार्कमाधुरी, वृंदावन, सं० १९९७ ।

बृहदारण्यक उपनिषद् : ओ० बोथलिंग द्वारा अंग्रेजी अनु० सहित संपादित, लिपजिग, १८८६ ।

बृहद्देवता : हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज ।

बोधिचर्यावतार : सुजुकि कृत अंग्रेजी अनु०, लंदन, १९३२ ।

ब्रह्मसूत्र : शांकरभाष्य सहित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९००-०३ ।

भगवद्गीता : शांकरभाष्य तथा हिंदी अनु० सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

भट्टारक, वेदोत्तम : तंत्रशुद्धि, अनंतशयनम् ग्रंथमाला, त्रिवेंद्रम् ।

भवभूति : मालतीमाधव, रा० गो० भाडारकर द्वारा संपादित, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९०५ ।

भागवत पुराण : हिंदी अनु० सहित, २ खंड, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००८ ।

भांडारकर, रा० गो० : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९२८ ।

भारतेंदु हरिश्चंद्र : भारतेंदु ग्रंथावली, २ खंड, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९१ ।

मनुस्मृति : मेधातिथि कृत भाष्य सहित, एन० माडलिक द्वारा संपादित, बंबई, १८८६ ।

कुल्लूक कृत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९४६ ।

महावस्तु : ई० सेनार्ट द्वारा संपादित, पेरिस, १८८७-९७।
मांडूक्य उपनिषद् : हिंदी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
मिलिंदपञ्हो : हिंदी अनुवाद, महाबोधि सभा, सारनाथ।
मिश्र, बलदेवप्रसाद : तुलसी दर्शन, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग।
मीमांसा सूत्र : शबर स्वामी, भट्ट प्रभाकर मिश्र और शालिकंठ की टीकाओं सहित, चिन्नस्वामी शास्त्री द्वारा संपादित, बनारस, १९२७-३३।
मुंडक उपनिषद् : हिंदी अनु० सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
यामुनाचार्य : आगम प्रामाण्य, वृंदावन।
यास्क : निरुक्त, २ खंड, बंबई संस्कृत सीरीज, १९१८-४२।
योगसूत्र : बंबई संस्कृत सीरीज, १८९२।
राइस, पी० : हिस्ट्री आव् कनारीज लिटरेचर, हेरिटेज आव् इंडिया सीरीज, कलकत्ता, १९१८।
राव, टी० ए० जी० : हिस्ट्री आव् श्रीवैष्णवाज, मद्रास, १९२३।
वैखानसागम, मरीचिप्रोक्त : अनंतशयनम् ग्रंथमाला, त्रिवेंद्रम्।
शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, सं० १९९४-९७।
राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबंधावली, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३७।
रूप गोस्वामी : उज्ज्वलमणि, काव्यमाला सीरीज, बंबई।
वज्रशेखर : अद्वयवज्र संग्रह, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा।
वायवीय संहिता : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई।
विष्णुपुराण : हिंदी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००६।
वेदांतसागर : निर्णयसागर प्रेस, बंबई।
वैशेषिक सूत्र : प्रशस्तपाद प्रणीत पदार्थधर्म संग्रह सहित, विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस, १८९५।
शंकराचार्य : विवेकचूड़ामणि, पूना।
शास्त्री, काशीनाथ : शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धांत, जंगमबाड़ी, बनारस।
शास्त्री, हरप्रसाद : बौद्ध गान ओ दोहा, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, १९२३।
शाह, सी० जे० जैनिज्म इन नार्दर्न इंडिया, बंबई, १९३२।
शिवपदसुंदरम्, एस० : द शैव स्कूल आव् हिंदूइज्म, लंदन, १९३४।
शेरबात्स्की : सेंट्रल कंसेप्शन आव् निर्वाण।
श्रीभट्ट : जुगलसतक, बलदेव उपाध्याय द्वारा संपादित, वृंदाबन, सं० २००६।
श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर : बलभद्रदास द्वारा संपादित, जयपुर।
श्वेताश्वतर उपनिषद् : हिंदी अनु० सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
संपूर्णानंद : गणेश, काशी विद्यापीठ, काशी।

सामवेद : बेन्फी द्वारा संपादित, लिपजिग, १८४८।

सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८७३।

सिद्धांतरत्न : बलदेव विद्याभूषण द्वारा संपादित, सरस्वती ग्रंथमाला, काशी।

सुजुकि, डी० एल० : आउटलाइंस आव् महायान बुद्धिज्म, लंदन, १९०७।

,, ,, ,, महायान बुद्धिज्म, लंदन, १९३८।

स्थिरमति : मध्यातविभाग, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, कलकत्ता।

हठयोगप्रदीपिका : ब्रह्मानंदी टीका सहित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई।

हाप्किंस, ई० डब्ल्यू० : द रिलीजंस आव् इंडिया, बोस्टन, १८९५।

चतुर्थ खंड

आचार्य, पी० के० : ए डिक्शनरी आव् हिंदू आर्किटेक्चर, लंदन, १९२७।

,, ,, ,, मानसार आन आर्किटेक्चर ऐंड स्कल्प्चर, लंदन, १९३३-३४।

उपाध्याय, भगवतशरण : इंडिया इन कालिदास, किताबिस्तान, इलाहाबाद, १९४७।

,, ,, प्राचीन भारत का इतिहास।

,, ,, एंश्येंट वर्ल्ड, इंडियन इंस्टिट्यूट आव् एशियाटिक स्टडीज, हैदराबाद, १९५४।

काणे, पा० वा० : हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स, बंबई, १९५१।

कालिदास : कुमारसंभव, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२७।

,, रघुवंश, एस० पी० पंडित द्वारा संपादित, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८६९-७४।

,, मेघदूत, निर्णयसागर प्रेस, १८८१।

,, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३१।

,, ऋतुसंहार, निर्णयसागर प्रेस, षष्ठ सं०, बंबई, १९२-।

,, मालविकाग्निमित्र, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८८९।

,, विक्रमोर्वशीय, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९०१।

कीथ, ए० बी० : संस्कृत ड्रामा, आक्सफोर्ड, १९५४।

कुमारस्वामी, ए० के० : हिस्ट्री आव् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, लंदन, १९२७।

,, ,, ,, अर्ली इंडियन आर्किटेक्चर, भाग १, सिटीज, सिटी-गेट्स, एट्सेट्रा, ईस्टर्न आर्ट, खंड २, पृ० २०९-२५।

,, ,, ,, अर्ली इंडियन मानूमेंट्स, भाग ३, पैलेसेज, ईस्टर्न आर्ट, खंड ३, पृ० १८१-२१७।

,, ,, ,, विश्वकर्मा, लंदन, १९१४।

,, ,, ,, द मिरर आव् गेस्चर, कैंब्रिज, १९१७।

कुमारस्वामी, ए० के० : ट्रांसफार्मेशन ऑव् नेचर इन आर्ट, हार्वर्ड, १९३४।
क्रैमरिश, स्टेला : इंडियन स्कल्प्चर, कलकत्ता, १९३३।
ग्रिफिथ्स, जे० : द पेंटिंग्स इन द बुद्धिस्ट केव टेंपुल्स ऑव् अजंता, लंदन, १८९६-९७।
फ्लीट, जे० एफ० : कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम, खंड ३, कलकत्ता, १८८८।
बनर्जी, जे० एन० : डेवलपमेंट ऑव् हिंदू आइकोनोग्राफी, द्वि० सं०, कलकत्ता, विश्वविद्यालय, कलकत्ता. १९५५।
बनर्जी, आर० डी० : एज ऑव् द इंपीरियल गुप्ताज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस, १९३३।
बाण : हर्षचरित, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९०९।
निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२५।
,, कादंबरी, पी० पीटर्सन द्वारा संपादित, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९००।
बील, एस० : सि-यु कि, २ खंड, लंदन, १९०६।
,, ,, लाइफ ऑव् ह्यू न त्साग बाइ द शामन हुई-लि, लंदन, १९११।
ब्राउन, पर्सी : इंडियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट ऐंड हिंदू), द्वि० सं०, बंबई, १९४९।
भरत : नाट्यशास्त्र, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस।
राजशेखर : काव्यमीमांसा, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ोदा, १९३४।
लोगन : फाइंड ऑव् एंश्येंट पॉटरी इन मालाबार, इ० ए० ८, मद्रास, १८८७।
वाटर्स, टी० : ऑन युआन च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, २ खंड, लंदन, १९०४-५।
शास्त्री, हीरानंद : गाइड टू एलीफेंटा, दिल्ली, १९३४।
शुक्रनीतिसार : जे० ऑपर्ट द्वारा संपादित, मद्रास, १८८२।
सागरनंदिन : नाटक-लक्षण-रत्न कोश, जिल्द १, लंदन, १९३७।
स्मिथ, वी० ए० : हिस्ट्री ऑव् फाइन आर्ट्स इन इंडिया ऐंड सीलोन, द्वि० सं०, ऑक्सफोर्ड, १९३०।
हाल्दार, ए० के० : द पेंटिंग्स ऑव् द बाघ केव्स, रूपम्, सं० ८, १९२१।
हैवेल, ई० बी० : एंश्येंट ऐंड मेडीवल आर्किटेक्चर ऑव् इंडिया, लंदन, १९१५।
,, ,, ,, इंडियन स्कल्प्चर ऐंड पेंटिंग, लंदन, १९०८।

पंचम खंड

अथर्ववेद : संहितापाठ, आर० राथ और डब्लू० डी० ह्विट्ने द्वारा संपादित, बर्लिन, १८५६।
संहिता तथा पदपाठ, सायणभाष्य सहित, एस० पी० पंडित द्वारा संपादित, बंबई, १८९५-९८।

उपाध्याय, भगवतशरण : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, बनारस, १९५० ।
,, ,, द एंश्येंट वर्ल्ड, इंस्टिट्यूट आव् एशियन स्टडीज, हैदराबाद, १९५४ ।
,, ,, गार्गी संहिता का युगपुराण, विक्रम जयंती ग्रंथ, ग्वालियर, सं० २००१ ।
,, ,, इंडिया इन कालिदास, किताबिस्तान, इलाहाबाद, १९४७ ।

ऋग्वेद : संहिता और पदपाठ, सायणभाष्य सहित, एफ० मैक्समूलर द्वारा संपादित, १८९०-९२ ।
आफ्रेक्ट द्वारा संपादित, बान, १८७७ ।
सायणभाष्य सहित, ५ खंड, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९३३-५१ ।

काणे, पी० वी० : हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र, ४ खंड, भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९३६-५३ ।

कालिदास : कुमारसंभव, मल्लिनाथकृत संजीवनी सहित, दशम सं०, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२७ ।
,, रघुवंश, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८९९-७४ ।
,, मालविकाग्निमित्र, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १८८९ ।
,, विक्रमोर्वशीय, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९०१ ।

कीथ, ए० बी० : हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड, चतुर्थ मुद्रण, १९५३ ।
,, ,, ,, संस्कृत ड्रामा, आक्सफोर्ड, १९२४; पुनर्मुद्रण, आक्सफोर्ड, १९५४ ।

कुमारस्वामी, ए० के० : हिस्ट्री आव् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, लंदन, १९२७ ।

कौटिल्य : अर्थशास्त्र, आर० शामशास्त्री द्वारा संपादित, द्वि० सं०, मैसूर, १९१९ ।
आर० शामशास्त्री कृत अंग्रेजी अनुवाद, बंगलोर, १९०८ ।
उदयवीर शास्त्री कृत हिंदी अनुवाद सहित, लाहौर, १९२४ ।

गाइल्स, एच० ए० : द ट्रैवेल्स आव् फाहियान आर रेकर्ड्स आव् बुद्धिस्टिक किंग्डम्स, कैंब्रिज, १९२३ ।

टार्न, डब्ल्यू० डब्ल्यू० : ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया, द्वि० सं०, कैंब्रिज, १९५१ ।

त्रिपाठी, आर० एस० : हिस्ट्री आव् एंश्येंट इंडिया, बनारस, १९४२ ।
,, ,, ,, हिस्ट्री आव् कन्नौज, बनारस, १९३७ ।

दंडी : काव्यादर्श, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १९२० ।

दिव्यावदान : कावेल और नील द्वारा संपादित, कैंब्रिज, १८८६ ।

पतंजलि : महाभाष्य, कीलहार्न द्वारा संपादित, बंबई, १८८०-८६ ।

पांडेय, राजबली : इंडियन पैलियोग्राफी, प्रथम भाग, द्वि० सं०, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १६५७।

फ्लीट, जे० एफ० : गुप्त इंस्क्रिप्शंस, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, भाग ३, कलकत्ता, १८८८।

बाण : हर्षचरित, शंकरकृत संकेत टीका सहित, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, १६०६।
ई० बी० कावेल और एफ० डब्ल्यू० टामस कृत अंग्रेजी अनुवाद, लंदन, १८६७।
पी० वी० काणे द्वारा संपादित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १६१८।

बील, एस० : सि-यु-कि, बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आव् द वेस्टर्न वर्ल्ड, २ खंड, लंदन, १६०६।
,, ,, लाइफ आव् ह्यून त्सांग (शमन हुइ-लि कृत), लंदन, १६११।

ब्राउन, सी० जे० कायंस आव् इंडिया, कलकत्ता, १६२२।

ब्रिग्स, जे० : राइज आव् द मुहम्मदन पावर इन इंडिया (तारीख ए फिरिश्ता का अंग्रेजी अनु०), ४ खंड, लंदन, १८२६।

भांडारकर, दे० रा० : फॉरेन एलीमेंट्स इन इंडियन पॉपुलेशन, इंडियन ऐंटिक्वेरी, १६११, पृ० ७-३६।
,, ,, ,, अशोक, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६५५।

मजूमदार, आर० सी० : एंश्येंट इंडियन कालोनीज इन द फार ईस्ट, प्रथम खंड, चंपा, लाहोर, १६२७, द्वितीय खंड, सुवर्णद्वीप, २ भाग, ढाका, १६३७ ३८।
,, ,, ,, कंबुजदेश, मद्रास, १६४४।
,, ,, ,, हिंदू कालोनीज इन द फार ईस्ट, कलकत्ता, १६४४।
,, ,, ,, इंस्क्रिप्शंस आव् कंबुज, कलकत्ता, १६५३।

मजूमदार, आर० सी० और पुसालकर, ए० डी० : द हिस्ट्री ऐंड कल्चर आव् द इंडियन पीपुल, ५ भाग, भारतीय विद्याभवन, बंबई, १६५७।

मुखर्जी, राधाकुमुद : हिंदू सभ्यता (वासुदेवशरण अग्रवाल कृत हिंदू सिविलिजेशन का हिंदी अनु०), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १६५५।

मुजमालुत्तवारीख : इलियट और डाउसन द्वारा संपादित, हिस्ट्री आव् इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग १, लंदन, १८६६।

यास्क : निरुक्त, दुर्गाचार्यकृत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १६३०।

रामकृष्ण गोपाल भांडारकर कामेमोरेशन वाल्यूम : भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना।

रायचौधरी, एच० सी० : पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एंश्येंट इंडिया, षष्ठ सं०, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६५३।

रैप्सन, ई० जे० (सं०) : द कैंब्रिज हिस्ट्री ग्राव् इंडिया, भाग १, प्रथम भारतीय मुद्रण, दिल्ली, १९५५ ।
वाटर्स, टी० : य्रान युग्रान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, २ खंड, लंदन, १९०४-५ ।
शतपथ ब्राह्मण : २ खंड, अच्युत ग्रंथमाला, काशी, सं० १९९४-९७ ।
श्रीनिवासाचारी, सी० एस० : तामिल लिटरेचर, इन्साइक्लोपीडिया ग्राव् लिटरेचर (शीप्ले द्वारा संपादित), पृ० ५५७, कालम २ ।
सेन, ए० एच० : हिब्बर्ट लेक्चर्स, १८८७ ।
स्मिथ, वी० ए० : अर्ली हिस्ट्री ग्राव् इंडिया, चतुर्थ संस्करण, ग्राक्सफोर्ड, १९२४ ।
,, ,, ,, हिस्ट्री ग्राव् फाइन ग्रार्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन, ग्राक्सफोर्ड, १९३० ।
,, ,, ,, अशोक, तृ० सं०, ग्राक्सफोर्ड, १९२० ।
हुल्श, ई० : इंस्क्रिप्शंस ग्राव् अशोक, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, भाग १, द्वि० सं० १९२० ।

अनुक्रमणिका

मोटे अंक = प्रमुख वर्णन
' ' = अवतरण
— = आगे चालू

फ

भ

म

य

व

स

—o—